૧૦
સનાતનધર્માલોક - 10

'आलोक' ग्रन्थमालाका दशम सुमन

सनातनधर्म का विश्वकोष एवं महाभारत

श्रीसनातनधर्मालोक (१०)

(पुराण, गीता, वेदादिसम्बन्धी आक्षेपोंका परिहार)

प्रणेता—
श्रीदीनानाथशास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश, विद्यानिधि, विद्यावाचस्पति
प्रधानाचार्य रामदल संस्कृत-महाविद्यालय, दरीबाकलां, दिल्ली६

प्रकाशक—
श्रीनारायणशर्मा 'राजीव' सारस्वत, शास्त्री, प्रभाकर, एम्. ए. (सं.)
'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमाला कार्यालय
फर्स्ट बी, १९ लाजपतनगर, नई दिल्ली-२४

श्रीव्यासपूर्णिमा] सं० २०२६ [मू० १६) रु०, विदेशोंमें २०)

ग्रन्थमाला मंगानेका पता—
श्रीकिरणकान्ता शर्मा 'राजीव'
'आलोक' ग्रन्थमाला कार्यालय
फर्स्ट बी. १६, लाजपतनगर, नई दिल्ली-२४

प्रथम संस्करण सन् १९६९ (ई०)
मूल्य सोलह रुपये, विदेशोंमें बीस रुपये

ग्रन्थकारके पूर्वापर पुरुष—
श्रीदयाराम—श्रीदयादेवी
श्रीजेसाराम—श्रीकालोबाई
श्रीशीतललाल—श्रीगौरीदेवी
दीनानाथशर्मा—ज्ञानदेवीशर्मा
नारायणशर्मा—किरणकान्ता
अनुपमशर्मा—

मुद्रक—
प्रकाश प्रिंटिंग वर्क्स
लाल दरवाजा
बाज़ार सीताराम
दिल्ली-६

'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाके तृतीय संरक्षक—
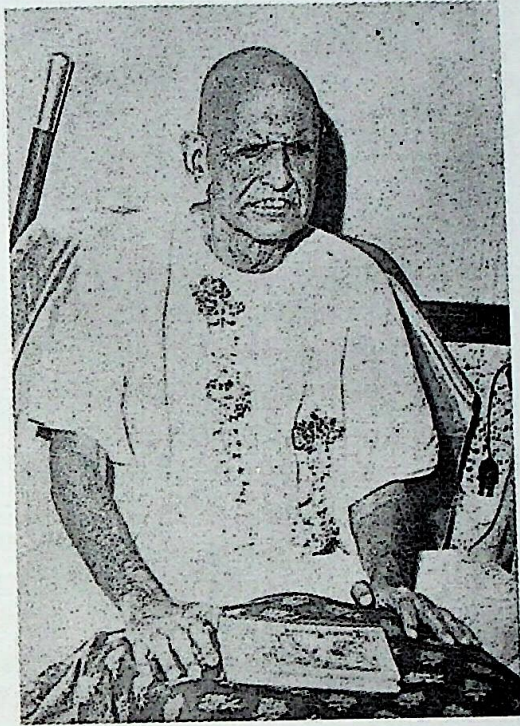
वेददर्शनाचार्य महामण्डलेश्वर श्री १००८
स्वामी गङ्गेश्वरानन्दजी महाराज, उदासीन ।
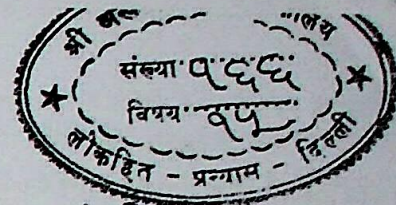
श्रद्धांजलि-समर्पण

१. श्रद्धेय गुरुवर स्व. श्रीपं० हीरानन्दजी शास्त्री, विद्याभूषण, अम्बाला (जिनकी अनुकम्पासे मुझे यह विद्या तथा शास्त्रार्थप्रणयिता एवं वृत्ति प्राप्त हुई) ।

२. स्व. श्रीपं० अवधेशप्रसाद द्विवेदी काव्यतीर्थ 'सूर्योदय' सम्पादक, काशी (जिनके द्वारा मेरे संस्कृत-लेखोंके प्रकाशनसे मैं संस्कृतसंसारमें सुप्रसिद्ध बना) ।

३, स्व. श्रीपं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद शास्त्री 'सूर्योदय' प्रधान-सम्पादक, काशी (जिनने मेरे संस्कृत लेखोंको आरम्भमें प्रकाशित करके मुझे संस्कृतोन्नत्यर्थ प्रोत्साहित किया) ।

४. स्व० श्रीपं० दुर्गादत्तजी त्रिपाठी 'सिद्धान्त' तथा मासिक 'सन्मार्ग'-सम्पादक, काशी ।
(जिनसे मुझे इस ग्रन्थमालाकेलिए प्रोत्साहन तथा धन-साहाय्य प्राप्त होता था, और जिन्होंने मेरे हिन्दी-लेख प्रकाशित करके मुझे धार्मिक-संसारमें सुप्रसिद्ध किया) -

इन सब स्वर्गीय-महोदयोंको 'श्रीसनातनधर्मालोक'-ग्रन्थमालाका दशम-पुष्प तर्पणरूपमें समर्पित करता हूं ।

समर्पकः—
दीनानाथ-शास्त्री सारस्वतः, 'आलोक'-प्रणेता

मुखबन्ध ।

(ओम् असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय)

श्रीगणेशायनमः । परमेशान-भगवान्के दयादानसे तथा मान्य-वदान्य महोदयोंके द्रविणसाहाय्यदानसे, पूज्य पितरों तथा गुरुजनोंके शुभाशीर्वादसे, पाठकों-श्रावकोंकी शुभाशंसासे 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाका यह **दशम-सुमन** विकसित हुआ है। कलिकालके दुष्कालके कारण अपने ही कई भारतीयोंने वैदेशिक-साहित्यके अनुकरणपर सनातनधर्मी-साहित्यपर दुराक्रमण कर रखा है। हम न तो स्वयम् आक्रामक हैं; और न किसीपर अकारण-आक्रमण करना ही चाहते हैं; पर जब हमारे धार्मिक-साहित्यपर आक्रमण किया जाता है; तब हमें भी उसका प्रत्युत्तर देना ही पड़ता है।

हमारी ग्रन्थमाला अपने क्रमसे चल ही रही थी, पांच पुष्प छप ही चुके थे—कि उसमें बाधा डालनेवाली कई आक्रामक पुस्तिकाएं सामने आईं; जिनकी आलोचना हमें इस ग्रन्थमें रखनी पड़ी। छठे पुष्पसे नवम पुष्प तक वैसी कई पुस्तकोंकी आलोचनाएं दी भी गई थीं; पर स्थानाभाववश कुछ पुस्तिकाएँ फिर भी बच गई थीं; अब उनकी आलोचना इस दशम-सुमनमें कर दी गई है।

नवम पुष्पके हमारे एक लेखपर एक कट्टर दयानन्दीने अपने ही एक मासिकपत्रमें कई आपत्तियां उठाईं; हम चाहते थे कि—इस सुमनमें उसका भी प्रत्युत्तर दे दिया जाता; पर उसने अपना निबन्ध अभी समाप्त ही नहीं किया; तब उसपर क्या लिखा जाता; अतः उसे अब ११ वें पुष्पमें दिया जा सकेगा; पर यह हमने देख लिया है कि-उसके 'तिलोंमें अब तेल नहीं रहा है'। वह अपनी नाक रखनेकेलिए बलात् ही कुछ लिख रहा है; पर उसमें अब दम-खम नहीं रहा। प्रमाणोंके अपने ही दयानन्दियोंका वह अर्थ दे रहा है; इससे उसका लेख कुछ बड़ा हो जाता है। पर उसमें कुछ महत्त्व नहीं रहा।

उस दयानन्दीकी संस्कृत-योग्यताका एक मनोरञ्जक उदाहरण देना

भी यहां अनुपयुक्त न होगा। उस दयानन्दीकी संस्कृतकी योग्यता ऐसी है, जैसे कि—एक व्यक्तिने 'चञ्चला चपला अपि' (१।३।९) अमरकोषके इस प्रमाणमें 'अपि' को भी 'विद्युत्' के पर्यायवाचकोंमें समझ लिया। इसीलिए अपनी संस्कृत-पढ़ी स्त्रीको उसने कहा था कि—'त्वम् अपि-(विद्युद्) वत् शोभसे'। उस दयानन्दी-लेखककी संस्कृत-योग्यता भी कुछ ऐसी ही है। उसने 'परोपकारी' (मार्च १९६७ के अङ्क पृ. १६-१७) में 'ऐतरेयारण्यक' के प्रवचनकर्ता ऐतरेयमहिदासके विषयमें कही हुई श्रीसायणाचार्यकी आख्यायिकाके 'कस्यचित् खलु महर्षेर्बह्व्यः पत्न्यो विद्यन्ते स्म' इस अंशके अर्थमें कमाल कर दिया कि-''किसी 'खलु' नामक महर्षिकी बहुतसी स्त्रियां थीं'। यहां 'खलु' जो प्रसिद्ध-अर्थवाला अव्यय है; उसको **महर्षिका नाम** बना दिया। इसी प्रकार उसीने 'यूयं गावो मेदयथा' आदि मन्त्रोंका अशुद्ध अर्थ किया था। इस प्रकार 'शिवपुराण' के एक पद्यका 'चतुर्थीकर्ममें संभोग-विषयक गलत अर्थ कर दिया था। यह समयपर दिखलाया जायगा। इस प्रकार स्थालीपुलाकन्यायसे उस प्रतिपक्षीका आदर्श पाठक देख लें। अतः उसके खण्डनलेखोंमें कुछ भी महत्त्व नहीं होता। दूसरे पत्रोंमें वह लिख दिया करता है, जिनका हमें पता नहीं लगता; और कह देता है कि—हमारे लेखका किसी सनातनीने प्रत्युत्तर नहीं दिया। इस प्रकार वाणीमात्रसे अपने लेखोंको अखण्डनीय कहकर 'अपने मुंह मियां मिट्ठू' बना करता है। अस्तु। पाठकोंसे अनुरोध है कि—वे वैदिकम्मन्यों द्वारा रचित स.ध. की खण्डक जो नई वा पुरानी पुस्तकें हों; उन्हें हमारे पास भेज दिया करें, जिनपर इस ग्रन्थमालामें विचार किया जा सके। विशेष करके जे. पी. चौधरी तथा श्रीशिवशर्मा तथा श्रीमनसारामजीकी 'पौराणिकपोलप्रकाश' आदि पुस्तकें हमें अवश्य भिजवावें।

प्रतिपक्षियोंने श्रीमद्भागवत तथा श्रीमद्भगवद्गीतापर भी आक्रमण किया है; उनकी प्रत्यालोचना इस पुष्पमें 'कण्टकशोधन' में दे दी गई है। इसमें गीताविषयक विभिन्न लेखकोंके चार निबन्धोंपर विचार दिया

गया है। इसमें वेदविषयक एक दयानन्दीकी एक पुस्तककी समीक्षा भी दे दी गई है, इसे पाठक बहुत ध्यानसे पढ़ें, इससे आर्यसमाजकी वेद-स्वरूप-विषयक निर्मूल मान्यताको पीस दिया गया है; अब आर्यसमाजमें शक्ति नहीं कि--इसपर कुछ लिख वा बोल सके। 'साम्प्रदायिक-सिद्धान्त-चर्चा' अष्टम पुष्पमें प्रतिज्ञात 'स्वा० दयानन्दीयनियोग-निरीक्षण' भी इस पुष्पमें दे दिया गया है, साथ ही कई दयानन्दियों-द्वारा दिये जाते हुए विधवाविवाह तथा नियोगविधायक-वचनों पर भी मीमांसा दे दी गई है। एक विस्तीर्ण लेख 'युगों-युगोंसे शोषित भारतीय नारी' सुधारकोंकी ओर से 'सरिता' में निकला था, उसपर भी इस पुष्पमें विचार 'सुधारकदर्पदलन'-स्तम्भमें दे दिया गया है।

एक बौद्धने गो. तुलसीदासके मानसपर 'ब्राह्मणशाही' का आरोप लगाया था; उसको भी इसमें पीस दिया गया है। 'इतिहास-पुराण-चर्चा' में पुराणोंमें असम्भव कहे जाते हुए सात विषयोंपर प्रमाणोपपत्तियां देकर पूर्ण विचार किया गया है। 'सामाजिक-चर्चा' में 'पर्दा-प्रथापर वेदादि-शास्त्रोंका अभिमत' दिया गया है। अन्तमें 'सैद्धान्तिक-चर्चा' में द्विज और शूद्रके भेदकी वैदिकता बताते हुए साम्यवादके प्रसिद्ध एक वेदवचन पर भी पूरा विचार दिया गया है। एक शिवलिङ्ग-विषयक निबन्ध भी दिया गया है, जिससे विरोधियोंके भ्रामक प्रचार दूर हो जावे। अन्तमें सदाकी भांति समाचार-पत्रोंकी घटनाएं दी गई हैं, जिसमें कई पौराणिक-मान्यताओंकी सिद्धि होती है।

यह पुस्तक १००० पृष्ठसे भी बड़ी हो गई है। इसमें पंक्तियोंके अविरल होनेसे सामग्री बहुत अधिक आ गई है। टाइप छोटा होनेसे कई ब-व आदि अक्षरोंकी गलतियां तो रह गई हैं; पर वे शीघ्र जानी जा सकती हैं। अग्रिम ११वें पुष्पमें पुस्तकका आकार १८×२२ कर दिया जाय-ऐसा हमारा विचार है। वर्तमान-आकारमें पुस्तक बहुत मोटी हो जाती हैं।

पाठकोंको यह मालूम ही होगा कि—वृत्तिकेलिए पढ़ाना हमारा

बहुत समय (प्रातः ८॥ से रात्रिके १० बजे तक) ले जाता है; फिर भी हम ग्रन्थमालाका जितना कार्य कर रहे हैं; उसमें बहुत लोग दांतों-तले अंगुली दबाते हैं; और आश्चर्य प्रकट करते हैं कि–आप लिखनेका समय कब निकालते हैं? पर हमें यह सब भगवान्की शक्ति ही मालूम देती है। नहीं तो संसारभरमें सबसे दुबला-पतला मैं इतना कार्य कैसे कर सकता हूं। यदि मुझे वृत्ति-निर्वाहकी चिन्तासे निर्मुक्त कर दिया जाता, रहने और पुस्तकें रखनेकेलिए विशाल-स्थान दिलवा दिया जाता; और ग्रन्थमालाके प्रकाशनार्थ पुष्कल-द्रव्य दिलवा दिया जाता, तब हम स. ध. के विरोधी साहित्यको खोखला कर देते। अतः अब यह कार्य मन्थरगतिसे हो रहा है।

इस बार ग्रन्थमालाके संरक्षक वेददर्शनाचार्य महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी गंगेश्वरानन्दजी महाराज; तथा सेठ श्री जयदयालजी डालमियाके सुपुत्र दानवीर सेठ श्रीविष्णुहरिजी डालमिया बने हैं। महामण्डलेश्वरजी महाराज वैसे तो सदा ही ग्रन्थमालाको तीन-चार सौ रुपया देते ही रहे हैं; पर इस बार मैंने उन्हें ग्रन्थमालाके संरक्षक बननेकेलिए निवेदन किया; तो उन्होंने बड़ी प्रसन्नतासे उसे स्वीकृत किया। इस प्रकार अन्य पीठाधीश्वरों तथा महामण्डलेश्वरोंसे भी निवेदन है कि–वे भी इस ग्रन्थमालाके संरक्षक बनकर स.ध.के प्रचार-प्रसारमें दक्षिणहस्त बनें। संरक्षकसे १०००) लिया जाता है। संरक्षकका चित्र छपता है, और प्रत्येक प्रकाशनमें नाम भी।

दूसरे संरक्षक श्रीविष्णुहरिजी डालमियाके पिता सेठ श्रीजयदयाल-जी डालमियाको मैं केवल उद्योगपति ही समझा करता था; पर जब उनके निकट सम्पर्कमें आया; तो मालूम हुआ कि—वे एक विद्वान्, तथा सनातनधर्मके मर्मज्ञ हैं, अंग्रेजोंके पिट्ठू कई हिन्दुओंने पुरानी पुस्तकोंके उद्धरण देकर सिद्ध किया था कि—भारतमें गोवध धार्मिक दृष्टिकोणसे होता था; इस पर हमने 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाके छठे और कुछ सातवें पुष्पमें विचार दिया था। सेठजीने वे अंग्रेजी-उद्धरण देकर उन पर

तर्कपूर्ण मीमांसा करके स. ध. पर आते हुए कलङ्कको बड़ी अच्छी तरहसे धो डाला है। श्री रामकृष्णजी डालमियां भी एक विद्वान् एवं धार्मिक व्यक्ति हैं, उनकी धर्मपत्नी श्रीसरस्वतीदेवीने भी पूर्वकी तरह इस बार भी अपने एक ट्रस्टसे सहायता दी है।

इस बार ज.गु. शङ्कराचार्य शृंगेरीपीठाधीश्वर श्रीस्वामी अभिनव-विद्यातीर्थजी महाराजने जहां हमारा सम्मान किया; वहां इस ग्रन्थमाला-केलिए श्रीचरणोंने १५०) की सहायता दी है। ज.गु. शङ्क. ज्योति-ष्पीठाधीश्वर स्वा. श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज तो प्रत्येक पुष्पमें १००) की सहायता करते ही रहते हैं। गत पुष्पसे ज.गु. शङ्क. पुरीपीठाधीश्वर स्वा. निरञ्जनदेवजी तीर्थ महाराज भी प्रति पुष्प १००) की सहायता करने लगे हैं। श्रीचरणोंने गोवधके दूरीकरणार्थ अपने प्राणोंकी बाजी लगाकर जगत्में हलचल मचाकर स.ध.का एक नया रिकार्ड नियत किया है। अस्पृश्यतापर भी शास्त्रीय-मत प्रकट करते हुए, आजकलके विरोधी लार्ड मैकालेके मानसिक-दास सुधारकोंकी परवाह न करते हुए अपनी निर्भीकता प्रकट कर ही दी है। कहीं इनके नेतृत्वमें स.ध.का संगठन न हो जाय, आजके सुधारक तथा अंग्रेजियतके प्रेमी इनसे जलते हैं, और अपने ओछे-हथकंडोंसे इन्हें गिराने की फिक्रमें हैं कि—जिससे इनका बढ़ता हुआ प्रभाव क्षीण हो जाय, जिससे कहीं वे फिर गोवध-बन्दी आन्दोलन शुरू करके पहलेकी भान्ति नवीन-राष्ट्रवादियोंको निर्वाचनमें अपदस्थ न कर दें। स.ध.को इनपर गर्व है। ज.गु. रामानुजाचार्य स्वा. अनिरुद्धाचार्य-महाराज भी प्रति-पुष्पमें ग्रन्थमालाकी सहायता करते रहते हैं।

श्रीस्वा. परमानन्दजी महाराज (धर्मसंघ) ने इस बार भी अपनी सहायता भेजी है। श्रीमान् पं० पद्मनाभजी राव जोकि आन्ध्रमें पाणिनि-महाविद्यालयके आचार्य हैं—ने इस बार भी १००) की सहायता की है। इस दशम-पुष्पमें श्रीमान् पं० श्रीरामजी शास्त्रि-महोदयने भी १००) की बिना ही प्रेरणाके सहायता भेजी है; आप पुराणोंके मर्मज्ञ, ज्योतिष एवं कर्मकाण्डमें प्रवीण योग्य-विद्वान् हैं। मारवाड-मूंडवाके विद्वान् श्री पं०

रामेश्वरजी शास्त्री भी सदा ही किसीके द्वारा ग्रन्थमालाकी सहायता करवाते ही रहते हैं। ज्योतिर्विद्-धुरीण श्री पं० बालमुकुन्दजी शर्मा बम्बईसे से. श्रीछबीलदासजी तथा से. तेजभानजी—ग्रोवरसे भी सहायता भिजवाते रहते हैं; इस बार उनने स्वयं भी सहायता-द्रव्य भेजा है। जो महोदय १००) से न्यून सहायता भेजते हैं, उनका नाम अर्थ-दाताओंकी सूचीमें रखा जाता है।

अब मुद्रणसाधन सभी बहुत महंगे हो गये हैं, अतएव प्रत्येक सना-तनधर्मीका कर्तव्य हो जाता है कि—इस ग्रन्थमालाकी सहायता मुक्त-हस्तसे करें। यह ग्रन्थमाला कोई स्कूलोंकी कोर्सकी पुस्तक तो नहीं है कि—हाथोंहाथ बिक जावे; और इससे पर्याप्त रकम आ जावे; और शीघ्र छपवाई जा सके। इसके पुष्प एक सहस्रके पृष्ठके होते हैं; फिर छपते हैं ५००। स्थान न होनेसे अधिक छपवाये नहीं जा सकते। इस कारण इस रकममें इसे घाटा पड़ता है; और ग्रन्थमालामें इतनी शक्ति नहीं कि—यह अपने पैरोंपर आप खड़ी हो सके। तब सभीका कर्तव्य हो जाता है कि—इसकी सहायता करें-करावें। गुणज्ञ एवं विद्वानोंने इस ग्रन्थ-मालाकी बहुत ही प्रशंसा की है। पर बहुत लोग इसकी रकम देख घबड़ा जाते हैं; पर वे नहीं जानते कि—इतने बड़े पोथे थोड़े मूल्यमें कैसे दिये जा सकते हैं; और फिर आगे भी तो छपवाने हैं। सनातनधर्मियोंमें यह त्रुटि है कि—कई कार्योंमें तो बहुत खर्च कर डालते हैं, पर साहित्य-सेवामें खर्च करनेसे घबराते हैं। हम इस ग्रन्थमालासे अपना पारिश्रमिक भी नहीं लेते; इसकी सहायतामें आई हुई रकमसे अपनेलिए एक पैसा भी नहीं लेते। सभी रकम ग्रन्थमालाके ही कोषमें जमा करके उसीके प्रकाशनकार्यमें लगाते हैं; अतः सनातनधर्मियोंका कर्तव्य हो जाता है कि—वे इस ग्रन्थमालाको सहायता दें; तथा स्वयं खरीद कर, वा खरीदवाकर इसके शीघ्र-प्रकाशनमें सहयोग दें। 'कल्याण' के सम्पादक श्रीपोद्दारजी भी इसका प्रचार करवाकर इसे सहयोग देते हैं।

इस बार इस पुष्पका टाईप महीन है; पंक्तियां भी अविरल रखी गई

हैं; अतः इसमें सामग्री अत्यधिक आगई है। तब इसका महंगाईके कारण मूल्य १६) रखना पड़ा है। इस प्रकारकी उपयोगी पुस्तक अन्य स्थानसे आपको २०) से कममें न मिल सकती। इसके तृतीय, चतुर्थ तथा पञ्चम पुष्प समाप्त हो चुके हैं; अब हममें उतनी शक्ति नहीं कि—हम उनका पुनर्मुद्रण करा सकें; अतः श्रीमानोंका कर्तव्य है कि—इन पुष्पोंके पुनर्मुद्रणकेलिए भी अपनी सहायता अवश्य भेजें।

इस वार इस पुष्पमें २८ पौण्डका कागज़ लगाया गया है; फिर जिल्द भी रखी जाती; तो पुस्तक बहुत भारी होजानेसे डाकव्यय बढ़ जाता; मूल्य और भी बढ़ाना पड़ जाता।

सहायताकेलिए नियम—ग्रन्थमालाके संरक्षककेलिए १०००) रु० नियत है। संरक्षकका एक वार चित्र छपता है; और नाम प्रत्येक प्रकाशनमें छपता है। सम्मान्य-सहायककेलिए ५००) और मान्यसहायक-केलिए २५०) और साधारण सहायककेलिए १००) नियत है। पूर्वके तीन सहायकोंके पास ग्रन्थमाला नियमसे जाती है। अर्थदान कोई जितना भी चाहे कर सकता है, पर वह बीस रु० से ऊपर होना चाहिये। सहायता मेरे नाम विद्यालयके पते से दिल्लीमें वा मेरी पुत्रवधू श्रीकिरणकान्ताके नाम फर्स्ट बी. १६ लाजपतनगर नई दिल्ली २४ के पतेसे भेजी जा सकती है। पुस्तकको बिना मूल्य मांगकर हमें लज्जित न किया जावे।

इस पुष्पमें भी अनेक शंकाओंका समाधान दिया गया है। अधि-कारी निष्पक्ष विद्वानोंसे प्रार्थना है कि–विचारमें कहीं कुछ त्रुटि दीखे, उसकी हमें सूचना दें। किसी प्रश्नके उत्तरमें हमारी अपेक्षा किसी सज्जनको अच्छी सूझ स्फुरित हुई हो; तो वे भी सूचना देनेका कष्ट करें। अन्तमें सब सहायकोंको धन्यवाद देता हुआ इस 'मुखबन्ध' को समाप्त करता हूं, और स.ध.का ऐसा काय मुझसे होता रहे, एतदर्थ भगवान्से दीर्घ एवं स्वस्थ जीवनकी प्रार्थना करता हूँ।

प्रधानाचार्य रामदल संस्कृत महाविद्यालय;
दरीबाकलां दिल्ली-६
प्र० आषाढ़ कृ० ३० सं० २०२६

निवेदकः—
दीनानाथशास्त्री सारस्वतः

श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाके चतुर्थ संरक्षक—

दानवीर सेठ श्रीविष्णुहरि डालमिया

'आलोक' (९) के सम्बन्धमें विद्वानोंके अभिप्राय ।

(१) '...विद्याकाननपञ्चानन ! विद्वद्वर ! आपकी रत्नप्रसू-लेखनी-द्वारा लिखित 'आलोक' (९) को मैंने बहुत ध्यानसे निष्पक्ष-दृष्टिसे पढ़ा है। इसके पढ़नेसे स० ध० के बहुतसे रहस्योंका उद्घाटन हुआ, साथ ही अनेक संशयोंका उच्छेदन भी हुआ है। सत्य सनातन-वैदिकधर्मका वास्तविक-स्वरूप जनताके समक्ष रखकर आपने संसारका प्रचुर उपकार किया है। मैं तो विस्मित हूँ कि—इस दुबले-पतले शरीर-द्वारा आप इतना बड़ा महान् कार्य कैसे कर रहे हैं। मुझे तो कोई दिव्य-शक्ति ही आपमें काम करती दीखती है। युक्तियाँ तो आपकी प्रबल होती हैं; और तर्क भी न्यायानुकूल। प्रमाणोंका तो आपके पास अक्षय्य कोष है। अत एवाहं ब्रवीमि—विपक्षिणां मध्ये नास्ति कश्चिद् यो भवद्भिः सह कमपि विषयमधिकृत्य शास्त्रार्थं कर्तुं समुत्सहेत।' (श्रीगङ्गाराम-सारस्वत, रिटायर्ड अध्यापक कादियां-गुरदासपुर)।

(२) मुझे श्रीमहारथी (श्रीमाध.) जीके लेख पढ़नेमें बड़ा आनन्द आता है, वे भी प्रतिपक्षियोंकी ही भाषासे उनकी खूब खबर लेते हैं; पर उनके लेखोंके भरोसेपर दो-एक बार मुझे (डा० श्रीरा० से) धोखा भी खाना पड़ा है; तबसे उनकी तादृश युक्तियोंका अनुकरण अब मैं नहीं करता। आपके साहित्यमें जो भी युक्ति-प्रमाण हैं, वे इतने ठोस होते हैं कि—उनसे विपक्षियोंकी बोलती ही सदाकेलिए बन्द हो जाती है। यदि 'कल्याण' में आपका पता देखकर हम आपसे संपर्क स्थापित न किये होते; वा आपका साहित्य न मंगाते, तो सम्भव था कि—केवल अमरौधा कानपुर, और कमलानगर-दिल्लीकी पुस्तकोंके भरोसे कुछ अधिक परेशा-नियोंका सामना मुझे करना पड़ता। पहले मैं इन दयानन्दी-प्रतिपक्षियोंसे कुछ घबराया भी करता था कि—न जाने क्या पूछ बैठें; पर आपने अनु-ग्रहपूर्वक अब मुझे ऐसा बना दिया है कि—यदि स्वा. द. भी एक बार उतर आवें; तो उनसे भी अब हम चंप नहीं सकेंगे।...अब हमारी, बहुत

ट्रेक्टोंके छपवानेवाले डा० श्रीराम, सार्वदेशिक संन्यासी वानप्रस्थमण्डल ज्वालापुर, श्रीरघुनाथ पाठक आदिसे जो चर्चा चल रही थी, उनमें इन सबकी बोलती बन्द होगई है, बार-बार लिखनेपर भी वे मौनी-बाबा बन गये हैं। हमें इस हिम्मतको प्रदान करनेका श्रेय आप तथा आपकी ग्रन्थ-मालाको है; अन्यथा इतनों दिनों तक हम चुप्पी साधे बैठे थे। सनातन-भगवान् आपको चिरजीवन प्रदान करें। आपका एक अकिञ्चन सेवक-सीतारामदास महन्त, टोंक)।

(३)···आपने इस महत्त्वपूर्ण एवं स. ध. की मर्यादामहिमा बढ़ाने वाली 'आलोक'-ग्रन्थमालाके प्रकाशनसे धर्मकी जो महान् प्रशंसनीय सेवा की है, उसकेलिए धार्मिक-जगत् आपका सदैव ऋणी रहेगा। आपका यशस्वी जीवन सचमुच धन्य है।···(वल्लभदास बिन्नानी, कलकत्ता)

(४)···ग्रन्थमालाके सुमन पढ़े, पुस्तकें अलभ्य हैं। प्रमाणोंकी झड़ी लगा दी गई है। प्रमाण, युक्ति, उदाहरण आदि द्वारा विपक्षियोंके मतका निराकरण इतनी उत्तमतासे किया गया है कि--देखते ही बनता है। भाषा इतनी सरल है कि--साधारण हिन्दी-पढ़ा भी विषयको शीघ्र ही हृदयङ्गम कर सकता है। वस्तुतः इन पुष्पोंने एक बहुत भारी कमीको दूर किया है। मैंने बहुत-सी पुस्तकें पढ़ी हैं, परन्तु जितना इन पुष्पोंमें सर्वाङ्गपूर्ण लेख मिले हैं, उतने किसी भी ग्रन्थमें नहीं। अभाग्यवश इसका तृतीय पुष्प समाप्त हो जानेसे मुझे नहीं मिल सका, (श्रीरामकृष्ण द्विवेदी पो. गुलरिहा (इटावा)।

(५) 'श्री पं० दीनानाथसारस्वत 'आलोक' में 'वेदस्वरूप-विचार'-आदि निबन्ध लिखकर वैदिकसाहित्यके भण्डारको भरते हैं; और भर रहे हैं' ('वेददिग्दर्शन' (श्रीमाधवाचार्यशास्त्री पृ. ६६ पं० ८-६-१०)

(६) 'नवम पुष्पमें जाम्बवन्त ऋक्षराजकी पुत्रीका मनुष्य (भगवान् कृष्ण) के साथ विवाहका होना, ५६ कोटि यादवोंके द्वारकापुरीमें रहने आदि कुतर्कोंका बड़ा ही गवेषणापूर्ण विवेचन किया गया है। वेदोंमें अतिशयोक्तिके द्वारा पुराणोंमें जितनी भी असम्भव कही जानेवाली बातें

हैं; उन सभीका समाधान किया गया है।···मुझे तो शास्त्रीजी दीनानाथ-के रूपमें ही अकेले ही सुदर्शनचक्र-द्वारा आर्यसमाजियोंके ट्रेक्टों, पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित प्रश्नरूपी महास्त्रों एवं महाबाणोंको क्षणमात्रमें छिन्न-भिन्न कर देनेवाले 'विष्णु' दीखते हैं। अथवा जैसे अकेले ही स्वामी श्रीशङ्कराचार्यने सहस्रों बौद्धोंको परास्त किया था; वैसे ही शास्त्रीजी सिद्ध होंगे।

मुझे खेदसे लिखना पड़ता है कि--यदि किसी आर्यसमाजीने ऐसा विशाल-ग्रन्थ लिखा होता, तो सहस्रों रुपया शास्त्रीजीको पुरस्कारमें मिल जाता; सम्मान अलग मिलता; परन्तु शास्त्रीजीको कोई व्यक्तिगत इसपर एक फूटी-कौडी देनेवाला भी नहीं है।···' (श्रीइन्दुशेखरसिंह राठौर, बीहटवीरम् जि० सीतापुर)।

(७) 'आलोक'स्य षष्ठं पुष्पम् आनायितम्; भवत्पुस्तकेषु अगाध-पाण्डित्यस्य दर्शनं भवति' (श्यामलालमिश्रः एम्. ए. राउर केला।

(८) आजके भीषण समयमें आपका समाधेय विशद विषय अपूर्व ढंगका है, आपसे हम-जैसे धर्मप्रेमियोंको शिक्षा प्राप्त है। 'सिद्धान्त, कल्याण, सन्मार्ग पत्रोंमें अङ्कित आपके लेख-शास्त्रार्थ भी मेरे पास संगृहीत एवं सुरक्षित हैं। (श्रीविष्णुप्रसाद शास्त्री मुआर (होशगाबाद)

(९) आपके 'सनातनधर्मालोक' के ७ पुष्प मेरे पास है। वास्तवमें अपनी लेखनीसे सनातनधर्म-जगत्का बड़ा उपकार किया है' (शिवकुमार शर्मा छीपी टोला (बरेली)

(१०) 'इन्हों (श्रीदीनानाथशर्मा सारस्वत) ने ४५ वर्ष तक अध्यापकके पदपर कार्य किया है। संस्कृत अध्यापन और वेदोंके अध्ययनमें इन्होंने अपने-आपको समर्पित कर दिया है। भारतीय पौराणिक-कथाओं और दर्शनपर भी इन्होंने पुस्तकें लिखी हैं' (भारत-सरकारके शिक्षा-मन्त्रालयमें प्रकाशित 'प्रशस्तियां' पुस्तक (१९६६-६७)।

(११) 'भारत-सरकार शिक्षा-मन्त्रालय'।

यह राष्ट्रीय पुरस्कार श्रीदीनानाथ शर्मा सारस्वत प्रिंसिपल रामदल

संस्कृत महाविद्यालय, दरीबाकलां, दिल्लीको अध्यापनके क्षेत्रमें प्रशंसनीय लोकसेवाके सम्मानार्थ प्रदान किया जाता है। (राष्ट्रपति-द्वारा दिया प्रमाणपत्र ३।१२।६६)

(१२) 'सनातनधर्मालोक' ग्रन्थमाला संस्कृतज्ञ विद्वानोंमें बहुत ख्यातिप्राप्त है' (मोहनदेव पन्त, प्रधानाध्यापक दी० कृ० सनातनधर्म—संस्कृत कालेज अम्बाला कैंट)।

(१३) 'आप घोर परिश्रम कर-हम लोगोंके कल्याणार्थ शास्त्रीय विषयोंको वैज्ञानिक-ढंगसे लेखबद्ध कर रहे हैं, यह विशेष-महत्त्वकी बात है। आप-जैसे दो-चार लेखक और भी तैयार होजाएं; तो स० ध० साहित्यका अधिकाधिक लाभ होगा। इस बारका 'आलोक' (६) भी देखा। आपकी यह विशेषता है कि—आप जिस विषयपर लेखनी उठाते हैं; उसमें भली-भान्ति साद्यन्त सप्रमाण कुछ लिखना बाकी नहीं छोड़ते। आपकी तरह विद्वत्तापूर्ण लेख सभी लिख भी नहीं सकते। प्रायः बहुतसे पण्डितमानी विद्वान् आपके लेखोंकी चोरी कर-करके लेखक हो रहे हैं, यह विशेष दुःखका विषय है'। (वेणीराम शर्मा गौड वेदाचार्य याज्ञिक-सम्राट्, वाराणसी)

(१४) माननीय पण्डित जी; आपसे संपर्कस्थापनकी मेरी चिर-अभिलाषा आज पूरी होगई-यह मेरेलिए महद् भाग्यकी बात है।··· आप अति व्यस्त रहते हैं। तथापि आशा नहीं छोड़ूंगा कि—कभी तो आप अपने उपयोगी लेखोंसे 'सविता' को उपकृत करेंगे (अभय-देव सम्पादक 'सविता' अजमेर)।

(१५) श्रीमच्चरणैर्लिखितस्य सनातनधर्मालोकस्य कतिपयानां पुष्पाणामामोदो मयापि परिगृहीतः; येनामोदितं मम हृदय-मन्दिरम् अद्यापि तं मधुरं सुवासं न परिजहाति। नूनम् एतैः पुष्पैः सनातनधर्मस्य कृते महदुपकृतं श्रीमच्चरणैः। 'आलोक'स्य यानि पुष्पाणि उपलभ्यन्ते; तानि सर्वाण्यपि अहं परिजिघृक्षुरस्मि। ५-६-७ पुष्पाणि मया एकस्य सुहृदः सभीवे दृष्टानि; अतस्तेषां ग्रहणे मम अतीव उत्सुकं मनः। अहम-

स्मि सनातनधर्मोपासकः। एतेन च तत्रभवतां भवतामन्तेवासित्वं परोक्ष-द्वारेण आपन्नः। भवल्लेखशैल्या निरतिशयं प्रमुग्धः सततं प्रणौमि। भवदीयोस्मि गुणानुरक्तः—डॉ० भगवती-प्रसाद देवशङ्करपण्ड्या **M.A. Ph. D.** व्याकरणाचार्यः, काव्यपुराणतीर्थः, अहमदाबाद ८।

(१६) श्रीमदाचार्यप्रवराः विद्यावारिधयः! भवतामेतद् 'आलोका'-ख्यं ग्रन्थरत्नं दर्शं-दर्शं चेतो विकसतितमाम्। अस्मिन् किल अनीदृशि ग्रन्थे प्रतिपक्षिमुखमर्दने घटेऽर्णव इव (गागरमें सागरके समान) समुपस्थापितोऽखिलः स. ध. सिद्धान्तनिकरः श्रद्धयपादैः। धन्या खलु देवपादानां जननी, धन्यः किल सम्मान्यो भावत्को जनकश्च; यत्सद्मनि गीष्पतिसमः स्वर्लोकादवतीर्णो भवादृशस्तनयः प्रादुरभूत्।

किं बहुना—नास्तिकानां कृते कृतान्त इव, आस्तिकानां देवगवीजुषां कृते साक्षाद् धर्मो यथा विभ्राजतेतराम् इह भारतभूमण्डले भवान्--इति द्रढीयान् मे विश्वासः। श्रीवाजीरावपेशवासदृशाः के सन्ति भाग्यवन्तो धनवन्तः, यैः स्वीयो धनकोषः सडिण्डिमघोषं समर्पितः स्यात्।

दिवान्धविहङ्गमसम इदानीन्तनो धनिकवर्गः अविद्योपहतचेताः कथम-प्रतिमप्रतिभं दिवाकरसमं भवन्तं विलोकयेत, हा कष्टम्। धिगेतान् किल धनिकान्। भगवान् सनातनो विष्णुर्भवत्सु कृपया प्रवर्तमानः सर्वं साधयिष्यति--इति साधीयान् मे विश्वासः।···भरतः **c/o S. C.** दुबे **B. Sc. D. K. K.** कॉलेज लखनऊ।

(१७) 'आपने यह पुष्प क्या लिखे हैं, धार्मिक जनताकेलिए रत्न प्रदान किये हैं। विशेष लिखना सूर्यको दीपक दिखानेके समान है' (स्वा. नृसिंहदास विरक्त, नागौर)।

(१८) 'आलोक' ग्रन्थमालाका ६ म पुष्प देखा। प्रकाण्ड पूर्ण-विद्वत्तासे अति प्रसन्नता है। यह पुष्प अत्यन्त सुन्दर और सनातनधर्मियोंकेलिए बहुत उपयोगी बन गया है। विपक्षियोंको जिन-जिन आक्षेपोंपर गर्व था; उन्हें यह पूर्ण विश्वास था कि--हमारे आक्षेपोंका निराकरण संसार-भरके किसी भी सनावनधर्मी विद्वान्से बन ही नही सकता; उन

सभी आक्षेपोंका समुचित निराकरण युक्ति और प्रमाणों द्वारा करके आपने उन्हें फिर कभी उठने लायक नहीं रखा।

यूं तो पं० ज्वालाप्रसाद, श्रीभीमसेनजी, श्रीकालूरामजी शास्त्री आदि स० ध० के विद्वानोंने दयानन्दियोंके भीतर तरह-तरहके जो भ्रम फैल रहे थे, उनके रोक-थामका प्रयत्न किया ही था। पं० माधवाचार्यजीने भी अपनी पुस्तकोंमें आर्यसमाजके दूषित विषैले फोड़ेपर जबर्दस्त नश्तर लगाये; पर उक्त विद्वानोंके स्थूल नश्तर एवं कड़े हाथोंसे दयानन्दी बेतहाशा हाथ-पांव मारते थे, जिससे सही शल्यकर्म (ऑपरेशन) हो नहीं पाता था; उसे आपने सिद्ध-हस्त तथा सूक्ष्म नश्तरसे ऐसा कर दिया कि--वे अब जल्द फैल नहीं सकेंगे।

इस ९ म पुष्पसे जहां सनातनधर्मियोंको अतुल लाभ होगा; वहां साम्यवादी तथा दयानन्दियोंको भी आसानीसे यह जानकारी होगी कि--वास्तवमें हम लोग कितने पानीमें हैं। आशा है—१० म पुष्प प्रकाशित होनेपर इन सड़े-गले दूषित फोड़ोंकी दुर्गन्ध भी समाप्त हो जायगी"। (श्री सीतारामदास महन्त)।

निवेदन—अन्य पुस्तकोंमें जो सम्मतियां छपती हैं, उनका कुछ भी मूल्य नहीं होता। आप किसीको भी अपनी पुस्तक, विना मूल्यके दे दीजिये; और जैसी चाहो, सम्मति लिखवा लीजिये। परन्तु इस ग्रन्थ-मालाकी सम्मतियां ऐसी नहीं होतीं। कारण इसकेलिए किसीसे सम्मति मांगी नही जाती; और न सम्मतिकेलिए पुस्तक किसीको बिना मूल्य दी जाती है। यह तो मूल्य देकर पुस्तक लेनेवालों, तथा पुस्तक भली-भांति देखकर उसमें अयाचित सम्मति देनेवालों, अविद्वानोंके नहीं, किन्तु सुप्रसिद्ध-विद्वानोंके यह उद्‌गार हैं। अतः हम इनका नाम 'सम्मति' न कहकर 'हार्दिक भाव' कहते हैं। इन्हींसे पुस्तककी उपयोगिता तथा मूल्यवत्ता प्रतीत होती है। उद्धरणकर्ता—

नारायणशर्मा 'राजीवः' सारस्वतः
(शास्त्री M. A., प्रकाशकः)

श्रीसनातनधर्मालोक ग्रन्थमाला (१० म पुष्प) की

विषय-सूची

‘श्रीसनातनधर्मालोक’-प्रणेता—

श्री दीनानाथ शर्मा शास्त्री सारस्वतः

विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि,
प्रिंसिपल रामदल संस्कृतमहाविद्यालय,
दरीबा कलाँ, देहली-६

श्रीसनातनधर्मालोकः (१०)

(पुराण-इतिहास, गीता, वेदादिचर्चा)

(१) मङ्गलम् ।

वन्दे वन्दारुमन्दारमिन्दुभूषणनन्दनम् ।
अमन्दानन्दसन्दोह-बन्धुरं सिन्धुराननम् ॥१॥
वामाङ्गीकृतवामाङ्गि कुण्डलीकृतकुण्डलि ।
आविरस्तु पुरो वस्तु भूतिभूत्यम्बराम्बरम् ॥२॥

ॐ निषुसीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥
(ऋसं० १०।११२।६)

ॐ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि ।
तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् । (कृ० य० मैत्रा० २।६।१।३)

ॐ तत्केशवाय विद्महे नारायणाय धीमहि ।
तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्' । (कृ० य० मैत्रा० २।६।१।८)

ॐ यावत्तेऽभिविपश्यामि भूमे ! सूर्येण मेदिना ।
तावन्मे चक्षुर्मा मेष्ट उत्तरामुत्तरां समाम्' (अ० १२।१।३३)

श्रीसनातनधर्मालोकोऽयं सम्प्रकाशते ।
तमांस्यनेन दूरे स्युर्धर्ममार्गः स्फुटो भवेत् ॥१॥
पूर्वं पञ्चाप (मुल्तान) वास्तव्य इदानीं देहलीं श्रितः ।
इमं ग्रन्थं विनिर्माति श्रीदीनानाथनामकः ॥२॥
सारस्वतस्य तस्यायं प्रयत्नः शास्त्रिणो महान् ।
साफल्यमेतु पूर्तिञ्च भगवत्कृपया ध्रुवम् ॥३॥

'कण्टक-शोधन'

(२) श्रीमद्भागवतपरके आक्रमणका निवारण ।

'शुष्कं तर्कं परित्यज्य आश्रयस्व श्रुतिं स्मृतिम्' (महा० ३।२००।११४)

'श्रीसनातनधर्मालोक' (९) में प्रतिपक्षियोंकी बहुतसी आक्षेपक पुस्तकोंकी आलोचना की गई थी; पर स्थान न होनेसे चार-पांच अन्य आक्षेपक पुस्तकोंकी आलोचना प्रकाशित नहीं होसकी। अब इस १०म पुष्पमें उसे दिया जा रहा है। प्रतिपक्षियोंकी एक यह भी प्रकृति है कि-उनके सब आक्षेपोंका हम सर्वाङ्गीण प्रत्युत्तर दे देते हैं; और उन्हें निरुत्तर भी कर देते हैं; पर फिर वे अपनी अन्य पुस्तकोंमें वहीके वही आक्षेप उद्धृत कर दिया करते हैं: जिससे प्रतिपक्षियोंके सहवर्गियोंको यह मालूम भी न होसके कि-इनकी पुस्तक कभीकी खण्डित होचुकी है। इनके आक्षेपोंमें सार तो कुछ भी नहीं रहता; पर यदि उनपर उपेक्षा-वृत्ति की जाय; तब ये लोग चिल्लपों मचाते हैं कि हमारे आक्षेपोंका उत्तर बन ही नहीं सकता। यह मोह उन्हें न रहे; तथा जिज्ञासुओंकी जिज्ञासाका भी समाधान होजावे; अतः हमने ग्रन्थमालामें 'कण्टकशोधन' एक स्तम्भ भी रखा हुआ है।

यह हर्षकी बात है कि-विद्वानोंने हमारी ग्रन्थमालासे अपने पत्रों-द्वारा अपनी अतिशयित प्रफुल्लता प्रकट की है। एक पुष्पको प्रकाशित हुए थोड़ा ही समय होता है, तब हमारे विद्वान् पाठकोंके नये पुष्पके प्रकाशनके लिए पत्र पर पत्र आने लगते हैं। इस प्रकार हम अपने परि-श्रमको सफल समझते हैं। हमारे पास समय न होते हुए भी हमें बलात् समय निकालकर सनातनधर्मकी सेवा करनी पड़ती है, 'बलादिव नियोजितः' इस न्यायसे हमें यह परमात्माकी प्रेरणा ही प्रतीत होती है। हम सनातनभगवान्की सेवा करते हुए श्रीभगवान्की अकम्प अनुकम्पासे 'आलोक' ग्रन्थमालाके पाठकोंकी सेवामें फिर उपस्थित होरहे हैं।

एक प्रतिपक्षीने श्रीमद्भागवत पर तथा अन्य प्रतिपक्षियोंने भगवद्-गीतापर कीचड़ उछाला है; हम उनके आक्षेपोंके बलाबलपर विचार आरम्भ करते हैं। पहले 'श्रीमद्भागवतसमीक्षा'के आक्षेपोंको पूर्वपक्षमें रखकर हम उनका प्रत्युत्तर देते चलेंगे। विज्ञ पाठकगण इधर ध्यान दें; और इस ग्रन्थमालाका प्रचार भी करें; जिससे सनातनधर्मके मार्ग पर प्रतिपक्षियोंके द्वारा बिछाये जाते हुए कांटोंका मुख-भङ्ग करके सनातन-मार्गको प्रशस्त किया जा सके।

(१) आक्षेप—महाभारत (शान्ति. ३३२-३३३ अध्याय)से प्रतीत होता है कि--व्यासके लड़के शुकदेव राजा परीक्षित्के गर्भमें आनेसे पूर्व मर चुके थे, तभी व्यासजीका शोक दिखलाया गया है। तब महाभारतके ९६ वर्षोंके बाद शुकदेवने राजा परीक्षित्को भागवत कैसे सुनाया? शुकदेवकी जन्ममृत्यु परीक्षित्की मृत्युसे लगभग १४० वर्षसे पूर्व हो चुकी थी; सो परस्पर-विरोधवश महाभारत तथा भागवतका लेखक एक नहीं हो सकता। 'शुक्रप्रोक्तं भागवतं' (भविष्य. प्रति. ३।२८।११) यहां भागवतको दैत्यगुरु शुक्राचार्यसे बनाया कहा है। महाभारतमें परीक्षित्-को शुकदेव द्वारा भागवतसप्ताह सुनाना नहीं लिखा।'

प्रत्युत्तर—महाभारतमें उक्त अध्यायोंमें श्रीशुकदेवका जीवन्मुक्तत्व वा ब्रह्मीभाव ही बताया गया है, मरना नहीं बताया गया है। 'स (शुकः) पुनर्योगमास्थाय मोक्षमार्गोपलब्धये। महायोगेश्वरो भूत्वा सोऽत्यक्रामद् विहायसम्' (३३२।६) नारदेनाभ्यनुज्ञातः शुको द्वैपायना-त्मजः। अभिवाद्य पुनर्योगमास्थायाकाशमाविशत्' (९) कैलाशपृष्ठाद् उत्पत्य स पपात दिवं तदा। अन्तरिक्षचरः श्रीमान् वायुभूतः सुनिश्चितः (१०) इन पद्योंमें शुकदेवका योग-प्रक्रियासे वायुकी भान्ति कैलाशके ऊपरसे उछलकर हलका होकर आकाशमें उड़ना कहा है, मरण नहीं।

योग आदि सिद्धियोंमें अभ्यासी पुरुषोंमें ऐसी अद्भुत शक्ति आजाती है, जिससे वह वायु-जैसा हलका होकर आकाशमें उड़नेमें भी समर्थ

होजाता है। शरीरको भी सूक्ष्म बनाकर आकाशको लांघकर सूर्यलोकको प्राप्त करके ब्रह्मलोकका समीपी होजाता है। मनुजीने तो तीन वर्ष तक ॐसहित सावित्रीजपमें सिद्ध होजानेपर ऐसी सामर्थ्य बताई है। देखिये—

'योऽधीतेऽहन्यहन्येतान् त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः। स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्' (२।८२) (जो ॐ, तीन व्याहृति, तथा सावित्री-गायत्री इन तीन त्रिकोंका तीन वर्ष तक लगातार जप करता है, उसमें सिद्ध होजाता है, वह वायुकी भान्ति उड़नेवाला होकर आकाशकी भांति सूक्ष्म मूर्ति धारण करके ब्रह्मलोकके समीपी होजाता है)। तब क्या प्रतिपक्षी मनुप्रोक्त उस जपकर्ताकी उक्त सिद्धि न मानकर उसकी तीन वर्ष बाद मृत्यु मान लेगा ? वा मनुजीको गप्पी मान लेगा ?

योगदर्शनमें लिखा है—'कायाकाशयोः सम्बन्ध-संयमाद् लघुतूलसमापत्तेश्च आकाशगमनम्' (३।४२) यहांपर योगकी विशिष्ट प्रणालीसे शरीर और आकाशका सम्बन्धरूप संयम करनेसे हलका होकर योगीका आकाशमें उड़ना कहा है। तब क्या वादी वैसे योगीका मर जाना समझ लेगा ?

प्राचीन जिस सिद्धिको योग, जप, तप, आदि-द्वारा प्राप्त कर लिया करते थे, आजकलके वैज्ञानिक उसीको वैज्ञानिक साधनोंसे सिद्ध करते हैं। आजकल राकेटों द्वारा चन्द्रलोकके पास गये हुए मनुष्योंका राकेटसे बाहर निकलकर हलके होजानेसे आकाशमें उड़ना कहा है। यह गतदिनों समाचार-पत्रोंमें प्रसिद्ध होचुका है। यही सिद्धि शुकदेवकी यन्त्र-द्वारा न बताकर योगसिद्धि-द्वारा बताई है; तब जीवन्मुक्त-शुकके द्वारा श्रीमद्भागवतको सुनाना असम्भव नहीं। १२-१३ पद्योंमें सब प्राणियों द्वारा शुकदेवका दर्शन कहा है। १४ वें पद्यमें शुकदेवका पूजन कहा गया है। क्या मरे हुए शुकदेवका दर्शन और पूजन कहा है ?, वाह प्रतिपक्षी महाशय, आपकी बुद्धि बड़ी तीव्र है !!!

'अब्रवीत् ताः तदा वाक्यं शुकः परमधर्मवित्। पिता यद्यनुगच्छेन्मां

क्रोशमानः शुकेति च। ततः प्रतिवचो देयं सर्वैरेव समाहितैः, (२८-२९) यह पद्य 'अत्यक्रामद् विहायसम्' (६)के बादका है, जिससे वादी शुकदेवकी मृत्यु समझता है। यह शुकने देव-स्त्रियोंको कहा था कि—मेरे जानेके पीछे मेरे पिता आजावें; तो उनको मेरी ओरसे उत्तर दे देना। तो क्या मरनेके बाद भी पुरुष बोलता है ? यही श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—'यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव। पुत्रेति तन्मयतया तरवोभिनेदुः' (१।२।२)

'ततस्तस्मिन् पदे नित्ये निर्गुणे लिङ्गवर्जिते। ब्रह्मणि प्रत्यतिष्ठत् स विधूमोऽग्निरिव ज्वलन्। (महा. शान्ति. ३३३।३) यहां शुकका आदित्यात्मनः ब्रह्ममें—(क्योंकि 'आदित्यो ब्रह्म' (छान्दो. ३।१९।१) प्राप्त होना, सूर्यलोकमें जाना कहा है—मरना नहीं। क्योंकि—शुकदेवने पहलेसे ही सोच रखा था कि—

'वायुभूतः प्रवेक्ष्यामि तेजोराशिं दिवाकरम्' (३।१।५३,५७,५८)। प्रतिपक्षीके ऋषिने भी जीवित-योगीका सूर्यलोकमें पहुंचना कहा है, यह हम आगे लिखेंगे।

'शुकस्तु मारुतादूर्ध्वं गतिं कृत्वाऽन्तरिक्षगाम्। दर्शयित्वा प्रभावं स्वं ब्रह्मभूतोऽभवत् तदा' (१९-२०) अन्तर्हितः प्रभावं तु दर्शयित्वा शुकस्तदा। गुणान् सन्त्यज्य शब्दादीन् पदमभ्यगमत् परम्' (२६) यहां स्पष्ट है कि—यह मृत्यु नहीं; किन्तु जीते ही जीते योगविद्या-द्वारा सूर्यलोकमें प्राप्त होना रूप जीवन्मुक्ति है। 'नतु योगमृते शक्या प्राप्तुं सा परमा गतिः' (३३१।५२) यहां योगके बिना आकाशगमनमें अशक्ति बताई गई है। तभी तो 'अभिवाद्य पुनर्योगमास्थायाऽऽकाशमाविशत्' (३३२।९) योगविद्या द्वारा शुकका आकाशमें जाना कहा है। इसीलिए वहीं 'कैलास-पृष्ठादुत्पत्य स पपात दिवं तदा' (१०) कैलासपर चढ़कर फिर वहांसे उछलकर शुकका द्युलोकमें जाना कहा है। योगी लोग यौगिकप्रक्रियाओंसे तथा विशेष भोजनोंसे स्थूल-शरीरको

सूक्ष्मतामें परिवर्तित करके **आकाशगमनकी सिद्धि** प्राप्त कर लेते हैं। शङ्करने व्यासजीको कहा था—'मम चैव प्रसादेन ब्रह्मतेजोमयः शुचिः। स गतिं परमां प्राप्तो दुष्प्रापामजितेन्द्रियैः। दैवतैरपि विप्रर्षे ! तं त्वं किमनुशोचसि' (३६) छायां स्वपुत्रसदृशीं सर्वतोऽनपगां सदा। द्रक्ष्यसि त्वं च लोकेस्मिन् मत्प्रसादान्महामुने !' (३८) (तुम्हें शुककी छाया दीखा करेगी)

इससे स्पष्ट होगया कि—शुकदेवकी मृत्यु नहीं हुई, किन्तु जीवन्मुक्तता हुई। जीवन्मुक्त योगियोंमें यह शक्ति हुआ करती है कि—**वे सब लोकोंमें जा सकते हैं; और उन लोकोंसे इस लोकमें स्वतन्त्रतासे आ सकते हैं।** निष्कर्ष यह हुआ कि—जब योगी उक्त अवस्थाको प्राप्त कर लेता है, तब उसका पाञ्चभौतिक शरीर भी परमाणुओंके परिवर्तन होजानेके कारण दिव्य होजाता है। यह तब होता है, जब उसकी परमात्मासे एकात्मता होजाती है; तब उसमें बल भी दिव्य होजाता है। इससे वह सूक्ष्मशरीरसे वा मनचाहे शरीरसे जिस-किसी भी लोक-लोकान्तरमें आ-जासकता है। सूर्य, चन्द्र, ध्रुव आदि लोकोंमें भी उसकी गति अव्याहत होजाती है। परकायप्रवेश, विविधरूपनिर्माण आदि सिद्धियां उसकी स्वाभाविक हो उठती हैं। योगदर्शनके विभूतिपादमें उक्त समस्त सिद्धियोंका विवेचन किया गया है। देखिये—(परशरीरावेशः' (३।३८, 'कायाकाशयोः सम्बन्ध-संयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्च आकाशगमनम्' (३।४२) महाभारतमें भी शुकदेवकी यही सिद्धि बताई गई है 'एवमुक्तः स (शुकः) धर्मात्मा··· पद्भ्यां शक्तोऽन्तरिक्षेण क्रान्तुं पृथ्वीं ससागराम्' (शान्ति. ३२५।१२-१३-१४-१५-१६) इत्यादि।

मुक्त पुरुषके विषयमें वादीके स्वामीने भी स.प्र. (९ समु. १४९ पृ.) में लिखा है—'जिस परमात्माके सम्बन्धसे **मुक्त जीव सब लोकों और सब कामों** (मनोरथों)को प्राप्त होता है—।···सो वह मुक्तिको प्राप्त जीव शुद्ध, **दिव्यनेत्र और** शुद्ध मनसे कामों (इच्छाओं)को देखता, प्राप्त होता

हुआ **रमणः करता** है। उन [मुक्त पुरुषों]को **सर्वलोक और सब काम** [कामनाएं] प्राप्त होते हैं, अर्थात् [मुक्त लोग] **जो-जो संकल्प करते** हैं, वह-वह लोक, और **वह-वह काम** प्राप्त होता है। वे मुक्त जीव स्थूलशरीर छोड़कर **सङ्कल्पमय-शरीरसे आकाशमें** परमेश्वरमें विचरते हैं"। यह बात वादी शुकदेवमें घटा ले। पूरीकी पूरी घट जावेगी।

अब दयानन्दी वादी अपने मतप्रवर्तक स्वा.द. जीका अन्य वचन भी सुने। उनने अपने यजुर्वेदभाष्यमें लिखा है—"हे मनुष्यो ! जैसे किये हुए **योगके अनुष्ठान-समय** सिद्ध अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधिमें परिपूर्ण मैं पृथ्वीके बीच **आकाशको उठ जाऊं,** वा **आकाशसे** प्रकाशमान **सूर्यलोकको चढ़ जाऊं,** वा सूर्यलोकके समीपसे अत्यन्त सुख और ज्ञानके प्रकाशको मैं प्राप्त होऊं, वैसा तुम भी आचरण करो। (भावार्थ) जब मनुष्य अपने आत्माके साथ परमात्माके **योगको** प्राप्त होता है, तब **अणिमा आदि सिद्धि** उत्पन्न होती है, उसके पीछे **कहींसे न रुकनेवाली गतिसे अभीष्ट स्थानोंको** जा सकता है (१७।६७) यह सभी बातें वादी श्रीशुकदेवमें घटा ले। इस प्रकार छान्दोग्योपनिषद्में भी कहा है—'यं यं **कामं कामयते,** सोऽस्य **सङ्कल्पाद् एव समुत्तिष्ठति**' (८।२।१०)।

इससे सिद्ध है कि—मुक्त पुरुष **जिस-जिस लोक** वा देश-काल आदिमें जैसे **मनचाहे रूपादि** द्वारा **जो करना चाहता है, वह कर सकता है।** यह बात वादी श्रीकृष्ण, श्रीशुकदेव आदि सभी योगसिद्धोंमें घटा ले। 'पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते। न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः, प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्' (श्वेताश्व. २।१२) इससे योगी रोग एवं मृत्युको भी जीत लेता है। ऋभाभू. (पृ. २१३-२१४)में वादीके आचार्यने लिखा है—'जो **मुक्त** पुरुष होते हैं···उनका **आना**-जाना सब लोक-लोकान्तरोंमें होता हैं, उनकेलिए **कहीं रुकावट नहीं होती।** इससे स्पष्ट है कि—यदि वादीके अनुसार शुकदेव मर भी चुके थे; पर मुक्त जीव होगये थे; तब वे मुक्ति लोकसे इस लोकमें भी दिव्य-देहसे आकर परीक्षित्को श्रीमद्भागवत सुना

सकते थे; तब वादीका अपने स्वामीके वचनोंसे ही खण्डन होगया। इससे वह भी सिद्ध होगया कि--स्वा.द.जीकी मुक्ति नहीं हुई; नहीं तो वे भी इस लोकमें दिव्यदेह धरकर आते।

यह भी प्रसिद्ध है कि--देवयोनिके लोग हम-जैसोंको नहीं दीखते, पर उनके साथ हमारे पूर्वजोंका सम्मेलन वा संवाद हुआ करता था, यह १।३।३३ ब्रह्मसूत्रके शाङ्करभाष्यमें देखा जा सकता है।

फलतः जीवन्मुक्त शुकदेवने भी सिद्ध होकर इस लोकमें दिव्यरूपमें आकर राजा परीक्षित्को यदि श्रीमद्भागवत सुनाई; तो इसमें असम्भव कुछ नहीं। इसलिए श्रीमद्भा.में भी मुक्त शुकदेवका सङ्केत मिलता है। महाभारतमें मुक्तिसे पूर्व शुककी २५ वर्षकी अवस्था सूचित की गई है; परन्तु श्रीमद्भा.में 'तं द्वयष्ट-वर्षं सुकुमारपाद--करोरुबाह्वंसकपोलगात्रम्' (१९।२६) यह जो १६ वर्षकी आयु लिखी है, यह उसे मुक्त बतला रही है, क्योंकि--मुक्त जीव नित्य-युवा रहते हैं। जहां श्रीशुकदेवकी आयु २५ वर्षकी भी लिखी है, वह भी यौवनका उपलक्षण है।

'तत्राऽगमद् भगवान् व्यासपुत्रो यदृच्छया गामटमानोऽनपेक्ष्यः। अलक्ष्य-लिङ्गो निजलाभतुष्टः। (१।१९।२५) 'अन्यथा तेऽव्यक्तगतेर्दर्शनं नः कथं नृणाम्' (३६) यहां शुकदेवको 'यदृच्छया गामटमानः' (आनुषङ्गिक पृथ्वीलोकमें घूमता हुआ), और उसे 'अलक्ष्यलिङ्गः' कहा है, जैसेकि महाभारतमें उसकेलिए 'लिङ्गवर्जिते' (शान्ति. ३३३।३) लिखा है। भाग.के अन्य पूर्वोक्त श्लोकमें शुकदेवको 'अव्यक्तगति' कहा है, और राजा परीक्षित् अपनेको 'नृ' शब्दसे 'मनुष्य' बतलाता है, इससे शुकदेवकी दिव्यता सूचित होती है, और पृथिवीलोकमें अचानक उसका घूमना-यह उसका दिव्यलोकसे पृथिवीपर कामगतिवश आना सूचित कर रहा है; नहीं तो पृथिवीलोक-निवासीके लिए 'यदृच्छया गामटमानः' (अचानक पृथिवी-लोकमें घूमता हुआ) कहना असाभिप्राय होजाता है। इस प्रकार जब शुकदेवको पाञ्चभौतिकदेहसे विलक्षण दिव्यदेह-सम्पन्न बताया गया है;

तब जीवन्मुक्त परमहंस लोग स्वेच्छासे मुमुक्षु लोगोंके हितार्थ जब-तब दर्शन दिया करते हैं, क्योंकि--वे लोग सङ्कल्पमात्रसे जिस-तिस लोकमें चले जासकते हैं; यह प्रतिपक्षी भी अपनी दबी-जबानसे मानता है। जैसेकि श्रीमद्भा.समी. (पृ. २१७ पं. ७-८)में वह लिखता है--'योगेश्वर माने जानेवाले, एवं सर्वलोक-लोकान्तरोंमें गमन करनेकी शक्ति रखने-वाले बताये गये पौराणिक-कल्पित शुकदेवजी भी गप्पशिरोमणि ही थे'। (गैप्पीको सब गप्पी दीखते हैं) तब दिव्यगुणोपेत और स्वेच्छासे लोका-न्तरचारी शुकदेवका इस लोकमें श्रीमद्भा. सुनाना उपपन्न हो ही जाता है। तभी श्रीमद्भागवत तथा उसके माहात्म्यमें शुकको लीलाशुक वा छाया-शुक कहा गया है। इससे उसका मुक्त दिव्य-पुरुष होना सूचित होता है। तब महाभारत--भागवतके वचनोंकी एकवाक्यतासे दोनों ग्रन्थ व्यासकृत भी सिद्ध होगये। शोक केवल मरणमें नहीं होता, वियोगमें भी होता है। इसलिए श्रीरामका सीतावियोगमें शोक बतलाया गया है। लड़कीके विवाह होजानेपर बिदाईके समय माता-पिता आदिका रोना वियोगके कारण ही तो हुआ करता है, लड़की उस समय मर थोड़े ही जाती है। और घरका यदि कोई व्यक्ति संन्यासी बन जावे; तब भी लोग रोने लगते हैं। व्याकरणका 'षष्ठी चानादरे' (२।३।३८) इस सूत्रका 'रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत्' यह उदाहरण प्रसिद्ध है। शुकदेव भी घर छोड़कर परिव्राजक बनने जारहे थे। सो 'द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव 'पुत्रेति' (१।२।२) यहां 'विरहकातर' कहा है--मरणकातरः, अथवा आत्यन्तिक-विरहकातरः, नहीं लिखा; तब वादीके सभी एतद्विषयक आक्षेप कट गये।

(ख) "जिस स्थानपर शुकदेवने शरीर त्याग किया था, उस स्थानको महाभारत (३३३।२१)में 'शुकाभिपतन' कहागया है' यह वादीका कथन गलत है। यहां तो व्यासजीका उस स्थानपर जाना कहा गया है. जहांसे शुकने अभिगमन (उत्पतन) किया था। यहां मरने वा शरीर-त्यागका

कथन गलत है; नहीं तो वहां उसके शरीरको जलानेका भी वर्णन होता; पर वहां ऐसा कोई भी शब्द नहीं। तभी तो २२ पद्यमें 'पर्वताग्रे शुकं गतम्'में 'गम्' धातु स्पष्ट है, कि--'यहांसे शुक कैलासपर्वतपर गये थे' पर्वतपर जाना भला मरनेका नाम कैसे हो? यह प्रतिपक्षीकी संस्कृतानभिज्ञता वा गलत अर्थ करनेकी आदत है। उसके गलत-अर्थ करनेके एक-दो उदाहरण भी पाठकगण देख लें।—

(ग) अपनी भाग. समी. (पृ. २१)में **रावणहन्ता रामका काल** बताते हुए 'त्रेताद्वापरयोः सन्धौ रामः शस्त्रभृतां वरः। असकृत् पार्थिवं क्षत्रं जघानामर्षचोदितः' (महा. १।२।३) इस पद्यका अर्थ वादीने किया है--'त्रेता-द्वापरके सन्धिकालमें शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ राम हुए; जिन्होंने दुष्ट राजाओंको मारकर धर्मकी स्थापना की'। यहां परशुरामका वर्णन था, इसमें 'अमर्षचोदितः' और 'पार्थिवं क्षत्रम् असकृत् जघान' यह पद ज्ञापक हैं। आर्यसमाजके श्रीयुधिष्ठिरजी मीमांसकने भी अपने 'सं. व्याकरण-शास्त्रका इतिहास' (पृ. ६७)में यही माना है। दाशरथि रामने क्रोधसे बार-बार क्षत्रिय राजाओंको कभी नहीं मारा। इन शब्दोंका अर्थ वादीने या तो जान-बूझकर बदल दिया, या उसे संस्कृतका ज्ञान नहीं। एक और बढ़िया नमूना भी संस्कृतज्ञताका उसका पाठक देखें।—

पृ. ७२में वह लिखता है—'दर्शन कहते हैं—'ऋते ज्ञानान्मुक्तिः' ऋतज्ञानसे मोक्ष मिलती हैं'। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'को 'ज्ञानान्मुक्तिः' लिखना--यह उसकी पहली अनभिज्ञता है। 'ऋते' यह 'विना' अर्थका वाचक अव्यय हैं, तभी तो उसके योगमें 'अन्यारादितरर्ते' (पा. २।३।२९) से ज्ञानमें पञ्चमी आई है। उसका अर्थ है—'ज्ञानके विना मुक्ति नहीं मिला करती; पर विपक्षीने इसका 'ऋतज्ञानसे मोक्ष मिला करती है' यह अपनी समझमें 'ऋते' इस सप्तम्यन्तका पञ्चमीका अशुद्ध अर्थ कर दिया। इसी प्रकार अपनी 'मुनिसमाज-मुखमर्दन' पुस्तक (१०० पृ.)में भी विपक्षीने 'ऋते ज्ञानानि मुक्तिः' यह अशुद्ध लिखा है। अर्थ यहां भी उसने

वही किया है—'ऋत (ब्रह्म) ज्ञानसे मोक्ष प्राप्त होती है'। उसी पुस्तक (पृ. ८४)में भी उसने अपना संस्कृतज्ञान दिखलाते हुए लिखा है—'देवस्य सवितुः--आत्मनः' **'आत्मा शब्द तो स्त्रीलिङ्ग होता है;** तब मन्त्रमें प्रयुक्त 'देव'-शब्द जो पुंलिङ्ग है, आत्मा (स्त्रीलिङ्ग)के लिए सम्बोधन कारक कैसे बना दिया गया'? यहां 'आत्मा'को विपक्षीने स्त्रीलिङ्ग बना दिया, और षष्ठ्यन्तको सम्बोधन बना दिया; यह है विपक्षीका संस्कृत-ज्ञान!!! और फिर यह लोग संस्कृतके विद्वानोंसे उलझते हैं। उसकी संस्कृत-योग्यताका अन्य नमूना 'श्रीमद्भा. स.' (पृ. २५)में श्रीबोपदेव-प्रणीत 'मुग्धबोध' व्याकरणको 'मगधबौद्ध व्याकरण' लिखकर उसने दिया है।

एक अन्य आदर्श भी देख लीजिये—'पुराणोंके कृष्ण'में इस वादीने 'बभूव रतियुद्धेन विच्छिन्ना क्षुद्रघण्टिका' का अर्थ लिखा है—'रतियुद्धमें एक घंटा होगया'। 'क्षुद्रघण्टिका विच्छिन्ना'का 'एक घंटा बीत गया' अर्थ करनेसे वादीकी संस्कृतमें नितान्त अनभिज्ञता सिद्ध होती है।

यदि ऐसा है, तो ऐसे संस्कृतानभिज्ञ व्यक्तियोंको श्रीमद्भागवत-जैसे क्लिष्ट संस्कृत-ग्रन्थपर लेखनी चलानेका अधिकार ही क्या है? अथवा यदि यह लोग छलसे वैसा अर्थ करते हैं, तब इनका भागवतका खण्डन-करना भी छलपूर्ण सिद्ध होता है, अर्थात् यह लोग साधारण जनताकी आंखोंमें धूल झोंकते हैं। तब वादीका शुकका मरना कहना वही छल है। योगीका अपना शरीर दिव्य कर लेना, जैसेकि महाभारतमें ही स्पष्ट है—'आरणेयस्ततो दिव्यं प्राप्य जन्म महाद्युतिः' (३२४।२१) इसका नाम मरना नहीं होता। 'गुणान् संत्यज्य शब्दादीन्' (२७)का 'शब्द आदि विषयोंका परित्याग करके' यह अर्थ है, 'मरना' अर्थ नहीं।

(घ) वादी यदि महाभारतसे शुकदेवका मरना सिद्ध करता है; तो उसे महाभारतप्रोक्त शुकका दिव्य-जन्म मानना पड़ेगा। उसीसे शुकदेवकी जीवन्मुक्ततामें प्रकाश पड़ जाता है पर उससे वादीको अपने पक्षका खण्डन

दीखनेसे पृ. १६ में वादी शुकके 'दिव्य-जन्म' को 'अप्राकृतिक एवं गलत' बतानेकी धृष्टता करता है। यह वादीका कथन गप्प वा निराधार है कि– 'व्यासका घृताची स्त्रीसे सम्बन्ध होगया होगा, उसके गर्भसे शुकदेव पैदा हुए होंगे'। यह तो वादीकी अपने गन्दे विचार वाले होनेसे आनुमानिक व्यभिचारिणी निर्मूल कल्पना है। घृताचीसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं हुआ। हां, घृताचीको देखकर रेतः-स्कन्दन असम्भव नहीं। वादिप्रतिवादिमान्य निरुक्तमें भी इसका संकेत है—'तस्या [उर्वश्या अप्सरसः] दर्शनाद् मित्रावरुणयोः [देवयोः] रेतः [वीर्यं] चस्कन्द' (५।१४।१) यहां उर्वशी अप्सराके देखनेसे मित्र और वरुणका रेतः-स्कन्दन बताया गया है। केवल निरुक्तमें ही नहीं, वेदमें भी इसका संकेत है—'द्रप्सं [शुक्रम् उर्वशी-दर्शनात्] स्कन्नं [मित्रावरुणयोः]' (ऋ. ७।३३।११) इस मन्त्रका देवता (वाच्य) वसिष्ठ है। (देखो अजमेरी ऋसं. पृ. ३४४)

शुककी अरणिमें उत्पत्ति बताई गई है, घृताचीके गर्भमें नहीं। तभी वादिमान्य महाभारतके उक्त प्रकरणमें शुकको 'अरणीगर्भसम्भवः' (३२४।१०) 'आरणेयः' (२१) कहा गया है, 'घृताचीगर्भसम्भवः' नहीं कहा गया, घृताचीको गर्भ तो कहीं भी नहीं कहा गया।

(ङ) 'व्यासजीके पिता पराशरजीका मलाहकी लड़कीसे नाव पर विषयभोग करके व्यासजीको पैदा करना लिखा है' (पृ. १६) वह उपरिचर वसुकी लड़की थी; मलाहकी नहीं। व्यासजीका भी यह दिव्य जन्म था। इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. ६३८, ६१७-६२३ तथा नवम पुष्प (पृ. ५२२-५२८) देखो। तव वादीसे कथित घृताचीसे श्रीव्यासका संयोग कट गया।

(च) उनकी 'पितृपरम्परा' कहकर 'कुरु, पाण्डु, विदुरकी उत्पत्तिके लिए व्यासजी नियुक्त किये गये थे, यह लिखकर वादी यहां 'व्यासजीका व्यभिचार' बताकर अपने सम्प्रदायके स्वामीसे समर्थित 'नियोग' को भी 'व्यभिचार' सूचित करता है, वधाई हो। इसके प्रत्युत्तरमें उसे 'आलोक' (८) में 'नियोग और मैथुन' (१) देखना चाहिये। उसका कथन कट गया। व्यासजीका वादीने जो नियोग बताया है, उस समय वादीके अनुसार श्रीव्यासकी बहुत वृद्धावस्था सूचित होती है; तब क्या बहुत बूढ़ेमें व्यभिचारकी शक्ति तथा सन्तानोत्पादन हो सकता है? पुरुषके बूढ़े होनेपर ही तो स्वा.द.ने बूढ़ेकी स्त्रीको 'अन्यमिच्छस्व सुभगे! पतिं मत्' यह अन्य युवकसे नियोग-वादीके मतमें व्यभिचार-बताया है; तब यहां युवति स्त्रीकेलिए वादी बूढ़े व्यासजीका नियोजन कैसे कहता है?

(छ) जबकि वादी भी (१५ पृष्ठ में) मानता है कि–भागवत परम्परासे चला आ रहा है, विष्णुने ब्रह्माको सुनाया; तब ब्रह्माके लड़के पुलस्त्यने भी सुना ही होगा। मैत्रेयने भी जो 'ऋषियुग' की उपज थे, सुना ही होगा। ऋषियुग वैदिककालमें होता है—'तृतीयमृषिसर्गं च' (भा. १।३।८) और 'देवान् देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः' (मनु. १।३६) 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः' (निरु. १।२०।२) और यह कलियुगके आरम्भ तक रहता है। 'मनुष्या वा ऋषिषु उत्क्रामत्सु देवान् अब्रुवन्, को न ऋषिर्भविष्यति' (१३।१२।१)। तव उसमें पौलस्त्य, मैत्रेय आदि की सत्तामें क्या असम्भव है?

ऋषि लोग दीर्घजीवी होते थे, इसलिए मनुस्मृतिमें कहा है–'ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः' (४।६४)। आर्यसमाजी श्रीयुधिष्ठिरजी मीमांसकने 'भरद्वाजो ह वा ऋषीणां दीर्घजीवितमः' (ऐतरेय आरण्यक १।२।२) इत्यादि प्रमाण 'संस्कृत व्याकरणके इतिहास' (पृ. ६७-६८) में देकर भरद्वाज ऋषिकी १००० वर्षकी आयु दिखलाई है। उन्होंने २६ पृ.में चरकसं. सूत्र १।२६ के प्रमाणसे भरद्वाजकी आयु अपरिमित बताई है।

सृष्टिकी आदिमें उत्पन्न पुलस्त्य (मनु. १।३५) ने भीष्मजीको तीर्थोंका वर्णन सुनाया था (महा. वन. ८२-८५ अ.)। उसी समयके भृगु भी पुराणोंमें दीखते हैं। उसी समयके वसिष्ठ श्रीरामके समयमें मिलते हैं, इसी प्रकार

नारद भी । प्रचेता भी सृष्टिके आदिके वहीं बताये गये हैं; उन्हीं प्रचेताके लड़के प्राचेतस (वाल्मीकि) श्रीरामके समयमें भी थे । अत्रि भी उसी समयके हैं, उनकी स्त्री अनसूयाने सीताको उपदेश दिया था । श्रीभगवद्दत्त जी आर्यसमाजी रिसर्च-स्कालरने भी अपने 'भारतवर्षका बृहद् इतिहास' में **ऋषियोंकी बड़ी आयु** बताई है । तब मैत्रेय द्वारा विदुरको श्रीमद्-भागवत सुनाना असम्भव नहीं । वादीका यह कहना गलत है कि—'रावणसे पूर्व उसका पिता विश्रवा तथा बाबा पुलस्त्य मर चुके थे । रावण रामके कालमें हुआ था' (श्रीमद्भा. समी. पृ. २१ पं. १३-१४-१५) यदि रावणसे पूर्व उसका पिता विश्रवा मर गया था, तब रावण क्या स्वा.द.से नियोग द्वारा पैदा हुआ था ? पुलस्त्यकी महाभारतकालमें सत्ता भी हम दिखला चुके हैं ? बल्कि पुलस्त्यके पिता ब्रह्माजीका जब श्रीकृष्णके पास वत्सहरण के समय जाना कहा गया है; तब पुलस्त्यादिका मरण कहना गलत है । अतः वादीका पक्ष 'शुकदेवका परीक्षित्‌से तथा मैत्रेयका विदुरको भागवत सुनाना मिथ्या है' यह कथन खण्डित हो गया । मैत्रेयको महाभारतकालमें भी ढूंढा जा सकता है ।

बड़ी आयु वेदके 'शतं ते अयुतं हायनान्, द्वे युगे, त्रीणि, चत्वारि, कृण्मः' (८।२।२१) इस मन्त्रमें कही गई है । यहां पर पहले सौ वर्षकी, फिर दस हज़ार वर्षकी, फिर दो युगों, तीन युगों और चार युगों तककी आयु कही गई है । इससे विपक्षी द्वारा सृष्टि-संवत्सर बताना गलत है, इस विषयमें 'आलोक' (५) संवत्सर वर्णन (पृ. ६०२-६०४ में) देखना चाहिये । रामायणमें गृध्रराजको एक मन्वन्तर वर्ष पुराना लिखा है । सो इस मन्त्रका मनन करनेपर वैदिककालके ऋषियोंका भागवतकाल तक रहना अनुपपन्न नहीं । निरुक्तने ऋषियोंका उत्क्रमणकाल कलिके प्रारम्भमें (क्योंकि—कलियुगमें कोई ऋषि (वेदमन्त्र-द्रष्टा नहीं बताया गया है) सूचित किया है (१३।१२।१)

जो कि विपक्षी भविष्य-पुराणके प्रमाणसे 'शुक्र-प्रोक्तं भागवतं' से

भागवतको दैत्यगुरु शुक्राचार्यसे बनाया मानता है, इस विषयमें वह 'आलोक' (९) पृ. ६४५ में प्रत्युत्तर देखे । 'शुकप्रोक्तं भागवतं' के स्थान 'शुक्रप्रोक्तं भागवतं' यह लिपिकरका प्रमाद है । दैत्यगुरु शुक्राचार्यका श्रीमद्भागवतसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं ।

यह कल्पना करना कि—'भागवतमें जो रासलीला वर्णित हुई है; वह व्यभिचाररूप है, सो उस व्यभिचारको दैत्यगुरु शुक्राचार्य ही लिख सकते हैं, कोई देव नहीं' यह यदि विपक्षीका आन्तरिक अभिप्राय हो, तो यह उसकी नासमझीका फल है । शुक्राचार्यके व्यभिचारका प्रमाण विपक्षीके पास कुछ भी नहीं । बल्कि इससे उसके पक्षकी हानि भी है । शुक्र बहुत प्राचीन हैं, तब शुक्रप्रोक्त श्रीमद्भागवत उनसे प्राचीन सिद्ध हुआ ।

शुक्रप्रणीत शुक्रनीति—जिसे स्वा.द. भी मान्य मान गये हैं! उसमें प्रतिपक्षीने कौनसा व्यभिचार देखा है ? इससे उसने यह बेतुकी ही कल्पना की है, जिसका मूल कुछ भी नहीं । यह कल्पना विपक्षीने एतदर्थ की मालूम होतीं है, जिससे साधारण जनता श्रीमद्भागवतसे घृणा करने लगे । इससे विद्वान् पाठकोंने विपक्षीकी निर्मूल कल्पनाओंके बनानेका आदर्श समझ लिया होगा ।

रासलीलामें भगवान्‌के द्वारा जो 'रमण' आया है, उससे विपक्षी भोग-विलासका तात्पर्य निकालनेकी चेष्टा करता है, इस विषयमें हम 'आलोक' (६) में यह विषय बहुत स्पष्ट कर चुके हैं कि—वहां 'रमण' का अर्थ 'विषयभोग' सर्वथा नहीं । श्रीकृष्ण तो बहुत शुद्ध मनके थे—यह उनकी गीतासे स्पष्ट हो जाता है । स्वा.द.जीने ऋभा.भू.में मुक्त आत्माकेलिए लिखा है—'वह जीव शुद्ध इन्द्रिय और शुद्ध मनसे इन आनन्दरूप **कामोंको देखता और भोगता भया** उसमें सदा **रमण** करता है (५) (पृ. २१३) । 'इसी कारणसे उनका आना-जाना सब लोक-लोकान्तरोंमें होता है, उनके लिए कहीं रुकावट नहीं रहती; और उनके सब काम पूर्ण हो जाते हैं' (पृ. २१४) ।

स.प्र.में स्वामी लिखते हैं—'मुक्त जीवका स्थूल शरीर नहीं रहता, उसके सत्यसङ्कल्पादि स्वाभाविक गुण-सामर्थ्य सब रहते हैं, भौतिकसङ्ग नहीं रहता। मोक्षमें भौतिक शरीर जीवात्माके नहीं रहते। संकल्पमात्र शरीर होता है। अपनी शक्तिसे मुक्तिमें सब आनन्द भोग लेता है। ...मुक्तिमें भी आनन्दकी प्राप्ति भोग करता है।...मुक्तिको प्राप्त जीव शुद्ध दिव्यनेत्र और शुद्ध मनसे कामोंको देखता, प्राप्त होता हुआ रमण करता है।...उससे उन [मुक्तों] को सर्वलोक और सब काम प्राप्त होते हैं। अर्थात् जो-जो संकल्प करते हैं, वह-वह लोक और वह-वह काम प्राप्त होता है।' (१४८-१४९ पृ.) विपक्षी यह शब्द नित्यमुक्त श्रीकृष्ण भगवान्‌में भी घटा ले।

छान्दोग्य उपनिषद्‌में मुक्तोंकेलिए कहा है—'अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति, सङ्कल्पादेव अस्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति, तेन स्त्रीलोकेन सम्पन्नो महीयते' (८।२।९) यह वचन विपक्षी नित्यमुक्त श्रीकृष्णमें भी घटा ले। उपनिषदोंमें विपक्षी वेदविरुद्धता नहीं मानता। इस प्रकार उसके सब सन्देह दूर हो जावेंगे। महाभारतमें संक्षेप होनेसे शुकदेवकी इस लोकमें सप्ताह वांचने सम्बन्धी सब बातें नहीं आ सकती थीं।

(२) 'कथं कश्यपदायादाः पुंश्चल्यां मयि सङ्गताः। विश्वासं पण्डितो जातु कामिनीषु न याति हि। सालावृकाणां स्त्रीणां च स्वैरिणीनां सुरद्विषः' (भा. ८।९।९-१०) यह वादीसे आक्षिप्त मोहिनीका वचन उसके अपनेलिए न होकर साधारण कामिनी-स्त्रियोंकेलिए है, क्योंकि मोहिनी इससे पूर्व, पुरुष विष्णु थी; और वह किसी पुरुष पर मोहित भी नहीं हुई थी, तब वह भला 'पुंश्चली' कैसे कही जा सकती है? दैत्य ही उस पर चलायमान हुए थे, वह नहीं। यह तो उन दैत्योंकेलिए व्यङ्ग्य था कि—तुम एक स्त्रीपर चलचित्त हो रहे हो।

वस्तुतः यह अन्य स्त्रियोंकेलिए कहे हुए वेद वा मनुवचनोंका अनुवाद ही है। देखिये—'सालावृकाणां हृदयान्येता' (ऋ. १०।९५।१५) शब्द भी

वेद-पुराणमें समान हैं। मनुस्मृति (९।१४-१५, २०) भी देख लीजिये। इससे वेद-पुराणकी एकवाक्यता भी सिद्ध हो रही है।

'मोहिनी सर्वत्र नङ्गी हो गई, शिवजी दौड़कर उसे पकड़ कर जांघों पर डालकर रगड़ने लगे' (भाग. समी. पृ. ८३ पं. १-३) 'शिवजी मोहिनीसे भोग करने लगे' (मूर्तिपूजा-मीमांसा पृ. २४) यह विपक्षियोंका कथन सफेद झूठ है। किसी भी शब्दका यह अर्थ नहीं, यदि हो तो वह दिखलावें—यह उन्हें चैलेञ्ज है। इन्हीं झूठी बातोंसे यह अनुसन्धान-विरहित जनताको ठग रहे हैं। इससे वादी पुराणोंको कलंकित करनेकेलिए धोखेबाज भी सिद्ध होता है। उसके जिन आक्षेपोंका हम 'आलोक' (६-७ ८-९) में प्रत्युत्तर दे चुके हैं, दोबारा उन बातोंको नहीं लिखेंगे।

(३) पृथुका यज्ञ करना, तप वा प्रार्थना करना लोकशिक्षणार्थ वा तपकी महिमाके प्रदर्शनार्थ है। इससे उनके भगवदवतार होनेमें क्षति नहीं आती। परमात्माका भी सृष्टि बनानेके समय तप करना आता है। देखिये—'स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च' (तै. आ. ८।६) 'प्रजापतिरकामयत-प्रजायेय भूयान् स्यामिति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इमान् लोकान् असृजत' (ऐ. ब्रा. २५।७) 'स भूयोऽश्राम्यत, भूयोऽतप्यत' (गोपथ. पू. १।६)।

(४) नारदजी पूर्व जन्ममें दासी-पुत्र होते हुए भी पुण्यातिशयके बलसे ब्रह्माके अयोनिज पुत्र हुए; इससे उनके विष्णुके अंशावतारत्वमें क्षति नहीं आती। ब्रह्माके अंश होनेसे ब्रह्मा-विष्णुके अभेदवश विष्णुका अंशावतारत्व भी होगया। दासीपुत्ररूपमें आत्मा तो दासीपुत्र होता नहीं, केवल शरीर वैसा होता है, वह तो समाप्त हो ही गया। जैसे आत्मा मल-आवरण-विक्षेप नष्ट हो जाने पर अद्वैततामें 'ब्रह्म' बन जाता है, इस प्रकार नारदके विषयमें भी समझ लेना चाहिये।

(५) महाभारतमें 'वराह'का अर्थ वराहावतार है। उसके मल आदि खिलानेके आक्षेपपर 'आलोक' (७) पृ. ३६३-६६) तथा नवम पुष्प पृ.

५९९-६००, ६२६, ७३५-७४०, ७४४-४५ में विपक्षी देखे। इसपर वह कभी भी प्रत्युत्तर नहीं दे सकता।

(६) कूर्मावतारके १ लाख योजनकी लम्बाई यदि वादीको समझ नहीं आती; तो वह वहां 'लक्ष' शब्द 'बहु' वाचक समझ ले।

(७) श्रीबलरामका हल, हल की शवलका एक भारी अस्त्रविशेष था; जिससे वे बड़े काम लेते थे।

(८) श्रीकृष्णके भगवदवतार होनेसे वादीसे आक्षिप्त उनकी बाल्य-लीलाएं (छकड़ा उलटना, दैत्यको मार देना, वृक्षको उखाड़ देना आदि) प्रत्युत्तरित हो गईं। पूतना दैत्य-स्त्री थी, पर मानुषी स्त्रीका छोटा रूप परिवर्तन करके आई थी। मरनेपर उसका दैत्यरूप प्रकट हो गया; क्योंकि मरनेके समय बनावट हट जाती है। उस समय वह तड़पती रही; क्योंकि दैत्य लोग जल्दी नहीं मरते, तब छ: कोसके वृक्ष कट गये। दैत्याकी शक्तिविशेष देखते हुए इसमें कुछ भी आक्षेप्य नहीं। इससे वह छ: कोस लम्बी नहीं बताई गई है; किन्तु उसके जहां-तहां छ: कोस तक जाकर तड़पते रहनेसे उस स्थानके वृक्ष उसकी विशाल शक्तिसे टूटते गये। इसमें असम्भव कुछ भी नहीं। (९) यमलार्जुन वृक्षयोनिमें थे। वृक्ष एक योनि-विशेष हैं, इसमें मनुस्मृति (१२।९, १।४९) देखो। पहले वे गुह्यक थे; उनका श्रीकृष्णने उद्धार किया था; क्योंकि-उन्हें शाप दिया गया था। (१०) भागवतकारने रामका महाभारतके बाद होना कहीं भी नहीं माना। यह वादीकी वात गलत है।

(११) मोहिनीने जो अपने-आपको 'पुंश्चली और अविश्वसनीय तथा स्वैरिणी, सालावृक (भेड़िये एवं गीदड़) के समान तथा स्वैरिणी स्त्रीकी मित्रता की अनित्यता दैत्योंको कही है, यह अपनेलिए नहीं कहा, जैसेकि-(२ संख्यामें) पूर्व हम सूचित कर चुके हैं, यह वैसी स्त्रियोंकेलिए कहा था, क्योंकि-मोहिनीरूप-धारी विष्णु स्वयं तो स्त्री थे नहीं। स्त्रियोंकेलिए यही वात वेद तथा नीतिशास्त्र भी कहता है। देखिये-ऋग्वेदमें उर्वशी

कहती है; क्योंकि वही इस मन्त्रकी ऋषिका (वक्त्री) है—'न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति, सालावृकाणां हृदयान्येता' (१०।९५।१५) शब्द भी वहीके वही हैं। 'अनित्यहृदया हि ता:' (वाल्मी. २।३९।२३) 'स्त्रीषु किञ्चिदपि न विश्वसेत्' (चाणक्यसूत्र ३५९)।

यही श्रीमद्भा. (९।१४।३८) में उर्वशी द्वारा कहलवाया गया है-'विधायालीकविस्रम्भमज्ञेषु त्यक्तसौहृदा:। नवं नवमभीप्सन्त्य: पुंश्चल्य: स्वैरवृत्तय:' यह उर्वशीका 'पुंश्चली' आदि कहना जैसे अपनेलिए न होकर अन्य पुंश्चली स्त्रियोंकेलिए कहा गया है; वैसे ही मोहिनीके वचनमें भी समझना चाहिये। मोहिनी न तो स्वयं दैत्योंपर आसक्त हुई, न शङ्करपर; तब वादी भला उसके पुंश्चलीत्वका कैसे समर्थन करता है? इससे स्पष्ट है कि-वह इस प्रकार की स्त्रियोंकी अविश्वसनीयता वता रही थी; और दैत्योंकी आँखें खोलना भी चाहती थी, पर वे अन्धे ही बने रहे। तब वादीका आक्षेप कट गया। 'शिवजी'ने दौड़कर उसे पकड़ लिया, और जांघोंपर डालकर रगड़ने लगे' यह वादीकी अपनी कल्पना है। असत्य व्यवहार करके वादी राक्षस-पदवीका इच्छुक है। शेष है मोहिनीका दैत्यों से विश्वासघातका दैत्यपक्षीय-वादी द्वारा आक्षेप; सो दैत्योंसे विश्वासघात तो वैदिक राजनीति है। इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. ३६७-३६८ में प्रत्युत्तर हमने दे दिया है। इस कथासे मोहिनीने शिक्षा दी है कि-मोहक स्त्रियों पर विश्वास न कर लो, और अपनी जितेन्द्रियताका अभिमान भी न कर लो। अन्य यह भी वताया गया है कि-वैष्णव-मायामें शङ्कर भी फंस जाते हैं; यह विष्णुके पुराणमें विष्णुमायाका अर्थवाद है। इस प्रकार शिवके पुराणोंमें शिवकी मायाका अर्थवाद हुआ करता है, उसमें विष्णु आदि भी मोहमें पड़ जाते हैं। वस्तुत: यह एकमें निष्ठा रखनेकेलिए अर्थवाद है, इसको वादी जैसे अल्पश्रुत समझ नहीं पाते।

(१२) नर-नारायणकेलिए यह कहना कि-'जो व्यक्ति हज़ारों साल तक तपस्या करते रहे, वे मनुष्य ही हुए; उन्हें ऋषि लिखा गया है।

भगवान्‌को तपस्याकी क्या आवश्यकता हैं' ? यह विपक्षीका आक्षेप अल्प-श्रुतताका है। इससे तपस्याकी महिमा द्योतित की गई है। जैसे किसी बड़े विद्वान्‌को महामहोपाध्यायकी पदवी मिले; तो कहा जाता है कि—आपकी इस पदवीसे शोभा नहीं हुई; किन्तु आपको पाकर ही पदवीकी शोभा हुई है। परमात्माका भी सृष्टिकी आदिमें सृष्टिनिर्माणार्थ तपस्या करना कहा गया है, जैसे कि कुछ उद्धरण देखिये—'सोऽकामयत-बहुः स्यां प्रजायेयेति, स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किं च, तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्' (तै. आ. ८।६) 'तपस्तप्त्वाऽसृजद् यं तु स स्वयं पुरुषो विराट्' (मनु. १।३३) 'प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत् एक एव सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति। सोऽश्राम्यत् (श्रमु तपसि खेदे च।) (दि. से. अ. प.) स तपोऽतप्यत। तस्मात् श्रान्तात् तेपानात् त्रयो लोका असृज्यन्त' (शत. ११।५।८।१-२)।

इस प्रकार ब्रह्मा-आदि की भी तपस्या दिखलाकर सृष्ट्युत्पादन बताया गया है; इससे वे मनुष्य नहीं बन जाते। जैसे शिष्यशिक्षार्थ गुरु शिष्यको हाथ जोड़कर हाथ जोड़नेका ढंग सिखलाता है; वैसे भगवान् भी 'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं' (श्रीमद्भा. ५।१९।५, देवीभाग. ८।१०।१५) इस न्यायसे वैसे आचरणोंसे मनुष्यशिक्षण करते हैं; इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. ३९७-३९९ तथा पृ. ४६०-४६१, तथा ६ठा पुष्प पृ. ५१८-५२० तक देखो। हमने यहां स्पष्टता कर दी है, वादीका आक्षेप परिहृत हो गया। (ख) पृथुके विषयमें वादीसे किये हुए आक्षेपका भी यही प्रत्युत्तर है कि—लोकलीला भी भगवान् लोकशिक्षणार्थ ही दिखलाते हैं। यही प्रश्नोत्तर पद्मपुराण (पातालखण्ड) में देखो—'अथोत्तरमुखः शम्भुर्न्यासं कृत्वा जजाप ह। अथ विष्णुर्महातेजा महेशमिदमब्रवीत्' (११४।२४४) सर्वैर्नमस्यते यस्तु सर्वैरेव समर्च्यते। हूयते सर्वयज्ञेषु स भवान् किं जपिष्यति' (२४५) रचिताञ्जलयः सर्वे त्वामेवैकमुपासते। स भवान् देवदेवेश! कस्मै वा रचिताञ्जलिः' (२४६) महादेवजीसे प्रश्न किया गया था कि—सब आपको नमस्कार करते हैं, सभी आपका जप करते हैं; पर आप किसको नमस्कार तथा किसका जप कर रहे हैं? आपका फलदाता वा आपसे बड़ा कौन है? इस प्रश्नपर महादेवने उत्तर दिया था—

'ध्याये न किञ्चिद् गोविन्द। न नमस्ये ह कञ्चन। नोपास्ये कञ्चन हरे! न जपिष्ये ह किञ्चन' (२४८) किन्तु नास्तिकजन्तूनां प्रवृत्त्यर्थमिदं मया। दर्शनीयं हरे! ते स्युरन्यथा पापकारिणः। तस्माल्लोकोपकारार्थमिदं सर्वं मया कृतम्' (२४९-२५०) (मैं लोक-शिक्षणार्थ ऐसा करता हूं) वादी पूर्वपक्ष तो उद्धृत कर लेता है; पर उसके आगेका जो उत्तर-पक्ष होता है, उसे छिपा लेता है, वह जनवञ्चन है।

(ग) बुद्धावतारके विषयमें 'आलोक' (७) पृ. १९८-२०५ में देखना चाहिये। इससे वादीके आक्षेप कटेंगे। (घ) नारद तथा सूकर अवतार आदिके तथा शेष अन्य आक्षेपोंपर हम नवम पुष्प पृ. ५९९, ७३५-७४५ आदि तथा पूर्वोक्त पुष्पोंमें परिहार कर चुके हैं; तथा 'आलोक' (६-७) में भी हम स्पष्ट कर चुके हैं।

(१३) पूतना पर पहले (सं. ८ में) लिखा जा चुका है कि—वह राक्षसी थी विशाल आकारवाली, पर मथुरामें तो वह मानुषी स्त्रियों-जैसा छोटा शरीर बनाकर आई थी; (१०।६।६) तब 'मथुराके घरों, गली-कूचोंमें कैसे घुस सकी होगी' यह आक्षेप परिहृत हो गया। दैत्य एवं राक्षस देवयोनिके अन्तर्गत होते हैं, इनमें **अणिमा-महिमा आदि ऐश्वर्योंके कारण** वे अपनी छोटी-बड़ी आकृति बना लेते हैं (भाग. १०।६।४) उनके अस्थियों वा शरीरमें हमारी तरह पार्थिव-अंशकी अधिकता नहीं होती; किन्तु तेज-वायु आदिकी बहुलता और पृथिवीकी अल्पता होती है। ऐसे अयोनिज-शरीरोंकी वैशेषिक-दर्शन तथा प्रशस्तपादभाष्यमें जो स्वा.द.के अभिमत हैं—सिद्धि की गई है। मरनेके समय पूतनाका स्वाभाविक दैत्योंवाला आकार प्रकट हो गया (१३-१६) वह आकाशमार्गसे चल

सकती थी और अपनी इच्छाके अनुसार रूप भी बना लेती थी; यह तो श्रीमद्भा. (१०।६।४) में लिखा ही है, और बालक श्रीकृष्णने अपने प्रचण्ड तेजको राखकी ढेरीमें आगकी तरह छिपा रखा था (७) जब श्रीकृष्णने अपने मुखमें दिये हुए स्तनको जोरसे दबाया, तब वह आकाशमार्गसे उडकर ग्रामसे बाहर गोष्ठमें जा गिरी (१३); तब उसने इधर-उधर छः कोस तक छटपटाते हुए, क्योंकि-दैत्य-राक्षस लोग जल्दी न मरकर सांप वा छिपकलीकी पूंछकी तरह छटपटाते रहते हैं, बड़े अमेरिकन दैत्याकार टैंककी भांति उतने स्थानके वृक्षोंको काट दिया हो; तो उसमें दिव्य बल समझकर असम्भवताका प्रश्न सदाकेलिए समाहित हो जाता है।

(१४) श्रीकृष्णने घोड़ा, गधा, बगुला आदिको नहीं मारा, किन्तु उन रूपोंको धारण करके आये हुए दैत्य-राक्षसोंको मारा। जैसेकि-श्रीरामने मृगरूपधारी मारीच राक्षसको मारा था, इसलिए वहां मृग मारनेसे श्रीरामकी निन्दा भी नहीं थी कि-दयानन्दी श्रीप्रियरत्न आर्षकी भांति 'मृग'का अर्थ 'शेर' करना पड़े, इस विषयमें हम 'आर्षजी'का खण्डन 'आलोक' (८ पृ. २२२-२३४) में कर चुके हैं। वे असुर होनेसे 'असुरताः, बलशालिनः' (निरुक्त ३।८।१) अतुल बलशाली थे; दिव्यके अतिरिक्त साधारण बालक तो क्या बलवान् मनुष्य भी उन्हें नहीं मार सकता था।

(१५) गोवर्धन पर्वतके उठाने पर हम आगे लिखेंगे। दिव्यतावश उसका श्रीकृष्ण-द्वारा उखाड़ना और धारण करना सीमित बुद्धिवाले वादीकी बुद्धिमें नहीं समा सके, पर बुद्धिकी वृद्धि होनेपर उसे यह समझ आ सकेगा; वादीके द्वापरयुगके साथी महाबलवान् शिशुपाल दैत्यने तो गोवर्धन-पर्वतको वल्मीकमात्र (टीले जितना) बताकर उसके उठानेसे श्रीकृष्णका कुछ महत्त्व नहीं माना (देखो महाभारत २।४१।६), पर कलियुगके उसके साथी वादीने उसे महत्त्व देकर श्रीकृष्णको स्वयं ही अवतार सिद्ध कर दिया।

(१६) गर्भ-परिवर्तन योगमाया-द्वारा असम्भव नहीं, वादी योगमाया की बलवत्ताका अपने परममान्य देवीभागवतमें चमत्कार देख ले-'किं ब्रवीमि महाराज! **योगमायाबलं महत्** (४।२०।५०-५१)। अब यदि वादी अपने पक्षके खण्डनके डरसे देवीभागवतको प्रमाणित नहीं करता; तब देवीभागवत उसके अनुसार अप्रमाण होनेसे उससे किये हुए उसके आक्षेप स्वयं ही कट गये।

(१७) 'तीस कोटि' में यथाश्रुत अर्थ यदि वादीको बुद्धि-संकोचवश समझ न आ सके; तो वह वहां 'कोटि' शब्द 'बहु' वाचक मान ले। जैसे 'शतायुर्वै पुरुषः' में 'शत' शब्द 'बहु' वाचक है; नहीं तो आजकल १०० वर्षके पूरे न होकर पुरुष मर जाते हैं; वा बहुतसे डेढ़सौ-दोसौ वर्षके लोग रूस आदिमें मिलते हैं', तो वह वचन प्रत्यक्ष-विरुद्ध सिद्ध हो जावे। जबकि १८ अक्षौहिणी सेना कुरुक्षेत्रके एरियेमें समा गई; तब मथुरा प्रान्तमें उतनी संख्यामें आई सेनाका समाना असम्भव नहीं। पहले आजकलके समान मथुरा, कुरुक्षेत्र, अयोध्या आदि छोटे-छोटे नगर नहीं थे; किन्तु इनका बड़ा विस्तार था। अकेले देहलीके रामलीला वा गांधी मैदानमें कई लाखकी संख्यामें श्रीलालबहादुरशास्त्रीके लैकचरोंमें लोग समा जाते थे। सूर्यग्रहणमें कुरुक्षेत्रमें, कुम्भोंमें प्रयाग हरिद्वार आदिमें लाखों जनता समा जाती है; तब पहलेके मथुरा आदि प्रान्तोंमें, कई करोड़की विदेशी सेना क्यों न समा सके? (ख) श्रीकृष्णके शरीरसे उत्पन्न गोप उनके पुत्र नहीं कहे जा सकते। अयोनिज-उत्पत्तियोंमें लौकिक सम्बन्ध नहीं हुआ करते। वादीकी स्त्रीके सिरसे पैदा होकर निकली हुई जुओंको क्या वादी अपनी लड़कियां मान लेता है? और क्या उनके विवाह आदि की चिन्ता करता है?

(१८) 'क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः' इत्यादिका प्रत्युत्तर 'आलोक' (७) पृ. २१०-२११ में दिया जा चुका है। (ख) चीरहरणकी कथा भी परमात्मदृष्टिसे वा मानुषी दृष्टिकोणसे 'आलोक' (६) (पृ

५३२-३३ तथा ६५७-६५६) में समाहित की जा चुकी है। संसार भरकी स्त्रियोंके गुप्ताङ्गोंमें रम रहा हुआ और उन्हें नग्न देख रहा हुआ वादीका भगवान् भी वादीके अनुसार 'वड़ा गुण्डा' हुआ। (ग) कुब्जाके विषयमें छठे पुष्पमें (पृ. ५६६-६०७ में) लिखा जा चुका है।

(१६) 'परदाराभिगमन' पर पार्वतीका प्रश्न पूर्वपक्ष है; रुद्रका उसपर उत्तर उत्तरपक्ष है। उसमें श्रीकृष्णको व्यापी परमात्मा वताया गया है, तव सर्वव्यापक परमात्मा पर क्या दोष रहा? (२०) राधाके विषयमें 'आलोक' (६) (पृ. ६२१-६४४) में समाधान किया जा चुका है। (ख) 'रासक्रीडा' पर भी वहीं देखो। (ग) 'जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम्' यह उपमा है, इससे श्रीकृष्णका लौकिक जारत्व कट गया। इस पर 'आलोक' (७) (पृ. १८४-१८५) देखो, अथवा 'अवताररहस्य' के आक्षेपोंकी आलोचना' नवमपुष्प (पृ. ८३३-८६३) में देखो। (२१) कुब्जाको एक स्थान शूर्पणखा तथा अन्य स्थान पिङ्गला वेश्याका अंश कहना कल्पभेद है। कल्पभेद पुराणोंमें बहुत प्रसिद्ध है। पुराण भिन्न-भिन्न कल्पोंके मिलने भी सम्भव हैं, अतः 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' नियम होते हुए भी कभी कई घटनाओंमें भेद भी पड़ जाता है; सो 'आनन्दरामायण' यदि वादीकी दृष्टिमें प्रामाणिक है; तो पुराणानुसार वहां भी कल्प-भेद समझ लेना चाहिये। आनन्दरामायणमें स्वयं कल्पभेद भी माना गया है। देखो—उसका पूर्णकाण्ड (७।२६)।

(२२) 'आनन्दरामायण' में 'परनारीगमनं', ज्येष्ठनारीभिः क्रीडनं, नग्नस्त्रीदर्शनम्' आदि सिद्धान्त नहीं, किन्तु एक रामोपासकका कृष्णोपासककी ईर्ष्यासे कृष्णनिन्दार्थ वैयक्तिक कथन है, तथा 'यद्विवाहः, तद्-गीतगानम्' इस न्यायसे श्रीकृष्णकी अपेक्षा श्रीरामचन्द्रजीके महत्त्व-प्रदर्शनार्थ है। स्वा. विरजानन्दकी अपेक्षा स्वा.द.को हेच वा अज्ञानी दिखला दिया जाय, कि स्वा.द.जीको जिन प्रश्नोंका उत्तर ज्ञानकी न्यूनता-

वश नहीं सूझता था; वे उसे स्वा. विरजानन्दजीसे पूछने जाते थे। तव क्या वादी स्वा.द.जीको अज्ञानी मानकर उनको निन्दित मान लेगा? देवस्त्रियोंने पूर्वजन्मकी कामना लेकर श्रीकृष्ण-जन्ममें उनसे अपनी कामना पूरी कर ली हो; क्योंकि श्रीरामजीके एकपत्नीव्रतधारणसे प्रभावित होकर व्यासजीने वहुस्त्रीप्राप्तिका वरदान दे दिया था; तो अर्द्ध तपक्षमें सभी भगवान्‌के अपने अंश हुए। उन अंशोंका अंशीसे सङ्गम होनेमें वहां तात्पर्य होता है। नहीं तो पूर्वजन्मसे भी भला कोई मैथुनकी लालसा लेकर आता है? यहां श्रीराम तथा श्रीकृष्ण इस प्रकार भगवान् तथा भगवदवतार सिद्ध हो जाते हैं, दोनोंकी एकता सिद्ध हो जाती है; अवतारवादकी पुष्टि होकर वादीका पक्ष विध्वस्त हो जाता है। वादी पर कोई अन्यकी स्त्री गत जन्ममें अनुरक्त रही हो; और इस जन्ममें आकर पूर्वजन्मके आकर्षणवश उसकी इच्छा पूरी हो गई हो, तव क्या वादी व्यभिचारी माना जायगा, या वह स्त्री, या यह दोनों; या दोनों नहीं; यह बात वादी स्वयं घटा ले। यहां भी वही उत्तर हो जावेगा। इससे वादीके प्रयासपर पानी फिर जाता है। अव क्या भगवान् स्त्रियोंको नहीं भोग रहा? देखिये—गर्भाधानके मन्त्रमें 'प्रजापति एवं विष्णुभगवान्‌को ही सव स्त्रियों के गर्भ करने वाला कहा है—'विष्णुर्योनिं कल्पयतु···आसिञ्चतु प्रजापति-र्धाता गर्भं दधातु ते' (ऋ. १।१८४।१) 'अहं प्रजा अजनयं पृथिव्याम् अहं जनीभ्यो अपरीषु पुत्रान्' (ऋ. १।१८३।३), तव भगवान् वैदिक प्रजापति विष्णुको भी वादी क्या व्यभिचारी होनेका सर्टिफिकेट दे देगा? उसके ही तो थे अवतार श्रीकृष्ण। वादी जिन पुराणोंसे श्रीकृष्णपर आक्षेप करता है, वे ही तो श्रीकृष्णको भगवदवतार वताते हैं; तव वादी आक्षेप क्या कर सकता है? अवतार वतानेके समय पुराण अप्रमाण हो जाते हैं; और वादीकी समझके अनुसार आक्षेप करनेके समय पुराण प्रमाण हो जाते हैं। यह भी कोई बात है? यह न्यायकी बात नहीं होती।

(ख) वादीने जो 'आनन्दरामायण' के 'कृष्णेन रतिकामेन मोहिता

गोपिकास्त्रियः' (३।७७) 'सर्वासां कामपूर्त्यर्थं निशि निद्राविवर्जितः। बन्धुभ्यो गोपिका भुक्त्वा मातृतुल्या वयोधिकाः' (३।४७) 'परनारीगमनं ज्येष्ठ-नारीभिः क्रीडनं चिरम्' (३।३०) 'नग्नस्त्रीदर्शनं वह्निप्राशनं दाम-बन्धनम्' (३।३१) इन पद्योंको देकर श्रीकृष्णकी निन्दा दिखाई है; यहाँ उसने सदाकी तरह छल किया है, पूर्वापर-प्रकरण छिपा लिया है। यह वहाँ व्यक्तिगत वचन हैं। वहाँ रामोपासक तथा कृष्णोपासक दो पुरुषोंका संवाद दिखलाया गया है। दोनों अपने उपास्यके गुण और दूसरेकी निन्दा दिखलाते थे। यहाँ वादीने रामोपासकके कृष्णनिन्दावचन तो संगृहीत कर लिये; पर कृष्णोपासकके वचन छिपा लिये। वहाँ यह निन्दा केवल एक-दूसरेकी ईर्ष्यावश कही गई होनेसे वैयक्तिक कथन है-जैसाकि हम पूर्व कह चुके हैं। यह वहाँका सिद्धान्तपक्ष नहीं-यह वहाँ स्पष्ट है। अन्तमें रामोपासकने ही सिद्धान्तपक्ष बताते हुए **राम-कृष्णकी एकता बताई है।** देखो-'न नन्दसूनोः [कृष्णात्] पृथगस्ति रामो न रामतोऽन्यो वसुदेवसूनुः।' (३।११३) 'भ्रातः! स्तुतो मया रामः, **कृष्णस्य निन्दनं कृतम्। तवेर्ष्यया द्विजश्रेष्ठ! वेद्मि तौ द्वौ समाविति'** (३।११४ राज्यकाण्ड) 'राम एवात्र कृष्णश्च, कृष्ण एवात्र राघवः। उभयोर्नान्तरं विप्र! **कौतुकाच्च मयेरितम्'** (११५) मानयत्यन्तरं यो ना (पुरुषः) तयोः श्रीरामकृष्णयोः। परस्परं, **स निरये** (नरके) पतिष्यति न संशयः (११६)।

इससे स्पष्ट है कि-रामोपासकने केवल कृष्णोपासककी ईर्ष्या वा कौतुकसे श्रीकृष्णकी निन्दा की; अन्तमें उसने राम-कृष्णका अभेद दिखलाकर निन्दाकी अयथार्थता सिद्ध कर दी। तब सिद्धान्तपक्ष छिपाकर बीचके निन्दाभासके श्लोकोंको दिखलाना वादीका छली होना सिद्ध करता है।

(ग) शेष है आन.रा.में पिङ्गला वेश्याका दूसरे जन्ममें कुब्जा बनना, और ब्रह्मवै.में शूर्पणखाका कुब्जा बनना; और पद्ममें दण्डकारण्यके ऋषि-मुनियोंका गोपी बनना, आनन्दरा.में देवपत्नियोंका अवतार गोपियां बनना, ब्रह्मवै.में गोलोककी गोप-स्त्रियोंका कृष्ण-जन्ममें गोपियां बनना आदि भेद,

जो वादीने बताये हैं, यह कल्पभेद है। कल्पभेदमें कदाचित् क्वचित् घटनाभेद कुछ रहता ही है। वादीकी मान्य आनन्दरामायण ही यह स्वयं बताती है। देखिये-'...कल्पभेदाज्जाताः श्रीराघवस्य च। अवताराः कोटिशोऽत्र तेषां भेदः क्वचित्-क्वचित्' (पूर्णकाण्ड ७।२९)। इससे वादीका दिखलाया हुआ विरोध वादीकी ही मान्य पुस्तकके वचनसे कट गया।

शेष रही निन्दा; सो ईर्ष्या आदिमें आकर कही हुई निन्दाका मूल्य कुछ भी नहीं होता। देखिये-पिङ्गला आई थी रामके पास अनुरक्त होकर। सीता सोई हुई थी, श्रीरामने उसे स्पष्ट कह दिया कि-'एकपत्नी-व्रतं मेऽस्मिन् भवे त्वं वेत्सि पिङ्गले!' (विला. ८।५५) अर्थात् मैं इस जन्ममें एकपत्नीव्रतधारी हूं; अतः तू दासी बनकर कुब्जाके रूपमें कंसके घरपर रह'। इस प्रकार राम संयममें रहे; परन्तु सीताने ईर्ष्यावश राम पर झूठा दोष लगा दिया-'कथं नाहं प्रबोधिता' (विलास. ८।६०) तदैवाद्य मया ज्ञातमेकपत्नीव्रतं मृषा। भुक्त्वाऽऽदौ पिङ्गलां तूष्णीं त्वयाहं बोधिता ततः' (६१)। इसी प्रकार वाल्मी.रा.में सीताने लक्ष्मणपर झूठा दोष लगाकर उसे रामके पीछे भेजा, उससे अपनी ही हानि की। कहनेका निष्कर्ष यह है कि-जो ईर्ष्यादिवश निन्दा की जाती है, यह आवश्यक नहीं कि-वह ठीक ही हो। दूसरा आदमी कोप, वा ईर्ष्या, वा द्वेष अथवा कौतुकवश जैसा कि-आनन्दरामायणमें कृष्णनिन्दकके शब्दोंमें है स्पष्ट है, गलत बात भी कह सकता है। इस प्रकार निन्दक वादी भी उन गलत बातों को भी गलत ढंगसे पेश करके अपनी ईर्ष्यावश की हुई असत्यता स्पष्ट कर रहा होता है।

श्रीव्यासने एकपत्नीव्रतके रूपमें श्रीरामको वर दिया था, 'एकपत्नी-व्रतस्यास्य फलेनापर-जन्मनि। त्वं कृष्णरूपेण बह्वीर्नारीर्भोक्ष्यसि राघव!' (विला. ७।१७)। इस प्रकार मुनियोंने दान प्राप्त करके 'षोडशस्त्री-सहस्राणि त्वं लभिष्यसि निश्चयात्' (२७) यह कहा था। सो वरदा

रूपमें यह निन्दा कहां हुई ? अपनी नारियोंसे भोग (सुख) प्राप्ति यह कोई निन्दाकी वात कहाँ रही ? दूसरे जन्ममें कई ऐसे परिवर्तन हो जाते हैं; उसमें दोषकी कुछ भी बात नहीं रहती।

(२३) भागवतमें कहा हुआ श्रीकृष्णका वहुपत्नीत्व वेदसे विरुद्ध नहीं—'जनीरिव पतिरेकः समानः' (ऋ. ७।२७।३) 'पतिं न पत्नीरुशतीरुशन्तम्' (१।६२।११) इत्यादि वहुतसे मन्त्र हैं, जिनमें पति एक और पत्नियां वहुत वतलाई गई हैं। १६१०० स्त्रियाँ जिनकी वादीसे मान्य महाभारतमें भी स्वीकृति है, यह हम 'आलोक' (६) पृ. ५१६ में बता चुके हैं, जो भौमासुरके जेलखानेमें वन्द थीं, जिन्हें भौमासुरकी यातनाएं सहनी पड़ी; तथापि वे उसके काबू नहीं आईं, श्रीकृष्ण भगवान्के शरण आईं; भगवान्ने उतने ही रूप धरकर उनसे विवाह किया। 'यथोपयेमे भगवांस्तावद्रूपधरोऽव्ययः' (भा. १०।५९।४२) इस वादीके दिये हुए ही वचनसे श्रीकृष्ण 'अव्यय-पुरुष' सिद्ध हो रहे हैं, 'अव्यय' का अर्थ वादीने छिपा दिया है; सो वे परमात्मावतार हुए; 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः' (गी. १५।१७) तव उसमें क्या दोष हुआ।

'दशास्यां पुत्रान् आधेहि' (ऋ. १०।८५।४५) जब वेद एक पत्नीको दस पुत्र दिलाता है; और उतने रूप वाले भगवान्ने उतनी पत्नियोंको दस-दस पुत्र दिये हों, इससे उनकी भगवत्ता, तथा अपने वेदवचनके पूर्तिकर्ता होनेसे उनकी वेदपुरुषता भी सूचित होती है। क्या वादीमें ऐसी सामर्थ्य है ? वह एक स्त्रीमें भी दस पुत्र पैदा नहीं कर सकता। इसीसे वह भगवान् तथा अभगवान्का भेद समझ ले—'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य [अणिमादेः] धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा। ज्ञानशक्तिवलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि' (विष्णु. ६।५।७४, ७९), तव 'अंगूर खट्टे' के समान भगवान्को 'कामी' कहना वादीका व्यर्थ प्रयास है, भगवान्ने 'प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः' (गीता १०।२८)

'काम'को भी अपना ही रूप बताया है। इस विषयमें 'आलोक' (६-७) में हम स्पष्टता कर चुके हैं।

(२४) 'राधा नाम भागवतमें नहीं लिखा, यह वादीने व्यर्थ ही लिखा है। जिस गोपीको श्रीकृष्ण अन्य गोपियोंको छोड़कर ले गये थे; वही तो 'राधा' थी, जिसका संकेत 'अनया राधितो नूनं' (भाग. १०।३०।२८) 'राधितः' शब्दसे आया है। जैसे वेदमें—'ईलितः' (ऋ. १।१३।४) पदसे 'इट्' नाम वाली अग्नि सूचित की गई है, जैसेकि श्रीसायणने भी लिखा है—'इट्' शब्दाभिधेयत्वमत्र सूचयितुम् 'ईलितः, इति विशेषणम्' वैसे यहां 'राधितः' से 'राधा' का संकेत है। वैसे तो वहां किसी भी गोपीका नाम नहीं आया; यह वादीने भी देखा होगा। तव राधाका भी यदि नाम वहां नहीं आया है; तो इसमें कोई क्षति नहीं पड़ती। पुराणान्तरोंके संवाद तथा भगवान्की नित्य शक्ति होनेसे वह 'राधा' थी, यह स्पष्ट है। नहीं तो वादी वताए कि—उसका नाम 'राधा' न होकर क्या वहां शकुन्तला वा दमयन्ती था ? इन सब विषयोंमें हम 'आलोक' (६) 'श्रीकृष्णका सुदर्शनचक्र'में बता चुके हैं। वादी वही अपने कभीके खण्डित पुराने ट्रेक्टोंकी वातें फिर नई पुस्तकोंमें ला-पटकता है, जिससे उसकी पुस्तकोंकी तोंद वड़ी मालूम होवे।

जोकि—श्रीकृष्ण द्वारा कई स्त्रियोंका वादीने अपहरण लिखा है, वह अपहरण न होकर 'राक्षसविवाह' है, सो 'राक्षसं क्षत्रियस्यैकं (मनु. ३।२४) 'गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ' (३।२६) गान्धर्वराक्षसौ क्षत्रे' (महा. १।७३।१३) 'गान्धर्वो राक्षसश्चैव क्षत्रियस्य तु शस्यते' (शङ्खस्मृ. ४।३) 'अत्रापि षष्ठ-सप्तमौ (गान्धर्व-राक्षसौ) क्षत्रधर्मानुगतौ' (वोधायनधर्म. १।११।१३) 'स्वयंवरः क्षत्रियाणां' (महा. आदि. १९१।७) 'स्वयंवरं तु राजन्याः प्रशंसन्त्युपयान्ति च। प्रमथ्य तु [राक्षस-विवाहेन] हृतामाहुर्ज्यायसीं धर्मवादिनः' (आदि. १०२।१६)। 'भविष्यपुराण' (ब्राह्मपर्व ७।२०)में भी ऐसा ही है। रुक्मिणीको तो

उसके पिताकी इच्छासे शिशुपालसे बचानेकेलिए ही आहूत किया गया था। इसलिए वहांपर पापकी कोई बात नहीं। तब लोकदृष्टिमें क्षत्रिय श्रीकृष्णकेलिए ऐसे विवाह अभ्यनुज्ञात (जायज) हैं; अब वादीकी लेखनी इसमें चीं-चपड़ नहीं कर सकती।

(२५) 'यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः' (भाग. १०।११।३६) 'आत्मन्यवरुद्धसौरतः' (१०।३३।२६) 'हृषीकेशः' (१०।२६।१३) 'अच्युतः' 'अधोक्षजः' (अधः कृता अक्षजा ऐन्द्रियिका विषया येन सः' (भा. १०।२६।१३) इत्यादि पद एवं वाक्य वा नाम श्रीकृष्णकी जितेन्द्रियता बता रहे हैं; 'दशास्यां पुत्रानाधेहि' (ऋ. १०।८५।४५) वेदानुसार स्त्रीसे दस पुत्र उत्पन्न करनेको क्या वैदिकम्मन्य वादी 'अजितेन्द्रियता' बतावेगा? तब वादीका उनपर आक्षेप उसकी अपनी ही अजितेन्द्रियता सिद्ध कर रहा है। तब "श्रीकृष्ण क्या उन गोपियोंका दूध पीया करते थे?" यह वादीकी खीज उसकी बेवसी एवं दयनीयता बता रही है। '१६१०८० लड़के क्या अपनी औरतोंसे श्रीकृष्ण जी उनके गर्भाशयमें फूंक मारकर पैदा करते थे' यह आक्षेप भी वादीकी दुष्टता बता रहा है। अपनी स्त्रियोंसे वेदानुसार लड़के पैदा करना तथा उनको प्रसन्न रखना कोई, अजितेन्द्रियता वा अपराध नहीं। नहीं तो वादी अपनी स्त्रीसे लड़के पैदा करता हुआ, अथवा अपनी असामर्थ्यमें दस पर-पुरुषोंका अपनी स्त्रियोंसे दस-दससे ११×११=१२१ पुरुषोंसे सहवास और लड़के पैदा कराता हुआ वादी अपने वा अपने सम्प्रदायको 'व्यभिचारी' अपने मुखसे कहे।

(२६) 'दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तपसः परम्' (भाग. १०।७०। ६)में श्रीकृष्णका अपना ही ध्यान कहा है। 'आत्मा'का अर्थ वादी यदि 'परमात्मा' करता है; तब श्रीकृष्ण वादीके अनुसार भी 'परमात्मा' हुए। शेष रहा सन्ध्याहवन आदि, सो भगवान् 'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि' (गी. ३।२०) 'यद् यदाचरति श्रेष्ठः' (३।२१) न्यायसे लोकाचार भी किया करते थे। इस विषयमें भगवान्ने अपनी पोजीशन गीता (३।२१-२४)में साफ कर दी है। वादी प्रत्युत्तरित होगया। इस विषयमें अधिक 'आलोक' (६) पृ. ५१८-५१९ तथा ७म पुष्प पृ. ४६०-४६१ में देखो। इसपर वह महादेवजीका वचन भी सुने—'ध्याये न किञ्चिद् गोविन्द! न नमस्ये ह किञ्चन। नोपास्ये कञ्चन हरे! न जपिष्ये ह किञ्चन। किन्तु नास्तिकजन्तूनां प्रवृत्त्यर्थमिदं मया। दर्शनीयं हरे! ते स्युरन्यथा पापकारिणः! तस्माल्लोकोपकारार्थमिदं सर्वं कृतं मया (पद्मपु. पाताल. ११४।२४८-२५०)। इससे वादीके मुंहमें अब लगाम लग जायगी कि--मैं लोकोपकारार्थ अपने आपका ध्यान करता हूं।

(२७) 'श्रीकृष्ण काले बालके अवतार थे' इसपर ७म पुष्प (पृ. ३०२-३०३) तथा गत ६म पुष्प पृ. ८५३ में भी प्रकाश डाला जा चुका है, गौरी आदिके अवतार होनेमें (पृ. १६६-१६८) ७ममें देखो। नारायणकी तपस्या भी 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः' न्यायसे थी। भगवान् 'अग्निमीले पुरोहितं' (ऋ. १।१।१) मन्त्रमें अग्निहोत्र करना वा परमात्माकी स्तुति करना भी जनता-शिक्षणार्थ बताते हैं। यदि वादी यह ऋषिविशेषका वचन माने; तब वेद ऋषिप्रणीत हो जावेगा।

(२८) सती-प्रथा (भाग. ११।३१।१९-२०) वेद (अथर्व. १८।३। १)के अनुकूल है। उसमें भी स्वेच्छा होती थी, जोर-जुल्म नहीं, जैसाकि-वादी आक्षेप करते हैं। तभी तो सारी श्रीकृष्णकी स्त्रियोंका सती होना नहीं बताया गया। जो सती विधवा ब्रह्मचारिणी रहना चाहती थी, वह मृतकपतिके साथ चितामें लेटी हुई भी बाल-बच्चोंके पालनार्थ चिता जलनेसे पूर्व उठ खड़ी होती थी (अ. १८।३।२)। जो वादी एक मन्त्रमें प्राचीन पण्डितों द्वारा 'अग्रे' के स्थान 'अग्ने' पाठ बनाकर विधवा-स्त्रियोंके जलवानेका पाप उनके मत्थे मढ़ते हैं, यह बात भी गलत है। हम पूर्व भी सती होनेका वेदमन्त्र दिखला ही चुके-हैं; तब पहलेसे ही एक सिद्ध बातको नये सिरेसे सिद्ध करनेकेलिए उन्हें पाठ बदलनेकी आवश्यकता ही क्या थी? 'अग्रे'के स्थान 'अग्ने' यह पाठान्तर भिन्न शाखामें

सम्भव है। पण्डित् लोग शाखाके पाठभेदोंमें एक-एक अक्षर तकका ध्यान रखते थे। उसमें पाठभेद करना पाप मानते थे ?। ब्रिटिश गवर्नमेंटने आकर सतीप्रथा बन्द करवाई; तब भी सती होनेवाली स्त्रियां अब इस गये-गुज़रे ज़मानेमें भी जल वा अग्निमें सती होती हुई देखी-सुनी जाती हैं; और उससे अपनी उच्चता दिखलाकर समय-समयपर भारतका मुख उज्ज्वल किया करती हैं; और दूसरी आर्यसमाजिन विधवाएं विवाह वा तलाक वा वैषयिक दयानन्दी नियोगसे भारतके मुख उज्ज्वल (?) होनेके सपने देखा करती हैं। क्योंकि यह वादी लोग उनमें वैसे कुसंस्कार डाला करते हैं। महाभारत (स्वर्गा. ५।२५)में यदि श्रीकृष्णकी कई स्त्रियोंका सरस्वतीमें डूबकर सती होना भी कहा है; तो यह कल्पभेद है। 'कल्प-भेदकथा चैव श्रुता' (शिव. कोटिरुद्र. १३।४) 'पुनः पुनः कल्पभेदाद् जाता अवतारा:...तेषु भेदः क्वचित् क्वचित्' (आनन्द--रामायण पूर्णकाण्ड ७।२९)। पुराणोंमें 'कल्पभेद' बहुत प्रसिद्ध है। सती होना तो दोनों स्थान इष्ट है। चाहे अग्निमें हो, चाहे जलमें हो। कई सती नहीं भी हुई थीं, जिन्हें फिर अर्जुन लेगया था; और भीलोंने उन्हें लूट लिया।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि-विधवाओंके सती न होनेपर उनके साथ दूसरे पुरुष--चाहे वे पराये हों, वा अपने—किन हथकंडोंसे उनका सतीत्वधन छीनते हैं, जिसका अन्तिम परिणाम उन्हें वेश्याओंवाला नार-कीय जीवन बिताना पड़ जाता है। उनका पुनर्विवाह वा नियोग भी उन्हें महंगा पड़ता है। उस पुनर्विवाहिताके विषयमें लोग सोचते हैं; जब यह पहले पतिकी नहीं रही है, तो दूसरेकी क्या रहेगी; अतः उसे फुस-लाकर उससे अपनी कामवृत्ति चरितार्थ करते हैं। पुनर्विवाह वा नियोग विषयमें 'आलोक' (८) देखो। वस्तुतः वादीसे दिखलाये हुए पद्यमें उन स्त्रियोंका डूबना नहीं कहा; वहांपर 'अमज्जन्'का अर्थ 'स्नान' होता है। 'डूबने'का शब्द तो संस्कृत-साहित्यमें 'निमज्जन' होता है; अतः वहां 'न्यमज्जन्' होना चाहिये था। पर नहीं है, अतः--वह अर्थ भी नहीं।

(२९) श्रीबलरामके वारुणीपानपर 'आलोक'में अन्यत्र लिखा जा चुका है, मद्यपानका शास्त्रोंमें ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी एवं संन्यासी-को विशेषरूपसे निषेध है। क्षत्रियको उतना नहीं (मनु. ११।९५) उपवेद चरकसंहिता कई अवस्थाओंमें उसके प्रयोगकेलिए कहती है— (चिकित्सित. २४।५६-५८)। देवताकेलिए तो कहीं कोई विधि-निषेध नहीं। वादी ही सर्दी लग जानेपर बच्चों वा बड़ोंको अन्य डाक्टरोंकी भांति 'ब्रांडी' दिलवाता ही होगा। कदाचित् स्वयं भी प्रयुक्त करता हो।

(३०) 'यज्ञोंमें पशुबलि' वैष्णवोंका 'सिद्धान्तपक्ष' नहीं। इसपर देखो प्राचीनबर्हिका इतिहास (भाग. ४।२५)। 'पशोरालभनं, न हिंसा' '(११।५।१३) इत्यादि। पर संसारके त्रिगुणात्मक होनेसे, रजोगुणी वा तमोगुणी लोगोंकी मांसप्रवृत्तिको नियममें, सीमामें लानेकेलिए क्षत्रियादि-केलिए पशुयज्ञ भी कहीं वर्णित किये जाते हैं। उसका एक लौकिक लाभ यह भी है कि--यह क्षात्रयज्ञ युद्ध रूपमें आततायी शत्रुओंको पशु बनाकर होमनेकेलिए होते हैं। यदि सभीको अहिंसक रूपमें रखा जावेगा; शस्त्र-चलानेका हिन्दुओंसे अभ्यास हटवा दिया गया; तो उनका यह दुष्परिणाम होगा कि--आये दिन हिन्दु, मुसलमानोंकी छुरेकी भेंट हो जाते हैं; अभ्यास न होनेसे विधर्मियों पर छुरा उनसे चल ही नहीं सकता; उन्हें दया रोकती हैं। विधर्मी लोग इस बातके अभ्यस्त होनेसे वे निरपराध भी हिन्दुओंको छुरेसे काटकर रख देते हैं। अतः एक वर्ग ऐसा भी अपेक्षित है, जो हिंसायज्ञोंमें प्रवृत्त हो। ब्राह्मणको तो उसका निषेध है; पर विशेष क्षत्रियोंको उस ओर प्रवृत्ति अपेक्षित है; तभी वे देशका संरक्षण कर सकेंगे। अन्यथा जो मक्खीके मारनेसे भी डरें; वे देशके शत्रुओंका क्या सफाया कर सकेंगे ? स्वयं वे चीन आदिको भारत पर हाथ डालनेका अवसर देंगे। यह लौकिक दृष्टि है।

दूसरा इन बलिदानोंसे अपने देशकी रक्षार्थ अपने होमका प्रोत्साहन भी प्राप्त किया जा सकता है। जैसे उस समय पशुको कहा जाता है—

'न वा उ एतन्म्रियसे, न रिष्यसि, देवान् इदेषि' (यजुः २५।४४) ऐ पशु, यह तेरी हिंसा नहीं होरही, यह तो तू देवलोकमें जा रहा है। तुम्हें स्वर्गलोकमें स्थान मिलेगा; तू दूसरेके लाभकेलिए अपने शरीरको होम रहा है। इस प्रकार कमांडर भी युद्धयज्ञमें सम्मिलित होनेवालों और मरकर अपना बलिदान देनेकेलिए तैयार सैनिकों वा व्यक्तियोंको जो अपने देशकी पृथिवीके आगे प्रार्थना कर रहे होते हैं—'वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम' (अथर्व. १२।१।६२) प्रेरणा करे, कि-ऐ मेरे प्रिय सैनिको; यह तुम लोग मरोगे नहीं, किन्तु अपने बलिदानसे देशकी रक्षा करके आततायियोंको मारकर देवलोक स्वर्गको प्राप्त करोगे। 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्' (गी. २।३७) ऐसा साहस तब बढ़ सकता है कि-जब बलिदानोंसे डरा न जाय, नहीं तो अहिंसकताका पाठ पढ़े हुए अपने मरनेसे भी डरेंगे। यदि इसमें कुछ मांसप्रवृत्ति भी बढ़ेगी, तो इससे हम-अन्नभक्षियोंकेलिए अन्न बचेगा; नहीं तो फिर अन्नको देखते रहिये; हम-तुमको तो उसके दर्शन भी नहीं होंगे, इस विषयमें 'आलोक' (६) पृष्ठ ४४५-४५४ देखो। यह हमने लौकिक दृष्टि उपस्थित की है; पर हमारे यहां वे पशु-बलिआदि कलिवर्जित किये गये हैं। इसमें भी कई लाभ सोचे गये थे। उसके स्थान आटेका पशु हुत किया जाता है। इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. ८१०-८१७ देखो।

(३१) श्रीकृष्णप्रोक्त मूर्तिपूजा तो वैदिक है। तभी तो वहां कहा है—'वेदेन आचोदितानि' (भाग. ११।२७।११)। (क) आप लोग भी १७ नवम्बरको ला० लाजपतरायकी मूर्तिपर फूल चढ़ाया करते हैं। पहले समय आर्यप्रतिनिधिसभा, सारा डी. ए. वी. कालेजका स्टाफ उस मूर्तिपर पुष्पमालाएं चढ़ाता था। यह प्रतिवर्ष वहांके 'हिन्दी मिलाप' (लाहौर)में छपता था। स्वा. द. जी स. प्र. ११ समु. में लिख गये हैं—'किसी जड़ पदार्थके आगे शिर झुकाना वा उसकी पूजा (सम्मान) करना-सब मूर्तिपूजा है' (पृ. २३०) पूजाके भी कई प्रकार होते हैं।

सम्मान भी पूजा होती है।

(ख) नाईके छुरेके आगे भी आप लोग 'स्वधितिस्ते पिता नमस्ते' इस मन्त्रके अनुसार 'नमस्ते' कहते हैं। इसका अर्थ 'संस्कार-प्रकाश' (गोविन्दराम हासानन्द कलकत्तासे प्रकाशित)में श्रीरामगोपालवेदालङ्कार (गुरुकुलकाङ्गड़ीके स्नातक)ने लिखा है—'ॐशिवो नामासि' हे उस्तरे तू कल्याणकारी है और अच्छे लोहेका बना हुआ है। तुम्हें नमस्कार है। तू बालकको हानि मत पहुंचाना" (पृ. ७३ स्तं. २ पं. १७-१९) इसी लक्ष्य करके किसी कविने कहा है—

'देवमूर्ति कभी न पूजें, पूजें छुरा जो नाइयोंका।
यही हाल संस्कारविधिमें आर्यसमाजी भाइयोंका'।

अब यह उस्तरेको नमस्कार करनी कितनी डबल मूर्तिपूजा है।

(ग) यजुः (१२।७० मन्त्र)के भाष्यमें स्वा. द. जी हल के पटेले पर घी-शक्कर आदि चढ़वाकर उसकी पूजा-प्रार्थना कराते हैं कि—यह पटेला हमें अन्न देगा। (घ) समावर्तनसं.में 'प्रतिष्ठे स्थो विश्वतो मा पातं' कहकर उन्हीं जूतोंसे (मन्त्रमें द्विवचन है) रक्षाकी प्रार्थना करते हैं। इसका अर्थ उक्त 'संस्कार--प्रकाश'में आर्यसमाजी स्नातकजीने लिखा है 'हे जूता, तुम शरीरका आधार हो; सब मूल्य पर मेरे पांवोंकी रक्षा करो'। उक्त अर्थ किसी सनातनी पण्डितके नहीं किये हैं, किन्तु गुरुकुल काङ्गड़ीके आर्यसमाजी स्नातकद्वारा किये गये हैं। पुस्तकका प्रकाशक कोई सनातनी नहीं, किन्तु दयानन्दी है। प्रार्थना पूजाका ही अङ्ग है। (ङ) वैश्वदेवबलिमें ऊखल-मूसलमें 'वनस्पतिभ्यो नमः' कहकर ग्रास रखते हैं। वहां स्वा. द. जी (पञ्चमहायज्ञविधिमें) 'वनस्पति'का परमात्मा करते हैं, सो वह ग्रास ऊखलके द्वारा परमात्माको ही दिया गया—यह स्पष्ट है।

इस प्रकार उस्तरेकी मूर्ति द्वारा परमात्माको नमस्कार की गई; पटेले एवं जूतों द्वारा परमात्मासे अन्न एवं रक्षाकी प्रार्थना की गई

वह पत्थरके द्वारा परमात्मासे प्रार्थनाकी भांतिं मूर्तिपूजा ही हुई। प्रार्थना पूजाका अङ्ग होती है। वादी हृदयमें पधराये हुए भगवान्की पूजा वा ध्यान मानता है, यह पुराणोंमें भी बताया है (भाग. ११।२७।६) सो यह भी मूर्तिमें प्रतिष्ठापित देव की पूजाकी भांति 'मूर्तिपूजा' ही तो है। जड़ हृदयमें परमात्माका ध्यान करना-जहां लहू आदि है—यह दयानन्दियोंकी-'पूर्णरूपेण मूर्तिपूजा है। तब वे दयानन्दी भी जब मूर्तिपूजक हैं; तब वे मूर्ति-पूजाकी बुराई क्यों करते हैं ? केवल अज्ञान वा साम्प्रदायिक दुराग्रह !! यदि यह लोग मूर्तिपूजक नहीं हैं, तब अपनी इन खण्डक पुस्तकोंमें अपनी मूर्ति क्यों छपवाते हैं ? केवल अपने सम्मानार्थ। तब क्या यह मूर्तिपूजा नहीं ? यदि नहीं; तब स्वा. द. जीकी मूर्तिपर जूते लगा सकते हो ? यदि नहीं लगा सकते, तब तो तुम मूर्तिपूजक हुए। यदि अपने प्रतिविम्वमें भी अपने होनेकी भावना करते हो; तब पत्थरकी मूर्तिमें भी भगवान्की भावना कर लो, क्योंकि-'यस्य पृथिवी शरीरम्' (वृहदा. ३।७) पृथिवी भगवान्का शरीर है। सो यह पत्थर भगवान्का प्रतिविम्व हुआ। फलतः आप लोग जितना भी मूर्तिपूजासे मुकरें; पर मूर्तिपूजासे छूट नहीं सकते।

(च) राष्ट्रिय झण्डे वा अपने 'ओम्'के झण्डेका आप लोग भी 'झण्डाभिवादन' कहकर अभिवादन करते हैं, झण्डेपर उसके सम्मानार्थ फूलमाला चढ़ाते हैं। (छ) एक मरे हुए स्वा. द. की मूर्तिको सम्मानित-स्थानपर रखते हैं, उनकी जय बुलाते हैं। इस विषयमें स्पष्टता 'आलोक' (४) पृ. ३८९-३९३ में देखो।

(३२) 'रति-विशेषज्ञः प्रियश्च वरयोषिताम्' (१०।४७।४१)में 'रति'का अर्थ उन्हें प्रसन्न करना है। भक्तके अर्थमें 'रम्' धातुका अर्थ वादी भी 'मैथुन' न मानकर उसका अन्य अर्थ मानता है, देखो इसपर 'आलोक' (६) (पृ. ५४३-५४६, ५५३-५५४) 'पुराणोंके कृष्ण' (पृ. १४)। यदि वादी वहां 'रमण'का कुछ अन्य अर्थ मानता है, और उसमें वादी 'वर्जयेन्मधु मांसं च' (मनु. २।१७७) ब्रह्मचर्यकालमें स्त्रीके छूने

आदिका निषेध बताता है; तब क्षत्रिय होनेसे ११ वर्षके बाद श्रीकृष्णका ब्रजसे चले जानेके बाद ही मथुरामें उपनयन तथा आचार्यकुलवास रूप ब्रह्मचर्याश्रम शुरू हुआ। तब उससे पूर्वकी बाललीलाएं वादिमान्य मनुके अनुसार भी निषिद्ध सिद्ध न हुईं।

(३३) 'नोच्छिष्टं कस्यचिद् दद्यात्'में जूठा खानेके निषेधका यहां कुछ भी अर्थ नहीं। 'नित्यमास्यं (मुखं) शुचि स्त्रीणाम्' (५।१३०) यह भी वादिमान्य मनुस्मृतिका वचन है। वस्तुतः वहां प्रकृति-पुरुषके रमणको लौकिक दृष्टिकोणसे लिखा गया है। (ख) 'नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम्'का यह मनुका निषेध ६-७ वर्षकी लड़कियों पर नहीं लगता। चीरहरणमें व्रजकुमारियां भी ६-७ वर्षकी बताई गई हैं।

(३४) 'मृगयाक्षाः' (मनु. ७।४७) राजाके शिकारके लिए निषेध है, श्रीकृष्ण राजा नहीं थे, राजा तो उग्रसेन थे। तथापि यह वचन भी व्यसनरूपमें निन्दित है, पर खेती वा जनताकी हानि करनेवाले, पशुओंका शिकार निन्दित नहीं होसकता। इसलिए स्वा. द. जीने स. प्र. (१० पृ. १६८)में उनका शिकार (दण्ड) कहा है। बल्कि उनका मांस भी स्वामीने वहीं मांसाहारी पुरुषोंको खिलानेकेलिए लिखा है। महाभारत कहता है—'अतो राजर्षयः सर्वे मृगयां यान्ति भारत! नहि विध्यन्ति पापेन नचैतत् पातकं विदुः' (अनुशा. ११६।१८-१९) शिकारमें अभ्यस्त क्षत्रिय लोग ही शत्रुओंका शिकार कर सकेंगे, युद्धोंमें शत्रुओंको काट सकेंगे। केवल अहिंसाके पुजारियोंका युद्धोंमें वही हाल होगा कि-बहुतसे अहिंसक बुद्ध, मुसलमानों द्वारा काट दिये गये। आजकल भी हिन्दु कट रहे हैं। समाजमें सब प्रकारके पुरुषोंकी आवश्यकता पड़ती है; क्योंकि-सृष्टि भी त्रिगुणात्मक होती है। केवल सत्त्वगुणसे काम नहीं हुआ करता; उसे रजोगुण एवं तमोगुण दवा दिया करते हैं। कांटेसे कांटा निकलता है-यह आक्षेप्ताओंको कभी नहीं भूलना चाहिये। (ख) 'शूद्रां शयन-मारोप्य'में शूद्राके विवाहका निषेध है। दासीका रमण तो 'रामा रमणाय

उपेयते न धर्माय' (निरुक्त. १२।१३।२में) आया है।

(३५) 'पैतृष्वसेयीं'का यदि निषेध है; तो लोकोत्तर-चरित्रताके कारण वह अनुकर्तव्य नहीं। देशभेदमें भी ऐसे व्यवहार होजाते हैं। जैसे दाक्षिणात्योंमें अब भी मातुलकन्या, वा पितृष्वसृकन्याओंके विवाह सुने जाते हैं। देशाचार भी कहीं-कहीं गृहीत होजाते हैं। इस देशमें श्रावण आदिमें विवाह नहीं किये जाते; पर पञ्जाबमें हुआ करते हैं, इत्यादि स्वयं समझ लेना चाहिये। मनुस्मृतिमें 'अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद् यथाविधि' (९।८८) अच्छे वरकी प्राप्तिमें ऐसे अप्राप्त-विवाह भी अभ्यनुज्ञात होजाते हैं। वैसे तो उस लड़कीको वहां 'कृष्णे सक्तां' (१०।५८।३०) कहा गया है; तब इस प्रकारके अवसरकेलिए यह कथन आया है—'स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि' (मनु. २।२३८) यहां 'दुष्कुल'का व्यापक अर्थ लिया जा सकता है। इसीलिए मनुजीने कहा है कि—'स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या···समादेयानि सर्वतः' (मनु. २।२४०) 'वराङ्गनाः। नेमे निषेध्याः' (पद्म. उत्तर. २७।९६)। यही आनन्दरामायण (राज्यकाण्ड १५।३०)में भी लिखा है। वादिमान्य देवीभा. (६।१४।१२)में भी है। तब यह यहां अपवाद माना जा सकता है; पर साधारणकेलिए यह ग्राह्य नहीं। अर्जुनका सुभद्रासे विवाह भी इस प्रकारकी कोटिमें आता है। तथापि उनमें कुछ भेद है। वसुदेवके पिता शूरने अपनी लड़की पृथा राजा कुन्तिभोजको दत्तककी भांति दी थी। अतः अब वह शूरकी कन्या नहीं रही; तब वसुदेव अर्जुनके मामा होते हुए भी वास्तवमें नहींके बराबर थे। देखो इसपर श्रीमद्भा (९।२४।३१), हरिवंश (३४।२३-२७), वायु. (९६।१४९)। इसी कारण अर्जुनका सुभद्रासे विवाह निन्द्य नहीं माना गया।

(ख) श्रीकृष्णको भागवतकार कहीं दुराचारी नहीं बताते, वह तो उन्हें भगवदवतार बताते हैं। वादी तद्विरुद्ध बताता हुआ स्वयं 'दसनम्बरी' सिद्ध होता है। पौराणिक वर्णनोंमें भिन्नता कल्पभेदवश समझनी चाहिए।

'कल्पभेदकथा चैव श्रुता' (शिव. कोटि. १३।४) यह कल्पभेद पुरा[ण] बहुत प्रसिद्ध है। स्वा. द. जी भी लिख गये हैं—'मन्वन्तरपर्यावृत्तौ [...] नैमित्तिकगुणानामपि पर्यावर्तनं किञ्चित् किञ्चिद् भवति' (ऋभाभू.पृ. [...]) 'सृष्टिका स्वभाव नया-पुराना प्रतिमन्वन्तरमें बदलता जाता है' (ऋ[...] पृ. २७) जब इस प्रकार मन्वन्तरमें कुछ परिवर्तन हो जाते हैं, [...] कल्पभेदमें परिवर्तन असम्भव नहीं।

(३६) अद्वैतवादपर यहां अधिक स्थान न होनेसे अग्रिम [...] पुष्पमें लिखा जावेगा। संक्षेपमें यह याद रखना चाहिये कि—वर्फ, [...] कुल्हारा यह व्यवहारमें होते हैं, परमार्थतः वे जल, मट्टी, तथा लोह[ा] वैसे परमात्मासे भिन्न इस संसारमें कुछ भी नहीं। प्रकृति उसीकी [...] है, 'मायां तु प्रकृतिं विद्याद् मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वे. ४।१०) सो [...] उससे भिन्न कुछ भी नहीं। आत्मा भी वही है, (गीता ७।४-५) [...] व्यवहाररूपमें उपाधिभेद है। व्यवहारमें द्वैतवाद होता है, उपासना व्यवहारवादमें ही होती है; परमार्थतः 'पुरुष एवेदँ सर्वं यद् भूतं [...] भाव्यम्' (यजुः ३१।२) सब वही भगवान् है। द्वैतवादमें वादी परमा[त्मा]को निमित्तकारण मानता है, पर **निमित्तकारण कभी सर्वव्यापक [नहीं] होता,** पर वादी भी परमात्माको सर्वव्यापक (पृ. १८८) मानता [...] वेद भी कहता है—'स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु' (यजुः ३२।८)।

अतः वही परमात्मा ही बनता है; और वही बनाता है; अतः [...] अभिन्न-निमित्तोपादानकारण माना जाता है। 'तस्माद् एकाकी न र[मते] स द्वितीयमैच्छत्' (शत. १४।४।२।४-९)में सृष्टि अपने विनोदार्थ परमात्माने बनाई है—सृष्टि उससे भिन्न नहीं, उसीका विकास है, सूचित होता है। इसीमें वह मकरीवाला दृष्टान्त घटता है—'यथोर्ण[नाभिः] सृजते गृह्णते च' (मुण्डक. १।१।७) सो इसमें यह कहना कि—"मक[...] तत्त्वोंका नाम है, पञ्चभूतोंसे उसका शरीर-बनता है, आत्मा उसमें [...] रहता है"। यह वादीका अज्ञान है। यह तो दृष्टान्त है, 'यथा' शब्द [...]

ज्ञापक है। दृष्टान्तमें एकदेश लिया जाता है, सर्वदेश नहीं। सर्वदेश लिया जावे; तो दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकभावका ही उच्छेद होजावे। ऐतरेय ब्रा.में भी यही कहा है--'प्रजापतिरकामयत-प्रजायेय, भूयान् स्याम्' (२५।७)। 'सोऽवेद्-अहं वाव सृष्टिरस्मि' (शत. १४।४।२।१०) यहां सृष्टिको ही परमात्मा बताया गया है, इससे अद्वैतवादकी परमार्थता सूचित होती है। मल, आवरण, विक्षेप दूर होजानेपर एवं मुक्त होजानेपर वही आत्मा परमात्मा हो जाता है, उपाधिभेद हट जाता है। तभी 'सोऽहम्' 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' कहा जाता है। यह परमार्थवाद है। और अन्तिम कोटिकी बात है. आदिम एवं मध्यम-कोटिमें आत्माके शोधनार्थ कर्म, उपासना आदि किये जाते हैं; इसीलिए वेद-पुराणादिको भी 'अपरा विद्या' (मुण्डक. १।१।५) माना जाता है क्योंकि--उनमें कर्म एवं उपासना ९६ प्रतिशत है, अतः उन्हींकी प्रधानता है, इसलिए यह व्यवहारमात्र ही हैं। परमहंसावस्थामें 'सोऽहम्'का दृढव्यवहार होनेपर तब इनकी आवश्यकता भी नहीं रह जाती।

यदि परमात्मा प्रकृतिके बगैर कुछ नहीं कर सकता, तब वह भी असर्वशक्तिमान् तथा बद्ध एवं पराधीन सिद्ध हुआ; स्वतन्त्र कहाँ रहा? यदि प्रकृति उसकी शक्ति है, तो शक्ति एवं शक्तिमान्का अभेद होता है, 'मायां तु प्रकृतिं विद्याद् मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वेता. ४।१०); तब भी अद्वैतवाद ही सिद्ध हुआ। आत्मा भी उससे अलग कहां है, केवल समुद्रका पानी सफेद शीशीमें बन्द है। शीशी टूटनेपर वही जल समुद्र ही बन जाता है, पहले भी समुद्रसे ही निकला था, फिर भी समुद्रमें जाकर समुद्र ही होगया। परमात्माकेलिए शास्त्रोंमें 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दो. ३।१४।१) 'पुरुष एवेदं विश्वं--' (मुण्डक. २।१।१०) 'ब्रह्मैव इदं' (मु. २।२।११) यह वचन मिलते हैं; तब त्रैतवादकेलिए कुछ भी स्थान नहीं। यदि कहीं प्रतिभात होता है; तो वह केवल व्यवहारमात्र है। परमात्मा ही सभी-कुछ होनेसे सभी वस्तुएं चेतन होती हैं, जड़

कुछ भी नहीं। जैसाकि महाभाष्यमें कहा है—'सर्वस्य वा चेतनावत्त्वात्' (वा. ३।१।७)। निरुक्तमें 'आत्मा अततेर्वा, आप्तेर्वा, अपि वा आप्त इव स्याद् यावद्-व्याप्तिभूत इति' (३।१५।२) यहां आत्माको प्रत्येक वस्तुमें व्याप्त बताया है। तब सभी वस्तुएं चेतन हुई। हां, कहीं वह चैतन्य व्यक्त होता है; और कहीं अव्यक्त। अव्यक्त चैतन्यको जड़ कहना यह व्यवहारमात्र है। स्थानाभाववश इस विषयमें अग्रिम किसी पुष्पमें पूर्ण विचार होगा।

(ख) सृष्टिकी आयुका 'शतं ते अयुतं हायनान् द्वे युगे, त्रीणि चत्वारि कृण्मः' (अ. ८।२।२१) यह वेदमन्त्र लिखकर वादी लिखता है—'दस लाख तक बिन्दु रखनेपर उससे पूर्व २,३,४ रखनेसे ४,३२,००,००,००० वर्ष निकल आते हैं, यह वादीकी बनावट है। इस अर्थमें बहुतसे दोष आते हैं। इस विषयमें 'आलोक' (५) पृ. ६०२-६०३ देखो। यह मन्त्र तो योगीकी युगोंकी आयु बता रहा है; तब पुराणोंमें जो कई अर्बुद वर्षके प्रियव्रतआदिका वर्णन लिखा है, वह इसी वेदमन्त्रका अनुवाद है। वादीका अर्थ गलत है।

(३७) आगे वादी भागवतमें 'गल्पोंका विशाल भण्डार' दिखलाता है, और हम उनका समाधान करते हैं। उनमें 'असुरोंका ब्रह्मासे मैथुन' पर ७म पुष्प (३०६-१०, ६२६ पृ.) तथा ६म पुष्प (पृ. ५२६-५३०) में हम लिख चुके हैं। 'जिससे असुरोंने भोग किया हो, यह वादीकी बात सफेद झूठ है। **१०० जन्म तक भी वह इसे पुराणमें नहीं दिखला सकता।** 'जब ब्रह्मा एक बार मर गया; तो उसकी पुनः उत्पत्तिका विवरण पुराणमें नहीं मिलता' वादीका यह कथन इसीलिए ही तो गलत है। अपनी इच्छासे शरीरको छोड़ देना और दूसरे शरीरको अपनी इच्छानुसार ग्रहण कर लेना-यह जन्म-मरण नहीं होता।

(ख) 'सौ योजन ऊंचा वृक्ष'पर हम ६म पुष्प (पृ. ६६४-६८) में लिख चुके हैं। यहां भी कुछ लिख देते हैं। वृक्षको बहुत ऊंचा बताना

अर्थवाद भी हो सकता है। यही कविताके रूपमें अतिशयोक्ति कही जा सकती है। बाणभट्टकी कादम्बरीमें एक बड़े ऊंचे शाल्मलिवृक्षका वर्णन करते हुए कहा गया है—'जलदपटलैरपि अदृष्टशिखरः (वह सेमलका वृक्ष इतना ऊंचा था कि-बादल भी उसकी चोटीको नहीं देख सकते थे) तुङ्गतया नन्दनवनश्रियमिव अवलोकयितुमुद्यतः (इतना ऊंचा था कि—द्युलोकमें स्थित इन्द्रके नन्दनवनकी शोभाको भी देख रहा था) इस प्रकार अन्य भी वहां अतिशयोक्ति की गई है कि—द्युलोकवासी देवताओंके देखनेका महल है वह वृक्ष-इत्यादि। सो इसमें वास्तविकता न होकर उस वृक्षकी बहुत उच्चता सूचित होती है, वह द्युलोकसा ऊंचा नहीं था। उसे कविकी भाषा इस रूपसे कहती है।

वादी वेदको देवका 'काव्य' (अ. १०।८।३२) मानता है; और उसके निर्माता परमात्माको 'कवि' (यजु: ४०।८) कहता है। परमात्माके अवतार श्रीव्यासको भी 'नमः सर्वविदे तस्मै व्यासाय कविवेधसे' (हर्ष-चरित २) में श्रीवाणभट्टके शब्दोंमें कवियोंमें ब्रह्मा कहा है; सो व्यासजीसे प्रसारित पुराणमें भी वादी, आक्षिप्त स्थलोंमें कविकी कविता समझ ले।

महान् साहित्यिक श्रीभामहने कविको अतिशयोक्तिका आश्रयण करनेकेलिए विशेष प्रेरणा दी है; उसीको श्रीमम्मटभट्टने काव्यप्रकाशके दशम उल्लासमें (जिसके अनुकरणमें स्वा. द. जीने अपनी पुस्तकका नाम 'सत्यार्थप्रकाश' और 'समुल्लास' रखे हैं) उद्धृत करते हुए लिखा है—

'सर्वत्र एवंविधविषये अतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेन अवतिष्ठते, तां (अतिशयोक्ति) विना प्रायेण अलङ्कारत्वाऽयोगात्। अत एवोक्तम् [भामहेन]—'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः [वैचित्र्याधायिका लोकातिशायिनी उक्तिः] अनयाऽर्थो विभाव्यते (चमत्क्रियते)। यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया [अतिशयोक्त्या] विना, (कविको अतिशयोक्ति (लोका-तिशायिनी उक्ति) में प्रयत्न करना चाहिये। उसीसे अर्थ चमत्कृत होता है; कौन है ऐसा अलङ्कार, जो इसके विना रह सके। 'शिवराजविजय'

काव्यमें भूषण-कवि शिवाजीको कहता है, 'जब तुम हाथीपर चढ़े औरङ्गजेबके सिरपर तलवार मारोगे, तो वह उसके लोहेके टोपको तोड़ हुई, उसके कवच तथा शरीरको काटती हुई, उस हाथीके हौदे हाथीको काटती हुई, पृथ्वीमें घुसकर उसको काटती हुई पृथिवीको हुए कूर्म पर भी रेखा कर डालेगी। तब क्या वादी इसका तात्पर्य लेकर उसका शाब्दिक अर्थ लेनेमें उद्यत रहेगा?

हमने नवम पुष्पके ६७० पृष्ठमें लिखा था कि--उस पौराणिककाल जो सृष्टिकी आदिका काल है, (इस विषयमें हम ७म पुष्प (पृ. ३७ ३८८) में तथा ६म पुष्प (पृ. ६४१-६४४) में तथा अन्यत्र भी बहुत लिख चु हैं) 'योजन' शब्द आजकलके 'फुटों' अर्थमें ही वर्णित जाता हो। तब तो वादी वैसे परिमाणमें असम्भव शब्दका आक्षेप कर सकेगा। यदि वादी 'योजन'का अर्थ उस सृष्टिके आदिकाल जिसे वैदिककाल भी कह सकते हैं—फुटका परिमाण भी है--इस विष प्रमाण मांगे; तब वह निघण्टु (२।५) निकाले; उसमें 'योजन' अ लियोंका नाम भी लिखा है। इसपर वादी स्वा. द. के प्रकाशित नि वैदिक कोषकी शब्दानुक्रमणिका पृ. ५२में भी देख लें। अङ्गुलि 'योजन'का प्रयोग 'दश योजनेभ्यः' (ऋ. १०।६४।७) इस मन्त्रमें वादीको मिल सकता है। तब वादी ११०० योजन आमके वृक्षको ११ अङ्गुलियां ऊंचा मान लें, तब तो वह स्वाभाविक ऊंचाईपर होजावे

अब वेदपर दृष्टि डालिये। ऋ. १।८८।५ में 'योजन' शब्द वाचक है। १६१।१० में योजनका अर्थ है 'प्रापण' (पहुंचाना)। ५ 'योजन' का अर्थ 'तेज' है। ८।७२।६ में सूर्यका घोड़ोंके परिमा योजन बताया है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि--'योजन' के अर्थ भी हुआ करते हैं; केवल उसका ४ कोस अर्थ सर्वत्र नहीं किया जासकता

अब वेदमें मार्गवाचक 'योजन' देखिये—'त्रिंशतं योजनानि' १।१२३।८) में सूर्यका मण्डल यहांसे ३० योजन कहा है, क्या

परिमाण वादी ठीक घटा सकेगा ?। ऋ. १०।७८।७,१०।८६।२० में 'योजन' शब्द नियतपरिमाणवाचक न होकर केवल दूर देशको वताता है। इस प्रकार आक्षेपमात्रशूर न होकर वादीको पुराणोंमें भी योजनोंको नियतपरिमाणवाचक न मानकर 'अत्यन्त-उच्च' अर्थमें पर्यवसित समझ लेना चाहिये। यह मन्त्र भी याद रख ले—'तेषा ँ् सहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि' (यजुः १६।५४) यहां हजार योजन (८ हजार मील) पर ठहरकर धनुष वा अस्त्रको वेकाम करना कहा है। 'सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं...दैवीं नावं...आरुहेम' (यजुः २१।६) 'शतारित्रां' (७) यहां एक पृथिवी तथा द्युलोक तक पहुंची दैवी नौका पर चढ़ना सङ्केतित किया गया है। 'वत्सो अनु गामपश्यद्...त्रिषु योजनेषु' (अ. ६।६।६) में तीन योजनकी गाय वताई गई है।

'द्यावापृथिवी...अमिता योजनानि' (अथर्व ४।२६।१) यहां पृथिवी-को अपरिमित योजनोंमें फैली हुई कहा है। वादी तो पृथिवीके योजन नपे हुए मानता है; तव क्या वेदने उन योजनोंको अपरिमित कहकर पुराणवाली अतिशयोक्ति नहीं अपनाई ? फलतः वादीके अनुसार देवके 'काव्य' वेदमें जो योजनोंकी व्यवस्था होगी; पुराणोंमें भी वैसी व्यवस्था वादी समझ ले, व्यर्थ पुराणोंपर दोष न देता रहे। दोष-दृष्टि हटाकर अपना स्वाध्याय बढ़ावे।

(३८) वेनके शरीरके मथनेसे निषादकी उत्पत्ति तथा मृत निमिसे जनकका प्राकटच असम्भव नहीं। **'अमोघवीर्या हि नृपा वंशेस्मिन् केश-वाश्रयाः'** (भा. ४।१४।४२) इस वचनके अनुसार रार्जषि अङ्गके वंशको अमोघवीर्य वताया गया है। वीर्य सारे शरीरमें व्याप्त होता है, सो मुनियोंने उसके शरीरके मथनमें जिन शुक्राणुओंको अमोचतावश सन्तान-योग्य देखा, उन्हें पुष्ट किया। अमोघ-वीर्य गर्भाशयकी अपेक्षा नहीं करता। सो जघनके कीटाणुसे जघन्य निषाद ही होना था। बाहुके कीटाणुसे मेध्यतावश 'वाहू राजन्यः कृतः' (यजुः) क्षत्रिय वर्णमें पृथु और

अर्चि प्राप्त हुए। इस कलिमें अमोघवीर्यता नहीं, अतः उन शुक्राणुओंसे आजकलके वैज्ञानिक कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते।

(३९) मेंडकी आदिसे उत्पत्तिमें मुनियोंका तपोमाहात्म्य ही समझना चाहिये, जिसका निरूपण वृहस्पतिने किया है—'अनेकधा कृताः पुत्रा ऋषिभिश्च पुरातनैः। न शक्यन्तेऽधुना कर्तुं शक्तिहीनैरिदन्तनैः' (देखो मन्वर्थमुक्तावली ९।६८)। 'मृगीजोऽप्यर्ष्यशृङ्गोपि' (भवि. ब्राह्म. ४२।२३) में मनुस्मृतिकी साक्षी भी देखो—'यस्माद् वीजप्रभावेण तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन्' (१०।७२) इसमें टीकाकारोंने **'हरिण्यादिजाता अपि ऋष्यशृङ्गादयो मुनित्वं प्राप्ताः'** संकेत दे दिया है। इसके अतिरिक्त मेंडकी आदिको भी आजकलकी **साधारण मेंडकी** आदिकी भांति न समझना चाहिये।

जैसे सांख्य-दर्शनमें ऐसी मेंडकीका वृत्त है, जो कामरूपिणी थी' (४।१६) उसकी मनुष्यरूप बनाकर-एक राजासे सन्तानोत्पत्ति भी कही है। यह कथा निर्मूल भी नहीं है—महाभारतके वनपर्व (१९२ अध्याय)में भी है। जैसे हनुमानादि रामायणीय वानर साधारण वानर न होकर **देवयोनि से आये हुए होनेसे दिव्य थे,** जैसे कि आनन्दरामायणमें कहा है—'न ज्ञेया **वानराः तेपि सर्वे देवांशरूपिणः'** (राज्यकाण्ड ३।५१) वादीके मान्य देवीभा.में भी कहा है—'रामावतार-योगेन **देवा वानरतां** गताः' (४।२।३६) 'पुरा रामावतारेपि **निर्जरा वानराः** कृताः' (४।२०।६) वैसे यहां भी समझ लेना चाहिये। और यह भी याद रखना चाहिये कि—जैसे मन्दपाल मुनिने शार्ङ्गी नामकी चिड़ियासे शार्ङ्गी नामक पक्षी ही बनकर सन्तान प्राप्त की थी; जैसे कि महाभारतमें लिखा है—'शार्ङ्गिकीं शार्ङ्गिको भूत्वा' (१।२३१।१६) वैसे ही उत्पादक मुनि भी अपनी दिव्यशक्तिसे मण्डूक आदि बनकर उनसे सन्तति उत्पन्न करते थे; तब अलौकिक शक्ति पर विश्वास न करके आजकलके वादी अपनी प्रच्छन्नबौद्धता परिचायित कर रहे हैं।

(४०) कश्यपकी तिमि, क्रोधवशा, इला आदि स्त्रियोंसे, जलचर,

हिंसक जीव तथा वृक्ष आदिकी जो सृष्टि आक्षिप्त की गई है, इसपर यह जानना चाहिये कि–यह सृष्टिकी आदिका वर्णन है। सृष्टिकी आदिमें लोकोत्तर उत्पत्तियाँ हुआ करती हैं। इसके अतिरिक्त 'कश्यप: पश्यको भवति' यह वचन स्वा.द.जीने स.प्र.में निरुक्त (२।२)में माना है, निरुक्तकी किसी भी प्रतिमें नहीं है, स्वा.द.के समयके निरुक्तमें भी नहीं है। वस्तुत: यह तै. आ. (१।८।८।२१) का वचन है, इसे स.प्र.में स्वामीजी प्रमाण मान गये हैं। इससे स्वा.द.जीने 'कश्यप' परमात्माका नाम माना है; और परमात्मासे ही स्वामीने यह सिंह-वृक्षादि सब सृष्टि मानी है। सो पुराणवर्णित कश्यप ऋषि भी सृष्टिकी आदिमें अलौकिक तपोबलशाली होनेसे उसी परमात्माके अंश थे। परमात्माको भी ऋषि कहा है (ऋ. ८।६।४१) उनकी शक्तियों रूप स्त्रियोंसे विविध सृष्टि हुई। इसमें असम्भव कुछ भी नहीं।

यजुर्वेद. (३।६२) मन्त्रमें भी स्वा.द.जीने 'कश्यप' का अर्थ 'ईश्वर' लिखा है; तो यहाँ 'कश्यप' की स्त्री 'ईश्वरकी प्रकृति' से उक्त विलक्षण सृष्टि समझ लो। प्रकृति विविध रूपवाली होनेसे उन-उन उत्पत्तियोंके स्वरूपानुरूप पुराणोंमें उन स्त्रियोंका नाम लिखा है। ऋषियोंकी उत्पत्ति प्रशस्तपादभाष्यके अनुसार जो स्वा.द.जीका मान्यपुस्तक है–धर्मके अणुओंसे, विना मैथुनके कही है। इसपर आगे ४१ संख्याके ४र्थ पैरेमें देखो। भगवान्‌के अवतार कश्यप मुनिसे भी शक्तिविशेषवश वैसी उत्पत्तियां जाननी चाहियें। इसमें असम्भव कुछ भी नहीं।

वादी भी अपनी एक पुस्तक (पृ. ३१) में अमैथुनी क्रममें भी उत्पत्ति पञ्चभूतोंसे उत्पन्न वीर्यतत्त्वसे मानता है। वह लिखता है—'मेंढकके छोटे-छोटे वच्चे करोड़ोंकी संख्यामें वरसातमें **पृथ्वीमें मौजूद वीर्यतत्त्वसे बिना मैथुनी वीर्यके** पैदा हो जाते हैं'। सो सृष्टिकी आदिमें भी उसे यह क्रम जान लेना चाहिये।

शतपथमें सृष्टिनिरूपण आया है (१४।४।२।४-६) 'स वै नैव रेमे,

तस्माद् एकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत् (उस परमात्माको अकेले आनन्द न आया; उसने दूसरेकी इच्छा की)। स ह एतावान् आ यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ। (४) (वह इतना बढ़ गया कि जैसे स्त्री-पुरुष परस्पर आलिङ्गन किये ठहरे हों) स इममेव आत्म द्वेधा अपातयत्, ततः पतिश्च पत्नी च अभवताम् (उस परमात्म अपने पति-पत्नी यह दो भाग वना दिये।) तां समभवत्; ततो मनु अजायन्त (५) (उस पत्नीमें संयोग द्वारा उस परमात्माने मनुष्य किये)। सा ह इयमीक्षाञ्चक्रे-कथं नु मा आत्मन एव जनयित्वा सम्भव हन्त! तिरोऽसानि-इति (६) (स्त्रीको लज्जा आगई कि–इसने मु अपनेसे पैदा किया है, फिर मुझसे ही संयोग द्वारा उत्पत्ति की, यह सो कर वह छिप गई)।

'सा गौरभवद्, वृषभ इतरः। तां समेवाभवत्, ततो गावोऽजाय (७) वह स्त्री गाय बनी, वह वैल वना, तव उनके संयोगसे गाय पैदा हुए) वडवा इतराऽभवत्, अश्ववृष इतरः। गर्दभी इतरा, गर्दभ इतर तां समेवाभवत्। (८) अजा इतराऽभवत्, वस्त इतरः। अविः इत मेष इतरः। तां समेवाभवत्, ततोऽजाऽवयोऽजायन्त। एवमेव य किञ्च मिथुनम् आपिपीलिकाभ्यः, तत् सर्वमसृजत' (९) वे घोड़ी-घो बने–इस प्रकार सारी सृष्टि उनके संयोगसे बनी। इस प्रकार परमात्मा और वह स्त्री पशु-पक्षी, वेल-वृक्ष, चींटा-चींटी आदि रूपमें ब गये, और अलौकिक संयोगसे पशु-पक्षी, वृक्ष आदि सृष्टि पैदा होती ग इस प्रकार सारा जगत् वना। सो पश्यक परमात्मारूप कश्यप मुनिने प पक्षी, मत्स्य, वेल-वूटे रूपवाली स्त्रियोंमें उसी रूपमें सृष्टिके आदिमें सृ पैदा की; इसमें वादीके अनुकूल सृष्टिक्रम रहनेसे अव असम्भव कुछ नहीं रहा।

अन्य यह भी याद रखना चाहिये कि–आदिम सृष्टि केवल रजवी ही नहीं पैदा होती, वल्कि मानसी सृष्टि भी सृष्टि की आदिमें ह

करती है, दक्षसे पूर्व मानसी सृष्टि भी पुराणोंमें प्रसिद्ध है; सो उस समय जैसे पहलेकी पृथ्वीमें खेती करनेसे बहुत जल्दी और ज़ोरदार खेती होती है, उत्तरोत्तर खेती होते रहनेसे पृथ्वीकी शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती जाती है, फिर उस शक्तिके उत्पादनार्थ विशेष प्रकारके कीमियाई खाद देनेकी आवश्यकता पड़ती है, इसी प्रकार सृष्टिकी आदिमें मनोबल अधिक होनेसे पञ्चभूतोंमेंसे ही रज-वीर्यकी सामग्रियोंका संग्रह करके कई प्रकारकी सृष्टियां कर लिया करते थे। जिसकेलिए म.भा. (शान्तिपर्व) में लिखा है—'आदिदेवसमुद्भूता ब्रह्ममूलाऽक्षयाऽव्यया। सा **सृष्टिर्मानसी नाम** धर्मतन्त्रपरायणा' (१८८।२०) सो वे मनोबलसे विचित्र सृष्टि पैदा करनेमें क्षमता रखते थे। पीछे मानसिक शक्ति क्रमशः क्षीण हो गई; तो वे दैवी शक्ति अनुकूल करके यज्ञद्वारा सृष्टि उत्पन्न कर लिया करते थे, जैसे द्रौपदी-धृष्टद्युम्नकी उत्पत्ति। उसके बाद मैथुनी सृष्टि शुरू हुई। उसमें भी अमोघ-वीर्यतावश बिना भी गर्भाशयके उत्पत्तियां हो जाती थीं, फिर उसमें भी कमी आजानेसे पति-पत्नीका द्वन्द्व (जोड़ा) रखना अनिवार्य होगया। पद्मपुराणमें इसीको स्पष्ट किया है—'संकल्पाद् दर्शनात् स्पर्शात् पूर्वेषाँ सृष्टिरुच्यते। दक्षात् प्राचेतसादूर्ध्वं सृष्टिर्मैथुनसम्भवा' (सृष्टि. ६।२) (पूर्वजोंकी सृष्टि संकल्प द्वारा, दृष्टि-संयोग द्वारा, या छूनेमात्रसे हो जाती थी। दक्षके बाद मैथुनी सृष्टि प्रारम्भ हुई।)

केवल पुराणमें ही नहीं, वादिप्रतिवादिमान्य महाभारतमें भी लिखा है—'न चैषां मैथुनो धर्मो बभूव भरतर्षभ! सङ्कल्पादेव चैतेषामपत्यमुपपद्यते' (शान्ति. २०७।३८) (सृष्टिके आरम्भमें सत्ययुगमें मैथुन नहीं हुआ करता था। उनके संकल्पमात्रसे सन्तान पैदा हो जाती थी) ततस्त्रेतायुगे काले संस्पर्शाज्जायते प्रजा। नह्यभून्मैथुनो धर्मस्तेषामपि जनाधिप! (३९) (त्रेतायुगमें छू लेनेमात्रसे सन्तान हो जाया करती थी। उस समय भी मैथुन नहीं हुआ करता था।) द्वापरे मैथुनो धर्मः प्रजानामभवन्नृप! तदा कलियुगे राजन्! द्वन्द्वमापेदिरे जनाः' (२०७।४०)

(द्वापर युगमें साधारण लोगोंमें मैथुन शुरू हुआ। कलियुगमें फिर पति-पत्नीभाव शुरू हुआ।) अर्थात् पहले द्वापरयुगमें अमोघवीर्यताके कारण केवल शुक्रोत्सर्जनमात्रसे, बिना भी गर्भाशयके योगसे सन्तान उत्पन्न हो जाती थी। फिर कलियुगमें दाम्पत्य शुरू हुआ; तब पुरुषका शुक्र गर्भाशयमें पहुँचनेसे एकबारगी गर्भ हो जाता था; पर अब इसमें क्षीणता होजानेसे कई बार स्त्रीगमन करने पर भी सन्तान नहीं होती। सो यह युगोंकी शक्तिका भेद स्वाभाविक है, जिसका संकेत मनुजीने अपनी स्मृति में 'युगह्रासानुरूपतः' (१।८५) इन शब्दोंमें दिया है। सो कलियुगी मन्दबुद्धि-प्रतिपक्षीका सत्ययुगादिकी उत्पत्तिविशेषपर आक्षेप करना यह उसकी अनधिकार-चेष्टा है।

परिशिष्ट—विपक्षी लोग राजा प्रियव्रतके रथकी विशेषता जिससे उसने सूर्यकी परिक्रमा कर ली; पर असम्भव दोष दिखलाते हैं, इस पर वह अपने आर्यसमाजी श्रीब्रह्ममुनिजीकी वेदमन्त्रकी साक्षी देखें। 'अहं सूर्यस्य परि यामि आशुभिः' (ऋ. १०।४९।७) इस मन्त्रका अर्थ अपने 'निरुक्त-सम्मर्श' (पृ. २५२) में वे लिखते हैं—'अहं विज्ञानविद् राजा आशुभिः-आशुगामिभिः अश्वैः-वैद्युतशक्तिमद्भिर्यानैः-विमानैः प्रकृष्टम् उह्यमानः-नीयमानः, ओजसा-बलेन वेगेन सूर्यस्य परि-परितो यामि-गच्छामि। ऐश्वर्यस्य प्रभावो राजा च विज्ञानवित् च इत्यस्य ऐश्वर्यप्रभावो मनुष्यस्य स एव उत्कर्षो माम् आह-यदेतत् कर्तुं शक्यते इति मां ब्रवीति' यहांपर ऐश्वर्य एवं विज्ञानके आश्रयसे राजा सूर्यके पास जा सकता है यह बताया है।'

पृ. ९ पं. ८ के आगे—। 'नवभारत' पत्र (१३-८-६८) में 'अन्य ग्रहोंसे पृथ्वीपर प्राणी आते थे' इस शीर्षकमें 'प्राचीनकालमें अन्य ग्रहोंसे अन्तरिक्ष यात्रियोंके पृथ्वीपर आनेके सिद्धान्तका एक रूसी वैज्ञानिक खगोलवित् डा० फ्योदोरोवने सोवियट रूसके रक्षामंत्रालयकी पत्रिका 'रेडस्टार' में उक्त विषयमें एक लम्बा लेख लिखा है; इसमें उसने सूर्य और शनिग्रहके बीचके ग्रहोंसे पृथ्वीयात्रा करनेकी सामर्थ्यका समर्थन किया है; तब

शुकदेवका सूर्यलोकसे यहां आकर श्रीमद्भा, सुनानेमें विज्ञानका अनुग्रह भी सिद्ध हुआ।

(वादियोंकेलिए एक अच्छा नुसखा)

(४१) यह बातें आजके अल्पश्रुत तथा संकुचित-दृष्टिकोण वाले विपक्षियोंको समझ नहीं आती। इस विषयमें एक दृष्टान्त भी लीजिये। आजकल विज्ञानकी कितनी उन्नति हो रही है। कितनी ट्रेनें चल रही हैं, मोटर चल रहे हैं, हवाई जहाज़ वा जहाज़ चल रहे हैं। राकेट बन रहे हैं; जो अमेरिकासे देहली तक ३६ मिनटमें पहुँच सकते हैं। ऐटम बम बन रहे हैं। इन सबके बनाने वालों वा चलाने वालों वा ज्ञान रखनेवालों का संसारमें एक बड़ा विश्व-सम्मेलन बुलाया जाय, और एक-दो ऐटम बम वा हाईड्रोजन बम डालकर सभीको और उन आजकलके विज्ञानप्रणीत ट्रेन-तार टेलिफोन, टेली प्रिंटर, टेलीवीजन, रेडियो आदि सभी साधनोंको भी नष्ट कर दिया जावे; इस प्रकार तीन-चार हज़ार वर्ष बीत जावें; और कोई भी वैज्ञानिक नया आविष्कार न होवे; इस विषयमें पूरा अज्ञान फैल जावे; तब कोई पुरानी पुस्तक किसीको मिले; उसमें लिखा हुआ हो, कि—पहले लोहा (ट्रेन) भी बड़ी तेज़ीसे हज़ारों मन वस्तुओं और पुरुषोंका भार लादकर दौड़ता था, एक लोहा (तार) बजानेसे खबरें पहुँचाता था, हज़ारों मील दूर ठहरे हुए लोगोंका चित्र-दर्शन तथा संवाद सुनाता था; और यह हाल उन अज्ञानियोंको सुनाया जावे; तो वे कभी भी ऐसी बातें माननेकेलिए तैयार नहीं होंगे। आजकल ही इसका प्रत्यक्ष-प्रमाण देखिये।

हमारा एक चपरासी जो सनातनधर्म संस्कृत कालेज मुलतानके छात्रालयमें छात्रोंकेलिए रोटी बनाता था; उसने सन् १९२६ में हमें सुनाया कि—पूर्वकी ओर बहुत दूरके गांवोंमें रेल नहीं पहुँची है; अखबार नहीं जातीं, ऐसे संवाद नहीं पहुँच पाते; उन ग्रामीण लोगोंको ट्रेनका हाल मैंने सुनाया कि बहुत तेज़ दौड़ती है, उसका कोई भी मनुष्य वा

पशु दौड़कर भी मुकाबला नहीं कर सकता; तो वे सुनकर कहते थे कि तुम झूठ बोलते हो, उस गाड़ीमें उन्होंने कई बैल वा घोड़े छिपाकर र[ख] रखे होंगे, तुम उनको न देख सके होगे।

पहले-पहल जब अफ्रीकामें लाइन लगाकर रेलगाड़ी बना दी ग[ई] तो इञ्जन पानीके जहाज़ द्वारा विलायतसे आया; और उसका चाल[क] भी आया; तो उसने वहांके हब्शी मज़दूरोंको कहा कि—इस इञ्जन[को] उतरवानेमें और लाइन तक पहुँचवानेमें मदद दो; तब यह तुम्हें उठा[कर] दूरतक ले जाएगा; पर उन्हें इस बातका विश्वास ही नहीं आता था उन्होंने सहायता देकर इञ्जनको बड़ी मुश्किलसे जहाज़परसे उतरवा[कर] लाईनपर खड़ा किया; और वहां बने हुए छकड़ोंसे जोड़ा। उसमें कोयल[ा] एवं पानी भरा गया; आग जलाकर उसे गर्म किया गया; काफी सम[य] लग गया; यह सब बातें वे जंगली कौतूहलसे देखते रहे। तब ड्राइवर[ने] स्टीम तैयार होजानेपर इञ्जनकी सीटी बजाई; तब वे हब्शी डरक[र] भागे; तब उन्हें पुचकार कर रेलगाड़ी पर चढ़ाया गया; इञ्जन स्टा[र्ट] हुआ; वे सब बड़े हैरान हो रहे थे। उन लोगोंकी बुद्धिका जो मूल्य है वही मूल्य हमारे इन अज्ञानी वा अल्पश्रुत विपक्षियोंका है। सृष्टि[के] आदिमें आदिम ऋषियोंके मनोबल वा योगबल आदिसे जो बि[ना] मैथुनके विविध एवं विचित्र उत्पत्तियां की जाती रही थीं; जैसेकि स्वा.द[०] मान्य वैशेषिकदर्शनके भाष्य प्रशस्तपादभाष्यमें लिखा है—'तत्र अयोनिज[म्] **अनपेक्ष्य शुक्रशोणितं देव-ऋषीणां शरीरं धर्मविशेष-सहितेभ्योऽणुभ्[यो]** जायते' (द्रव्यग्रन्थ जलनिरूपणमें) अब वैसी शक्तियां न रह जानें [से] पुराणोंमें लिखित उन उत्पत्तियोंको 'गप्प है, गपोड़ा है, नामुमकिन है' इत्यादि कहकर उनको साधारण-जनदृष्टिसे अश्रद्धित कराते हैं; यह उ[न] जंगली हब्शियोंसे कुछ कम नहीं। इतना तो उनको जानना ही चाहि[ए] कि—जो पुराणोंकी बातें संवत् १९०० तक असम्भव समझी जाती थ[ीं] आज वे सं. २०२४ में बड़े धड़ल्ले-से हो रही हैं; और आज जो पुरा[णों]

की बातें असम्भव मालूम पड़ती हैं; वे २१०० संवत्में प्रत्यक्ष दृष्ट हो जावेंगी; यदि इस प्रकार विज्ञानकी उन्नति होती चली तो। तब वादीकी इस संकुचित बुद्धिका क्या मूल्य रहेगा? वह समय आवेगा, जो पुराणोंमें असम्भव और गप्प-गपोड़ा चिल्लानेवालोंकी गालपर थप्पड़ लगावेगा; ऐ वादियो! तुम्हें उचित है कि-उस समयके सिर नीचा करनेसे पुराणोंमें उल्लिखित उन आविष्कारोंपर श्रद्धा करके उन्हें मान लो, प्रच्छन्न-बौद्ध मत बनो; केवल देखे हुए चन्द्रमाके माननेवाले प्रत्यक्षैकमन्ता नास्तिक मत बनो।

इतना सोच लो कि पहले हमारे पूर्वज आध्यात्मिक तपोबल मनोबल वाग्बल आदिसे जो कार्य करते थे; वहीके वही कार्य आज आधिभौतिक, यन्त्रशक्तिसे हो रहे हैं। यदि तपोबल कभी बढ़ गया, क्योंकि-एक युगमें अन्य युगोंकी आवृत्ति भी क्रम-क्रमतः हुआ करती है, फिर सभी बातें प्रत्यक्ष-दृष्ट हो जावेंगी। आवश्यकता आविष्कारोंकी जननी होती है, दृढ मनोबल होने पर सब कठिन कार्य सरल होते चलेंगे; उस समय यही पुराण तुम्हारे मार्ग-द्रष्टा बनेंगे। अभीसे ज्ञान प्राप्त कर लो; अपने पूर्वजोंको व्यर्थ कलङ्कित मत करो; सब कार्य ठीक हो जायेगा। तुम्हारी सब शंकाओंका समाधान हो जायगा। यह हुई सृष्टिके आदिके आविष्कारोंकी बात।

शेष हैं व्यभिचारादिके प्रश्न; उसका भी तुम्हारे सम्प्रदायमें उत्तर विद्यमान है; वह है नियोग। तुम्हें यदि वे कई व्यवहार व्यभिचार मालूम पड़ते हैं; तुम समझ लो कि-यह पूर्व समयके विशेष नियोग हैं, उस समय उनकी शैली यही थी; स्वा.द.ने आकर नियोगकी अपने ढंगकी विचित्र शैली रखी, जो शास्त्रोंमें नहीं मिलती। यह स्वा. द.की अपनी इच्छानुसार गढ़ी गई है। सुना जाता है कि-कई दयानन्दियोंने विदेशमें बहुत समयसे रहनेवाले पुरुषकी स्त्रीको स.प्र. दिखलाकर उससे 'नियोग' करके कई सन्तान उत्पन्न कर दी थीं; जब वह दयानन्दी पुरुष विदेशसे वापिस लौटा, और उसे सब घटना मालूम हुई; तो वह इस व्यभिचारको न सहकर सपरिवार मुसलमान बन गया था; पुराने 'ब्राह्मण-सर्वस्व'के किसी अङ्कमें यह सूचना थी। इस प्रकारके दृष्टिकोणको जब रख लोगे; तो तुम लोगोंको सब समाधान प्राप्त हो जावेंगे। फिर उन नियोगोंको कलिवर्जित कर देनेसे उसमें आजकलके नियोगके हामी भी वादियोंको व्यभिचार मालूम पड़ता है, और वे उनपर कुतर्क करते रहते हैं। असलमें इनका अभिप्राय यह होता है कि-हमें भी इसकी खुली छूट मिल जावे। महाशय; जरा दृष्टिकोण व्यापक एवं विशाल बनाओ, संकुचित एवं साम्प्रदायिक दृष्टि छोड़ो, दूरदर्शिता अपनाओ; तब तुम्हें गालीगलौज़ करने वा इन अपनी क्षुद्र पुस्तकोंके बनानेकी आवश्यकता ही न पड़ेगी। यह हमने आपको थोड़ा सा संकेत दे दिया है, आशा है-तुम लोग समझ जावोगे। हमारी 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाको श्रद्धासे पढ़ते चलो; तुम्हारी सभी शङ्काओंके समाधान उसमें तुम्हें मिलते चलेंगे। अब आगे चलो।

(४२) ब्रह्माजीके देहसे यदि सर्पोंकी उत्पत्ति बताई गई है; तो सृष्टिकी आदिम दैवी शक्तिवश उसमें असम्भव कुछ नहीं। उनके देहमें देव, दैत्य, मनुष्य, भूत-पिशाच, पशु, पक्षी, सरीसृप आदि सभी शक्तियां विद्यमान थीं। सो कश्यपमुनिकी स्त्री क्रोधवशा, तथा ब्रह्माकी क्रोधवशा तनूमें भी वैसी उत्पत्तियाँ सृष्टिकी आदिम दशामें हो सकती थीं। अब भी तो ऐसी उत्पत्तियाँ आये दिन समाचारपत्रोंमें पढ़नेको मिलती हैं कि-अमुक स्त्रीके गर्भसे सर्प पैदा हुए, बन्दर पैदा हुए। आजके 'वीर अर्जुन (२-३-६८) में एक बच्चेके साथ तीन सर्पोंके भी पैदा होनेका वृत्त छपा है। आयुर्वेदको तो यह वादी भी दृष्टशास्त्र मानते हैं, उसमें लिखा है—'यदा नार्यौ उपेयातां वृषस्यन्त्यौ कथञ्चन। मुञ्चन्त्यौ शुक्रमन्योन्यमनस्थिस्तत्र जायते, (सुश्रुत. शारीर. २।४३) (दो नारियोंका यदि आपसमें संयोग हो जाय; और एकका आर्तव दूसरीके गर्भाशयमें किसी प्रकार

जा पड़े; तो उससे बिना हड्डीकी सन्तान उत्पन्न हो सकता है ।) यह तो दो स्त्रियोंका संयोग हुआ । अब एक ही स्त्रीकी बात सुनो । सुश्रुतसं.में कहा है—

'ऋतुस्नाता तु या नारी स्वप्ने मैथुनमाचरेत् । आर्तवं वायुरादाय कुक्षौ गर्भं करोति हि । मासि-मासि विवर्धेत गर्भिण्या गर्भलक्षणम् । कललं जायते तस्या वर्जितं पैतृकैः गुणैः (अस्थ्यादिभिः) । सर्पवृश्चिक-कूष्माण्डविकृताकृतयश्च ये । गर्भास्त्वेते स्त्रियाश्चैव ज्ञेयाः पापकृता भृशम्' (शारीरस्थान २।४४-४६) ऋतुस्नान करती हुई स्त्री पतिके न मिलने से वैसी वासना रखती हुई स्वप्नमें अपनेसे मैथुन कर रही हो, और उस समय उसका अपना ही रज उसीके गर्भाशयमें पहुँच जावे; तो वह धीरे-धीरे बढ़ता रहेगा; जब उसका प्रसव होगा; तो शुक्रके मेल न होनेसे उसमें हड्डी तो न होगी, या सांप बनकर वह लोथड़ा निकलेगा, या बिच्छू बनकर या पेठे (कुम्हड़े) की शकल बनकर निकलेगा । फलतः इस सर्पोत्पत्तिमें भी सृष्टिके आदिम मानसिक बलका विचार करके इसमें संशय नहीं करना चाहिये । सृष्टिकी आदिमें सब सम्भव होता है ।

(४३) जरासन्धके दो टुकड़ोंमें उत्पन्न होनेका कारण यह है कि—सन्तनार्थ आये हुए उसके पिता बृहद्रथको मुनिने अभिमन्त्रित फल दिया । उसकी दो स्त्रियाँ थीं; अतः फलके दो भाग करके उनको खिलाया, अथवा एक ही स्त्रीको आम्र फलके दो भाग करके खिलाये गये । 'यद् दुष्करं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुस्तरम् । सर्वं तत् तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्' (११।२३८) इस मनुजीसे कहे हुए तपोमाहात्म्यसे मुनिकी मन्त्रशक्ति भी अमोघ थी; तब फलके दो भाग करनेसे उत्पन्न लड़केके भी दो भाग हुए । जरासन्धकी माताको इस शक्तिके ज्ञान न होनेसे उसने वे दो टुकड़े श्मशानके घूरेपर फैंकवा दिये । वहाँ एक जरा राक्षसी रहती थी; आजकलके अनुसार वह सर्जरीकी विद्यामें निपुण थी; उसने वे दो टुकड़े सी दिये; जैसेकि—आजकलके डाक्टर ऑपरेशन किये शरीरके

भागको सी दिया करते हैं; तब पहलेकी अव्यक्त प्राणशक्ति जरासन्ध व्यक्त हो गई । बच्चा रोया; और वह उस राजाको दे आई । तपो एवं मन्त्रशक्ति न मानने वाले अभारतीय नास्तिककेलिए यह 'गपोड़ा' सकता है; पर मन्त्रशक्ति वा तप एवं योगशक्तिको माननेवाले भार के लिए नहीं । मन्त्रशक्तिकी सिद्धिकी महिमा योगदर्शनमें भी प्रसिद्ध उसे छिपाया नहीं जा सकता; और तपोबलको मनुजीने दुर्निवार मा है, यह हम बता ही चुके है, अतः इसमें संशय करना प्रच्छन्नबौद्धता अपनाना है ।

(४४) सरकण्डे पर अमोघरेताः शरद्वान्के शुक्रक्षरणसे कृप-कृपी उत्पत्तिमें असम्भव कुछ भी नहीं । अमोघ एवं दिव्य शुक्र प्राचीन सम गर्भाशय एवं रजकी अपेक्षा नहीं करता था; इसमें हम महाभारत संकेत पूर्व दे चुके हैं; अतः उससे विशेष उत्पत्ति सम्भव है । काम शुक्रपात हो जाना भी असम्भव नहीं । सन् १९१८ में आर्यसम शुजावाद (मुलतान) के वार्षिकोत्सव में एक सुन्दर दयानन्दिन उपदेशि मधुर शब्दोंसे लैक्चर कर रही थी; उस समय उसके रूप तथा वा माधुरीको देख-सुनकर एक श्रोता आर्यसमाजीका शुक्रपात हो गया वह प्रमेहका रोगी भी नहीं था । स्वा.द.जीने स.प्र.में लिखा है-'चा (किञ्चित्परिहाणि) जब साङ्गोपाङ्ग शरीरस्थ सकल धातु पुष्ट पूर्णताको प्राप्त होते हैं; तदनन्तर जो धातु बढ़ता है, वह शरीरमें रहता, किन्तु स्वप्न, प्रस्वेद आदि द्वारा निकल जाता है' (३ समु. पृ. पं. १८-२०) । सो स्वामीजीके अनुसार ४० वर्षके बाद शुक्र जब थो सी ठेस पड़ते ही सोते समय स्वप्नके द्वारा, और जागते हुए केवल पर्श नहीं, स्वामीने 'प्रस्वेद आदि द्वारा' यह 'आदि' शब्द भी साथ लिख सो आदि शब्दसे सभी-कुछ समझा जा सकता है—इस प्रकार जा अवस्थामें शुक्र धातुका स्कन्न हो जाना माना है । बृहदारण्यक 'सुप्त वा जाग्रतो रेतः स्कन्दति' (६।४।४) में जागते हुएका भी शुक्रस

सूचित कर दिया है; सो स्वाभाविकतावश इस पर वादीका आक्षेप कट गया।

पहले इस विषयमें हम मित्रावरुणके रेतःस्कन्दनमें वादिप्रतिवादिमान्य निरुक्तकी साक्षी भी दिखला चुके हैं। यह पद्य भी प्रसिद्ध है—'विश्वामित्र-पराशर-प्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशिनः, तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः'। वाल्मीकि-रामायणमें देखिये—'महर्षयो धर्मतपोभिकामाः कामानुकामाः प्रतिवद्धमोहाः' (४।३३।५७) इसका अर्थ आर्यसमाजी श्री-अखिलानन्द झरियाने लिखा है—'धर्मतपश्चर्यासे अलंकृत, मोहादि विकारोंसे निर्धूत महर्षि लोग कामासक्त देखे गये हैं' (पृ. ८८७) शुक्रकी अधिकता होनेपर उसमें ऊष्मा पहुंचते ही उसका स्कन्दन हो सकता है। जैसे स्वप्नमें किन्हींको होता है, वैसे जागरणमें भी अपवादवश कई वृद्धोंको हो सकता है। पहले हम वादीके स्वामीका प्रमाण भी दे चुके है।

(४५) भा. (३।१५।१) के अनुसार—जिसका अर्थ वादीने गलत किया है, १०० वर्ष दितिका गर्भ-धारण देवयोनिके अन्तर्गत होनेसे अनुपपन्न नहीं। यहां मनुष्ययोनि जैसी शैली नहीं देखनी चाहिये। वहां गर्भ भी वर-प्राप्त था, इस कारण उसमें विशेषता भी सम्भव थी। और फिर निवण्टुके अनुसार 'शत' शब्द नियतसंख्यापरक न होकर 'वहु' वाची भी होता है।

(४६) अर्बुद-सहस्र शिवकी दासी बताई गई हैं। शिवलोक इस लोकसे वहुत बड़ा है, इसमें इतनी संख्या असम्भव नहीं। शिवलोक द्युलोकमें हैं, द्युलोकमें तारे कितने करोड़ हैं, वे देवताओंके स्थान हैं, (तै. ब्रा. १।५।२।६) जव इतने स्थान हैं; तव उनमें देव-देवी कितने हो सकते हैं, यह वादी सोच ले।

(४७) कर्णके जन्ममें सूर्यने जव कुन्तीको कहा था कि—'योनिर्यथा न दुष्येत कर्ताऽहं ते सुमध्यमे! (भा. ६।२४।३४) तुम्हारी योनि दूषित नहीं होगी; तव वादीका प्रश्न कट गया। मूत्र वादी मुखसे नहीं पीता

होगा; पर आजकलकी डाक्टरीके अनुसार उसका इन्जेक्शन करवा लेना होगा। इससे वह मानेगा कि—मैंने मूत्र नहीं पीया, क्योंकि वह मुखसे अन्दर नहीं गया। इसी प्रकार योनि-द्वारा तेज अन्दर न जाकर दिव्य-विधिसे स्त्रीके अन्दर जावे; वह योनि-दूषण न होनेसे कन्यात्वकी क्षति करनेवाला नहीं होता। सूर्य देवता थे, मनुष्य नहीं थे। इसलिए वादि-मान्य महाभारतमें भी कहा है—'नचैवैनां (योनिगमनेन) दूषयामास भानुः' (३।३०७।२८) 'मनुष्यधर्मो दैवेन धर्मेण हि न दुष्यति' (आश्रमवासिक. ३०।२३)। सूर्याद् देवतायां चाप् (वा० ४।१।४८) सूर्यस्य स्त्री देवता सूर्या। सूरी कुन्ती-मानुषी इयम्' वेदाङ्गका यह सूत्र भी इस इतिहासकी साक्षी दे रहा है। यहां सूर्यको मनुष्यसे भिन्न बताया गया है। देवता लोग विना मैथुनके भी गर्भ कर लेते हैं। इसपर महाभारतका प्रमाण देखिये—'सन्ति देवनिकायाश्च संकल्पाद् जनयन्ति ये। वाचा दृष्ट्या तथा स्पर्शात्, संघर्षेणेति पञ्चधा' (आश्रम. ३०।२२)। इसकी स्पष्टता 'आलोक' (८) पृ. ४५८-५९ में देखो। तब वादीका आक्षेप कट गया।

(४८) राजा युवनाश्वके गर्भमें कारण अभिमन्त्रित जलका पान (९।६।२७) था; कोई मैथुन तो उसमें कहा नहीं गया, और न गर्भाशय ही था। मन्त्र तथा तपःशक्तिमें वड़ी सामर्थ्य होती है (आलोक ८ पृ. ४७१-४७२)। इसपर देखो शतपथ (१२।७।१।१-९)। 'विश्वरूपं वै त्वाष्ट्रमिन्द्रोऽहन्। तं त्वष्टा हतपुत्रोऽभ्यचरत्। सोभिचरणीयमपेन्द्रं सोममाहरत्। तस्य इन्द्रो यज्ञवेशसं कृत्वा सोममपिबत्। स विष्वङ् व्यार्च्छत्। तस्य इन्द्रियं वीर्यम् अङ्गाद्-अङ्गाद् अस्रवत् (१) यहांपर इन्द्रने त्वष्टासे अभिमन्त्रित सोमका पान कर लिया; इससे उसके अङ्ग-अङ्गसे कई उत्पत्तियां होगईं। समाचारपत्र-संसारमें एक पुरुषको बच्चा पैदा होनेका वृत्त आ चुका है। देखो हिन्दुस्तान देहली (१४-४-६४), 'संस्कृतम्' अयोध्या (३५।१७)। नवम पुष्प पृ, ५२७ देखो, तथा—उसका परिशिष्ट देखो।

(४९) मरुतोंकी उत्पत्तिपर ग्राक्षेप करता हुग्रा वादी भागवतके कुछ पद्य लिखता हैं कि—इन्द्रने गर्भके ७ टुकड़े, फिर ७ के ७-७ टुकड़े करके ४९ खण्ड कर डाले—'ते तमूचुः पाट्यमानाः···**नो जिघांससि किम् इन्द्र ! भ्रातरो मरुतस्तव**' (भा. ६।१८।६३)। यह केवल पौराणिक बात नहीं, वेदोक्त भी है, बल्कि वेदवाणीका शब्दशः ग्रनुवाद हैं। देखिये—ब्राह्मणभागात्मक वेदमें भी 'सप्तसप्त हि मारुतो गणः' (शत. २।५।१-१३) यहां मरुद्गण ७×७=४९ बताये गये है। स्पष्ट है कि—पुराणोक्त मरुतोंकी संख्या वेदानुकूल है। श्रीमद्भा. का जो पद्य ऊपर उद्धृत किया गया है, मन्त्रभागात्मक वेदमें भी उसका मूल देखिये—'किं नः [ग्रस्मान् मरुतः] **इन्द्र ! जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव**।...मा नः समरणे **वधीः**' (ऋसं. १।१७०।२) '**सप्त मे सप्त** शाकिनः' (ऋ. ५।५२।१७) इस मन्त्रके भाष्यमें श्रीसायणने उक्त इतिहास दिखलाया है। इस मन्त्रके मरुत् देवता (वर्णनीय) हैं। जब इस प्रकार वेद-पुराणके शब्दोंका भी पूरा मेल है; तब पुराणका खण्डक 'वैदिक-प्रकाशन संघ' ग्रब वेदके भी खण्डक ट्रैक्ट छपवाना शुरू करे। धन-प्राप्ति ग्रच्छी हो जायगी। मरुत् देवता थे, देवताग्रोंके ग्रमर होनेसे (यह वेदमें मनुष्योंके 'मर्त्य' ग्रौर देवताग्रोंकेलिए 'ग्रमर्त्य' शब्द ग्रानेसे स्पष्ट है। देखो 'ग्रालोक' (४)। वे इन्द्रसे काटे जानेपर भी न मरे, बल्कि ४९ संख्याके हो गये।

(५०) देवकीके गर्भपरिवर्तनमें, रोहिणीमें पहुँचाने (१०।२।८) का कारण भगवान्की योगमायाको बतलाया गया है, वह भगवान्की शक्ति है। उस योगमायाकी प्रबलताके विषयमें वादीसे मान्य देवीभागवतका प्रमाण हम पहले दे चुके हैं। भगवान्की शक्तिमें 'ग्रसम्भव' शब्दका प्रयोग नास्तिकता है।

(५१) शशविन्दुकी दस हजार ग्रौरतें, उनमें १० लाख लड़के बताये गये हैं (६।२३।३२-३३) श्रीमद्भा. (९.२३।३१) में उसे 'शश-बिन्दुर्महायोगी महाभोजो महान् ग्रभूत्' '**महायोगी**' बताया गया है।

योगीमें ग्रणिमा, प्राप्ति ग्रादि विशेष शक्तियां होती हैं। योगीके लि ग्रसम्भव तो कुछ रहता ही नहीं। इसीलिए कार्तवीर्यको श्रीमद्भा (९।२३।२४) में 'प्राप्तयोगमहागुणः' योगी बताया गया है। उसी फलस्वरूप उसे 'पञ्चाशीति-सहस्राणि ह्यव्याहतबलः समाः' (२६ पचासी सहस्र वर्ष तक बलवान् रहनेवाला कहा है। योगकी शक्ति वर्णन समझना हो; तो योगदर्शनके विभूतिपादको देखो। स्वा.द.जी उसे **क्रियात्मक सिद्धशास्त्र** बताते हैं। (श्रीमद्दयानन्दप्र.)। इतनी ग्रायु विषयमें ग्रन्यत्र देखो। तथा 'स्वयं च जीव शरदां **यावदिच्छसि**' (कठ. १।१।२३) तथा 'विवस्वान् नो ग्रमृतत्वे दधातु। परैतु मृत्युरमृ न ऐतु।...मा ऊ षु एषामसवो **यमं गुः**' (ग्र. १८।३।६२) ब्रह्मचर्ये तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत (ग्र. ११।५।१९) ग्रादि मन्त्रों का मन करो।

कई विशेष योगी हुग्रा करते हैं, वे इन्द्रियसे पिचकारीकी भांति पहले पानी खींचनेका, फिर दूध, फिर तेलके खींचनेका ग्रभ्यास करते हैं, फिर पारा खींचनेका। जब यह ग्रभ्यास हो जाता है जोकि बड़ा कठिन है; फिर वे वीर्यका उत्सर्जन गर्भाशय में करके फिर इन्द्रिय-द्वारा उसका ग्राकर्षण करके फिर वही पहलेकी शक्ति प्राप्त करके उस वीर्यको दूसरी स्त्रीके गर्भाशयमें डालते हैं। गर्भ होजानेकेलिए ग्रमोघ-वीर्य पुरुषका एक शुक्राणु भी काफी होता है।

यदि कोई ऋतुकालगामी हो; ग्रौर ग्रमोघवीर्य भी हो; तो ग्रपनी बहुत-सी स्त्रियोंको प्रकृतिके नियमवश पूर्व नियमके ग्रनुसार सभीको गर्भवती कर सकता है; क्योंकि एक स्त्री एक समयमें बहुतसे पुरुषों संयोग प्राप्त करे, फिर भी प्रकृतिनियमवश उस स्त्रीकी एक ही सन्तान होती है; पर बलवान् पुरुष ग्रपनी बहुतसी स्त्रियोंको उसके ऋतुकाल एक मासमें गर्भिणी कर सकता है; ग्रौर फिर चरक-संहिता (चिकि २।४० चतुर्थपाद) के ग्रनुसार ७० वर्षतक (जबकि १०० वर्षकी परमा

हो) गर्भ कर सकता है।

पहले समयकी दीर्घ आयुके अनुसार (स्वा. द. जी परमायु ४०० वर्षकी मानते हैं) तो ३५० वर्ष तक तो स्त्रीसन्तुष्टि कर सकते हैं; और फिर योगी तो हजारों वर्षकी अपनी आयु कर सकता है। 'आलोक' (६ पृ० ७४७-७६३) के अनुसार एक ही समयके संयोगसे एक स्त्रीके जब बहुतसे लड़के हो सकते हैं; आजके अशक्तिके समयमें भी बहुतोंकी 'पुत्रोंकी खेती' समाचारपत्र-संसारमें सुनी जाती है, इसमें असम्भव कुछ भी नहीं रहता।

अथवा वादीकी बुद्धि तंग होनेसे उसमें हमारा यह विषय प्रवेश न कर सके, तो 'आलोक' (७) (पृ० ८९-९०) के अनुसार यह समझ ले कि पौराणिक-कालमें संख्याके साथ दिया हुआ 'सहस्र' 'लक्ष' शब्द 'हजार' लाख' संख्याको नहीं बताता; किन्तु उससे पूर्वकी संख्याको ही स्थिर रखता है। इस शैलीसे शश-बिन्दुकी पत्नियां १०,००० हजार न समझकर १० पत्नियां ही समझ लेनी चाहिये; वहां सहस्रकी संख्या उनकी सहस्र-वाली शक्ति बताती थी; हजार संख्या नहीं बताती थी। १० लाख पुत्रों का अर्थ न समझकर उसमें 'लक्ष'-शब्दको 'बहु' वाची समझकर १० लाखकी शक्ति रखने वाले १० पुत्र वा १०० पुत्र समझ लेने चाहियें।

इस हिसाबसे राजा दशरथकी रामायण में कही हुई ६० सहस्र वर्षकी आयुका भाव ६० वर्षकी आयु समझ लेनी चाहिये। एतदादिक स्थलोंमें 'सहस्र' शब्द केवल 'बहुत' अर्थ बताता है। अथवा एक भी पुत्र वा स्त्री सहस्र-संख्याकी शक्ति रखते हैं, यह भी वहां तात्पर्य निकल सकता है। जैसेकि सिखोंके गुरु गोविन्दसिंह एक बहादुर सिखको 'सवा लाख' का बताते थे—'सवा लाखसे एक लड़ाऊं' वैसे यहाँ भी पुत्रोंकी बलवत्ताके कारण सौ पुत्रोंको दश लक्ष सहस्र कहा जा सकता है। 'यदुवंशके शिक्षक ३ करोड़ ८८ लाख (१०।९०।४१) और उग्रसेनके १ नील (९०।४२) सैनिक थे, इसपर भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिये।

'अर्बुद' १० करोड़ वाचक है; पर वह 'बहुत' अर्थमें भी आता है। जैसेकि निरुक्तमें 'अर्बुदो मेघो भवति···स यथा महान् बहुर्भवति वर्षन्, तदिव अर्बुदम्' (३०।१०।१) इस प्रकार पुराणमें जहाँ 'अर्बुद' संख्या आवे; वहाँ भी बहुत्वमें पर्यवसान समझना चाहिये।

(५२) इस प्रकार के अन्य आक्षेपोंपर (कालयवनकी ३ करोड़ सेना (१०।५०।४५) आदिपर) भी इसी तरह जान लेना चाहिये। शेष रहा मथुरा प्रान्तमें कालयवन की सेनाका समा सकना; पहले मथुरा, अयोध्या तथा कुरुक्षेत्रके मैदान बड़े-बड़े होतेथे। दिल्लीके केवल रामलीलामैदानमें ही तो १० लाख आदमी समा जाते हैं। कुरुक्षेत्रके मैदानमें तो १८ अक्षौहिणी सेनाका निवास एवं युद्ध बताया गया है। सो वादीकी अपनी तंग बुद्धिमें इन विषयोंको कई बार डलवाकर चौड़ा करा लेना चाहिये, फिर उसमें सभी प्रकारके विषय प्रवेश पा सकेंगे। आज सारी पृथ्वीके मिलाकर ३ करोड़ सैनिक न हों; परन्तु पुराने समय में भी न हों, यह मिलान व्यर्थ है। आज आये दिन गर्भपात होरहे हैं, गर्भनिरोध हो रहे हैं, लूप आदि का प्रयोग हो रहा है; इसलिए हिन्दुस्तानके हिन्दुओंकी संख्या कम हो रही है; पर पहले यह पापकर्म समझकर नहीं किया जाताथा; अतः संख्या बड़ी थी।

(५३) पूतनाका शरीर (१०।६।१४) जब वह मानुषी रूप बनाकर आई; तो उसने उसे छोटा कर दिया था, इसलिए वह नन्दके घर घुस सकी; पर मरने पर राक्षसी होनेसे उसका स्वाभाविक शरीर बहुत बढ़ गया था। जैसे रबड़ का सांप दबाकर छोटे डिब्बेमें रख दिया जाय; तो वह सिकुड़ा रहता है, फिर उसे बाहर निकाल दिया जाय; तो वह बड़ा होजाता हैं। (भा. १०। पू. ६।१३) तब उसके देहके छटपटाकर गिरनेसे छः कोसके वृक्ष चूर्ण होगये। जैसे एक मस्त हाथी सारे बनके वृक्षों को तोड़ डाले। सो उसका शरीर-बल इतना तो बड़ा नहीं होता; पर इधर-उधर पतन (गमन) के होनेसे सारे बनको वह तोड़ देता है; इसी

तरह राक्षसी पूतना भी मरनेके समय पतन(तड़पने) को प्राप्त हुई। जैसे सांपको मार दो, फिर भी वह बहुत देर तक तड़पता रहता है, शीघ्र उसकी प्राणवायु समाप्त नहीं होती; वैसे दिव्य योनि होनेसे राक्षस भी जल्दी नहीं मरता, पर महान् शक्ति होनेसे उसके तड़पनेसे छः कोसके वृक्ष चूर्ण होनेमें कोई आश्चर्य नहीं। पहले भी हम (१३ स.)इस विषयपर लिख चुके हैं।

(५४) हस्तिनापुरके हलमूसलद्वारा उखाड़ने के (१०।६८।४२) विषयमें यह जानना चाहिये कि बलरामका हल खेतीका नहीं था कि एक व्यर्थका भार हर समय कन्धे पर उठाते फिरते; या उसे ठेलते चलते;, वह हल की आकृति का एक भयानक शक्तिशाली अस्त्र-विशेष था। उससे सुदर्शन-चक्रकी भांति बहुतसे काम निकाले जाते थे। एक स्टेशन एक जगह गलत स्थान पर बना दिया गया था, तब उसकी नींव उखाड़कर उसे यन्त्रोंसे अन्य स्थान लेजाया गया था, ऐसा पुराने समाचारपत्रोंमें वृत्त आया था; तब हस्तिनापुर उखाड़नेमें भी आश्चर्य नहीं। भूकम्पसे ही सारा नगर झूलेकी भांति झूल जाता है। सो सारी पृथ्वीके हिलानेकी शक्ति अग्निमें होती है; पृथ्वीके स्थिर करने वाले शेषके फणके इधर-उधर करनेमें होती है, इस प्रकार शेषके अवतार बलरामके आग्नेयास्त्र-विशेषमें भी भारी शक्ति जान लेनी चाहिये।

(५५) 'गोमूत्रमें पका दलिया (६।१०।३४) पानी के अभावके कारण नहीं बनाया जाता था; किन्तु वह भरतजी की एक ब्रह्मचर्यरूप कड़ी तपस्या थी। गोमूत्र एक शुद्ध तथा लाभप्रद वस्तु है। (पञ्चम पुष्प पृ. ५०७-५१४ को देखो।) उससे सब प्रकारके रोग जैसे पेटमें पानी पड़ जाना आदि दूर होते हैं। गोमूत्रकी शक्तिके विषय में 'आलोक (५, पृ. ५०७-५१२) में देखो। मनुजीने भी प्रायश्चित्तोंमें गोमूत्र-गोबरका उपयोग बताया है (११, ९१, १०९. 'पञ्चगव्यं विशोधनम् (११।१६५) ११।२१२ (कृच्छ्र सान्तपन में भी गोमूत्र-गोबर का प्रयोग अनुशिष्ट है),

तब क्या मनुस्मृति वाममार्गीय सभ्यता बताती है? मुलतानमें एक फिरायालाल हकीम देहली दरवाजेके बाहर रहता था। वह रोगी मुसलमानोंको दवाई देता ही गोमूत्र था, हाँ, उनको पता नहीं लगने देता था; और वे स्वस्थ होजाते थे। आजकलके डाक्टर तो अपने मूत्रके इनजैक्शनके लाभ भी प्रमाणित करते हैं।

(५६) राजा प्रियव्रत ब्रह्माके वंशज होनेसे सिद्धि-सम्पन्न लोकोत्तर-शक्तिशाली देवकल्प एवं आदि सृष्टि के थे। उनका रथ भी अद्भुत दिव्य ज्योतीरूप, अलौकिक योगशक्तिमय था। (५।१।३१)। राजामें देवांशता तथा योगशक्तिके कारण अणिमामहिमा-प्राप्तिवशित्व आदि योगियों वाली सिद्धियां होनेसे उनके रथकी नेमि-द्वारा खोदनेसे—जैसे कि आजकलके यन्त्रोंसे नदियाँ खोदते हैं—वहाँ द्वीप एवं समुद्रोंका निर्माण बीजरूपसे समझ लेना चाहिये। भाषाकी विचित्रतावश वहाँ उसका तात्पर्यमात्र समझना चाहिये। जैसे बड़के बीजमें लाखों पत्ते, पचासों स्कन्ध होते हैं; समय पाकर वे विकसित होजाते हैं, इस प्रकार प्रिय-व्रतके द्वारा भी सात समुद्र एवं द्वीप बीजरूपमें थे; फिर वे ही समय पाकर विस्तीर्णरूपमें हुए। ब्रह्माके वंशज होनेसे वह शक्ति भी राजामें ईश्वरदत्त ही थी।

(५७) क्षारोदेक्षुरसोद सुरोदघृतोद क्षीरोद दधिमण्डोद शुद्धोदाः सप्त जलधयः (५।१।३३)क्षार, इक्षु, सुरा, घृत, दधि, मधु जलके समुद्रोंके विषयमें संज्ञा समझनी चाहिये; वैसा कुछ गुण वा विशेषता देखकर जलविशेषोंकी यह संज्ञा समझनी चाहिये। यह वर्णन केवल पौराणिक नहीं है, योगदर्शनमें भी प्रसिद्ध है। देखो उसका स्वा. द. जीसे भी समर्थित व्यासभाष्य(विभूति, २६); तब पुराणपर ही दोष क्यों? ज्यौतिष के प्राचीन पुस्तकोंमें भी उनका वर्णन मिलता है। तब पुराणोंपर दोष देना वादीकी अल्पश्रुतता है। जैसे अब भी लालसागर, नीलसागर अन्धमहासागर, अटलांटिक आदि समुद्रोंको संज्ञाएं हुआ करती हैं।

इनका सङ्केत 'घृतह्लदा, मधुकूलाः, सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा, उदकेन, दध्ना। एतास्त्वा धारा उपयन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमानाः। उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः (अ. ४।३४।६) इस वेदमन्त्रमें भी मिलता है। सो यह ब्रह्माण्डका वर्णन समझ लेना चाहिये। पुराणमें केवल हमारी पृथ्वीका ही वर्णन नहीं समझ लेना चाहिये, किन्तु द्युलोक भी साथ ही समझना चाहिये। 'उपस्तिरे पृथिवीं सूर्याय' (ऋ ५।८५।१) यहाँपर सूर्यके भ्रमणार्थ 'पृथिवी'का अर्थ अन्तरिक्ष है। 'तृतीयस्यां पृथिव्यां' (कृ. यजु. तै. सं. १।२।१२।१) में पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक तीनों को 'पृथिवी' शब्दवाच्य लिखा है। सो पुराणमें जहाँ पृथिवीका विशाल निरूपण हो; वहाँ पृथिवी, अन्तरिक्ष, और द्युलोक तीनोंकी पृथिवी समझनी चाहिये। उनमें यह सभी वस्तुएं सम्भव हैं। द्युलोकमें भी तो समुद्र हैं।

ज्यौतिषकी प्रसिद्ध पुस्तक, स्वा. द. से भी मान्य 'सिद्धान्तशिरोमणि' में भी इन समुद्रोंका गोलाध्यायमें वर्णन मिलता है। देखिये—'भूमेरुर्ध्वं क्षीरसिन्धोरुदक्स्थं जम्बूद्वीपं प्राहुराचार्यवर्याः। अर्धे चास्मिन् द्वीपषट्कस्य याम्ये क्षीर-क्षाराद्यम्वुधीनां निवेशाः (२१) लवण-जलधिरादौ-दुग्धसिन्धुश्च तस्माद्, अमृतममृतरश्मिः (चन्द्रः) श्रीश्च यस्माद् बभूव (२२) यहाँ पर पुराणकी भाँति क्षीरसमुद्रका मथन और उससे अमृत, चन्द्र, लक्ष्मी आदिका निकलना और विष्णुका वहाँ निवास बताया है। **'दध्नो घृतस्येक्षु रसस्य तस्मान्मद्यस्य च स्वादुजलस्य चान्यः** (२३) इन पद्योंमें भी पुराण की तरह इक्षु, दधि आदिके ७ समुद्र कहे गये हैं। अब स्वा. द. जीसे मान्य योगदर्शनके व्यासभाष्यमें देखिये—**'इक्षुरस-सुरा-सर्पिर्दधि-मण्डक्षीर स्वादूदकाः; सप्तसमुद्र वेष्टिताः,** (४।२६) अब उसके अपने मान्य भाष्यमें भी वे ७ समुद्र मिल जाने से इन समुद्रोंका ढूंढनेका वादीपर भी दायित्व रहा।

(५८) गजेन्द्र और नक्र यदि सहस्रवर्ष तक (८।२।२९) लड़ते रहे;

यहाँ 'सहस्र' शब्द 'बहु' संख्यापरक भी जाना जा सकता है। दूसरा यह गन्धर्व शापवश इस रूपमें थे। गन्धर्व देवता होते हैं। देवताओंकी अवस्था भी बड़ी होती है। वर्तमान सूर्य देवताकी भी अवस्था इस समय १,९७, २९,४९,०६७ वर्ष की है। 'इतने दिनों तक विष्णुजी कहाँ सोते रहे, यह आक्षेप व्यर्थ है; हमारा रेडियो बन्दकर रखा हुआ हो; तो हमें कोई भी वृत्त सुनाई नहीं देगा। जब तक भगवान् का आह्वान आर्त होकर न हो; तब तक उनका रेडियो भी बन्द रहता है; तब उनका गमन वहाँ कैसे हो? कोई भी प्राणी पहले तो भगवान्‌को बुलाता नहीं; अपनी शक्तिके अभिमानमें चूर रहता है। जब पानी उसके सिरपरसे गुजरने लगता है; तब आर्त अवस्थामें उसे पुकारता है। तब आर्त भक्तकी बात भगवान् शीघ्र सुनते हैं। पहलेके देवयोनि होनेसे आरूढपतितत्व-वश इस गजयोनिमें भी पूर्वका ज्ञान होनेसे वह गन्धर्व भगवान्‌को पुकार सका। एक हाथीका मनुष्यकी भाँति बोलना हम नवनपुष्पके आदिम निबन्धमें आर्यसमाजी श्री लेखराम आर्यमुसाफिरकी साक्षीसे बता चुके हैं। आर्यमुसाफिर को विपक्षी झूठा नहीं मानता होगा।

(५९) विलक्षण भूगोल, (५।२०।२-३८) पृथिवीके ५० करोड़ योजन होनेपर तथा विलक्षण नामवाले द्वीपों पर सन्देह प्रकट किया जाता है। इसपर यह याद रखना चाहिये कि—आजकल पृथ्वीकी मध्यरेखा अर्थात् व्यास आठ हजार मील माना जाता है। नापनेका ढंग सबका अपने ढंगका होता है। पुराणमें सारी पृथ्वीका नाप पृथ्वीके गोल होनेसे उसे तीन बार परस्पर गुणा (घन) करके और उसे आधा करके किया गया है; क्योंकि गोल वस्तुके नापनेका यही तरीका होता है। पृथ्वीका व्यास आजकल ८००० मील होनेसे उसका परिमाण एक हजार योजन होता है। इस एक हजार को परस्पर तीन बार गुणा (घन) करनेसे १०० करोड़ योजन बैठता है; उसका आधा ५० करोड़ योजन ठीक हुआ; क्योंकि गोलपदार्थके घनफलकेलिए यही हिसाब करना पड़ता है। फिर

जम्बूद्वीप आदि संस्कृत संज्ञाएं है। यह एशियाका नाम है।

अन्य यह भी याद रखना चाहिये कि—परिमाण भी देशकालभेदवश बदलते रहते हैं। पहले रुपयेके १६ आने एवं ६४ पैसे होते थे; पर सन् १९५७ से उसके १०० पैसे हुए हैं। पहले रास्ते नापनेके गज़ होते थे, आजकल किलोमीटर होते हैं। पहले पाव-सेर होते थे, आजकल किलोग्राम होते हैं। इस प्रकार कपड़ेके, दूध आदिके नापनेके परिमाण भी मीटर, लीटर आदि भिन्न नाम तथा भिन्न रूपमें हो गये हैं। देशकालोंमें कई परिवर्तन यथा-समय हुआ करते हैं। पहले 'आकाशवाणी' क्या होती थी; आजकल की 'आकाशवाणी' (रेडियो) क्या है? तब इन परिवर्तनोंकी एक बनानेकी कल्पना जैसे हास्यास्पद है; वैसे वादीकी यह चेष्टा भी हास्यास्पद है।

कई देशोंमें नामोंके साथ ७४॥ लिखनेकी चाल है। कई इसे 'श्री' का बिगड़ा हुआ मानते हैं; पर कई जानकार कहते हैं कि—मुसलमानोंने अपने भारतमें आक्रमणके समय शुरूमें इतने हिन्दु मारे कि उनके जनेउओं को तोला गया; तो ७४॥ मन निकले। यह भी कहा जाता है कि—उस समय १ मन आजकल के ४ सेरका माना जाता था। फलतः आजकलके वैज्ञानिकोंके दृष्टिकोण से—जिनके पास आधिभौतिक यन्त्र हैं—पिछले आनुमानिक परिमाणोंको मिलाना या उसपर उलाहना देना—यह वादी की अज्ञताकी पराकाष्ठा है। इस प्रकार नियुत-योजन मत्स्यावतारकी विशालता (भाग. ८।२४।४४) भी समझ लेनी चाहिये। वह देव था; उसमें अणिमा आदि वश इतना बड़प्पन होते हुए भी वह थोड़े स्थानमें दीखता था। जैसे सूर्य १३ लाख पृथ्वी—इतना बड़ा है, फिर भी थालीइतना दीखता है। इतने बड़े सूर्यको हमारा छोटा मकान आवृत कर लेता दिखाई देता है, जिसमें उसकी धूप भी नहीं पहुंच पाती; तब क्या सूर्य हमारे मकानसे भी छोटा है? इसी तरह यहाँ भी समझ लो। उस समय सब प्रलय का जल व्याप्त था, तब वहाँ इतनी लम्बाई-चौड़ाई में क्या आश्चर्य?

(६०) देवताओं की विचित्र सवारियों (८।१०।९-११) पर वादीने

फबती कसी है-यह सब दिव्य थे। सूर्यदेव, अब भी वृश्चिक (बिच्छू) राशि वा कर्क (केंकड़े) पर चढ़ते हैं, तब क्या वादी उन्हें लौकिक बि... वा केंकड़ा समझ लेगा? वैदिक निघण्टु (१।१५) में इन्द्रका वाहन ... (घोड़ा), अग्निका रोहित (लालमृग) सूर्य के हरे घोड़े, अश्विनों का रा... (गधा) जिसका वर्णन, 'तद् रासभो नासत्या! (अश्विनौ!)' (... १।११६।२) इत्यादि मन्त्रों में आया है, पूषाके बकरे, मरुतों की मृगि... उषाकी लालगौएं, कही गई हैं। स्वा. द. जी ने 'यादृशी शीतला... तादृशो वाहनः खरः, (स. प्र. ११ समु.) यहां शीतलादेवीके वाहन गधे... उपहास किया है। वस्तुतः इस सबमें रहस्य गर्भित होते हैं। अब ... वैदिक-विज्ञानकी परम्परा लुप्त हो गई है। देखिये—यहां अश्विनोंका ... गधोंका बताया गया है। अश्विनीकुमार देवताओंके वैद्य माने जाते हैं... इसका यह तत्त्व भी निकल सकता है कि-गधा वैद्यके समझनेकी चीज है... इसलिए वैद्य डाक्टरका नाम भी संस्कृतमें 'गदहा' आता है। यह बा... डाक्टरजी अपनी उपाधि याद रखें, शीतलाका वाहन भी गधा माना ग... है। यदि गधीके दूधकी एक वा दो बिन्दु छोटे बच्चेको चटवा दी जा... तो उसे कभी बड़ी शीतला निकलनेका डर नहीं रहता। अंग्रेज लोग ग... के दूधमें बच्चों को स्नान कराते हैं। यदि गधेकी लीदकी धूनी... जावे, तो शीतलावाले बच्चेको लाभ पहुँचता है। गधे का पेशाब जहां... हुआ हो, वहां पुरुष पेशाब कर दे; तो उसे आतशककी बीमारी होती... इत्यादि रहस्योंका अन्वेषण करना चाहिये। केवल आक्षेपमात्र-शूर बनने... कुछ शोभा नहीं। इतना इस वादीका दिमाग नहीं कि-देवता तथा ... दिव्य मूषकों वा गिरगिटों पर चढ़े हो सकते हैं। वे भला प्राकृत, खरगो... बगुला आदि पर कैसे चढ़ें? हनुमानादि वानर थे, पर दिव्य, उन... शक्ति रामायणमें प्रसिद्ध है, यह 'आलोक' (९) के पहले निबन्धमें देखो...

वादीकी मान्य 'आनन्दरामायण' में भी कहा है—'न ज्ञेया वान... तेपि सर्वे देवांशसम्भवाः' (राज्यकाण्ड ३।५१) इस प्रकार विपक्ष...

आक्षिप्त देववाहनोंको भी देवावतार समझना चाहिये। जैसेकि निरुक्तमें भी कहा है—'आत्मा एव एषां [देवानां] रथो भवति, आत्मा अश्वः [वाहनम्], आत्मा आयुधम्, आत्मा इषवः, आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य' (७।४।१५)

(६१) प्रह्लादकेलिए 'कामातुरः' 'शिश्नोऽन्यतः' (७।९।३९-४०) आदि शब्द देखकर वादीके अज्ञानपर तर्स आता हैं। प्रह्लाद दैत्य था। दैत्य देवयोनि के अन्तर्गत होते हैं। इसीलिए अमरकोषमें दैत्योंके नाम भी स्वर्गवर्गमें देवताओंके साथ आये हैं। उन्हें 'पूर्वदेवाः' (१।१।१२) वा देवताओंके बड़े भाई कहा जाता है। जैसाकि—'द्वया प्राजापत्या देवाश्च असुराश्च। ततः कानीयसा एव देवाः ज्यायसा असुराः, त एषु लोकेषु अस्पर्धन्त' (शत० १४.४।१।१)

दैत्यों और राक्षसोंको सुश्रुत सं० (उत्तर. ६०।७) में 'देवगण' में रखा गया है। देवताओंको वेदमें 'नित्ययुवा' (ऋ. ८।३०।१) कहा गया है। वे बचपनमें भी वा वृद्धावस्थामें भी 'युवा' रहते हैं। सो भोगयोनि होनेसे और फिर दैत्य होनेसे उसमें काम होना असम्भव तो नहीं; पर यहाँ तो जनताका प्रतिनिधि बनकर उसने सामान्यरूपसे कहा है।

जैसेकि एक संस्कृतका विद्वान् होता हुआ भी लैकचरार जनता को अपने नामसे कहता है कि 'हम इतने निकम्मे और 'काला अक्षर भैंस बराबर' होगये हैं कि—संस्कृतका ज्ञान भी प्राप्त करना नहीं चाहते'। सब जानते हैं कि—उस संस्कृतज्ञका यह वचन उसके अपनेलिए न होकर जनताकी प्रतिनिधितासे है। अत्यन्त क्रोधमें आये हुए नृसिंह-भगवान्‌को देवता भी जब शान्त न कर सके; और उनके पास न जा सके; तब उनने प्रह्लादको शान्त करनेकेलिए भेजा; तब उसने विनीत होकर उक्त शब्द कहे। भक्त विनयमें भगवान्‌की आरती करता हुआ बोलता है—'मैं मूरख खल कामी कृपा करो भर्ता' सो वस्तुतः स्वयं वैसा न होते हुए भी विनय-प्रकाशनार्थ कहा जाता है।

(आर्यसमाजने भी सनातनधर्मी पं० श्रद्धारामकी बनाई 'जय जगदीश हरे' इस आरतीको स्वीकार किया हुआ है; यह स० ध० की विजय है। यहाँ 'मैं सेवक तुम स्वामी' इतना अंश उन लोगोंने बदल दिया है। अस्तु।)

तभी तो 'भागवत' में 'तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः' (७।९।४५) यहाँ प्रथम-पुरुषके बहुवचनका प्रयोग हमारे पक्षको सुस्पष्ट कर रहा है।

(६२) 'बुढापा-जवानीकी अदला-बदली (९।१८।३८-४५) को आक्षिप्त करता हुआ वादी अपना वर्तमान-विज्ञानसे भी अपरिचय बता रहा है। इसपर वह आजकल वैज्ञानिकोंका ग्लैण्ड्स-परिवर्तन (ग्रन्थि-परिवर्तन) याद रख ले। बूढ़े-बन्दरकी ग्रन्थियाँ जवानमें और जवानकी ग्रन्थियां बूढ़े बन्दरमें परिवर्तन कर देनेपर बूढ़ा जवान बन गया और जवान बूढ़ा बन गया था। इतना अवश्य है कि—आज जो बात यान्त्रिक-शक्तिसे कर दी जाती है, पहले युगमें वही बात आध्यात्मिक-शक्तिसे की जाती थी। बूढ़े माता-पिताको जवान कर देना वेदमें भी जहां-तहां आता है (ऋ, ४।३६।३, १०।३९।४)। बूढ़े च्यवनमुनिका जवान होना वेदमें भी प्रसिद्ध है (ऋ. १।११७।१३, ११८।६, ७।७१।५, १०।३९।४)। उपवेद आयुर्वेदमें भी इसमें 'च्यवनप्राश' प्रसिद्ध ही है।

(६३) 'आत्मन्यग्नीन् समारोप्य मच्चित्तोऽग्निं समाविशेत्' (११।१८।११) यहाँ अग्निका अपनेमें समारोपण और अग्निमें अपना समावेश भी भावनाके द्वारा मानसिक ही है; वादीके अनुसार जल मरना नहीं है। वानप्रस्थी सदा अग्निहोत्रमें रत रहे—यह तात्पर्य है।

(ख) ७।१२।२१ में जोकि वानप्रस्थीको श्मश्रु वा जटा आदिका धारण करना लिखा है, वह वैसा है, जैसाकि वेदने बताया है—'दीक्षितो 'दीर्घश्मश्रुः' (अ० ११।५।३) अतः जंगली नहीं। स्वा. द. जीने सं० वि० में यहां पञ्चकेश धारण करना लिखा है; तब क्या स्वा. द. जी भी तथा वेद भी वैसा आदेश देते हुए जंगली हैं?

(ग) वादीने 'अन्धं तमः प्रविशन्ति ये केचात्महनो जनाः' (यजुः ४०) यह अपना नया मन्त्र बना दिया है। 'कहींकी ईंट कहींका रोड़ा, भानुमतीने कुनबा जोड़ा' स्वा, द. की भाँति इस मुहावरेको चरितार्थ किया है। इसमें वादीने पहला पाद 'ईशोपनिषद्' के ९ मन्त्रका रखा, और दूसरा पाद ३ य मन्त्रका रखा। यह वैदिकजीका 'वेदका स्वाध्याय' है। स्वा. द. जीने भी श्रीमद्भा० के भिन्न-भिन्न अध्यायोंके 'रथेन वायुवेगेन' इस १०।३९।३८ प्रथमपादको तथा 'जगाम गोकुलं प्रति, (१०।३८।२४) इस दूसरे पादको जोकि--'रथेन गोकुलं प्राप्तः' इस भागके तीसरे पादके रूपमें था—इकट्ठा करके उसका अर्थ भी इकट्ठा कर दिया। वादीने भी यहाँ अपने ऋषिकी टेक रखी। यहाँ दयानन्दी लोग 'आत्महनो जनाः' का अर्थ 'अपने आत्मा (जमीर) से विरुद्ध चलनेसे आसुर-लोकोंमें गमन' मानते हैं; आत्महत्यासे नहीं। अब वादी भी यथाश्रुत-शब्दोंका अर्थ करने लगा है। आदेशवश कहीं कहा हुआ 'आत्मवलिदान' 'आत्महत्या' नहीं होती; जैसेकि--पैटन टैंकोंको तोड़नेवाले भारतीय वीर सैनिक, गोलोंकी माला पहनकर उन टैंकोंके नीचे उन गोलोंको आग लगाकर वलि होगये; और उन टैंकोंको भी उड़ाकर तोड़ दिया; और उनने इससे अपनेको अमर बना दिया। यह 'आत्महत्या' नहीं कही जाती। यह 'आत्मवलिदान' है। यह सीधा प्रकाशमय देवलोकोंमें गमन है, अन्धकारमय आसुर लोकोंमें गमन नहीं।

(६४) भा. (११।१७।२३-२४) में ब्रह्मचारीको शौकीनीकेलिए दन्त-वस्त्र धोनेके निषेधमें तात्पर्य है। जैसे एक कंघी दी जाती है वालोंको शौकीनीसे संवारनेकेलिए; और एक होती है सिरकी मैल साफ करनेकेलिए। इसमें एकका निषेध होता है, दूसरेका नहीं। सो ब्रह्मचारीको शृङ्गार (सजावट) के निषेधमें तात्पर्य है। ब्रह्मचर्यमें वाल न काटना केवल पुराणसम्मत नहीं; वेदको भी तथा वादीके आचार्य को भी सम्मत है। देखो स्वा. द, भी सं० वि० में ब्रह्मचारीकेलिए कहते हैं—'क्षुरकृत्यं

वर्जय' (१४) (पृ. ९३) सो वादी कक्ष तथा उपस्थके बाल क्षुर (रे[illegible] से ही तो काटेगा, पर उसका निषेध किया गया है। 'दीक्षितो दीर्घश्म[illegible] (अ०११।५।३) का अर्थ करते हुए स्वा. द. जी लिखतेहै—'४८ वर्ष[illegible] डाढी-मूंछ आदि पञ्चकेशोंको धारण करनेवाला ब्रह्मचारी होता (पृ. ९८)।

'श्मश्रु' में 'श्म' का निरुक्तानुसार 'शरीर' (३।५।२) अर्थ होता सो शरीरस्थित बालोंका यहां यौगिकरूपसे 'श्मश्रु' शब्दसे स्वामीने [illegible] किया है। अब स्वामीका चेला वादी गिन ले कि--उन ५ केशोंमें [illegible] एवं उपस्थके रोम आते हैं, वा नहीं ? तव स्वा. द. जी तथा वेदने क्या ब्रह्मचारीको यह गलत आदेश दिया, यह वैदिक-साहित्य-प्रकाश[illegible] सर्वे-सर्वा वादी स्वयं सोचे।

वह यह भी जानता होगा कि---यदि ब्रह्मचारी कक्ष वा उपस्[illegible] वाल काटता रहेगा; तो वे बहुत बढ़ते रहेंगे। न काटेगा, तो वे [illegible] कम बढ़ेंगे, गजों लम्वी घास नहीं बनेगी। इसमें कानों तथा भ[illegible] वाल काटने वालोंका अनुभव प्रमाण हो सकता है। वार-वार उपस्[illegible] वाल काटनेसे ब्रह्मचारीकी शृङ्गारप्रियता होजानेसे कामचेष्टा बढ़ें[illegible] फिर वह 'कर-सुन्दरी' को अपनायेगा। इतना तो वादीको जो [illegible] है—ज्ञान रखना ही चाहिये। आक्षेपमात्रशूर बनना क्या अच्छा है ? [illegible] वह ऐसा न करे; तो दयानन्दी-समाजमें प्रशंसा कहां वा कैसे मिले ?

(६५) नृगराजाकी कथा 'दानमें सावधानी वरतनी चाहिये[illegible] बातका अर्थवाद है। 'सिते हि जायेत शितेः सुलक्षता' (नैषध१२।[illegible] 'सुफेदमें काला दाग़ बहुत साफ़ दीख जाता है; कालेमें काला दाग़ [illegible] दीखता, यह यहां तात्पर्य है।

(६६) भस्मासुरका शरीर काटकर हवन करना वादी मानुषी [illegible] कोणसे न देखे। देवता--दैत्य एवं राक्षसोको शरीर काटनेसे बहुत [illegible] नहीं होता, क्योंकि उनके शरीरमें पार्थिव-प्रधानता न होकर तेजः[illegible]

नता होती हैं; तथापि उनका थोड़ा कष्ट भी एक कड़ी तपस्या मानी जाती है। उससे उसके इष्टदेवका आसन डोल जाता है। शंकरजीकी घबराहटका कारण यह था कि वर देनेपर भी भस्मासुरके हमारे सिरपर हाथ रखनेसे हम मरेंगे नहीं, इससे दैत्य वरको धोखा समझेगा; और मरनेसे अपनी शक्तिमत्ताका उपहास होगा; और दैत्यकी इष्टसिद्धि थी; क्योंकि—वह उनकी पार्वती छीनना चाहताथा; तब आर्तोंके सहायक विष्णु प्रकट होगये; और **'मायाभिरिन्द्र ! मायिनं त्वं शुष्णम्** (शोषकं दैत्यम्) अवातिरः' (ऋ. १।११।७) इस वैदिक राजनीतिसे शत्रुका सफाया कर दिया।

शेष रहा भस्मासुरका विष्णुभगवान्‌के बहकावेमें आ जाना, सो यह 'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः' 'प्रायः समासन्नविपत्तिकाले, धियोपि पुंसां मलिनीभवन्ति ''प्रत्यासन्न-विपत्तिमूढमनसां प्रायो मतिः क्षीयते' इन उक्तियोंके कारण है। पञ्चतन्त्र (लब्धप्रणाश) में वानरके यह कहनेपर कि—मैं अपने हृदयको जामुनके खोखलमें रखा करता हूँ, मकर उसके बहकावेमें आकर उसको जामुन तक पहुंचाने चला आया था। ऐसी घटनायें कभी घटित हो भी जाती हैं। इसमें आश्चर्य नहीं। यह भी सम्भव है कि—श्रीविष्णुके कहनेसे भस्मासुरको वरपर अविश्वास होगया हो।

(६७) भा. (८।७।४२-४३) में नीलकण्ठता शंकरने हालाहलकी तीक्ष्णताके प्रदर्शनार्थ की थी। मन्दराचलको उखाड़ना तथा सर्पराजद्वारा मथना देवताओंकी अणिमादि सिद्धिवश असम्भव नहीं।

अणिमाआदि सिद्धियोंका हम यहां निरूपण कर देते हैं, जिससे वादीकी सभी तरहकी शङ्काएँ सदाकेलिए समाहित हो जाएँ। अणिमा-आदि सिद्धियोंको वादीके स्वा.द. जीने भी अपने यजुर्वेदभाष्य (१७।६७) में माना है। यह सिद्धियां योगदर्शनमें भी प्रसिद्ध हैं।

उनमें १ **अणिमाका** अर्थ है कि—इतना सूक्ष्म होजाना कि—कोई

उसको देख ही न सके। पत्थरमें भी घुस जावे। २ **महिमा**—इतना बड़ा बन जाना कि—उसका सिर सूर्य-चन्द्रमा तक भी पहुंच जावे। ३ **गरिमा** इतना भारी बन जाना कि—कोई उसे उठा भी न सके। जैसाकि भीमसेन हनुमान्‌को पूंछसे भी न हिला सका। ४ **लघिमा**—इतना हल्का होजाना कि—एक छोटा बच्चा भी उसे उठा कर चलता बने। ५ **प्राप्ति**—जिसे चाहे प्राप्त कर ले। ६ **प्राकाम्यम्**—बड़ी शक्ति हो जावे कि—पहाड़को भी उखाडकर उठा ले। ७ **ईशित्वम्**—इतना शक्तिशाली हो जावे कि—सबका स्वामी हो जावे। ८ **वशित्वम्**—जिसे चाहे; उसे काबू करले। यह आठ सिद्धियां जिसके पास हों; उसके लिए असम्भव कुछ भी नहीं रहता। देवताओंमें यह सिद्धियाँ स्वाभाविक एवं जन्मसिद्ध होती हैं; पर मुनियोंमें तपस्यासे आती हैं। अतः वादी यदि उनपर ऐसे-वैसे प्रश्न उठाता है; तो यह उसकी अणिमादि-सिद्धियोंसे अनभिज्ञता सिद्ध होगी।

वासुकि नाग बड़ा लम्बा था। देवताओंकी अतिमानुषीशक्तिवश सर्पसे पहाड़ घुमाना कुछ भी कठिन नहीं। वह सर्प भी दिव्य था। वह लौकिक साधारण साँप नहीं था। महा. (शान्ति० ३४२।२६) में नीलकण्ठताका भिन्न कारण कल्पभेद है, इसलिए वहां कहा है—'पूर्वे च मन्वन्तरे'। मन्वन्तरोंमें कुछ भिन्नता वादीके स्वामीने भी ऋभाभू. में मानी है। 'प्रतिमन्वन्तरपर्यावृत्तौ सृष्टेर्नैमित्तिकगुणानामपि पर्यावर्तनं किञ्चित् किञ्चिद् भवति' (पृ. २४ पं. २५-२६)।

(६८) ब्रह्माके नाकसे वराहकी उत्पत्ति असम्भव नहीं; क्योंकि देवयोनिमें अणिमाआदि सिद्धिवश जिनका निरूपण हम ऊपर कर चुके हैं—अयोनिज उत्पत्तियां भी हुआ ही करती हैं। ब्रह्माजीको क्या वादीने अपने जैसा साढ़े तीन हाथका पुतला समझ रखा है? देवयोनियोंमें मनुष्ययोनिसे भिन्नतावश कई विलक्षणताएँ हुआ करती हैं। जब मनुष्य तथा पशुओंमें भी उत्पत्ति तथा बल आदिमें भारी भेद है; तब मनुष्यों तथा देवोंमें भारी भेद तो स्वाभाविक है। हमारे मल एक शुक्रको छोड़

कर शेष व्यर्थ होते हैं; पर देवोंके मलमें भी शक्तिविशेषवश कई अयोनिज उत्पत्तियां होजाया करती थीं। विष्णुके कानके मलसे उत्पन्न हुए मधु-कैटभमें कितनी शक्ति थी— यह पुराण-प्रसिद्ध है।

(६६) ब्रह्मा द्वारा पुत्रीगमनपर बहुत वार लिखा जा चुका है इसपर 'आलोक' (६) पृ. ६६८-६६६ देखो। यह 'मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्। बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति, (मनु. २।२१५) इस स्मृति तथा 'कामः प्रथमो जज्ञे नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः' (अथर्व. ६।२।१९) इस श्रुतिवचनका अर्थवाद हैं, जिसकी स्पष्टता हम नवम पुष्प पृ. ७०१-७११) में कर चुके हैं।

यह तो हुआ लौकिक व्यवहारवाद, इसमें 'प्रजापति' सूर्य और उसकी पुत्री 'उषा' का आधिदैविक वाद भी है। जैसे कि देखिये इसपर शतपथब्रा. —'प्रजापतिर्ह वै स्वां दुहितरमभिदध्यौ, दिवं वा उषसं वा। मिथुनी एनया स्यामिति। तां॑ सम्बभूव' (१।७।४।१)। तद् वै देवानामाग आस। य इत्थ॑ स्वां दुहितरमस्माक॑ स्वसारं करोति (सम्भवति) (२)···त॑ रुद्रोऽभ्यापत्य विव्याध। तस्य सामि रेतः प्रचस्कन्द (३) तस्माद् एतद् ऋषिणा अभ्यनूक्तम्—'पिता यत् स्वां दुहितरमधिष्कन्' (४) यहां उषाको सूर्यकी लड़की बताकर यह कथा अर्थवादरूपसे मानी गई है। यही ऐतरेय ब्रा. (३३.३४) में भी स्पष्ट है। पुराणमें भी यही इष्ट है।

वादीके स्वामी भी कहते हैं—'अस्याः कथाया **अलङ्काराभिप्रायत्वात्**। ···सविता—**सूर्यलोकः प्रजापतिसंज्ञकोस्ति**। तस्य दुहिता कन्यावद् **द्यौरुषा** चास्ति। यस्माद् यद् उत्पद्यते, तत् तस्य अपत्यवत्, स तस्य पितृवद्–इति रूपकालङ्कारोक्तिः। स च पिता तां रोहितां—किञ्चिद् रक्तगुणप्राप्तां स्वां दुहितरं किरणैरृष्यवत् शीघ्रं प्राप्नोति। एवं प्राप्तः प्रकाशाख्यमादित्यं पुत्रम् अजीजनद्-उत्पादयति। अस्य पुत्रस्य मातृवद् उषा पितृवत् सूर्यश्च। तस्यामुषसि दुहितरि किरणरूपेण वीर्येण सूर्याद् दिवसस्य पुत्रस्य उत्पन्नत्वात्।···तयोः पितादुहित्रोः समागमाद् उत्कटदीप्तिः

प्रकाशाख्य आदित्यपुत्रो जातः।' (पृ. ३१९) जब इस प्रकार पु[राण] कथाका भी यही अभिप्राय है, जैसेकि श्रीकुमारिलभट्टने भी 'तन्त्रवा[र्तिक]' में लिखा है—

'प्रजापतिस्तावत् प्रजापालनाधिकाराद् आदित्य एवोच्यते। अरुणोदयवेलायाम् उषसमुद्यन् अभ्यैत्। सा तदागमनादेव उपजायते-तद्-दुहितृत्वेन व्यपदिश्यते। तस्यां च अरुणकिरणनिक्षेपात् स्त्री-पु[रुष] उपचारः' (१।३।७) जब ऐसा है; तब समान अर्थवाले वैसे पु[राण] वचनमें वादीका दोष आरोपित करना—यह उसकी दोषदृष्टिमात्र [व] अज्ञता दिखलाता है।

पहले व्यवहारवाद, आधिदैविकवाद इसपर हम दिखला चुके; इसपर आध्यात्मिक तात्पर्य भी है—यह देखना चाहिये। मनुष्यका प्रजापति है, वह प्रजारूप इन्द्रियोंका स्वामी होता है। मनसे वाक्का [उत्पन्न] होता है—('मनः कायाग्निमाहन्ति' (पाणिनिशिक्षा ६)। सो [वाक्] (सरस्वती) का वह पिता हुआ; वह मन वाक्से सङ्गम करता है—[यह] तात्पर्य भी हुआ। अतः वादीका इसपर आक्षेप व्यर्थ है। वेद पुराणोंके वर्णन आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तथ्य यथावसर बताया करते हैं, अतः इनमें समाधिभाषा. परकीया भाषा लौकिकी भाषाका भी यथायोग्य प्रयोग होता है, इन बातोंको सम[झकर] वादीको पुराणपर आक्षेप करके अपनी अनभिज्ञताका पर्दाफाश करना चाहिये।

(७०) भाग.में चन्द्रमाको एक लाख योजन ऊपर बताया ज्योतिषमें ग्रहोंका कक्षाक्रम 'मन्दामरेज्य-भूपुत्र-सूर्य शुक्रेन्दुजेन्दवः' ([सूर्य]सिद्धान्त १२।३१) यह कहा है। पुराणमें चन्द्रके अतिरिक्त शेष ग्र[ह] वर्तमान ज्योतिषके अनुसार ठीक मिलते हैं। सम्भव है कि वहां '[...] गभस्तिभ्यः अधस्तात्' ही पाठ हो। अथवा ऊपरके लोकके [...] चन्द्रलोकमें ठहरे हुए चन्द्रको ऊपर बताकर शेषको नीचे बताया गया

ऊपरके लोकोंके लोग नीचेके पाताल-लोकको अपनेसे ऊपर मानते हैं। जैसेकि 'बलिसद्मदिवं (पातालं) स तथ्यवाग् उपरि स्माह दिवोपि नारदः' (नैषधीयचरित २।८४) इस पद्यमें सबसे नीचेके पातालको सबसे ऊपरके द्युलोकसे भी ऊपर माना गया है। अथवा जैसेकि वादीने लिखा है—'आज पृथ्वी जहां है, उसकी अपेक्षासे 'उस पार जो लोक है, वही लोक जब पृथ्वी घूमते-घूमते सूर्यके उस पार पहुंचेगी; तब 'उस पार' वाला स्थान पृथ्वीकी अपेक्षासे 'इस पार' वाला स्थान होगा, (गी. वि. पृ. २०२) वैसा विचार किया गया हो। आनुमानिक परिमाणोंमें कभी देशकाल-विरुद्धताएँ भी दीख जाती हैं। इसी कारण वैज्ञानिकोंके मत भी तो बदलते रहते हैं।

उपनिषद्में भी 'संवत्सराद् आदित्यम्, आदित्यात् चन्द्रमसं' (छान्दोग्य ५।१०।२) सूर्यलोकसे ऊपर चन्द्रलोकमें जाना लिखा है। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद्में भी कहा है—'यदा वै पुरुषोऽस्माद् लोकात् प्रैति, स वायुमागच्छति।......तेन स ऊर्ध्व आक्रमते। स आदित्यमागच्छति। तेन स ऊर्ध्व आक्रमते, स चन्द्रमसमागच्छति' (५।१०।१) (वायु द्वारा वह ऊपर होकर चढ़ता है, वह सूर्यलोकमें पहुंच जाता है। उसमें होकर वह ऊपरकी ओर चढ़ता है, वह चन्द्रलोकमें जा पहुंचता है) इन स्थलोंमें चन्द्रलोकको सूर्यलोकके ऊपर बताया है। 'शब्दप्रमाणका वयम्, यत् शब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्' (हम शब्द प्रमाण माननेवाले हैं, शब्द-प्रमाणने जो कहा है, वह हमें प्रमाण मानना चाहिये। महाभाष्य पस्पशाह्निक) इसीलिए ही वेदमें 'वेद सूर्यस्य बृहतो जनिमथो वेद चन्द्रमसं यतोजाः' (यजुः २३।६०) में पहले सूर्यका फिर उसके ऊपरके चन्द्रमाका नाम वेदने कहा है। जो इनका समाधान होगा; इनके अनुसारी पुराणमें भी वही समाधान हो जायगा।

(७१) दहेजमें नग्नजित् द्वारा १० हजार गायें, ३ हजार नवयुवति औरतें, ९ हजार हाथी; ९ करोड़ घोड़े, नौ अरब सेवक (१०।५८।५०-

५१) देनेमें वादीने गप्प बताई है; इस विषयमें हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। यह अतिशयोक्ति भी हो सकती है। इस विषयमें 'आलोक' (९) पृ. ७३९में हमने वेद-द्वारा राजाओंका दान दिखलाया है। वादी तदनुसार पुराणमें भी समाधान समझ ले। कुछ वेदमन्त्र इस विषयमें यहाँ भी दिये जाते हैं—

(क) अथर्व. (२०।१२७।३)में ऋषिको सौ अशर्फियां, ३०० घोड़े, १० हज़ार गौएं दी गईं। (ख) 'त्वं पुरू सहस्राणि शतानि च यूथा दानाय मंहसे' (ऋ. ८।६१।८) यहां पर लाखों गौओंका दान कहा है, कितनी अतिशयोक्ति है? (ग) ऋ. ८।४६।२२-२४ में पृथुश्रवा द्वारा १० हज़ार गुना ६० हज़ार अर्थात् ६० करोड़ घोड़े, २० सौ ऊंट, १००० घोड़ियां, १० हज़ार गौएं, सोनेका रथ दिये गये।

(घ) कुरुङ्गने कण्वके लड़केको ६० हज़ार गौएँ दीं (ऋ. ८।४।२०)। (ङ) विभिन्दुने ऋषिको ४० हज़ारको ८ हज़ार गुणा करके धन (रुपये) दिया (ऋ. ८।२।४१) (च) कशुने एक ऋषिको एकसौ ऊंट और १० हज़ार गौएँ दीं (ऋ. ८।५।३७)। (छ) तिन्दिरने ३०० घोड़े, १० हज़ार गौएँ ऋषिको दीं (ऋ. ८।६।४७)। (ज) सोभरि ऋषिको त्रसदस्युने ५० स्त्रियाँ दीं (ऋ. ८।१९।३६)। (झ) ऋ. ८।२।४१में मेधातिथि ऋषिको ४०,००० रुपये, विभिन्दु राजाने ८००० गुणा करके दिये। शेष वेदवचन 'आलोक' (९) में देखो। यदि वेदमें यह अतिशयोक्ति मिलती है; तो यदि वेदानुसारी पुराणोंमें भी मिलती है, तो वैदिकम्मन्य-वादी उनका विरोध क्यों करता है? दोनों स्थल समान ही समाधान होगा।

(७२) श्रीकृष्ण-बलराम द्वारा १८ बार जरासन्धकी २३ अक्षौहिणी सेनाको हराना वा मार भगाना (१०।५४।१३) क्या असम्भव है, जबकि वे दोनों अवतार एवं दिव्य पुरुष थे; और कई करोड़ यदुवंशी एवं उग्रसेन की बहुत बड़ी सेना भी विद्यमान थी। यह कथन भी स्वयं जरासन्ध दैत्यका

है। आश्चर्य है कि—वादी अपने बन्धुकी बात भी नहीं मानता; श्रीकृष्णकी बात वादी न मानता; तब भी कोई बात थी; क्योंकि वह श्रीकृष्ण भगवान्का विरोधी है। १८वार युद्ध तो महाराज पृथ्वीराज चौहानका भी प्रसिद्ध है।

(ख) हल श्रीबलरामका एक महान् अस्त्र था। वह खेत जोतनेवाला हल नहीं था। वे खेती उससे नहीं करते थे। जैसे कि श्रीकृष्णभगवान्का सुदर्शनचक्र कोई रथका पहिया नहीं था; किन्तु उसकी आकृतिका भयानक अस्त्र-विशेष था, वैसे श्रीबलरामका हल की आकृतिका एक भयानक अस्त्र था; इसलिए उस नामसे बुलाया जाता था। जैसे कि देवीका खटियाके पायेके समान खट्वाङ्ग एक भीषण अस्त्र था; कोई सचमुच खटियाका पाया नहीं था; वैसे यहांपर भी समझ लेना चाहिये। प्रलयमें समर्थ एक अवतारपर भी अल्पश्रुत तथा अल्पशक्तिमान् विपक्षी आक्षेप करता है, यह तो जुगनूकी सूर्यको तिरस्कृत करनेके प्रयत्नवाली एक धृष्टता (ढिठाई) है।

(७३) सृष्टिकी आदिमें ब्रह्माके ४ मुखोंसे चारों वेदोंके प्राकट्यमें क्या सन्देह है? वाणी मुखसे ही तो निकलती है। वेदके शब्दोंको जानकर ही तो ब्रह्माजीने वेदसे सृष्टि रची (मनु० १।२१) 'वेदशब्देभ्य एवादौ'। स्वा. द. ने भी तो 'यथेमां वाचं कल्याणीमा वदानि' वेदका परमात्मा द्वारा बोलना कहा हैं; जो मुखसे ही तो हुआ होगा। नहीं तो परमात्मा भी सृष्टिनियमविरुद्ध, बिना मुखसे बोला ही कैसे? बिना मुखके ब्राह्मणादिको परमात्मा द्वारा वेद पढ़ाना कैसा? दयानन्दियोंके अनुसार मानव-सृष्टि तो बहुत बादमें हुई; तब क्या वेद भी पीछे उत्पन्न होकर आदिमान् हुए?

त्रेतामें त्रयी विद्याके रूपमें श्रीकृष्णभगवान्के श्वाससे भी वेद प्रकट हो सकते थे। इसमें भी कोई विरोध नहीं। विष्णु-रूपमें श्रीकृष्ण सदासे ही थे; इसलिए गीतामें भगवान् कृष्णने कहा था—'इमं विवस्वते योगं

प्रोक्तवान् अहमव्ययम्' (४।१) वेदका प्राकट्य यज्ञकेलिए हुआ, समय यज्ञादिके प्रचारके लिए फिर यज्ञोपयुक्त वेद त्रयीरूपमें प्रकट हुए फिर इकट्ठे वेद द्वापरमें व्यासजी द्वारा व्यस्त (विभक्त) किये गये।

(७४) वसुदेवद्वारा यज्ञमें ऋत्विजोंको यज्ञान्तमें कन्याओंका दा यदि (भा. १०।८४।५२ में) बताया है, तो पहले बताये हुए सौभरि ऋषिको वेदप्रोक्त ५० कन्याओंका दान देनेके अनुकूल है। उक्तमन्त्र वक्ता सोभरि ऋषि है। वादिप्रतिवादिमान्य मनुस्मृतिमें ऐसे दानका ना 'दैव-धर्म' रखा गया है। देखिये—'यज्ञे तु वितते सम्यग् ऋत्विजे क कुर्वते। अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते' (३।२८) अब वा वादिप्रतिवादिमान्य श्रुति-मनुस्मृतिपर भी आक्षेप शुरू कर दे। अर्थ बदले, तो दोनों स्थान बदले।

(७५) यज्ञकर्ताको स्वर्गमें अप्सराएँ मिलती हैं (भा. ११।१०।२ २४) इस आक्षेपपर वादी वादिप्रतिवादिमान्य पातञ्जलमहाभाष्य वचन देखे—। 'इज्यायाः (यज्ञस्य) किञ्चित् प्रयोजनमुक्तम्। किम् स्वर्गे लोके अप्सरसः एनं जाया भूत्वा उपशेरते' (६।१।८४)। वेदों यज्ञसे स्वर्गकी प्राप्ति तथा स्वर्गमें स्त्रियोंका मिलना कहा है—'यैरीजा [यज्ञं कुर्वाणाः] स्वर्गं यन्ति लोकम्' (अ० १८।४।१-२) 'स्वर्गका यजेत' आदि बहुत प्रसिद्ध वचन है।

'यो वा इह यजते, अमुं च लोकं [स्वर्गं] नक्षते [गच्छति], नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम्' (तै० ब्रा० १।५।२।५) यहां भी यज्ञ करनेसे परलो (स्वर्ग) में जाना कहा है। स्वर्गलोक द्युलोकमें है, वहां गये हुए देव बनते है। 'देवः···द्युस्थानो भवति' (निरुक्त ७।१५।१) यह यज्ञा पुण्यकर्मोंसे होते हैं। इसलिए द्युलोकके नक्षत्रोंको 'देवगृहा वै नक्षत्राणि (तै० ब्रा. १।५।२।६) 'सुकृतां [यज्ञादि-पुण्यकर्मकर्तॄणां] वा एता ज्योतींषि यद् नक्षत्राणि' (कृ. य. तै सं० ५।४।१।३)। 'अथ संसृष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च' (निरु. २।१४।२) 'पुण्यकृतो ह्येव त

[द्युलोके] गच्छन्ति' (नि० २।१४।३) यह वचन इसमें प्रकाश डालते हैं। यज्ञादि पुण्यकर्म करनेवाले व्यक्ति स्वर्गलोकमें प्राप्त होते हैं।

स्वर्गलोकमें अप्सराओं तथा गन्धर्वकन्या आदियोंकी सत्ता वेदादि-शास्त्रोंमें भरी पड़ी है। वेद स्वयं कहता है—'नव्या नव्या **युवतयो** भवन्तीर्महद् **देवानामसुरत्वमेकम्**' (ऋ. ३।५५।१६) यहाँ देवताओंकी नई-नई सुन्दर युवति स्त्रियाँ बताई गई हैं। और देखिये—'**स्वर्गे लोके** बहु **स्त्रैणम्** [स्त्रीसमूहः] एषाम् [देवानाम्]' (अथ० ४।३४।२) यहां भी स्वर्गलोकमें देवताओंकी स्त्रियों [अप्सराओं] का वर्णन स्पष्ट है। यदि यहाँ अर्थ बदलो; तो वहाँ भी बदल लो।

कठोपनिषद् (जिसे वादी वेदविरुद्ध नहीं मानता) में कहा है—'ये **ये कामा** दुर्लभा मर्त्यलोके, सर्वान् कामान् [इह स्वर्गलोके]···इमा **रामाः** [अप्सरसः]···नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः, (१।१।२५) यहां भी मनुष्य-दुर्लभ अप्सराओंका वर्णन स्पष्ट है। वेदमें देखिये—'ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽ**प्सरोभ्यो** ऽ करं नमः (अ० २।२।५) यहां गन्धर्वों [देव-विशेषों] की स्त्रियां अप्सरायें स्वर्गमें सूचित की गई हैं। मनुस्मृति (१२।४७) में भी उनका संकेत है। महाभाष्यमें लिखा हैं—'उर्वशी वै रूपिणी अप्सरसाम्' (५।२।६५) यहां उर्वशी अप्सराको सुन्दर कहा है। योगदर्शन (३।२६) में भी अप्सराओंका वर्णन देखो।

विपक्षी मुसलमानोंके 'बहिश्त' में सुन्दर लौंडे तथा शराब मिलनेसे मुसलमानोंके स्वर्गको पुराणके स्वर्गसे 'बढ़िया' बताता है। इससे विपक्षी इस रोगका मरीज़ मालूम देता है, फिर चला जावे पाकिस्तानमें, उसे अपना प्रिय 'बहिश्त' शीघ्र प्राप्त हो सकेगा। उसकी इच्छाएं पूर्ण होंगी।

(७६) 'ब्राह्मणकी हत्याका क्या फल होता है' इसे जाननेकेलिए विपक्षी अथर्व० (१२ काण्डका अन्तिम सूक्त, तथा १३।३ सूक्त और ५।१९।३,६,७, ८; ५।१८।६ इत्यादिका स्वाध्याय करे। इसीके अनुवाद-

में पुराण (६-१३।१५) में इन्द्रको छिपना पड़ा। शेष रहा दुराचारी भी ब्राह्मणको न मारना; इस विषयमें 'आलोक' (४) पृ. २३६, २४१-२४३, २४८-२४९, २५१-२५३, २६१-२६२, २६५-२६६) में वहां वह देखे।

अन्य लौकिक कारण यह है कि--वंशपरम्परावश ब्राह्मणको कई विशेष ज्ञान होते हैं, वह ज्ञान नष्ट न हो जावे, इसीलिए उसके हननका निषेध है। जैसेकि लिखे वा छपे संस्कृतके कागज़के जलानेका पुराने लोग निषेध करते हैं कि—यह ब्राह्मण है। अर्थात्--इसमें भी कोई रहस्यकी बात न हो; अतः इसे मत जलाओ। इसीलिए आततायी भी अश्वत्थामा-को मारा नहीं गया। रावणकी अवतार-द्वारा हत्या नहीं की गई; किन्तु अन्य स्त्रियोंके बचावकेलिए तथा सीताको वापिस लेनेकेलिए उससे युद्ध किया गया। युद्धमें यदि वह मारा गया; तो उसका नाम हत्या नहीं है; तथापि उसके प्रायश्चितरूपमें भगवदवतारको भी अश्वमेध यज्ञ करना पड़ा।

(ख) शूर्पणखाका श्रीरामद्वारा नाक कटवा देनेका कारण यह था कि--वह सीताके कारण अपनेसे प्रेम न करना चाहते हुए श्रीरामकी पत्नी सीताको ही जब खा जाना चाहने लगी, यह रामायणमें स्पष्ट है, इसके-लिए आगे देखो 'गीताकी वैज्ञानिक परीक्षा'; तब आततायिनी स्त्रीके वधस्थानापन्न 'कर्णनासादिकृन्तनम्' (याज्ञवल्क्य० व्यवहाराध्याय स्त्री-संग्रह प्र० (२४।२८६, कौटलीय अर्थशास्त्र ४।१२।४१) के अनुसार नाक-कान काटना ठीक ही था। विपक्षीका आक्षेप राक्षसपक्षी होनेसे है।

(७७) 'स्त्रियं चक्रे स्वदेहार्धं यया पुंसां मतिर्हृता' (६।१८।३०) 'नहि कश्चित् प्रिया स्त्रीणामञ्जसा स्वाशिषात्मनाम्' (४२) इन पद्योंका अर्थ लिखकर वादी कहता है—'स्त्रियां पुरुषोंकी मति हरनेकेलिए नहीं पैदा की गई हैं। 'स्त्रयोंको कोई प्यारा नहीं होता' इस कथनसे भागवत-

कार 'परस्त्रीगामी' रहा होगा"

इसपर वादी अपने स्वामीका वचन सुने। स्वामीने सं० वि० (विवाहप्र० पृ. १३५) में एक मन्त्र लिखा है—'इमं ते उपस्थं मधुना सँसृजामि प्रजापतेर्मुखमेतद् द्वितीयम्। तेन पुँसोऽभिभवासि सर्वान् अवशान् वशिनी असि राज्ञि!' इसका अर्थ आर्यसमाजके श्रीरामगोपालजी (स्नातक गुरुकुलकाङ्गड़ी) ने अपने संस्कारप्रकाश (पृ. १२३) में यों लिखा है—

'तू अपने उपस्थेन्द्रियद्वारा वशमें न होनेवाले पुरुषोंको को भी नीचा दिखाती है'। यही अर्थ वादी श्रीआत्माराम तथा श्रीभीमसेनजीकी बनाई 'संस्कारचन्द्रिका' में भी देखे। अब वादी बोले—यह पुरुषकी मति हर लेना हुआ या नहीं? तभी तो स्वा. द. जीने स्त्रीका ध्यान तथा स्पर्श आदि ब्रह्मचारी (वेद पढ़नेवाले) पुरुषसे (सं० वि० पृ. ९४) हटवाया है इसलिए कि—स्त्रीके द्वारा मतिहरणसे कहीं उसके वेद पढ़नेमें विघ्न न हो जावे।

स्वा. द. जी जब स्वा. विरजानन्दजीके पास पढ़ रहे थे; एक दिन एक स्त्रीने ध्यानदशामें स्वा.द. के पांवपर सिर रख दिया; इसलिए स्वामी वहांसे उठकर गोवर्धनकी ओर जा एक टूटे-फूटे मन्दिरमें तीन दिन-रात ध्यान और चिन्तनमें रहे।···चौथे दिन जब पाठकेलिए स्वा. विरजा. जीकी सेवामें उपस्थित हुए; तो गुरुजीने तीन दिनकी अनुपस्थितिकेलिए उनकी भर्त्सना की। स्वा. द. ने प्रायश्चित्तकी कथा निवेदन कर दी। स्वशिष्यकी व्रतवार्ता सुनकर श्रीविरजा. जीको रोमाञ्च होगया। (श्रीमद्दया.प्र. वैराग्य० नवम० पृ. ५६ पं० २६ थे) सो यह स्वामीने स्त्रीस्पर्शका प्रायश्चित क्यों किया? इसलिए कि उसका स्पर्श मतिहरण करके पुरुषके शरीरमें हलचल उत्पन्न कर देता है। आशा है—वादी अब समझ गया होगा।

अब 'नहि कश्चित् प्रियः स्त्रीणां' इस भागवतके अपनेसे आक्षिप्त

पद्यका वादी निम्न वेदमन्त्रसे मिलान करे—'न वै स्त्रैणानि स
सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता' (ऋ. १०।९५।१५) इसका भारत
राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन्‌ने 'धर्म और समाज' (पृ. १७१ की टि
में इस प्रकार अर्थ किया है—'स्त्रियोंके साथ स्थायी प्रीति न
सकती। इन [स्त्रियों] के हृदय बघेरोंके समान होते हैं'। चाण
भी लिखा है—'स्त्रीणां मनः क्षणिकम्' (४७८) 'न समाधिः (चित्त
स्त्रीषु' (३६०) तब वादीका पक्ष कट गया। अब क्या वह वेदके
भी 'परस्त्रीगामी' बतावेगा?

शेष है 'पतिं पुत्रं भ्रातरं वा घ्नन्ति' यह पुराणकी बात, इस
देखनेकेलिए समाचारपत्रोंके कालम खुले हुए हैं। कामिनी स्त्रियों
घटनाएँ जब कभी होती ही रहती हैं। 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणान्त
पञ्चतन्त्र आदि नीतिशास्त्रोंमें यह स्पष्ट है। मनुस्मृति (९।३,५,१
१९-२०) में भी इसका संकेत है। महाभारतमें भी।

(७८) 'अगस्त्यश्च वसिष्ठश्च मित्रावरुणयोर्ऋषी। रेतः सि
कुम्भे उर्वश्याः संनिधौ द्रुतम्' (६।१८।५-६) उर्वशी अप्सराको
मित्र और वरुणका शुक्रपात हो गया। उस शुक्रको घड़ेमें र
गया। उसीसे अगस्त्य और वसिष्ठ पैदा हुए। वाल्मीकि वरुण (
के पुत्र थे। वल्मीकसे पैदा होनेसे 'वाल्मीकि' कहलाये' यह
वादी इस कथाको भागवतकी गप्प बताता है।

(क) यह लोग अपने प्रकाशनको 'वैदिक साहित्य प्रकाशन'
पर वैदिक-साहित्यको कभी देखते नहीं। केवल पुराणोंके पारा
रहे होते हैं; वह भी दोष-दृष्टिसे। यद्यपि हम पहले इस विषय
चुके हैं, पर फिर भी लिख देते हैं। देखिये इस विषय पर वादि
मान्य वाल्मीकि-रामायण—'मित्रावरुणजं तेज आविश त्वं मह
अयोनिजस्त्वं भविता' (उत्तर. ५६।१०) उर्वश्या एवमुक्तस्तु
हृदद्भुतम्।...तस्मिन् कुम्भे न्यवासृजत्' (२१) यः स कुम्भो

तेजः-पूर्णो महात्मनोः। तस्मिन् तेजोमयौ विप्रौ सम्भूतौ ऋषिसत्तमौ' (५७।४) पूर्वं समभवत् तत्र **अगस्त्यो** भगवान् ऋषिः (५) तस्मिन् समभवत् **कुम्भे**' (६) **वसिष्ठः** तेजसा जज्ञे (७) मित्रावरुणयोर्जज्ञे उर्वश्यां प्रपितामहः (वसिष्ठः)' (भाग. ६।१३।६)।

यही 'वसिष्ठो गणिकात्मजः' इस भविष्यपुराणके वचनका मूल है, जिसे वादी बड़े प्रेमसे देते हैं; पर वे उर्वशी-अप्सराके गर्भसे पैदा न होकर **उसके मनसे** पैदा हुए थे; अब क्या यह रामायणकी भी गप्प है ?

(ख) अब यही भागवतीय वर्णन वादी वादिप्रतिवादिमान्य निरुक्तमें देखे—'उर्वशी अप्सराः' (५।१३।१) यह लिखकर श्रीयास्कने 'उर्वशी'का निर्वचन किया, क्योंकि पहले समय 'यथा नाम तथा गुणः' हुआ करता था। आगे श्रीयास्क उक्त इतिहास लिखते हैं—'तस्या [उस उर्वशीके] दर्शनाद् (देखनेसे) **मित्रावरुणयोः रेतः चस्कन्द**' (मित्र और वरुणका वीर्यपात हो गया] तदभिवादिनी एषा ऋग् भवति' (इसी बातको बतलानेवाला यह वेदमन्त्र है—यह कहकर श्रीयास्कने वह मन्त्र आगे उद्धृत किया है' (५।१४।१)।

(ग) अब यही वेदमें देखिये—**'अप्सरसः परिजज्ञे वसिष्ठः'** (ऋ. ७।३३।१२) यहां अप्सरासे वसिष्ठजीकी उत्पत्ति बताई गई है। अप्सरा उर्वशी ही थी। इसीको अन्य मन्त्रने स्पष्ट कर दिया है। देखिये—'उतासि **मैत्रावरुणो वसिष्ठ! उर्वश्या ब्रह्मन्! मनसोधिजातः। द्रप्सं** (वीर्यं) **स्कन्नं ब्रह्मणा**' (ऋ. ७।३३।११) (हे वसिष्ठजी! आप मित्र-वरुणके लड़के हो। उर्वशी अप्सराके मनसे [अयोनिज] उत्पन्न हुए हो। मित्र-वरुणका उर्वशीको देखनेसे शुक्र क्षरित हो गया था)।

उक्त वेदमन्त्रकेलिए अजमेरी वैदिक यन्त्रालयके मूल ऋग्वेदसं.में लिखा है—'संस्तवो वसिष्ठस्य (इस सूक्तमें वसिष्ठजीका परिचय वा स्तुति है) १-९ वसिष्ठपुत्राः। १०-१४ वसिष्ठ ऋषिः (इन मन्त्रोंमें ऋषि (वक्ता) वसिष्ठके पुत्र हैं। उनने वसिष्ठजीकी उत्पत्तिका परिचय दिया

है) त एव देवताः (वे वसिष्ठजी ही उक्त मन्त्रोंमें वर्णित हैं); तब वसिष्ठजीकी पुराण-जैसी उत्पत्ति बताते हुए वेद भी गप्प हैं क्या ?

(घ) अगले मन्त्रमें और भी स्पष्ट है—**'कुम्भे रेतः सिषिचतुः** समानम्। (मित्र और वरुण दोनोंने उर्वशीको देखकर क्षरित हुआ अपना शुक्र कुम्भ (घड़े) में डाल दिया) ततो ह मान उदियाय मध्यात् ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम्' (१३) (उससे बड़े परिमाण वाले अगस्त्य और फिर वसिष्ठ ऋषि पैदा हुए). इसलिए ऋ. १।१६६ सूक्तका ऋषि भी 'मैत्रावरुण अगस्त्य' वैदिक यन्त्रालयकी ऋ.सं.में लिखा गया है।

(अ) यदि कहा जावे कि—वेदमें वसिष्ठके जन्मसे पहले ही वसिष्ठका वर्णन कैसे आ गया? तो इसपर जानना चाहिये कि—'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति' (उत्तररामचरित १।१०) (ऋषिकी वाणी पहले चलती है; और वह पदार्थ पीछे अपने समयपर होता है।

(आ) स्वा. दयानन्दजीने भी लिखा है—'ईश्वरस्य त्रिकालदर्शित्वात्। ईश्वरो हि त्रीन् कालान् जानाति। भूत-भविष्यद्-वर्तमानकालस्थैर्मन्त्र-द्रष्टृभिर्मनुष्यैः...अहमेव ईड्यो बभूव, भवामि, भविष्यामि च' (ऋभाभू. वेदविषयविचार पृ. ८६) 'मन्त्रमें वेदोंके कर्ता **त्रिकालदर्शी ईश्वरने** भूत, भविष्यत्, वर्तमान **तीनों** कालोंके व्यवहारोंको यथावत् जानके कहा है' (पृ. ८७)।

'[ईसाइयोंके ईश्वरको] भविष्यत्का ज्ञान नहीं, इसलिए ईसाइयोंका ईश्वर **सर्वज्ञ** नहीं था' (स.प्र. १३ (८) पृ. ३०२) इससे स्वा.द.ने सर्वज्ञका भविष्यद्-द्रष्टा होना भी सूचित किया है। फिर स्वामीजी लिखते हैं—'वह **ईश्वर** ही नहीं; जो **सर्वज्ञ** न हो; न **भविष्यत्की बात** जाने; वह जीव है' (स.प्र. १३ पृ. ३०३ (१२)। जब परमात्मा भविष्यद्-द्रष्टा है; तब उसी भविष्यद्-द्रष्टा परमेश्वरने वेदमें भी वसिष्ठका वर्णन किया। यदि वेदमें परमात्मा भविष्यत्का वर्णन न कर सके; तो स्वा.द.के अनुसार वह 'सर्वज्ञ' न रहेगा; वह 'जीव' हो जायगा।

(इ) इसमें हम अन्य भी प्रमाण देते हैं-वेदमें गङ्गा आदि नदियोंका नाम लिखा गया है-'इमं मे गंगे ! यमुने ! सरस्वति !' (ऋ. १०।७५। ५) वसिष्ठ आदिकी भाँति वेदमें गङ्गा आदि नदियोंका भी इतिहास है। आर्यसमाजी उससे डरकर उनका अपनेसे तिरस्कृत हठयोग-प्रदीपिका आदिके अनुसार शरीरमें वर्तमान इडा, पिङ्गला आदि नाडियोंका वर्णन करने लगते हैं; पर उसमें असङ्गति आती है-यह वह नहीं विचारते।

इसपर आर्यसमाजके विद्वान् श्रीब्रह्ममुनिजीने 'आधा तीतर आधा बटेर' न्यायसे कुछ ढीला-ढालासा अर्थात् कहीं अलङ्कार मानकर और कहीं वास्तविकता मानकर अपने 'निरुक्त-सम्मर्शमें पृ. ६८३ से लिखा है-। हम उनके अपेक्षित अंशका हिन्दीमें अनुवाद देते हैं; उससे वेदमें इतिहासपर कुछ प्रकाश पड़ेगा।

'वेदोंमें गङ्गा आदि नदियोंका नाम कैसे हो सकता है; उसमें किसी नदीमें वसिष्ठके पाश कैसे कट गये, जिससे उस नदीका नाम 'विपाश्' हो गया ?' इसपर कहा जाता है। यहांपर कइयोंका मत यह है कि-यहाँपर गङ्गा आदि शरीरमें विद्यमान नाड़ियां हैं, पृथिवीपरकी नदियां नहीं। कहा गया है-'इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी' (हठयोग ३।११०) 'इडा गङ्गे ति विज्ञेया पिङ्गला यमुना नदी। मध्ये सरस्वतीं विद्यात् प्रयागादिसमस्तथा' (शिवस्वरोदय ३७४) 'सितासिते सरिते यत्र सङ्गते तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति' (ऋ. १०।७५।५ मन्त्रका खिल मन्त्र) सिता-सुफेद गङ्गा, असिता-काली यमुना। इत्यादि स्थलोंमें दो-तीन नाडियोंकी गङ्गा आदि नाम-कल्पना वताई है, **अन्य नदीनामोंकी नामकल्पना नाडियोंमें नहीं बताई गई।** हठयोग और शिवस्वरोदय नवीन पुस्तकें हैं।

खिल मन्त्रमें 'सरिते' शब्द सन्दिग्ध हैं; क्योंकि-**'सरित्' शब्द सर्वत्र नदीवाचक है।** निघण्टु (१।१३) में भी 'सरित्' नदीका नाम हैं। जिस ऋसं.के मन्त्रपर यह खिल मन्त्र है; उस मन्त्रमें दो नदियां गङ्गा-यमुना खिलमें इष्ट हैं। गङ्गा-सिता (सुफेद) है, और यमुना असिता (काली)

है। प्रयागमें उन दोनों नदियोंका भेद प्रत्यक्ष दीखता है। उसमें गङ्गा सुफेद दीखती है, और यमुना काली। उनके सङ्गममें स्नान करनेसे खि मन्त्रमें द्युलोकमें गति कही गई है-यह नदीके पक्षमें पौराणिकता है [यह वैदिकता है, क्योंकि ऋक्परिशिष्ट भी ऋग्वेद ही होता है-यह ह अन्यत्र वता चुके हैं।] यदि यह वचन प्रमाण हो; तव नाडी-कल्प जोड़ी जा सकती है। नदीमें वैसा माहात्म्य युक्त नहीं [वेद जिस नदीक विशेष स्तुति करता है; उसमें वैदिकम्मन्योंको विमति नहीं होनी चाहि जबकि वेदको नदीका वर्णन इष्ट है, नाडीका नहीं]।

'नदी' शब्द वा 'सरित्' शब्द नाडी अर्थमें आयुर्वेदिक ग्रन्थोंमें कहीं नहीं मिलता। अध्यात्मप्रसङ्गमें नदियोंको नाडियां माना जा सक हैं [तब आधिभौतिक पक्षमें गङ्गा आदिको नदियाँ क्यों नहीं माना सकता ?] जैसे कि छा. उ. 'या धमन्यः ता नद्यः' (३।१६।२) उन किसी नाड़ीमें, वसिष्ठ अमृत प्राण आत्मा मरनेके समय संसारपा विमुक्त हो जाता है (छा. ८।६।६)।

परन्तु पृथिवीपर वहने वाली गङ्गा आदि **वेदमन्त्रोंमें नहीं हो यह नहीं हो सकता;** क्योंकि वे भी आधिदैविक क्षेत्रकी वस्तुएँ हैं। इ निघण्टुके क्रमकी भीं साक्षी है; क्योंकि-'नदियों'के वाद 'आपः' (ज और उसके वाद ओषधियाँ कही गई हैं। वेदकी स्वयं भी साक्षी है कि गङ्गा आदि नदियां हैं। जैसे कि-ऋ. (८।७४।१५) यहां परुष्णी नदी सम्बोधन किया गया है; और उन्हें 'आपः' शव्दसे सम्वोधित भी कि गया है। अथर्व. (६।१२।३) में सर्पविषकी चिकित्सामें 'नद्यः पर्वता प कहनेमें नाडी नहीं है, किन्तु नदी स्पष्ट है। (ऋ. ८।२०।२५) औ प्रसङ्गमें समुद्रोंके साहचर्यमें 'सिन्धुः, असिन्की' यह 'नाडियां' नहीं किन्तु 'नदियां' हैं।

स्वा.द.की भी इसमें साक्षी है—'विपाट्-छुतुद्री पयसा जवेते' (३।३३।१) यहां स्वा.द.के मतमें भी विपाट्-शुतुद्री नदियां हैं-यह

है। यदि कहा जावे कि–गङ्गा आदि नाम ईश्वर-ज्ञानात्मक वेदमें नहीं होने चाहियें; इसपर हम कहते हैं–मनुष्योंकी बनाई हुई वस्तुओंके रथ आदि नाम जैसे वेदमें हैं; वैसे वेदमें गङ्गा आदि नामोंसे भी दोष नहीं आता। यह कैसे हो सकता है कि–मनुष्योंसे बनाई हुई वस्तुओंके नाम तो वेदमें हों; परन्तु परमेश्वरसे अपनी बनाई हुई गङ्गा आदि नदियोंके नाम न हों...जैसे वेदमें खगोलके सूर्य-चन्द्र आदिका नाम आता है, वैसे गङ्गा आदि भूगोलकी वस्तुओंका वर्णन भी वेदमें हो सकता है। वल्कि नदियों के वैदिक नामोंका क्षेत्र केवल पृथिवी ही नहीं है, किन्तु पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु तीनों लोक ही क्षेत्र हैं' (निरुक्तसम्मर्श. पृ. ६८५ तक); जब ऐसा हैं; तब शरीर, बाहर तथा द्युलोकमें रहने वाले वसिष्ठ ऋषिका नाम भी वेदमें आ सकता है। यह दयानन्दियोंको अपने एक दयानन्दी नेताके कथनको मानकर वेदमें भी वसिष्ठ आदिका इतिहास मान लेना चाहिये, क्योंकि–वसिष्ठ प्राणरूपमें शरीरमें हैं, सप्तर्षि रूपमें खगोलमें हैं, भौतिक रूपमें ऋषिसृष्टिमें भी गिने गये है।

(ङ) इस विषयमें अनुक्रमणिकामें भी कहा है—**'मित्रावरुणयो-र्दीक्षितयोः उर्वशीमप्सरसं दृष्ट्वा वासतीवरे कुम्भे रेतः अपतत्। ततः अगस्त्यवसिष्ठौ अजायेताम्'** (१२।१) तब क्या यह वैदिक अनुक्रमणिका की भी गप्प है?

(च) अब यहीका यही इतिहास वृहद्देवतामें भी देखिये–'द्वन्द्वं तस्या [अदित्या] स्तु तज्जज्ञे मित्रश्च वरुणश्च ह (अदितिके मित्र-वरुण इकट्ठे दो लड़के पैदा हुए) तयोरादित्ययोः सत्रे दृष्ट्वाऽप्सरसमुर्वशीम्' (५।१३१) **'रेतश्चस्कन्द कुम्भे** तु न्यपतद् वासतीतरे। तेनैव तु मुहूर्तेन वीजवन्तौ तपस्विनौ। **अगस्त्यश्च वसिष्ठश्च** तत्रर्षी सम्बभूवतुः' (१२३) तब क्या वेदको स्पष्ट करनेवाली 'वृहद्देवता' भी गप्प है? वादी ही गप्प क्यों नहीं? अद्वैत-वेदान्तानुसार उसकी भी पृथक् सत्ता नहीं है।

(छ) अब महाभारतमें भी देखिये—'स **कुम्भे रेतः** ससृजे सुराणां

यत्रोत्पन्नम् ऋषिमाहुर्वसिष्ठम्' (अनुशा. १५८।१९) तो क्या महाभारत भी गप्प है? यदि नहीं, तब वादीकी 'श्रीमद्भा, समी.' ही गप्प सिद्ध हुई। उसका कर्ता ही गप्पी है।

शेष रहा वीर्यस्कन्दन; सो अधिक वीर्यवाले और परिहाणि अवस्था-वाले वृद्धोंमें शुक्रक्षरण असम्भव नहीं। स्वा.द.जीने स.प्र.में सुश्रुतसं.की परिहाणि अवस्था बताते हुए लिखा है—'जब साङ्गोपाङ्ग शरीरस्थ सकल धातु पुष्ट होके पूर्णताको प्राप्त होते हैं; तदनन्तर जो धातु बढ़ता है; वह शरीरमें नहीं रहता, किन्तु स्वप्न-प्रस्वेदादि द्वारा बाहर निकल जाता है' (स.प्र. ३ पृ. २६) इस नियमसे उनका अधिक बचा हुआ शुक्र विशेष-अप्सरा आदिको देखकर बाहर आ सकता है। इसमें असम्भव कुछ भी नहीं। न कोई प्रमेहको वात है। यह स्वाभाविक है। इन्द्रिय-द्वारा भी वाहर निकल सकता है; तब इसपर आक्षेप क्यों?

(७९) ११ सौ योजन आमके पेड़ वा पर्वतादिके विषयमें पहले पृ. ४१-४४ में हम वता चुके हैं।

(८०) देवकीके मरे हुए ७ पुत्रोंको श्रीकृष्णने वापिस ला दिया (भा. १०।८५) इसपर वादीके मुखसे लघुशङ्का वा दीर्घशङ्का निकल गई कि–कंसने उन्हें मार डाला था; उन बच्चोंके शव भी नष्ट हो गये, तब श्रीकृष्ण उन्हें कैसे ला सके? देवकीने ही उन्हें कैसे पहचाना?'

वादी नास्तिक मालूम देता है, परलोक वा पुनर्जन्मको नहीं मानता। शवके नष्ट होनेसे वह आत्माको भी नष्ट समझ लेता है। वहुतसे पुनर्जन्म वाले अपने गत जन्मके सम्बन्धियोंको पहचान जाते हैं; और सम्बन्धी भी उनके चिह्नोंको जानकर उन्हें पहचान जाते हैं।

परलोकमें यमपुरी भी होती हैं, जिसमें मृतक जाते हैं। स्वा.द. भी अपनी सं.वि.में 'यमालय' मान गये हैं, अर्थ बदल दिया तो क्या हुआ; पर है तो सही। वे उसे आकाशमें मानते हैं। कोई नास्तिक 'ईश्वर' का अर्थ ही बदलकर ईश्वरकी सत्ता उड़ा दे; तो क्या ईश्वर ही नहीं रहेगा?

यमकी पुरीको 'संयमनी पूरी' कहा जाता है—इसे आगे प्रमाणित किया जायगा ? आर्यसमाजानुसार भी यम 'मृत्यु' के अधिष्ठाता देव हैं, जिसका स्वा.द.जीने 'सानुगाय यमाय नमः' कहकर सं.वि.में ग्रास रखवाया है। इस विषयमें 'आलोक' (८) पृ. ४३०-४३८) में मीमांसा देखो।

सो मृतक लोग जब तक उनका पृथ्वीलोकमें पुनर्जन्म न हो; तब तक वहीं यमपुरीमें रहते हैं। बच्चे छः थे, वादीने उन्हें ७ लिख दिया। ७वें तो बलराम थे। देवकीसे गर्भ परिवर्तित होनेपर वे रोहिणीके गर्भमें नाट्यरूपसे गये थे। पहलेके ६ बच्चे पहले ऊर्णाके गर्भमें उत्पन्न हुए थे, उन्हें शाप मिला। वे हिरण्यकशिपुके पुत्र बने। फिर वे देवकीके गर्भमें आये। फिर मरकर सुतललोकमें उनका पुनर्जन्म हुआ। उन्हींको श्रीकृष्ण देवकीके पास लाये थे। फिर वहांसे वे देवलोकमें चले गये। वे देवता थे, शापवश इधर आये थे। इन मृतोंके आगमन-निर्गमनमें देवकीने श्रीकृष्णकी भगवत्ता समझी। परलोक-विद्याविशारद मृतकोंका जो परलोक गये होते हैं—छाया-चित्र भी खींचते हैं, **उनकी आकृति भी उस समय मरणके समयकी-सी होती है**। यहां भी वैसे समझ लेना चाहिये।

कहा जाता है कि—मृतकके हृदयसे एक हड्डी निकलती है, उसे हमारे लोग 'आत्माराम' कहते हैं। वह उसी पुरुषका संक्षिप्त चित्र ही होता है। वाल्मी. युद्ध. (१२१) सर्गमें स्वर्गसे विमान पर आये हुए मृत महाराज दशरथका श्रीरामसे मेल कहा है। वहाँ उनका आकार भी पहले जैसा ही रहा होगा। तभी तो श्रीरामने उन्हें पहचान लिया। गत दिनों पुनर्जन्मकी एक घटना पत्रोंमें आई है कि—एक लड़की मारी गई थी; पुनर्जन्ममें भी उसका वहीं चोटका चिन्ह था। वादीके स्वामी भी इस समय किसी लोकमें घूम रहे होंगे। यदि कोई सिद्ध योगी वादीको उसका स्वामी दिखला दे; तब उसमें 'गप्प' क्या होगी ? क्या वादीके मतसे मृतक बिल्कुल 'नेस्तनाबूद' हो जाता है ? महाशय ! विशेष मुक्ति-

के बिना जीव द्वैतभावमें रहते ही हैं। हों, विशेष मुक्त होनेपर अद्वैत[...] हो जाती है। फिर उनका पृथक् ले आना सम्भव नहीं होता; [...] मुक्ततासे पूर्व वे विशेष दिव्य-पुरुष द्वारा लाये जा सकते हैं। इस प्रका[र] सान्दीपनि गुरुको मृतक गुरु-पुत्र भी यमकी पुरी 'संयमनी' जिसका संके[त] '**ततः संयमनीं** नाम **यमस्य** दयितां **पुरीम्**' (भा. १०।४५।४२) में दि[या] है—लाकर श्रीकृष्णने उपस्थित किया।

यमके पुर 'संयमन'का 'वेदान्तदर्शन' में भी '**संयमने** त्वनुभूय इत[रे]षामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात्' (३।१।१३) इस सूत्रमें संकेत है यहां शाङ्करभाष्य इस प्रकार है—'ते तु **संयमनं**-यमालयमवगाह्य स्वदुष्कृ[ता]नुरूपा **यामीः यातना** (यमकी यातनाओंको) अनुभूय पुनरेव इमं लो[कं] (मर्त्यलोकको) प्रत्यवरोहन्ति'...यमवचनसरूपा श्रुतिः...**यमवश्य**[ता] दर्शयति...'अयं लोको नास्ति पर इतिमानी पुनःपुनर्वशमापद्यते मे [मृ] यमके फन्देमें आ फँसते हैं]' (कठो, २।६) 'वैवस्वतं संगमनं जनानां [य]**राजानं**' (अथर्व. १८।३।१३) इत्येवंजातीयकं च [वेदवचनं] **यमवश्यता**प्राप्तिलिङ्गं भवति' (१३) 'अपि च मनु-व्यासप्रभृतयः शिष्टाः **संयम**[नी]**पुरे यमायत्तं** कपूयकर्मविपाकं स्मरन्ति नाचिकेतोपाख्यानादिषु' (३।१।१[४]

यहां पर यमकी पुरी संयमनीमें यमके द्वारा दी जाती हुई यातना[ओं]का संकेत दिया गया है। वेदमें भी इसका संकेत मिलता है—'[य]क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि **मृत्योरन्तिकं** नीत एव। तमाहरामि निर्ऋ[तेः] [यमराजस्य] उपस्थात् [समीपात्] अस्पार्षमेनं शतशारदाय' (अथ[र्व] ३।११।२) यहां कहा है कि—यदि किसीकी आयु क्षीण हो चुकी हो, (परेत) मर चुका हो; अथवा (मृत्यु) यमलोकमें भी ले जाया जा चु[का] हो, मैं [श्रीकृष्ण जैसा] उसको यमलोकसे वापिस भी ला सकता हूं।

'मृत्यु' यमराजका नाम है; तभी तो कठोपनिषद्में 'यम'को वेदानु[सार] 'मृत्यु' (१।१।४,११) यम (५) वैवस्वत (७) अन्तक (२६) [क]गया है। स्वा.द. भी मुर्दे पर यमके नामकी आहुति '**यमाय** घृतवद् [ह]

र्जुहोत' (ऋ. १०।१४।१४) मन्त्रसे दिलवाते हैं। उसका अर्थ 'संस्कार--प्रकाश' में गुरुकुल कांगड़ीके स्नातकने लिखा है—'**यमकेलिए घृतसे युक्त आहुति दो, और यमकी** अन्य प्रकारसे पूजा करो। यही [यम] हमारे विद्वान् पुरुषोंको जीनेकेलिए दीर्घ आयुका दान करता है'।

'प्रेहि प्रेहि' (ऋ. १०।१।७) मन्त्रका अर्थ भी 'संस्कार-प्रकाश'में लिखा है—'हे मृत जीव ! जिस मार्गसे हमारे पूजनीय पितर (विद्वान्) पुरुष गये हैं, तू भी उस धर्म-मार्गसे जा'। सो पितर (मृतक) यमलोकमें जाते हैं; इससे 'यमराजको' 'पितृपति' (अमर. १।१।५८) कहा जाता है। वेदमें भी यह यमका पितृपति होना स्पष्ट है (अथर्व. १५।१४।१३, १८।२।२१, ५।२४।१४, शत. १६।४।३।६, अ० १८।४।७४, १८।२।२५, यजु. १६।४५)। यमलोकमें गये हुए और फिर वापिस आगये हुए भी नचिकेताको उसके पिताने पहचान लिया।

'यमसादनात्' (अथर्व. १२।११।३, १२।५।६४) यहां वेदमें यमसदन (यमालय) का वर्णन है। '**पथा यमस्य** गादुप' (ऋ. १।३८।५) यहां यमके मार्गका वर्णन है। '**यमस्य लोके** अधि रज्जुरायत्' (अ. ६।११८।२) यहां यमके लोकका वर्णन है। '**यमात्य** नमोस्तु मृत्यवे' (अ. ६।२८।३) यमको यहां मृत्यु बताया गया है। फलतः देवकीके तथा सान्दीपनिके मृतक पुत्रोंको यमलोकसे श्रीकृष्ण-भगवान्‌का लाना असम्भव नहीं।

(८१) अब वादी श्रीमद्भागवतपर अन्तिम आक्षेप लिखता है—'अन्तर्वत्न्यां भ्रातृपत्न्यां मैथुनाय बृहस्पतिः। प्रवृत्तो वारितो गर्भं शप्त्वा वीर्यमवासृजत्' (६।२०।३६) उतथ्यकी गर्भवती पत्नी ममतासे उसके छोटे भाई बृहस्पतिने कामी हो मैथुन करना चाहा। गर्भस्थ बालकने मना किया कि—मैं यहां मौजूद हूं, और बालकको उन्होंने शाप दे दिया कि—तू अन्धा हो जा, उसका नाम दीर्घतमा हुआ।

इस कथापर तो वादीने कुछ आक्षेप नहीं किया; क्योंकि--इसका उत्तर हम उसे 'आलोक' (७) पृ. (८३४-३६) में दे चुके थे। उसपर

उसकी लेखनी न चल सकी। अब वह यहां यह आक्षेप करता है—'गर्भाशयस्थ बालकके मुंह, नाक, कान आदि सभी बन्द रहते हैं। बालक बन्द थैलीमें रहता है, उससे बालककी बातचीत करना यह भंगड़ीकी गप्प है'।

महाशय; यह बात मानुषी गर्भाशयकेलिए तो कदाचित् हो, वस्तुतः तो उसमें भी यह बात लागू नहीं हो सकती, दिव्य आत्माके सन्देशको दिव्य पुरुष सुन ही लेते हैं, यह हम आगे बतावेंगे, पर देवयोनिमें तो मानुषी नियम लागू नहीं होते। वेदमें भी इस कथाका संकेत आया है। देखिये—'ये पायवो **मामतेयं** ते अग्ने ! पश्यन्तो **अन्धं** दुरिताद् अरक्षन्' (ऋ. १।१४७।३)।

इसी मन्त्रसे उक्त इतिहास पुराणोंने दुहा है। इसपर सायणभाष्यमें स्पष्ट कर दिया है—'उच [त]थ्य-बृहस्पतिनामकौ द्वौ ऋषी आस्ताम्। तत्र उचथ्यस्य **ममता** नाम भार्या। सा च **गर्भिणी**। तां बृहस्पतिर्गृहीत्वा अरमयत्। शुक्रनिर्गमनावसरे प्राप्ते गर्भस्थं रेतः प्रत्यवादीत्—हे मुने ! रेतो मा त्याक्षीः। पूर्वमहं वसामि, रेतः-सङ्करं मा कार्षीः-इति। एवमुक्तो बृहस्पतिः बलात् प्रतिरुद्धरेतस्कः सन् शशाप—हे गर्भ ! त्वं यतो रेतोनिरोधमकरोः, अतस्त्वं **दीर्घं** तमः प्राप्नुहि, जात्यन्धो भव-इति। एवं शप्तो **ममतायां दीर्घतमा** अजायत। स च उत्पन्नः तमोव्यथया अग्निमस्तौपीत्। स च स्तुत्या प्रीत आन्ध्यं पर्यहरद्-इति। तदिदमत्र [मन्त्रे] उच्यते'।

इस मन्त्रका ऋषि भी ममताका लड़का **दीर्घतमा** है। उसीका संकेत 'दीर्घतमा मामतेयो' (ऋ. १।१५८।६) मन्त्रमें भी आया है। वादीका आक्षेप परिहृत हो गया; क्योंकि--वेदमें भी वही पौराणिक वर्णनकी एकता होनेसे वेद-पुराणकी **एकवाक्यता** प्रतिफलित हुई। वादी जो अर्थ वेदमें करेगा; वही पुराणमें भी हो जावेगा। गर्भमें स्थित बालक भी बोल रहा होता है—'मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः। आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः' (निरु. १४।६) इस प्रमाणको

स्वा,द.जीने भी निरुक्तके नामसे ऋभाभू.में पुनर्जन्मविषयमें प्रमाणित किया है। इस दिव्य वाणीको दिव्य ऋषि वा देव सुनते हैं। वृहस्पति भी दिव्य देव थे; अतः उन्होंने सुना। निरुक्तकारने गर्भस्थ बालकका उक्त कथन प्रसवसे पूर्वका माना है। इसलिए वहाँ कहा है—'जातश्च वायुना स्पृष्टः तन्न स्मरति' (फिर जीव यह अपनेसे कही हुई बातें जन्म हो जाने पर अर्थात्–गर्भाशयसे बाहर आकर बाहरी वायुके स्पर्शसे भूल जाता है। योगी लोग तो व्यवहित बातको भी अपने दिव्यश्रोत्रसे सुन सकते हैं—यह योगदर्शन (विभूतिपाद ४१ सूत्र) में स्पष्ट है।

इसकेलिए भास्वती टीकामें लिखा है—'सूक्ष्माणां दिव्यशब्दानां ग्रहणसामर्थ्यम्'। 'नवभारत' (२५-१०-६५) में एक 'रोडियोविल' बताया गया है, जिसमें बिगड़नेपर गर्भके अन्दर बच्चेकी स्थितिका पता चल जाता है। वादी इसका प्रयोग करे; तो वह भी गर्भके बच्चेकी वाणी सुन सकेगा। अब वेदकी साक्षी भी देखिये—

'गर्भे नु सन्नन्वेषाम् अन्वेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा' (ऋ. ४। २७।१) यहाँ गर्भमें ठहरे हुए वामदेवने यह मन्त्र बतलाया था, जिसे वैदिक ऋषिने सुन लिया था। उसपर सायणभाष्यमें एक पद्य लिखा है–'ऋषिर्गर्भे शयानः सन् ब्रूते 'गर्भे नु सन्' इति'। यही ऐतरेयारण्यकमें भी समर्थित किया है—'गर्भे एव एतत् शयानो वामदेव उवाच' (२।५।१)। यही बात ऐतरेयोपनिषद्में भी कही है—

'गर्भे एव एतत् शयानो वामदेव एवमुवाच' (२।१।५)। ऋसं, ४।१८ में गर्भस्थ वामदेवका इन्द्र और अदितिसे संवाद बताया गया है। इससे पुराण-वर्णित गर्भस्थ जीवकी बातचीत वेदानुकूल सिद्ध हुई। इसमें आक्षेप करता हुआ वैदिकप्रकाशनका सर्वेसर्वा वेदानभिज्ञ सिद्ध होगया।

(८२) आगे वादीने कई पौराणिक कथाओंमें परस्पर अन्तर दिखलाकर पुराणोंका विरोध दिखलाया है, यह उसका अज्ञान हैं। प्रत्येक कल्प वा मन्वन्तर वा युगोंमें यद्यपि मुख्य घटनाएँ प्रायः 'यथापूर्वमकल्पयत्'

न्यायसे पूर्ववत् ही आवृत्त होती हैं; तथापि कभी किसी कल्पमें घटनाओंमें भिन्नता भी हो जाती है। सो पुराण भी कभी भिन्न कल्पके मिलनेसे उनमें भी प्रत्येक कल्पसे कुछ भेद हो जाना स्वाभाविक होता है। यह भी आवश्यक नहीं कि–सभी पुराण एक ही कल्पके हुए हों। कभी किसी कल्पका एक पुराण बच गया, और दूसरा नष्ट हो गया; दूसरा पुराण अन्य किसी कल्पका बच रहता है, और वह हो जाता है। सो कल्पभेदमें घटनाभेदवश कभी एक-दूसरेसे भिन्नता हो हैं; यह परस्पर-विरोध नहीं हो जाता।

पुराण तो भला बहुत प्राचीन हुए; वादी आर्यसमाजके इतिहास स्वा.द.के जीवन-चरित्रोंको ही उदाहरणरूपसे देखे। कल पैदा हुए स्वा.द.जीका एक स्वकथित जीवन-चरित्र जो थियोसॉफिकल सोसायटीके अखबारमें निकला था; दूसरा दलपतराय जगरावांका दयानन्द-चरित्र, लेखरामकृत दया. चरित्र, स्वा. सत्यानन्दकृत दयानन्दप्रकाश, देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय-प्रणीत स्वामिचरित्र देखिये। उनमें परस्पर घटनाओंमें एवं तारीखोंमें, पितृनामोंमें, निवासनगरमें, एवं जन्मनामोंमें उसे भेद दीखेगा। स्वा.द.को अभी बहुत समय नहीं स्वामीके चरित्रपुस्तकोंके लेखक भी प्रायः दयानन्दी हैं, फिर भी भेद है? चौ० जीयालालरचित तथा अन्योंसे रचित स्वा.द. चरित्र हैं, उन्होंने भी बहुत खोज की हैं; उनमें भी बड़ा भेद है। तब पौराणिक घटनाओंके अङ्कनमें यदि कुछ भेद हो; तो कल्पभेदसे आश्चर्य नहीं। वादीको पहले अपने घरको देखना चाहिये।

हमारे 'श्रीसनातनधर्मालोक' को ही देख लो। इसके १-२ द्वितीय संस्करण हो चुका है। तृतीय पुष्पका भी द्वितीय संस्करण चतुर्थका भी। उनमें कुछ परिवर्तन देखकर क्या वादी प्रक्षिप्त लेगा? इस प्रकार पुराणोंके भिन्न-भिन्न कल्पोंके भिन्न-भिन्न संस्करण विषयमें भी जान लेना चाहिये।

अन्य यह भी स्मर्तव्य हैं कि–ब्रह्मा, विष्णु, महादेव यह तीन बड़े देव हैं। इनमें भी कल्पभेदवश कभी कोई एक बड़ा हो जाता है, कभी दूसरा। तब जिसकी प्रधानता होगी; उसमें घटना-वैचित्र्य हो जाना स्वाभाविक है। मान लो, जब महादेव बड़े हों; तब विष्णु गौण हो जाते हैं। उस समय महादेवका विष्णुपर आधिपत्य होगा। तब विष्णु महादेवके अङ्ग होंगे; अतः अपेक्षाकृत विष्णुकी वहाँ निन्दा भी आ सकती है। उस शिवकी प्रधानतामें विष्णुका कोई अवतार शिवसे उपसंहृत भी हो सकता है।

जब विष्णु बड़े हो जावें; तब उनकी माया महादेवको भी दबा दे सकती है। उस समय अपेक्षाकृत महादेवकी तथा उनके सम्प्रदायकी निन्दा महादेवके मुखसे भी हो जा सकती है। इस प्रकार वादी इस विषयपर ज्ञान संचित करे। इस कल्पभेदका पुराणों-द्वारा संकेत हम 'आलोक' (७) में 'कौन पिता ?' इस शीर्षक (पृ. २८४-२९४) में तथा इस पुष्प (३२ पृष्ठ) में दे चुके हैं। इससे इन तीनोंका एकत्व और भेद उपाधिमात्र होता हैं, वास्तविक नहीं।

(ख) शेष रहा नृसिंहका एक पुराणमें अन्तर्धान होना, तथा दूसरेमें नृसिंहरूपका शिवद्वारा संहार; सो यहाँ भी पूर्व कहे प्रकारसे दूसरे स्थान शिवकी मुख्यता बताना इष्ट हो सकता है। वास्तविकतामें वहां दोनोंका अभेद ही तात्पर्यका विषय होता है। अतः दोनों स्थान समान ही आशय होता है। नृसिंहरूपसंहारकथामें 'वध' वा 'संहार' शब्द औपचारिक वा आलङ्कारिक है। इस विषयमें स्पष्टता 'आलोक' (७) (पृ. १६८-१७२) में देखकर वादी फिर उसी पुष्पके ४७८-४८६ पृष्ठोंमें देखे, उसे सब समाधान प्राप्त होंगे। अध्यात्मरामायणमें श्रीरामने परशुरामको कहा था कि–'मत्तेजः पुनरादास्ये त्वयि दत्तं मया पुरा' (१।७२।२७) में पहले दिये हुए अपने तेजको तुमसे आकर्षित कर लूंगा'। इससे तेजोविहीन परशुराम उस समय अवतार न रहे, किन्तु मुनिमात्र रह गये, सो यह

परशुरामरूपका संहार हो गया। यही बात नृसिंहरूपसंहारमें भी समाविष्ट है।

पराभूत एवं तेजोविहीनकी 'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते' (गीता २।३४) न्यायके अनुसार साहित्यिक-कविकी भाषामें 'मृत्यु' कह दी जाती है। जैसे यह कहा जावे कि–'भारतके प्रधानमन्त्री* श्रीलालबहादुरशास्त्रीने भुट्टो एवं अयूबका इस युद्धमें चमड़ा उधेड़ दिया। अथवा 'शास्त्रीजीने भुट्टो एवं अयूबखांको कब्रमें दफना दिया' यह तात्पर्य बच्चोंको समझ नहीं आता। वे पूर्वोक्त वाक्योंका यथाश्रुत अर्थ समझकर भौंचक्के हो जाया करते है कि–ऐं, अखबारोंसे तो भुट्टो एवं अयूब जीते हुए सुनाई पड़ रहे हैं; मरे वे कब ? और कब वे कब्रमें दफनाये गये ? इस प्रकार हमारा प्रतिपक्षी भी बेचारा बच्चा है। नया जोश है। जब हम इसके अज्ञानरूप फोड़ेका आपरेशन करते हैं; तो यह चीखता है, चिल्लाता है, बुरी-बुरी गालियां निकालता है, परन्तु हम इसके कल्याणकी कामनासे ऐसा कर रहे हैं, जिससे वह अज्ञानसे परे हट जावे। हमारा उससे कोई वैयक्तिक राग-द्वेष नहीं है।

(ग) इस प्रकार वादीको भृगु-द्वारा शिवजीकी परीक्षामें (१०।८९।५-७) तथा पद्म. (उत्तर. २५५।२६-३६) की भिन्नतामें तथा अनसूयाकी कथा (भा. ४।१।३०-३१) तथा भविष्यपुराण (प्रति,खं. ४ अ. १७ श्लोक ६७-७५) में भी कथावैचित्र्य समझ लेना चाहिये। वैसे भविष्यपुराणकी अनसूयाकी कथाका 'आलोक' (७) (पृ. ६४-६७ तथा पृ. २३०-२३१) में हम समाधान कर चुके हैं।

(घ) शेष है भाग.में श्राद्धमें मांस वा यज्ञमें पशु-वध आदि, सो श्रीमद्भागवत वैष्णव-ग्रन्थ होनेसे वहाँ मांसका निषेध ही सिद्धान्तपक्ष

* यद्यपि आज माघ कृष्णा ५ भौमवार सं० २०२२ को प्रधान मन्त्री श्रीलालबहादुरशास्त्रीका देहान्त हो चुका है; तथापि इस ऐतिहासिक भारतोन्नायक श्रीशास्त्रीका दृष्टान्त हम नहीं बदल रहे।

है। 'न दद्याद् ग्रामिषं श्राद्धे नचाद्याद् धर्मतत्त्ववित्। मुन्यन्नैः स्यात् परा प्रीतिर्न तथा पशुहिंसया' (७।१५।७-८) यहां श्राद्धमें मुनियोंके अन्नोंका सिद्धान्त रखा गया है। तथा याज्ञिक-मांसका भी 'ये त्विह दाम्भिका दम्भयज्ञेषु पशून् विशसन्ति, तान् अमुष्मिन् लोके वैशसे नरके पतितान् निरयपतयो यातयित्वा विशसन्ति' (भा. ५।२६।२५) तथा 'पशोरालभनं न हिंसा' (११।५।१३) इत्यादि द्वारा निषेध उत्तरपक्ष है। यहां बताया गया है कि-यज्ञमें पशुओंके काटनेवालोंको भी वैशस नरकमें काटा जाता है। इससे अन्य निषेध क्या चाहिये ?

अकबरने बीरबलको कहा था कि-इस कलमको **बिना काटे** छोटी कर दो; तब बीरबलने उस कलमके साथ एक बड़ी कलम रख दी; और कह दिया कि-आपकी यह कलम, बिना काटे छोटी हो गई है-यह देख लीजिये। सो श्रीमद्भागवत आदि जिस भी पुराणमें पशुहिंसा वा मांस आवे; और अन्यत्र उससे विरुद्ध पक्ष आ जावे; तो वहां **हिंसा-निषेध** उत्तरपक्ष होता है; हिंसा ओर मांस वहाँ **पूर्वपक्ष** रह जाता है।

वहाँ विरोध वा प्रक्षेप नहीं होता, किन्तु वह पूर्वपक्ष भी रजोगुणी एवं तमोगुणियों वा क्षत्रयज्ञ वालोंमें चरितार्थ हो जाता है। जैसे कि-समाजमें केवल ब्राह्मण ही अपेक्षित नहीं होता, भंगी भी अपेक्षित होता है। विपक्षी जैसे डाक्टरको तो पहले खरगोश वा मेंडक भी काटने पड़े होंगे, इन्हींसे वह जीवितोंके आपरेशनमें सफल हो सकता है। नहीं तो सफल नहीं हो सकता।

व्यवहारमें केवल सोनेकी ही आवश्यकता नहीं पड़ती, देशके शत्रुओंको नष्ट करनेकेलिए तलवार वा बन्दूक आदिके बनानेकेलिए लोहे वा सीसेकी भी आवश्यकता पड़ती है। इसी तरह समाजमें केवल सात्त्विकता ही इष्ट नहीं होती, किन्तु राजसता एवं तामसताकी भी आवश्यकता पड़ा करती है। केवल तोता-मैना-कोयल आदि पक्षियोंकी आवश्यकता नहीं पड़ती, हमारी गन्दगीको साफ़ करनेकेलिए चील, कौवा, बाज़ आदि

भंगी पक्षियोंकी भी आवश्यकता रहती है। हमारे विषैले वायुमण्डलके विषपान करनेकेलिए सांप, विच्छू, ततैया आदिकी भी आवश्यकता पड़ा करती है।

सो रजोगुण एवं तमोगुण न हों; तो हमें रजोगुणी वा तमोगुणी शत्रु नष्ट कर दें। पाकिस्तान जब बन गया था; और वहांके मुसलमान ग्रामोंके शान्त हिन्दुओंको काट रहे थे; वा उन्हें मुसलमान बना रहे थे; वहांपर मांसभक्षी हिन्दुओंने ही मुसलमानोंको काटकर अपनेको तथा अन्योंके धर्म तथा स्त्रियोंको बचवाया, लोहेकी तलवारको रोकनेकेलिए **लोहेकी** ढालकी ही आवश्यकता पड़ती है। हिंसायज्ञोंके अभ्यासी ही **आततायी हिंसकोंके** मुकाबलेमें खड़े हो सकते हैं, उनके दांत खट्टे कर **सकते हैं**। यह बात परम स्पष्ट है। केवल सात्त्विक तो उस समय डरकर **छिपनेका** स्थान ढूंढते हैं; वा तामसियोंसे छुरेके घाट उतारे जाते हैं। **दिल्लीमें** कई ऐसे मुसलमानी मुहल्ले थे; उनमें कोई हिन्दु विशेष करके **किसी स्त्रीको** साथ लेकर सकुशल उधरसे नहीं गुज़र सकता था; यह **हमने दिल्ली**-निवासियोंसे सुना है; पर पाकिस्तानसे आये हुए वैसे ही **हिन्दुओंके** आजानेपर अब सभी हिन्दु स्त्रियोंके भी साथ उधरसे निश्शङ्क होकर गुज़र जाते है। मांसभक्षियोंके हमारे देशमें रहनेसे हम लोगोंकेलिए अन्न भी बच सकता है। सभी केवल अन्नभक्षी रहें; तो सात्त्विकोंकेलिए **अन्नकी** कमी हो जावे और भूखों मरनेकी नौबत आ जावे।

जहां मांस खानेकेलिए भी वर्णन आता हैं, वहां बताया जाता है कि-**अमुक** पर्वके दिन मांस मत खाओ। इससे भी मांसकी निवृत्ति ही **सिद्धान्तित** होती है। एक मद्यप जो मद्यको छोड़ना नहीं चाहता था, **वैद्यने** उसे कहा कि-यह लो २०० गोलियां हैं। यदि इनमेंसे मद्य पीनेके **समय** एक-एक गोली डालकर मद्य पिया करोगे; तो तुम्हें बड़ा लाभ **पहुंचेगा**। मद्यपने वैसा करना शुरू किया। डाली हुई गोली निकालनेका **आदेश** नहीं था। मद्यप समझता था कि—मैं पहलेकी भांति अब भी

भरा हुआ मद्यका गिलास पी रहा हूं, पर यथार्थता यह थी कि-गोली गिलासमें पड़कर अपना स्थान भी लेती थी। इससे गिलासमें उतना मद्य कम पड़ता था। यह मद्य छुड़ानेका प्रकार था। इस तरह प्रतिदिन करनेसे गिलास भी गोलियोंसे भरता गया; अन्तमें मद्यपकी मद्य पीनेकी आदत भी धीरे-धीरे छूट गई। यही हमारे दूरदर्शी मुनियोंका मांस छुड़ानेका प्रकार था।

सो जैसे सदाकेलिए ब्रह्मचारी रहना उत्तम कोटि है; क्योंकि-जिस स्त्रीजातिमें पुरुष पैदा हुआ, फिर उसीमें गमन करे; तो यह पशु-प्रवृत्ति है; अतः सदासे स्त्रीमें गमन न करना यह उत्तम कोटि हुई। फिर वेद-मन्त्रोंसे किसी एक शास्त्र-नियमित कुमारीको ले लेना और सृष्टि-प्रवर्धनार्थ उसका ऋतुकालमें प्रयोग करना यह मध्यम कोटि है; पर विना विवाह किये अपनी इन्द्रियकी वासनाकी तृप्तिकेलिए किसी लड़कीसे बलात् मैथुन कर लेना—यह अधम एवं निषिद्ध कोटि है; वैसे ही मांसका किसी भी प्रकारका प्रयोग न करना--यह उत्तम कोटि है। शास्त्रीय यज्ञ-द्वारा पशुवलि करना यह मध्यम कोटि है। विना ही शास्त्र वा यज्ञके केवल जिह्वाके आस्वादार्थ वा स्त्रीविषयानन्द पानेकेलिए उत्तेजना-प्राप्त्यर्थं मांस खाना—यह अधम कोटि है। इस प्रकार व्यवस्था लग जाती है; पर इस विपक्षीको व्यवस्थाओंसे क्या सरोकार ? उसने तो स.ध.को लोकदृष्टिमें गिराना तथा अपने पैसे खड़े करने—यही लक्ष्य रखा हुआ है।

कोई भी आदत वन चुकी हो; जल्दीसे नहीं छूट सकती। यह माँसका प्रचार **सृष्टिके आरम्भसे** ही चला आया था। इसलिए प्राचीन कोई भी ग्रन्थ ले लो; उसमें आपको मांस मिलेगा। कारण यह है कि--सृष्टि हो जानेपर सारी पृथिवीमें पहाड़ोंकी बहुलतावश ऊँचाई होनेसे जमीनें वहुत खाली नहीं रहती थीं। जो रहती भी थीं; उनमें भी ऊँचाई के कारण वादल वहुत वनते थे; और वर्षा अत्यधिक होती थी। इससे

खेत वह जाते थे। अन्न कम उपजता था; इससे लोगोंमें उदरपोषणार्थ मांसकी प्रवृत्ति स्वभावतः हो गई थी। जव राजा पृथु प्रकट हुए; उन्होंने पहाड़ोंको अपने वारूदके समान वाणोंसे तोड़ना शुरू किया। नगर वनाये। ग्राम वनाये। सड़कें वनाईं। पृथ्वीकेलिए उपयुक्त कुल-पर्वतोंको रखकर उन्होंने शेष पर्वत उड़ा दिये। अव निम्नता होजानेसे वर्षाएँ कम हो गईं। तव खेतोंमें अन्न पर्याप्त उपजने लगा।

पर जिनकी मांसकी प्रवृत्ति पहले हो चुकी थी; वे उसे छोड़ना नहीं चाहते थे; तव शास्त्रकारोंने लिखा कि—जो सौ अश्वमेध यज्ञ करे, और जो माँस विल्कुल न खावे, उन दोनोंका फल वरावर होता है। इस प्रकार धीरे-धीरे प्रोत्साहन देते रहनेसे मांस क्रमशः कम हो गया।

यह है मांसप्रवृत्तिका परम रहस्य, और उसके छुड़ानेका प्रकार। अव देखिये—सनातनधर्म भी उत्सवोंमें मांस-मद्य आदिकी निन्दा करता है, आर्यसमाज एवं जैनसमाज भी इनके निषेधका प्रचार करते हैं, फिर भी देखिये—संसारमें मांसभक्षण एवं मद्यपानमें लोगोंकी कितनी प्रवल प्रवृत्ति और कितनी भारी संख्या है। तथापि यथाशक्ति अपने-अपने तरीकोंसे उनके हटवानेकी चेष्टा करनी ही चाहिये। उनको मांसके ही मोड़में लाकर मांस उनसे छुड़वाया जा सकता है। एकदम निषेध कर देनेसे आर्यसमाज-की मांसपार्टीकी तरह वह पार्टी प्रवल हो उठेगी, हटेगी नहीं; और हमसे विरोध करेगी।

श्राद्धमें मांस वा पशुवधविषयमें 'आलोक' (७) (पृ. ४६४-६५) तथा (३११-३२७) पृष्ठ तक देखना चाहिये। वादीके सब आक्षेप वहां समाहित कर दिये गये हैं। श्रीमद्भा.में हिंसाके विरोधमें दिये हुए वचनों-को वादी द्वारा प्रक्षिप्त कहना--यह अंग्रेजी पढ़े-लिखोंकी शैली है। वे लोग यही तर्क वेदकेलिए देते हैं कि—वेदमें हिंसाके निषेधक वचन पीछेके मिलाये हुए हैं; उसमें स्थित पशु-वध और मांस आदि प्राचीन हैं। यदि वादी भी यही मानेगा; तव उसे हिंसा प्राचीन माननी पड़ेगी।

(ङ) भागवतमें हिंसाके विरोधमें दिये हुए वचनोंको प्रक्षिप्त बताता हुआ वादी एक उपहसनीय तर्क देता है कि—भागवतके १८००० श्लोकों में १४१८० श्लोक मिलते हैं, शेष ३८२० श्लोक भागवतसे निकाल डाले गये हैं'।

क्या खूब ! इसमें तो उल्टा भागवतमें कमी ही सिद्ध हुई; प्रक्षिप्तता (अधिकता) तो सिद्ध न हुई। तब वादी हिंसानिषेधक श्लोकोंको प्रक्षिप्त मानकर अपनेसे विरुद्ध, भाग.के १४१८० श्लोकोंसे भी कम श्लोक करना चाहता है ! यह उसका 'वदतोव्याघात' है। हम इस विषयपर 'आलोक' (६ पृ. ६३८) में स्पष्टता कर चुके हैं, वादी वहीं अपने आक्षेपका समाधान देख ले।

(च) श्रीकृष्णका पार्वतीका अवतार होना, नारायणका काले बालका अवतार होना आदिपर हम 'आलोक' (७ पृ. ३०२-३०३) में तथा अन्यत्र कई वार लिख चुके हैं; पर यह वादी स्वयं पुनरुक्ति करता है इससे वह अपने अनुसार उक्त समीक्षाकी भिन्नकर्तृकता सिद्ध कर रहा है। विष्णुपुराणमें भी 'एवं संस्तूयमानस्तु **भगवान् परमेश्वरः**' (५।१।५, ६३) नारायणको परमेश्वर कहा गया है। उनके अङ्ग केशसे उत्पन्नको वह यदि केशावतार मानता है; तब वादी अपनी माताके जिस अङ्गसे उत्पन्न हुआ है, वह अपनेको क्या उसी अङ्गका अवतार घोषित करेगा ?

(८२) वेद तो एक ही है, उसमें मन्त्र तीन प्रकारके होते हैं—ऋक्, यजुः, साम। यह पुस्तकोंके नाम नहीं हैं, मन्त्रविशेषोंके नाम हैं। उन्हीं प्रकीर्ण मन्त्रोंको श्रीव्यासजीने यज्ञोपयुक्त बनाकर चार भागोंमें बांट दिया है। उनकी भी चार पोथियां नहीं हैं, किन्तु ११३१ संहिताएँ हैं। उसकी यही निशानी है कि—एक वेदमें भी कई मन्त्र पुनः-पुनः आते हैं। इसका कारण यह है कि--वे मन्त्र यज्ञविशेषोंमें भिन्न-भिन्न विनियोगोंसे पुनः-पुनः बोलने पड़ते हैं। अतः वेदमें भी वे-वे मन्त्र श्री-व्यासजीको यज्ञानुसार पुनः-पुनः लिखने पड़े।

कहीं वेदोंमें भिन्न-भिन्न प्रतीकें भी इसलिए लिखनी पड़ीं; अन्य स्थलोंमें स्थित उन मन्त्रोंको यज्ञविशेषके अवसर पर पुनः पड़ता है; अतः वेदमें भी वह-वह मन्त्र श्रीव्यासजीको यज्ञानु पुनः रखने पड़े। इस विषयमें अजमेरी वैदिक यन्त्रालयकी (पृ. १४०।१४१) देखो। वहां ३३।२३ में 'तं प्रत्नथा, अयं दो मन्त्रोंकी, ३३।२७ में 'महाँ इन्द्रो' 'कदाचन स्तरीरसि, प्रयुच्छसि' इन तीन मन्त्रोंकी, ३३।३२ से फिर 'तं प्रत्नथा, चित्रं देवानाम्' इन तीन मन्त्रोंकी, इस प्रकार ४७ में छः मन्त्रों मन्त्रमें दो मन्त्रोंकी, ७३ मन्त्र में फिर दो मन्त्रोंकी, १७वें मन्त्रोंकी, ३४।५८में चार मन्त्रोंकी प्रतीकें रखी गई है, वह इसी है कि व्यासजीने यज्ञोपयुक्त मन्त्रोंका चार विभागरूपसे संकलन कि

वेदव्यासजी **परमात्माके** अवतार माने जाते हैं; इसलिए स भी मुसलमानोंको उत्तर देते हुए व्यासजीको स.प्र. १४ पृ. ३४५ १९ में 'खुदाके अवतार व्यासजी' कहते हैं। इसलिए 'वेदान् विभजति' इस व्युत्पत्तिसे उनका नाम भी 'वेदव्यास' प्रसिद्ध हो ग 'वेद' शब्दसे मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद तथा वेदरूप सूत्रोंके अर्थ उदाहरण-प्रत्युदाहरणरूप भाष्य, पञ्चम-वेद पुराण भी गृहीत हो

(८४) वीर्यपानके भाग. (५।२६।२६) में निषेध होनेसे वीर्य विधान यदि वादी मानता है; तो शास्त्रोंमें चोरी, जारी, हिंसा निषेध दीखनेसे क्या वादी चोरी-जारीका भी विधान मान लेगा

(ख) कुलार्णवतन्त्रमें 'भगलिङ्गामृत' तो पारिभाषिक शब्द है रज-वीर्यका पान इष्ट नहीं। इस विषयमें 'आलोक' (९ पृ. ६७८, ९३) में देखो। कुलार्णवतन्त्रमें 'अदीक्षितैरनाचारैरतत्त्वज्ञैरदैवतैः समरभ्रष्टैर्न कुर्याद् द्रव्यसङ्गतिम्' (८।८) 'विकृतिं मनसो उल्लासं प्रकुर्वते। तदा तु देवताभावं भजन्ते योगिपुङ्गवाः' (भवपाशनिवृत्त्यर्थं **ज्ञानपानं** समाचरेत्। यः सेवते सुखार्थाय मद्य

पातकी' (५।८८) मनसा चेन्द्रियग्रामं संयोज्यात्मनि योगवित्। **मांसाशी स भवेद् देवि! शेषाः स्युः प्राणिहिंसकाः'** (५।११०) परशक्त्यात्ममिथुन-संयोगानन्दनिर्भरः। य आस्ते **मैथुनं** तत् स्यादपरे स्त्रीनिषेवकाः' (११२) इत्यादि तन्त्रके पद्योंमें इस मार्गमें योगियों, सदाचारियों, मन और इन्द्रियोंके संयम करनेवालोंको अधिकृत बताया गया है। इसलिए वहां इन पद्योंमें माँस, मद्य, मैथुन आदिकी परिभाषा भिन्न सिद्ध होती है। नहीं तो तन्त्रानुसार मद्य, मैथुन आदिके अनाचार होनेसे उनका यहां ग्रहण इष्ट होनेपर तन्त्रके वचनकी असङ्गति उपस्थित हो जायगी।

जैसे यहां मद्य-मैथुन आदिकी परिभाषा उक्त तन्त्रमें इष्ट है, वैसे ही यहां भग-लिङ्गामृत भी इसी रूपसे पारिभाषिक हैं। दम्पतीके मैथुनसे ही तो रज-वीर्य निकलते हैं; सो **पराशक्तिरूप** भग और **आत्मारूप** लिङ्गकी **मिथुनतासे** हुए आनन्दसे प्राप्त **ध्यानरूप** भगलिङ्गामृतसे—जिसके आनन्दसे आंखें भी अपने आप मस्त होकर बन्द हो जाती हैं—से महादेवजीने अपना तोष व्यक्त किया है। प्राकृत रज-वीर्य तो मल माने जाते हैं, और अपवित्र भी होते हैं; अतएव वे अमृत नहीं। अण्डेमें भी भगलिङ्गके रज-वीर्यका मिश्रण होता है; पर वे न तो पवित्र होते हैं; और न अमृत-स्वरूप। अतएव वे इस कठिन एवं पवित्र योगमार्गमें ग्राह्य नहीं होते।

तन्त्रोंकी परिभाषाओंका वादीको ज्ञान न होनेसे वह उनपर दोष लगाता है। वह याद रखे—भावचूड़ामणिमें लिखा है—'तन्त्राणामति-गूढत्वात् तद्भावोऽप्यतिगोपितः। ब्राह्मणो वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो बुद्धिमान् वशी। गूढतन्त्रार्थ-भावस्य निर्मथ्योद्धरणे क्षमः' (तन्त्र बहुत गूढ हैं; अतः उनका भाव भी बहुत गुप्त रखा गया है। वेद एवं शास्त्रोंका अर्थ एवं तत्त्व जाननेवाला बुद्धिमान् जितेन्द्रिय ही गूढ तन्त्रोंके अर्थका मथन करके उनका उद्धार कर सकता है) तब आपाततोदृष्टिवाला अर्थ करते हुए वादीकी इससे अविद्वत्ता ही सिद्ध हो गई। इस मार्गके विषयमें 'श्रीसना-तनधर्मालोक' (५) पृ. ७९८-८०५ तकका अच्छी तरह मनन करनेसे

वादीको ज्ञान मिल सकता है।

(८५) भा. (८।७।४) में वादीने दैत्योंका वेदज्ञ होना दिखलाया है; यह क्या नई बात उसने लिखी है। विश्वरूप आदि दैत्य वेदके विद्वान् तो यज्ञ भी कराया करते थे। इन्द्र देवता भी उन्हें यज्ञार्थ बुलाया करते थे; यह यजुर्वेद-शतपथब्राह्मणमें स्पष्ट है। राक्षस भी वेदके विद्वान् होते थे। क्या राक्षस रावणको विपक्षी भूल गया? रामायणमें हनुमान्ने राक्षसोंका वेदमन्त्र-पाठ भी सुना था। देखो—'**शुश्राव जपतां तत्र मन्त्रान्** रक्षो-गृहेषु वै। स्वाध्याय (वेदपाठ) निरताँश्चापि यातुधानान् ददर्श सः' (५।४।१३) क्या विपक्षी लोग भी अपने-आपको वेदज्ञ नहीं कहते? वे भी वेदोंके उन्हीं दैत्यों-राक्षसोंवाले अर्थ किया करते हैं; अतः उन्हींके पक्षपाती यह लोग उन्हींका अवतार अपने-आपको कह सकते हैं।

(८६) सूतको शूद्र मानना तथा बलराम द्वारा सूतका मारना—इस विषयपर वादी 'आलोक' (३) (पृ. २९९-३०९) देखे। सूतजी शूद्र नहीं थे, किन्तु अयोनिज ब्राह्मण थे—यह उक्त पुष्पमें हमने सप्रमाण स्पष्ट कर दिया है।*

(८७) भा. (११।१७) से गीताके १०वें अध्यायका अनुकरण है, जैसे कि वेदमें 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' (ऋ. १।८९।१०)में अदितिकी विभूति वर्णित है, जैसे कि निरुक्तमें भी लिखा है—'अदितिर्द्यौः, इति अदितेर्विभूतिमाचष्टे' (४।२३।१) वैसे ही श्रीमद्भा. तथा भगवद्गीता-आदिमें भी भगवान्की विभूतियां बताई गई हैं। तब भाग. और गीताकी भाषामें विभिन्नता कैसी? ऐसी आशङ्का वादीका 'बालभाषित' है।

श्रीबाणभट्टकी कादम्बरी तथा हर्षचरितमें भाषाका पर्याप्त अन्तर है। ऋग्वेदसं.की भाषा तथा अथर्व.की भाषाका आपसमें बड़ा अन्तर है। तब क्या यह समान लेखक भिन्न-भिन्न हो जाएँगे? यह विपक्षीकी

*तृतीय पुष्प अब समाप्त हो चुका है, समय पाकर उसका द्वितीय संस्करण छपेगा।

पाश्चात्योंवाली बड़ी अनोखी सूझ है। इस विषयमें दयानन्दी वादी अपने श्रीभगवद्दत्तजी रिसर्च-स्कालरका प्रत्युत्तर 'आलोक' (५) पृ. ८-१० में देखे। अतः दोनोंके व्यासप्रोक्तत्वमें भेद नहीं आता।

(८८) अब वादी अपने मुखसे कई अन्य लघुशङ्काएँ, परन्तु अपनी समझके अनुसार दीर्घशङ्काएँ निकाल रहा है; इससे वह शङ्काओंका रोगी मालूम होता है। डाक्टरको अपनी दवाई नहीं लगती; अतः हमें ही उसकी दवाई करनी पड़ रही है, जिससे वह ठीक हो जाए।

वह लिखता है—'भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्' (भा, २।६।३६) कि-किसी भी कल्पमें तुम्हें 'मोह' कभीं नहीं होगाः किन्तु 'स्वयैव माययाऽजोपि स्वयमेव विमोहितः' (१०।१३।४४) विष्णुको मोहने गये ब्रह्माजी स्वयं ही कृष्णकी मायासे विमोहित हो गये'।

(क) यह वादीकी अपनी लघुशङ्का नहीं है, यह स्वा.द.जीकी लघु-शङ्का वादीके अन्दर पहुँचकर फिर दोबारा उसके मुखसे निकली है। इसपर श्रीधराचार्यने स्पष्ट कर दिया है—'कल्पेषु ये विकल्पाः—विविधाः सृष्टयः, तेषु विमोहं—कर्तृत्वाभिनिवेशं भवान् न यास्यति (तुम यदि परम समाधिमें स्थित रहोगे, तो कल्पोंकी कई प्रकारकी सृष्टि करनेमें तुम्हें मोह नहीं पड़ेगा कि-इनका कर्ता मैं हूं। वह समाधि तुम्हें सृष्टि रचनेके 'अहंता' के अभिमानसे बचावेगी। तब बछड़ोंके अपहरणमें सृष्टिका कुछ भी विकल्प नहीं था। वहां 'कल्पेषु' पाठ नहीं है; किन्तु 'कल्पविकल्पेषु' पाठ है; तब वादीने उसका 'किसी भी कल्पमें' यह अर्थ कैसे कर लिया? वे तो भगवान्की मायामें मोहित हो गये थे। इससे उनका पूर्ववचनसे कुछ भी विरोध नहीं। भिन्न विषयमें भिन्न-भिन्नतासे विरोध नहीं हुआ करता। तभी तो ब्रह्माजीने भगवान्की स्तुति की। 'त्वन्मायामोहिताः सर्वे ब्रह्माद्याः त्रिदिवौकसः' (३।३१) इस सत्यनारायण-व्रतकथाके शब्दोंसे मायामें मोह ब्रह्मा आदिका सभी पुराणोंमें बताया जाता है।

(ख) देवकीका गर्भ योगमायासे रोहिणीमें पहुँच गया। योग[illegible] शक्ति हम पहले बता ही चुके हैं।

(८९) त्रिः सप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ!' (७।१[illegible] ऐ प्रह्लाद! तुम्हारे पिता २१ पीढियोंके साथ तर गये अर्थात् [illegible] गये—यह नृसिंहजीने वर दिया था। जब तर गये, मुक्त हो [illegible] फिर उनका पुनर्जन्म कैसे?' यह वादीकी शङ्का है। वादीके [illegible] **जब मुक्तका पुनर्जन्म मानते हैं;** तब वादीको इस मुक्तिमें पुन[illegible] शङ्का कैसे हुई? इसका तो यह भाव हुआ कि स्वा.द.के शिष्य[illegible] स्वामीकी गल्ती निकाली। वाह स्वामीजी! आपका अपने शिष्य[illegible] सम्मान!!!

स्वा.द.जीने तो इसमें पीढ़ीका प्रश्न उठाया था कि—हिरण्य[illegible] चौथी पीढ़ीमें था; तो उसकी २१ पीढ़ियां कहांसे आईं? इसका [illegible] श्रीधरस्वामीने संस्कृत-टीकामें दे दिया था कि—यह कथन उसकी [illegible] की पीढ़ियोंके अभिप्रायसे है।

वादीके अनुसार यहाँ उसके पिताका **'पवित्र'** होना (पापोंसे [illegible] हो जाना) लिखा है, मुक्त होना नहीं लिखा। उनकी अच्छी गति [illegible] यह तात्पर्य है, अर्थात् साधारण कुलमें जन्म नहीं होगा। जहां [illegible] होगा; वहाँ परम ऐश्वर्य-सहित होगा, सो राक्षस वा दैत्ययोनि [illegible] अन्तर्गत होनेसे (यह हम अन्यत्र लिख चुके हैं) मनुष्ययोनिसे उत्त[illegible] हैं; और फिर सनक आदियोंके शापके अनुसार उनके तीन जन्म [illegible] **होने थे;** तब आकर उनका पूर्ण उद्धार होना था। उनने ज[illegible] बनना था। अतः **एक जन्ममें मुक्ति नहीं मिलनी थी।** सो [illegible] पीढ़ियोंका पवित्र होजानेका अर्थ है—'त्रिः सप्तभिः पिता पूतः [illegible] (७।१०।१८) यहाँ 'पूतः' पाठ है, 'मुक्तः' नहीं। मुक्तिसे [illegible] जन्म लेना गलत बात है, तो अपने ऋषि [स्वा.द.) का सिद्धान्त **गलत माने, जिसमें स्वामीने मुक्तोंका भी पुनर्जन्म माना है।** इस [illegible]

भी इनका पुनर्जन्म कई लाख वर्षोंके बाद हुआ है। स्वा.द. तो ३६००० वर्षोंके बाद मुक्तका पुनर्जन्म मानते हैं; तब वादीको शङ्का कैसी ? यदि स०ध०के सिद्धान्तपर शङ्का हो; वह भी ठीक नहीं। क्योंकि—वरदान आदिके प्रभावसे तीन जन्म अवश्य होने थे। वादीका आक्षेप परिहृत हो गया।

(६७) यह प्रसन्नताकी बात है कि—वादीने स.प्र.का श्रीमद्भागवत पर किया हुआ यह आक्षेप नहीं लिखा कि—'हिरण्याक्ष' पृथिवीको चटाईके समान लपेट शिराने धर सो गया—...इनसे पूछे कि पृथिवी गोल है, वा चटाईके समान, तो कुछ न कह सकेंगे...भला जब लपेट कर पृथ्वी शिराने पर धर ली, आप किस पर सोया; और वराह किस पर पग धरके दौड़ आये, पृथिवीजीको वराहने मुखमें रख ली। फिर दोनों किसपर खड़े होके लड़े, वहां तो और कोई ठहरनेकी जगह नहीं थी, किन्तु भागवतादि पुराण बनानेवाले पोपजीकी छातीपर खड़े होके लड़े' होंगे' (स.प्र. ११ भागवतखण्डन प्र.)

वादीने इसे उद्धृत नहीं किया है; इससे स्पष्ट है कि—वादीने देख लिया होगा कि—'यह चटाईके समान पृथिवीको लपेटना **श्रीमद्भा. में नहीं लिखा है**; तब मैं (वादी) इसपर किस मुँहसे आक्षेप करूं—यह उसने सोच लिया होगा। इससे वादीने अपने स्वामीको स्वयं ही गप्प लिखनेवाला सिद्ध कर दिया। स्वामीजीने कई ऐसी ऐतिहासिक भूलें की हैं; जैसे कि—उनने स.प्र.में नियोग-प्रकरणमें चित्राङ्गदकी स्त्रीका भी श्रीव्यास-द्वारा नियोग लिख दिया; जबकि **चित्राङ्गद विवाहसे पूर्व ही एक गन्धर्वके द्वारा** महाभारतानुसार **मार दिया गया था**। पर चेले स्वामीको सर्वज्ञ मानकर उनकी भूलोंका भी समाधान करनेकी चेष्टा करते रहते हैं, जिनमें सत्यता नहीं होती।

स्वा० वेदानन्दजीने 'गप्पीके घर गप्पी आये बोले गप्पी जी' इस स्वा.द.जीकी बात पूरी करनेकेलिए अपने छपाये बड़े स.प्र, (पृ. २९६) में टिप्पणी कर ही दी; 'ततो भूमिं कटवद् वेष्टयित्वा निन्ये तदा दैत्यवर्यो महात्मा' (उत्तरखण्ड २६।३) इस गरुडपुराणके पद्यको उद्धृत करके स्वा.द.जीका आक्षेप सत्य सिद्ध करना चाहा था। इन छोटे स्वामीसे कोई पूछे कि—बड़े स्वामीने उक्त बात **भागवतपर आक्षेप** करनेकेलिए लिखी है; तब तुम यह बात गरुडपुराणसे कैसे दिखलाते हो ? इससे क्या तुमने सिद्ध नहीं किया कि—स्वा.द.जी पुराणविशेषपर आक्षेपार्थ उन पुराणके नाम गलत इतिहास भी लिख दिया करते थे।

यदि कहो कि—'पृथिवीको चटाईकी तरह लपेटना तो पुराणसे सिद्ध हो ही गया; चाहे भागवतसे हो, चाहे गरुडपुराणसे हो; इसपर उत्तर यह है कि--इससे वेदानन्दजीने स्वा.द.जीकी भूल दिखलाकर **उनको अनाप्त** तो सिद्ध कर ही दिया। अब इस 'भूमिं कटवद् वेष्टयित्वा' पर भी सुनो। यहाँ भूमिको सिकोड़नेमें तात्पर्य है। 'कटवद्' यह दृष्टान्त है। दृष्टान्तमें एकदेश ही लिया जाता हैं, सर्वदेश नहीं। नहीं तो दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकभाव का ही उच्छेद हो जावे। इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. ४१३-४१४ तथा ५४३-४४) में देखो।

वादीके मुखके विषयमें हम कहें कि—'अस्य मुखं चन्द्रवद् मनोहरम्', तब क्या वादी उसमें मनोहरताका तात्पर्य न जानकर यह समझता रहेगा कि—जितना चन्द्रमा बड़ा है, उतना ही मेरा मुख भी बड़ा है ? 'यदि पृथिवी गोल है, अतः चटाईके समान कहनेसे पौराणिक 'भूगोल विद्याके शत्रु' कहे जावें; तो वादीका कोई गोलाकार आसन पड़ा हो; उसको वह सिकोड़कर एक ओर रख दे; फिर तो उसमें कोई दोष नहीं रहेगा ?' कई चटाईके ऐसे आसन भी बनाये जा सकते हैं, जो गोल हों, उनको लपेटनेकी उपमा बताई जावे; तब तो स्वा.द.जीका कहा दोष नहीं रहेगा ? सो यहां भी वेष्टनमें तात्पर्य समझना चाहिये।

उपनिषद्में 'यदा **चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति** मानवाः' (श्वेताश्व० ६।२०) यह एक प्रसिद्ध वचन है; इसमें आकाशका चमड़ेकी भांति

लपेटना कहा है। विपक्षी उपनिषद्में प्रक्षेप नहीं मानता है; तब क्या उसने इस वचनमें दोष कभी बताया ? यदि नहीं; किन्तु वहां इसका तात्पर्यमात्र लेता हैं, वैसे ही 'भूमिं कटवद् वेष्टयित्वा' में भी तात्पर्यमात्र लेना चाहिये।

अब वेदमें भी देखो—'इन्द्रश्चर्मेव रोदसी' (ऋ. ५।६।५) यहाँ आकाश एवं पृथिवीका चमड़ेकी तरह लपेटना दृष्टान्तरूपसे दिया है; तब वादी लोग चटाईकी तरह न सही; तो क्या **पृथ्वी-आकाशका चमड़ेके समान लपेटना मान लेंगे** ? क्या चमड़ा गोल होता है ? यदि नहीं; तब पुराणके उक्त आक्षिप्त वचन पर भी आक्षेपका क्या अवकाश ? यदि इस वेदमन्त्रमें प्रोक्त पृथिवी-आकाशका इन्द्रके अधीन होनेंमें तात्पर्य माना जावे; तब तो उक्त पुराणके वचनमें प्रोक्त पृथिवीका चटाईकी भाँति लपेटनेका भी पृथिवीका हिरण्याक्षके अधीन होनेंमें तात्पर्य समझना चाहिये। तब दोष क्या ?

शेष आक्षेप तो व्यर्थ है। पृथिवी न होनेपर भी वराह तथा हिरण्याक्ष देव-दैत्य होनेसे अणिमादि सिद्धिके कारण जल पर भी स्थित रहे; इसमें आक्षेपका क्या अवकाश ? अष्टसिद्धियोंपर हम पूर्व प्रकाश डाल चुके हैं; तब इसमें असम्भवका प्रश्न न रहा। शवासन करनेवाले पानी पर भी मुर्देकी भांति सीधे लेटे चले जाते हैं।

नेपालकी ओर एक सिद्ध रहते हैं; वे पानीपर पद्मासन लगाकर बैठ जाते हैं। सिद्धियोंसे प्रकृति अतिक्रान्त की जा सकती है। पृथिवीसे जो रूस अमेरिका आदि द्वारा राकेट वा उपग्रह छोड़े गये है, उनमें जाने-वाले व्यक्तियोंने कहा है कि—वहां हम चन्द्रलोकके पास इतने हलके हो जाते हैं कि—हम राकेटसे निकलकर उसके साथ उडते चले जाते हैं। यहां लघिमा नामक सिद्धि वहांके वायुमण्डल द्वारा प्राप्त होती है, पर देव-दैत्यों वा योगियोंमें क्रमशः स्वाभाविक तथा योगजन्य सिद्धि द्वारा लघिमा नामक ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है; जिससे स्वभावसिद्ध योगी

दैत्य-देवता जल पर सो सकें, बैठ जावें, वा चलते चलें, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं।

वस्तुतः स्वा.द.जीने वराह तथा हिरण्याक्षपर भी आक्षेप किया है कि—पृथिवी तो प्रलयमें थी नहीं, वे जलपर कैसे निराधार ठहरे वा युद्ध करते रहे, वा हिरण्याक्ष जलपर लेट कैसे गया; इसपर हम उत्तर तो ऊपर दे ही चुके हैं; पर वस्तुतः अल्पश्रुततावश यहां आक्षेप करनेवाले स्वामीजीके बोधमें न्यूनता भी मालूम पड़ती है। बात यह है कि—प्रलयमें सूर्य नहीं हुआ करता; अतः उसकी ऊष्मा लुप्त हो जानेसे जल भी तरल अवस्थामें न रहकर जम जाता हैं, बर्फरूपमें रह जाता है; तब जमी बर्फ पर तो स्वा.द.जी भी ठहर जाते; हिरण्याक्ष दैत्य तथा ऐश्वर्यशाली वराहका ठहरना तो क्या बड़ी बात थी; तब स्वा.द.जीके किये हुए आक्षेपका विज्ञानके अज्ञानसे अधिक मूल्य नहीं।

'भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति'

अब हम विपक्षी की 'श्रीमद्भागवतसमीक्षा' की आलोचना समाप्त करते हुए अन्तमें उससे दिये जाते हुए 'भागवत-निन्दा' के पद्यपर विचार करते हैं—

(६१) विपक्षी—वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं शास्त्रेण हीनाश्च तुराणपाठाः। पुराणहीनाः कृपिणो भवन्ति, भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति' (२८३) इस अत्रिस्मृतिके पद्यको देकर श्रीमद्भागवतकी निन्दा किया करते हैं; इसका प्रत्युत्तर हम 'आलोक' (७) पृ. ३३३-३४१ में दे चुके हैं। वादी वहीं पर देखे। यहाँ विपक्षी उक्त पद्यका यह असम्बद्ध अर्थ लिखता है—'जो इन सब [वेद, शास्त्र, पुराण, खेती]से भ्रष्ट हैं, ये लोग सबसे नीचे दर्जेके ग्रन्थ भागवतको वांचते फिरते हैं'।

(क) विपक्षीसे प्रष्टव्य है कि—**कृषिके साथ भागवत ग्रन्थके** मेलकी क्या तुक है ? जब वादीने कृषिको कोई ग्रन्थ नहीं लिखा, वा सिद्ध किया; तब यहाँ 'भागवत-ग्रन्थ' और फिर उसके 'बाँचने वाले' यह अर्थ

वादीने किस तुकसे निकाला? और 'सबसे नीचे दर्जेके ग्रन्थ, सबसे अधम-कोटिके ग्रन्थ भागवत' यह विपक्षीने अत्रिस्मृतिके पद्यके किन पदोंका अर्थ किया है?

यदि 'भगवान्से कहा ग्रन्थ, अथवा भगवान्के सम्बन्धवाला-जिसमें भगवान्का वर्णन है, ऐसा ग्रन्थ' अत्रिस्मृतिको विपक्षीके अनुसार 'भागवत' इष्ट है; तो यहाँ विपक्षी 'भागवत' शब्दसे 'भगवत्सम्बन्धी वेद' को क्यों नहीं लेता? यदि वह कहे कि—वेदका नाम पहले आ चुका है; अतः 'भागवत' शब्दसे 'भगवान्के ग्रन्थ वेद' का ग्रहण सम्भव नहीं; तब तो 'पुराण'का नाम भी तो पहले आ चुका है—'शास्त्रैर्विहीनाश्च पुराणपाठाः' तब फिर यहां 'भागवत' से 'भागवत पुराण' कैसे लिया जा सकता है? इसका वादी प्रत्युत्तर दे! अथवा विपक्षीने 'भागवत'से 'भगवद्गीता बाँचनेवाले'का अर्थ क्यों नहीं किया? इससे स्पष्ट है कि—विपक्षीका 'भागवत-पुराण'से विशेष द्वेष है। उसका कारण यह है कि—

(ख) विपक्षीके स्वा.द. भागवतके द्वेषी थे; तब 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' इस न्यायसे वैसा चेला भी भागवतका द्वेषी क्यों न होवे? बात यह है कि—भागवत बाँचनेवाले एक वैष्णव रङ्गाचार्य वृन्दावन निवासीने स्मार्त (शैव) स्वा० विरजानन्दजीको एक शास्त्रार्थमें बुरी तरह हरा दिया था; तबसे विरजानन्दजी भागवती वैष्णवोंसे विशेष चिढ़ते थे। अन्धोंमें क्रोध एवं दुराग्रह पर्याप्त मात्रामें होता है।

स्वा.द. जैसा एक तर्क-पटु शिष्य जब स्वा. विरजानन्दजीके पास आया; और महाभाष्य समाप्त करके गुरुदक्षिणाके रूपमें लौंग लाया; क्योंकि--स्वा० विरजानन्दजी प्रायः लौंग खाया करते थे; पर विरजानन्द जीने यह गुरुदक्षिणा स्वीकार नहीं की; और कहा कि—यदि मुझे सच्ची गुरुदक्षिणा देना चाहते हो; तो इन भागवतीय वैष्णवोंका—विशेष करके रङ्गाचार्यका जिसने मेरा अपमान किया था—खण्डन करना। अन्य कोई वेदादि-प्रचारकेलिए विरजानन्दजीने स्वा.द.को कुछ भी नहीं कहा था,

जैसा कि आजकलके आर्यसमाजी गप्पें लड़ाया करते हैं। स्वा. विरजानन्द जी केवल व्याकरण-महाभाष्यके जानकार थे; वेदोंके न तो स्वयं वे विद्वान् थे, और न स्वयं वेदके प्रचारक थे।

स्वा.द.ने उनकी बात स्वीकार की। स्वा.द. भी पितृपरम्परासे स्वयं शैव थे। तभी वे जहाँ यात्रामें जाते; प्रायः किसी शिवमन्दिरमें डेरा डाला करते थे। सो उनकी चूहे वाली कहानी भी गप्प थी। अन्तमें स्वा.द. लैकचर देने लगे। अपने प्रभावसे जयपुरके राजाको प्रभावित करके स्वामीने उनसे मनवाया कि—हमारा शास्त्रार्थ भागवती वैष्णवोंसे करा दीजिये। राजा जयपुरने उनकी इच्छा पूरी की। स्वा.द. तार्किक-तर्कमें अभिनिवेश रखने वाले तो थे ही; कई शास्त्रार्थके हथकण्डे सच्चे-झूठे भी उन्हें आते थे।

सो स्वा.द.जीने उस शास्त्रार्थमें वैष्णवोंके पक्षका खण्डन करके शैव-पक्षका मण्डन किया; क्योंकि उस समय तक वे स्वयं भी शैव थे। स्वा. विरजानन्द भी शैव ही थे। इसका प्रभाव यह पड़ा कि—जयपुरके राजा भी शैव हो गये। उन्होंने स्वा.द.के हाथों रुद्राक्षकी मालाओंका भी वितरण कराया। हाथी-घोड़े तकको भी स्वामीने रुद्राक्षकी मालाएँ पहराई। अस्तु!

इस विजयके फलस्वरूप स्वा.द.ने 'कृष्णभागवतखण्डन' भी बनाकर छपवाया था, जिसका प्रतिखण्डन 'पाषण्डिमुखमर्दन' पुस्तकके द्वारा इन्द्र-प्रस्थ निवासी गो० विश्वेश्वरनाथजीने किया था, जो सुदर्शन लीथो प्रेस मुरादाबादसे छपा था; जिसके उत्तरपक्षको छिपाकर आर्यसमाजके श्री-युधिष्ठिर-मीमाँसकजीने उस पुस्तकसे स्वा.द.का पूर्वपक्ष पृथक् करके छपवा दिया है। सो जब स्वा.द.के गुरु विरजानन्द भी श्रीमद्भागवतके द्वेषी थे, उसके बाद स्वा.द. भी भागवतके द्वेषी निकले, तब उस सम्प्रदायके चेले-चाँटे भी श्रीमद्भागवतके द्वेषी क्यों न हों? तभी तो अत्रिस्मृतिके उक्त पद्यमें भागवतपुराणकी निन्दा इष्ट न होनेपर भी

चेले-चांटे बलात् उक्त पद्यसे भागवतकी निन्दा निकालते हैं।

यदि उक्त पद्यमें 'भागवत बांचनेवालेकी निन्दाका अर्थ होता; तो वहां 'भ्रष्टास्ततो भागवतं पठन्ति' यह पाठ होता। पर यह पाठ नहीं है; तब वह अर्थ भी कैसे हो ? 'खेती भी न कर सकने वाले लोग क्या श्रीमद्भागवतको पढ़ वा समझ सकेंगे ? श्रीमद्भागवतका शब्दों-द्वारा ठीक-ठीक अर्थ तो विपक्षी भी नहीं कर सकताः यह हमारा उद्घोष विपक्षी तथा अन्य प्रायः सभी दयानन्दियोंकेलिए है। तभी तो 'अंगूर खट्टे हैं' 'अशक्तास्तत्पदं गन्तु' ततो निन्दां प्रकुर्वते' इन उक्तियोंका उनने अनुसरण किया है। विपक्षी गीता-प्रेसका श्रीमद्भागवतका हिन्दी अनुवाद ही केवल सामने रखकर गुणोंको तथा पूर्वापरको छोड़ता हुआ अपनी कुत्सित तथा दोषैकदृक् बुद्धिसे उसमें कुछ रद्दोबदल करके बलात् निकाले हुए दोषोंको पीता एवं उगलता गया है। वही उल्टी (वमन) ही 'श्रीमद्भागवत-समीक्षा' है। नहीं तो अपने अर्थोंके अनुसार उसने जो भागवत वाँचा है; तो क्या वह विपक्षी वेदादिसे तथा खेतीसे भी भ्रष्ट होकर इस भागवतमें आ पड़ा है ? यदि नहीं, तब विपक्षीका उक्त पद्यका उक्त अर्थ भी गलत ही सिद्ध हुआ।

महाशय ! भागवत तो अन्य सभी पुराणोंसे कठिन है। इसमें वेद, दर्शन आदि सभी शास्त्रोंका निचोड़ तथा समन्वय है। भाषा इसकी जटिल होती हुई भी सुन्दर है। यह नहीं हो सकता कि—अन्य पुराणोंमें तो पुरुषकी गति ही न हो सके; पर श्रीमद्भागवत अनायास ही समझा जा सके। यहां यदि 'भागवतपुराण बांचना' निषिद्ध इष्ट होता; तो यहाँ 'अतादृशाः सर्वपुराणपाठाः' यह पाठ होता। इससे स्पष्ट है कि—यहां 'कृषि'के बाद 'भागवताः' पाठ होनेसे 'भागवत-ग्रन्थ' अर्थ न होकर खाली 'भगवान्के भगत' अर्थ होता है, क्योंकि—यह सुगम कार्य है। उसमें वेद, शास्त्र, पुराण, कृषि वाला परिश्रम नहीं पड़ता। 'भगवान्का भक्त' होना तो फिर भी कठिन है; क्योंकि—'वास्तयिक भक्त' तो सहस्रोंमें कोई

ही मिलेगा, यहां तो 'बगुला-भगत' 'ढोंगी-भगत' अर्थ इष्ट है; क्यों कृषिसे भी भ्रष्ट 'ढोंगी-भगत' इसलिए बनेंगे कि—उसमें कुछ क नहीं; और निर्वाहकेलिए जनतासे खान-पान भी अच्छा मिल जाता रकम भी अच्छी-खासी मिल जाती है। पेटपूर्तिकेलिए अन्य चाहिये क्या ? 'हरड़ लगी न फटकरी, रंग चोखा हो गया'। आजकल प्रायः दीख भी रहा है।

इस कारण यहां अत्रिस्मृतिकारको 'भागवताः' का 'भागवतपु ग्रन्थ वांचनेवाला' अर्थ कभी भी इष्ट नहीं हो सकता। शब्दके निर्धारणमें 'शब्दस्याऽन्यस्य संनिधिः' (अन्य शब्दकी निकटता) भी समझनेमें एक विशेष हेतु होता है; जो कि वाक्यपदीयकी कारि (२।३१६-१७)में कहा गया है, तब वादी 'शब्दस्यान्यस्य संनिधिः' सहारे उक्त पद्यका अर्थ लगानेकी चेष्टा करे। सो 'भागवताः'से पूर्व 'कृषिणः' पदका 'कृषि नामक ग्रन्थविशेष बांचनेवाला' अर्थ न है उसके आगे ठहरे हुए 'भागवताः'का भी 'भागवत नामक ग्रन्थवि बाँचनेवाला' अर्थ न हो सकनेसे 'दम्भी भगत, बगुला भगत, ढोंगी ही अर्थ हो सकता है, अन्य नहीं। यह एक समाधान हमने पाठ समक्ष रखा।

(ख) वस्तुतः यहां अन्य एक रहस्य है; उसे भी हम वि पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करते हैं—

यहांपर यह स्मरण रखना चाहिये कि—श्रीमद्भागवत (१०।१३। २।१०।४८) में 'भागवतोत्तमः' शब्द आया है। ३।४।६ में 'महाभाग आया है। इस प्रकार अन्य स्थलोंपर भी बहुत वार उत्तम भाग लक्षण आये हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि—उत्तम भागव प्रतिद्वन्द्वितामें अधम-भागवत भी हुआ करते हैं; नहीं तो 'सम्भवव्य चाराभ्यां स्याद् विशेषणमर्थवत्' (सम्भव तथा व्यभिचार होनेपर विशेषण सार्थक हुआ करता हैं; सम्भव तथा व्यभिचार न होनेपर

विशेषण दिया ही नहीं जाता। नहीं तो 'अपुष्टार्थ' दोष उपस्थित हो जाता है। जैसे 'विलोक्य वितते व्योम्नि विधुं मुञ्च रुषं प्रिये' ऐ प्रिया ! लम्बे-चौड़े आकाशमें चन्द्रमाको देखकर तू कोप छोड दे' यहां 'व्योम्नि'का विशेषण 'वितते' असाभिप्राय होनेसे 'अपुष्टार्थ' है। इस न्यायसे 'भागवत' का विशेषण 'उत्तम' तभी सार्थक होता है, जब कोई अधम-भागवत भी हो।

विपक्षी अपने नामके साथ 'मनुष्यः' विशेषण कभी नहीं लिखा करता, क्योंकि उसके न लिखनेमें भी उस नाममें व्यभिचार (दोष) उपस्थित नहीं होता, विशेषण व्यभिचार (दोष) प्रसक्त होनेमें ही लिखा जाता है; अन्यथा नहीं; पर 'भागवत'के 'उत्तम' विशेषण देनेसे 'अधम-भागवत' भी सिद्ध हो जाते हैं; सो अत्रिस्मृतिके उक्त पद्यमें उन अधम-भागवतों [विपक्षी--जैसे ऊपरके भगवान्के भक्तों और अन्दरसे भगवान् विष्णु एवं श्रीकृष्ण-भगवान्के निन्दकों—दम्भी भक्तों] का ग्रहण इष्ट है। इसमें अत्रिस्मृतिका 'भ्रष्टाः' शब्द ज्ञापक है। इसमें श्रीमद्भागवतपुराणके वाचकोंका ग्रहण इष्ट नहीं। इससे अधिक इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. ३३३-३४१ में देखना चाहिये।

(ग) अन्य यह भी विचारणीय है कि—यह 'अत्रिस्मृति' अत्रि मुनि-की बनाई हुई है। स्मृतियोंमें 'अत्रिस्मृति' का स्थान 'मनुस्मृति'से दूसरे स्थानमें आता है। देखो इसपर याज्ञवल्क्यस्मृति (१।१।४)। मनु एवं अत्रि सृष्टिके आदिम मुनि हैं। तभी मनुस्मृतिमें 'मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्। प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च' (१।३४-३५) मनुद्वारा अत्रि एवं पुलस्त्य, नारद आदिका सर्जन भी लिखा है।

स्वा.द.जी स.प्र. ११वें समुल्लासके आरम्भमें मनुस्मृतिको सृष्टिकी आदिमें बना हुआ मानते हैं; तब 'अत्रिस्मृति' भी सृष्टिकी आदिकी सिद्ध होगई; क्या उस समय द्वापरयुगके अन्तका 'श्रीमद्भागवत' पुराण वादीके अनुसार था ? यदि नहीं, तब अत्रिस्मृतिके पद्यमें अपनेसे पीछेके पुस्तककी निन्दा कैसे हो सकती है ?

अथवा फिर वादीके अनुसार सत्ययुगकी 'अत्रिस्मृति'में 'भागवत' शब्द आनेसे श्रीमद्भागवत भी नारद एवं पुलस्त्य और वसिष्ठ, अत्रि आदिके समयका सिद्ध हो जानेसे प्राचीन भी सिद्ध हो गया। तब उसे जो कि विपक्षी पुलस्त्य आदिके समयका न मानकर वर्तमानकालका सिद्ध करना चाहते हैं; उनका यह पक्ष भी उन्हींके अपने द्वारा ही खण्डित हो गया।

(घ) यह भी याद रखना चाहिये कि—उक्त वचनमें 'भागवत'से 'श्रीमद्भागवत' इष्ट नहीं। वादीके स्वामी दयानन्द जहाँ श्रीमद्भागवतका खण्डन करते थे, वहाँ 'देवीभागवत'का मण्डन करते थे; क्योंकि–वे वैष्णव नहीं थे, शैव थे। इसलिए स्वा.द.के अनुयायी पथिक और डाक्टर आदि भी देवीभागवतको पसन्द करते हैं, उसका प्रयोग करते हैं, श्रीमद्भागवतकी जहांसे निन्दा मिले, उससे प्रसन्न होते हैं; पर अत्रिस्मृतिके वचनमें 'श्रीमद्' वा 'देवी' शब्द न होनेसे या तो दोनों निन्दित हो जावेंगे, अथवा दोनोंका ही ग्रहण नहीं होगा। जब तक 'श्रीमद्भागवत' शब्द न हो; क्योंकि—पुस्तकका पूरा नाम यही है; तब 'अत्रिस्मृति'के 'भागवताः' शब्दसे श्रीमद्भागवतका ग्रहण कभी भी नहीं हो सकता; सो अत्रिस्मृतिके उक्त वचनमें 'श्रीमद्भागवत' ग्रन्थ न होकर–क्योंकि उसमें 'ग्रन्थ'की तुकका कुछ भी सम्बन्ध न होनेसे वह अर्थ न होकर वहां पूर्व कहा हुआ 'दम्भी भक्त' अर्थ ही है, जिसे पहले हम बता चुके हैं।

(ङ) इस प्रकार 'प्रतिपक्षीकी अपनी 'श्रीमद्भागवत-समीक्षा' ही वेदशास्त्रपुराण-ज्ञानविहीनतावश महाभ्रष्ट सिद्ध हुई। 'महामुनिकृते' आदि उसके कुतर्क व्यर्थ हैं। इससे 'भगवान् नारायण' लिये जा सकते हैं। 'कृते'का अर्थ 'प्रोक्त' भी होता है, जैसे 'मन्त्रकृतः' आदि शब्द वेदमें भी आते हैं, वहां 'मन्त्रप्रवक्तारः' हीं अर्थ होता है, 'मन्त्रनिर्मातारः' नहीं। जैसे कि सिद्धान्तकौमुदीमें उत्तरकृदन्तमें 'णमुल्' प्रकरणमें 'चौरङ्कारमाक्रोशति' में लिखा है—'करोतिरुच्चारणार्थः' (३।४।२५)। इस विषयमें

अधिक 'आलोक' (६) पृ. ७९-८५ में देखना चाहिये।

(च) अथवा जैसे वादीकी 'श्रीमद्भागवतसमीक्षा' के टाइटलपर 'ग्रन्थकार' (खण्डनमण्डन-ग्रन्थमालाके यशस्वी-प्रणेता आचार्य डा० श्री०' यह लिखा है। उसपर प्रश्न है कि यह शब्द विपक्षीके अपने हैं ? या किसी अन्यके ? यदि उसके अपने हैं; तब यदि उसने अपनी प्रशंसा की; इस आक्षेपका जो उत्तर होगा; वही 'महामुनिकृते' यह व्यासकथित होनेपर भी हो जायगा। यह तो सभी प्राचीन-पुस्तकोंकी शैली है। वेदोंमें भी परमात्माका प्रथम पुरुषरूपसे वर्णन आता है, साथ ही परमात्माकी बड़ी महिमा भी आती है; तो क्या उन वेदोंको किसी अन्यने बनाया था; इत्यादि बातें स्वयं विपक्षीको समझ लेनी चाहियें। वादीके उक्त कुतर्क नगण्य हैं; इसलिए हमने उनपर अधिक न लिखकर संकेतमात्र दे दिया है। 'श्रीमद्भागवतसमीक्षा' का प्रत्युत्तर समाप्त हो गया।

(९२) जोकि विपक्षीने 'पुराण किसने बनाये' इस अपनी पुस्तिकाकी भूमिकामें लिखा है कि—'यदि वेदव्यासजी वा किसी भी एक व्यक्तिने इन पुराणोंको बनाया होता; तो भिन्न-भिन्न पुराणोंमें भिन्न-भिन्न विषयों का वर्णन किया जाता। **एक ही बातको बार-बार सारे पुराणोंमें न लिया जाता**'।

इसपर विपक्षी निगृहीत हो गया है। इसी विपक्षीने अपनी भिन्न-भिन्न पुस्तकोंमें **समान ही वही बातें बार-बार लिखी हैं**, जिनका खण्डन हम कभीका कर चुके, अतएव जिनके प्रत्युत्तरमें हमें 'आलोक'के गत पुष्पोंके पृष्ठोंके देखनेकेलिए कहना पड़ा है; तब क्या **विपक्षीकी अपनी पुस्तकें भी भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंकेद्वारा लिखी गई हैं ?** चारों वर्तमान वेदोंकी संहिताओंमें ही कई **पूर्व कहे मन्त्र** बार-बार आते हैं; तब क्या वादी वेदको भी भिन्न-भिन्न कर्ताओंद्वारा बनाये हुए मानेगा ? यदि नहीं; तब पुराणके विषयमें यह आक्षेप करता हुआ वह स्वयं ही अपनी पुस्तकोंकी पुनरुक्तिसे निगृहीत होकर खण्डित हो गया। इस प्रकार

वादीके पुराणोंका खण्डन करनेवाले ट्रैक्टोंका हमने खण्डन कर

इससे साधारण जनताकी उससे उठाई हुई शङ्काएँ दूर हो जावें

हमें पूर्ण विश्वास है। अब इस विपक्षी तथा अन्य विपक्षियोंद्वारा

गई गीताकी आलोचनाओंका भी उत्तर हम देते हैं, जिससे उन्हें

रहे कि—हमसे बनाई पुस्तकोंका प्रत्युत्तर हो ही नहीं सकता।

गीता एवं वेदचर्चा

(३) भगवद्गीतापर विवेचन

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥
(गीता ९।११

'गीताविवेचन' दयानन्दी वादीकी एक पुस्तक है; उसमें बच्चे

लघुशङ्काएँ की गई हैं। यह विपक्षीने सिरपर ठहरे हुए सूर्य

थूककर वह थूक अपनेपर डलवाई है। जब विपक्षी देखते हैं कि

डंका विश्वभरमें बज रहा है, इससे स०ध० का डंका भी विश्व

रहा है, क्योंकि—यह स०ध० की प्रमुख पुस्तक है; तब वे स

जन्मसिद्ध असहिष्णु शत्रु, विपक्षी लोग ईर्ष्या-द्वेषवश वह प्रभाव

उसपर भी आक्रमणोंकी योजना बनाते रहते हैं। हम उन आक्षे

संक्षिप्त प्रत्युत्तर देते हैं। आक्षेप हम स्थानाभाववश पृथक् न

उनका प्रत्युत्तर ही देते चलेंगे।

पहले यही विपक्षी अपने 'पुराणोंके कृष्ण' में 'गीता' को मान

देखता था; पर अब उसे हेय-दृष्टिसे देखता है। क्या विपक्षी

हुआ दो हो गया ? अब देखिये—

(१) जैसे स्कन्दपुराण (काशी पू. २३।२१-२२) में विष्णुलोक तथा शिवलोक बताये गये हैं, वैसे ही शिवपुराण (उमा० १६) में भी 'विधिलोकात् परो लोको वैकुण्ठ इति विश्रुतः।...यत्र विष्णुः प्रतिष्ठितः' (३४) विष्णुलोक तथा शिवलोक (३६) भी बताया गया है। श्रीकृष्ण उन्हीं श्रीविष्णुके अवतार हैं। सो विष्णुलोकमें गोलोकका अन्तर्भाव हो जाता है। पशुपति होनेसे शिवजीका भी अपना गोलोक (४०) बताया गया है। इसमें कुछ भी विरोध नहीं। पशुओंमें मुख्य 'गौ' है। देखो वेद।

(२) महाभारत (वनपर्व १२।११-१४) के अनुसार श्रीकृष्ण-द्वारा तपस्या करनेसे उनकी ईश्वरावतारतामें कोई क्षति नहीं पड़ती। यहां वे मनुष्यरूपमें थे; तब मानुषधर्म भी पूरा करना ही था :: श्रीमद्भागवतमें कहा है—'मायाविडम्बनमवेहि यथा नटस्य' (१।३१।११) यह लीला-नटका सब नाट्य है। इस विषयमें इस पुष्पके ३०-३१ पृष्ठमें हम पूरा उत्तर दे चुके हैं।

(३) स्वर्ग और नरकलोक वेदसमर्थित हैं, इसपर अथर्व० (१८।४।२, ११।१।७, १२।४।३६) तथा योगदर्शन (३।२६) देखने चाहियें। गीता तथा पुराणोंमें भी वही है।

(४) 'गीता वेदका खण्डन नहीं करती है' इस विषयमें 'आलोक' (५) में गीता-विषयक सभी निवन्ध (पृ. ७२२-७६७) तथा ८म पुष्पमें 'क्या गीता वेदखण्डक है ?' (पृ. १८८-२११) निबन्ध देखिये। वैदिक कर्मकाण्डकी निन्दा तो वादीसे मान्य वेदों एवं उपनिषदोंमें भी आई है। देखिये—'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतत् श्रेयोऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति' (१।७) 'इष्टापूर्तं (यज्ञयागादिकं) मन्यमाना वरिष्ठं, नान्यत् श्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः। नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनु भूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति' (१०) (मुण्डकोपनिषद्)

विपक्षी उपनिषदोंमें वेदविरुद्धता नहीं मानता। देखिये उसके शब्द—

'उपनिषदोंमें कोई भी बात वेदविरुद्ध नहीं' (गी० वि० पृ० ३३६ पं० १७) (गीतामें भी इसी प्रकार वैदिककर्मकाण्डकी विवेचना है; तब गीतापर ही एकमात्र आलोचना क्यों ? जो दयानन्दी वादी गीताके पद्योंमें वेदका खण्डन समझते हैं; हम उनके उत्तरमें दयानन्दी समाजके एक प्रसिद्ध विद्वान्‌का 'वेदोंका यथार्थस्वरूप' (पृ. १३-१४) से कुछ लेख उद्‌धृत करते हैं। वे लिखते हैं—

(क) 'कुछ लोगोंका विचार है कि–गीतामें वेदोंकी निन्दा की गई है, और उन [वेदों] की तुच्छता निम्न श्लोकों (गी० २।४२-४३-४४-४५-४६) में दिखाई गई हैं। वस्तुतः **इन श्लोकोंमें वेदोंकी निन्दा नहीं की गई,** किन्तु जो वेदोंके अनुसार आचरण न करके केवल वेदविषयक **वाद-विवादमें** तत्पर रहते हैं, और यह कहते हैं कि—इन बाह्य योगोंके अतिरिक्त कुछ कर्तव्य है ही नहीं (वेदवादरताः, नान्यदस्तीति वादिनः') जो भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिकेलिए यज्ञ-यागादि करते और भोगोंमें आसक्त रहते हैं, उनकी निन्दा की गई है। ऐसे लोगोंकी निन्दा तो स्वयं वेदोंके 'ऋचो अक्षरे-यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति' (ऋ. १।१६४।३६) 'नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति' (ऋ. १०।८२।७, यजुः १७।३१) इत्यादि मन्त्रोंमें [भी] की गई है...जो उसको नहीं जानता, वह केवल ऋचाएं (वेदमन्त्र) पढ़कर भी क्या करेगा ?

...उस परमेश्वरको नहीं जानते, अज्ञानान्धकारसे आच्छादित, आचरण न करके केवल बातें बनानेवाले, अपने पेट भरनेमें तत्पर, उसके नाम और वेदमन्त्रोंका केवल वाणीसे कथन करनेवाले हैं।...जैसे **इन वेदमन्त्रोंका तात्पर्य वेदोंकी निन्दासे नहीं**...वैसे ही गीताके इन श्लोकोंका तात्पर्य समझना चाहिये।

'त्रैगुण्यविषया वेदाः (२।४५) का तो तात्पर्य स्पष्ट है कि–वेदोंमें सत्त्व. रजस्, तमस् प्रकृतिके इन तीन गुणोंके बने पदार्थोंका भी ज्ञान-भण्डार होनेके कारण वर्णन है, किन्तु मनुष्यका कर्तव्य यह है कि—वह उन सब पदार्थोंका यथार्थज्ञान प्राप्त करके इन तीनों गुणोंसे रहित, किन्तु नित्य सत्त्वमें निवास करनेवाला बने। इसमें वेदोंकी निन्दा नहीं, किन्तु उनके ज्ञानरूप होनेका प्रतिपादन है।

'यावानर्थ उदपाने' इसका वास्तविक अर्थ यह है कि—जब चारों ओर बाढ़ आई हुई हो, तो कुएँ से स्वच्छ जलका जितना प्रयोजन होता है, ज्ञानी ब्राह्मणकेलिए सब वेदोंका उतना ही प्रयोजन है। अर्थात् जब चारों ओर बाढ़ आई हुई हो; तो उसमें पीनेका प्रयोजन ठीक तौर पर सिद्ध नहीं होता; क्योंकि वह पानी अपनी मात्रामें अधिक होनेपर भी पीने योग्य नहीं होता; किन्तु कूपका जल शुद्ध होनेकेकारण पीनेका प्रयोजन उसीसे उत्तमतया पूर्ण होता है। ऐसे ही यद्यपि इधर-उधरसे अनेक विषयोंका ज्ञान कुछ प्राप्त हो सकता है; किन्तु कूपजलके समान शुद्ध-पवित्र ज्ञान तो वेदोंके द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। यह [गीता-पद्य] तो एक प्रकारसे ऋसं.के 'यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति' इस मन्त्रका भावानुवाद-सा है।...गीताके इस श्लोकमें वेदोंकी निन्दाकी कल्पना करना सर्वथा अशुद्ध है। उससे तो उनका यथार्थज्ञानकेलिए महत्व ही प्रकट होता है। भगवद्गीतामें वेदोंको न केवल 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते' में प्रमाणत्व ही कहा है, बल्कि उन्हें ईश्वरीय भी बताया है (पृ. १४-१५)।

एक आर्यसमाजी 'विद्यामार्तण्ड' की व्याख्यासे 'गीता-विमर्श' तथा 'गीताविवेचन' आदिके दयानन्दी लेखकोंकी अनभिज्ञता सिद्ध हो रही है। इससे स०ध०की प्राणभूत गीताको साधारण जनोंकी दृष्टिमें गिराना ही विपक्षीका लक्ष्य सिद्ध होता है।

(ख) आर्यसमाजके मान्य वृद्ध-विद्वान् श्रीगङ्गाप्रसाद उपाध्याय एम.

ए. महाशयने भी 'गीता और आर्यसमाज' में लिखा है–'यह मानना कि—गीता वेदोंका मान करती है। 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य' (१६। २४) यहां 'शास्त्र' का अर्थ 'वेद' ही है; और वेदके अनुकूल आ करनेपर ही यहां बल दिया गया है।'

आर्यसमाजके उच्चकोटिके दार्शनिक-विद्वान् उपाध्यायजीके भी 'गीता-विमर्श' और 'गीता-विवेचन' आदिके लेखकोंका मत ह हो गया। जो प्रतिपक्षी 'शास्त्र' शब्दसे 'वेद' नहीं मानता; उसे चाहिये कि—'शास्त्र' एक व्यापक-शब्द है। उसमें श्रुति-स्मृति दो जाती हैं। श्रुति सबका मूल है, सो उसका ग्रहण तो स्वतः होगा ऐसा कहनेवाली गीता वेदोंको स्पष्ट महत्त्व देती है; यह सिद्ध हो वस्तुतः 'वेदवादरताः' में 'वाद' का अर्थ 'अर्थवाद' है। सो स्तुति करके प्रवृत्ति-निवृत्ति करानेवाले अर्थवादोंका स्वार्थ (अपने शब्दों में तात्पर्य नहीं होता। इसी बातको बतलानेकेलिए 'वेदवादों' में जानेकी श्रीगीताने प्रेरणा की है। इससे वेदकी विधि गीताको म ही–यह स्पष्ट है। वेदके अर्थवादोंको जो प्रायः ब्राह्मणभागका विषय साधन समझो; उन्हें 'साध्य' समझनेकी भूल नहीं करनी चाहिये-गीताका उन अर्थवादोंकी निन्दामें तात्पर्य है।

अधिक स्पष्टता 'आलोक' (५, ८ पुष्पों) में पूर्वोक्त पृष्ठोंमें 'न वेदयज्ञाध्ययनैः' आदि सभी पद्योंका आशय वहीं स्पष्ट कर दि हैं, यह भक्तिके अर्थवाद-वचन हैं।

अब इस विषयमें हम श्रीवेदव्रतशास्त्री जो एक आर्यसमाजी हैं—के विशाल लेखका कुछ अंश 'वैदिकधर्म' (मार्च १९६६) से करते हैं—

क्या गीता वेद-विरोधिनी है?

कुछ विद्वान् गीताको वेदकी विरोधिनी बताते हैं। क्योंकि गीताके निम्नाङ्कित श्लोकोंसे वेदोंका विरोध आभासित होता है

'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः। वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः' (२।४२) 'त्रैगुण्य-विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्' (४५) यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके। तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः' (४६) नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा' (११।५३)।

(भगवान् कृष्ण अर्जुनसे कहते हैं कि कर्मकाण्डके अतिरिक्त स्वर्ग-प्राप्तिका दूसरा साधन नहीं है, ऐसा कहनेवाले वेदवादमें निरत विद्वान् स्वर्ग-प्राप्तिकी सुन्दर वाणी कहते हैं। अर्थात् स्वर्गके प्रलोभनकी सुन्दर लगनेवाली वाणी जनताको सुनाते हैं। वेद तीनों गुणोंसे युक्त संसारके विषयोंका प्रतिपादन करनेवाले हैं। अतः हे अर्जुन! तुम तीनों गुणोंसे रहित हो जाओ। तुम आत्मवान् होकर सभी द्वन्द्वोंसे मुक्त होते हुए सर्वदा सतोगुणमें हो जाओ और योग तथा क्षेमको भी छोड़ दो। जिस तरह समुद्रको प्राप्त कर लेने पर सभी जलाशय प्राप्त हो जाते हैं। 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः।' उसी प्रकार परमात्माके ज्ञान हो जानेपर वेद-प्रतिपादित सभी ज्ञान प्राप्त हो जाते हैं। भगवान् कृष्ण अर्जुनसे कहते हैं, तुमने ईश्वरका जो साक्षात्कार प्राप्त किया है वह न वेदोंकेद्वारा, न दानसे और न यज्ञ तथा तपसे देख सकते हो।

'श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला। समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि' (२।५३) 'हे अर्जुन! वेदोंके पारस्परिक विरोधी उपदेशोंसे डूबी या भ्रममें पड़ी तुम्हारी बुद्धि जब निश्चल हो जायगी; तब तुम योगस्थ हो सकोगे। क्योंकि समाधि चंचल-बुद्धिसे नहीं लगती है।

उक्त श्लोकोंमें 'वेदवादरताः, त्रैगुण्यविषयाः वेदाः, यावानर्थं उदपाने, नाहं वेदैर्न तपसा, श्रुतिविप्रतिपन्ना' इत्यादि वाक्यांश वेदविरोधी बताये जाते हैं। परन्तु यदि महाभारत तथा तत्कालीन जनताकी मानसिक स्थितिका सूक्ष्मतया विवेचन किया जाय तो ये वाक्यांश वेद-विरोधी नहीं

हैं। हमें इन वाक्यांशोंका अलग-अलग विश्लेषणपूर्वक तत्त्व समझना चाहिये।

'वेदवादरताः'

यह वाक्यांश महाभारतमें निम्न श्लोकोंमें आया है जो कि मुख्यतया चार अभिप्रायोंमें प्रयुक्त हुआ है। मीमांसकोंके कर्मकाण्डके विरोधमें, जो कि स्वर्गकी महिमा गा-गाकर जनताकेद्वारा हिंसामय अवैदिक यज्ञों का प्रचलन करा रहे थे। दूसरे उन लोगोंके अर्थमें यह प्रयुक्त हुआ है; जो कि वेदोंके मन्त्रोंको लेकर स्वपाण्डित्य-प्रदर्शनार्थ वाक्वाद (शास्त्रार्थ) करते थे, इनका आचरण ज्ञानके प्रतिकूल था। तीसरे वर्गमें नास्तिक आते हैं जो कि भोग और ऐश्वर्यके सामने वेद तथा शास्त्रोंकी मर्यादाकी कुतर्कों द्वारा निन्दा करते थे। चौथा—कपिल सम्प्रदायके लोग भी उस समय जोर पकड़ रहे थे; जो कि प्रकृति और पुरुष (जीव) का सम्बन्ध अन्धे और पंगुका उदाहरण देकर समझाते थे और ईश्वरकी सत्ता नहीं मानते थे, इन्हें भी महाभारतमें 'वेदवादरताः' कहा गया है; क्योंकि वेद तो ईश्वरकी सत्ताका सर्वप्रथम प्रतिपादन करते हैं। उक्त भावोंकी पुष्टिमें यहां महाभारतके ये श्लोक उपस्थित हैं।—

'वेदवादापविद्धांस्तु तान् विद्धि भृशनास्तिकान्। नहि वेदोक्तमुत्सृज्य विप्रः सर्वेषु कर्मसु॥ नायं लोकोऽस्त्ययज्ञानां परश्चेति विनिश्चयः। वेद-वादविदश्चैव प्रमाणमुभयं तदा॥ श्रिया विहीनैरलसैः पण्डितैः सम्प्रवर्तितम्। वेदवादपरिज्ञानं सत्याभासमिवानृतम्॥ शास्त्रं त्वबुद्ध्वा तत्त्वेन केचिद् वादबलाज्जनाः। कामद्वेषाभिभूतत्वादहंकारवशं गताः॥ याथा-तथ्यमविज्ञाय शास्त्राणां शास्त्रदस्यवः। ब्रह्मस्तेन-निरारम्भा दम्भमोह-वशानुगाः॥ नैर्गुण्यमेव पश्यन्ति न गुणाननुयुञ्जते। तेषां तमः-शरीराणां तम एव परायणम्॥ न प्रवृत्तिर्ऋते शास्त्रात् काचिदस्तीति निश्चयः। यदन्यद् वेदवादेभ्यस्तदशास्त्रमिति श्रुतिः॥ स्वर्गस्य च गुणान् कृत्स्नान् दोषान् सर्वांश्च भारत। वेदवादेऽपि ये दोषा गुणा ये चापि वैदिकाः॥ (महाभारत मूल, कल्याण प्रेस, पृष्ठ ३३०, ६१० से ६५४)।

'त्रैगुण्यविषया वेदाः'

इस प्रकार श्रुतिके वाक्योंके उपक्रम, उपसंहार आदिके अवान्तर तात्पर्यको न जानने, प्ररोचन अर्थात् ४३ तथा ४४ वें श्लोकोंमें जिनका निर्देश किया गया है अर्थात् कर्मकाण्डको ही प्रधानता देनेवाले मीमांसक अर्थवादोंसे मोहित कर्मियोमें योग-बुद्धिका अभाव है, अतः ईश्वरके प्रसादका भी अभाव होता है, और उससे उनके संसारका उपराम भी नहीं होता, यह प्रतिपादन करके अब इन श्लोकमें ईश्वरकी प्राप्तिकेलिए कर्म करनेवाले योगबुद्धिसम्पन्न, मुमुक्षुओंको प्ररोचन (मीमांसकोंके) वाक्योंसे मोहित न होना चाहिए; और इष्ट एवं अनिष्टकी प्राप्तिमें सम-बुद्धि होकर श्रद्धा और भक्तिसे ईश्वराराधनारूप वैदिक कर्म करना चाहिए। इस प्रकारकी बात बतानेकेलिए उक्त श्लोकका विधान किया है।

रजोगुण, तमोगुण तथा सतोगुणके तीनों कार्यों अर्थात् राग, द्वेष, लोभ, मोहादि; इनके फलोंका समाहार यानी समूह त्रैगुण्य है यानी संसार। कर्म और अकर्मके साधन प्रकाशन द्वारा संसारको बढ़ाना ही जिनका विषय है, वे त्रैगुण्यविषय हैं, यानी संसारका प्रतिपादन करनेवाले वेद। यद्यपि वेद-प्रतिपादित होनेसे त्रैगुण्य रूप संसार सबकेलिए उपादेय है, यानी ग्रहण करने योग्य है, तो भी मुमुक्षुओंको उसका आदर नहीं करना चाहिये (अर्थात् उसमें लिप्त नहीं होना चाहिये, निष्काम भावसे ही कर्तव्य पर चलना चाहिए)। इन्हीं बातोंको ध्यानमें रखकर 'त्रैगुण्य-विषयाः वेदाः' कहा गया है।

मीमांसकोंके स्वर्गपरक कर्मकाण्डका प्रतिपादन करनेवाले वेदोंको **त्रैगुण्य-विषय** कहा गया है। यहां गीताकारने मीमांसकोंके दृष्टिकोणसे ही वेदोंको **'त्रैगुण्यविषयाः'** कहा है; गीताकार वेदोंमें उपासनाकाण्ड भी मानते थे। चूँकि उस समयका वातावरण **मीमांसकोंसे प्रभावित था।** अतः गीताकारने उनके वाक्योंको **'त्रैगुण्यविषया वेदाः'** यह कहकर उनके

पक्षका खण्डन किया है। क्योंकि ऋग्वेद ज्ञान-काण्ड, यजुर्वेद कर्म-का... सामवेद उपासना-काण्ड, और अथर्ववेद इन तीनोंका समन्वयात्मक है; परन्तु मीमांसक वेदोंको **केवल कर्मकाण्डमें ही गतार्थ करते थे,** उन्हों... **उपासना-काण्डकी ओरसे मुख मोड़ लिया था,** अतः गीताकारने मीमांस... से कहा कि तुम्हारे विचारसे तो वेद **त्रैगुण्य विषयवाले ही सिद्ध होते हैं।** चूँकि अर्जुन मीमांसकोंके **मोहक वाक्योंसे प्रभावित थे,** अतः व्यास... बाध्य होकर कहना पड़ा कि वेद तो **त्रैगुण्य-विषयवाले** ही हैं। पर... हे अर्जुन, तुम तीनों गुणोंसे रहित हो जाओ; यानी सत्त्वगुणकी परमोत्... स्थितिको प्राप्त करो, इसीमें दृढ़तासे स्थिर हो जाओ। अर्जुनको कृष्ण... बताया कि अपने मनको जब सत्त्वगुणसे समन्वित करोगे; तभी तुम्हा... मन शान्त होगा, तब तुम आत्मवान् हो जाओगे। यानी अपने स्वभा... आ जाओगे। तुम सभी प्रकारके द्वन्द्वोंमें समभाव रखो और योग त... क्षेम (अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्तकी रक्षा) इन दोनों प्रकार... वस्तुओंसे रहित हो जाओ।

'यावानर्थ उदपाने'

इस श्लोकमें ब्रह्मवित्के आत्मानन्दको समुद्रकी उपमा दी गई है; जैसे समुद्रमें स्नान करनेसे सभी तीर्थोंके पुण्य प्राप्त हो जाते हैं, उसी तरह ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति हो जानेपर वेदोंमें कथित यज्ञादिसे जनित पुण्य तथा सुख प्राप्त हो जाता है। अर्थात् ब्रह्मानन्दमें सभी आनन्द आ जाते हैं। यहां ब्रह्मवित्को परमेशके साक्षात्कारसे जो आनन्द मिलता है उसी... वर्णन है। वेदोंको अपराविद्यामें ही उपनिषद्कार मानते हैं। उन... कहना है कि आत्मसाक्षात्कार पराविद्यासे ही होता है।

यहां विचारणीय बात यह है कि वेदोंके ब्राह्मण-ग्रन्थ उनके मन्त्रों... कर्मकाण्ड-परक ही बहुधा अर्थ करते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थकारोंका प्र... मीमांसकों पर पड़ा; इसका परिणाम यह हुआ कि वेदोंके उपासना-का... धीरे-धीरे अप्रचलित हो गया, परन्तु ब्राह्मणकालके पश्चात् उपास...

काण्डका प्रचलन उपनिषदोंने बड़े सुन्दर ढंगसे किया। ब्राह्मणोंने वेदोंको कर्मकाण्ड तक ही मर्यादित रखा। गीताका सीधा सम्बन्ध उपनिषदोंसे ही है जबकि मीमांसकोंका सम्बन्ध ब्राह्मण-ग्रन्थोंसे है। अतः गीताकारने उपनिषद्के भावोंको पुष्ट करते हुए कहा कि ब्रह्मविद्के ब्रह्मानन्दमें वेदोंके पुण्यजन्य आनन्द समा जाते हैं। वेदोंकी निन्दाका उत्तरदायित्व गीता पर नहीं है, अपितु ब्राह्मणों, ग्रन्थों तथा मीमांसकोंपर है।

'नाहं वेदैः न तपसा'

कृष्ण भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तुमने मेरी सहायतासे जो ईश्वर का साक्षात्कार किया है वह न वेदोंके द्वारा, न तपसे और न यज्ञसे किया जा सकता है। उक्त—पदांश लोगोंके विचारसे वेद-विरोधी है। परन्तु इस वाक्यांशमें भी उस समयके वातावरणका प्रभाव परिलक्षित होता है। उपासना-काण्ड यानी सामवेदके पठन-पाठनका प्रचलन कम हो गया था - स्वर्ग-प्रद यज्ञोंका प्रचलन था। लोगोंके द्वारा वेदोंका पठन-पाठन भी स्वर्गकी इच्छामें ही किया जाता था। आत्मलाभकी भावना नहीं ही के बराबर थी। तपका भी लक्ष्य स्वर्गकी प्राप्ति तक ही सीमित था। अतः उपनिषदोंने कहा कि आत्माको प्राप्त करनेकेलिए उक्त वस्तुएं साधक नहीं हैं। इसका कारण यह भी है कि बिना श्रद्धा या भक्तिके द्वारा किया गया वेदाध्ययन, यजन, तप तथा दानादि अहंकारसे प्रभावित होकर कर्तृत्वकी भावनासे तामसी और राजसी होते हैं; अतः गीताने कहा— आत्म-साक्षात्कार श्रद्धा और भक्तिसे ही हो सकता हैं। श्रद्धा और भक्ति अहंकारकी भावनाको मिटा देते हैं। जब कर्ममें अहंकारकी भावना निहित हो जाती है तो कर्म सत्त्वगुणकी मर्यादासे परे हो जाते हैं। गीताकी उक्त भावना उपनिषद्से भी पुष्ट होती है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥१॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम् ॥२॥

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥३॥

वेद, यज्ञ, दान आदि मानवको इस योग्य बनाते हैं कि उसे ईश्वर अपना कृपापात्र चुन ले। परन्तु इन सबमें श्रद्धा ही प्रधान है; बिना श्रद्धा या भक्तिके वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तप, अहंकार युक्त होकर भोग और ऐश्वर्यके सम्पादक हो जाते हैं। उक्त भावनाकी दृष्टिकोणमें रखकर ही गीताकारने कहा है कि उक्त कार्योंसे ईश्वर नहीं प्राप्त हो सकता, क्योंकि योग्य व्यक्तियोंको ईश्वर अपना कृपापात्र चुन लेता है। ईश्वर श्रद्धा चाहता है, भक्ति चाहता है। श्रद्धा वैदिक शब्द है और भक्ति शब्द पौराणिक-कालका है। गीतामें भक्ति शब्दका भी प्रयोग मिलता है। क्योंकि कृष्णने स्वयं कहा है कि जो भक्तिवाला है; वही मेरा प्रिय है। भक्ति और श्रद्धा सभी दान, अध्ययन, तप आदि कार्योंकी हार्दिक-भावनाओंसे जोड़कर कर्तामें अहङ्कारका अभाव कर देते हैं। अतः निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्यको प्रत्येक वैदिक कर्तव्य श्रद्धासे करना चाहिए; अन्यथा श्रद्धाविहीन कर्तव्य सार्थक नहीं होता।

'श्रुति-विप्रतिपन्ना'

श्रुतियोंके द्वारा भ्रममें पड़ी हुई बुद्धि समाधिके उपयुक्त नहीं होती, क्योंकि समाधिमें शान्त और अचंचल बुद्धि होनी चाहिए। उस समय वैदिकमन्त्रोंके विधानोंमें परस्पर विरोध प्रकट किया जा रहा था। बड़े-बड़े विद्वान् भी कर्तव्याकर्तव्यके निर्धारणमें संशयाविष्ट हो जाते थे। क्योंकि वैदिकमन्त्रों द्वारा कहीं पर विधि-कर्म, उनके अनेक फल तथा उनकी महिमाका प्रतिपादन किया जाता है, कहीं विधि-उपासनाएं, उनके विशेष फल, और उनके महत्त्व-विशेषोंका प्रतिपादन किया जाता है। इसी प्रकार कहीं सगुण-ब्रह्मकी; कहीं पर निर्गुण-ब्रह्मकी उपासनाका

वर्णन है। और उस समय ब्राह्मण-ग्रन्थके वाक्य और उपनिषदोंके वाक्य भी श्रुति-शब्दसे पुकारे जाते थे। इन्हीं कारणोंको ध्यानमें रखते हुए कृष्णने कहा कि तुम्हारी बुद्धि श्रुतिविप्रतिपन्न है अर्थात् श्रुतियोंके परस्पर विरोधी वाक्योंने बुद्धिके निश्चयात्मक धर्मको सन्देहमें डाल रखा है। इस भावकी पुष्टि महाभारतके निम्नाङ्कित प्रसिद्ध श्लोकसे भी हो जाती है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको (मुनि) ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

अतः यह बात निर्विवाद है कि उस समय लोग वेदोंमें, ऋषियोंमें और तर्कमें पारस्परिक विरोधके कारण विश्वास नहीं करते थे। लोग अपनी बुद्धि तथा श्रेष्ठोंके आदर्शोंके द्वारा धार्मिक-तत्त्वोंका निश्चय करते थे। गीताकारने भी उक्त वातावरणका उल्लेख "श्रुतिविप्रतिपन्ना ते..." वाक्यांशके द्वारा किया है। यह स्थिति आज भी है एक ही वेदमन्त्रके पौराणिक, आर्यसमाजी, पुराने भाष्यकार, पाश्चात्य-भाष्यकार और ब्राह्मण-ग्रन्थ परस्पर विरोधी अर्थ करते हैं, साधारण जनता आज भी भ्रममें पड़ी हुई है, इन्हीं कारणोंसे वेदोंका महत्त्व कम पड़ जाता है, परन्तु गीता वेदोंका विरोध नहीं करती।

(५) गीतामें यज्ञकी अवश्यकर्तव्यता बताई है—'यज्ञदानतपः-कर्म न त्याज्यं, कार्यमेव तत्। यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' (१८।५)। 'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः। भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्' (३।१३)। हां, गीतामें सङ्ग छोड़कर, फलासक्ति छोड़कर यज्ञ करना अवश्य कहा है (१८।६)। सकाम यज्ञ करनेसे उसका फल सीमित हो जाता है; इससे यज्ञकी निन्दा नहीं हो जाती। श्रीकृष्ण जब भगवान्के अवतार हैं; तब यदि वे अपने-आपको यज्ञका भोक्ता कहते हैं; तो इसमें कुछ आक्षेप्य बात नहीं।

यज्ञ' यज् धातुसे बना है, जिसका अर्थ 'देवपूजा' होता है, देव अङ्ग

होते हैं, और भगवान् अङ्गी। सो यज्ञ, भगवान्की पूजाके ही साधन इसपर 'आलोक' (५) देखो; तब इसपर भी जोकि आक्षेप्ताने दोष लगाया है, वह उसका गीतापर बलात्कार है। जब गीता यज्ञकेलिए बल देती और यज्ञ वेदका विषय है, इसपर 'आलोक' (६) (पृ. १४५-१४६) देखो; तब गीता भी वेदकी अनुमोदक है, खण्डक नहीं। (ख) 'न वेद-यज्ञाध्ययनैः' में वेदकी निन्दा नहीं, किन्तु भक्तिका अर्थवाद है। इस प्रकार तो वेदमें ऋसं.की तथा वेदके कर्मकाण्डकी भी निन्दा आई है-'यस्तन्न वेद, किमृचा करिष्यति' (ऋ. १।१६४।३९) 'असुतृप उक्थशासश्चरन्ति' (ऋ. १०।८२।७) यह ज्ञानका अर्थवाद है, पर बच्चे इसे वेदकी निन्दा समझ लेते हैं। इस प्रकार यथाश्रुत शब्दार्थमात्रग्राही तात्पर्य तक पहुँच न रखनेवाला वादी भी अभी कच्चा-बच्चा है। निन्दक बनकर नरकमें अपनी सीट रिजर्व रखना चाहता है। इसलिए इसको गाली-गलौजका पण्डित समझकर कई आर्यसमाजी-पुस्तकविक्रेता भी इसकी पुस्तकोंको प्रायः नहीं खरीदते हैं। केवल कई टुच्चे लोग और शरारतपसन्द लोग इसकी पुस्तकोंको पढ़ते हैं।

(६) यह ठीक है कि-कर्म बिना भोग किये क्षीण नहीं होता-'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' (ब्रह्मवै. कृष्णजन्म उ. ८५।३६) परन्तु उपनिषद्में जिसमें वादी वेदविरुद्धता नहीं मानता है-कहा है-'भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते, सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' (२।२।८) इस प्रकार ब्रह्मदर्शनमें कर्मोंकी क्षीणता मानी जाती है; इसलिए गीताकी भी बात ठीक है। आसक्ति, मम-सङ्ग, फलकामना, मनोयोग आदि होनेपर ही पूर्वोक्त वचनकी चरितार्थता है, पर अनासक्तिवश वह कर्म भी अकर्म-कर्मका अभाव (४।१८) हो जाता है—'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभि-प्रवृत्तोपि नैव किञ्चित् करोति सः' (४।२०); तब कर्माभावसे, कोई कर्म न बचनेसे मुक्ति स्वाभाविक हो जाती है, इसलिए गीतामें कहा

'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः' (४।१९) अर्थात् जैसे बीज बोते रहोगे, फल उठाते रहोगे; चाहे वह बीज साधारण हो या अच्छा हो, या बुरा। फल भी वैसा मिलता रहेगा। पर यदि बीजको भूनकर बोएँ; तो फिर वह बीज उग नहीं सकेगा। इसीको श्रीमद्भा. में स्पष्ट किया है—'र्भजिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते' (१०।२२।२६) इसी प्रकार ज्ञान द्वारा कर्मोंके बीज भुन जानेसे फिर वह कर्म नष्ट हो जाता है, फल देने योग्य नहीं रहता। इसीलिए गीता कहती है—'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते' (४।३७) 'यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः। ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः' (४।१९) इसी कारण यजुर्वेदसं. भी कहती है—'न कर्म लिप्यते नरे' (ईशो० २)। यदि वादी ऐसा न माने; तो फिर मुक्ति कभी हो भी नहीं सकती; क्योंकि-निष्कर्मा तो कोई कभी रह नहीं सकता (गीता ३।५)। ईश्वरदर्शन होनेपर कर्मों की क्षीणता मुण्डकोपनिषद्में भी कही है, जिसे हम पहले कह चुके हैं।

गीताकारने 'अनासक्तियोग' कहकर मुक्तिको कुछ सुगम कर दिया है। हां, विविध धन्दोंमें फँसे लोगोंकी आसक्ति छूटना ही कठिन कार्य है।

(७) शूद्रादिको 'पापयोनि' कहना तथा ब्राह्मणादिको 'पुण्ययोनि' कहना शास्त्रीय है; क्योंकि-अच्छी-बुरी योनिमें जन्म गतजन्मके अच्छे-बुरे कर्मोंसे होता है (गीता १३।२१) गतजन्मके दुष्कर्मोंसे इस जन्ममें शूद्रयोनि मिलती है, इसलिए वे पापयोनि हुए; और गतजन्मके पुण्य-कर्मोंसे ब्राह्मणयोनि मिलती है, इसलिए वे पुण्ययोनि हुए। 'पापाद्, पापं वा योनिः-उत्पत्तिर्यस्य, पुण्यात् पुण्यं वा योनिर्यस्य'। तब इसमें वादीका आक्षेप कट गया। देखो इसपर छान्दोग्य-उपनिषद् (५।१०।७)। उसमें ब्राह्मणादिको रमणीय योनि, तथा चाण्डाल (यह शूद्रादिका उपलक्षक है) को कपूया (पाप) योनि बताया है।

वैश्यको 'सत्यानृतं तु वाणिज्यं' (मनु. ४।६) इस सत्य और असत्य

मिश्रित वाणिज्यके सेवनके कारण तथा जघनसे उत्पन्न होनेसे जघन्य कहा जाता है। और स्त्री-पुरुषयोनिसे पापद्वारा ही पतित होकर बनती है; पुरुष एवं स्त्री बननेके कर्म भिन्न-भिन्न हों-यह स्वाभाविक है। यह स.प्र.में स्वा.द. भी मान गये हैं। जो पुरुष अपनी पतिव्रता स्त्रीको तङ्ग करे; वह इस पापसे अन्य जन्ममें स्त्री बनता है; यह धर्मशास्त्रोंमें निरूपण हुआ है, इसलिए स्त्रीको 'पापयोनि' कहना कोई 'पौराणिकता' नहीं, कर्ममीमांसा ही ऐसी है। कृष्णयजुर्वेद तै.सं. (६।५।८।२) में भी यह स्त्रीका पापयोनित्व स्पष्ट है। कृष्णयजुर्वेदकी वेदता 'वेदचर्चा' में देखो। वैश्यकेलिए हम संकेत दे चुके हैं। मनुस्मृतिमें लिख. है—'ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः। यान्यधस्ताद् अमेध्यानि' (८।१३२) (नाभिसे ऊपरकी इन्द्रियां मेध्य हैं, और नीचेकी अमेध्य। यही अन्यत्र भी कहा है—'ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः। तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयम्भुवा' (मनु. १।९२) यहां भी वही बात बताई गई है।

ब्राह्मणका मुखसे जन्म, क्षत्रियका जन्म बाहुसे बताया गया है; अतएव वे नाभिसे ऊपर होनेसे पुण्ययोनि हैं; पर वैश्य ऊरुसे, शूद्र पादसे उत्पन्न हैं; अतः उनकी अपेक्षा मेध्यतामें कम हैं। यह वैदिक-सिद्धान्त है (ऋ. १०।९०।१२, यजुः वा. सं. ३१।११, यजुः काण्व. ३५।११, कृ. य. तैत्तिरीयार. ३।१२।१३, अथर्व. १९।६।६) इसपर 'आलोक' के ८म पुष्पमें पृ. २७९-२९६ में देखें। अथवा 'आलोक' (४) पृ. १८०-२२७ अथवा 'आलोक' (६) पृ. ७६४-८५१ देखो। अथवा 'विद्याधर अभिनन्दनग्रन्थ' अथवा 'आयङ्गर अभिनन्दनग्रन्थ' में हमारे लेखमें देखें। सो गीताने यहाँ वेदके सिद्धान्तका अनुवाद किया गया है। वादी लोग भी ब्राह्मणको मुखसे, क्षत्रियको बाहुसे, वैश्यको ऊरुसे और शूद्रको पाँवसे उपमित करते हैं; अब वे ही सोच सकते हैं कि—मुख-बाहु तथा ऊरु-पांव इन अङ्गोंका शरीरमें क्या-क्या स्थान हैं; तब उन्हें यह पुण्ययोनिता

तथा पापयोनिता स्वयं समझ आ जावेगी। पाँवको हाथ लगाकर फिर हाथको धोना पड़ता है, या नहीं ? अतः यदि वादी गीताकारको 'पौराणिक-पोप' कहता हैं; तो वेद भी फिर उसके अनुसार पोप-लीलाके प्रचारक 'पौराणिक-पोप' सिद्ध हो जावेंगे। वस्तुतः यह उत्कृष्टता-अपकृष्टता एक-दूसरेकी अपेक्षासे है। चरण एवं ऊरु, मुख एवं बाहुकी अपेक्षा अवर ही माने जाते हैं, पर यह अपने-अपने स्थानमें सभी प्रधान हैं। इस विषयमें 'आलोक' (४) में स्पष्टता देखो। यदि वादीको यह समझ न आवे; तो 'वैश्याः' का 'वेश्यापुत्राः' अर्थ कर ले, 'पापयोनि' को 'स्त्रियः' एवं 'वैश्याः' का विशेषण न मानकर उससे 'अन्त्यजों' को ले; और क्षत्रियके उपलक्षण से वैश्यको ले ले; क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद्के पूर्व दिये वचनके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों रमणीय-योनि होते हैं; और शूद्र एवं चाण्डाल कपूया-कुत्सितयोनि होते हैं।

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' (४।१३) इस गीताके पद्यसे कई व्यक्ति 'जन्मना वर्णव्यवस्थाका खण्डन समझते हैं; पर यह वादी अपने 'गीता-विवेचन' (पृ. १७४) में इससे 'जन्मना वर्णव्यवस्था' की सिद्धि ही मानता है, और लिखता है-'इसमें एक बात बड़ी विलक्षण बताई है कि—जो भी व्यक्ति **जिस वर्णमें पैदा हो चुका है,** उसे अपने वर्णकेलिए निश्चित कर्मक्षेत्रके अन्दर सीमित रहना चाहिये। अपनेसे उन्नत वर्णस्थ व्यक्तियोंको देखकर अपने वर्णका कर्म छोड़कर आगे बढ़ना नहीं चाहिए। दूसरे वर्णके धर्मको भयावह समझना चाहिए। केवल **अपने जन्ममूलक वर्णके अन्दर ही सन्तुष्ट** रहना चाहिये। इसका अर्थ स्पष्ट है कि—**गीताकारका वर्ण-व्यवस्था विधान केवल जन्मपर आधारित हैं'** (पृ. ७-१५) इस पद्यसे **गीतामें जन्मना वर्ण-व्यवस्थाका खण्डन करने वाले दयानन्दियोंका खण्डन हो गया।** इससे इस पद्यपर की हुई स्पष्टता 'आलोक' (६) पृ. ८८७-८९९) में देखो।

(८) देवतावादकी उपज वैदिक-युगकी है, इसे 'आलोक' (४) में

'देवता और मनुष्योंकी भिन्नता' निबन्धमें तथा 'विद्या', सो (पृ. ४०५-४२०, ४२१-४३७) में देखो। उसीको अनुसृत करके भी देवतावादको स्पष्ट किया है। यदि वादी पुराणोंको ही उस[illegible] देता है; तो वेदमें पुराणका भी नाम बहुत बार आता है; त[illegible] वेदको भी पुराणोंका अनुगामी तथा पुराणोंके पीछेका वा [illegible] समानकालका, अथवा पुराणोंको भी वेदके समान सृष्टिके आदि मानकर **पुराणोंकी भी अनादिताका वास्तविक सिद्धान्त** मा[illegible]

(ख) भूत-प्रेत भी वेदमें स्पष्ट हैं। वादी जैसे लोगोंका काम यह है वेदमें जो पुराण-जैसी बात हो, उसे तोड़कर-मोड़कर, अर्थका अनर्थ उस सिद्धान्तको हटानेकी दुश्चेष्टा किया करते हैं। उपवेद सुश्रुतसं तन्त्र ६० अ. तथा चरकसं. चिकि. (९।६७, ९।१४-२४) आदि भूत-प्रेतोंका तथा उनकी पूजा एवं चिकित्साका वर्णन स्पष्ट है। समाजका ब्रह्मचारी कृष्णदत्त भी 'भूत-विद्या' के बलसे सिर जोर हिला-हिलाकर वर्तमान आर्यसमाजाभिमत वेदमन्त्रोंसे भिन्न [illegible] वेदनामसे बोलकर दो आत्माओंका अपने अन्दर समावेश एवं बतलाकर व्याख्यान दिया करता है। इससे आर्यसमाजाभिमत [illegible] आत्माओंका तत्काल पुनर्जन्म लेना, श्राद्ध आदिका खण्डन आदि हो जाते हैं, **इन भूत-प्रेतोंके विषयमें अन्य किसी पुष्पमें विचार** [illegible]

(ग) देवताओंमें अणिमा-महिमा आदि सिद्धिवश विविध ऐश्व[illegible] है—यह वादिप्रतिवादिमान्य 'योगदर्शन' के विभूतिपादमें स्प[illegible] (घ) वेदमें तथा योगदर्शन-विभूतिपादमें स्वर्गमें अप्सराओंका व[illegible] हूं। (ङ) ब्राह्मणोंको 'भूदेव' ब्राह्मणभागात्मक वेद शतपथ भी कह[illegible] (च) सुमेरु हिमालय नहीं, किन्तु हेमपर्वत है, वादीने 'हेम' को समझ लिया, यह उसकी अपनी भूल है, इस विषयमें हम नव[illegible] कह चुके हैं। (च) अश्वी तथा मरुद्गण आदि वैदिक देवता हैं [illegible] उनका विशेष वर्णन है। (छ) वराह अवतारपर पहले (९म पुष्पमें)

जा चुका है। (ज) द्यूत शुद्ध वस्तु है, वेदोंमें भी उसका बहुत वर्णन है, द्यूतमें विजयकी प्रार्थना भी वेदमें बहुत आई है; अ. ४।३८ सूक्त जुएमें विजयकेलिए है—उसमें 'ग्लह' शब्द आया है। वेदाङ्ग उसपर 'अक्षेषु ग्लहः' (पा. ३।३।७०) से द्यूतकेपण अर्थको बताता है। 'दिव्' धातुका भी यही अर्थ प्रसिद्ध है। हां, द्यूतमें छलका निषेध है, द्यूतका व्यसन भी निन्दित है। खेती, युद्ध, लाटरी आदि सांसारिक वस्तुएँ द्यूत होती हैं, क्योंकि उसमें पता नहीं होता कि–'ऊँट किस करवट बैठेगा'। सफलता-असफलता सब कामोंमें सन्दिग्ध रहती है—'इसलिए संसारी कार्य भी द्यूत है। 'दिवोऽविजिगीषायाम्' (८।२।४९) (द्यूतम्) 'दिवस्तदर्थस्य' (२।३।५८) 'द्वितीया ब्राह्मणे' (पा. २।३।६०) आदि वेदाङ्ग व्याकरण (अष्टाध्यायी) के सूत्र इसकी वैदिकताको संकेतित करते हैं।

(झ) पीपल, मेरु आदिमें भगवान्का महत्त्व मिलता है, अतः उन्हें तथा सांसारिक विशिष्ट पदार्थोंको भगवान्ने अपनी विभूति बताया है। पीपलको वेद भी देवताओंका सदन कहता है, इस विषयमें 'आलोक' (५) (पृ. ४९४-४९६) में देखो। (ञ) 'त्रिदेवोंमें पिता कौन' इस विषयमें 'आलोक' (७) (पृ. २८४-२९४) में हम स्पष्टता कर चुके हैं। (ट) भृगु एवं अङ्गिराकी उत्पत्ति जिसे वादीने महाभारत (अनु. ८५।१०५) से लिया है, उसका मूल निरुक्त एवं वेद है। वहाँ लिखा है—'अर्चिषि भृगुः सम्बभूव, भृगुर्भृज्यमानो न देहे, अङ्गारेषु अङ्गिराः' (३।१७।१) इत्यादि। इसपर देखो दुर्गाचार्यका भाष्य–'प्रजापतिना शुक्रमात्मीयमादाय अग्नौ हुतम्, ततः अर्चिषि भृगुः नाम महर्षिः संबभूव। व्यपगतेऽर्चिषि यः अङ्गारेषु सम्बभूव, सः अङ्गिरा नाम अभवत्'। इस प्रकार वेद-पुराणकी एकवाक्यता होनेसे ही महाभारतमें कहा है—'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरेदिति' (महा. १।१।२६४) सो जो अर्थ आप लोग वेदमें करें; वही पुराणमें भी कर लीजिये; तब पुराणादिपर आक्षेप क्या? यह अयोनिज उत्पत्तियां हैं। वैशेषिकदर्शनमें

भी इस पर स्पष्टता है, फलतः देवतावाद वैदिक है। शेष रहा अर्थ बदलना, वह तो वादीके नामका, वादीके आचार्य एवं सम्प्रदायके नामका भी अर्थ यौगिकतासे बदल सकता है; तब क्या वादी इनकी पृथक् सत्ता नहीं मानेगा? फलतः देवतावाद वैदिक है।

(६) निष्काम कर्मवादपर जो वादीने कुतर्क किया है, वह 'येन केन प्रकारेण कुर्यात् सर्वस्य खण्डनम्' का उदाहरण है, इसमें तत्त्वकी बात कुछ नहीं। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' का अर्थ उसे ज्ञात नहीं। इस विषयमें 'आलोक' (५) में वादीको गीताविषयक सभी निबन्ध पढ़ने चाहियें। अथवा आगे वह २४ संख्यामें देखे। उसे यह पता नहीं है कि–'निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते। प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी' (अष्टावक्रगीता १८।६१)। सारा संसार इसी निष्काम-कर्मयोगके उल्लेखपर ही तो 'भगवद्गीता' पर लट्टू है: पर यह वादी अनभिज्ञतावश इन बातोंको न समझकर 'अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते' न्यायका उदाहरण बनता है। अनासक्तिसे पुण्य भी पुण्य नहीं रहता, पाप भी पाप नहीं रहता; तब गतागतकारक स्वर्ग-नरक न होनेसे स्वयं मुक्ति प्राप्त हो जाती है। भगवद्गीता 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे' (यजुः माध्यं. ४०।२) इसी भगवान्से ही स्वयं प्रोक्त वैदिक-मन्त्रका स्वयं भगवान्से ही प्रोक्त विस्तृत भाष्य ही है। यहां 'कर्म' का भाव 'निष्काम कर्म' है। निष्काम-कर्म (मुक्ति-विषयक कर्म) जो सकाम नहीं होता है, बन्धन-कारक भी नहीं होता।

(ख) सकाम-कर्मको नरकमें ले जानेवाला हम भी नहीं कहते, किन्तु उसे गतागतकारक कहते हैं–यही बन्धन है। नरक सकाम-कुकर्मसे, स्वर्ग सकाम-सुकर्मसे मिलेगा। सकाम-मध्यम कर्मोंसे मनुष्यलोकमें गमनागमन हुआ करता है। पर कर्म, कुकर्म, सुकर्म इन सब प्रकारके कर्मोंमें सचमुच निष्कामता, निरहंकारता, वा अनासक्ति हो जानेसे, उनका भगवान्में

अर्पण हो जानेसे वह अकर्म-कर्मका अभाव हो जाता है; उसीसे मुक्ति सुलभ हुआ करती है; 'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् । भवत्यत्यागिनां प्रेत्य नतु संन्यासिनां (कर्मफलत्यक्तॄणां) क्वचित्' (गी. १८।१२) अभावके नित्य होनेसे मुक्ति भी नित्य होती है। कर्मोंकी सकामतासे, अपनेसे अहन्ता, ममता आदि द्वारा सम्बन्ध जोड़नेसे बन्धनरूप आवागमनका चक्कर लगा रहता है।

(ग) 'योगी भवार्जुन !' (६।४६) का अर्थ वादी बताता है कि—'हे अर्जुन ! तू योगाभ्यासी हो जा' युद्धमें उसे यह बेतुका मालूम होता है'। यह 'योगी' शब्द यहां 'बेतुका' नहीं है; किन्तु वादीकी विद्या और बुद्धि ही बेतुकी है; इससे वह सूचित कर रहा है कि—उसका गीतामें 'चञ्चु-प्रवेश' तक नहीं हुआ। इससे वह अपने ही शब्दोंमें अपनी 'समझदारी' का द्योतन कर रहा है। यहां 'योगी' यह गीताका विशेष शब्द 'पारिभाषिक' है, इसका अर्थ 'कर्मयोगी' है, और 'कर्मयोगी'का अर्थ यहाँ 'निष्कामकर्मा' है। यदि यह विषय वादीको पूरी तरह समझ आ जावे; तब वह अपनी पुस्तकका सम्भवतः जलप्रवाह ही कर दे।

व.दीको यह स्मरण रखना चाहिये कि—गीताका 'सांख्य' कपिलजी वाला 'सांख्य' नहीं है; और गीताका योग सर्वत्र 'पातञ्जलयोगदर्शन' वाला 'योग' नहीं है। गीताके 'साङ्ख्य' से 'कर्मसंन्यासमार्ग' इष्ट है; और गीताके 'योग' से प्रायः 'निष्कामकर्मयोग' इष्ट है, यह गीताके (३।३, ५।५) पद्योंसे स्पष्ट है; पर गीतापर कलम चलाने बैठा हुआ वादी इस विषयसे कोरा मालूम होता है। गीताके 'योग' से प्रायः 'निष्कामकर्म' इष्ट है, इसलिए गांधीजीने गीताका नाम 'अनासक्तियोग' लिखा था।

(१०) 'अथास्य वेदमुपशृण्वतः' पर 'आलोक' (६) पृ. ८७४-८७६) देखो। (ख) 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' (४।१३) से कई दयानन्दी वर्णव्यवस्था गुणकर्मानुसार मानते हैं; पर यह प्रतिपक्षी यहांपर

इससे वर्णव्यवस्था जन्मसे बता रहा है, यह पहले हम सूचित कर चुके उसे बधाई हो। (ख) स्त्रीके 'पापयोनित्व' पर पहले (सं. ७ में) ... जा चुका है। (ग) वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य' (मनु, १०।८०) से वादी 'वेदका अभ्यास' बताता है, 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' में मुख ब्राह्मण जन्ममें भी वादी यही घटा ले। मुख ही वेद बोलता है, भुजा, ऊरु वेद नहीं बोलते।

वस्तुतः उक्त मनुपद्यमें ब्राह्मणका वेदाभ्यास वृत्तिकेलिए सूचित है। यदि वादी ब्राह्मणका ही वेदाभ्यास बताता है, तब फिर 'यथेमां कल्याणीमावदानि जनेभ्यः' (यजुः २६।२) से वह अन्त्यज तकको वेदका अधिकार कैसे बता सकता है? वस्तुतः उसका यह अर्थ गलत इस मन्त्रके अर्थमें वादीने परमात्माकी 'स्त्री' भी बना डाली; अन्त्यज शूद्रसे पृथक् भी बता दिया, बधाई ! उक्त मन्त्रके अर्थके लिए 'आलोक' (२) (पृ. १-५५) देखना चाहिये।

(११) 'जन्मना वर्णव्यवस्थाके पोषक गीताकारको यह भी नहीं था कि—स्वयं महाभारतमें उनके अवतार वेदव्यासजीने क्या है—यह लिखकर वादी कई वचन देता है—'शृणु यक्ष !...कारण द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः' 'वृत्ते स्थितोपि शूद्रोपि ब्राह्मणत्वं स गच्छति (ब्रह्मपु. २२३।५८) 'भो ब्रह्मन् ! आदिकल्पे हि ब्राह्मण्यं वृत्ते भवेत्' (भविष्य) इत्यादि पौराणिक-पद्योंको वादीने प्रमाण मान लि जब महाभारत वादीके अनुसार श्रीकृष्णके अवतार व्यासजीका है, तब श्रीकृष्णजीको क्यों न मालूम हो; अथवा गीताके संयोजक व्यासको महाभारतमें यह लिखते हुए श्रीकृष्णका यह वचन क्या मालूम हो? वस्तुतः वादीको ही आक्षेपकी मस्तीमें अल्पश्रुतत्वके कारण इन पद्योंका वास्तविक तात्पर्य ज्ञात नहीं है। इस महाभारत वा पौराणिक पद्योंमें वृत्तका अर्थवाद है। अर्थवादमें शब्दका अर्थमात्र न तात्पर्य ही देखना पड़ता है। 'ब्राह्मणत्वं स गच्छति' में 'त्वं'

तद्धर्मता, तद्भावता, बताता है, साक्षात् उसको नहीं; नहीं तो 'प्रवृत्ते तु स्थितो वादी पशुत्वमयमागतः' इस वाक्यमें क्या वादी अपनेको साक्षात् पशु हो गया हुआ मान लेगा ? भविष्यपुराणके वचनमें 'आदिकल्प' शब्द कल्पकी मध्यताको हटा रहा है। इन सब वचनोंपर विचार 'आलोक' (४) पृ. २६१-३२५, तथा 'आलोक' (८) पृ. २६६-३०४ में देखो। (ख) 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' पर विचार 'आलोक' (४) पृ. १८०-२२७ तथा 'आलोक' (६) पृ. ७६४-८७६ तथा ८म पुष्प पृ. २७६-२६६ देखो। तब वादीकी इसमें अपनी ही भूल सिद्ध हुई।

(१२) कहीं विष्णुभगवान्‌से मुक्ति (विष्णु सह. १) कहीं शिवसे (शिव. कोटि. ४१।४), कहीं देवीसे (देव्यथर्व. १७, देवीभा. १२।६।१२६) जो बताई जाती है, इससे विष्णु, शिव एवं देवीकी एकात्मकता सिद्ध होती है, **भेद तो केवल औपाधिक है**। सो प्रकृतिविभिन्नतावश भक्त अपने इष्टदेवमें मुक्तिका विश्वास करे, यह सिद्ध हो जाता है। (ख) इस प्रकार 'गङ्गास्नान' (महाभा. ७४।२३) भस्मलेप (देवीभा. ११।१४।१४-१५) आदि द्वारा जो मुक्ति-प्राप्ति है, वह इन वस्तुओंका महत्त्व सूचित करती है। उनसे शारीरिक एवं मानसिक शुद्धि होना तो सभी मानते ही हैं; तब यही तो मुक्तिके सोपान होते हैं। गीताके अनुसार यह अर्थवाद केवल प्रवृत्ति करानेके 'साधन' होते हैं; 'साध्य' नहीं'; अतः इन अर्थवादों में न रहकर केवल 'गङ्गास्नान' आदि निष्काम कर्तव्यरूपमें करणीय हैं, तब मोक्ष भी स्वयं उपस्थित होगा।

(ख) गीताकी मुक्तिमें बहुत खूबी है। पहले किसी समयमें कर्मके त्यागसे मुक्ति मानी जाती थी; पर यह बहुत कठिन बात थी; क्योंकि— 'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' (३।५) बिना कर्मके कोई कभी रह नहीं सकता; तब भगवान्‌ने यह निष्कामकर्मका बहुत सुन्दर उपाय बताया। स्वा.द.जीने सुकर्मसे मुक्ति मानी है। कर्मोंके अनित्य होनेसे उन्हें मुक्ति भी अनित्य माननी पड़ी। स्वा.द.जीने **स०ध०के स्वर्गको**

बाहरी दृष्टिसे खण्डित करके उडा दिया, पर उसका नाम 'मुक्ति' रखकर उसे अपना लिया। कोई भी दर्शनकार मुक्तिसे पुनरावृत्ति नहीं मानता है। गीताने यह तात्पर्य रखा है कि—निष्काम कर्म करोगे; उसमें अपनी कोई कामना नहीं रखोगे; तो वह कर्म होता हुआ भी अकर्म (कर्मका अभाव) हो जावेगा। **प्रध्वंसाभाव उत्पत्तिवाला होता हुआ भी नित्य रहा करता है;** अतः कर्माभावसे उत्पन्न होती हुई मुक्ति भी नित्य रहा करती है। सकाम सुकर्मसे स्वर्ग, सकाम कुकर्मसे नरक, यह दोनों बन्धन-कारक हैं। एक सोनेकी बेड़ी हैं, तू दूसरी लोहे वा काँटोंकी बेड़ी है, परन्तु निष्काम सुकर्म वा कुकर्म कर्म न रहकर वे बन्धनप्रद न रहकर मोक्षप्रद हो जाते हैं—यह स्वाभाविक बात है, उसे न समझकर वादीका उसपर आक्षेप करना उसकी अनभिज्ञताका प्रमापक है। कर्म बिच्छू वा साँपकी भाँति पीडाप्रद है, पर बिच्छूका कांटा और साँपके दान्त निकाल दिये जाएँ; तब बिच्छू बिच्छू नहीं रहता, साँप सांप नहीं रहता। इस प्रकार वासना ही कर्मका काँटा वा जहरीला दान्त है, उसके हटा देनेसे कर्म भी कर्म नहीं रह जाता; तब 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' (महा. शान्ति. २४०।७) वाली उसकी बन्धकता भी नहीं रहती। इसे समझनेकेलिए 'आलोक' (५-८) देखो।

(ग) कोई यदि बन्दूक चला रहा हो, बीचमें कोई आकर उसमें मर जावे; और मुकदमा चलनेपर पूरी तरह सिद्ध हो जावेकि–बन्दूक चलानेवालेका मृतकको मारनेका मनसे उद्देश्य नहीं था; तब उसे फांसी नहीं दी जाती; किन्तु कैद दी जाती है। वह कैद मारनेकी नहीं होती, मारनेका दण्ड तो फाँसी है। वह कैद असावधानीके दण्डस्वरूप होती है। यदि कोई किसी को सचमुच मारनेके उद्देश्यसे गोली मारे, और वह बच जावे; तब यह साबित होजानेपर कि—वह उसे निरपराध होनेपर भी मारना चाहता था; तब मारनेवालेको न्यायानुसार फांसी मिलती है, अथवा वह यदि दया करने योग्य सिद्ध हो जावे; तो उसे जन्मकैद मिलती है।

(घ) किसी हलवाईकी दूकानके दूधमें सांपका बच्चा मरा हुआ पाया गया था; दूध जब समाप्त हो गया; तब वह उसे दीखा। जो लोग दूध ले गये; वह उन्हें नहीं जानता था। एकका उसे पता था; वह उसके घर सूचना देने गया; पर वह पुरुष घरसे वही दूध पीकर कहीं चला गया था; पर घरमें उसने कहा कुछ नहीं। दूसरे दिन वही पुरुष हलवाईके पास पूछने आया कि-तुम क्या कहने आये थे? उसने उत्तर दिया कि—मैं आपको उस दूधके पीनेकी मनाही करने आया था; क्योंकि उसमें सांपका बच्चा मरा पाया गया था। पता लगा कि-आप वह दूध पीकर चले गये थे, अच्छा हुआ आपकी रक्षा हो गई। वह पुरुष यह जानकर, कि—उस दूधमें सांपका विष था, बेहोश होकर गिर पड़ा। पहले न मरकर अब मरा।

(ङ) एक बार होलियोंमें एक बूढ़ा बहुत सुवह टट्टी गया। लोटेसे जब उसने प्रक्षालन किया; तो उसे अपना हाथ कुछ लाल-सा जान पड़ा। उसने समझा कि—मुझे टट्टीमें लहू आ गया, शायद मुझे खूनी ववासीर शुरू हो गई है। इस वहममें वह बीमार हो गया, खाट पर पड़ गया। दूसरे दिन घरके लड़के पूछताछ कर रहे थे कि—लोटेमें हमारा भिगोया हुआ लाल रंग कहाँ चला गया? बूढ़ेने वह सुना, और उन लड़कोंसे पूछा कि-अमुक लोटेमें क्या तुम लोगोंने लाल रंग भिगो रखा था? जब बूढ़ेको पता लगा कि-यह वही लाल रंग भिगोनेवाला लोटा था, जिसे मैं शौचार्थ ले गया था, सो यह लाल रंग मेरे हाथोंको लगा था, लहू नहीं; तब वह निश्चिन्त और स्वस्थ हो गया। इन सबमें कारण मनका योग वा अयोग है।

(च) किसी पुरुषको सांपने पैरमें काटा, और ऊपरसे मेंडक गुजर गया। उसने समझा कि—मुझे मेंडकने काटा है, साँपने नहीं। वह निश्चिन्त रहा, उसे कुछ हुआ भी नहीं। अन्य पुरुषको मेंडकने पांवमें काटा, ऊपरसे सांप आगया; तब उस पुरुष पर उसका बुरा प्रभाव हुआ,

और वह मर गया। इन दृष्टान्तोंसे गीताके अनासक्त कर्मयोग पर पूरा प्रकाश पड़ता है। दृष्टान्तमें एकदेश लिया जाता है, सर्वदेश नहीं। सो उसका यहां तात्पर्यमात्र लेना चाहिये। स्पष्टता 'आलोक' (५-८) के गीताविषयक लेखमें देखो। 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' यह (देवीभा. ३।२५।६का) वचन सकाम कर्ममें चरितार्थ है, इस विषयमें गत ६ सं. में देखो। निष्काम कर्म तो वस्तुतः अकर्म (कर्मका अभाव) है; उसमें उक्त वचन चरितार्थ नहीं। ब्रह्मज्ञानमें कर्मोंकी क्षीणता उपनिषदोंसे भी प्रसिद्ध है, देखो मुण्डक (२।२।८)। सो देहपातसे पूर्व उसके सभी कर्म ज्ञानाग्निके बलसे यहीं नष्ट हो जाते हैं, 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते' (गीता ४।३७)।

(छ) जिस प्रकार दिव्यदृष्टिसे सञ्जयने धृतराष्ट्रको युद्धका वृत्त तथा बातचीत सुनाई, वैसे गीताके शब्द भी सञ्जयने सुने, इसमें असम्भव कुछ भी नहीं। व्यासजीने उसे लिपिबद्ध पीछे किया, इसमें भी कुछ असम्भव नहीं। जैसे कि तपस्वी ऋषियोंने परमात्माके स्वरूपमें समाधि-स्थित होकर वेदके शब्द सुने, पीछे उन परम्परासे श्रुत और 'श्रुति' शब्दसे प्रसिद्ध शब्दोंको लोकोपकारार्थ श्रीवेदव्यासने लिपिबद्ध किया; क्या वादी उसमें असम्भव समझता है? क्या वह देखे हुए चन्द्रमाको मानता है? आजकलका टेलीवियन उसी दिव्यदृष्टिका आधिभौतिकरूप है। इसी प्रकार गीताके विषयमें भी समझो।

(ज) गीतामें जो वार-वार 'अहं, माम्' आदि रूपमें अस्मद् शब्दका प्रयोग है; वह श्रीकृष्णकी परमात्मताको स्पष्ट बता रहा है। जैसे कि—वेदमें 'यथेमां वाचमावदानि' में स्वा.द.ने' 'अहं' वक्ताको परमात्मा माना, पर वेदमें 'अहं सूर्यमुभयतो ददर्श' (यजुः मा. ८।९) 'हन्ताहं पृथिवीमिमं निदधानि इह वा इह वा' (ऋ.सं. १०।११९।९) जैसे आध्यात्मिक मन्त्र थोड़े हैं, जैसेकि निरुक्तमें भी कहा है—'परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठाः, अल्पश आध्यात्मिकाः' (७।३।१); अतः वेदमें परोक्षमन्त्र प्रधान

पुरुषमें बहुत आते हैं, जिनमें परमात्मा स्तुत होता है; जैसे कि—'तदेजति-तन्नैजति, तद् दूरे तदु अन्तिके' (यजुः मा. ४०।५)। तब क्या वादी उन मन्त्रोंको परमात्मासे प्रोक्त न मानकर ऋषियोंके बनाये मान लेगा? और यह कहेगा कि—वेदके प्रवक्ताने वेदमें प्रथम-पुरुष द्वारा परमात्माका वर्णन करके परमेश्वरको अपनेसे भिन्न बताकर अपनी जीवता सिद्ध की है? अथवा—'मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे' (ऋ. ११०१।६) यह उत्तम-पुरुषका ही मन्त्र ले लीजिये; इसको यदि परमात्माका ही माना जावेगा; तब यह क्या परमात्मा ही प्रार्थना कर रहा है कि—'ऐ भाइयो, आओ; इन्द्र-परमात्माको सखा होनेकेलिए हम गद्गद होकर पुकारें'? तब क्या परमात्मा अपनेसे भिन्न परमात्माकी मित्रताकेलिए लोगोंको प्रेरित कर रहा है? इन प्रश्नोंका जो उत्तर होगा, वही गीताकी प्रथम-पुरुष तथा उत्तम पुरुषकी क्रियाओंका भी उत्तर हो जायगा। इस प्रकार 'ईशा वास्यमिदं...तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' (यजुः ४०।१) यह प्रथम पुरुषमें परमात्मा क्या अपनेलिए कह रहा है? यदि हां, तब 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति' (१८।६१, १८।४६) आदि पद्य भी श्रीकृष्ण-परमात्मा अपनेलिए प्रथम पुरुषमें कह रहा है।

पहले अपने घरकी ओर देखो; फिर दूसरे पर वार करो। वेदमें भी जहां उत्तम पुरुष आता है, वहां तुम लोग भी ईश्वरीयताका बोध मानते होगे, जैसेकि—'अहमेव स्वयमिदं वदामि...यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि, तं ब्रह्माणं, तमृषिं, तं सुमेधाम्' (ऋ. १०।१२५।५) अन्यथा यदि वेदके अस्मद्शब्दसे जीवका बोध मानोगे, तब वेद भी मनुष्यसे बने हुए मानने पड़ेंगे, जैसे कि—पाश्चात्य चश्माधारी सुधारक लोग कहा करते हैं।

(१३) वादी कहता है—'गीताने बड़े बलके साथ बार-बार यह कहा है कि–मेरे धाम मोक्षको पाकर फिर वहाँसे किसीको लौटना नहीं पड़ता है? यह गीताका सिद्धान्त भी अवैदिक है। उपनिषद्कारने स्पष्ट लिखा है—'ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे' (मुण्डक) (मुक्त जीव ब्रह्मलोक (मोक्ष) के आनन्दके भोगकालके समाप्त होनेपर पुनः जन्म लेते हैं।

उ०—यहां ब्रह्मलोकसे यदि वापिस लौटना वादी कहता है; तो यह क्या नई बात उसने लिख दी है। ब्रह्मा एक देवविशेष है; उसके लोकसे लौटना सम्भव है। यही बात तो गीतामें भगवान्ने भी कही है—'आ ब्रह्मभुवनाद् लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन!' (८।१६) पर यदि 'ब्रह्मलोक' का अर्थ यहां ब्रह्मका लोक मुक्ति है; तो मुक्तिसे लौटना सम्भव नहीं; तभी 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इससे श्रीकृष्ण भगवान्ने स्वयं आगे कहा है–'मामुपेत्य तु कौन्तेय! पुनर्जन्म न विद्यते' (८।१६); कारण यह है कि—मुक्तिसे लौटना किसी भी शास्त्रका सिद्धान्त नहीं है। संसारमें गमनागमन कर्मवश होता है। परन्तु मुक्त पुरुषके जब कर्म रहते ही नहीं; जन्मके बीज कर्म ही जब वासनाको जला देनेसे भुन जाते हैं; तब उस भुने बीजोंसे अङ्कुरोत्पत्तिरूप पुनर्जन्म पुरुषका कैसे हो? गीता (८।१५-१६,२१,२४,२६, १५।३-४-५-६ २।५१, ४।९) में तो मुक्तका पुनर्जन्म स्पष्ट निषिद्ध है। अन्य शास्त्रोंमें भी यह स्पष्ट है। देखिये—न्यायदर्शन (१।१।२२, ३।२।७०, ४।१।६४, १।१।२), सांख्यदर्शन (६।१७।१८-१९), वेदान्तदर्शन (४।४।२२), योगदर्शन (३।५०), वैशेषिकदर्शनका प्रशस्तपादभाष्य (संसारापवर्गप्र.), प्रश्नोपनिषद् (१।१०।१) छान्दो. (८।१५।१-२, ४।१५।५-६, ६।२।१५), बृहदारण्यक (६।२।१५). मुक्तिकोपनिषद् (१।२०) यजुर्वे. (३१।१८, ४०।१४), तवलकारोप. (१।२), कठोप. (६।१५), मुण्डकोपनिषद् (३।२।६), मनुस्मृति (२।२४९) इन सबमें मुक्तिसे फिर वापिस लौटना नहीं माना गया। तभी स्वा.द.जीको भी स.प्र.में यह मानना पड़ा कि–'सब संसार और ग्रन्थकारोंका भी यही मत है कि—जिस [मुक्ति] से पुनः जन्म-मरणमें कभी न आवें' (९ पृ. १५१) इस प्रश्नपर स्वामी ठीक उत्तर न दे सके; केवल तर्क कर दिया, जिसका कुछ महत्त्व नहीं; तब क्या यह

सभी ऋषि-मुनि वेदानभिज्ञ थे ? 'वेदविदेव चाहम्' (गीता १५।१५) कहनेवाले श्रीकृष्ण जी भी क्या वेद नहीं जानते थे ? कहना पड़ेगा कि—यह सब वेदज्ञ थे, एक वादी तथा उसके सम्प्रदायका आचार्य—यह लोग वेदका पूर्ण ज्ञान नहीं रखते; अथवा उसमें स्वेच्छानुसार अर्थ बदलते हैं। स्वा.द.जी भी पहले मुक्तिसे लौटना नहीं मानते थे; उनके भी उद्धरण हमारे पास बहुत हैं, पीछे वे एक ईसाईसे शास्त्रार्थमें हार गये थे, तबसे उन्होंने मुक्तिसे लौटना मानना शुरू किया; और अपना पुराना लेख बदल दिया। कहीं उसे शोधित किया, कहीं नहीं कर सके; इसलिए उनकी पुस्तकमें अब भी मुक्तिके विषयमें परस्पर-विरोध मिलता है।

अब मुण्डकके वचनपर विचार किया जाता है। वादीने यह अर्थ स.प्र.से लिया है। इसमें वक्तव्य यह है कि—'परिमुच्यन्ति' शब्दका 'संसारमें आते हैं' वा 'पुन: जन्म लेते हैं' यह वादीका अर्थ करना गलत है। इसका तो यह अर्थ है कि—जन्म-मरणके बन्धनसे सदाकेलिए छूट जाते हैं, मुक्त हो जाते हैं। 'मुच्यन्ते' का अर्थ यदि वादी 'पुन: जन्म लेना' मानता है; तो यह तो बन्ध हो गया। मुक्ति कहाँ हुई ? उसके मतमें मुक्ति बन्ध और बन्ध ही मुक्ति सिद्ध हो गई, पर यह मत सर्वशास्त्र-विरुद्ध है, और फिर उक्त वचनमें 'परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे' यह पाठ है। देखिये शाङ्करभाष्य वाली मुण्डकोपनिषद् (गीता प्रेस पृ. ११०)। 'कैवल्योपनिषद्' में 'परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे' पाठ है। 'परान्तकाल'का अर्थ है 'स्थूलदेहत्यागके समयमें'। यहां वादीने 'आनन्दके उपभोगकालके समाप्त होनेपर' यह अर्थ कैसे कर लिया ? अतः उसका अर्थ अशुद्ध है। पूरे वचनका अर्थ तो यह है कि—जिन्होंने वेदान्तके विज्ञानसे अर्थोंका अच्छी तरहसे निश्चय कर लिया है; और जो संन्यासयोग (कर्मफलत्याग) से यति (सच्चे संन्यासी) होकर शुद्ध सत्त्व वाले हो गये हैं; वे कर्ममें अनासक्त यति देहत्यागके समय ब्रह्मलोकमें परम अमृतत्व (ब्रह्मस्वरूप) प्राप्त करके (परिमुच्यन्ति) **सदाकेलिए मुक्त हो जाते हैं,** (परितः

मुच्यन्ते) फिर उन्हें कभी भी पुनर्जन्ममरणका बन्धन प्राप्त नहीं हो[illegible] इससे वादीका अर्थ कट गया।

(१४) जो कि वादी कहता है—'वेद भी बताता है कि—जब [illegible] आनन्दके उपभोगकी अवधि समाप्त होने लगती है; तो जीवके [illegible] जन्मकी स्वाभाविक भावनाएँ उठने लगती हैं; और वह सोचता है कि 'कस्य नूनं...स नो मह्या अदितये पुनर्दात्, पितरं च दृशेयं, मातरं (ऋ. १।२४।१-२) हम अनादि सदा मुक्त परमात्माका पवित्र नाम [illegible] जो हमको मुक्तिमें आनन्दका भोग कराकर पृथिवीमें जन्म देकर [illegible] माता-पिताका दर्शन कराता है'।

प्रत्युत्तर—वादीने यह अर्थ भी स्वा.द.जीका दिया है, यह कि[illegible] पदोंका अर्थ है, यह उसे बताना चाहिये ? उक्त मन्त्र पुनर्जन्मका [illegible] प्रतिपादक कथञ्चित् हो सकता है, पर **मुक्तिसे परावर्तनका** प्रतिपा[illegible] नहीं। क्योंकि—यहांपर **बद्ध** शुनःशेपका प्रकरण है, **मुक्तका नहीं।** [illegible] इस प्रकरणका यह मन्त्र स्पष्ट बता रहा है—'शुनःशेपो यमह्वद् गृभी[illegible] (बद्धः) सोऽस्मान् राजा वरुणो **मुमोक्तु'** (ऋ. १।२४।१२) 'शुनःशे[illegible] यमह्वद् गृभीतः त्रिषु आदित्यं द्रुपदेषु बद्धः। अवैनं राजा वरुणः ससृ[illegible] (मुञ्चतु) विद्वां अदब्धो **विमुमोक्तु पाशान्'** (१३) इस आख्यानमें [illegible] स्पष्ट लिखा है कि—शुनःशेप पाशमें बंधा है, उसकी पाशमुक्तिका [illegible] वर्णन है, यह बात ऋ. ऐत. ब्रा. (७।१६) में जिसे दयानन्दी लोग [illegible] का भाष्य मानते हैं—स्पष्ट है। यहां 'बद्धः' है, 'मुक्तः' नहीं, उस ब[illegible] पाशोंका विमोचन (विमुमोक्तु) कहा है, पुनः बन्धन नहीं। अतः वादी[illegible] अर्थ गलत है। मुक्तको माता-पिताका दर्शन यह लौकिक माता-पिता [illegible] हो सकते हैं ? क्या मुक्ततासे पूर्वके जीवित माता-पितासे उसका सम्ब[illegible] हुआ करता है ? यदि ऐसा है; तो जीवित पुत्रका भी मृतक माता-पित[illegible] सम्बन्ध क्यों नहीं हो सकता ? फिर मृतक-श्राद्ध भी मान लो। मह[illegible] महती अदिति अदीना देवमाता हुआ करती है, जिसकेलिए वेदमें कहा है

'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता' (ऋ. १।८९।१०) माता-पिता रूप उसी अदितिका दर्शन इष्ट हो सकता है। जन्म होता है कर्मोंसे। वादी कर्मसे मुक्ति मानते हैं; सो मुक्तिफल प्राप्त होकर जीवके कर्म तो सर्वथा समाप्त होगये, अब जीवके कर्म कहांसे आएंगे कि–वह माता-पिताके यहां जन्म लेगा ? क्या जीव विना कर्मके भी जन्म ले सकेगा ? उसको विना कर्मके कौनसी योनि मिलेगी ? विना कर्मके तो उसे फिर पशु-पक्षीकी योनि भी मिल सकती है। यदि वादी उसे पक्षी-योनि मिलना वा न मिलना माने; तो उसका कारण बतावे कि–क्यों वह पशु नहीं बनता, वा क्यों पशु-पक्षी बनता है। माता-पिता तो पशु-पक्षि-योनिमें भी मिल सकते हैं। उक्त मन्त्रमें मनुष्ययोनिका नाम भी तो नहीं लिखा है–

'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' (यजुः ३१।१८) यहां वादी 'अतिमृत्यु' का अर्थ 'मोक्ष' (पृ. २४०) करता है; तब इससे स्पष्ट हुआ कि–मुक्तिमें जन्म-मरण नहीं हुआ करता। तब वादीका मुक्तिमें जन्म-मरण मानना अवैदिक सिद्धान्त हुआ। वस्तुतः निर्मूल सिद्धान्तोंका यही हाल हुआ करता है। स्वा.द.जीने ऋभाभू. (पृ. २१०) से 'दुःखजन्म' इस न्याय-सूत्रका अर्थ करते हुए लिखा है—'...अविद्या नष्ट हो जाती है; तब जीवके सब दोष नष्ट हो जाते हैं। उसके पीछे...वासना सब दूर हो जाती है। उसके नाश होनेसे जन्म अर्थात् फिर जन्म [पुनर्जन्म] नहीं होता। उस [पुनर्जन्म] के न होनेसे सब दुःखोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है। दुःखोंके अभावसे परमानन्द मोक्षमें अर्थात् **सब दिनकेलिए** परमात्माके साथ आनन्द ही आनन्द भोगनेको बाकी रह जाता है। इसीका नाम 'मोक्ष' है। इससे हमारे पक्षकी कैसी सिद्धि हो रही है ! **'जो सब दिनके-लिए परमानन्द** प्राप्त होता हैं, उसी सुखका नाम मोक्ष है' यह अत्यन्त स्पष्ट शब्द है। जब वासनाका दूर होना बता दिया; तो वासनाका कार्य पुनर्जन्म भला कैसे हो सकता है ?

वादी तो देवीभा.पु.को मानकर कहता है—'मन्दोपि दुःखगहने गर्भवासेऽतिसङ्कटे। न करोति मतिं विद्वान् कथं कुर्याद् स चक्रभृत्' (५।१।४८) मूर्ख पुरुष भी मल-युक्त गर्भवासमें मति नहीं करता; तब भला मुक्त-पुरुष गर्भवासकी मति कैसे करेगा ? पिताके मल-शुक्र माताके मल रज (मनु. ५।१३५) तथा माताके विष्ठा-मलाकुल पेटमें वादी तथा वादीका आचार्य मुक्तिसे लौटकर आना चाहते हैं; तो वे और उसका अनुयायी वादी दोनों ही अपने मान्य देवीभागवतके अनुसार मन्द (मूर्ख) हुए या नहीं ? यह बताना वादीका काम है। विष्णुभगवान् तो 'अन्तः अजायमानः बहुधा विजायते' (यजुः ३१।१९) वहाँ प्राकट्यका अभिनय करते हैं, गर्भकी वायुमात्र ही निकल जाती है, यह ब्रह्मवैवर्तमें स्पष्ट है।

(१५) जो कि वादी कहता है कि—'अल्पशक्तिवान् जीव अनन्त मोक्ष-सुख भोगनेको समर्थ भी नहीं हो सकता' यह भी वादीकी बात ठीक नहीं। न्यायदर्शनानुसार (१।१।२२) मुक्ति-सुखको दुःखका अभावमात्र माना जाता है, और मोक्षमें वह दर्शन आत्माके विभुत्वका प्रकट हो जाना मानता है; अन्य दर्शन आत्माको भी ब्रह्म हो जाना ही मान लेते हैं, 'ब्रह्मैव भवति' सो उसकेलिए दुःखाभावरूप सुखका उस ब्रह्मकेलिए कुछ भी भार नहीं। जब ब्रह्म होगया तो उनकी अल्पशक्ति कहां रही ?' दुःखके अभाववाला कोई मूर्ख ही होगा कि—फिर दुःखकी प्राप्ति चाहता हो। और फिर कर्मोंके अत्यन्ताभाववश हुई कर्मक्षीणतासे मुक्तिको प्राप्त मुक्तको बन्ध किस बचे हुए कर्मसे मिलेगा ? कर्म तो उस समय उसका बचा हुआ होता नहीं।

(ख) जो कि कहा जाता है कि—'जब मोक्षका आदि है, तो अन्त भी होना आवश्यक है। यह वादीका तर्क भी थोथा है। बन्धका प्रध्वंसाभाव ही मोक्ष होता है। प्रध्वंसाभावका लक्षण भी यही है कि... 'सादिरनन्तः प्रध्वंसः, उत्पत्त्यनन्तरं कार्यस्य' प्रध्वंसाभावका आदि तो होता है, पर उसका अन्त नहीं होता। यह अभावकी खूबी है।

(ग) यह कहना भी गलत है कि—मोक्ष मानवको सीमित जीवन-कालमें सीमित-साधनोंसे उपार्जित सीमित-कर्मोंका फल होती है; तो सीमित **कर्मोंका फल भी सीमित** होना चाहिये; अतः जीवके अनन्तकाल तक मोक्षमें रहनेका अर्थ यदि 'कभी न लौटना' लिया जावेगा; तो गलत हो जावेगा"।

विद्वान् पाठकोंने देख लिया, यह है वादीका शास्त्रोंका गम्भीर पाण्डित्य !!! न तो वादीको यह ज्ञात है, और न उसके स्वामीको इस विषयमें ज्ञान हो सका। प्रतिपक्षियोंकी यही तो भारी भूल है कि—**यह लोग सुकर्मसे मुक्ति मानते हैं**, तभी तो **मुक्तिको भी कर्मोंकी अनित्यतासे अनित्य मानते हैं**। महाशय ! याद रखो कि—सुकर्मसे स्वर्ग मिलता है, मुक्ति नहीं। सुकर्मोंके **सीमित होनेसे** अन्तमें क्षीणतावश स्वर्गसे मनुष्य-लोकमें लौटना पड़ता है—'तद् यथेह पूर्वजितो लोकः क्षीयते, एवमेष अमुत्र **पुण्यजितो लोकः** [स्वर्गः] क्षीयते' (छान्दो. ८।१।६) 'इष्टापूर्तं [यज्ञादिकं] मन्यमाना वरिष्ठं...नाकस्य पृष्ठे ते **सुकृतेऽनुभूत्वा इमं लोकं** [मनुष्यलोकं] हीनतरं वा विशन्ति' (मुण्ड० १।२।१०)। बृहदा. में भी कहा है—'तस्माद् लोकात् पुनरेति अस्मै लोकाय कर्मणे' (४।४।६) इससे स्वर्गलोकसे कर्म करनेकेलिए फिर मनुष्यलोकसे वापिस आना स्पष्ट है। उपनिषदोंमें—जिनमें वादी वेदविरोध नहीं मानता (देखो उसका गीता वि० पृ. २३९ पं. १७ **'उपनिषदोंकी कोई बात वेद-विरुद्ध नहीं है'**) यह विषय स्पष्ट है। गीतामें भी यही कहा है—'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गीता ९।२१)

सो स्वर्गलोकसे तो मनुष्यलोकमें लौटना पडता है; अतः सुकर्मोंकी अनित्यतासे स्वर्ग भी अनित्य है। वादियोंने बाह्यदृष्टिमें स.ध.के स्वर्गको उडाकर उस 'स्वर्ग' का नाम ही 'मुक्ति' रख दिया है, सो यह नाममात्रका भेद है, बात वही स.ध. की ही ठीक रही, वस्तुतः आप लोगोंने मुक्तिको ही उडा दिया। इससे स्पष्ट है कि—मुक्ति कर्मोंका फल

नहीं। इसी कारण स्वा. शङ्कराचार्यने ब्रह्मसूत्र (१।१।४) का ... करते हुए लिखा है—'तद् यदि कर्तव्यशेषत्वेन [मोक्षः] उपदिश्येत, ... च कर्तव्यत्वेन साध्यश्चेन्मोक्षोऽभ्युपगम्येत, अनित्य एव स्यात्।...नि... **मोक्षः सर्वैर्मोक्षवादिभिरभ्युपगम्यते**; अतो न कर्तव्यशेषत्वेन ब्रह्मो (मोक्षो)पदेशो युक्तः'।

वादी याद रखे कि—मुक्ति सुकर्मसे नहीं मिलती। मुक्ति तो ... संन्याससे, कर्मफलसे कुछ भी सम्बन्ध न रखकर अथवा ज्ञानसे कर्मों... जलाकर उन्हें अकर्म करके कर्माभावसे मिलती है, जब न रहें सुकर्म ... न रहें कुकर्म। जैसे कि—यह श्रुति प्रसिद्ध है—'न **कर्मणा** न प्रजया धनेन, **त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः**' (साँ. त. कौ. २य कारिकमें उद्धृत)। **कर्मोंके अभावके नित्य होनेसे** तन्मूलक बन्धसे छुटकारा (मोक्ष) भी ... रहा करता है; तब वादियोंकी सब आपत्तियाँ निस्सार सिद्ध हुईं।

कर्माऽभाव तो तीन प्रकारका होता है; एक तो कर्म बिल्कुल ... होना; इसे ही 'कर्मसंन्यास' या गीताका सांख्यवाद कहते हैं। यह ... कठिन है। दूसरा होता है—सभी सञ्चित एवं क्रियमाण तथा प्रा... कर्मोंका उसी जन्म, वा उसी क्षणमें फल-भोग प्राप्त हो जाय; तब ... भी कर्म शेष न रहनेसे यह भी कर्माभाव हो जाता है, जैसे कि—एक गो... को जिसने श्रीकृष्णभगवान्की वंशीका निनाद सुना था; उनके पास ... लगी; तब उसके पतिने उसे जाने नहीं दिया; तब उसी समयमें भग... के विरहसे उसे जो **सीमातीत** दुःख प्राप्त हुआ; इससे उसके पिछले ... इस जन्मके सभी पाप-कर्मोंकी गठरी फलभोग देकर जल गई; ... भगवान्का जो चिन्तन कर रही थी; उससे जो उसे **सीमातीत** आह्ला... हो रहा था; उससे उसके पिछले जन्म तथा इस जन्मके सभी पुण्यक... की गठरी भी फलभोग देकर जल गई; और कोई शेष कर्म उसके ... होनेसे प्रारब्ध-कर्मोंके भी शेष न रह जानेसे जगदुत्पादक परब्रह्म श्रीकृ... का चिन्तन करते-करते उसका देहपात हो गया; तो प्रारब्ध कर्म ...

उसके न बचे; इस प्रकार उसकी मुक्ति हो गई। उस बातको बतलानेवाला विष्णुपुराण (५।१३।२१-२२) का वह पद्य 'काव्यप्रकाश'के ४र्थ उल्लासमें तथा साहित्यदर्पणके ४र्थ परिच्छेदमें उद्धृत किया गया है—'तदऽप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका। तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा। चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम्। निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गताऽन्या गोपकन्यका।' (४।८०)।

तीसरा कर्माऽभाव है गीतासे प्रोक्त कर्मफलसंन्यासके प्रकारसे, जिसे कर्मयोग कहा जाता है; उसमें अनासक्तिवश, फ़लाकाङ्क्षा न होनेसे वह कर्म भी अकर्म (कर्माभाव) (गीता ४।१८) हो जाता है, सो कर्माभावसे मुक्ति होती है, कर्मसे नहीं; तब **अभावके नित्य होनेसे मुक्ति भी स्वतः नित्य होगी**। जैसे बीज भुन जानेसे फिर उससे अङ्कुर कभी प्ररूढ नहीं होता; इस प्रकार ज्ञानाग्निसे कर्मरूप बीज दग्ध हो जानेसे फिर कर्मोंकी प्ररोहणशक्तिके न रह जानेसे जन्मान्तररूप बन्ध नहीं हो सकता। 'बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः। ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुनः' (ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्यमें धृत स्मृतिवचन)।

'परान्तकालका अर्थ 'देहत्याग' का समय' है, 'मोक्षका समय' नहीं। ३६००० बार सृष्टिकी उत्पत्ति-प्रलय—इतना समय जीवको मोक्षका आनन्द मिलता है। यह वादी तथा उसके स्वामीकी निर्मूल कल्पना है, कहीं ऐसी बात प्रामाणिक-शास्त्रमें नहीं लिखी गई। इसका भी वादीको प्रमाण देना पड़ेगा कि—क्या सभी मुक्तोंको ३६००० वर्ष मोक्ष रहता है, क्या सभीके कर्म बराबर होते हैं; जोकि सभीको ३६ सहस्र वर्ष पूरा आनन्द मिलता है? यदि सबके कर्म समान रूपमें नहीं रहते, तो सभीको ३६ सहस्र वर्ष पूरा मोक्ष बिना कारण कैसे मिला? यदि न्यूनाधिक वर्ष मुक्ति-सुख उनको मिलता है, तो वादीको इससे सप्रमाण लेखा-जोखा बताना पड़ेगा। वस्तुतः यह वादी के स्वामीकी गप्प है। क्या मुक्तका शरीर मानते हो वा नहीं; यदि नहीं, तब मुक्तात्मा सुखका

अनुभव कैसे करता है?' इसमें 'खाटमें आराम करनेकेलिए लेटनेका' वादिप्रदत्त दृष्टान्त नहीं घटता; क्योंकि यह तो लौकिक सुखाभास है। सुखसे कोई भी तृप्त नहीं होता। 'श्रेयसि केन तृप्यते' (शिशुपालवध १।२९)। मुक्तिमें आनन्द न्यायानुसार दुःखका अभाव ही इष्ट है; नहीं तो सुखमें राग हो जानेसे न्यायानुसार (१।१।२२) रागके जन्मान्तरका कारण होनेसे फिर बन्धन प्राप्त हो जावेगा। जो आनन्द मुक्तिका वादी लिखता है, **वह मुक्तिमें न होकर स्वर्गमें हुआ करता है**, जिसे देवता लोग भोग कर फिर मनुष्यलोकमें जा गिरते हैं, जिसका वादी खण्डन किया करता है। स्वर्गमें शारीरिक भोग होता है; अतः वह अनित्य है, पर मुक्तिमें मानस सुखभोग होता है; वह नित्य हुआ करता है। मन सदा बना रहता है। फलतः यह सब स्वा.द.जीकी बातें स.प्र.के स्वर्गमें संघटित होती हैं, मुक्तिमें नहीं। उन्होंने स्वर्गको पौराणिक बताकर बाहरी दृष्टिसे उसका खण्डन कर दिया; पर उसी स्वर्गका 'वैदिक-मुक्ति' नाम रख दिया। पर यह सारी भूल है, और निष्प्रमाण है। वेदमें कहीं भी मुक्तकी पुनर्जन्मकी इच्छा नहीं सूचित की गई।

वादी और उसके स्वामीका मोक्षको 'जेलखाना' कहना पूरी नासमझी है। बन्ध तो जेलखाना ही होता है, पर मोक्ष तो जेलखाना नहीं होता; वह तो जेलखानेसे सदाकेलिए छूटना होता है। क्या सदा स्वतन्त्र रहना और आनन्दमें रहना एवं बन्धनसे मुक्त रहना 'जेलखाना' होता है? वादी अब जेलखानेमें है, या 'शिवलिङ्ग-पूजारहस्य' के मुकदमेके समय जेलखानेमें था? यदि वादी अब मुक्त है; और मुक्तिका आनन्द भोग रहा है, तब क्या फिर उसकी कभी इच्छा उसी जेलखानेमें जानेकी हुई है? वा होगी? यदि नहीं, तब वह मुक्तोंका बन्धनरूप जेलखानेमें फिर जाना कैसे कहता है? संसार बन्ध ही तो होता है।

बार-बार जन्म लेना और मरना जिसमें बड़ी-बड़ी पीडाएं होती हैं, कहते हैं—मरनेके समयमें सौ-बिच्छुओंसे कटनेकी तरह साँस घुटनेमें

पीड़ा होती है। एक दमेका रोगी कितने कष्टमें होता है। इसी प्रकार जन्मसे भी पीड़ा प्रत्यक्ष है, पैदा होनेवाला लड़का इन पीडाओंसे सूजकर गन्दे रास्तेसे बाहर निकलता है। क्या इसे बन्धन मानोगे, वा सदा जन्म-मरणके चक्र-बन्धनोंसे छुटकारा पाकर सदा स्वतन्त्र होकर आनन्दित रहनेको आनन्दित मानोगे ? मुक्तिको निःश्रेयस कहा जाता है, जैसा कि-वैशेषिक आदि दर्शनोंमें प्रसिद्ध है। इसका अर्थ है—जिससे बढ़कर सुख न हो, वह 'निःश्रेयस निश्चितं श्रेयो निःश्रेयसम्'। तब क्या उस मुक्तिके सुखसे भी बढ़कर पुनर्जन्मका सुख है, जिसे दयानन्दी-जीव चाहता है। जन्मको तो दुःख माना गया है, निश्चित श्रेय नहीं। नहीं तो फिर मुक्ति परम पुरुषार्थ नहीं रहेगी। संसार बन्ध ही परम पुरुषार्थ हो जावेगा; पर ऐसा किसी शास्त्रकारको सम्मत नहीं।

वादी प्रश्न कर सकता है कि—स.ध.का नित्य-मुक्त परमात्मा क्या अवतार लेकर पुनर्जन्म इच्छुक होकर जन्म-मरणरूप बन्धनमें नहीं आता ? इसपर हमारा उत्तर है कि-नहीं। **इच्छानुसार** 'अन्तः अजायमानो बहुधा विजायते' (यजुः ३१।१९) (अन्दर पैदा न होता हुआ बहुत प्रकारसे प्रकट होता है) इस वेदोक्त प्रकारसे व्यक्त हो जाना अथवा व्यक्तसे अव्यक्त हो जाना जन्म-मरण नहीं होता। अतः उसमें पीड़ा कैसी ? कैदी जेलखानेमें नहीं जाना चाहता हैं, बलात् भेजा जाता है। उसकी उसमें स्वतन्त्रता छिन जाती है, परतन्त्रतासे चक्की पीसना आदि दण्ड भुगतना पड़ता है, घबराता है; पर राजा जेलखानेमें कैदियोंके हितार्थ वा किन्हींके दमनार्थ स्वतन्त्र होकर जाता है; उसे चक्की पीसना आदि कुछ भी दण्ड प्राप्त नहीं होता, इस प्रकार नित्य-मुक्त परमात्मा भी अवतारकालमें अभौतिक स्वेच्छानिर्मित शरीर बनाना रूप प्राकट्य प्राप्त करके और अवतार-समाप्तिकालमें अन्तर्हित वा अव्यक्त होकर दोनों ही अवस्थामें स्वतन्त्र होकर मानुषी वा संसारी नाट्य करता है (भाग० ११।३१।११) उसमें वास्तविक पीड़ा नहीं होती; तभी तो भगवान्ने

कहा है—'जन्म-कर्म च मे दिव्यम्' (गीता ४।९)। इसे यदि वादी सम... जाय; तब उसकी समस्त लघु-शङ्काएँ सूख जाएं, उसे अवतारवाद औ... स० ध० के सभी सिद्धान्तोंका रहस्य ज्ञात हो जाय। वह अवतार ... नहीं चाहता है किन्तु 'भक्तोद्धार-परायण' होकर ही अवतार लेता है।

क्या यह वादी पिञ्जरेका तोता तो नहीं कि—पिञ्जरेसे छूटा हु... फिर पिञ्जरेमें जाना चाहता हो ? पशु-पक्षी ऐसा करें, अज्ञानमें लि... पुरुष भी ऐसा करे, पर ज्ञानी मुक्त आत्मा बन्धन कभी नहीं चाहता... अतः वादी तथा उसके स्वामीके मुक्ति आदि विषयक सभी सिद्धान्त ग... सिद्ध हैं। सभी शास्त्रोंका सिद्धान्त यहीं है कि—'न मुक्तस्य पुनर्बन्धयो... प्यस्ति, अनावृत्तिश्रुतेः' (सांख्यद. ६।१७) इस साँख्यसूत्रपर विज्ञान... भिक्षुका भाष्य है—'भावकार्यस्यैव विनाशितया [अभावकार्यस्य] मोक्ष... नाशो नास्ति, 'न स पुनरावर्तते' इतिश्रुतेरित्यर्थः। 'अपुरुषार्थत्वमन्यथा' (१८) अन्यथा **मुक्तस्यापि पुनर्बन्धे** मोक्षस्याऽपुरुषार्थत्वम्, परमपुरुषार्थ... त्वाभावो वा स्यात्' अर्थात् वेदोंकी श्रुतियोंमें 'न स पुनरावर्तते, न ... पुनरावर्तते, कहनेसे मुक्तका फिर जन्म-बन्धन नहीं होता; नहीं तो फि... मोक्ष परम-पुरुषार्थ न रहकर बन्धन ही परम-पुरुषार्थ हो जायगा, त... फिर मुक्तिकेलिए कोई क्यों व्यर्थका निष्फल भारी प्रयास करेगा ? य... बात वेदान्तदर्शनमें भी कही है—'अनावृत्तिः शब्दाद्, अनावृत्तिः शब्दा... (४।४.२२) मुक्तकी पुनरावृत्ति नहीं होती; क्योंकि-इसमें आगमवच... मिलते हैं—'तयोर्ध्वमायन् अमृतत्वमेति' (छा. ८।६।६, कठ. ६।१६) 'तेषां न पुनरावृत्तिः' (बृह. ६।२।१५) 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मान... मावर्तं नावर्तन्ते' (छा. ४।१५।१) 'न च पुनरावर्तते' (छा. ८।१५।१)

वादीने भी अपनी पुस्तक 'मुनिसमाजमुखमर्दन' पृ. (१०२)में लि... है—'अमृत उस तत्त्वको कहते हैं, जिससे मनुष्य मरनेसे तर जाते हैं अर्थात् मरते नहीं हैं, अमर हो जाते हैं। वेदकी परिभाषामें अमृत ... कहते हैं जिसमें आवागमन—**बार-बार जन्ममरणसे छूटकर** मोक्ष...

प्राप्त कर लेते हैं। मोक्षका अर्थ है कि परमेश्वरको प्राप्त करके **जन्म-मरणके बन्धनसे** छूटना। अतः वेदका अमृतत्व परमेश्वर है' (पं. १-२-३ ४) यहां वादी मुक्तिमें जन्म-मरणका बन्धन छूटना मानता हैं, पर अपने 'गीता-विवेचन' पुस्तकमें जन्म-मरणका बन्धन छूटना नहीं मानता, इससे मालूम होता है कि–इन मुनिसमाज और गीता-विवेचनके लेखक समान नामके भी भिन्न-भिन्न हैं; या यह लेखकका परस्पर विरोध है। सो वह 'परस्परविरोधाद् अपास्तः' उसका अपना ही सिद्धान्त अपनेसे ही खण्डित हो गया।

(१६) पूर्वपक्ष—गीताका ब्रह्मलोक शिवपुराणमें वर्णित ब्रह्मलोक है—'सूर्यलोकं च भित्त्वाशु ब्रह्मलोकं च स गच्छति' (शिव उमासं. १३। १५) शिवपुराणकार तथा उसका अन्धानुगमन करनेवाले गीताकारको पता नहीं था कि–पृथ्वी सूर्यके चारों ओर घूमती है; तो सूर्यके 'उस पार' कोई निश्चित स्थान नहीं बन सकता है, आज पृथ्वी जहां है; उसकी अपेक्षासे सूर्यके 'उस पार' जो 'अवकाश' है, वही अवकाश वा लोक जब पृथ्वी घूमते-घूमते सूर्यके उस पार पहुंचेगी; तो 'उस पार' वाला स्थान पृथ्वीकी अपेक्षासे 'इस पार' वाला स्थान होगा; फिर तो पौराणिकों वा गीताकारका ब्रह्मलोक भी इस पारसे उस पार, व उस पारसे इस पार घूमता फिरेगा। तब क्या सूर्यमें होकर कोई दरवाजा लगा है, जिसमें से घुसकर जीवात्मा सूर्यके उस पार आते-जाते हैं? वास्तवमें पुराणकार वा गीताकार मोक्ष वा ब्रह्मलोककी स्थिति इसलिए नहीं समझ सके, उनको 'ते सूर्यद्वारेण विरजाः प्रयान्ति' (मुण्डक १।२।११) इस उपनिषद् के वाक्यपर भ्रम हो गया था। वास्तवमें यह योगीके विषयमें कहा गया है कि योगी प्राणोंको आकर्षण करके सूर्य नाड़ी—सुषुम्नामें होकर सरके उस भागमें से जहांपर सुषुम्नाका अन्त होता है. जिसे ब्रह्माण्ड कहते हैं; अपने प्राणोंका उत्सर्ग करके सर्वव्यापक ब्रह्मके साथ सायुज्य स्थापित करता हैं—यही मोक्ष वा ब्रह्मलोक है'।

उत्तरपक्ष—वेदमें पृथिवीके भ्रमणका सिद्धान्त नहीं है, किन्तु उसकी स्थिरताका ही सिद्धान्त है; इस विषयमें 'आलोक' (४) पृ. ४८२-४८३ में दिङ्मात्र देखो। हां, सूर्यका भ्रमण वैदिक सिद्धान्तमें माना गया है, यह भी वहीं देखना चाहिये। सो सूर्यलोक जहां भी होगा; मुक्त वहीं आकृष्ट होगा। आजकल चन्द्रमा शुक्र आदिमें राकेट भेजे जाते हैं, चन्द्रमा आदि भी घूम रहे हैं। यह नहीं कि–वे रातमें ही भेजे जाएं; वे राकेट जब भी जाएंगे; तो वे अपने समयके अनुसार चन्द्रलोकमें पहुंचेंगे; वैसे सूर्यलोकमें भी समझ लेना चाहिये। मुक्तका सूर्यलोकसे होकर जाना केवल पुराणोंमें वर्णित नहीं, किन्तु बहुतसे अन्य शास्त्रोंमें भी वर्णित है। एक यह पद्य प्रसिद्ध है—'द्वाविमौ पुरुषौ लोके **सूर्यमण्डलभेदिनौ**। परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे यश्चाभिमुखो हतः'। यहां परिव्राट् (संन्यासी) का सूर्यलोकको भेदकर जाना कहा है, क्योंकि–ब्रह्मलोक वा मुक्तिके स्थानका मार्ग शास्त्रोंमें सूर्यमण्डलमें होकर माना गया है। इसीलिए मुण्डकोपनिषद्में भी कहा हैं–'**सूर्यद्वारेण** ते विरजाः प्रयान्ति' (१।२।११)। छान्दोग्य उपनिषद्में भी कहा है—'स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावद् आदित्यं गच्छति। एतद् वै खलु लोकद्वारं विदुषाम्' (८।६।५) यहां मनकी तरह शीघ्रगतिसे मुक्तका सूर्यलोकमें जाना कहा है; उसे उपनिषद्के इस वचनमें ब्रह्मलोकका विद्वानोंका द्वार माना गया है। 'संवत्सराद् आदित्यम्' (छा० ५।१०।२) यहां भी मुक्तका सूर्यलोकमें जाना कहा है, 'देवं-देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्' (ऋ. १।५०।१०) इस प्रकार अन्यत्र भी बहुत वर्णन आया है; इसलिए वेदान्तदर्शनमें भी मुक्तका सूक्ष्मरूपमें सूर्यकी **किरणोंमें** होकर सूर्यद्वार-द्वारा ब्रह्मलोकको जाना कहा है—'रश्म्यनुसारी' (४।२।१८)।

फिर वहां प्रश्न उपस्थित होता है कि—जो रात्रिमें मरते है; उनको ब्रह्मलोककी प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि रात्रिके समय न तो सूर्य है, और न उसकी किरणें, पर वहां उत्तर दिया गया है—'निशि नेति चेन्न-

गम्यन्धस्य यावद्देहभावित्वात्, दर्शयति च' (वेदा. ४।२।१६) यहाँपर सूर्यकी किरणोंका और नाडियोंका सम्बन्ध सदा माना गया है; तब रात्रिमें मरनेपर भी नाडियोंका सूर्यकिरणसे सम्बन्ध बना ही रहता है। सो यहाँ 'सूर्य' से केवल सुषुम्णा नाडी इष्ट नहीं है; जैसा कि वादीने कहा है, किन्तु उस नाडीसे होकर जीव फिर बाहर निकलकर ऊपर सूर्यकिरणों के द्वारा सूर्यलोकमें पहुँचता है जैसा कि बृहदारण्यकमें कहा है—'तासां मूर्धानमाभिनिःसृता एका (नाडी, सुषुम्णा)। तया (नाड्या निष्क्रम्य सूर्यलोकाभिमुखम्) आयन् अमृतत्वमेति' (८।६।६) स्वा.द. भी मृतकके जीवका यमालय-अन्तरिक्षमें जाना कहते हैं; सो यम इसी सूर्यका लड़का वेदमें 'वैवस्वत' (ऋ. १०।१४।१) विवस्वान्-सूर्यका लड़का नामसे कहा जाता है।

जिस (वैवस्वत यम) के लिए अन्त्येष्टिमें स्वा.द.जीने भी कई मन्त्र दिये हैं—'अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं जगत्। **वैवस्वतो** न तृप्यति पञ्चभिर्मानवैर्यमः' (२०) (प्रतिदिन प्राणियोंको मारकर ले जाता हुआ वैवस्वत-यमराज कभी तृप्त नहीं होता) 'वैवस्वते विविच्यन्ते **यमे राजनि** ते जनाः। ये चेह सत्येनेच्छन्ति य उचानृतवादिनः' (२१) (विवस्वान्के लड़के यमराजके आगे इस लोकसे मरकर यमलोकमें गये हुओंका न्याय हुआ करता है, जो सत्य-व्यवहार करनेवाले हैं; और जो असत्य व्यवहार करनेवाले हैं) (पृ. २९७) यहां वैवस्वत यमका अर्थ इस लोकका मैजिस्ट्रेट नहीं; क्योंकि वह जीवितोंका मुकदमा देखता है, मरे हुओंका नहीं। यहां तो अन्त्येष्टि मृतककी हो रही होनेसे उस मृतकके जीवका यमलोकमें यमराज द्वारा न्याय कहनेसे वह पारलौकिक देवविशेष यमराज इष्ट है। इस विषयमें 'आलोक' (८) पृ. ४३०-४३८ देखो। सो यहां विवस्वान्-सूर्य (यमराजका पिता) भी वही देवविशेष इष्ट है। सो वादी की बात अपूर्ण होनेसे चिन्त्य है। छान्दोग्यमें भी कहा है—'अमुष्माद् आदित्यात् प्रतायन्ते, ता आसु नाडीषु सृताः, आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते,

तेऽमुष्मिन् आदित्ये सृताः' (८।३।२) ये किरणें सूर्यसे निकलती हैं; और नाडियोंमें प्रवेश करती हैं; और उन नाडियोंसे चलती हैं; और फिर सूर्यमें जाकर प्रवेश करती हैं। उन्हीं नाड़ीस्थित किरणोंके द्वारा मुक्तका सूर्यमें जाना स्पष्ट हो रहा है; सो पुराणकी बात भी उपनिषदनुकूल होनेसे वेदानुकूल सिद्ध हुई, क्योंकि--उपनिषदें भी वेद होती हैं। यह ठीक है कि—'यदण्डे तत् पिण्डे' सूर्य-चन्द्र आदि भी जैसे अनन्त आकाशमें हैं वैसे संक्षिप्तरूपमें शरीरमें नाड़ीरूपमें भी हैं; पर मुक्त-जीव इन नाडियों को पार करके फिर **वास्तविक सूर्यमें** पहुँचता है; क्योंकि वह **मुक्तिका द्वार** है; '**आदित्यं गच्छति**। एतद् वै (सूर्यलोकगमनं) खलु **लोकद्वारं** विदुषाम्' (छान्दो. ८।६।५) वेदमें भी सूर्यमें जाना कहा है। इसे बहुत-से शास्त्र-वचन भी बताते हैं। अतः वादीका 'सूर्य' का अर्थ 'सूर्यनाड़ी' अर्थ करना और गीता वा पुराणपर सूर्यलोकके विषयमें आक्षेप करना उसकी खण्डन-व्यसनिताका प्रमाण है। वस्तुतस्तु या तो उसे ज्ञान नहीं, या वह इसे छिपाता है।

(१७) ध्यान स्थिर करनेकेलिए गीतामें 'आँखोंको भवोंके बीचमें स्थिर करना, नासिकामें प्राण-अपानकी गतिको सम करना (५।२७) नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि रखना (६।१३) आदि साधन बताये हैं; वादीको इनमें केवल 'नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि' रखनेमें आपत्ति है, वह इसे 'अशुद्ध' और 'अवैज्ञानिक' बताता है, यथा-तथा खण्डन तो करना हुआ। जैसे उसने शेष बातोंके रहस्य इधर-उधरसे ढूँढ निकाले हैं; तब 'नासिकाग्रपर दृष्टि रखने' का रहस्य भी उसे ढूँढना उचित था। रहस्य ज्ञात उसे न हो सके; और इसका दोष वह गीतापर डाल दे, यह कहांकी बुद्धिमत्ता है? अपना अज्ञान न मानकर दूसरे पर दोष दे देना उसके शब्दोंमें 'मूर्खताकी पराकाष्ठा' होती है। हां, इसपर यह लिखना चाहिये था कि—'मैं (वादी) इसे नहीं समझ सका'। पर यह शब्द तो तब निकले; जब गुणदृष्टि हो; पर यहां तो उसने स.ध.के खण्डनार्थ गुणोंमें भी

दोषाविष्करण करनेका व्रत ले रखा है; नहीं तो ८-१० पृष्ठ तक लिख सकनेवालेकी पोथी 'मोटी' कैसे हो ? २ पृष्ठोंका विज्ञापन लिखनेवाला, फिर ८ पृष्ठोंके ट्रैक्ट लिखने लग गया हुआ वादी अब अपने-आपको 'ग्रन्थकार' और 'यशस्वी-प्रणेता' कैसे कह सके ?

यदि दोष ही ढूंढे जावें, तो उसके इष्ट 'भ्रूमध्यमें दृष्टि' रखनेसे भी मस्तिष्ककी निर्बलतासे सिरदर्द भी हो सकता है; और इसमें भी आंखों पर जोर पड़ेगा। वादी यह जाने कि--नासिकाके श्वास-प्रश्वासको सम रखनेसे आरोग्य बढ़ता है, इससे प्राणसे सम्बद्ध मन भी स्थिर रहता है; क्योंकि--'चले वाते (प्राणवायौ विषमे सति) चलं चित्तं, निश्चले (समे) निश्चलं भवेत्' इससे चञ्चलता तथा अशान्ति हटकर भगवान्में ध्यान ठीक-ठीक लगता है।

(ख) आँखोंसे इधर-उधर देखते रहनेसे भी ध्यान ठीक नहीं लगता। आंखें बिल्कुल बन्द करनेसे भी जैसे कि वादीको अभिमत है—निद्रा वा तन्द्राके वशमें होनेकी आशङ्का रहती है; क्योंकि आंखें बन्द होनेपर ही तो निद्रा शुरू होती है। इसलिए भवोंके बीचमें दृष्टि लगाना कहा है। भवोंके बीचमें द्विदलात्मक आज्ञाचक्र होता है, उसके पास सप्तकोष होते हैं; उनमें पहुँचनेपर प्रकाशदर्शन होने लगता है, और जीवकी मुक्तिका रास्ता खुल जाता है।

(ग) नाकके अग्रभागमें आंख बन्द करके मनका एकाग्र करना तो वादी भी मानता ही है, शेष रहा नाकके अग्रभाग पर दृष्टि लगाना; वह इसलिए होता है कि--दृष्टि इधर-उधर न जाय। यदि आंख सर्वथा बन्द हो; तो तन्द्रा वा निद्राकी सम्भावना बनी रहती है; जैसा कि हम पहले संकेत दे चुके हैं; यह लौकिक हानि है; तब स्वा.द.जीका मार्जनका नुसखा ढूंढना पड़ जाता है, जिसमें चित्तके विक्षेपकी सम्भावना बनी रहती है। नेत्रोंको खुला रखनेसे तन्द्रा वा निद्रा नहीं आवेगी। पर बाह्य-विक्षेपकी सम्भावना बनी रहती है; पर नाकपर दृष्टि जमे रहनेसे बाह्य-विक्षेपकी

सम्भावना भी नहीं रहती। नेत्रोंको श्रम न हो, इसलिए पहलेसे उन पर घृतकी एक-दो बून्दें डाल देनी पड़ती हैं, इससे दृष्टिमान्द्यकी आशङ्का भी नहीं रहती; इसलिए सिर-दर्दका प्रसङ्ग भी नहीं रहता, यह बातें स्वयं भी जान लेनी पड़ती हैं। इसलिए वादीके मान्य 'सौरपुराण' के वचनमें 'मनः-स्थैर्यं भवेद् वत्स !...अङ्गुष्ठ-नाभि-नासाग्रे वायुं योगी जितात्मनः' (१२।३७) (गी. वि. पृ. २११ पं. २५) वहाँ नाकके अग्रभागपर दृष्टि जमाना मनः-स्थिरताका कारण बताया है। इसमें दृष्टि बन्द करनेकेलिए नहीं कहा गया है। मोहन-जो-दड़ो, हड़प्पा आदि स्थानोंके प्राचीन ध्वंसावशेषोंमें जो २५०० वर्ष ईसापूर्व या इससे भी प्राचीन कहे जाते हैं, कुछ मूर्तियोंमें आसन-बद्धता और नासाग्रदृष्टि पाई गई है। सो यह नासाग्रदृष्टि मनको अन्तर्मुख करनेका योगशास्त्रीय उपाय है। नासाग्र-ध्यानद्वारा सबीज या सविकल्प-समाधि सिद्ध होती है। इसलिए महाकवि कालिदासने कुमारसम्भवमें शंकरका भी नासिकाके आगे ध्यान लगाना कहा है—'नेत्रैरविस्पन्दि तपस्यमानैर्लक्ष्यीकृत-घ्राणमधोमयूखैः' (३।४७)।

वादीने वहीं लिखा है—'इस विषयमें महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शनको देखना चाहिये, जोकि योगविषयक **सिद्ध-शास्त्र है।'** (पृ. २१३) अब वह अपने माननीय 'सिद्ध-शास्त्र' योगदर्शन तथा वादीके मान्य महर्षिका अनुमत उसपर 'व्यासजीका भाष्य' जिस व्यासजीको स्वा.द.जी योगी तथा उनके भाष्यको 'क्रियात्मक योगशास्त्र' नाम देते हैं, देखे—'१।३५ मनसः स्थिति-निबन्धनी' सूत्रके व्यास-भाष्यमें लिखा है—**'नासिकाग्रे धारयतोऽस्य या दिव्यगन्धसंवित्, सा गन्धप्रवृत्तिः...इत्येताः प्रवृत्तय उत्पन्नाः चित्तं स्थितौ निबध्नन्ति'**। इससे नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि करने पर चित्तकी स्थिरता कही है। इससे योगदर्शनके प्रामाण्यको माननेवाला वादी, गीताप्रोक्त नासिकाग्रके ध्यानको आक्षिप्त करता हुआ रगड़ा गया। वहाँ पर चन्द्र, आदित्य, मणि, प्रदीप, रत्न आदिमें ध्यान करने पर भी मनकी स्थिरता कही गई है।

पर इससे भी सुगम उपासना है मूर्तिपूजा। मूर्तिमें भगवद्दृष्टि जमाकर चित्तको एकाग्र करे, यह सुगमतम तरीका है। इसे योगदर्शनमें भी स्वीकृत किया है। देखिये—'यथाभिमतध्यानाद् वा' (योग. १।३६) यहां मूर्तिमें ध्यानको भी शास्त्रसम्मत सूचित किया हैं। इसलिए श्री-विज्ञानभिक्षुने उक्त सूत्रके वार्तिकमें कहा है—'यदेव अभिमतं हरिहर-मूर्त्यादिकं, तदेव आदौ ध्यायेत्' यहाँ हरिहरकी मूर्तिमें भी ध्यानसे चित्त की स्थिरता कही है। शेष जो कि वादी श्रीकृष्णकी भगवत्तापर दोष लगाता हैं; उसका कारण है दयानन्दी-सिद्धान्तोंका चश्मा पहनना। वह हटा दिया जावे; तब यह प्रश्न भी हल हो जावे। श्रीकृष्ण भगवद-वतार थे; पर मनुष्यरूपमें। जबकि मुक्तात्माओंका भी अपनी इच्छानुसार अवतरण दर्शनोंमें आया है: यह हम अन्यत्र सङ्केत दे चुके हैं; तब नित्य-मुक्त परमात्मा भी भक्तोंपर कृपाकरणार्थ अपनी इच्छानुसार मनुष्यरूपमें प्राकट्यरूप अवतार ले, तो इसमें आश्चर्यकी कुछ बात नहीं; इस विषयमें पृ. ६-६ में देखो। तब श्रीकृष्णरूपमें भी भगवान् ने मनुष्यरूपवश प्रायः मनुष्य-सुलभ कार्य करने थे; पर अन्य मनुष्योंसे विलक्षणतावश कहीं उनकी लोकोत्तरता भी हो जाती है, जैसा कि—१६१०८ स्त्रियोंको प्रसन्न रखना; और फिर लौकिक-व्यवहारमें भी त्रुटि न आने देना; इससे उनकी भगवत्ता भी समय-समय पर प्रस्फुट हो जाती है, पर वादी कभी तो कहता है कि—'यह श्रीकृष्णकी साधारण ज्ञानकी बात है, जिन्हें प्रत्येक जान सकता है, गीताकारने यह लिखकर दम्भ किया है'। कभी जब श्रीकृष्णकी अलौकिक बातें देखता है; तब उन्हें 'गप्पाष्टक' बता देता है। बस इन्हीं बातोंसे यह वादी लोग भोली-भाली जनतामें अपनी स्थिति स्थिर रखनेकी चेष्टा करते रहते हैं; और पेट भी भरते रहते हैं। यह वादियोंका बड़ा भारी षड्यन्त्र है। धार्मिक-जनताको ऐसे झूठे एवं दम्भी व्यक्तियोंसे सावधान रहना चाहिये।

(घ) जोकि वादीने देवीभागवतमें लिखे–'अङ्गुष्ठगुल्फजानूरुमूलाधार-

लिङ्गनाभिषु। हृदग्रीवाकण्ठदेशेषु लम्बिकायां ततो नसि। भ्रूमध्ये म... मूर्ध्नि द्वारशान्ते यथाविधि' (७।३५।२२-२४) में लिखे गुद, लि... ध्यानका तथा भगलिङ्गामृतपर उपहास किया है, यह उसकी ... अल्पश्रुतता है। इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ. ७४१-७४२ में हम ... लिख चुके है। कुछ यहां पर भी लिख देते हैं—। वादीको याद र... चाहिये कि--लिङ्गादिमें ध्यान मनको काबू करनेका एक तरीका है यह केवल यहां नहीं, किन्तु योग-सम्बन्धी पुस्तकोंमें अन्यत्र भी मि... है। देखिये—'गुदं मेढ्रं च नाभिश्च हृत्पद्मं च तदूर्ध्वतः। घण्टि... लम्बिका स्थानं भ्रूमध्ये च नभोबिलम्' (गोरक्षपद्धति २।७५)।

यहांपर १ गुदा, २ लिङ्ग, ३ नाभि, ४ हृत्पद्म, ५ तदूर्ध्व, ६घण्टि... ७ लम्बिका, ८ भ्रूमध्य, ९ उसके ऊपरका आकाश—यह ध्यानोपयु... नौ स्थान शरीरमें कहे गये हैं। इसमें गुदा, लिङ्गका वह ध्यान नहीं है जिन्हें वादी पुराणोंमें खोद-खादकर ढूँढनेमें लगा रहता है; इससे उन... मन स्थिर होता है, अपनी समझमें पुराणोंकी निन्दा समझकर वह उ... अपनी पुस्तकोंमें उद्धृत करता हैं, और उससे उसे परम आनन्द प्रा... होता है।

वस्तुतः इन अङ्गोंके स्थानोंमें योगशास्त्रप्रोक्त चक्र-विशेष हैं; जिन... ध्यानसे मनकी स्थिरता हुआ करती है। वह याद रखे कि--तन्त्रशास्त्र... यह बातें योगशास्त्रसे सम्बन्ध रखती हैं; उसमें गुदा वाले स्थानमें १ मूलाधार चक्र होता है। लिङ्ग वाले स्थानमें २ स्वाधिष्ठान चक्र होता है नाभिमें ३ मणिपूर चक्र होता है। हृत्पद्ममें ४ अनाहत चक्र होता है उससे ऊर्ध्वमें ५ विशुद्ध चक्र, घण्टिका वाले स्थानमें ६ लम्बिका, लम्बि... के स्थानमें ७ ब्रह्मरन्ध्र व्योम चक्र, भ्रूमध्यस्थानमें ८ आज्ञाचक्र, उसके ऊपरके स्थानमें ९ सहस्रदल चक्र होता है। खेचरी-मुद्राके पूर्वरूपमें इनका प्रयोग होता है। योनि-मुद्रामें गुदा, शिश्न, नेत्र, कर्ण, नासिका, मुख और खेचरी-मुद्रा द्वारा ब्रह्मरन्ध्र इन समस्त द्वारोंको बन्द किया जाता

है। जब प्राण अति प्रबल होकर अपानको ऊर्ध्वगामी बना देता है; तब विषय-वासना क्रम-क्रमसे न्यून होकर अन्तमें सर्वदाकेलिए नष्ट हो जाती है। तत्पश्चात् ऋतम्भरा-प्रज्ञाकी उपलब्धि होती है, और वह योगीको परमपद तक पहुँचा देती है। सो ऊर्ध्वरेता बनना यही परमपदकी प्राप्ति का उपाय है; वह पूर्वोक्त चक्रोंमें मनको लगानेपर हुआ करता है। इस प्रकार गुद, लिङ्गमें ध्यानयोगका यही भाव है; पर यदि वादीका योगक्रियाओंमें अधिकार नहीं है; तब वह उनपर उपहास करके क्यों अपनी ही अल्पश्रुतता बताता है ?

वादीसे आक्षिप्त 'भगलिङ्गामृत' भी एक योगशास्त्रका परिभाषिक शब्द है, जिसकेलिए श्रीमहादेवजीको भी कहना पड़ा कि—'न तुष्यामि वरारोहे ! भगलिङ्गामृतं विना' (कुलार्णवतन्त्र ८ उ.) इसपर भी हम 'आलोक' (९) पृ. ६७७-७८, ७९०-९३) में लिख चुके हैं; कुछ यहां पर भी लिखते हैं। यहाँ वादीने 'भग-लिङ्गामृत' का अर्थ किया है—शिव कहते हैं—"मैं रज-वीर्यसे सन्तुष्ट होता हूं"। इसपर 'गोरक्षपद्धति' के निम्न पद्योंको याद रखना चाहिये—

'स पुनर्द्विविधो विन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा। पाण्डुरः शुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यो महारजः' (१।७१) वह विन्दु दो प्रकारका होता है। एक तो जिसे शुक्र कहते हैं, वह सुफेद होता है। जिसे रज कहते हैं, वह लाल होता है। 'सिन्दूरद्रवसंकाशं नाभिस्थाने स्थितं रजः। शशिस्थाने स्थितो विन्दुः तयोः ऐक्यं सुदुर्लभम्' (७२) रज नाभिमण्डलमें, तथा शुक्र चन्द्रमाके स्थान भ्रूमध्यमें स्थित रहता है, इन दोनोंका इकट्ठा होना बड़ा कठिन है। 'विन्दुः शिवो रजः शक्तिश्चन्द्रो विन्दुः, रजो रविः। अनयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम्' (७३) विन्दु शिव है, रज शक्ति है, शुक्र चन्द्रमा है, रज सूर्य है। इनके इकट्ठे कर लेने पर परम पद (मुक्ति) मिलता है) वायुना शक्तिचारेण प्रेरितं तु यदा रजः। याति विन्दोः सहैकत्वं भवेद् दिव्यं वपुस्ततः' (१।७४) (शक्ति-चालिनी मुद्रा

द्वारा प्रेरित अपानवायुसे जब रज शुक्रविन्दुके साथ मिश्रित हो जाता है; तब उपासकका शरीर दिव्य हो जाता है।

यह एक वैज्ञानिक तथ्य है। जब अपानवायु अति प्रबल होकर शुक्रधरा नाड़ीमें उद्भूत हुए वीर्यको रजके साथ मिश्रित करके ऊर्ध्वगामी बना देता है, तब योगीको अमृतपान करनेकेलिए शुभ अवसर प्राप्त होता है। यह क्रम वर्षोतक चलता है; अन्तमें अमृत द्वारा दिव्य-शरीरका निर्माण होता है। जिस प्रकार स्त्री-पुरुषके रज-वीर्यके संयोगसे एक नवीन शरीरकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार योगीके अपने ही रज-वीर्यके संयोग से एक नवीन शरीरका निर्माण होता है। यह शरीर स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न नहीं होता; अतः इसको अयोनिज वा दिव्य कहा जाता है। सन्त ज्ञानेश्वरने गीताके छठे अध्यायमें ध्यानयोग वा आत्मसंयमयोगमें उसकी विशद समीक्षा की है।उसी अमृतसे शंकरने अपना-तोष व्यक्त किया है।

इससे स्पष्ट हो गया कि—यह 'भगलिङ्गामृत' मानुषी रजवीर्य नहीं; वे तो मल हैं; महादेवको वे कैसे इष्ट हो सकते हैं; जबकि मनुष्यको भी उनका पीना घृणित लगता है। अब वादीको पता लग गया होगा कि यह तन्त्रशास्त्रके पारिभाषिक शब्द हैं; पारिभाषिक शब्दोंका कोषोंसे कभी अर्थ नहीं निकालना चाहिये। भावचूडामणिमें लिखा है—'तन्त्राणामतिगूढत्वात् तद्भावोऽप्यतिगोपितः। ब्राह्मणो वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो बुद्धिमान् वशी। गूढतन्त्रार्थभावस्य निर्मथ्योद्धरणे क्षमः' (तन्त्रशास्त्रका ज्ञान वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञ विद्वान् ब्राह्मण ही कर सकता है, सरसरी निगाह वा आपातज्ञानधारी वादी-जैसा नहीं।

वादीके ऋषिने भी तन्त्रोंकी अतिगूढतामें लिखा है—'इसलिए ऐसे-ऐसे नाम धरे हैं, जिससे दूसरा न समझ सके' (स.प्र. ११ पृ. १७८) जब ऐसा है; तो इसमें शास्त्रका क्या दोष ? 'इत्याचक्षते परोक्षेण, परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षविद्विषः' (गोपथ० १।१।१) (देवकल्प शास्त्रकार परोक्षशब्दोंसे अपना इष्ट अर्थ सूचित करते थे।) अब यह एक वेद-

मन्त्र ही देख लीजिये—'पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' (ऋ. १।१६४।३३) इसका शब्दार्थ किया जावे तो यह निकलेगा कि--पिताने अपनी लड़कीमें गर्भाधान किया ! आप कहेंगे कि--इसका यह अर्थ नहीं, किन्तु यह अर्थ है कि पिता--पालक बादल दुहिता--पृथिवीमें जलकी वर्षा करके गर्भाधान करता है, जिससे पृथिवीमें खेती पैदा होती है। अब प्रश्न है कि--वेदने इस प्रकार कहकर क्यों भ्रामक शब्द रखे; क्यों 'स्वसुर्जारः शृणोतु नः' (ऋ, ६।५५।५) इन भ्रामक शब्दोंको रखा ? जो इसका उत्तर होगा: वही तन्त्र-शब्दोंकी गूढ़तामें भी समझना चाहिये। 'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति'। पुरुष जब सर्वशास्त्रज्ञ हो जावे; तब किसी शास्त्रकी आलोचना करे। आशा है--वादी अब अपनी भूल समझ गया होगा। आगेसे बिना जाने-समझे ऐसे वचनोंपर आक्षेप करके अपनी अल्पश्रुतता सिद्ध न करेगा।

(१८) श्रीकृष्ण १६१०८ स्त्रियों वाले होते हुए भी योगेश्वर थे, भोगेश्वर नहीं; यही उनकी दिव्यता है। भोगी आदमी कभी बाहरी व्यवहारमें अनवरुद्ध नहीं आ सकता, वह तो अन्तःपुरमें ही कैद रहता है; और बीमार भी रहा करता है; पर श्रीकृष्ण बाह्य-व्यवहारोंमें भा रहते थे, सदा स्वस्थ एवं बलवान् रहते थे। भोगी युद्ध नहीं कर सकता; 'भोगे रोगभयम्' पर श्रीकृष्ण-भगवान्में यह बातें नहीं थीं। (ख) 'यथेतरः' (भाग. १०।५६।४३) 'प्राकृतो यथा' (१।११।३५) यहां उपमालङ्कार है। इस उपमासे वे इतर वा प्राकृत (साधारण) नहीं थे, यह स्पष्ट हो जाता है। उपमा भेद में हुआ करती है, अभेदमें नहीं। 'चन्द्रो यथा मुखम्' में क्या मुख सचमुच चन्द्रमा-इतना बड़ा मान लिया जायगा ? गोपियोंके विषयमें स्वयं वादीने (श्रीमद्भा. समी. पृ. १२६ में) 'सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः' (भा. १०।३३।२६) इस पद्यको माना है, और (पृ. १३१ में) इसका अर्थ किया है—'श्रीकृष्ण अपना वीर्य रोक लेते थे, शुक्रपात नहीं होने देते थे'। पृ. १७६ में 'यस्येन्द्रियं विमथितुं

कुहकैर्न शेकुः' (१।११।३६) यह पद्य देकर वादीने इसका अर्थ कि है—'वे स्त्रियां श्रीकृष्णमें विषयभोग-सम्बन्धी इन्द्रिय-क्षोभ पैदा नहीं क सकी थीं'। इसीके अग्रिम पद्योंको जिन्हें वादीने छिपा लिया है—दे हैं—'तमयं मन्यते लोको ह्यसङ्गमपि सङ्गिनम्। आत्मौपम्येन म व्यावृण्वानं यतोऽबुधः'। 'एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोपि तद्गुणैः। युज्यते सदात्मस्थैः' (३७-३८) (उस असङ्ग भगवान् श्रीकृष्ण संसारके [वादी-जैसे] लोग अपने समान आसक्त मनुष्य समझते हैं; उनकी नासमझी है। यही तो भगवान्की भगवत्ता है कि--भगव प्रकृतिमें स्थित होकर भी उसके गुणोंसे कभी लिप्त नहीं होते। श्रीकृ को मूढ स्त्रियां भी वादीकी भांति 'स्त्रैण' समझ लेती थीं, 'तं मेनिरेऽ मूढाः स्त्रैणं चानुव्रतं रहः। अप्रमाणविदो भर्तुरीश्वरं मतयो यथा' (३ क्योंकि--वे प्रभुके ऐश्वर्यको नहीं जानती थीं, जैसे अहङ्कारकी वृत्ति ईश्वरको अपने धर्मसे युक्त मानती हैं (२६)। इस प्रकार वादी भगवान् श्रीकृष्णको 'स्त्रैण' समझकर अपनी 'मूढता' दिखला रहा 'आत्मारामोऽप्यखण्डितः' (१०।३०।३५) इस पद्यका अर्थ पृ, १३ वादीने गलत किया है। इससे स्पष्ट है कि—श्रीकृष्ण खण्डित नहीं थे; वे तो अपने आपमें आनन्दित रहा करते थे, स्त्रियां उस अच्यु च्युत नहीं कर सकती थीं, जैसे कि वादी उन्हें दूषित करनेकी दुरा किया करता है।

(ग) गुरुकी शिक्षा पाना आदि तो उन्होंने लौकिक-लीलाप्रदर्शन करना था; जैसा कि वादीके मान्य श्रीदेवीभागवतमें लिखा है (५।१। २०. ४।२५।२१-२२)। 'मायाविडम्बनमवेहि यथा नटस्य' (भा. १ ३१।११) (घ) योगाभ्यासका उन्होंने अभिनय नहीं करना था। वे 'मूर्खे मूर्खो, युवतिषु युवा, वाग्मिषु प्रौढवाग्मी...योऽवधूतेऽ सकलगुणसम्पन्न थे। 'योगः कर्मसु कौशलम्' यह गीताके कर्मयो परिभाषा है; वह कौशल है कि—कर्ममें रहकर भी कर्ममें लिप्त

रहना, 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' (गीता ५।१०) न्यायका अनुसरण करना। वादी यहां 'योगदर्शन'का 'योग' लेकर अपनी अनभिज्ञता बता रहा है; तभी तो 'थाली-लोटा-गिलास योग' आदि कहकर अपनी समझदारीका परिचय दे रहा है, दौरी-डंडा-योगको छोड़ गया, जिसे उसके आचार्यने अपनाया हुआ था।

(१६) द्वैत-अद्वैतविषयमें वादी अन्धेरेमें है। प्रकरणवश कहीं व्यवहारवाद दिखलाना पड़ता है, और कहीं परमार्थवाद। सारी जनता एकवादकी पात्र कभी नहीं हो सकती। तब यह अनभिज्ञ वादी इसे गीताका विरोध मानता है, महाशय, 'अभी दिल्ली दूर है'! वह जो कहता है कि—'क्या श्रीकृष्णजी या गीताके परमात्माने जगत्का बखेड़ा अपने मनोरञ्जनकेलिए पैदा किया है?' इसपर वादीकी बात कुछ ठीक हैं। सृष्टि भगवान्‌का मनोरञ्जन है। वादी 'तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीय-मैच्छत्' (शत. ११।४।२।२-५) आदि वेदवचनोंको सदाकेलिए याद रखे। ब्रह्म ही उपादान-कारण और वही निमित्त-कारण है, इसमें प्रमाण उसकी सर्वव्यापकता है। सर्वत्र ओत-प्रोत उसे वादी भी मानता है, **केवल निमित्तकारणको वादी कभी भी सर्वव्यापक नहीं दिखला सकता।** भूषणमें निमित्तकारण सुनार सर्वव्यापक नहीं, किन्तु उपादानकारण सोना ही उसमें सर्वव्यापक है। घड़ेमें निमित्तकारण कुम्हार वा दण्ड-चक्र आदि सर्वव्यापक नहीं, किन्तु उपादानकारण मिट्टी ही उसमें सर्वव्यापक है। शेष रहा सभी जड़ दीख रही हुई वस्तुओंका चैतन्यप्रसङ्ग; वह याद रखे कि—'वे वस्तुएं भी चेतन ही हैं, इसपर 'सर्वस्य वा चेतनावत्त्वात्' (वा. ३।१।७) यह महाभाष्य-स्थित वार्तिक याद रख लेना चाहिये। जड़ोंमें चैतन्य लोकदृष्टिमें अनुद्भूत-अप्रकट है; पर वैज्ञानिककी दृष्टिमें प्रकट है, इसपर 'आलोक' (५) पृ. १६३-१७२ देखो। अद्वैतवादको भिन्न पुष्पमें स्पष्ट किया जायगा। श्रीमद्भा.में अद्वैतवाद आनुषङ्गिक है, उसमें भक्तिवाद ही मुख्य है।

परमात्माकी मूर्खता (अज्ञान) तो वादीके स्वामीने 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' (ऋभाभू.) में बता दी है। शरीर-त्यागमें भी जबतक आत्मामें मल, आवरण, विक्षेप आदि दोषसे अज्ञान है, तब तक अद्वैतता नहीं होती। मिट्टीके खिलौने जब तक इस औपाधिकरूपमें है, तब तक मिट्टीसे पृथक् व्यवहृत होते हैं; पर आवरण रूप उपाधि हट जानेपर वही मट्टी हो जाते हैं। परमात्मा लोकोत्तरतावश निराकार-साकार, अजन्मा-अवतारी, दयालु-शासक आदि विरुद्ध धर्मोवाला हैं। इससे उसकी अलौकिकता ही द्योतित होती है, विरुद्धता नहीं; वैसे ही गीतामें भी यथासमय व्यवहारवाद, कहीं समयानुसार परमार्थवाद, कहीं भिन्न-भिन्न वाद दिखलानेसे वादी—जैसे अल्पज्ञको उसमें विरोध ही भासित होता है। साहित्यमें रसमें भी परस्पर-विरुद्ध धर्म दीखते हैं, पर उनका पर्यवसान रसकी अलौकिकतामें हो जाता है; इसी प्रकार 'रसो वै सः' (तैत्ति० २।७) रसस्वरूप भगवान्‌में, और उस भगवान्‌की अलौकिक गीतामें भी अलौकिकता समझकर वादीको अपनी अल्पज्ञता वा दोषदृष्टिपर पश्चात्ताप करना चाहिये।

(२०) वादीने 'ईशा वास्यमिदं...मा गृधः कस्य स्विद् धनम्?' (ईशो. १) इस मन्त्रका अर्थ किया है—'यह सम्पूर्ण जगत् ईश्वरसे व्याप्त है, ईश्वर सबमें व्यापक है...किसीके धनका लालच मत करो, किसीके पदार्थोंको अन्यायपूर्वक लेनेकी इच्छा मत करो' यह वादीका अर्थ गलत है। यहाँ 'मा गृधः कस्यचिद् धनम्' पाठ नहीं है, जो कि वादीका किया उक्त अर्थ ठीक हो; यहां तो कहा है—'मा गृधः' लोभ मत करो। 'कस्य स्विद् धनम्?' यह वाक्य प्रश्न-वाचक है, 'स्वित्' प्रश्नार्थक होता है। तब इसका अर्थ यह हुआ कि—'धन भला किसका है? अर्थात् किसीका नहीं। पूर्वार्धके अर्थमें जो कि वादीने परमात्माको 'सर्वव्यापक' कहा है; तो वेदानुसार परमात्मा वादीका सिद्धान्तित केवल निमित्तकारण न रहा, उपादानकारण भी हो गया; क्योंकि—कार्यमें सदा उपादानकारण

ही सर्वव्यापक रहता है, **निमित्तकारण सर्वव्यापक नहीं रहता**। जब ऐसा है; तो अभिन्न-निमित्तोपादान कारण होनेसे वेदमें भी अद्वैतवाद सिद्ध हो गया। बनता भी वही है, बनाता भी वही है। तब वादीसे दिया यह मन्त्र उसके पक्षका खण्डक हो गया।

(२१) 'स पर्यगात् शुक्रमकायमव्रणम्' (यजु: ईशो. ८) यह मन्त्र भी वादीके पक्षको काटनेवाला है। जब 'अकायम्' से वह परमात्मा **शरीरसे रहित है**; तब वह व्रण तथा नस-नाड़ीसे स्वयं रहित सिद्ध हो गया, क्योंकि-नस-नाड़ी एवं व्रण लौकिक-शरीरमें होते हैं; अस्थि-व्रण तथा नसोंसे रहित कहनेसे परमात्माका प्राकृत शरीर सिद्ध न होकर **दिव्य-शरीर** सिद्ध हो गया। तभी तो उसे शुद्ध एवम् पापसे अविद्ध कहा है। जब शरीर ही नहीं; तब उसे अपापविद्ध कहना व्यर्थ है; पर जब वैसा कहा गया है; तब इससे परमात्माका प्राकृत शरीर सिद्ध न होकर दिव्य शरीर सिद्ध होता है।

'स्वयम्भू' का अर्थ है कि—स्वयं (अपनी इच्छासे) भवति-जायते (जन्म लेनेवाला)। अपनी इच्छानुसार जन्म लेना-यही परमात्माका 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' (गीता ४।९) दिव्य जन्म है, दिव्य जन्म ही अवतार है। इस मन्त्रसे ही अवतारवाद सिद्ध हो गया। वादीका पक्ष कट गया।

इसी मन्त्रको तथा 'न तस्य प्रतिमा' मन्त्रको आधारित करके 'गीताका सच्चा स्वरूप' के लेखक एक आर्यसमाजीका भी खण्डन होगया, जो कि वह अवतारवादको गीतामें वेदविरुद्ध कहनेकी धृष्टता करता है। 'न तस्य प्रतिमा' का स्पष्टीकरण हम 'आलोक' (४) पृ. ३८३-३८७) में कर चुके हैं; तब उसका गीतामें वेद-विरुद्ध प्रक्षेप कहना स्वयम् असिद्ध हो गया। श्रीकृष्णका व्याध द्वारा विद्ध आदि होना-यह नटके नाट्यकी भांति है। जैसे कि—नाटकमें नट अपनी बाणसे विद्धता दिखलाता है; वह वस्तुतः विद्ध नहीं होता—यह भी श्रीमद्भा. में स्पष्ट है। 'माया-

विडम्बनमवेहि यथा नटस्य' (भा. ११।३१।११) तभी श्रीकृष्णने कहा था—'मा भैर्जरे ! त्वमुत्तिष्ठ काम एव कृतो हि मे' (भा. ११।३१।११) अर्थात् यह मेरी इच्छासे हुआ है। इसलिए वहां भगवान्‌केलिए 'इच्छा-शरीरिणा' (११।३०।४०) 'योगगति' (१५।३१।१०) आदि शब्द कहे हैं। अतः वादीके आक्षेप समाहित हो गये।

(ख) जब वादी 'खं ब्रह्म' से परमात्माको आकाशके समान मानता है; तब उपाधिभेदसे आकाश भी घटाकाश, मठाकाश रूप उपाधियोंमें होकर परिच्छिन्न (सीमित)-सा भी अनुभवमें आता है, और उपाधियोंके बाहर भी सर्वव्यापक रहता है, इसी प्रकार अवतारवादमें राम-कृष्णादि रूप उपाधियोंमें परिच्छिन्न-सा अनुभूत होता हुआ भी वह सर्वव्यापक भी रहता है, इससे वादीका अवतारवादका खण्डन पीसा गया; श्रीकृष्ण स्वयम् अवतार सिद्ध हो गये। उनका शरीर भी भौतिक नहीं है, तभी तो 'जन्मकर्म च मे दिव्यम्' (गीता ४।९) 'न तु भूतमयस्य' (भाग. १।१४।२) उसे अभौतिक कहा हैं; अपनी इच्छानुसार शरीर-ग्रहण करना वा उसे छोड़ देना—यह दिव्यता होती है, यह प्राकृत जन्म-मरण नहीं होता।

(ग) 'ॐ क्रतो ! स्मर' का अर्थ 'हे मनुष्य ! तू उस परमेश्वरका केवल 'ओम्' नामसे स्मरण किया कर। यह वादीका अर्थ गलत है; यहां 'ओम्' कर्म नहीं है। ऐसा होता, तो 'क्रतो ! ओं स्मर' होता; 'क्रतु' का अर्थ यज्ञ होता है, 'मनुष्य' नहीं। जैसे 'श्रोता ग्रावाण: !' (यजु: मा. ६।२६) में अचेतन ग्रावा (पत्थर) को सम्बोधित किया जाता है, वैसे यहां यज्ञको सम्बोधित किया गया है।

(२२) यदि परमात्मा गीताका उपदेश निराकार होनेसे नहीं कर सकता, तो वह वेदका उपदेश भी निराकारतावश नहीं कर सकता। निराकार कभी भी 'यथेमां वाचमावदानि' भी नहीं कह सकता। वाणीका कहना मुखसे होता है, वादीके सम्प्रदायके सिद्धान्तानुसार परमात्माका मुख ही नहीं होता; और परमात्माके नियत गुणोंमें किसी भी अवस्थामें

परिवर्तन नहीं होता। स्वामी भी मानते हैं कि—परमात्मा भी सृष्टि-नियमोंके विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता; तो मुखके बिना 'अहं वाचमावदानि' कहना सृष्टिनियम-विरुद्ध है। जिस ढंगसे वादीका परमात्मा वेदोपदेश करेगा; उसी ढगसे परमात्मा गीतोपदेश भी कर सकेगा।

(ख) शेष रहा कंस आदिका मारना आदि; सो यह बातें उसकेलिए साधारण-सी हैं। संसारी व्यवहार भी वही स्वयं संसारी बनकर सिखाता है। हम उसमें लिप्त हो जाते हैं; पर वह उससे लिप्त नहीं होता; क्योंकि—'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' (गीता ४।६)। (ग) शिकारीद्वारा श्रीकृष्णको वाण मारना आदि तो नाटकमात्र हैं, यह हम ऊपर (क) भाग में स्पष्ट कर चुके हैं। गणेश-जन्म नाटकमें भी गणेशका सिर कटता हुआ भी साफ दीखता है, पर वास्तवमें वह अभिनयकी कुशलता होती है। नहीं तो उस नाटकमें पुलिस सिर काटनेवालेको गिरफ्तार कर ले, पर ऐसा नहीं होता; बच्चे उस नाटकमें समझते हैं कि—उसका सिर सचमुच काट दिया गया। इन प्रकार व्याधका बाण लगना आदि सब लीलामात्र हैं। नहीं तो श्रीकृष्ण उसे दण्ड दिलाते; पर उन्होंने उसे स्वर्ग दिया (भाग. ११।३०।३६)। (घ) 'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्' यह गीता-पद्य वादियों-जैसोंके मुख-मुद्रणार्थ है, इसमें उपनिषद्का कुछ भी विरोध नही। वेदमें परमात्माको 'पुरुरूप' (बहुरूप) (ऋ. ६।४७।१८) कहा गया है।

(२३) 'जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः' (ऋसं. १।१६४।३०) में तो मृतक-पितृके जीवकी स्वधा (पितृदान) से तृप्ति बताकर मृतक-श्राद्ध बताया गया है। इससे वादीके साम्प्रदायिक सिद्धान्त जीवित-श्राद्धका खण्डन हो जाता है। 'स्वधा' शब्द पितरोंको दिये जाते हुए अन्न-आदिका वाचक है। यदि वादी इस मन्त्रके अनुसार जीवका कर्मवश जन्म होनेपर भी उसे 'अजन्मा' मानता है; तब स्वेच्छा-

वश परमात्मा स्वतन्त्रतासे अवतार (दिव्य-जन्म) लेने पर भी 'अजन्मा' क्यों न रहेगा? अपराधी जेलखानेमें कर्मानुसार कैदी बनकर जाता है, परन्तु राजा उसी जेलखानेमें स्वेच्छानुसार, कैदियोंके सुधारार्थ, कैदमें लड़नेवालोंको ठीक करनेकेलिए, उन्हें उपदेश देनेकेलिए, उनमें उद्धत कैदीको जो दूसरोंको तंग कर रहा होता है, दबानेकेलिए जाता है, वह जेलखानेमें गया हुआ राजा 'कैदी' (बद्ध) नहीं कहा जाता; किन्तु 'प्रभु' ही कहा जाता है; और उसकेलिए वह स्थान जेलखाना भी नहीं कहा जाता; क्योंकि--वह वहां स्वतन्त्रतासे जाता है। इसी प्रकार प्रभु भी स्वेच्छासे जब शरीर-परिग्रह (अवतार) कर लेता है; वह बद्ध नहीं कहा जाता; किन्तु सदाकी भांति नित्य-मुक्त ही रहता है। इस प्रकार अवतार-ग्रहणमें कोई वेदविरोध नहीं।

जीवका **कर्मवश** शरीर लेने, शरीर छोड़नेका नाम जन्म-मरण कहा जाता है, पर परमात्माका **स्वेच्छावश** शरीर लेने-छोड़नेका नाम जीवन-मरण न होकर 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' (गीता ४।६) उसका अवतार एवम् अन्तर्धान अथवा लीलानाट्य एवं ऐहिकलीला-संवरण कहा जाता हैं। यदि वादी यह ठीक समझ ले, तब वह भी गीता (४।६) के अनुसार मुक्त होनेका अधिकारी हो सकेगा। यह उपनिषद् अग्निके दृष्टान्तसे कहती है। वादी देखे—

'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं-रूपं प्रतिरूपो बहिश्च' (कठ. २।२।६) जैसे निराकार अग्नि कहीं अवतार लेकर प्रकट हो जावे; पर उससे वह अग्नि निराकार-रूपमें सर्वव्यापक तथा सर्वाधार रहता ही है, इसी प्रकार परमेश्वरके अवतार लेनेपर भी उसकी सर्वव्यापकतामें भी क्षति नहीं आती।

पूर्वापरवश यहां परमात्माका वर्णन है। "उपनिषदोंकी कोई भी बात वेद-विरुद्ध नहीं है" (पृ. २३६ पं. १७) यह वादीके शब्द हैं; तब गीता-को 'उपनिषद् वा वेदोंकी विरोधिनी पुस्तक' कहना वादीका 'वदतो-

व्याघात' दोष सिद्ध हुआ। गीता इन्हीं उपनिषद्के वचनोंका ही तो अनुवाद है। जीवकी उत्पत्ति कहना उपचारसे होता है। इतना है कि—जीव कर्मवश बद्ध होकर गर्भमें ही शरीरमें प्रकट हो जाता है, और फिर शरीरके साथ गर्भसे बाहर आता है, यही उसका जन्म कहाता है, पर परमात्माका अवतार जीवकी भांति कर्मबद्ध न होकर स्वतन्त्रतासे होता है। आत्माका भौतिक शरीर गर्भमें पक रहा होता है, पर परमात्माका ऐसा जन्म नहीं होता; किन्तु नाट्यमात्रकेलिए गर्भमें वायुमात्र भर जाती है. लौकिक १० मासका समय बीतनेपर वह वायु बाहर निकल जाती है; और बाहर भगवान्का प्राकट्यमात्र हो जाता है, जैसे कि पुराणमें कहा गया है—'एतस्मिन्नेवान्तरे तत्र पपात देवकी सती। **निस्ससार च वायुश्च देवकीजठरात्** ततः। तत्रैव भगवान् कृष्णो दिव्यरूपं विधाय च। हृत्पद्म-कोषाद् देवक्या हरिराविर्बभूव ह' (४७।७१-७२) इसींको 'जन्म कर्म च मे दिव्यं' (गीता ४।६) दिव्य जन्म (अवतार) कहा जाता है; इसीको वैदिक परिभाषामें 'प्रजापतिश्चरति, गर्भेऽन्तः-अजायमानो बहुधा विजायते' (यजुः ३१।१६) इस वचनसे कहा जाता है। इसकी स्पष्टता हमने 'आलोक' (६) में 'भगवान् कृष्णका सुदर्शन चक्र' में की है। सो यह वेद के इस वचनकी विस्तीर्ण व्याख्या ही पुराणमें की गई है।

(२४) 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' (१८।६६) इस गीताके पद्यको वादीने बहुतसे स्थलोंमें आक्षिप्त किया है—इसमें उसका अज्ञान ही कारण है। इसपर हम स्पष्टीकरण करते हैं। जो गीताके श्रद्धालु तो हैं; पर जिनकी योग्यता साधारण है, ऐसे धार्मिक लोग यहाँपर 'सर्वधर्मोंका परित्याग' अर्थ देखकर चकित हो जाते हैं, वे सङ्गत्यर्थ 'सर्वाऽधर्मान् परित्यज्य' इस प्रकार नञ्का प्रश्लेष कर देते हैं; उनका अभिप्राय यह है कि—यहाँ पर 'विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदलोपः' इस वार्तिकसे नञ्का लोप हुआ-हुआ है। पर यह ठीक नहीं। इस प्रकारके समाधान 'सन्ध्यावधूं गृह्य करेण भानुः' आदि जैसे स्थलोंमें (यह पाणिनिके बनाये काव्यमें हैं) जहां

बिना उपसर्गके पहले हुए क्त्वाको ल्यप् हुआ हो; वहाँ प्रयोगकी अशुद्धि हटानेकेलिए तो किये जाते हैं; पर गीताके पद्यमें तो वैसा अवसर नहीं है। यहाँ दोनों ही पाठोंमें छन्दोभङ्ग नहीं है।

वस्तुतः यहां 'सर्वधर्म' शब्द अपने-अपने वर्ण-आश्रम आदिके अनुसार जो-जो कर्तव्य शास्त्रोंमें बताये गये हैं; उन सभी कर्मोंका वाचक है। उन सभी कर्मोंका त्याग यहाँ कहा है। पर ऐसा अर्थ करनेपर गीतासे स्वयं विरोध उपस्थित हो जाता है। भगवान् स्वयं कहते हैं—'नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते। मोहात् तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः' (१८।७) यहां कर्मोंके त्यागको तामस कहा है। इसके अतिरिक्त भगवान् ने स्थान-स्थान पर अर्जुनको क्षात्रकर्मरूप युद्धके अपरित्यागकेलिए कहा है—'**युध्यस्व** विगतज्वरः' (३।३०) 'मामनुस्मर **युध्य** च' (८।७) 'मया हतांस्त्वं **जहि** मा व्यथिष्ठाः। **युध्यस्व**' (११।३४)। सारी गीताको सुनकर अर्जुनने भी कहा था—'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत। स्थितोस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव' (१८।७३) यह कहकर क्षात्रधर्म युद्ध किया ही है, और युद्धके साथ बड़े भाईसे मिलकर युद्धके बाद वैदिक यज्ञ अश्वमेध भी किया ही है; नहीं तो वह 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' के अनुसार इन धर्म-कर्मोंको क्यों करता?

सो यहाँ वास्तविक अभिप्राय यह है कि—भगवान्को उक्त पद्यमें श्रुतिस्मृतिविहित सब कर्मोंका स्वरूपसे त्याग इष्ट नहीं है, नहीं तो अवश्य उक्त विरोध उपस्थित होता; तब उन धर्म-कर्मोंका त्याग क्या है, यह प्रश्न उपस्थित होगा। सो यहां यह जानना चाहिये कि—उन समस्त कर्मोंका 'ये तु सर्वाणि कर्माणि **मयि संन्यस्य** मत्पराः। अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते' (१२।६) 'चेतसा सर्वकर्माणि **मयि संन्यस्य** मत्परः। बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव' (१८।५७) इस प्रकार भगवान्के कहे तरीकेसे भगवान्में समर्पण कर देना ही उनका त्याग है, स्वरूपसे उन कर्मोंका त्याग भगवान्को इष्ट नहीं, तभी पहलेके बताये हुए युद्ध

करनेके पद्योंमें ही 'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्म-चेतसा। निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः' (३।३०) 'मामनुस्मर युध्य च। मय्यर्पितमनोबुद्धिः' (८।७) अपने कर्मोंका भगवान्‌में अर्पण करनेका ही आदेश दिया है, यही उन कर्म-धर्मोंका त्याग भगवान्‌को इष्ट है।

अथवा उन कर्मोंके फलका त्याग ही भगवान्‌को 'कर्म-त्याग' इष्ट है, जैसे कि भगवान्‌ने ही स्वयं कहा है—'सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुः त्यागं विचक्षणाः' (१८।२) 'सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्' (१२।११) 'सर्वारम्भपरित्यागी' (१२।१६, १४।२५) 'नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः। यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते' (१८।११)। इससे स्पष्टता हो गई कि—सब कर्मोंके फलका त्याग ही भगवान्‌को 'सर्वधर्मोंका परित्याग' इष्ट है। अर्जुनने भी उसी आदेशको पाला, अपने क्षात्रधर्म युद्धका परित्याग नहीं किया। यदि भगवान्‌को भी वादियों वाला अर्थ इष्ट होता, तो वे अर्जुनसे युद्ध न कराते। सो सभी शास्त्रीय धर्म-कर्मोंको करते हुए भी 'इदं न मम' इस आहुति-त्यागके समयके वचनकी तरह उन कर्मोंसे ममता न जोड़कर 'निर्ममः' (२।७१, ३।३०, १२।१३, १८।५३) उन कर्मोंका भगवान्‌में समर्पण कर देना, अथवा (१८।२ आदि के अनुसार) उनका फलत्याग कर देना ही यहाँ 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' का अभिप्राय सिद्ध हुआ। अब आगे चलिये—

'मामेकं शरणं व्रज' इसका अर्थ यह है कि–भगवान्‌को ही 'आप्त-कल्पश्च (विश्वस्त) अयम् [ईश्वरः] यथा पिता अपत्यानाम्, तथा पितृ-भूत ईश्वरो भूतानाम्' (४।१।२१) इस न्यायभाष्यसे कहे हुए प्रकारसे भगवान्‌को ही अपना पिता-परमहितैषी मानकर उस भगवान्‌की ही शरण-ग्रहण करनी चाहिये। सो उसका भाव यही हुआ कि–'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः' (६।३४) फिर देवताओंकी पूजा भी मेरे उद्देश्यसे कर, वैदिक यज्ञोंको भी मेरे उद्देश्यसे कर, अपने वर्णाश्रमके कर्म तथा अन्य लौकिक कर्मोंको

भी मेरे लक्ष्यसे कर, यही प्रवृत्ति ही 'मामेकं शरणं व्रज' की व्याख्या है। इस प्रकार जब पुरुष अपने कर्म करता हुआ उन्हें उसी भगवान्‌को सौंपता जावेगा; तो उस पुरुषके योगक्षेमका भी निर्वाह भगवान्‌ने ही तो करना है, पुरुषकी भला अपनी क्या शक्ति है—'तेषां नित्या-भियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' (६।२२) तभी तो भगवान्‌को वेदमें भी माता-पिता कहा जाता है—'त्वं हि नः पिता वसो; त्वं माता शत-क्रतो! बभूविथ' (ऋ. ८।६८।११) यहां इन्द्र देवताको माता-पिता कहा है। 'देवानामस्मि वासवः' (गीता १०।२२) यहां भगवान् अपनेको ही 'इन्द्र' कहते हैं।

अब भगवान्‌में ही कर्मोंके समर्पणका फल भगवान् कहते हैं, 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि' यहांपर सभी अपने शुभाशुभ कर्मोंका फलरूप जो बन्धन है, जिनमें बन्धा हुआ मनुष्य नानायोनियोंमें घूमता है, बार-बार माताके विष्ठामलाकुल पेटमें आता है, उन सभी कर्मबन्धनोंके फलोंका वाचक यहां 'सर्वपापेभ्यः' शब्द है। उन्हीं कर्मबन्धनोंसे मुक्त कर देनेका नाम ही 'त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि' यह है। जैसे कि भगवान्‌ने स्थान-स्थान पर कहा है—'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि' (१८।५८) 'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि न चिरात् पार्थ! मय्यावेशितचेतसाम्' (१२।७)। वेदमें भी कहा है—'विश्वानि देव! सवितर्दुरितानि परासुव' (यजुः ३०।३) यहां 'दुरितानि' 'पापानि' का पर्यायवाचक है, उनसे छुड़ानेकी प्रार्थना है।

अब उक्त पद्यका शेष है—'मा शुचः' इससे भगवान्‌ने अर्जुनको सूचित किया कि–तू इसपर सोच-विचार न कर। मेरी शरणमें आनेपर तू निश्चिन्त हो जा। अनन्यभक्त होनेपर तुम्हारा मार्गप्रदर्शक मैं ही बनूंगा। जैसे कि कोई अन्धा अपने विश्वस्त किसी हितैषीके हाथमें अपना हाथ दे दे; और उसमें अविश्वास प्रकट न करे, तब वह निश्चिन्त हो जाता है कि–यह मुझे नालियोंसे, कांटोंसे, गढ़ोंसे, सांप आदिसे, बुरे

मार्गोंसे, और पतनसे बचावेगा; वैसे ही जो अपनेको भगवान्के आश्रयमें देकर संसारी व्यवहारमें चलना शुरू कर देता है; क्योंकि-अन्धेको भी तो हितैषीके हाथमें अपना हाथ देकर चलना ही तो पड़ेगा; तब भगवान् भी उसे अपना अनन्य भक्त समझकर उसमें उसके हितका मार्ग दिखलाता जाता है, जिसके द्वारा जाकर वह बन्धनादिके भयसे मुक्त हो जाता है। 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' (९।२२)।

यही उक्त गीतापद्यका तात्पर्य है। जो लोग इससें सभी श्रौतस्मार्त कर्मोंके त्यागको समझकर इस पद्य पर आक्षेप करते हैं, वे आपाततोदर्शी हैं, भगवान् उन कर्मोंका त्याग नहीं कराते, किन्तु उन कर्मोंके फलका ही त्याग कराते हैं, जैसे कि हम पूर्व कह चुके हैं। यह पद्य 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' (२।४७) इस गीताके पद्यका 'अभ्यास' है। 'उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये' इस पद्य द्वारा मीमांसकोंने किसी भी ग्रन्थके सिद्धान्तके निर्णयकेलिए यह छः लिङ्ग बताये हैं। उसमें 'अभ्यास' का अर्थ है—'उसकी आवृत्ति' पुनः-पुनः उसे बताया जावे; इससे वह प्रस्ताव दृढ हो जाया करता हैं। सो 'अभ्यास' नामक लिङ्गसे उस ग्रन्थका तात्पर्य ठीक-ठीक निकल आता है। हां, बार-बार वही ढंग आवृत्तिमें रखा जावे; तो अनवीकृत हो जानेसे नीरसता आ जानेके कारण वह दोष हो जाता है, नवीकृत किया जावे; तों वह प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार हो जाता है; वैसे ही सारी गीतामें यही भगवान्का उद्देश्य हैं कि—कर्मोंको कर, उनके फलकी चाह मत कर। सो वैरस्य हटानेकेलिए भगवान्ने इसी बातको भिन्न-भिन्न ढंगसे दोहराया है, सो अभ्यासने गीतामें यही तात्पर्य बता दिया।

जहाँ 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' यह वचन तात्पर्यनिर्णायक 'अभ्यास' है, वहां उपसंहार भी है। 'अशोच्यान् अन्वशोचस्त्वं' (२।११) यहांसे भगवान्ने 'उपक्रम' किया है, और इस पद्यके 'मा शुचः' (१८।६६) से

उपसंहार किया है। उपक्रममें अर्जुन युद्धसे विरत हो रहा था; तो भगवान्ने 'अशोच्यान् अन्वशोचस्त्वं' से उसे अधिक्षिप्त किया, और उसे कर्मकेलिए प्रोत्साहना दी; और उपसंहारमें भगवान्ने उसे फल छोड़कर कर्मकेलिए प्रेरित किया; और उसे उसका सुपरिणाम निकलनेकेलिए आश्वस्त किया; इसलिए उपक्रम-उपसंहार दोनोंकी एकता प्रसिद्ध होनेसे उपक्रम वाले ही अर्थका यहां उपसंहार किया; सो इस उपसंहार वाले पद्यका भी कर्मके त्यागमें तात्पर्य कभी नहीं हो सकता; किन्तु फल छोड़कर कर्म करनेमें ही तात्पर्य प्रतिफलित होता है।

अर्जुन जानता था कि—युद्धका पारलौकिक फल स्वर्ग है, और ऐहिक फल राज्यभोग है (गीता २।३७); और वह यह भी जानता था कि-स्वर्गका फल क्षयी होता है (९।२१); भगवान् तो यह स्वयं कहते ही हैं; तब अर्जुनने युद्ध क्यों किया; और भगवान्ने ही उससे युद्ध क्यों कराया? उसमें भी यही तात्पर्य है कि-भगवान्ने अर्जुनको आश्वस्त कर दिया था 'मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा मोक्षयिष्यामि' (१८।६६)। अर्जुनने भी स्वीकार कर लिया था, 'करिष्ये वचनं तव' (१८।७३)। यहां यही तात्पर्य निकलता है कि-भगवान् अर्जुनसे युद्धरूप धर्मको नहीं छुड़ाना चाहते थे, किन्तु उसकी फलकामना ही छुड़ाना चाहते थे, यही 'मोक्षयिष्यामि' मोक्ष दिलानेका तात्पर्य है। सो उस कर्मफल की कामना का त्याग ही 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इस पद्यांशकी टीका है। यदि भगवान्को यह अर्थ इष्ट न होता, और 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' यह कहकर भी अर्जुनसे युद्ध कराते; तब तो 'यावज्जीवमहं मौनी ब्रह्मचारी तु मे पिता। माता तु मम वन्ध्यासीद् अपुत्रश्च पितामहः' इस व्याघातके उदाहरण बनते; इससे स्पष्ट हुआ कि यहां भगवान्को अपने-अपने वर्णाश्रमोंके सब कर्मोंका फलाकाङ्क्षा छोड़कर कराना ही इष्ट है।

यही उक्त गीतापद्यका तात्पर्य है, जिसे न समझकर वादीने अपनी पुस्तकमें इसे कई जगह आक्षिप्त वा उपहसित किया है; इसीलिए उसका

अज्ञान मिटानेकेलिए ही हमें भी उसकी स्पष्टता करनी पड़ी; तब इस वचनको 'साम्प्रदायिक पाखण्ड-प्रचारका ठेकेदार वा सोल एजेन्ट' कहना वादीका अपने सम्प्रदायकी गहरी दलदलमें आकण्ठ फंसे होनेके कारण है। आज गीताको सारा संसार मान करता है; उसका विरोध करता हुआ केवल खण्डन-व्यसनी तथा अल्पश्रुत वादी अकेला ठहरा हुआ संसारका उपहासास्पद है।

इस पद्यको लौकिक-व्यवहारमें भी घटा लेना चाहिये। विद्यालयमें पढ़ता हुआ विद्यार्थी अर्जुनस्थानीय होता है, और गुरु श्रीकृष्णस्थानीय होते हैं। जब विद्यार्थी आप्त एवं हितैषी, शुद्ध भाववाले गुरुमें आत्म-समर्पणपूर्वक फलाकाङ्क्षाका विचार न रखकर अध्ययनादिकर्मको पूर्ण उद्योगसे करे, तब प्रसन्न हुए गुरुजी कहते हैं—'मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे' (१८।६५) अर्थात् तू भी मेरे सदृश हो जायगा, योग्य हो जावेगा। 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' (१८।६६) मैं तुझे योग्यताके विघातक अन्तरायोंसे हटा दूंगा; पर तू मुझे हितैषी जानता हुआ उत्तीर्णतारूप सीमित फलोंकी कामना छोड़कर मेरी शरणमें आ जा, अर्थात् मेरे कहे हुए प्रकारसे आचरण कर, मैं तुम्हें धन्य और मान्य बनवा दूंगा; इसी प्रकार सभी जगत्के व्यवहारोंमें भी इस पद्यको भी संघटित किया जा सकता है। तब इसपर दुरालोचना करता हुआ वादी 'नासमझ' सिद्ध हुआ; या नहीं; यह 'आलोक' पाठक ही समझ लेंगे; और हमें विश्वास है कि अब वादी भी अपनी भूल समझ गया होगा।

(२५) वादी परमात्माको 'निराकार' कहता है, यहांपर 'निर्' निषेधवाचक नहीं है, किन्तु 'अनिर्वचनीय दिव्य' अर्थका वाचक है। अभाववाचक माननेपर परमात्मामें शून्यतापत्ति हो जावेगी। 'अनुदरा कन्या' का यह अर्थ नहीं हैं कि—'इस लड़कीका पेट नहीं है', किन्तु 'छोटा पेट है, अस्फुट पेट है' यह अर्थ है। इस प्रकार 'निराकार' के 'निर्'का

भी यही तात्पर्य है, 'अस्फुट आकार, अव्यक्त आकार, अथवा भौतिक, प्राकृत आकारसे रहित। वादी निराकार रूपमें सर्वव्यापक अग्निको प्रकट करके, साकार करके उसमें हवन कर लेता है; तब क्या अग्नि उस प्राकट्यके समय अन्यत्र तथा उसी स्थानमें भी व्यापक नहीं रह जाती ? इसी प्रकार निराकार विद्युत्को भी वादी बल्बमें प्रकट कर लेता है; और उसके आश्रयसे खण्डन-ग्रन्थमाला लिख लेता है; क्या तब विद्युत् निराकार एवं सर्वव्यापक नहीं रहती ?

'निराकारः' का विग्रह होता है कि—'निर्गत आकारो यस्मात्' जिससे आकार निकल गया है; तब परमात्माका आकार तो सिद्ध हो गया। यदि इस स.प्र.के प्रथम संस्करणमें कहे हुए विग्रहसे परमात्माकी साकारता-सिद्धिसे डरकर वादी स.प्र.के द्वितीय-संस्करणके अनुकूल 'निर्गत आकारात् स निराकारः' ऐसा विग्रह कर देगा; तब भी 'आकारसे निकला हुआ' इस अर्थमें भी वह साकार बना; पर यह विग्रह ठीक नहीं, बहुव्रीहिवाले विग्रहमें तो ठीक था; परमात्मा द्रव्य था; आकार था गुण; सो द्रव्यसे गुण निकल सकता है; पर तत्पुरुष वाले विग्रहमें आकाररूप गुणसे परमात्मारूप द्रव्यके निकलनेमें दार्शनिक भूल बन जावेगी, क्योंकि गुणसे द्रव्य कभी नहीं निकलता है; जैसे कि स्वा.द.जीने स.प्र.में लिखा है—'गुणसे द्रव्य कभी नहीं बन सकता' (१३ पृ. ३००)। 'निष्कौशाम्बिः' में 'कौशाम्ब्या निर्गतः' यह विग्रह ठीक है; क्योंकि—कौशाम्बी नगरी द्रव्य है; उससे निकलना कहा है, पर 'निर्गत आकारात्' यह विग्रह ठीक नहीं; क्योंकि—आकार गुण है, और परमात्मा द्रव्य। स्वा.द. लिखते हैं—'गुण उसको कहते हैं, जो द्रव्यके आश्रयसे रहे' (स.प्र. ३ पृ. ३५) तब यदि गुण-आकारसे द्रव्य-परमात्मा निकले; तो उल्टी बात हो जावेगी। द्रव्यको गुणके आश्रयमें रहना मानना पड़ेगा। सो गुणसे द्रव्य कैसे निकले, द्रव्यसे तो गुण निकल सकता है ? फलतः 'निराकार' का कोई भी विग्रह किया जावे; उसमें परमात्माका आकार मानना ही पड़ेगा; हां, आकार उसका

सूक्ष्मतम अथवा दिव्य होगा। इस शैलीसे उसे निराकार-साकार दोनों कहा जा सकता है।

यह जो वह लिखता है—'जो सर्वव्यापक नहीं है, क्रियाशील भी नहीं हो सकता। यह उसका कथन अपनेसे भी विरुद्ध है, क्योंकि–सर्व-व्यापक, कूटस्थ होनेसे क्रियाशील कभी नहीं हो सकता। वह कोई उपदेश नहीं दे सकता, बोल भी नहीं सकता। ऐसा करनेकेलिए ही उसे प्रकट होना पड़ता है, यही 'अवतार' होता है। क्या सर्वव्यापक निराकार अग्निमें वादी रोटी पका सकता है ? क्या वादी सर्वव्यापकको ज्ञानी तथा ज्ञानीसे ज्ञानको पृथक् कर सकता है ? यदि नहीं, तो परमात्माका ज्ञान वेद परमात्माके शब्दोंमें परमात्मासे पृथक् जनताके पास कैसे पहुँच गया ? कैसे उसकी वर्तमान आकृति बन गई ? यही नियम वादी अवतारवादमें जानकर अपना साम्प्रदायिक अज्ञान मिटा ले।

(२६) वादी कहता है—'शक्ति सदैव निराकार होती है, वह शक्ति साकार पदार्थमें व्यापक होकर उसमें क्रिया उत्पन्न करती है' (पृ. २४६ प. ५-६) तब **सर्वशक्तिमान् परमात्मा भी** उसीके शब्दोंमें **साकार सिद्ध** हो गया। नहीं तो वादी निराकारमें शक्ति कैसे मान सकता है ? **स्वयं ही वादी अपने वचनसे निगृहीत होगया।** शक्ति वादीके मतमें जड होगी। स्वा.द.जीने अपनी पञ्चमहायज्ञविधि तथा ऋभाभू.में 'भद्रकाल्यै नमः' यहां भगवान् की शक्तिका अर्थ किया है। सो जडशक्तिको 'नमस्कार' कहनेसे मूर्तिपूजा भी सिद्ध हो गई। स्वामी स.प्र.में लिख गये हैं—किसी जड़-पदार्थके सामने शिर झुकाना या उसकी पूजा करनी सब मूर्तिपूजा है (स.प्र. ११ पृ. २३०) सो 'भद्रकाल्यै नमः' इस स्वामीजीके वैदिक मन्त्रने मूर्तिपूजन वैदिक सिद्ध कर दिया, और उस शक्तिने वादीके अनुसार परमात्माको साकार सिद्ध कर दिया। साकार हो जानेपर भी उसका निराकारत्व क्षुण्ण नहीं होता। इसी लोकोत्तरताके कारण ही तो परमात्मामें 'निराकार-साकार' इस प्रकार दो विरुद्ध धर्म रहा करते हैं।

परस्पर-विरुद्धधर्मवत्तामें भी धर्मीकी सत्ता यह उसकी लोकोत्तरताकी परिचायिका है। सो यह विरोध लोकोत्तरताका भूषण है, दूषण नहीं। काव्यप्रकाश-साहित्यदर्पणादिमें लोकोत्तर-रसके विषयमें भी परस्पर-विरुद्ध धर्मोंको देखें। इसी तरह लोकोत्तर परमात्मा भी उपनिषदोंमें 'रसो वै सः' (तैत्तिरीयोप. २।७) में रस-स्वरूप माना गया है। इस विषयमें स्पष्टता 'आलोक' (४) (पृ. ३९४-४०४) में देखें।

जब वादीके अनुसार अभगवान् भी निराकार जीव लौकिक कर्मवश भौतिक शरीर ग्रहण करके उसमें प्रकट होकर साकार हो जाता है और बड़े-बड़े काम करता है; और मुक्त होकर उपनिषदोंके सिद्धान्तानुसार सब लोकोंमें अबाधगति हो जाता है। जैसे कि–स्वामीने भी मुक्त जीवकेलिए लिखा है—'दैवेन' वह जीव शुद्ध इन्द्रिय, शुद्ध मनसे इन आनन्दरूप कामोंको देखता और भोगता भया उसमें सदा रमण करता है, उसकी मन-इन्द्रियां प्रकाश-स्वरूप हो जाती हैं' (ऋभाभू. पृ. २१३) 'उन [मुक्तों] का आना-जाना सब लोक-लोकान्तरोंमें होता है, उनके लिए कहीं रुकावट नहीं रहती। उनके सब काम पूर्ण हो जाते हैं' (पृ. २१४) 'उनका सङ्कल्पमात्र शरीर होता है...मुक्तिको प्राप्त जीव शुद्ध दिव्यनेत्र और शुद्ध मनसे कामोंको प्राप्त होता हुआ रमण करता है।...जो-जो सङ्कल्प हैं, वह-वह लोक और वह-वह काम प्राप्त होता है। मुक्त जीव स्थूल शरीर छोड़कर सङ्कल्पमय शरीरसे आकाशमें परमेश्वरमें विचरते हैं (स.प्र. ९ पृ. १४८-१४९) जब स्वा.द.जी मुक्त जीवकी इस प्रकार शक्ति बताते हैं, मुक्त लोग दिव्य-शरीर और दिव्य-शक्तियाँ कर लेते हैं; तब सर्वशक्तिमान् नित्यमुक्त भगवान् भी दिव्यकर्मा, दिव्य इच्छावाला होकर, दिव्य अप्राकृत, अभौतिक संकल्पमाय शरीर धारण करके साकार क्यों न हो सके ? 'निराकार कभी भी साकार नहीं हो सकता' यह वादी की प्रतिज्ञा टूट गई। निराकार भी शून्य (०) इस रूपमें आकारको ग्रहण करके अङ्कोंको बहुत बड़ा बना

देता है ।-निराकारका निराकार भी ज्ञान साकार बनकर 'वैदिक-यन्त्रालय अजमेर' में छपकर वादी की अलमारीमें भी बन्द होकर पड़ा हुआ है। नहीं तो वादी निराकार-ज्ञानको निराकार ही रहने दे; और फिर उस निराकारका उपयोग करे; तभी उसका निराकारवाद पोषणको प्राप्त होगा; अन्यथा वह भी शून्य हो जायगा ।

(२७) 'क्यों श्रीकृष्णने अर्जुनके हृदयमें बैठकर यन्त्रारूढ व्यक्तिके समान उससे युद्ध नहीं करवाया ? क्यों उन्होंने कंसको पापाचार करनेसे नहीं रोका' यह वादीकी निकम्मी तथा अल्पश्रुतत्वकी बातें हैं। वादीका निराकार परमेश्वर जो उनके हृदयमें रहता हैं, और वे लोग उसकी हृदयमें उपासना किया करते हैं, लोगों को पापसे क्यों नहीं रोकता ? क्यों अपनी देख-रेखमें उनसे पाप कराता है, और व्यर्थंका उन्हें दण्ड देता रहता है ? महाशय, याद रखो कि-गायके अन्दर अव्यक्तरूपसे सर्व-व्यापक दूध, दही, माखन एवं घी उससे व्यक्त होकर ही उपयोगमें आता है, और जनताका लाभप्रद सिद्ध होता है। शेष रहा कर्मफल भोगनेका ईश्वरका दायित्व; इसपर यह याद रखना चाहिये कि-पुरुष यदि 'अहं, मम' आदि कहकर कर्मोंका दायित्व अपने पर न ले; और अपनेको परमात्माकी पूरी कठपुतली समझकर चले, और उन कर्मोंको भगवान्में ही समर्पण करता चला जाय, तब उसका फल भी पुरुषको नहीं मिलेगा, यही गीताका सिद्धान्त है। उसका फल परमात्मा ही स्वयं ले लेता हैं। महाभारतमें कहा है—'ईश्वरेण नियुक्तो हि साध्वसाधु च भारत ! [इति यो मन्यते] कुरुते पुरुषः कर्म फलमीश्वरगामि तत्' (शान्ति. ३२।१३) 'यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि स इमांल्लोकान् न हन्ति, न निबध्यते' (गीता १८।१७) ।

जीव भी कर्म करनेमें पूर्वजन्मकर्मानुकूल परतन्त्र है, पूर्ण स्वतन्त्र नहीं। यह शरीर बुद्धि आदि प्रारब्ध कर्मवश मिलते हैं; कर्म भी बुद्धिके अनुसार ही तो किये जाते हैं; और अबकी बुद्धि 'बुद्धिः कर्मानुसारिणी'

पूर्वजन्मकर्मानुकूल ही हुआ करती है; तब पुरुष ऐहिक जन्मके कर्म करनेमें भी स्वतन्त्र कहां रहा ? नहीं तो पुरुष किसीको क्यों मार डालता है, जबकि उसे पता है कि—मैं भी ऐसा करनेसे फांसी पाऊँगा ? पर उसकी इच्छा भी स्वतन्त्र नहीं होती, किन्तु ईश्वर द्वारा पूर्वजन्मकर्मों (प्रारब्ध) के परतन्त्र ही होती है। इसलिए वेदमें प्रश्न है कि—'कस्त्वा युनक्ति ?' (यजुः १।६) उसका उत्तर दिया गया है—'स त्वा युनक्ति' (यजुः १।६) इसी प्रकार 'कुतो नु पुरुषे मतिः, (अ. १०।२।१७) 'केन कर्माणि पूरुषः' (अ. १०।२।१८) 'मम वशे हृदयानि वः' (अ. ३।८।६) 'जनिता मतीनाम्' (अ. १३।२।१९) बहुतसे मन्त्र इस विषयमें मिलते हैं। तभी तो प्रसिद्ध गायत्रीमन्त्रमें भी इसका संकेत मिलता है—'धियो यो नः प्रचोदयात्' (प्रेरयति); यह विषय अतिगहन तथा विचारणीय है, क्योंकि—'गहना कर्मणो गतिः' (गीता ४।१७), हम इसपर किसीं अन्य पुष्पमें विस्तृत विचार देंगे ।

(२८) उपासना निराकार वा निर्गुणकी कभी नहीं हो सकती; साकार एवं एकदेशी उपासक, ईश्वरको भी साकार एवं एकदेशी बनाता है। नहीं तो क्या कभी एकदेशी वादी सर्वव्यापककी अखण्ड एवं सर्व-व्यापक उपासना एक ही समयमें कर सकता है ? एकदेशी वादी उपासना की समाप्तिके समय सर्वव्यापक परमात्माको 'नमः शम्भवाय' मन्त्रसे नमस्कार एक ही दिशाके भी एक ही देशमें करता है। चर्खीकी भांति घूमकर भी उसे सर्वव्यापकतामें नमस्कार नहीं करता। चर्खीमें लगकर घूमते हुए भी उसका मुख एक दिशाकी ओर ही होगा। यही एकदेशी पूजा मूर्तिपूजाकी जननी है, क्योंकि उपासनामें ऐसा करना वा होना स्वाभाविक ही होता है। 'परापूजा'में कहा है—'प्रदक्षिणा ह्यनन्तस्य अद्वयस्य कुतो नतिः। वेदवाक्यैरवेद्यस्य कुतः स्तोत्रं विधीयते ?' (७) परमात्माके निराकार-साकार दोनों प्रकारके होनेसे—'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे, मूर्तं चाऽमूर्तं च' (शत. १४।५।३।१) उपासना भी दोनों ही प्रकार की

आई हैं। निराकारमें आकारशून्यता अर्थ न होकर 'दिव्य आकार' अर्थ है; यह हम पहले स्पष्ट कर ही चुके हैं। अव्यक्त-पूजाकी 'क्लेश-पूर्णता' बतानेसे--जो कि स्वाभाविक है—निन्दा नहीं हो जाती। जनतामें दोनों प्रकारके अधिकारी पात्र मिल सकनेसे दोनों ही उपासनाएँ अपने स्थानपर ठीक ही हैं। कठिन उपासना योगी करेंगे; और साधारण लोग सुगम। **अधिकारभेद** शास्त्रीय एवं स्वाभाविक हैं। शुरूसे चला आया है। "श्रीकृष्णके जीवनमें...उनकी पूजा किसीने नहीं की" यह वादीकी बात गलत है। राजसूय यज्ञमें युधिष्ठिरने ही उनकी पूजा की; भीष्म आदि सभीने उसका समर्थन किया। शिशुपाल दैत्यने उसमें रुकावट अवश्य डाली; पर भीष्म-पितामहने उसे स्पष्ट कहा था—'नहि केवलमस्माकमय-**मर्च्यतमोऽच्युतः। त्रयाणामपि लोकानामर्चनीयो** महाभुजः' (सभापर्व. ३८।९) श्रीकृष्णको अपने जीवनमें ही त्रिलोकीसे पूजित कहा है। 'कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः। कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम्' (२३) यहां भी श्रीकृष्णके जीवनमें ही उन्हें भगवान् माना जाता रहा। देवर्षि नारदने भी 'कृष्णं कमलपत्राक्ष्यं नार्चयिष्यन्ति ये जनाः। जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न सम्भाष्याः कदाचन' (महा. २।३९।९) यहां भी श्रीकृष्णकी पूजा बताई गई है। पीछे निन्दक शिशुपाल दैत्यको सुदर्शन-चक्रने ठीक कर दिया। तब शिशुपालके मरनेपर उसका तेज भी भगवान्‌की वन्दना करके श्रीकृष्णमें प्रवेश कर गया। 'ततश्चेदिपतेर्देहात् तेजोग्र्यं ददृशुर्नृपाः। उत्पतन्तं महाराज! गगनादिव भास्करम्। ततः कमलपत्राक्ष्यं कृष्णं **लोकनमस्कृतम्**। ववन्दे तत्तदा तेजो विवेश च नराधिप' (२।४५।२७-२८) इससे श्रीकृष्णकी पूजा तथा भगवदवतारता उनके जीवनमें भी सिद्ध हो गई। वादीका खण्डन हो गया।

(ख) "श्रीकृष्णकी आत्माकी भक्ति कैसे होगी, क्योंकि—आत्मा तो नामरूपादिसे सर्वथा रहित है, परमात्माकी कोई शक्ल नहीं होती" यह कहकर वादी अपनी निराकारकी भक्तिपर भी डंडे बरसा रहा है।

श्रीकृष्णके परमात्माके अवतार होनेसे, अवतार-समाप्तिकालमें व्यक्तसे अव्यक्त होने पर भी उनकी सत्ता नष्ट नहीं हो सकती कि-उनकी भक्ति न हो सके; अतः परमात्माकी जीवके शरीरकी भान्ति मृत्यु भी नहीं कही जा सकती।

(ग) शेष हैं गीताके पीछे बना लेनेकी वादीकी थोथी दलीलें; उनमें कुछ भी दम नहीं है। ऐसी दलीलोंसे ज़ोरदार दलीलें तो ऋक्सं.के १म तथा १०म मण्डलको तथा अथर्वसं. को अर्वाचीन और मनुष्य ऋषियोंसे प्रणीत बतानेकी वर्तमान विद्वान् देते हैं; पर वे जैसे खण्डित हो जाती हैं वैसे वादीकी भी युक्तियाँ खण्डित हो जाती हैं। निराकार-द्वारा वेदोंके उपदेशके समय ऋषियों-द्वारा यदि कलम-दवात आ सकती है; तो यहां भी कुछ कठिनाई नहीं।

(घ) 'वेदमाता...द्विजानाम्' में वेदपर द्विजका अधिकार स्पष्ट है। अब कुछ अन्य बची हुई बातोंपर भी विचार किया जाता है—

(२६) महाभारतको वेदसे बढ़कर कहनेका भी कारण है। वेद होता है—बीजरूप। बीज कठोर होता है; वह सर्व-साधारण जनताको लाभ नहीं पहुँचा सकता। उसका जो वृक्ष वा फल होता है, पुरुष उसीके मीठे होनेसे उसमें प्रवृत्त होता है; उसीको बीजसे बड़ा भी मानता है। आमकी गुठलीमें भला किसे आस्वाद आता है; जो माधुर्य फलमें आता है। इसी प्रकार पुराण एवं महाभारत भी फलरूप हैं; उनमें कितना माधुर्य है? इसी कारण ही महाभारत एवं पुराणोंकी सर्वत्र प्रतिष्ठा है। इनका वेदकी अपेक्षा भी सर्वत्र बहुलतासे प्रचार है। वेदके इतने संस्करण कहां हुए हैं, जितने कि महाभारत एवं गीताके संस्करण संसारमें हो चुके हैं।

बृहन्नारदीयमें इतिहास-पुराणोंकी महत्ता बताते हुए कहा है—'न वेदे ग्रहसञ्चारो न शुद्धिः कालबोधिनी। तिथिवृद्धिक्षयो वापि न पर्वग्रह-निर्णयः। इतिहास-पुराणैस्तु कृतोऽयं निर्णयः पुरा। **यन्न दृष्टं हि वेदेषु**

तद् सर्वं लक्ष्यते स्मृतौ। उभयोर्यन्न दृष्टं हि तत् पुराणैः प्रतीयते। वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं महेश्वरि!' यहां पुराणेतिहासका वेदोंसे भी जो अधिक महत्त्व कहा है, वह स्वाभाविक है। दूसरे स्थान कहा है-'श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम्। एकेन हीनः काणः स्याद् द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्तितः। पुराणहीनाद् हृच्छून्यात् काणान्धावपि तौ वरौ'।

इस प्रकार फलरूप पुराणोंके आस्वादमें पृथ्वी, जल, वायु एवं देश-कालादिके वैचित्र्यवश विचित्रता भी हो सकती है; इसलिए मनुस्मृतिमें भी कहा है—'भूमौ अपि-एककेदारे कालोप्तानि कृषीवलैः। नानारूपाणि जायन्ते बीजानीह स्वभावतः' (९।३८)। पुराणोंका महत्त्व तथा पुराणों की प्राचीनता दयानन्दी वादीने जाननी हो; तो वह दयानन्दी-समाजके रिसर्च-स्कालर श्रीभगवद्दत्तजी बी.ए. के 'भारतवर्षका वृहद् इतिहास'को देखे। उसमें लिखा हैं—'संसार पुराणका महत्त्व शनैः-शनैः समझेगा' (पृ. १७, १९)। पृ. ९५-९८ तथा १०० पृष्ठोंमें उनने पुराणोंका महत्त्व २० प्रघट्टकोंमें लिखा है। फिर १८ पुराणोंकी प्राचीनताके विषयमें उन्होंने १००-१०५ पृष्ठ तक काफी कुछ लिखा है। वादी केवल दोष-दृष्टिको परे फ़ेंक दे।

इस प्रकार महाभारत तथा गीताका महत्त्व इतना है कि—जिसका सारा संसार लोहा मानता है। पर वादी लोग ईर्ष्या-द्वेषवश अथवा साम्प्रदायिक-दुराग्रहवश पुराणादिके दोषमात्र ही ढूँढा करते हैं। पुराणोंके ४ लाख श्लोकोंमें वादीने अधिकसे अधिक ५०-६० श्लोक दूषित दिखलाये होंगे; पर वे सारी पद्यसंख्याके मुकाबिलेमें रत्ती-भर भी नहीं। वे तो 'एको हि दोषो गुणसंनिपाते, निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः' इस कालि-दासोक्तिसे गुणज्ञोंको दीख ही नहीं सकते? ४ लाख पद्योंके सवा करोड़ दानोंमें ६० पद्योंके २००० दानें ऐसे छिप जावेंगे कि—कहीं दीखेंगे भी नहीं। दयानन्दी रिसर्च-स्कालर श्रीभगवद्दत्तजीकी तरह स्वाध्याय करते-करते दयानन्दी दोषदर्शी वादीकी दृष्टि भी कभी शुद्ध हो जावेगी। तब

यह भी उसे समझेगा। दबी जबानसे इसने अब भी गीता-विवेचनमें माना है कि-'महाभारतीय उपाख्यानोंमें धर्म व नीतिके सुन्दर, उपयोगी तत्त्व कूट-कूटकर भरे गये हैं' (पृ. २५६)। 'वर्तमान महाभारत वास्तव में सुन्दर उपाख्यानोंका भण्डार है' (पृ. २५)। 'महाभारतके उपाख्यान बड़े सुन्दर हैं, उनमें ज्ञान वा नीतिशास्त्रके सम्पूर्ण तत्त्व कूट-कूटकर प्रविष्ट किये गये हैं, जिनसे [महाभारत] ग्रन्थकी उपयोगिता अत्यधिक बढ़ गई है' (पृ. २६)।

(३०) जिस गीताको वह नवीन बताता है; उसीके श्लोकोंकी आवृत्ति महाभारतमें कई बार आई है, यह 'गीता-रहस्य' में भी दिखलाया है। वादीने भी अपनी पुस्तकमें उसका कुछ भाग उद्धृत किया है; फिर गीता नवीन वा प्रक्षिप्त कैसी? (ख) 'गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः। या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता' (महा. भीष्म. ४०।१) में कहा हुआ वचन भी ठीक है। इससे अन्य शास्त्रोंका संग्रह होनेसे उनका तत्त्व सब इसमें आ गया है-यह तात्पर्य है। यह आभाणक प्रसिद्ध है—'अक्के (गृहकोणे) चेद् मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्। इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्' (घरके कोने में ही शहद मिल जावे; तो फिर पहाड़को क्यों जाया जाय? शेष रहा अन्य शास्त्रोंका निषेध, सो यह 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, किन्तु निन्दिताद् इतरत् स्तोतुम्' यह अर्थवाद होता है। अर्थवादका ज्ञान रखनेवाला यह आक्षेप नहीं कर सकता।

(ख) महाभारतके बाद गीता फिर सुनानेकेलिए अर्जुनने श्रीकृष्णको कहा था, पर उन्होंने कहा—'न च शक्यं पुनर्वक्तुमशेषेण धनञ्जय! ...न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः। परं हि ब्रह्म कथितं योग-युक्तेन तन्मया' (आश्वमे. १६।११-१३) में श्रीकृष्णके इस कथनका अर्थ वादी लगाता है कि—"श्रीकृष्ण स्वकथित ५७४ श्लोक भी याद न रख सका, वह कैसा परमात्मा था?" यह वादीने बच्चोंकी-सी लघुशङ्का की

है। इसीसे तो उल्टा गीताका महत्त्व स्पष्ट हो रहा है। एक लैकचरार जब आवेशमें एक जनता-प्रिय अच्छा लैकचर सुना चुका हो, फिर वैसा अनुरोध करनेपर कहता है कि—'वह समय और था; अब वैसा नहीं सुनाया जा सकता'। यह तो स्वाभाविक हैं। यहाँ अर्जुनको वैसा मोह था भी नहीं; तब उसे सुनानेकी आवश्यकता थी भी नहीं। तब भगवान्‌ने उसे मानुषी रूप होनेसे मानुषी दृष्टिकोणसे वैसा कहा।

जो यह लघुशङ्का वादीको हुई है कि—अर्जुनने कौरवोंको मारनेकी ज़ोरदार प्रतिज्ञा की हुई थीं; तब उसे मोह कैसे हो सकता था कि–उसे गीता सुनानी पड़ी; 'अतः महाभारतमें गीता प्रक्षिप्त है'। महाशय! मोहका कोई समय नियत नहीं हुआ करता। पहले प्रतिज्ञा कर चुकने पर भी समयपर पुरुषको मोह ऐसे धर दबाता है कि–उसे भूतपूर्व प्रतिज्ञा भी भूल जाती है। साधारण-सी घटनासे बातका बतंगड़ बन जाया करता है। श्रीवाल्मीकिको क्रौंचकी हत्या देखकर कितनी सहृदयता हो आई थी कि—उसके लिए २४००० श्लोक बन गये। तिब्बतका दलाईलामा जो रोज़का मांसभक्षी था; इन दिनों (२७-१०-६५) जब उसकेलिए मुर्गेको काटा जा रहा था; उसकी करुण आवाजको सुनकर उसपर इतना प्रभाव पड़ा कि उसने कहा कि–मैं आगेसे निरामिष भोजन किया करूंगा'। देखो उस तिथिका 'वीर अर्जुन'। यदि वादीकी दोषदृष्टिमात्रता न हो; तो ऐसे अवसर पर साधारण मोह भी असाधारण तूल पकड़ जाया करता है। इसी मोहसे हिटलरने रूससे सन्धि करके भी १९४०-४१ में रूस पर आक्रमण करके अपनी कब्र खुदवा ली। तब 'यह सारी बेतुकी' कथा किसी व्यक्ति द्वारा कल्पना करके 'अर्जुन-विषादयोग' नामसे डाल दी है। वादीकी ऐसी लघुशङ्का उसकी निर्बलताको ही व्यक्त कर रही है; उसकी आंखें भी दोषैकदृष्टिरूप मोतियाबिन्दसे कलुषित हो रही हैं, हमसे की हुई इस शल्यक्रियासे आशा है उसकी आंखें अब शुद्ध हो जाएंगी।

(३१) जो कि वादी कहता है कि—'क्या अर्जुन दोनों सेनाओंके

मध्य मामा-चाचा, पितामह-साले-ससुर सबको युद्धक्षेत्रमें देख भी सका था? यह तो कोरी कल्पनामात्र है। १८ अक्षौहिणीमें इन सबका परस्पर पचासों मील अन्तर रहा होगा; उन्हें युद्धके मैदानमें अर्जुन द्वारा देखने और अर्जुनको विषाद वा मोह होनेकी बात सर्वथा गप्प है। यह कहानी किसी चतुर व्यक्ति द्वारा गढ़ ली गई है' यह वादीकी मान्यताएं उसके ज्ञानकी अल्पताको बता रही हैं। वादी तो इस कहानी (अर्जुनविषाद-योग) को गीताको गिरानेकेलिए गप्प बताता है, पर उसके कई बजुर्ग तो महाभारतके कौरव-पाण्डवोंको भी गप्प बताते हैं; वे तो उन्हें आन्तरिक दुर्वृत्तियों तथा सुवृत्तियोंका युद्ध बताते हैं; वे तो यहां महायुद्धकी सत्ता ही नहीं मानते। तब क्या वादी उनकी बात मानकर महाभारतीय महायुद्धको ही काल्पनिक बतावेगा? यदि नहीं; तब उसकी ऊपरकी दलीलमें क्या दम है? आजकल जब दूरबीनों, टेलिस्कोपों, तथा अणुवीक्षण आदिसे दूर-दूरकी चीजें दीख जाती हैं, बहुत ऊपर ठहरे हुए हवाई-जहाज़से नीचेका युद्धक्षेत्रका फोटो खींच लिया जाता है; हिटलरने गतमहासुद्धमें एक यन्त्र बनाया था; जिससे वह अन्धेरेमें भी दो मील दूरका दृश्य वेख लेता था। आजकल राडार यन्त्रसे कईसौ मीलसे आने-वाले जहाज़का भी हुलिया पता लग जाता है, तब महाभारतकाल-जैसे वैज्ञानिक-आविष्कारोंके उत्कर्ष युगमें ऐसी किस चीज़की कमी थी, जो कि यह अल्पश्रुत वादी गीतापर आक्षेप करने बैठा!!!

अरे भाई! जब घर बैठा संजय भी दिव्यदृष्टिके सहारे सबको देख सका; और वह धृतराष्ट्रको महाभारतका पूरा दृश्य तथा योद्धाओंकी बातचीत भी पूरी बता सका; जबकि व्यासजी अन्धे धृतराष्ट्रको भी युद्धका दृश्य देखनेकेलिए दिव्य-दृष्टि दे रहे थे; पर स्वयं कुलक्षय देखना न चाहते हुए उसने यह स्वीकृत न किया; तब अर्जुनका वहां ठहरे हुए साले-ससुर, पुत्र-पौत्र (यहां 'पौत्र'से गर्भगत 'परीक्षित्' दूरदर्शितासे इष्ट है) मित्र-सम्बन्धी आदिको जो अपनी ही सेनामें थे; पितामह-आचार्य

आदि जो दूसरी सेनामें थे, देखनेमें क्या कठिनता हो सकती थी ? जिन-जिन योद्धाओंके नाम अर्जुनने बताये हैं; वे प्रसिद्ध तथा उसके अपने ही विशिष्ट योद्धा थे; उनकी वर्दी भी विशिष्ट होगी—यह स्वाभाविक है; तब उनके देखनेमें उस दूरवीक्षणादिके युगमें उसे क्या कठिनता थी ? तथा एक-दो के देखनेसे शेष अन्य सम्बन्धी न दीखनेपर भी बुद्धिमें आरूढ हो जाते हैं, यह भी स्वाभाविक है, तब वादीका उक्त आक्षेप कितनी ना-समझीका सिद्ध हुआ ?

कुरुक्षेत्रका मैदान भी बड़ा मैदान था; वादीने केवल कुरुक्षेत्र-स्टेशन को ही लड़ाईका मैदान समझ रखा हो; अयोध्याप्रान्त बहुत बड़ा था; पर वादी अयोध्या स्टेशनकी वस्तीको ही अयोध्या समझता होगा। महाशय ! यह सब शहरोंके परिवर्तन राजकीय-इच्छानुसार बदलते रहते हैं। देखिये—पहले भारत कितना बड़ा था; अब पूर्वी एवं पश्चिमी पाकिस्तान; एवं कश्मीरका कुछ आक्रान्त भाग, कच्छका कुछ भाग, वर्मा तथा तिब्वत आदिके कट जानेसे कितना छोटा होगया है; तब पीछेका व्यक्ति अबके भारतके मानचित्रको पिछले भारतके मानचित्र से मिलान करके भौंचक्का रह जावे; तो यह उसीकी अल्पज्ञताका दोष होगा। तुम अबकी दृष्टिसे इन स्थानोंको मत देखो। जो कि 'इतनी सेना इसमें कैसे समा सकी' यह तुम्हारे प्रश्न निकम्मे सिद्ध हो जाते हैं। धृतराष्ट्रका अवतार मत बनो।

फलतः वादी ईर्ष्या-द्वेषकलुषित बुद्धिको 'आलोक' ग्रन्थमालासे दिव्य-दृष्टि उधार लेकर स्वच्छ करा ले; तो उसको कोई भी दोष और कुछ भी अव्यस्थितता नहीं दीखेगी। हमने उसे 'दिव्य-दृष्टि' दे दी है, वह उसका उपयोग करे; तब उसे गीताकारको गालियां देनेकी जरूरत नहीं पड़ेगी। जिस गीताको सारा संसार मान्य-दृष्टिसे देखता है; उसको यह स्वयं वकवासी 'वकवास' का नाम कहता है। जिस भगवान् श्रीकृष्ण का लोहा सारा संसार मानता हैं; उसको यह मूर्ख 'नासमझ' बतानेकी

धृष्टता करता है; पर वस्तुतः यह सारे उसीके अपने दोष हैं; उन्हीं दोषोंको 'उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतैव भूः' न्यायसे यह वादी शीशेकी भाँति अन्यत्र संक्रान्त हुआ देखता है।

वस्तुतः इस वादीको दयानन्दीसमाजका नया-नया नशा चढ़ा हुआ है, और लोगोंकी दृष्टिमें तुच्छ भी अपने-आपको 'यशस्वी-ग्रन्थकार' समझता है। कुछ टूटे, अल्पश्रुत लोगोंकी नज़रमें चढ़ा हुआ यह 'निरस्तपादपे देशे एरण्डोपि द्रुमायते' का उदाहरण यह अपने-आपको भारी विद्वान् समझने लगा है। हमने उसके इस सारे कुसाहित्यमें दियासलाई लगा दी है; वह समझ जावे तो अच्छा है; नहीं तो समय आकर उसे स्वयं ही सीधा कर देगा। दोष होता है अपने मुखकी कुरूपताका, वा हिल जाने का; पर पुरुष चित्र खींचनेवाले वा चित्र-ग्राहक शीशेका दोष अपनी अल्पश्रुततावश समझता है। हमारे ही 'आलोक' के एक साधारण पाठकने टोंकसे उसे चुप करा दिया है।

महले श्रीभगवद्दत्तजी आदि बहुतसे दयानन्दी, पुराणादिके निन्दक थे, बहुत अध्ययन करनेपर अब उन्हें अपनी भूल मालूम हुई है; और अब उन पुराणोंका सम्मानसे उद्धरण देते हैं। श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल एक नवीन विचारवाले हैं, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालयमें पुराणगोष्ठीमें आहूत हुआ मैं एक दिन उस उत्सवका अध्यक्ष भी बनाया गया था; दूसरे दिन उनसे मुझे वाराणसी हिन्दुविश्वविद्यालयमें मिलनेका अवसर मिला, तो उन्होंने बताया कि—पहले हम भी पुराणोंको 'गप्प' बताकर उन्हें घृणा-दृष्टिसे देखा करते थे, पर अब हमें अनुसन्धान करनेपर मालूम हुआ है कि—पुराणोंके वगैर हम वेद तक पहुँचनेमें पङ्गु हैं। 'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्' इस वचनको वे ठीक मानते हैं, उन्होंने मुझसे न पूछनेपर भी यह स्वयं मुझे (४।६।६५ दिनाङ्कमें) कहा था। इस प्रकार यह वादी भी समय आनेपर स्वयं ठीक हो जायगा, यह हमें बड़ी सम्भावना है, पर यह होगा तब; जबकि—उसमें दयानन्दीपन कुछ ढीला

हो जायगा।

जिस प्रकार श्रीकृष्ण-भगवान्‌ने जरासन्ध आदिको एक स्थान पर इकट्ठे होने दिया; अन्तमें उसकी सारी सेना-समेत उन सभी दैत्योंका संहार कर डाला था; इस प्रकार यह वादी भी बहुत-सी दयानन्दियोंकी पुस्तकोंका सार लेकर तथा कुछ स्वयं भी लिखकर अपनी पुस्तकोंको बढ़ा रहा है, उसका हम धन्यवाद करते हैं, जिससे हम वह सब मसाला एक जगह मिल जानेसे उस दैत्य-समाजका संहार करते जा रहे हैं। इससे वादी जनताको इन शङ्काओंके समाधान जाननेका अवसर दे रहा है। अतः हम उसका पुनः धन्यवाद करते हैं। उसके अन्य ट्रैक्टोंके बचे हुए आक्षेपोंका निराकरण हम नवम पुष्पमें कर चुके हैं।

गीता-विषयक चार निबन्ध हैं; उनमें हम एकका प्रत्युत्तर दे चुके, शेष तीन हैं। इसके अतिरिक्त एक वेदविषयक बृहत् निबन्ध है। उस वेदविषयक निबन्धके हम भाग करके उनके बीचमें गीता-निबन्ध भी क्रम-क्रमसे देंगे। पाठकगण गीता एवं वेदचर्चाको सावधानतासे देखेंगे।

वेदचर्चा

(४) वेदस्वरूपनिरूपण (ङ)

(निरुक्तके आधार पर)

[इस स्तम्भमें गीता एवं वेदचर्चा चली-हुई है। यह दोनों विषय लम्बे हैं; इसमें नीरसता न हो जाय; अतः हम बीच-बीचमें दोनों विषय रखेंगे। गीताके बाद वेद तथा वेदके बाद गीता। अब वेदविषय रखते हैं।]

(१) 'आलोक' ग्रन्थमालामें हम वेदस्वरूपनिरूपण कर चुके हैं। चतुर्थ पुष्पमें 'वेदविषयमें भारी भूल' निबन्धमें हमने पाणिनिकी अष्टाध्यायी,

कात्यायन-पतञ्जलिके वार्तिक एवं महाभाष्य, यास्कके निरुक्त तथा निघण्टु, तथा स्वा.द.जीके ऋभाभू. आख्यातिक, सामासिक, अव्ययार्थभाग, स्त्रैणताद्धित आदि द्वारा हमने वेदका स्वरूप वतलाया था; इससे सिद्ध किया था कि—वेद ११३१ शाखाओं तथा ब्राह्मण, उपनिषद्, आरण्यकों का नाम है। इस विषयको पाकिस्तान वन जानेके समयमें 'सरस्वती' पत्रिकामें भी हमने प्रकाशित कराया था। उससे पूर्व 'सूर्योदय, संस्कृतम्, मधुरवाणी, सुप्रभातम् आदि संस्कृतपत्रोंमें भी हमने इस विषयमें विवेचन दिया था। उन्हीं दिनों लक्ष्मी-वेङ्कटेश्वर प्रेस कल्याण वम्बईमें छपे हुए सायणभाष्यवाले 'शतपथब्राह्मण' की भूमिकामें भी संस्कृतमें यह हमारा विषय प्रकाशित हुआ। 'श्रीस्वाध्याय' हिन्दी-पत्रमें भी हमारे इस विषयके बहुत निवन्ध छपे।

उक्त ४र्थ पुष्पमें ही 'श्रीपतञ्जलि एवं 'शन्नोदेवीरभिष्टये मन्त्र' यह एक निवन्ध हमारा प्रकाशित हुआ था; जिसमें महाभाष्यसे दिये हुए 'शं नो देवी' मन्त्रसे ही हमने शाखाओं एवं ब्राह्मणोंको वेद सिद्ध किया था। यह भी उसमें बताया गया था कि—जिन्हें आज चार वेद माना जाता है, वे भी चारों वेदोंकी एक-एक शाखा हैं।

फिर उक्त ग्रन्थमालाके छठे पुष्पमें भी हमारा 'वेदस्वरूपनिरूपण' प्रकाशित हुआ; जिसमें हमने स्वा.द.जीके ऋभाभू. में दिये गये छः हेतुओं का तथा प्रतिपक्षियोंके अन्य वहुत तर्कोंका जिनसे उनने ब्राह्मणभागका वेदत्व खण्डित किया था, प्रतिखण्डन करके ब्राह्मणभागको भी वेद सिद्ध किया था। इसमें हमने 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् एक ट्रैक्ट जो आर्यसमाजमें छपा था; जिसमें शाखा वा ब्राह्मणोंके वेद न होनेमें नवीन तर्क दिये गये थे; उनका भी प्रत्युत्तर दे दिया था।

फिर हमने ७म पुष्पमें भी 'वेदस्वरूपनिरूपण' (ग) दिया था, जिसमें हमने ११३१ संहिताओं तथा ब्राह्मणभाग जिसमें आरण्यक, उपनिषद् आदि भी आ जाते हैं उनकी वेदता सिद्ध की थी। उसके साथ

ही 'वेदसंज्ञाविमर्श' जो आर्यसमाजकी ओरसे प्रकाशित हुआ था; उसका भी प्रत्युत्तर देकर वेदके स०ध० प्रोक्त स्वरूपको प्रतिष्ठित किया था।

फिर 'आलोक' के अष्टम पुष्पमें भी हमने 'वेदस्वरूपनिरूपण' प्रकाशित किया था। इसमें शाखाओंका वेदत्व सिद्ध किया था। इन सब निबन्धोंमें हमने स्वा.द.जी तथा श्रीब्रह्ममुनिजी, श्री ब्र.द. जिज्ञासुजी, श्रीयुधिष्ठिरजी मीमांसक आदिके वेदविषयक विचारोंका समीक्षण करके स०ध०का पक्ष प्रतिष्ठापित किया था; और नवीन-नवीन विचार रखे थे।

फिर हमारे सामने इस विषयमें 'दयानन्द-सिद्धान्तप्रकाश' आया; इस पुष्पमें हमने उस पर भी पूरा विचार दे दिया है। आज हम वादि-प्रतिवादिमान्य 'निरुक्त' तथा निघण्टुको लेकर वेदका स्वरूप बताने जा रहे हैं; जिससे सभी शाखा एवं ब्राह्मणोंका वेदत्व विशद हो जावेगा।

हम लोग द्विज हैं; हमें वेदविषयका अनुसन्धान करके उसकी यथार्थता देखनी चाहिये कि-इस विषयमें दयानन्दियोंका मत ठीक है, वा सनातनधर्मका ? अत्र हम इस विषयका प्रारम्भ करते हैं।

(२) 'निरुक्त' तथा उसके प्रणेता श्रीयास्कको वादी-प्रतिवादी दोनों ही मान्य मानते हैं; और निरुक्तको वेदाङ्ग मानते हैं। निघण्टुको वेदोंके पदोंका संग्रह होनेसे वेद माना जाता है; जैसे गो-यूथसे अलग हुई-हुई भी गाय, गाय ही मानी जाती है। इसलिए निघण्टुका नाम **'समाम्नाय'** आता है; आम्नाय-समाम्नाय शब्द वेदवाचक हैं—यह सभी मानते हैं। इसलिए निरुक्तके आरम्भमें ही यह वाक्य आया है—

'समाम्नायः समाम्नातः, स व्याख्यातव्यः' (१।१।१) इस वाक्यका अर्थ हम स्वा० ब्रह्ममुनिजी विद्यामार्तण्डके 'निरुक्त-सम्मर्शः' से देते हैं। यह आर्यसमाजमें मान्य विद्वान् हैं। एक बार इनने 'सरस्वती' में प्रकाशित हमारे वेदविषयक निबन्धपर 'सार्वदेशिक' में एक निबन्ध लिखा भी था; अतः इनका कथन आर्यसमाजियोंको अवश्य मान्य होगा। वे लिखते हैं—

'समाम्नायः—विशिष्टो वैदिकपदवर्गो गवादिर्देवपत्न्यन्तः। आम्नायो-वेदः-तद्वचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम्' (वैशे० १।१।३)। निरुक्तेपि 'आम्नाय-वचनाद् अहिंसा प्रतीयेत' (१।५) इति यथा। 'संसिद्ध-आम्नाये समाम्नायः'।

इससे परिव्राजकजीने स्पष्ट कर दिया है कि—निघण्टु ('गौ'से लेकर 'देवपत्नी' तक) का संग्रह वेदसे किया गया है। इसको वे स्वयं आगे भी स्पष्ट करते हैं—'तमिमं समाम्नायं निघण्टव इति आचक्षते' (नि०)—'तमेतं समाम्नायं-वेदे सम्यक् सिद्धं गवादिदेवपत्न्यन्तं पदवर्गं निघण्टव इनि नामतः कथयन्ति'।

इससे विद्यामार्तण्डजीने बताया कि—'गौः' से लेकर 'देवपत्नी' तक के निघण्टुके जो पद हैं; वे वेदसे लिये गये हैं। फिर वे आगे 'छन्दोभ्यः समाहृत्य-समाहृत्य समाम्नाताः' इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—'छन्दोभ्यः-मन्त्रेभ्यः सम्यग् आहृत्याहृत्य संगृहीताः'। यहां उन्होंने बताया है कि—निघण्टुके पद मन्त्रों अर्थात् वेदमन्त्रोंसे संगृहीत किये गये हैं। दयानन्दिसमाजमान्य श्रीभगवद्दत्तजीने भी अपने निरुक्तभाष्यमें 'छन्दोभ्यः' का अर्थ 'मन्त्रेभ्यः' किया है। और 'आम्नाय' पदसे वे 'वेद' अथवा किसी भी विषयका 'मूलशास्त्र' अभिप्रेत मानते हैं। दयानन्दि-समाज अपने आपको वैदिक-समाज कहता है, ऐसा समझना चाहिये कि—वह अपने आपको वेदका ठेकेदार मानता है; और सनातनधर्मियोंको 'पौराणिक' शब्दसे कहता है।

यह दयानन्दी समाज वेदकी चार संहिताओंको जो क्रमसे शाकल्य, माध्यन्दिनी, कौथुमी, शौनकी शाखाएं हैं—चार वेद मानता है, इनमें वह न कुछ न्यूनता मानता है, न प्रक्षिप्तता। शेष शाखाओं-ब्राह्मणोंको वह वेद नहीं मानता; स्वा.द.जी उन्हें लोक अर्थात् अवेद मानते हैं, और मूलवेदकी व्याख्या मानते हैं, जैसेकि—श्रीभगवद्दत्तजीने अपने वैदिक वाङ्मयके इतिहासमें दिखलाया भी है।

अब हम उसी निघण्टुके कुछ पदोंका संग्रह करेंगे; और उसपर जो निगम निरुक्तकारने उद्धृत किये हैं; उनका भी कुछ संग्रह करेंगे। यदि वे श्रीयास्कसे उन-उन अर्थोंमें प्रयुक्त पद तथा उनके निगम इन वर्तमान चार संहिताओंमें न मिलें; तो मानना पड़ेगा कि—वेदकी इयत्ता **केवल यह चार पोथियां नहीं**; किन्तु लुप्त संहिता वा ब्राह्मण भी चार वेद हैं। यदि वे निगम इन चार संहिता-पोथियोंसे अन्य संहिताओं वा ब्राह्मण, आरण्यक एवम् उपनिषदोंमें मिलें; तब मानना पड़ेगा कि—वे भी चार वेद हैं।

दयानन्दी लोग इन वर्तमान चार पोथियोंको **मूलवेद** मानते हैं; शेषको शाखाएँ तथा इनका **व्याख्यान** मानते हैं। यदि उन नैघण्टुक पदों का उद्धरण विपक्षियोंके चार मूलवेदोंमें न मिले; किन्तु उनके अनुसार तथाकथित शाखाओंमें मिले, और वे शाखाएँ उन मूलवेदोंका वादियोंके अनुसार व्याख्यान हैं; तब उन्हें **मूलवेदोंके वे मूलमन्त्र दिखलाने पड़ेंगे,** जिनका वे **शाखामन्त्र व्याख्यान हैं**। उनके अनुसार शेष शाखामन्त्र तो मूलवेदके मन्त्र जैसे होंगे; और वह **निघण्टु-पद** जो उनके मूलवेदोंमें नहीं मिला; और उसके अनुसार शाखामें मिला है, यह मूलवेदके उस पदका व्याख्यान होगा—यह वादियोंको दोनों पूर्ण मन्त्रोंकी तुलना करके दिखलाना पड़ेगा, क्योंकि वादी लोग मूलवेद तथा शाखाओंके कुछ **थोड़े भिन्न पदों वाले** मन्त्रोंको व्याख्येय वा व्याख्यान मानकर वैसा ही दिखलाया करते हैं; देखो 'वैदिक वाङ्मयका इतिहास' (प्रथमभाग पृ. ७५)।

(३) निरुक्तमें मन्त्रोंकी सार्थकता-अनर्थकताका प्रकरण आया है। यहाँपर विपक्षी लोग **'मन्त्र'** शब्दसे मन्त्रभाग, शुद्ध **चार मूल वेद-संहिताओं** को लेते हैं। सो उस प्रकरणमें जो मन्त्रोंका उद्धरण दिया गया है, पहले उन्हींको देखना चाहिये कि वे कहाँ-कहाँके हैं?

'**उरु प्रथस्व**' इति प्रथयति, **प्रोहाणि**-इति प्रोहति' (नि. १।१५)

यहां दो मन्त्र दिये गये है। इनसे पहले 'उरु प्रथस्व' मन्त्रको श्रीब्रह्ममुनि जीने यजुः (१।२२) का दिखलाया है। 'प्रोहाणि' को यजुः (२।१५) का दिखलाया है। पर उक्त संख्यामें **'प्रोहामि'** पाठ है, **'प्रोहाणि'** नहीं। श्रीब्रह्ममुनिजी 'प्रोहाणि' इस निरुक्तके पाठको भ्रष्ट और प्रमादवश प्रचलित मानते हैं; पर यह बात गलत है। 'प्रोहाणि' मन्त्र निरुक्तकारके **अनुकूल है**। 'उरु प्रथस्व' यह लोट्लकारवाला मन्त्र श्रीयास्कने संगृहीत किया है; इसी प्रकार 'प्रोहाणि' यह मन्त्र भी साहचर्यवश लोट्लकारका ही संगृहीत किया हैं; लट्लकारवाला नहीं। सो लोट्लकार वाला **'प्रोहाणि' मन्त्र जिस संहितामें होगा; वह मूलवेद माना जावेगा**। पर वर्तमान संहितामें 'प्रोहामि' मिलता है; वह 'प्रोहाणि' की व्याख्या होगी; सो इससे सिद्ध हुआ कि—सभी लुप्त-अलुप्त शाखाओं-ब्राह्मणोंका नाम वेद है। **वैदिक-यन्त्रालयमें** छपे निरुक्तमें **'प्रोहाणि'** ही पाठ दिया गया है; उसे ही युक्त माना गया है; पर उसका पता नहीं दिया गया है; इससे स्पष्ट है कि—वे उसे किसी **लुप्त मन्त्र-संहिताका** उद्धरण मानते है। श्रीभगवद्दत्तजीने भी अपने निरुक्तभाष्यमें 'प्रोहाणि' माना है, पर उसकी तुलनाकेलिए 'प्रोहामि' को दिखलाया है।

(४) आगे निरुक्तमें उक्त प्रकरणमें 'ओषधे! **त्रायस्वैनम्**' यह मन्त्र दिया गया है। वैदिकयन्त्रालयके निरुक्तमें उसका पता (यजुः ४।१, ६।१५) का दिया गया है। श्रीब्रह्ममुनिजीने भी इसका पता (यजुः ४।१ का) दिया है; पर यह गलत है; क्योंकि—उक्त मन्त्रमें उक्त संहितामें 'त्रायस्व' तो है; पर **'त्रायस्वैनम्' नहीं** है। सो जिस संहितामें 'त्रायस्वैनम्' मिले; उसीको मूल वेदसंहिता मानना पड़ेगा। सो कृष्णयजुर्वेदसंहिताओं (मैत्रायणीसं. १।२।१, १।२।६०, १।२।११०, ३।६।३, काठकसं. ६।३।६, तथा तैत्तिरीयसं. १।२।१।१, १।३।५।१) आदिमें तो **'त्रायस्वैनं'** पाठ **मिलता है**; तब कृष्णयजुर्वेदसं. को मूलवेद मानना पड़ेगा; और शुक्लयजुर्वेदसं. (माध्यं.) आदिको वादियोंके अनुसार शाखा। क्योंकि इतिहास

में भी प्रसिद्ध है कि—पहले कृष्णयजुर्वेद ही वेद था; उसीको श्रीयाज्ञवल्क्यने अपने गुरुसे पढ़ा था। पर गुरुजी याज्ञ.से कारणवश नाराज़ हो गये; उन्होंने वह वेद उससे वापिस करा लिया; तब याज्ञवल्क्यने तपस्या करके अन्य यजुर्वेद सूर्यसे प्राप्त कर लिया। इसलिए याज्ञवल्क्यके शतपथमें तै.सं. की आलोचना आई है। वापिस किये हुएको आलङ्कारिकतासे वान्त (वमन किया) मानकर तथा ब्राह्मणका मिश्रण होनेसे, मन्त्र एवं ब्राह्मणके भेदमें बुद्धिकी मलिनता होना समझकर उसका नाम 'कृष्ण' रख दिया गया। उसकी ८६ संहिताएँ थीं। उसके बादके मिले हुए यजुर्वेदमें ब्राह्मणका मिश्रण न होनेसे बुद्धिपर ज़ोर न पड़नेके कारण उसका नाम 'शुक्ल' रख दिया गया। उसकी १५ संहिताएँ थीं, कृष्णयजुर्वेद का मुख्य समष्टि नाम तैत्तिरीयसंहिता रखा गया, कि—उस वमनको तित्तिरिरूप मुनियोंने ग्रहण कर लिया था। पर भिन्न-भिन्न व्यष्टि नाम मैत्रायणीसं., काठकसं. आदि रखे गये। इनमें ब्राह्मण भी साथ था।

याज्ञवल्क्यको प्राप्त हुई शुक्लसंहिताओंका मुख्य एवं समष्टि नाम वाजसनेयीसंहिता रखा गया; क्योंकि वाजसनि-यह याज्ञवल्क्यका नाम था; उसके नामसे यह नाम रखा गया। फिर जिस-जिस शिष्यको उन्होंने दिया; उनके नामसे माध्यन्दिनीसं. काण्वसं. आदि नाम रखा गया। इसलिए मूलवेद तैत्तिरीयसं. को ही मानना पड़ेगा; भाषा-विज्ञान जानने वालोंके अनुसार शुक्लसे कृष्णकी भाषा प्राचीनतर भी है। इसलिए निरुक्तकारने उसी कृष्ण यजु: का उद्धरण दिया—'त्रायस्वैनम्'। महाभाष्यकार तथा अन्य विद्वान् भी 'शृणोत ग्रावाण:' आदिरूपमें कृष्णयजुर्वेद संहिताओंका ही वेद (ऋषि) नामसे उद्धरण देते है, इसलिए वैदिक यन्त्रालय तथा श्रीब्रह्ममुनिजी आदि जो कि 'त्रायस्वैनम्' को यजु: ४।१ के नामसे देते है वह केवल इसलिए कि-उनका वेदविषयक पक्ष साधारण जनताकी दृष्टिमें कहीं रसातलमें न चला जाय। वस्तुत: 'त्रायस्वैनम्' यह कृष्णयजुर्वेदकी संहिताओंका उद्धरण है; अत: वह भी

मन्त्रभाग तथा विपक्षियोंके अनुसार वेद सिद्ध है।

इसीलिए श्रीभगवद्दत्तजीने अपने निरुक्तभाष्यमें 'ओषधे ! त्रायस्वैनं' को यजु: ४।१ न लिखकर उसे तो मै.सं. ३।९।३ का तथा 'स्वधिते मैनं हिंसी:' को यजु: ४।१ के पतेसे दिया है, तदनुसार उक्त उद्धरण मै.सं. का होनेसे कृ.यजु: भी यजुर्वेद सिद्ध हुआ।

(५) अब आगे देखिये—निरुक्तमें आगे मन्त्र का उद्धरण दिया है—'एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीय:' इसका पता वैदिकयन्त्रालयके निरुक्तमें नहीं दिया गया है। इसका यह भाव हुआ कि—यह उद्धरण किसी लुप्त संहिताका है; जब ऐसा है; तो ११३१ मन्त्र-संहिताएं भी मन्त्रभाग, विपक्षियोंके अनुसार वेद सिद्ध हो गईं, पर श्रीब्रह्ममुनिजीने इसका पता (तै.सं. १।८।६।१) लिखा है; पर यह गलत है, इस पतेपर तो 'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे' (१।८।६।४) यह मन्त्र है। निरुक्तकारसे बताये हुए मन्त्रसे इसकी शब्द-योजना भिन्न है। वेदको शब्द-प्रधान माना जाता है; और उसकी योजनाको ही वह-वह वेद माना जाता है। इस योजना-भेदको ही महाभाष्यकारके मतमें 'शब्दानुपूर्वीकी अनित्यता' बताया गया है। इसी योजनाके भेदको वे काठकसंहिता, माध्यन्दिनी, शौनकी आदि बताते हैं। पर इससे वे उनको छन्द (वेद) से पृथक् नहीं करते। श्रीब्रह्ममुनिजीका लिखा तै.सं.का पता ठीक भी माना जावे; तब भी 'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधि:' के अनुसार कृष्णयजुर्वेद भी मन्त्रभागात्मक वेद माना जावेगा। फलत: निरुक्तसे उद्धृत इस मन्त्रसे सिद्ध हुआ कि—निरुक्तकार तथा भाष्यकारादि अन्य प्राचीन आर्यसमाजाभिमत केवल चार वर्तमान संहिताओंको मूलवेद नहीं मानते थे; उनकी ४ मूलवेदसंहिताएँ अन्य थीं। वे आर्यसमाजसे शाखारूपमें मानी हुई संहिताओंको भी वेद मानते थे। तब स.ध.का ही पक्ष सिद्ध हुआ।

आर्यसमाज जिन चार वेदसंहिताओंको मूलवेद मानता है; उनमें ऋसं. शाकल्य-संहिता है, निरुक्तकारने बल्कि उसका खण्डन किया है।

देखिये—'वायः–वेः पुत्रः वा इति च, य इति च चकार शाकल्यः, उदात्तं त्वेवमभविष्यत्, असुसमाप्तश्च अर्थः' (नि. ६।२८) अर्थात्—शाकल्यने अपनी संहितामें 'वायः' इस एक पदको दो पद बना दिया, इस पर श्रीयास्क कहते हैं कि—यह ठीक नहीं है; ऐसा होनेपर यहां 'तिङ्ङतिङः' (पा. ८।१।२८) से निघात (सर्वानुदात्त) न हो सकता; क्योंकि—'यद्वृत्तान्नित्यम्' (अष्टा. ८।१।६६) से 'वा' और 'यः' यह पृथक् पद होनेसे यत् शब्दके योगसे सर्वानुदात्तका निषेध होकर 'न्यधायि' यह तिङ् (आख्यात) उदात्त बन जाता, सर्वानुदात्त न बनता; पर यह तिङ् सर्वानुदात्त है, 'वायो' पदके 'यः' के उदात्त होनेसे 'न्यधायि' इस पहले अनुदात्तको स्वरित हो गया है। शेष अनुदात्तोंको प्रचय हो गया है। अन्यथा यहां उदात्त रहता। और 'यः' पृथक् करनेसे अर्थ भी अस्पष्ट रहता है। यही यास्कीय इस वचनका अर्थ श्रीब्रह्मसुनि आदि सभी दयानन्दी मानते हैं।

पर आर्यसमाजाभिमत ऋसं. में 'वा और यः' **यह दो पृथक् पद है,** वैदिकयन्त्रालयके निरुक्तमें भी 'वा यो इति शाकल्यः' इस प्रकार आर्यसमाजके ऋग्वेदको शाकल्य-शाखा माना है; क्योंकि—उसी ऋग्वेदमें 'वा यो' यह **दो पृथक् पद हैं,** एक पद नहीं। आर्यसमाजी श्रीविश्वेश्वरानन्दजीने भी वेदोंकी पदसूचीमें यह **भिन्न-भिन्न पद माने हैं।** बल्कि ऋसं. में ही नहीं; किन्तु आर्यसमाजाभिमत अथर्ववेदसंहितामें भी ऐसे मन्त्रमें दो पद ही हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि—सभी लुप्त-अलुप्त ११३१ शाखा तथा ब्राह्मण, आरण्यक उपनिषदादि वेद हैं–यह सनातनधर्मका अखण्डनीय सिद्धान्त है, और आर्यसमाजका पक्ष निर्मूल एवं खण्डनीय है।

(६) अब पाठक इसी प्रकरणका अन्य मन्त्र देखें—। इसी मन्त्रभागके सार्थक्य प्रकरणमें 'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' यह मन्त्र निरुक्तमें दिया गया है। अब इसकी भी परीक्षा करनी चाहिये—वैदिकयन्त्रालयके

निरुक्तमें इसका पता (शत. १।३।२।३ का) दिया गया है। इससे आर्य-समाजके मतका खण्डन होकर 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद-नामधेयम्' यह स.ध. सिद्धान्त सिद्ध हुआ। इससे यह सिद्ध होता है कि–'मन्त्र' से 'ब्राह्मण' ... लिया जा सकता है। श्रीभगवद्दत्तजी तथा श्रीब्रह्ममुनिजीने अपने निरुक्त-भाष्यमें इसका पता (तै.सं. ६।३।७।१) यह लिखा है। इससे भी आर्य-समाजके पक्षका खण्डन होता है; तब कृष्णयजुर्वेदको भी उसे वेद ... मन्त्रभाग मानना पड़ जायगा, जिसे वे नहीं मानते। यही मन्त्र ... मैत्रायणीसं. (१।४।११) में भी है। तब **आर्यसमाजका वेदविषयक** ... उनके मान्य **निरुक्त द्वारा ही खण्डित हो गया।** कृष्णयजुर्वेदके श्रौतसूत्रों ... भी यह मन्त्र उद्धृत है। इस मन्त्रभागके सार्थक्य-प्रकरणमें जिसे आर्य-समाज मन्त्रसे वेद मानता है; आर्यसमाजके मतका पूर्ण खण्डन हो गया, यह 'आलोक' के वेद-विद्वान् पाठकोंने देख लिया होगा।

(७) वादिप्रतिवादिमान्य निरुक्तकार भी हमारे पक्षको मानते हैं। वे 'ऋक्' कहकर वा 'मन्त्र' कहकर जो भी उद्धरण देते हैं; वह केवल आर्यसमाजसम्मत **चार वेद पोथियोंका ही** उद्धरण नहीं देते; बल्कि ... सभी संहिताओंका भी वे विना नाम दिये उद्धरण देते हैं; इससे स्पष्ट है कि–सभी ११३१ शाखाएँ तथा ब्राह्मण आरण्यक आदि वेद हैं। ... श्रीयास्कके उद्धरण 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाके गत पुष्पोंमें दे चुके हैं; अब प्रायः उनके नवीन उद्धरण यहाँ दिये जावेंगे।

गत पुष्पोंमें हम नैघण्टुककाण्डके निघण्टुके आष्ठा, शोकी, बलिशा... वेकुरा, सर्णीकम्, स्वृतीकम्, वुर्वुरम्, यहः, भविष्यत् (जलं), मल्मलाभव... करन्ती, साचीवित्, निघृष्वः, जातरूपम्', आदि शब्द उद्धृत करके ... चुके हैं कि–यह श्रीयास्क तथा श्रीब्रह्ममुनि-श्रीभगवद्दत्त आदि आर्यसमाजी विद्वानोंके अनुसार वेदोंसे उद्धृत पद हैं; पर वर्तमानकी चार वेद-पोथियोंमें नहीं मिलते, वे सब अन्य शाखा, ब्राह्मणों, आरण्यकों ... उपनिषदोंमें मिलते हैं; और मिल सकते हैं, इससे यह सिद्ध हुआ कि–

यह सारा ही साहित्य वेद है। इन्हें तथा अन्य पदोंको देवराजयज्वाके निघण्टु-व्याख्यानमें देखो।

अब हम नैगमकाण्डके निघण्टुके कई पद संगृहीत करते हैं; पहले निरु. ४र्थाध्यायके पद सगृहीत करते हैं। जिनके श्रीयास्कसे दिये हुए निगम वर्तमान वेदोंकी चारों संहिताओंमें नहीं मिलते; उनसे भिन्न संहिताओंमें मिलते हैं, वा लुप्त संहिताओंमें वा ब्राह्मण, आरण्यकों, उपनिषदोंमें मिल सकते हैं; इससे स०ध० के पक्षकी सिद्धि हैं कि—यह सारा संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदादि साहित्य वेद है। अब उन पदोंको उद्धृत किया जाता है।

(८) 'सुविते' (२८) यह पद निरुक्तमें (४।१७) में आया है। इसका निगम श्रीयास्कने 'सुविते मा धाः' इत्यपि निगमो भवति' यह दिया है; पर आर्यसमाजाभिमत वेदमें 'स्विते मा धाः' (यजुःमाध्यं. ५।५) इस रूपमें मिला है, निघण्टुप्रोक्त पदके रूपमें नहीं। पर यह 'सुधिते' कृ.यजुः मैत्रायणीसंहिता (१।२।७) में आया है। दोनों मन्त्रपाठोंमें भी भेद है। इससे सिद्ध हुआ कि—निघण्टुका यजुर्वेद भी कृष्णयजुर्वेद था, शुक्ल नहीं। इससे कृष्ण-शुक्ल दोनों यजुः-संहिताएँ वेद सिद्ध होती है। यास्कके मतमें यह मूलवेद है।

(९) अब 'दयते' (२९) (निरु. ४।१७) इस आत्मनेपदी धातु का शानजन्त प्रयोग :दयमानः' देखिये। इसका श्रीयास्कसे 'दयति उपदया अर्थमें प्रयोग कृष्णयजुर्वेद मैत्रायणीसंहिता (४।१३(७)८)में मिलता है। निरुक्तके नवमाध्यायके अन्तमें स्थित 'देवी ऊर्जाहुति' (३६) यह पद भी पूर्वोक्त मै.सं. में मिले हैं, जैसे 'देवी ऊर्जाहुती इषमूर्जमन्याः...नवेन पूर्वं दयमानाः' यह मन्त्र कृष्णयजुर्वेद मैत्रायणीसं. (४।१३।८) तथा कृष्ण-यजुर्वेद काठकसं. (१९।१३) तथा तै. ब्रा. (३।६।१३) में मिलता है। शुक्लयजुर्वेदमाध्यं.सं. में तो 'देवी ऊर्जाहुती दुघे सुदुघेन्द्रे' (२१।५२) इस भिन्न रूपमें मिलता है। दोनों मन्त्रोंमें परस्पर भारी भेद है। शुक्लमें इस

मन्त्रमें 'दयमानाः' वाला अंश भी नहीं। वादिप्रतिवादिमान्य निरुक्तकारने पूर्वोक्त मन्त्र ही दिया है; अतः स्पष्ट है कि—श्रीयास्कके मतमें कृष्णयजुर्वेद वेद है। तब वादियोंका केवल वर्तमान चार संहिताओंको ही वेद मानना पक्ष कट गया। तभी तो निरुक्तमें मन्त्रभागकी सार्थकता-प्रकरणमें 'ओषधे ! त्रायस्वैनं' यह कृष्णयजुर्वेदका ही मन्त्र दिया है, 'ओषधे ! त्रायस्व' यह शुक्लका मन्त्र नहीं दिया गया।

(ख) इसी 'दयमानः' का अर्थ श्रीयास्कने 'डयमानः' करते हुए 'इमे सुतां इन्दवः...मां वायसो दोषा दयमानो अबूबुधत्' (नि. ४।१७) यह निगम दिया है। यह दयानन्दियोंसे सम्मत चारों संहिताओंमें नहीं है, इसलिए वैदिकयन्त्रालयके तथा श्रीभगवद्दत्तजीके भाष्य वाले निरुक्तमें इसका सङ्केतस्थल (पता) नहीं लिखा गया है, परन्तु स्वा. ब्रह्ममुनिजीने इसे खिल (१।२।२१) का बताया है; इससे सिद्ध हुआ कि खिल (परिशिष्ट) प्रक्षिप्त नहीं होते; किन्तु उसी पुस्तकके होते है। सो वे भी वेद हुए; तभी तो श्रीयास्कने अन्यत्र भी खिल उदाहृत किये हैं। इसलिए मनुस्मृति (३।२३२) में पितृकर्ममें खिलोंका पाठ भी आदिष्ट किया है।

(१०) 'क्राणाः' (४३) (निरु. ४।१९) इस शब्दका श्रीयास्कने 'गोभिः क्राणा अनूषत' (नि. ४।१९) यह निगम दिया है। यह आर्य-समाजियोंसे मानी हुई संहिताओंमें नहीं है। उसमें 'गोभिः क्राणा अभिद्यवः' (ऋ. १।१३४।२) यह पाठ है। इससे सिद्ध हुआ कि—यही चार पोथियां वेदकी सीमा नहीं है; किन्तु ११३१ संहिता, इतने ही ब्राह्मण, इतने ही आरण्यक, इतनी ही उपनिषदें वेद हैं। तो उक्त मन्त्र किसी लुप्त ऋग्वेद-संहिता वा ब्राह्मणमें होगा। इससे यह भी मालूम पड़ता है कि—श्री-यास्ककी अभिमत ऋग्वेदसंहिता कोई अन्य थी। ठीक ही है—'एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्' (महा. पस्प.)। ऋग्वेदकी २१ संहिता सभी ऋग्वेद हैं। आजकल तो १-२ मिल रही हैं।

(११) अब 'शंयोः' (४८) पदको देखिये। यहाँपर श्रीयास्कने 'शंयोः' का अर्थ 'बार्हस्पत्य' करते हुए 'तच्छंयोरावृणीमहे' इत्यादि निगमो भवति' (नि. ४।२२) यह उद्धरण दिया है, यह आर्यसमाजसम्मत वेदोंमें नहीं है, किन्तु कृष्णयजुर्वेद मैत्रायणीसंहिता (४।१३।१०) तथा कृष्ण-यजुर्वेद तैत्तिरीयसंहिता (२।६।१०।२) में है। हम पहले दिखला चुके हैं कि—श्रीयास्क कृष्णयजुर्वेदके उद्धरण प्रायः देते हैं; तब श्रीब्रह्ममुनिका यह कहना कि—'तच्छंयोः सुम्नमीमहे' (ऋ. १।४३।४) यही मन्त्र श्रीयास्कको इष्ट होगा; 'मैत्रायणीसंहिताका किसी शाखावालेने यास्कसे पीछे रखा होगा' यह गलत सिद्ध होगया। तब क्या पूर्वोक्त सभी स्थलोंमें कृष्णयजुर्वेदके उद्धरण लिपिकरके प्रमाद हैं? क्या इसलिए कि—इससे आर्यसमाजका पक्ष कटता है? श्रीभगवद्दत्तजीने तो उसे तै.सं. २।६।१०।२ का ही माना है। इससे हमारा हीं पक्ष सिद्ध हुआ। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि—पहले समयमें आर्यसमाजकी मानी चार संहिताओंमें विद्वानोंकी इतनी आस्था नहीं थी, जितनी कृ.य. मैत्रायणीं आदि अन्य संहिताओंमें। अतः वेदविषयमें आर्यसमाजका मत अत्यन्त निर्बल सिद्ध हुआ।

(१२) अब हम निरुक्तके नैगमकाण्डके पञ्चमाध्यायके कई वेदपदोंका संग्रह करते हैं। पाठकोंको जानना चाहिये कि—वादिप्रति-वादिमान्य निरुक्त जबकि वेदका अङ्ग है, तब उससे वेदके ही पदसंग्रह करने हैं; और उसमें उद्धरण भी वेदोंसे देने हैं, पर जब वह सभी शाखा-ब्राह्मणोंका विना विशेष नाम दिये उद्धरण देता है, इससे स्पष्ट है कि—यह सभी साहित्य मूलवेद, चार वेद हैं।

(ख) अग्नि, वायु आदिको पवित्र बतानेमें श्रीयास्कने 'पवित्र' (३४) शब्दका वेदमन्त्र दिया है—'अग्निः पवित्रं स मा पुनातु; वायुः, सोम इन्द्रः पवित्रं ते मा पुनन्तु' (नि. ५।६) यह प्रतिपक्षियोंके तथाकथित मूलवेदोंमें नहीं है, सो यह किसी शाखामें होगा। वह शाखा भी मूलवेद

होगी। यदि वह शाखा मूलवेदका व्याख्यान है; तो वह मूलवेदका कौन मन्त्र है, जिसका यह मन्त्र व्याख्यान है? यह मन्त्र आपस्तम्ब-श्रौतसू (१२।१९।६) में उद्धृत है।

(१३) 'काणुका' (४२) का निगम बताते हुए श्रीयास्कने (नि. ५।११) 'त्रिंशत्' से याज्ञिकोंके 'उक्थपात्र' न मानकर नैरुक्तोंके अनुसार शुक्लपक्ष, कृष्णपक्षके ३० दिन बताये है। उसमें 'तथापि निगमो भवति' कहकर श्रीयास्कने 'यमक्षितिमक्षितयः पिबन्ति' 'यथा देवा अंशुमप्याययन्ति' यह दो निगम दिये हैं; यह निगम वादियोंके कथाकथित मूलवेदमें न होकर सनातनधर्मियोंके मूलवेदमें हैं। पहला कृ.य. तैसं. २।४।१४।१, मैत्रा. ७।२ का है, श्रीभगवद्दत्तजीने इसे यजुः (५।७) का बताया है, पर वह उसमें नहीं हैं। दूसरा भी वहीं (कृ.य.) का है। विपक्षी लोग अपने वेदमें इसका मूल दिखलावें। इससे स्पष्ट है कि—सभी शाखा मूलवेद हैं।

(१४) 'अध्रिगुः' (४३) निघण्टुका पद उद्धृत करते हुए श्रीयास्कने 'अध्रिगो शमीध्वं सुशमि शमीध्वं शमीध्वमध्रिगो' (नि. ५।१०) यह प्रशासन अर्थमें वेदवचन दिया है। पर यह निगम दयानन्दियोंके तथाकथित मूलवेदमें नहीं, किन्तु कृ.य. मैत्रा.सं. ४।१३।४ तथा ऐतरेयब्रा. (२।७।११) में है। विपक्षी इसे अपने तथाकथित वेदमें दिखलावें। तब 'मन्त्रब्राह्मण-योर्वेदनामधेयम्' यह सनातनधर्मियोंका सिद्धान्त सिद्ध हुआ।

(१५) 'आपातमन्युः' (४५) इस पदप्रदर्शनके प्रसङ्गमें 'धाना तथा ऋजीषका निगम दिखलाते हुए 'बध्नाँ ते हरी धाना उपऋजीषं' यह वचन श्रीयास्कने (नि. ५।१२) में दिया है। निगम स्वा.द.जी वेदको कहते हैं। यह कुन्तापाध्यायवा प्रैषाध्याय (६६) है। वादी इसे अपने मूलवेदमें दिखवावें। यही 'घसिभसोर्हलि च' (पा. ६।४।१००) वैदिक सूत्रका उदाहरण भी है। वैदिकयन्त्रालयवाले तथा श्रीभगवद्दत्तजी वाले निरुक्तमें इसका पता नहीं दिया है।

(१६) अब निरुक्तके छठे अध्यायसे निघण्टुके कुछ पद दिखलाये जाते हैं—

(ख) 'आशीः' (३५) का निगम श्रीयास्कने यह दिखलाया है—'सा मे सत्याशीर्देवेषु' (नि. ६।८)। यद्यपि वादियोंके तथाकथित वेदमें भी 'आशीः' शब्द मिलता है; तथापि उसे न देकर श्रीयास्कने कृ.य. मैत्रायणीसं. १।४।५, कृ.य.काठ.सं. ५।३, ३२।३, तथा कृ.य.तै.सं. ३।२।७) से दिया है; इससे स्पष्ट है कि—वादिप्रतिवादिमान्य निरुक्तकारका वेदविषयक मत सनातनधर्मियोंवाला ही है। नहीं तो वह वेदसे भिन्न ग्रन्थका होनेपर उसका विशेष नाम लिखता; पर न लिखनेसे स्पष्ट है कि—वे सभी शाखाओं-ब्राह्मणोंको वेद ही मानते हैं।

(१७) 'दुरितम्' (४७) का निगम देते हुए श्रीयास्कने 'अतिक्रामन्तो दुरितानि विश्वा' (नि. ६।१२) यह उद्धरण दिया है। 'अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि' (अथर्व. सं. १२।२।२८) यह मन्त्र जिसे प्रतिपक्षी तथाकथित मूलवेदका कहते है—का उद्धरण न देकर श्रीयास्कने अथर्ववेद-पैप्पलादसंहिता (१७।३२।८) का बिना नाम दिये उद्धरण दिया है, इससे स्पष्ट है कि—यास्कके मतमें यह (अथर्व पै.सं.) भी वेद है। तब जो प्रतिपक्षी लोग अथर्व. पै. सं. को वेद नहीं मानते, उनका यास्कने मुखभञ्जन कर दिया।

(१८) 'गल्दा' (१०६) शब्दकी भिन्न विभक्तिका प्रयोग दिखलाते हुए श्रीयास्कने 'आ त्वा विशन्त्विन्दव आगल्दा धमनीनाम्' (नि. ६।२४) यह मन्त्र उद्धृत किया है; पर यह आर्यसमाजाभिमत वेदमें नहीं। वैदिकयन्त्रालयके निरुक्तमें यहां ऋ. १।१५।१ पता गलत दिया है, क्योंकि उसमें 'गल्दा' शब्द ही नहीं; इस प्रकार ऋ. ८।९२।२२ में भी नहीं। श्रीभगवद्दत्तजीने इसका पूर्वार्धमात्र ऋ. १।१५ में माना है, पर उसका आरम्भ 'इन्द्र सोमं पिब' से है, 'आ त्वा विशन्तु' से नहीं। इसे आपस्तम्ब श्रौतसूत्र (८।७।१०) मानवश्रौ. (१।७।२।१८) में किसी वेदसंहितासे

उद्धृत किया गया है।

(१९) अब निरुक्तके दैवतकाण्डमें सप्तमाध्यायमें भी एक उद्धरण देखिये—ऋचाओंके भेद बताते हुए श्रीयास्कने परोक्षकृत ऋचाओंका सभी विभक्तियोंका उदाहरण देते हुए सप्तमीका 'इन्द्रे कामा अयंसत' यह उद्धरण दिया है, पर यह आर्यसमाजके वेदमें नहीं मिलता, किन्तु किसी लुप्त वेदसंहितामें होगा। किसी भी आर्यसमाजसे प्रकाशित निरुक्त में इसका पता नहीं दिया गया। तब केवल अपनी चार संहिताओंको मूलवेद बताते हुए उनका मत कट गया।

(२०) अब निरुक्तके ८म अध्यायको भी देखिये—अग्निको ऋषियों का पुत्र बताते हुए श्रीयास्कने 'ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तपावा। स नः स्योनः' इस वादियोंकी तथाकथित मूल यजुर्वेदसंहिता (५।४) तथा 'ऋषीणां पुत्रो अभिशस्त पा उ। नमस्कारेण नमसा' यह तथाकथित मूल (अथर्व. सं. ४।२९।६) का उद्धरण न देकर 'ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः' यह (कृ.य. मैत्रायणीसं. १।२।७) का उद्धरण देकर उसे 'इत्यपि निगमो भवति' (नि. ८।३) कहकर 'वेद' बताया है, तब प्रतिपक्षियोंका पक्ष विध्वस्त हो गया। सभी शाखाएं मूलवेद सिद्ध हो गईं। इस 'ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः' को श्रीभगवद्दत्तजीका अथर्व. ४।३९।९ का लिखना ठीक नहीं, उसमें भिन्न पाठ है। जिसे हम दिखला चुके हैं?

(२१) 'वनस्पति' (१२) का 'अग्नि' अर्थ करते हुए श्रीयास्कने 'देवेभ्यो वनस्पते हवींषि...प्रदक्षिणिद् रशनया नियूय' यह मन्त्र तथा 'वनस्पते! रशनया नियूय पिष्टतमया वयुनानि विद्वान्। वहा देवत्रा दिधिषो हवींषि प्र च दातारममृतेषु वोचः' (नि. ८।१९-२०) यह मन्त्र दिया है। प्रश्न यह हैं कि—जबकि प्रतिपक्षियोंके तथाकथित मूलवेदमें भी 'वनस्पति' का यह मन्त्र मिलता है—'वनस्पते! रशनया नियूया देवानां पाथ उप वक्षि विद्वान्। स्वदाति देवः कृणवद्धवींषि अवतां द्यावापृथिवी हवं मे' (ऋ. १०।७०।१०) तब यह वादियोंकी तथाकथित

मूल-संहिताका मन्त्र श्रीयास्कने क्यों नहीं दिया: क्यों दोनों मन्त्र कृष्ण-यजुर्वेद मैत्रायणी-संहिता ((४।१३।७) के दिये हैं? केवल इसलिए कि-आर्यसमाजी लोग जो केवल चार वर्तमान ऋगादि पोथियोंको चार वेद मानते हैं, यह गलत है। वे अपूर्ण हैं; सभी शाखा ब्राह्मणादि मिलकर पूर्ण चार वेद हैं—जिनमें निघण्टुके जो वेदोंके पद हैं, मिला करते हैं, इस बातके दिखलानेकेलिए दिये हैं। यदि निघण्टुके 'आम्नाय' तथा 'छन्द' शब्दको वादी सभी शाखाब्राह्मणोंका नाम मानें; तो उन्हें बधाई हो। आम्नाय वा छन्द **वेदको ही कहते हैं**; यह स्वा.द.जीने भी धडल्लेसे ऋभाभू. में कहा है, सो सभी शाखा-ब्राह्मणादि आम्नाय वा छन्द (वेद) ही हैं। उनकी जो चार पोथियां हैं; वे भी क्रमशः शाकल्य, माध्यन्दिनी, कौथुमी, शौनकी शाखाएं ही तो हैं। तब वे उनके अनुसार मूलवेद कैसे हुए?

(२२) अब पाठक निरुक्तके **नवमाध्याय**को देखें। कपिञ्जल पक्षीके शब्दकी श्रीयास्कने एक ऋग्वेदकी ऋचा उद्धृत की है—'भद्रं वद दक्षिणतो भद्रमुत्तरतो वद।...कपिञ्जल!' (नि. ९।४-५) पर यह ऋचा ऋसं. के खिल (२।४३।१) की है। प्रतिपक्षी लोग खिलको परिशिष्ट होनेसे ऋग्वेद नहीं मानते; पर श्रीयास्कने उसीके मन्त्रको 'तदभिवादिनी एषा **ऋग्** भवति' (९।५) 'ऋक्' कहा है; तब उनका मत श्रीयास्कने काट दिया। वह भी ऋग्वेद सिद्ध हो गई।

(२३) 'देवी जोष्ट्री वसुधिती' (नि. ९।४१-४२) यह मन्त्र 'देवी जोष्ट्री' (३५) का निगम बताते हुए श्रीयास्कने दिया है—'देवी जोष्ट्री वसुधिती ययोरन्याघा' पर यह वादियोंके तथाकथित मूलवेदका नहीं। उसमें तो 'देवी जोष्ट्री वसुधिती देवमिन्द्र'' (यजुः माध्य. २८।३८) इत्यादि है; दोनों मन्त्रोंमें बड़ा भारी भेद है। और श्रीयास्कने पूर्व मन्त्र कृष्णयजुर्वेद मैत्रा. सं. ४।१३।८ तथा तै.ब्रा. ३।६।१३ में वा कृ.य. काठक सं. १९।१३) का दिया है। प्रश्न है कि—श्रीयास्कने वादियोंकी तथा-

कथित मूल-संहिताओंका निगम क्यों नहीं दिया; जबकि—निघण्टुके पदों का श्रीयास्कने वेदोंसे संग्रह किया गया है? स्पष्ट है कि—**यह सभी मैत्रायणी आदि संहिता वेद हैं**। अतः वादियोंका केवल वर्तमान चार पोथियोंको चार वेद मानना निरुक्तानुसार भी गलत पक्ष है।

इसके आगे 'देवी ऊर्जाहुती' (३६) में भी श्रीयास्कने (नि. ९।४३) कृष्णयजुर्वेद मैत्रायणीसं. ४।१३।८ तथा तै.ब्रा. ३।६।१३ का उदाहरण दिया है, वादियोंकी संहिता (यजुः माध्य. २८।३९) का नहीं दिया; अतः उनका पक्ष काट दिया गया। इस विषयमें हम पूर्व लिख चुके हैं।

अब निरुक्तके दशमाध्यायका अवगाहन कीजिये—

(२४) 'वाचस्पति' (१०) की ऋचा बताते हुए श्रीयास्कने उद्धरण दिया है—'पुनरेहि वाचस्पते!...मय्येव तन्वं मम' (नि. १०।१८) पर वादियोंकी **मूलसंहितामें...'मय्येवास्तु मयि श्रुतम्' यह पाठ है**। प्रश्न है कि—श्रीयास्कने **वही पाठ क्यों नहीं दिया**; क्यों अथर्ववेद-पैप्पलादसंहिता का उदाहरण दिया है? आजकल उडियाभाषामें पैप्पलादसंहिता पूरी मिल चुकी है' इससे स्पष्ट है कि—श्रीयास्क अथर्ववेद-पैप्पलादसंहिताको ही मूल अथर्ववेद मानते थे, और आर्यसमाजी-शौनकीसंहिताको शाखा मानते थे। कृ.य. मैत्रायणीसं. में भी 'उप प्रेहि वाचस्पते...मय्येव तन्वं मम' (४।१२।१) कुछ पाठभेदसे यह मन्त्र आया है; इससे स्पष्ट है कि-सभी शाखाएं वेद हैं, केवल वर्णानुपूर्वीका परस्परमें कुछ भेद है; पर अपनी संहितामें वह भी नित्य हैं। यही भाष्यकारानुमत वर्णानुपूर्वीकी अनित्यता है, और शाखाभेद है। इससे छन्द, वेद, निगम सभी शाखाएं **वेद हैं**—यह सिद्ध हो गया। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि—प्रति-**पक्षियोंसे** अभिमत चार संहिता श्रीयास्कके चार वेद नहीं, उनकी वे चारों **वेद**-संहिता भिन्न थीं। सब सम्प्रदाय वाले अपनी संहिताओंको चार वेद **मानते** हैं; और दूसरोंकी संहिताओंको शाखा मानते हैं; पर तटस्थदृष्टि **वा** निष्पक्ष दृष्टिमें सभी वेद हैं-यह सिद्धान्त है। यही स०ध० का भी

सिद्धान्त है।

(२५) अब पाठक निरुक्तके १२ वें अध्यायपर दृष्टि डालें—'अश्विनौ' (१) पदपर श्रीयास्कने यह ऋचा दी है—'वसातिषु स्म चरथोऽसितौ पेत्वाविव। कर्दममश्विना युवमभि देवां अगच्छतम्' (नि. १२।२) पर इसका पता न तो वैदिकयन्त्रालयके निरुक्तमें लिखा है, और न स्वा० ब्रह्ममुनिजीके और न भगवद्दत्तजीके निरुक्तमें; तब इससे स्पष्ट हो गया कि—वर्तमान चारों संहिताओंमें यह मन्त्र नहीं। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि—श्रीयास्ककी चारों वेदसंहिताएं भिन्न थीं। अभी भी बहुत-सी संहिताएं (११२० के लगभगकी) लुप्त हैं, इससे स्पष्ट है कि—निघण्टु जो सभी विद्वानोंके अनुसार वेदोंसे संगृहीत माना गया है, उसके बहुतसे पदोंका वादियोंकी संहिताओंमें न मिलनेसे, अन्य संहिताओंमें मिलनेसे यह सिद्ध हुआ कि—वेदोंकी इयत्ता केवल यह चार पोथियां नहीं, किन्तु ११३१ संहिता तथा उतना ही ब्राह्मणभाग चार वेद हैं। आर्यसमाजको भी चाहिये कि—वह अपना निर्मूल पक्ष छोड़ दे; नहीं तो वह पद-पद पर ठोकरें खावेगा। जिनको वह मूलवेद मानता है, वे भी शाकल्य, माध्यन्दिनी, कौथुमी, शौनकी शाखाएं ही हैं।

(२६) 'एता उ त्या उषसः' मन्त्रके विषयमें श्रीयास्कने लिखा है—'एकस्या एव पूजनार्थे बहुवचनं स्यात्' (नि. १२।७) अर्थात्—वेदने एक उषाको भी आदरार्थ बहुवचन दिया है। इससे एकको आदरार्थ बहुवचन देना वेदसम्मत सिद्ध होता है; जैसेकि स्वा.द.जीने अपने गुरु स्वा. विरजानन्दजीको स्थान-स्थान बहुवचन दिया है। तब बड़ेको आदरार्थ बहुवचन देनेपर फिर वहाँ आर्यसमाजाभिमत 'नमस्ते'का प्रयोग गलत हो जायगा; वहां 'नमो वः पितरो रसाय' (यजुः माध्यं. २।३२) की भांति 'नमो वः' देना पड़ेगा; तब आर्यसमाजाभिमत "नमस्ते' का ही प्रयोग वैदिक है" यह उनका पक्ष कट गया। विशेष जानना चाहते हुए 'आलोक' ग्रन्थमालाका १-२ पुष्प मंगावें, जिनमें 'नमस्ते' विस्तार ही विचार दिया गया है। 'आलोक' के

८म पुष्पमें 'टङ्कारा' पत्रिका (मार्च १९६२ के पृ. ३९-४१) में स्थित 'नमस्ते पर विचार' दिया गया है। उसके पृ. ७९४ में तै.ब्रा.के 'नमस्तेरस्तु भगवः' पर कुछ विचार दिया गया है। उस समय तै.ब्रा. सामने उपस्थित नहीं था। अतः उसका अनुमानसे उत्तर दिया गया था। अब यहां प्रकरण आजानेसे उसके ७म अंश पर वास्तविक उत्तर दिया जाता है—

प्रतिपक्षीने 'टङ्कारा-पत्रिका' में जो कि—नचिकेताके द्वारा यमको 'नमस्तेस्तु भगवः' (तै.ब्रा, ३।११।८) 'नमस्ते' दिखलाया, यह ठीक नहीं, किन्तु गलत है। यहां क्षत्रिय यमने ही ब्राह्मणकुमार नचिकेताको 'भगवन्' भी कहा है; और उसे नमस्कार भी की है; और उसे वर माँगनेकेलिए भी कहा है। 'वरं वृणीष्व' यह बात सायणभाष्यमें भी स्पष्ट है, प्रकरणमें भी। वहां लिखा है—

'एतावता शास्त्रार्थरहस्याऽभिज्ञोऽयं कुमारः, न तु मूर्खः, तस्मात् सत्काराहः। इत्येवं निश्चित्य यं सत्कारं चकार, तं दर्शयति—नमस्ते अस्तु भगवः इति। एतस्य अनुसारेण नचिकेतसम् अभिज्ञं मत्वा भगवच्छब्देन संबोध्य उपवासकृतं स्वापराधं परिहर्तुं वरत्रयं दत्तवान्' इससे वादीकी बात सिद्ध न हुई कि—नचिकेताने यमको नमस्कार की; किन्तु एक क्षत्रियने वर्णविचारसे उच्च एक ब्राह्मणकुमारको नमस्कार की; और कुमार होनेसे उसे 'ते' कहा। इस विषयमें अधिक स्पष्टता 'आलोक' (१-२) पृ. १२१-१२५ तथा १६४-१६६में देखिये; पूरा उत्तर प्राप्त हो जावेगा।

इससे अग्रिम मन्त्रमें 'जारिणीव'का अर्थ स्वा. ब्रह्ममुनिजीने 'यथा जारिणी-स्वैरिणी व्यभिचारिणी व्यभिचारस्थानं गच्छति' श्रीभगवद्दत्तजीने भी इसका 'जारवालीके समान' यह उपमा दी है। इसे वह वेदमें लिखी होने पर भी वेदसम्मत नहीं मानेंगे, इसी प्रकार 'विधवेव देवरं' में भी किसी व्यभिचारिणीका उपमासे वादियोंके अनुसार वेदमें बताया नियोग वेद-सम्मत नहीं हो सकता; वस्तुतः यहां अन्य अर्थ है, इस विषयमें 'आलोक' (८) अथवा १०म पुष्प देखो।

(२७) 'सप्त ऋषयः' (२५) का निगम देते हुए श्रीयास्कने 'तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्व बुध्नो यस्मिन् यशो...अत्रासत ऋषयः सप्त साकं' (नि. १२।३८) यह निगम दिया है; पर आर्यसमाजके माने हुए तथा-कथित मूलवेदमें 'यस्मिन् यशो' के स्थान 'तस्मिन् यशो' 'अत्रासत' के स्थान 'तदासत' (अथर्व. १०।८।६) यह पाठ है। प्रश्न है कि—यास्कने उसका उद्धरण क्यों नहीं दिया ? स्पष्ट है कि-यास्ककी अभिमत अथर्ववेद-संहिता भिन्न थी। वेदाङ्ग निरुक्तमें तथा निघण्टुमें वेदके संगृहीत पदोंके उदाहरण श्रीयास्कने वेदसे ही तो देने थे। तव यह सभी संहिताएं वेद सिद्ध हुई। अतः स्पष्ट है कि—सभी ११३१ संहिता चार वेद हैं। यदि स्वा० दयानन्दानुसार उन संहिताओं को लौकिक मानें; तो वे वेद नहीं मानी जा सकती थी; पर यास्क विना नाम दिये सभी ११३१ संहिताओं में किसीका भी जब उद्धरण दे देता है; तो स्पष्ट है कि—**यह सारा साहित्य चार वेद हैं।**

(२८) 'वसवः' (२६) का निगम देते हुए श्रीयास्कने 'सुगा वो देवाः सदनमकर्म य आजग्मुः...जक्षिवांसः पपिवांसश्च विश्वेऽस्मे धत्त वसवो वसूनि' (नि. १२।४२) मन्त्र दिया है। पर वादियोंके मूलवेदमें इसका एक मन्त्र न होकर दो मन्त्र हैं; और उसमें भी काफी पाठभेद है। देखो 'सुगो वा...सदनाऽकर्म य आजग्मेद ँ...इत्यादि' (यजुः माध्य. ८।१८-१६); पर कृ.य. तैत्तिरीयसं. (१।४।४४) में यास्कोद्धृत मन्त्रसे पर्याप्त मेल है; अतः इससे स्पष्ट है कि—स०ध० का पक्ष ठीक है; और आर्य-समाजका मत निर्मूल है। श्रीभगवद्दत्तजीने 'सुगा वो'का पता यजुः ८।१८ का दिया है। यह ठीक नहीं। अथवा उनके अनुसार कृष्णयजुर्वेद भी यजुर्वेद ही सिद्ध हुआ। क्योंकि यह कृष्णयजुर्वेदका है।

(२६) आगे हमने निरुक्तके १३-१४ अध्यायोंसे कुछ भी उद्धृत नहीं किया; क्योंकि-आर्यसमाज उन्हें परिशिष्ट मानता है, परिशिष्टको वे अन्य द्वारा प्रक्षिप्त मानते हैं। पर स्वा० दयानन्दजीने १४वें अध्यायके

'मृतश्चाहं पुनर्जातः' मन्त्रोंको तथा 'तर्कऋषिर्भविष्यति' इस... यास्काचार्यके नामसे ऋभाभू.में उद्धृत किया है। इस प्रकार आर्यसमाजी भी किया करते हैं। इससे यह भी सिद्ध हुआ; परिशिष्ट भी समानकर्तृक तथा उसी ग्रन्थके अङ्ग हुआ हैं; आजकल भी यही शैली है कि—ग्रन्थकार अपनी पुस्तकके परिशिष्ट रखते हैं; उसका कर्ता कोई उससे भिन्न नहीं हो जाता; ग्रन्थकारका पूर्वविशिष्ट संग्रहका नाम परिशिष्ट हुआ करता है। इस; श्रीयास्कने ऋक्परिशिष्टकी जो ऋचा उद्धृत की हैं; वे भी ऋ... ही समझनी चाहियें। श्रीभगवद्दत्तजीने अपनी निरुक्तभाष्यभू... पृ. २६-३०-३१ में इन परिशिष्टोंको निरुक्तान्तर्गत माना है, और प्रमाण दिये हैं।

इस प्रकार हमने निरुक्तके निगमोंके आधार पर यह सिद्ध कर... कि—श्रीयास्कने आजकलकी चार संहिताओंसे भिन्न भी जो संहिता... उद्धरण दिये हैं, इसलिए कि-वे उन्हें वेद मानते थे। नहीं तो वे... संहिताएँ यदि लोक मानी जावें; तव वेदके संगृहीत पदोंके उद्धरण यास्क द्वारा भला लोकसे कैसे दिये जा सकते थे ? स्पष्ट है कि—... संहिताः तथा उनके उतने ही अर्थ ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् वेद; यह सनातनधर्मका पक्ष सभी प्राचीन मान्य विद्वानोंको अभिमत है; आर्यसमाजका मत सभी प्राचीनोंसे विरुद्ध है। स्वा.द.जीने भी निघ... पदोंको वेदके पद माना है; लोकके नहीं। तभी तो वेदाङ्गप्रकरण... रखा है। यदि कई वादियोंके अनुसार छन्द वा आम्नायसे ... नैघण्टुक पद सभी शाखा-ब्राह्मणोंके भी हैं; तो इससे सभी शाखा-... वेदके पर्यायवाचक छन्द-आम्नायके होनेसे वे भी वेद सिद्ध हुए। ... विषयक स०ध० का पक्ष बड़ा दृढ है, और प्रतिपक्षियोंका वेदविषयक मत तो बालूकी भित्ति है। यदि उन्होंने स०ध० का पक्ष न माना फिर शास्त्रार्थोंमें उन्हें निरुत्तर होकर लज्जाका पात्र बनना ...

भविष्यत् की लज्जासे अच्छा यह है कि—वे अभी-अभी अपने मतमें कुछ परिवर्तन कर सभी शाखा-ब्राह्मणोंको वेद मान लें, परमात्मासे हम प्रार्थना करते हैं कि- इन प्रतिपक्षियोंको सुबुद्धि प्राप्त हो; इनसे दुराग्रह छूटे। एवमस्तु।

परिशिष्ट—'निरुक्तसम्मर्श' के पृ. २३६ में उसके प्रणेता दयानन्दी स्वामी ब्रह्ममुनिजीने यम-यमीके विषयमें लिखा है—'अस्मिन् [यम-यमी-] सूक्ते वैवस्वतयोर्यमयम्योः अहोरात्रयोः पति-पत्नीभूतयोः संवाद आलङ्कारिकः। अहोरात्रे रात्रिदिवसौ पृथिवीगोलं मध्ये कृत्वा तस्य (?) परितः भ्रमतः। गार्हस्थमिव संयोगमा काङ्क्षन्तौ परन्तु मध्ये पृथिवीगोलस्तिष्ठति, न यथार्थ-संयोगो भवति। रात्रिर्बहु कामयते दिवससंयोगं, दिवसः कथयति नेदानीं संयोग आवयोर्भविष्यति। भविष्यति तु प्रलयसमीपे'।

वहाँ पर परिव्राजकजीने यम-यमीको 'वैवस्वत' बताया है; अर्थात् विवस्वान्के लड़का-लड़की। तब बताया जावे कि—एक पिताके पुत्र-पुत्री आपसमें भाई-बहन लगते हैं, वा पति-पत्नी? आश्चर्य है कि–परिव्राजक जी को इतना ज्ञान भी नहीं है! यदि वे मुनिजीके अनुसार पति-पत्नी हैं; तो वे पति-पत्नी कब बने थे? इकट्ठे विवाह होने पर ही तो पति-पत्नी बनते हैं; पर दिन-रात्रि कब इकट्ठे हुए थे; जबकि दोनोंका विवाह हुआ। जब दोनोंमें पृथिवी गोलका अन्तर है; और वे दोनों कभी मिल सकते ही नहीं; कभी संवाद कर सकते नहीं; तब वे एक-दूसरेसे संयोग कैसे चाह सकते हैं? जब प्रलयमें सूर्यके न होनेसे पृथिवीगोल नष्ट हो जायगा; तब दिन कहां होगा, तब तो केवल रात्रि ही होगी। तब रात्रि विवस्वान् (सूर्य) की पुत्री कैसे हुई? वह तो सूर्यके अभावमें वा मरनेपर ही होगी; वह तो पृथिवीकी ही लड़की होनी चाहिये। सूर्यमें भला रात्रि कैसे रह सकती है? तब यह पति-पत्नीका नियोग भला कैसे हुआ? वह रात्रि अब अन्य किसी पतिसे नियोग करेगी; क्या उसका कोई अन्य पति हो सकता है? दिवसको यहां वे नपुंसक भी सिद्ध नहीं कर सके। यहां तो

उन्होंने पृथिवीगोलके व्यवधानसे ही दिन-रात्रिका संयोग असम्भव बताया है। नपुंसककी पत्नी तो उसीके पास उसके घरमें रहती है। अतः किसी भी प्रकार उनका पक्ष सिद्ध नहीं हो सकता।

वस्तुतः यम-यमी जो विवस्वान्के पुत्र-पुत्री थे, इसलिए भाई-बहिन थे; बहिनने अपनी भाईसे कामेच्छा बताई; पर ज्ञानी भाईने उसे निषेध कर दिया। वेदने यह संवाद इसलिए दिया है कि—एक घरमें रहनेवाले भाई-बहिन कहीं आपसमें कामेच्छा पूरी न करने लग जाएं। यह सनातनधर्मका पक्ष दृढ है। ब्रह्ममुनिजीने स्वा.द.जीके इस गलत पक्षको सिद्ध करनेकी जो चेष्टा की; सो यह साम्प्रदायिक दुराग्रह है। उसको वह एड़ी-चोटीका बल लगाकर भी कभी सिद्ध नहीं कर सकते। इस प्रकार उनके 'यमयमीसूक्त' तथा 'यमपितृपरिचय' तथा 'निरुक्तसम्मर्श' (पृ. ८१३) का भी खण्डन हो गया। इस विषयमें विशेष इसी पुष्प में तथा 'आलोक' के ८म और नवम पुष्पमें पाठक देखें।

दयानन्दी श्रीभगवद्दत्तजीने अपने भाष्य (पृ. २३४) में 'आ घा ता' का यह अर्थ किया है—'यत्र जामयः कृणवन्नजामि' आएंगे वे अगले युग, जब भगिनियां करेंगी न भगिनियों वाले कर्म' आगे वे लिखते हैं—यह ऋक् यम-यमीसंवादमें है, यम, यमीकी प्रार्थनाका निषेध करता है। यही भाव शौनकने बृहद्देवतामें लिखा है—'मैथुनार्थममीप्सन्तीं प्रत्याचष्टे यमीं यमः' (६।१५४)। आगे श्रीभगवद्दत्तजीने उसके अर्थ बदलनेकी चेष्टा की हैं, उसे आलङ्कारिकता बताया है, पर स्वा.द.ने तो आलङ्कारिकता नहीं बताई; उन्होंने तो इसे नपुंसक पति तथा उसकी प्रबल पत्नीका जो दोनों ही इकट्ठे रहते थे, का संवाद बताया है, पर भगवद्दत्तजीके किये अर्थके अनुसार यह भाई-बहनका संवाद सिद्ध होता है, क्योंकि–मन्त्रार्थ उन्होंने वैसा बताया है। तब आदित्यका रश्मियोंके साथ जुड़ना एक वैज्ञानिक घटना है, यह कहकर अपने पक्षकी दुर्बलता सिद्ध कर दी है।

फिर उनने अग्नि, आदिका और वायु आदि देवोंका नाम यम, और यमीको देवी पृथिवी लिखा है; यह अनेकार्थकता करनेसे स्पष्ट है कि स्वा द.का अर्थ ठीक नहीं। यमीकेलिए श्रीभगवद्दत्तजी कहते हैं—'यमी मध्यस्थानी है, वह मानुषजातिकी स्त्री हो भी नहीं सकती। अतः ऋग्वेद १०।१० सूक्त पृथिवीपर जन्मे देहधारी यम-यमीपरक कदापि नहीं है। अतः वेदार्थ करते हुए केवल मूढ लेखक ही इस सूक्तको मानुषी इतिहासमें घटाते हैं' (पृ. २३६) यदि ऐसा है, तब श्रीभगवद्दत्तजीने यम-यमीका वेदमें मानुष पति-पत्नी अर्थ करते हुए स्वा. द. जी को भी 'मूढ' सिद्ध कर दिया।

जब भगवद्दत्तजीके अनुसार यहाँ यम-यमी देवता हैं; इस लोकके मनुष्य नहीं; तब स्वा.द.जीने उससे मानुषी पति-पत्नियोंका नियोग कैसे आकृष्ट कर लिया ? क्या अग्नि, आदित्य और वायु जो उनके अनुसार यम थे; क्या वे नपुंसक पति थे; और पृथ्वी उनकी स्त्री यमी क्या कामुकी थी कि—उन देवताओंने उस पृथिवीको अपनेसे भिन्न पतिसे संयोगार्थ आदिष्ट किया ! वस्तुतः यह सब उनकी कपोल-कल्पना है। न ही वे उस सारे सूक्तके मन्त्रोंको अपने इष्ट देवपक्षमें घटा सकते हैं। इस विषयमें स०ध० का ही पक्ष ठीक है कि—कहीं भाई-बहिनका संयोग न हो जावे; इसलिए यह निषेधक आख्यान-सूक्त वेदने बताया है। इससे वेदकी कुछ भी निन्दा नहीं। अधिक इन विषयमें 'आलोक' (८-९) में देखो।

---

(५) 'गीतापर विमर्श'

(१) 'गीता-विमर्श' पुस्तक हमें देखनेको मिली है; उसका लेखक दयानन्दी होनेसे सनातनधर्मकी मान्य पुस्तक गीताकी विश्वविख्यातिको न सह सकनेसे गीताको महाभारतमें प्रक्षिप्त मानता है। इन लोगोंका अन्तिम अस्त्र यही है कि—अपनी अनिष्ट वस्तुको 'प्रक्षिप्त' कहकर जान छुड़ाई जावे। लेखनी अपनी है, कागज अपना है, चाहे वादी [महाभारतको] ही प्रक्षिप्त मान ले। उसी महाभारतमें भगवद्गीता[को] 'एवमेष महान् धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम ! कथितो हरिगीतासु [समासः] विधिकल्पितः' (शान्ति. ३४६।११, ३४८।५३) हरि-गीता नामसे [कथित] किया गया है। यहाँ बहुवचन आदरार्थ है, इसलिए भगवद्गीता[की] पुष्पिकामें भी 'श्रीमद्भगवद्-गीतासु उपनिषत्सु' यह बहुवचन दीखता है।

(२) जो कि वह सूर्य-द्वारा कुन्तीसे उत्पत्ति असम्भव बता[ता] और उसे अप्राकृतिक व्यभिचार बताता है, इसकेलिए वह अपने स्वा[मी] जीकी सं.वि. में 'इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी' इस मन्त्रका (पृ. १५५ में) [अर्थ] देखे, जहाँ उनने **वरकी स्त्रीको भी सूर्यसे सन्तान** दिलाई है। [फिर] देवताओंमें अणिमा-महिमा आदि ऐश्वर्यवश वे सब प्रकारके [रूप धर] सकते हैं, और वरदानमात्रसे भी सन्तान दे सकते हैं; उनमें दोष [नहीं] है; इस विषयमें 'नियोग और मैथुन' (१) 'आलोक' (८) में देखें। व्यासजीकी उत्पत्ति विषयमें 'आलोक' (७) देखो (पृ. ६११-६३३)।

(३) वादी उपाख्यानोंको महाभारतमें प्रक्षिप्त मानता है; [पर] उनसे समस्त ऐतिहासिक तथ्यका तिरोहित होना मानता है; [इन] उपाख्यानोंसे दयानन्दी लोग कर्मणा वर्णव्यवस्था आदि अपने पक्षको [सिद्ध] करनेकी चेष्टा करते हैं; तब फिर उनका पक्ष भी गलत सिद्ध हो [गया]। आगे उसने 'विंटरनीज़' का मत दिया है, इससे स्पष्ट है कि—वादी[की] विचारधारा भी पाश्चात्योंसे प्रभावित है; अपने पौरस्त्योंकी बात [तो वे] थोड़े ही मानेंगे। वे ही लोग वेदको अर्वाचीन मानते हैं, उन्हें ऋषियोंका बकवाद मानते हैं; तब क्या आप लोग उनकी बात मान लेते हैं ? [यदि] नहीं; तब गीता वा पुराणविषयक उनकी बात क्यों मानते हैं ?

वादी स्वा.द. के गीता-महाभारतकेलिए कहे हुए 'त्रिदोष-सन्निपात'[-श]ब्दको 'विंटरनीज़' के विचारोंका 'निचोड़' कहकर भी उन्हें पाश्चात्यगण-प्रभावित स्वयं सिद्ध कर रहा है।

(४) महाभारतमें जो कि वादी ब्रह्मविद्याके उपदेष्टा ब्राह्मण न होकर श्रीकृष्ण-भीष्म जैसे क्षत्रिय, तथा विदुर जैसे शूद्रोंको बताकर महाभारतमें प्रक्षेपोंको बताता है, यह व्यर्थकी बातें हैं। उपनिषदोंमें भी ब्रह्मविद्याके उपदेष्टा क्षत्रिय देखे गये हैं; तब क्या उपनिषदोंमें भी वादी प्रक्षेप मानेगा ? 'एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः' (गी. ४।२) यह रार्जाषयोंने जो प्राप्त किया, यह भगवान्से। सो भगवान् यदि क्षत्रिय कहे जाते हैं, यह पालनवृत्ति तथा शासनवृत्तिकी औपचारिकताके कारण। शुरूमें ब्राह्मणोंने क्षत्रियोंको उपदेश किया है; कभी वह समय भी आ सकता है; वे ही ब्राह्मण उपदेशमें कमज़ोर हो गये हों—जैसे आजकल। देखिये किसी समय ब्रह्मावर्तदेश में उत्पन्न हुए (मनु, २।१९) ब्राह्मण ही सारे संसारको उस-उस देशकी विद्या सिखलाते थे—एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः' (२। २०), पर अब उसी देशके लोग विविध विद्याएँ सीखने इङ्गलेण्ड, जर्मनी, रूस आदिमें जाते हैं। कभी यहीं भारतमें ज्योतिष-विद्या सीखनेकेलिए वैदेशिक लोग आते थे; पर सुना जाता है कि—वराहमिहिर जैसे ब्राह्मण भी वेश बदलकर यवनदेश (यूनान) में ज्योतिष सीखने गये। यह समय की महिमा होती है। इससे उस समय क्षत्रियोंमें भी विद्याकी सत्ता सिद्ध होती है। इसमें कोई प्रक्षेप या राग-द्वेषकी बात नहीं। बल्कि इससे वादियोंकी 'गुणकर्मणा वर्णव्यवस्था' खण्डित होती है। वादी लोगोंको उचित है कि—पाश्चात्य प्रणालीका चश्मा आप लोग न पहनें। दूसरोंका चश्मा पहननेसे कुछका अन्य कुछ पढ़ा जायगा। वस्तुतः क्षत्रियादियोंने अपने राज्यवश ब्राह्मणोंसे पढ़ी हुई विद्याओंमें कई नूतन अन्वेषण किये। उन्हें यदि ब्राह्मणोंने उनसे प्राप्त किया; इससे जहां स०ध० सम्मत जन्मना वर्णव्यवस्था सिद्ध होती है, वहां वास्तविक स्थिति भी मालूम होती है। यहाँ वादिप्रोक्त कारण नहीं। वहीं परशुराम-द्वारा उद्धत क्षत्रियोंको मारना भी आया है, क्षत्रियोंको ब्राह्मणोंने ही अपनी पृथ्वी जो उन्हें परशुरामने दान दी थी, शासनकेलिए दी। यहाँ ब्राह्मणका महत्त्व आया

गया है, फलतः वादिप्रोक्त कारण सर्वथा नहीं है।

विदुरने तो नीति ही बताई; जहां उसके अधिकारसे ऊपरकी बात आई; वहाँ उसने सनत्सुजात ब्राह्मणको बुलवानेकेलिए कहा। देखिये—'शूद्रयोना वहं जातो नातो वक्तुमिहोत्सहे।...ब्राह्मीं हि योनिमापन्नः सुगुह्यमपि यो वदेत्' (उद्योग. ४१।५-६)। उपनिषदोंमें क्षत्रियोंने ब्राह्मणोंको भी जो बताया, उसके लिए वहां कहा है-'तान् अनुपनीयैव' (छा. ५।११।७) अर्थात् उनको शिष्य बनाकर नहीं बताया; किन्तु उनका सम्मान-पूजन करके उन्हें ऊँचे-आसन पर बैठाकर बताया। जिन श्रीकृष्ण तथा भीष्म आदिकेलिए कहा है, उन्हीं श्रीकृष्णने सत्कारके समय ब्राह्मणोंके चरण-प्रक्षालनका काम किया है। भीष्मने भी अपने अनुशासन वा उपदेशमें ब्राह्मणों की अत्यन्त प्रशंसा की हैं; वहां निष्पक्षताका ही कारण हैं, कोई द्वेषादि कारण नहीं। श्रीकृष्ण विष्णुके अवतार थे; उन्होंने शासन करना था; अतः क्षत्रियवर्णको स्वीकार किया; कोई क्षत्रियतासे उन्हें पूर्णावतारता नहीं मिली। ब्राह्मणोंका सम्मान अपने स्थान होता है, राजाका स्थान अपने स्थान होता है। अतः वादीसे प्रोक्त कारण सर्वथा नहीं ?

(५) 'गीता ऐसा अध्यात्म-रस है, जिसमें साम्प्रदायिक विष घोल दिया गया है, यह वादीकी बात सर्वथा गलत है। पश्चिमी शिक्षाने इस देशके शिक्षित वर्गके मस्तिष्कसे पाखण्डोंका पर्दा नहीं उठाया है, किन्तु अपना अविश्वासका विष घोलकर उनके मस्तिष्कको खराब कर डाला है। आप लोगोंका दिमाग इन्हीं पाश्चात्योंके विषसे आक्रान्त होनेसे आप लोगों को अविश्वासके दौरे आते हैं; जिससे आप लोगोंको प्रक्षेप ही प्रक्षेप दीखता है। आप लोग ही अँग्रेजी-मदिराको नवीन वैदिक नामके चमकीले पात्रोंमें प्रस्तुत करके वेदप्रचारके नामसे वर्तमान शिक्षित वर्गसे लाखों रुपया लूटकर बड़ी-बड़ी विशाल साम्प्रदायिक बिल्डिंग्ज़ बनवा रहे हैं।

(६) जो कि वादी धर्मको तर्कका विषय बताता हुआ—'यस्तर्केणा-

नुसन्धत्ते स धर्मं वेद' (१२।१०६) 'प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्' (१२।१०५) यह मनुके पद्य देता है; इसमें केवल तर्क (अनुमान) को धर्मकेलिए नहीं बताया गया, किन्तु यहां आगम एवं शास्त्रको उत्तर-पक्षमें रखा गया है। और १०६ श्लोकमें 'वेदशास्त्राऽविरोधिना तर्केण' वेद और धर्मशास्त्रके अविरोधी तर्कका आश्रय कहा गया है, पर आप लोग दोनोंसे विरुद्ध केवल अपनी बुद्धिप्रसूत तर्क प्रयुक्त करके उससे उन धर्मशास्त्रोंको काटते हैं; ऐसे लोगोंका बहिष्कार स्वयं मनुजी बताते हैं—'योवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः। स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः' (२।११) इसका अर्थ स्वा.द.जीने यह लिखा है—'जो तर्क-शास्त्रके आश्रयसे वेद और धर्मशास्त्रका अपमान करता है, उसको अपनी मण्डलीसे निकालके बाहर कर देवें, क्योंकि वह वेदनिन्दक होनेसे नास्तिक है' (वेदविरुद्धमतखं. शता. पृ० ८०३)। (ख) निरुक्तकारने 'तर्क एव ऋषिः' कहीं नहीं कहा। परिशिष्टके वचनको भी (देखो वैदिकप्रेस अजमेरका निरुक्त पृ. २१७, वहां अन्तिम १-२ अध्यायोंको परिशिष्ट लिखा है) अब वादी 'निरुक्तकारका वचन' मानता है। स्वयं वादीने इसमें 'एव' शब्दका प्रक्षेप भी साथ कर दिया। वहाँ तर्कका अर्थ 'दलील-बाजी' नहीं है, किन्तु 'मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूह' (मन्त्रके अर्थका विचार) (१३।१२।१) को ही 'तर्क' माना है। (ग) जो कि वादी 'यस्य नास्ति स्वयंप्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्' यह नीतिकारका वचन देकर बुद्धिको महत्त्व देता है; तब उसी वादीकी बुद्धिको ही क्यों माना जाय, हमारी बुद्धिको क्यों न माना जावे? महाशय! 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' (गीता ३।४२) बुद्धिसे भी एक बड़ा होता है, वह भगवान्का वाक्य। सो गीता भगवान्का वाक्य है। बुद्धि तो तमोगुणी भी हो सकती है। 'तर्क' की वा 'बुद्धि' की निष्ठा (अन्तिमता) नहीं हुआ करती; उसको अन्यका तर्क वा बुद्धि काट दिया करते हैं; इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ. ५-६) देखो। इसलिए निरुक्त (१।२।७) में पुरुषकी विद्या-बुद्धि अनित्य मानी गई है।

(घ) वादीका 'षड्दर्शनोंमें न्यायदर्शनका विषय ही तर्कद्वारा 'सूक्ष्म तत्त्वोंका बोध कराना है' यह कथन भी गलत है। न्यायका दूसरा नाम 'आन्वीक्षिकी' है; इसका अर्थ लिखते हुए न्यायदर्शनके वादिप्रतिवादिमान्य भाष्यकार श्रीवात्स्यायनमुनि लिखते हैं—'प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानं साऽन्वीक्षा... यत्पुनरनुमानं प्रत्यक्षागमविरुद्धं न्यायाभासः सः' (१।१।१) यहां तर्कको **आगमके** साथ रखा गया है, आगमविरुद्ध तर्कको न्याय न कहकर न्याया-**भास** कहा गया है। 'सोऽयमित्थम्भूतः तर्कः **प्रमाणसहितो** वादे साधनाय' (१।१।१) यहां भी तर्कको प्रमाण-रहित निषिद्ध कर दिया गया है। तर्कको तत्त्वज्ञान न्यायमें इसलिए नहीं बताया कि वह किसी तत्त्वको निश्चित नहीं कर सकता, देखो न्यायदर्शनमें—'न तु अवधारयति, न व्यवस्यति, न निश्चिनोति-एवमेवमिदम्'...सोऽयं तर्कः **प्रमाणसहितो** वादे प्रदिष्टः' (१।१।४०)।

(ङ) जो कि 'धर्मके नाम पर पुरोहितों आदि द्वारा धनिकवर्ग तथा स्त्रियोंका ठगना' वादी कहता है; इस पर वह याद रखे कि—वे लोग यदि ठगते भी होंगे; तो पैसों तक ही, पर आप लोग तो सनातनियोंको गालियां देकर धनिकोंको सब्ज़बाग वेदके नाम पर दिखाकर लाखों रुपये उनसे ठग लेते हैं। हमारे ही सनातनियोंको आप ठगते हैं; भोले होनेसे वे भी आप लोगोंके षड्यन्त्रमें फँस जाते हैं; इतने आर्यसमाजमन्दिरोंकी विशाल बिल्डिगें, तथा दयानन्द-मठ, विशाल दयानन्द-भवन यह सब सनातनधर्मियोंको ठग कर ही तो बनाये गये हैं; इतने प्रोपागण्डा करने वाले उपदेशकोंके जो पेट पल रहे हैं; उसमें हमारी धर्मप्राण जनताका भोला होना है। वादीकी प्रस्तावना समाप्त।

(७) 'महाभारतमें प्रक्षेपण' में वादी लिखता है कि—उसमें सृष्टि-नियम-विरुद्ध कथाओंकी भरमार है, आजके विज्ञान-युगमें उनमें कोई विश्वास नहीं कर सकता'। यह वादीका कहना कूप-मण्डूकता है। महाभारतादिकी जो बातें पहले सृष्टिनियम-विरुद्ध मानी जाती थीं; उन्हें

उल्टा आजके विज्ञानयुगने सम्भव सिद्ध कर दिया है; तब जो वादीकी बुद्धिके विरुद्ध हो; क्या वही सृष्टिनियम-विरुद्ध हो जाता है ?

(ख) यदि वादी हरिवंशको खिल (परिशिष्ट) होनेसे महाभारतका अङ्ग नहीं मानता; तो 'तर्कमृषिं प्रायच्छन्' इस निरुक्त-परिशिष्टके वचनको 'निरुक्तकार'के नामसे (पृ. ८ पं. १२ में) देनेका और उनमें 'तर्क एव ऋषिः' यह लिखकर 'एव' शब्दका भी उसने प्रक्षेप कैसे कर दिया ? क्या इसलिए कि-वादी जो कुछ लिखे, वह अप्रक्षिप्त; पर उससे विरुद्ध गीता महाभारतमें प्रक्षिप्त ? क्या इसलिए वादीने 'अपनी बुद्धिका महत्त्व' (पृ. ८ पं. १७ में) बताया ? वस्तुतः वादी 'खिल' का अर्थ नहीं जानता। इस विषयमें वह 'आलोक' (५) (पृ. ३५-३७) देखे। हरिवंश पर्व महाभारतका अङ्ग होनेसे उसे १९वां पर्व नहीं माना जा सकता है। १८ पर्वोंमें 'प्रजागर पर्व' आदि बहुतसे पर्व आये हैं; यदि सबको गिना जावे; तो कई सौ पर्व माने जावें।

(ग) उपाख्यान तथा उपाख्यानोंसे भिन्न सभी महाभारत श्रीव्याससे ही प्रणीत है; और वह लक्षश्लोकात्मक है। यह वादी भी मानता है। वह लिखता है—'यदि यह कहा जाय कि [महाभारतकी] एकलाख संख्या आनुमानिक है, तो यह सत्य नहीं है। महाभारतमें यह संख्या स्थान-स्थान पर एक लाख बताई गई है, न न्यून न अधिक' (पृ. ६ पं. ५-६-७) कुछ जो पद्य एक लाखसे भी अधिक होते हैं; उसमें भी कारण है, इस विषयमें 'आलोक' (४) २३१-२३४ देखो।

(घ) यह जो वादी लिखता है—'महाभारतका आरम्भ कहांसे होता है, इस सम्बन्धमें मतभेद है—'मन्वादि [नारायणं नमस्कृत्यसे] भारतं केचिद् आस्तीकादि [आस्तीकपर्वसे] तथा परे। तथोपरिचराद्यन्ये [उपरिचर वसुकी कथासे] विप्राः सम्यगधीयते' (१।५२) यह वादीकी भूल है, यह महाभारतके आरम्भकेलिए नहीं है, यह उसके पारायणकेलिए है; इसलिए वादीने इसका जो अन्तमें अर्थ लिखा है—[यहां-यहांसे] इस

[महाभारत] का विधिपूर्वक पाठ आरम्भ करते हैं' यह अर्थ ठीक है; सो यह पाठ (पारायण) के लिए हैं, ग्रन्थके आरम्भकेलिए नहीं; तभी तो मूलमें कहा है—'विप्राः सम्यग् अधीयते' यहां ग्रन्थके आरम्भकी बात नहीं कही गई।

(ङ) जो कि वादी आदिम ६० अध्यायोंको महाभारतका अङ्ग नहीं मानता, वह यह बतावे कि—'गीता-विमर्श' के आरम्भिक ६ पृष्ठ उसके अङ्ग हैं वा नहीं ? यदि नहीं; तब क्या प्रक्षिप्त हैं ? यदि अङ्ग हैं; इस प्रकार वे भूमिकारूप ६० अध्याय भी महाभारतके अङ्ग हैं।

(८) जो कि अध्यायकी संख्याकी घटा-बढ़ी उसने लिखी है; यह निस्सार बात है। कई लोग एक लम्बे अध्यायके दो अध्याय कर देते हैं; इससे कोई हानि नहीं। ऋग्वेदसंहिताको कई लोगोंने १० मण्डलोंमें मान लिया, कइयोंने आठ अष्टक रूपमें; तो इसमें क्या हानि हुई ? 'अस्य-वामीय' ऋसं. का एक प्रसिद्ध सूक्त है, जिसे दयानन्दी लोग महाभाष्यके अनुसार वेदकी कसौटी हेरफेररहित मानते हैं, ऋसं. (१।१६४) में तो वह ५२ मन्त्रोंका एक ही सूक्त है; पर अथर्वसं. (९।९-१०) में दो सूक्त २२-२८ मन्त्रोंके हैं। तब क्या वादी वेदमें भी वही दोष दे सकता है ? दोनों स्थान समान उत्तर होगा।

(ख) जो कि वादी १८ पर्वोंके नामोंमें भेद मानता है, यह भी व्यर्थ की बात है। ब्राह्मणभाग आदि चौथे वेदका नाम 'अथर्ववेद' मानते हैं; आर्यसमाज भी उसका नाम 'अथर्ववेदसंहिता' मानता है; पर अथर्ववेद स्वयं उसका नाम 'अथर्वाङ्गिरस' (१०।७।२०) कहता है, पर यह 'शौनक-संहिता' भी कही जाती है; दूसरी पैप्पलादसंहिता, इसी प्रकार दोनों स्थान समान उत्तर होगा।

(६) वादी गरुड़पुराणके 'दैत्याः सर्वे विप्रकुलेषु भूत्वा कृते युगे भारते षट्-सहस्रयाम्। निष्कास्य कांश्चिन्नवनिर्मितानां निवेशनं तत्र कुर्वन्ति नित्यम्' (ब्र. १।३६) पद्य द्वारा महाभारतमें श्लोकसंख्यामें

दैत्यों द्वारा घटा-बढी बताता है, ६००० के स्थान १ लाख पद्य-संख्या बताता है'। इसपर प्रत्युत्तर वादी 'आलोक' (७) पृ. २०९ में देखे। वादी इस पद्यको मानकर महाभारतके श्लोक ६००० बताता है; तब वह स्वा.द.के शब्दोंमें 'झूठे' गरुडपुराणके इस पद्यको ही प्रक्षिप्त क्यों नहीं मान लेता; जबकि वह पहले महाभारतकी पूरी एक लाख पद्यसंख्या मान चुका है। जब इस पद्यमें 'कृते युगे' लिखा है, और फिर 'भारते' लिखा है; तो वादीको स्वयं समझना चाहिये था कि-यह पद्य महाभारतकेलिए नहीं है; क्योंकि वह द्वापरमें बनाया गया है; न कि सतयुगमें, और वह 'महाभारत' है, 'भारत' नहीं। और उसके ६००० श्लोक थे—इसमें कोई अन्य प्रमाण वा संकेत भी नहीं है। इसलिए वादीको स्वयं शङ्का हो गई कि-'क्या कृतयुग (सतयुग) में भी महाभारत था? पृ० १२ में वादी आश्वलायनगृ. के 'भारत-महाभारत' (३।४।४) इस प्रमाणसे स्वयं भारत-महाभारत यह भिन्न-भिन्न ग्रन्थ मानता है; तब स्वयं समझ ले कि-उक्त पद्य कृतयुगके भारतकेलिए है; इस द्वापरके महाभारतकेलिए नहीं। जब पहले वादी महाभारतके १ लाख पद्य मान चुका है, तब अब उसके ६००० श्लोक कैसे मानने लगा? क्या वादियोंकेलिए वादीके आचार्य स्वा.द.के शब्दोंमें विषसम्पृक्तान्न पुराण भी समय पर बड़ा प्रमाण हो जाता है? छः हज़ार श्लोकोंमें तो **महाभारत युद्ध भी पूरा नहीं हो सकता।** ८८०० कूट श्लोकोंका कहना भी फिर उपपन्न नहीं हो सकता; क्योंकि-कूट श्लोक ही जब ९००० के लगभग हैं, तब ६००० पद्य तो सभी कूट होने चाहियें; पर ऐसा दीखता नहीं, अतः इसमें वादीके पक्षका खण्डन हो गया।

(ख) आगे वादी स्वा.द.जीका प्रमाण देता है कि—'राजा भोजके बनाये 'संजीवनी' इतिहासमें व्यासजी द्वारा ४४००, उनके शिष्यों द्वारा ५६०० कुल १० सहस्र श्लोकका भारत बनाना लिखा है—विक्रमादित्य के समय २० हज़ार, मेरे (भोज) के पिता के समय २५ और मेरी आधी

आयुमें ३० सहस्र महाभारत मिलता है।

यह बात गलत है, राजा भोजका बनाया कोई भी इतिहास ग्रन्थ संसारमें प्रसिद्ध नहीं है। न हस्तलिखित उपलब्ध है और न मुद्रित। न उसके किसी ग्रन्थमें उद्धरण मिलते हैं, स्वा.द.के कहे हुए 'भिंड' में भी उक्त पुस्तक नहीं मिली। न ही उसमें कोई प्रमाण है। उसमें भी 'भारत' की संख्या लिखी है, महाभारतकी नहीं। महाभारत तो १ लाख संख्याका है। पहले तो वादी ६००० पद्य महाभारतके मानता था, अब साढ़े चार हज़ार या दस हज़ार मानने लगा। पहले स्वामीजी महाभारत के २४ सहस्र पद्य मानते थे; अब ४॥ सहस्र मानने लगे। महाभारतके विदुर-प्रजागरके पढ़नेकेलिए भी स्वामीने लिखा है (स.प्र. ६ स.पृ. १०३) सो वह भी ४॥ हज़ार श्लोकोंमें कैसे आ सकता है? और स्वा.द.जीने जो राजाओंकी वंशावली लिखी है; यह क्या उनने ४४०० श्लोकों वाले महाभारतसे ली? क्या यह सम्भव है?

(ग) ग्रन्थके नामके सम्वन्धमें विवाद मानते हुए वादीने जय, भारत, महाभारत यह तीन नाम बताये हैं। 'जयाख्यं भारतं महत्' (स्वर्गा० ५।४९) यह प्रमाण भी वादीने दिया है, इससे उसीका खण्डन है—'जयाख्यं भारतं महत्' यहाँ छन्दके कारण 'भारतं' से 'महत्' पीछे लिखा है, सो उससे 'महाभारत' नाम सिद्ध हुआ। स्वा.द.ने भी 'भारत' नाम दिया है, तो क्या 'महाभारत' नाम स्वा.द. से भी पीछेका हुआ?

(घ) जो कि 'महाभारत' नाम होनेमें वादीने 'पुरा किल सुरैः सर्वैः समेत्य तुलया धृतम्। चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्यधिकं यदा। तदा प्रभृति लोकेस्मिन् महाभारतमुच्यते। महत्त्वे च गुरुत्वे च (महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च) महाभारतमुच्यते। ध्रियमाणं यतोऽधिकम्। निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैःप्रमुच्यते' (१।१।२७२-७४) यह पद्य दिये हैं कि—'प्राचीनकालमें सव देवताओंने तराजूके एक पलड़े पर चारों वेदोंको और दूसरे पर महाभारतको रखा, परन्तु जब यह रहस्य-सहित चारों वेदोंकी

अपेक्षा अधिक भारी निकला; तभीसे यह 'महाभारत' कहा जाने लगा' इससे वादी क्या सिद्ध करना चाहता है ? यदि यह कि—'पहले 'भारत' था, फिर प्रक्षेप डालनेसे भारी हो गया' पर यह इन पद्योंसे नहीं निकलता। इस पद्यके 'पुरा' शब्दसे सिद्ध हो रहा है कि—पहले ही इसका नाम महाभारत है। शेष 'भारत' तो 'महाभारत' का संक्षिप्त शब्द है, जैसे कि-'सप्तसिन्धु'का 'सिन्धु'। हमारे 'सनातनधर्मालोक' का 'आलोक'; सो यह भिन्न-भिन्न नाम महाभारतत्वकी क्षति करनेवाले नहीं हैं, और न ही 'जय, भारत, महाभारत' यह क्रमिक नाम हैं; क्योंकि इसमें कुछ प्रमाण नहीं। सभी नाम एक ही समयके हैं। 'भारत' कोई द्वापरकालीन स्वतन्त्र पुस्तक नहीं। रूपान्तरता इतनी है कि-पहले व्यासजीने शुक, वैशम्पायन आदिको पढ़ाया, यह उसी समय ही १ लाख श्लोकोंका था। 'एकं शतं-सहस्रं तु मानुषेपु प्रतिष्ठितम्' (१।१।१०७) फिर वैशम्पायनने जनमेजय को सुनाया; इनके जो कुछ श्लोक बढ़े; फिर सौतिने मुनियोंको जो सुनाया, इनके कुछ पद्य भी बढ़े, उन पद्योंकी संख्या एक लाखसे अतिरिक्त होगी। इसलिए वर्तमान महाभारत एक लाख तथा कुछ सौ वा कुछ हज़ार ऊपरका होना चाहिये; पर अब जो कम पद्य मिलते हैं, इससे इसमें न्यूनता तो सिद्ध हुई, प्रक्षेप नहीं। प्रक्षेप वह नहीं, जिसे वादी अपने सिद्धान्तके विरोध होनेसे बताते हैं; तब क्या महाभारतको अपनेसे पाँच हज़ार वर्षके पीछे बने हुए स.प्र.के सिद्धान्तोंका अनुगामी होना चाहिये था ? यह तो उपहसनीय बात होती। प्रक्षेप वह माना जा सकता है, जहां पूर्वापर-विरोध हो। जैसे कि महाभारतकी मुख्य कथा कौरव-पाण्डवोंकी कथासे जिसमें शान्त-स्वभाववाले युद्धमें भागते हुए भी युधिष्ठिरको क्षत्रिय कहा गया, और आततायी भी अश्वत्थामाको ब्राह्मण कहा गया; और उसे मारा न जाकर छोड़ दिया गया—इससे जन्मना-वर्णव्यवस्था एवं ब्राह्मणका सम्मान सिद्ध होता हैं, पर जहां महाभारतमें वर्णव्यवस्था इससे विरुद्ध गुणकर्मणा दीखे, वहां प्रक्षेप अथवा कर्म-प्रशंसा समझनी चाहिये। २४००० संख्या तो उपाख्यानोंसे बिना बतलाई गई

है, वही प्रणेता अपनी पुस्तककी सरसताकेलिए उपाख्यान भी साथ ही लिखता है। सो यह संख्या उपाख्यानोंके पद्योंकी संख्या-प्रतिपादनार्थ है; 'श्रीव्यासने इसके २४००० श्लोक बनाये, पीछे अन्य लोगोंने प्रक्षेप डाल-डालकर पद्यसंख्या एक लाख कर दी', यह वादियोंका पक्ष तो निराधार है। ४४००, ६००० संख्या महाभारतकी बेबुनियाद है। गरुडपुराणके अनुसार ६००० संख्या कृतयुगके 'भारत' की थी, द्वापरके इस महाभारतकी नहीं। 'साम्प्रदायिक-प्रतिद्वन्द्विता' महाभारतमें कुछ भी नहीं। जो भारतीय-विद्वान् ऐसा कहते हैं; यह पाश्चात्य-विद्वानोंका अनुकरण ही है। स्वा.द. तथा उनका आर्यसमाज भी पाश्चात्य-सिद्धान्तों का अर्वाचीन भारतीय-संस्करण है। केवल अँग्रेज़ी-मदिरा जरा रूपान्तर करके भारतीय बोतलमें डालकर वेदका लेबिल लगाकर बनाई गई है; तभी यहांके भारतीय लोग स्वा.द.जीको अँग्रेज़ोंका तनख्वाख्वार उन दिनों कहते थे। श्रीगान्धिजी अथवा अन्य भारतीय यदि महाभारतको इतिहास न मानकर 'काल्पनिक काव्य' अपने हृदयमें होनेवाली सुवृत्ति-कुवृत्तियोंका युद्ध बताने वाला' मानते हैं; तो यह उन पर अँग्रेज़ी पढ़े-लिखे होनेसे चोटी कटा देना, जनेऊ न पहरना आदि अन्य प्रभावोंकी तरह लुडविग, मेकडानल्ड आदि पाश्चात्य विद्वानोंका ही प्रभाव है। उनका पात्रोंकी 'अमानुषी वा अतिमानुषी उत्पत्ति' बताना उनकी अल्पश्रुतताका फल है। **अणिमा-महिमा आदि अष्ट-सिद्धियोंका** तथा योग-दर्शनके **विभूतिपाद** का तथा तपोबलका यदि मनन किया जावे; तब देव तथा ऋषि-मुनियोंमें लोकोत्तर शक्ति जानी जा सकती है, तब ऐसी उत्पत्तियां असम्भव नहीं रहतीं। देवता तथा ऋषि मनुष्यसे भिन्न योनि होनेसे (यह 'आलोक' के चतुर्थ पुष्प (पृ. ४०५-४३७) में देखो) तथा लोकोत्तर शक्तिशाली होनेसे अमानुषी वा अतिमानुषी उत्पत्तिमें कुछ वैचित्र्य नहीं रहता।

मनुष्यके दौड़नेमें तथा ट्रेन एवं विमानके दौडने वा उडनेमें मानुषी वा दिव्य अग्निका ही तो बलाबलका भेद है। उसमें फिर देवतारवता

हनुमान्‌का भी उडकर ४०० कोस समुद्र पार करना भी देखा जा सकता है; तब फिर क्या रामायण भी आलङ्कारिक मान ली जावेगी ?

(१०) वादी लिखता है कि—'महाभारतकी भाँति गीतामें भी पौराणिक लोग वेदवाक्यके समान अक्षर-अक्षर ठीक मानते हैं, उसमें घटा-बढ़ी नहीं मानते'। इससे वादी वेदवाक्यका अक्षर-अक्षर ठीक मानता है—यह प्रतीत होता है, पर पाश्चात्य विद्वान् वेदमें भी घटा-बढ़ी मानते हैं, ऋसं.के १म तथा १०म मण्डलको वे अर्वाचीन मानते हैं, इसीं प्रकार उनके अनुकर्ता भारतीय भी वेदमें प्रक्षेप मानते हैं। आर्यसमाजके ही कई व्यक्ति वेदके बालखिल्य, कुन्तापसूक्त, आरण्यक पर्व, महानाम्नी आर्चिक, पुरुष-सूक्त आदि (देखो श्रीमुन्शीरामजीका छपाया आ.स.के विद्वान् श्रीहरिप्रसाद मुनिका वेदसर्वस्व-प्रथमभाग) तथा अथर्ववेदसं.के कई मन्त्रों जैसे 'आङ्गिरसानामाद्यैः पञ्चानुवाकैः स्वाहा' (१९।२२।१) 'आथर्वणानां चतुर्ऋचेभ्यः स्वाहा' (१९।२३।१) 'विंशतिः स्वाहा' 'महत्काण्डाय स्वाहा' तृचेभ्यः स्वाहा, क्षुद्रेभ्यः स्वाहा' (१७, १८, १९, २१) को (देखो आर्यसमाजी विद्वान् श्रीरघुनन्दनशर्माकी वैदिक-सम्पत्ति) प्रक्षिप्त मानते हैं—जैसे यह पाश्चात्यगण-प्रभावित हैं; वैसे ही महाभारतमें सारी गीता को ही प्रक्षिप्त माननेवाले तुम लोग भी पाश्चात्योंकी जूठी प्लेटें चाटने-वाले हो। गीताग्रन्थ सदैव लोगोंसे कण्ठाग्र किया जाता रहा है, इसका पाठ भी किया जाता रहा हैं; यही कारण है कि–इसमें पाठान्तर भी बहुतसे नहीं हैं; अतः गीताके ७०० श्लोक पूरे रहे हैं; कोई प्रक्षेप नहीं हुआ।

यह कहना कि—'वेदोंका ज्ञान मनुष्यों तक ऋषियों वा ब्रह्मा द्वारा ही पहुँचा, पर गीताज्ञान तो ईश्वर द्वारा दिया गया सीधा उपदेश है—'गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः। या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता' (भीष्मपर्व ४।३।१) अतएव वह वेदोंसे अधिक महत्त्वशाली है' (गीता-विमर्श पृ. २०) यह बिल्कुल ठीक है, इसमें

द्विजमात्रके अधिकारका भी प्रतिवन्ध नहीं, तभी तो यह देश-वि... एक छोरसे दूतरे छोर तक पहुँची है, और सभीसे सम्मानित है। ठीक... है—'सौ सयाने एक मत'। 'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन' (२।४१) जो थोड़ेसे विगड़े दिमागके गीतामें प्रक्षेप मानते हैं; वे ... सभी प्रायः पाश्चात्य मतके दास हैं। जव स्वा.द. ही ऐसे थे; तो ... को मिले हुए महाभारतमें ३२००० श्लोक माननेवाले बावा बालकृ... महाभारतमें गीताको यदि प्रक्षिप्त मानते थे, वे ही पाश्चात्य-प्रभावित ... न होंगे ? वस्तुतः जिसके मन्तव्योंमें जिस पुस्तकसे कुछ क्षति पड़ती है, ... उसे अर्वाचीन वनानेकी चेष्टा किया करता है। यह सब अढाई पा... अलग-अलग खिचड़ी पकानेवाले हैं, इनका कुछ भी मूल्य नहीं। ... श्रीभूमित्र अथवा स्वा० आत्मानन्द आदिके कथनका भला क्या मूल्य?

(ख) गीतामें परस्पर-विरोध एवं पुनरुक्ति दोष वतानेवाला ... श्रीआलाराम सागरका 'हिन्दुधर्म व्याख्यानदर्पण' देखे, जिसमें स.प्र. ... ऋभाभू, आदिके परस्पर-विरोध (दारोग हल्फी) सैकड़ोंकी संख्या... वताये गए हैं; तव स.प्र. आदिको भी भिन्न-भिन्न लोगोंकी रचना ... लो ! (ग) यह कहना व्यर्थ वा निस्सार है कि—'कहीं तो कृष्ण अपने... पृथक् ईश्वरका अस्तित्व निरूपित करते हैं, और कहीं, वल्कि प्र... अपनेको ही ईश्वर कहते हैं ? एक वक्ता एक साथ दो शैलियोंका प्र... नहीं कर सकता'। वादी वेदको ही देख ले, उसमें कहीं ईश्वरका उ... पुरुष (अहं आदि) द्वारा निरूपण है, और कहीं प्रथम पुरुषमें; तव क... वेदमें भी वादी भिन्न-भिन्न लेखकोंका प्रक्षेप मानेगा ? ईश्वरको प्र... पुरुषमें वतानेवाले मन्त्रोंका ऋषियों द्वारा प्रक्षेप मानेगा ? वस्तुतः ... सव महामोह है, साम्प्रदायिक दृष्टिकोण है; इसका कुछ भी मह... नहीं।

(११) आगे वादी 'यामिमाँ पुष्पिताँ वाचं' (गीता २।४२, ... ४६) इन गीतापद्योंसे वेदोंकी हेयता सिद्ध करता हैं; इसपर वा...

'आलोक' (८) पृ. १८८-२११ तथा इसी पुष्पमें पृ. १२०-१३० में विवेचन देखे। (ख) गीतामें वेदोंकी प्रशंसा बचते-बचते नहीं है किन्तु, खुलकर है। भगवान्ने अपनेको वेदात्मक कहा है, यह ८म पुष्पमें देखो। (ग) "श्रीशङ्कराचार्यने श्रुतिके वचन उपनिषदोंके दिये हैं, वेदोंके नहीं" यह वादीका कथन निरर्थक है। उपनिषदें भी वेद हैं; इसकेलिए अगला निवन्ध देखो।

आचार्य शङ्करको उपनिषदोंका विषय, ज्ञान इष्ट होनेसे उन्हींके प्रमाण उनने दिये हैं। मन्त्रभागके भी दिये हैं, देखो उनका वेदान्तदर्शन का भाष्य। (घ) यह गलत बात है कि—'वेदोंकी शिक्षा शंकरके अद्वैतवादसे मेल नहीं खाती' वेद 'पुरुष एवेद ँ्सर्वं' कहकर अद्वैतवादको पारमार्थिक बता रहा है। कई द्वैतवादके वचन वेदमें यदि प्रतिभात होते हैं, तो व्यवहारवादके कारण, इस विषयमें गत निवन्धमें स्पष्टता की जा चुकी है। (ङ) 'गीतामें कहीं जीव-ब्रह्मका प्रथकत्व (?) कहीं एकत्व, कहीं ईश्वरको निराकार और अजन्मा, कहीं जन्म धारणकर अवतार लेना परस्पर विरोधी विचारधाराओंसे साम्प्रदायिक-प्रतिद्वन्द्विताका विशेष हाथ सिद्ध होता है' यह वादीका कथन अज्ञानपूर्ण है। परमात्मा लोकोत्तर होनेसे उसमें विरोधी धर्म बताना उसकी अलौकिकताका भूषण हैं, दूषण नहीं। कहीं व्यावहारिकवाद तथा कहीं पारमार्थिकवाद भी होता हैं—इसका नाम विरोध नहीं होता। इस विषयमें अन्यत्र देखो।

उपनिषद्रूपी गौओंके दोग्धा गोपालनन्दन पुराने समयके थे; आजकलके गवालोंकी तरह दूधमें पानी मिलाने वाले नहीं थे। यह तो आजकलके ईमानदारीसे रहित आप जैसे व्यक्तियोंके समाजोंकी प्रकृति है कि—स्वयं प्रक्षेप करना; और अप्रक्षिप्तको भी प्रक्षिप्त बताते जाना।

(१२) 'समस्त गीता प्रक्षिप्त' बताते हुए वादी लिखता है कि—भीष्मपर्वके ४३।४ पद्यके अनुसार श्रीकृष्णके ६२०, अर्जुनके ५७, संजयके ६७, धृतराष्ट्रका १ पद्य कुल ७४५ श्लोक गीताके होने चाहियें, पर

आजकलकी गीतामें १ श्लोक धृतराष्ट्रका, ३९ संजयके, ८६ अर्जुनके ५७४ श्रीकृष्णके, कुल ७०० हैं; इससे स्पष्ट है कि-गीतामें भी प्रक्षेप हैं। श्रीकृष्णके ४६ श्लोक कम हैं; संजयके भी २८ कम हैं; और अर्जुन के २९ श्लोक बढ़े हैं'।

इस पर कथन यह है कि—गिनतीसे वेपर्वाहीसे कभी ऐसी भूलें हो भी जाती हैं। देखो स्वा.द.से गिनी हुई कई वेदमन्त्रोंकी संख्या और उसमें आर्यसमाजी श्रीयुधिष्ठिरजी मीमांसक द्वारा बताई भूल। वादीने तिलकजी द्वारा लिखे हुए जो अङ्क लिखे हैं; उनके अनुसार गीतामें ६९६ श्लोक होते हैं; तब इस कमीमें गिनतीकी भूल ही मानी जा सकती है; तो क्या तिलकजीके समयसे वादीके समय तक ४ श्लोक बढ़ गये? ७०० पद्योंकी गीता प्रसिद्ध चली आ रही है। जो कि महाभारतके भीष्मपर्वके ४३।१-५ पद्य दिये जाते हैं, वे कलकत्ते में मुद्रित महाभारतमें नहीं मिलते, प्राचीन महाभारतके टीकाकार श्रीनीलकण्ठने भी इन पद्योंकेलिए लिखा है कि—**'गौड़ैः न पठ्यन्ते'** इससे प्रतीत होता है कि-यह श्लोक ही एकदेशी हैं।

अन्य बात यह है कि—वादी लोग अवतारवादके कारण गीतामें प्रक्षेप मानते हैं; सो अवतारवाद भगवान्के अपने विषयमें कहे हुए पद्योंसे ही प्रतीत होता है; तो भगवान्के पद्य तो उल्टा ४६ न्यून हैं; वे पूरे होते, तो अवतारवादकी और भी स्पष्टता होती। अर्जुनके जो पद्य बढ़े हैं, इससे भी कोई हानि नहीं; क्योंकि—उसने तो भगवान्से प्रश्न किये हैं; उनसे अवतारवादको कुछ भी लाभ नहीं प्राप्त होता। अतः गीतामें प्रक्षिप्तताकी कुछ भी गुञ्जायश नहीं। ऐसी गिनतीकी भूलें तो ऋग्वेदमें भी मिलती हैं; उसमें (५।२४, ५।४१।२० सूक्त) में कई लोगोंने चार पाद समझकर एक ही मन्त्र माना है, और कइयोंने दो पादोंका मन्त्र मानकर वहां दो ही मन्त्र माने हैं; अब वादी स्वयं सोचे कि-इनमें मन्त्र-संख्याभेद हो जावेगा, वा नहीं? तब क्या इसमें न्यूनाधिकता मानी जावेगी?

स्वा.द.जीने ऋसं.की मन्त्रसंख्या १०५८९ मानी है, श्रीशिवशंकरकाव्यतीर्थने १०४०२, श्रीसातवलेकरने १०५५२ मानी है, बालखिल्यको कई लोगोंने ऋसं. का अङ्ग माना है, कइयोंने पृथक् माना है, तब क्या वेदमें भी वादी न्यूनाधिक वा प्रक्षेप आदि माननेकेलिए तैयार है ? अनुवाकों आदिकी संख्यामें भी भेद है; इस प्रकार महाभारतके पर्व तथा उपपर्वोंकी संख्यामें भेद समाहित कर लेना चाहिये ।

दुर्गास्तवनसे यदि गीताको मध्यकालीन पौराणिक युगकी देन माना जावे; तो वादीने पृ. ३० में दुर्गाका नाम 'भद्रकाली' भी लिखा है; और दुर्गाको भगवान्‌की शक्ति माना जाता है; स्वा.द.जीने भी 'भद्रकाल्यै नमः' (ऋभाभू. पञ्चमहा. पृ. ३०८) आदिमें 'भद्रकाली' को नमस्कार कराया है; और उसे (भद्रकाली-ईश्वरशक्तिः) (ऋभाभू. पृ. ३०८ प. २२ में) भगवान्‌की शक्ति माना है, वेदमें भी वागाम्भृणीयसूक्त (ऋ. १०।१२५) में आदि-शक्तिका वर्णन माना जाता है; यजुर्वेदमाध्यं.सं. (२३।१८) में भी 'अम्बे अम्बिके अम्बालिके' आदिरूपमें देवी दुर्गाका वर्णन आता है। कृष्णयजुर्वेद मैत्रायणीसं.में भी 'तद्गाङ्गौच्याय विद्महे गिरिसुताय धीमहि। तन्नो गौरी प्रचोदयात्' (२।९।१।४) दुर्गादेवीका वर्णन है, कृ.य. तैत्तिरीयारण्यक जिसके मन्त्रको स्वा.द.जीने अपने तीनों पुस्तकोंके आदिके मंगलाचरणमें लिखा है—में भी दुर्गागायत्री आई है—'कात्यायनाय विद्महे कन्याकुमारि धीमहि । तन्नो दुर्गा प्रचोदयात्' (१०-१) । तब क्या वैदिक-कालको भी पौराणिककालके पीछेका मानकर 'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् । अनन्तरं तु वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः' (पद्म. सृष्टि. १०४) यह पक्ष वादी मान लेगा ? अतः स्पष्ट है कि—यह गीताके गिरानेके वादीके निकम्मे हथकण्डेमात्र हैं ।

(१३) जो कि यह कहा जाता है कि—युधिष्ठिरको अपनी निर्बल सैन्यशक्ति देखकर अपनी विजय पर सन्देह हो गया था, अर्जुनने उसे समझा-बुझाकर युद्धकेलिए तत्पर किया; वही अर्जुन एक कल्पित मोह-

वश युद्धसे विमुख हो जावे, तो यह बड़ा आश्चर्य है" । आश्चर्य ... मोहके समयका पता नहीं लगता । यह मोह तो द्रोणाचार्यके ... समय भी अर्जुनको हुआ है (१९६ अ.) इस विषयमें गत नि... देखो । यहां अर्जुनको भय नहीं है, यह तो उसे दयाका सञ्चार ... गया था ।

(ख) 'स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्' (१।१... 'धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः' (२०) में 'तुम्हारे पुत्रोंके' न कहकर 'धृतरा... पुत्रोंके' वाक्यका प्रयोग करनेसे यह 'संजय-धृतराष्ट्र संवाद' नहीं है, ... किसी तीसरे व्यक्तिकी कल्पना है' यह वादीका कथन भी व्यर्थ है, ... इसमें यह सूचित कर रहा था कि—यह सब पापड़ धृतराष्ट्रके वेले हुए । और सामने ठहरे हुएको भी कभी 'तुम' न कहकर 'परोक्षत... 'दाशरथे !' इत्यादि रूपमें कहा जाता है । और फिर यहां तीसरे ... पुस्तकके संयोजक श्रीव्यासजी हैं; अतः कोई भी दोष नहीं आता।

(ग) 'दिव्यदृष्टिमें संजय युद्धकी घटनाओंको देख सकता था, वह ... बातोंको सुन नहीं सकता' यह वादीका कथन व्यर्थ है, 'दृश' धातुका ... 'ज्ञान' भी होता है, जैसे सांख्य-दर्शन, न्यायदर्शन आदि । सो ज्ञान... देखना-सुनना आदि सब आ जाता है । आजकलके 'टेलिवियन' में देख... तथा सुनना दोनों होता है ।

(घ) जो कि वादी कहता है कि—'अथ गावल्गणिर्विद्वान् संयुगा... भारत ! प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य भूतभव्यभविष्यवित् । ध्यायते धृतरा... सहसोत्पत्य दुःखितः । आचष्ट निहतं भीष्मं भरतानां पितामहम्' (भीष्म... १३।१-२) युद्धका यह वर्णन संजयने भीष्मकी बाणशय्यापर पड़ने... उसे १० वें दिन प्रत्यक्ष देखकर तब धृतराष्ट्रको सुनाया था। कुरुक्षे... हस्तिनापुर पहुँचनेमें भी उसे दो-तीन दिन लगे होंगे, सो १२-१३ दि... बाद ही धृतराष्ट्रको सुनाया होगा । सो संजयने गीताको दूरसे देखा ... या सुना भी था ? यदि देखा; तो वह उसे सुना नहीं सकता था। ...

सुना था; तो इतने दिनों तक यह उसे अक्षरशः कैसे स्मृत रहा'। यह भी वादीका कथन अदूरदर्शितापूर्ण है। जबकि उसके अपनेसे ही दिये हुए पद्यमें सञ्जयको 'सर्वस्य प्रत्यक्षदर्शी, भूतभव्यभविष्यवित्' माना है। इस विषयमें अग्रिम निबन्धमें भी प्रमाण देखें। वहां 'दृष्टिश्चातीन्द्रिया राजन्! दूराच्छ्रवणमेव च। परचित्तस्य विज्ञानमाकाशे च गतिः शुभा' (भीष्म. १५।६) यहां सञ्जयकी दूरदृष्टि तथा दूरश्रवण तथा आकाश-द्वारा गमन भी कहा है। इससे वादीके प्रश्न सब समाहित हो जाते हैं। 'प्रत्यक्ष'का अर्थ श्रीवात्स्यायनने 'अक्षस्य-अक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्' (न्या. १।१।३) सभी इन्द्रियोंके विषयोंको ग्रहण करना प्रत्यक्ष माना है; तब 'प्रत्यक्षदर्शी' के प्रत्यक्षमें दर्शन-श्रवण यह दोनों तो स्वतः ही आ गये। तभी तो प्रत्यक्षके चाक्षुष, श्रौत्र, घ्राणज, रासन, त्वाच, मानस यह छः भेद माने जाते हैं। योगदर्शनमें दिव्यचक्षु: (३३), दिव्यश्रोत्र (४३), परचित्तज्ञान (१९), सूक्ष्म व्यवहितविप्रकृष्टज्ञान (२५), सारे भुवनका ज्ञान (१६) आदिका वर्णन आता है (विभूतिपाद); तब 'दिव्यदृष्टि' में पूरी योगकी शक्ति आजानेसे संजयको व्यासजी द्वारा इस प्रकारकी शक्ति देनी जिसका वर्णन हम अन्तिम गीता-निबन्धमें लिखेंगे 'योगकी परिधिसे बाहर' की बात नहीं। वादी खण्डनात्मक दृष्टि हटा ले; तो उसे सब समझ आ जावेगा। सो पहले तो संजयने भीष्मजीके मरणका निर्देश-मात्र कर दिया, फिर पीछे उसे पूरा विवरण सुनाया। युद्धक्षेत्रमें भी तो संजय बाहर ही ठहरा हो या अन्दर गया हो, वहां पर भी पूरा विवरण जाननेकेलिए 'दिव्य-दृष्टि' अपेक्षित थी ही। यहां महाभारतकी योजना-नुसार भीष्मका संजय द्वारा युद्धमें जाना कहा है। पर इससे यह नहीं कि—गीता श्रीकृष्ण द्वारा पहले अर्जुनको न सुनाई गई हो! महाभारत में तो अपनी योजनानुसार वर्णन किया गया है, यह नहीं कि—गीता भीष्मके मरनेके बाद सुनाई गई हो?

(१४) श्रीकृष्ण अपना विराट्रूप अर्जुनको दिखलाते हुए कहते हैं-

'यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्' (११।४७) यह अनन्त विराट्रूप तुझे दिखाया है, तेरे सिवाय पहले इसे किसी दूसरेने नहीं देखा' इसपर वादी कहता है—'श्रीकृष्णने बाल्यमें यह विराट्रूप माता यशोदाको दिखलाया था (भागवत १०।८।३७-३९), उसे ही कौरवसभामें श्री दुर्योधन द्वारा पकड़े जानेके समय भी दिखा चुके थे (महा. उद्योग. १३१। ३-२३) तब 'यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्' यह श्रीकृष्णकी बात गलत सिद्ध होती है। यह केवल श्रीकृष्णको ईश्वरावतार वा ब्रह्म सिद्ध करनेकेलिए महाभारतमें पीछेसे जोड़े गये हैं'।

यह वादीका कथन व्यर्थ है। विराट्रूप कई संक्षिप्त तथा कई बड़े, कई प्रकारके दिखलाये जा सकते हैं। सर्कस वालोंके खेल होते हैं; उनकी सूची तो बहुत बड़ी होती है, पर सब खेल सदा एक ही समय वा एक ही दिन नहीं दिखाये जाते। उसमें रीछ साईकिल चलाता है, बकरी अपना मुँह शेरके मुखमें डालती है, हाथी गणेशकी भांति चौकी पर बैठ जाता है; मोटर उडती हुई दिखलाई जाती है, पर यह सब चीजें सदा नहीं दिखाई जातीं। यशोदाको तथा दुर्योधनको रूप दिखलाये अवश्य गये थे, पर अर्जुनको दिखलाया हुआ विराट्रूप अभूतपूर्व था; उनमें भीष्म, द्रोण, आदि सभीका कालाग्निमें जल रहा होना दिखलाया गया था, जो पूर्वरूपोंमें नहीं दिखलाया गया था; अन्य भी विशेषताएँ थीं; अतएव अदृष्टपूर्व 'अभूतपूर्व' शब्द उसकेलिए ठीक हैं। श्रीकृष्ण ईश्वरावतार थे ही; तब उन्हें वैसा यदि कहा गया है; तो पीछेसे जोड़ा गया कहना यह वादीका साम्प्रदायिक दृष्टिकोण होनेसे उपेक्षणीय ही है।

(१५) दूसरी बार श्रीकृष्णद्वारा गीता न सुनानेके विषयमें गत निबन्धमें (पृ.१८९-१९०)में देखो। एक विशेष वक्ताका विशेष आवेशका लेकचर होता है, वह उसे अनल्पज्ञ भी अन्य सभी समयोंमें नहीं सुना सकता; पर दूसरा जो उसे रिकार्डमें भर लेता है, वह उसे स्थिर रख सकता है। उसे सुना भी सकता है। मुझे गत राष्ट्रपति द्वारा शिक्षक पुरस्कार दिया

गया था। टेलीवियनवालोंने मुझे बुलाया; वे सब प्रमाण-पत्र टेलीवियनमें दिखलाये गये। एक पी. एच. डी. द्वारा प्रश्नोत्तर भी मुझसे संस्कृतके विषयमें किये गये थे; हमारे एक शास्त्री पढ़ रहे हुए शिष्यने उसका रिकार्ड कर लिया था; अब उसे एक वर्ष हो गया है, उसे अब भी सुना जा सकता है; महाभारतीयकालमें भी ऐसे यन्त्रोंका होना असम्भव नहीं? पर इस विस्मरणमें न तो भगवान्‌की अभगवत्ता है, न गीतामें उसकी अविद्यमानताकी संपुष्टि, किन्तु अनुगीता सुनानी थी; और यह वह युद्धवाला भी अवसर नहीं था, इसलिए यह कोई दोष नहीं। 'मिलाना' कह देना या अपने विरुद्ध वस्तुओंका प्रक्षेप कह देना यह तो विपक्षियोंका 'तकिया कलाम' है; इसीसे उनका सम्प्रदाय गिरता-पड़ता भी कुछ जी-सा रहा है; नहीं तो सभी लोगोंके अनुसन्धान-निरत होनेपर वह कभीका नष्ट हो जाता।

(१६) वादीका यह कहना कि–७०० श्लोकोंका यह विस्तृत उपदेश सुनाना जबकि उभयपक्षकी सेनाएँ परस्पर जूझनेको तैयार खड़ी हों, दिया जाना सम्भव है?' इसपर 'आलोक' (५) पृ. ७२९-७३४में देखो। यह कहना भी व्यर्थ है कि—'गीताके वहुत वाक्य ऐसे हैं, जिनका अर्जुनको युद्धकेलिए प्रेरणा करनेमें दूरका भी सम्वन्ध नहीं है, और अर्जुनकी कई शङ्काएँ भी ऐसी ही हैं'; तव क्या वादी यह चाहता है कि–वार-वार श्रीकृष्ण यही कहते जाते कि–तू युद्ध कर, तू युद्ध कर। क्या यह नीरस न होता? हठ किये हुएको कई शैलियोंसे समझाना पड़ जाता है; पर वीच-वीचमें मुख्य उद्देश्यको भी दोहराना पड़ता ही है। अर्जुन स्वजनोंको मरने-मारनेके पापसे डर रहा था; जव तक उसे आत्माकी अमरताका तथा निष्काम-कर्मयोगका पक्का पाठ न पढ़ाया जाता, जिससे कर्म भी अकर्म हो जाता है; तव तक 'हत्वापि स इमांल्लोकान् न हन्ति न निवध्यते' (वह पुरुष मारता हुआ भी नहीं मार रहा होता, और पापके बन्धनमें नहीं आता) यह अर्जुनको समझ कैसे आता? इस कारण

वादीकी यह शङ्का अल्पज्ञ दयानन्दियोंको केवल अपनी खण्डन-व्यसनिता वतानेकेलिए है कि—'हमने भी गीताकी आलोचना की है, हम भी दिल्लीके पांच सवारोंमें हैं'!

(१७) जो कि वादी गीतामें पुनरुक्ति वताता है, इसका नाम अभ्यास होता है। यह तात्पर्यनिर्णायक छः लिङ्गोंमें आवश्यक वस्तु होता है। इसीसे अपना पक्ष दृढ हो जाता है। आगे वादीने स्वयं पुनरुक्ति की है कि—'क्या इन परिस्थितियोंमें इस विस्तृत उपदेशकेलिए इतना लम्बा समय मिलना सम्भव है?' इससे उसे गीताकी पुनरुक्तिका समाधान स्वयं समझ लेना चाहिये। इस लम्वी गीताका तो लोग अव भी घंटा-सवा घंटामें पाठ कर लिया करते हैं। जवकि संस्कृत उस समयकी मातृभाषा थी; उसमें लम्वा समय और क्या लगता, जवकि वादी स्वयं मानता है कि—'इन सवमें कुछ समय लगना स्वाभाविक है' (पृ. ४६)। पहले दिन इस प्रकारके विलम्व, देर-वदेर हो ही जाते हैं; तव 'इस देरसे पाण्डवोंकी सेनामें कोई हलचल क्यों नहीं हुई; इत्यादि वादीकी वातें बच्चोंकी-सी लघुशङ्काएँ हैं। जव श्रीकृष्ण रथपर वैठे अर्जुनको उपदेश दे रहे थे; तव दूसरोंको क्या पता लगना था? संजय तथा व्यासजीको तो दिव्यदृष्टिवश पता लगना ही था; अतः यह वादीका कथन भी निरर्थक है। तव 'न अर्जुनको इस प्रकारका कोई विषाद हुआ; और न श्रीकृष्णने कोई गीता-जैसा उपदेश दिया' यह वादीके गीताको उडानेके हथकण्डे उसके गीतासे सन्तप्त हृदयके उच्छ्वासमात्र हैं; इनका मूल्य कुछ भी नहीं? क्योंकि वादी स्वयं लिखता है कि–'इसके पश्चात् तो मानो गीताओं की एक बाढ़-सी आगई'; इससे स्वयं वादीने सिद्ध कर डाला कि—भगवद्गीताका उपदेश हुआ, और प्रभावशाली हुआ; तत्फलस्वरूप अन्य गीताएँ भी वनीं; सवका उद्देश्य ज्ञान-विज्ञानको स्पष्ट करना था; जिससे जगत्‌के दोष नष्ट हों।

(ख) गीताके 'उपनिषद्' नाम पर शङ्का उठानी भी व्यर्थ है,

'उपनिषद्' गुप्त रहस्यका नाम प्रसिद्ध है, इसी गुप्त रहस्य बतानेके कारण कौटलीय अर्थशास्त्रमें उपान्तिम विषयका नाम 'औपनिषदिकाधिकरण' है; और फिर 'सर्वोपनिषदो गावो, दोग्धा गोपालनन्दनः' यह वचन उसके उपनिषद् नाम पर प्रकाश डाल ही रहा है ? यह पुष्पिका महाभारतमें भला गीतामें कैसे हो सकती थी; क्योंकि वहां तो अङ्ग है, फिर व्यासजी ने उस गीताको महाभारतसे पृथक् किया हो; और वास्तविकता देखकर उसे 'उपनिषद्' नाम दिया हो, इसमें असम्भव कुछ नहीं। 'सरिता' पत्रिका अपने विशेष लेखोंको पृथक् भी छपवा लिया करती है, जिसका नाम वह 'रिप्रेंट' कहती है; इसी प्रकार यहां भी समझ लेना चाहिये।

जो कि वादी अनुक्रमणिकामें मुख्य पर्वों तथा उपपर्वोंको भी पर्व कहकर सङ्कर करना मानता है, यह साधारण-सी बातें हैं। ऋग्वेदसं.को किसीने अष्टक-अध्यायरूपमें सङ्कलित किया, और कइयोंने मण्डल-सूक्तके रूपसे, सो परस्पर भेद हो गया; कहीं दो सूक्तका एक सूक्त बन गया; कहीं एक सूक्तके दो सूक्त बन गये; इस प्रकार सामवेदसंहितामें भी देखिये, पर इससे मुख्य वस्तुमें त्रुटि नहीं आती। सो जब अनुक्रमणिकामें गीता-पर्वकी सूचना है; 'पूर्वोक्तं भगवद्गीतापर्व भीष्मवधस्ततः' (आदि. २।६९) अन्यत्र भी 'कश्मलं यत्र पार्थस्य वासुदेवो महामतिः। मोहजं वारयामास हेतुभिर्मोहदर्शिभिः' (आदि. २।२४७) 'यदाऽश्रौषं' (१।१७९) में धृतराष्ट्र-द्वारा श्रीकृष्ण द्वारा विश्वरूप दिखलाना बताया जाकर गीताको महाभारतका अङ्ग सूचित किया गया है। इसी प्रकार 'कथितो हरिगीतासु' (३४६।१०) (यहाँ बहुवचन दिया है; यह गीताकी पुष्पिकाओंमें भी आजकल प्रत्यक्ष है—'श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु'। इसी प्रकार ३४८।५३ में भी 'हरिगीता' शब्द आया है। तथा 'समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवयोर्मृधे। अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम्' (३४८।८) इस शान्तिपर्वके पद्योंके वचनोंमें तथा अनुशासनमें भी तथा 'अनुगीतापर्व'में भी इस प्रकार ७ बार गीताका संकेत आया है; तो इसमें

स्पष्ट गीता महाभारतका अङ्ग ही सिद्ध होती है।

(१८) शेष रहा गीता तथा महाभारतकी भाषाकी समता-असमता; यह तो पाश्चात्य आलोचकों तथा उनसे प्रभावित वस्तुतः उनके चेले-चांटे बने हुए भारतीयोंके हैं, इसी हिसाबसे वे लोग ऋसं.के प्रथम तथा दशम मण्डलको पीछेसे घुसेड़ा हुआ अर्वाचीन और अथर्ववेदकी भाषाकी सुगमता से उसे अत्यन्त-अर्वाचीन मानते हैं। जैसे वेदके विषयमें आर्यसमाजी उन्हें महत्त्व नहीं देते, बल्कि आर्यसमाजी श्रीभगवद्दत्तजी इस पाश्चात्यसम्मत भाषाविज्ञानकी छीछालेदर करते रहते हैं; देखो उनका 'भारतवर्षका बृहद्-इतिहास'; इस प्रकार यहां भी समझ लेना चाहिये। वादी ही संस्कृतमें एक बड़ा पोथा लिखे; उसमें भी भाषाकी समता नहीं पाई जा सकेगी। साहित्यवालोंने तो 'क्वचिद् दोषस्तु समता मार्गभेदस्वरूपिणी' इस भाषासमताको दोष माना है, और 'वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित्-क्वचित्। रचनावृत्ति-वर्णानामन्यथात्वमपीष्यते' (काव्यप्र. ८म) में रचनाभेदके कारण भी बताये हैं।

(१९) आगे वादीने बाणभट्टके 'महाभारतमिव अनन्तगीताकर्णनानन्दितनरम्' कादम्बरीके राजकुलवर्णनपरक वाक्यका जिसमें गीताका स्पष्ट वर्णन है—अर्थ ही नहीं समझा है। वह कहता है कि—इसमें महाभारत में अनन्त गीताओंका उल्लेख है, यह है वादीकी संस्कृत-योग्यता ! फिर कलम चलाते हैं पण्डितजनोंसे मान्य भगवद्गीता पर। उक्त कादम्बरीके वाक्यका राजकुलकी ओर तो यह अर्थ है कि—वहांके नर (पुरुष) अनन्त (बहुत) गीतोंको सुननेसे आनन्दित हो रहे थे; पर महाभारतकी ओर यह अर्थ है कि—'अनन्त (श्रीकृष्ण भगवान्) की गीतासे नर (नरका अवतार अर्जुन) आनन्दित हुआ था'। यहां 'अनन्त' का अर्थ 'भगवान्' है, अनन्त गीताएँ नहीं। इससे बाणभट्टके समय (सं. ६३३) में भी भगवद्गीताकी सत्ताकी स्पष्ट सिद्धि है, जबकि वादी कहता है—'यद्यपि इससे बाणभट्टके समयमें भगवद्गीताकी विद्यमानता की स्पष्ट सिद्धि नहीं

होती' यह है इन लोगोंकी योग्यता; और 'दिल्लीके ५ सवारोंमें' अपना नाम भी दर्ज करनेकी चेष्टा करते हैं, तब बाणभट्टके समय गीताका नाम तब लिया जा सकता है; जबकि वह पहलेसे ही बहुत प्रसिद्ध रही हो; तब शङ्कराचार्यके समयसे भी वह बहुत पहलेकी सिद्ध और प्रसिद्ध सिद्ध हुई; नहीं तो इतना बड़ा दार्शनिक विद्वान् आचार्य शङ्कर उस पर भाष्य करने कैसे बैठता ?

(ख) वादीने जो कि-आगे 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' गीताका वचन जो 'बौधायनगृह्यशेषसूत्र'में भी मिलता है की प्रक्षिप्तताकी शंका की है; जब अपना पक्ष गिरता हो; तो यह विपक्षी प्रक्षेपके सिवाय अन्य कह ही क्या सकते हैं ? वैष्णव भी शुरूसे चले आ रहे हैं; क्या विष्णु-भगवान् वादीके समयमें उत्पन्न हुए ? वेदमें भी विष्णुसूक्त प्रसिद्ध है। जब वादीके स्वामी आर्याभिविनयमें वेदमें भगवान्को सोमरस समर्पण करनेमें प्रक्षिप्तता नहीं समझते; तब यहां पत्र-पुष्पके अर्पण करनेमें अवैदिकता वा प्रक्षिप्तता कैसी ?

(ग) 'गीताकारने बौद्धमतके कई विचारोंको अपना रूप रंग देकर गीतामें समावेश कर लिया है; वादीका यह कथन भी महत्त्वपूर्ण नहीं। बुद्ध भी विष्णुके अवतार थे, तथा श्रीकृष्ण भी विष्णुके अवतार थे; तब एकके ही भिन्न-भिन्न रूपमें समानता भी आ सकती है; शेष जो बुद्धरूपमें विरुद्ध बातें थीं; वह तो वैसे विचार वालोंको जो सनातनधर्ममें मिलजुलकर हानि पहुँचा रहे थे; सो उनको पृथक् करनेकी यह नीति थी; इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. १९३-२०७ में देखो। 'बुद्धको अवतार मान लेना यह वैष्णवाचार्योंकी स्वमतवृद्धिकेलिए अच्छी सूझ-बूझ थी' यह वादीकी बात निर्मूल है। अनुसन्धाताओंने भागवतधर्मको वर्तमान बौद्धमतसे प्राचीन माना है। सो वर्तमान बौद्धधर्मने ही आचरणदृष्टिसे उपनिषदोंके संन्यासमार्गका अनुकरण किया था। वैसे तो ईसाई धर्म की कई बातें भी गीतामें मिलती हैं; तब क्या गीताको ईसाई धर्मसे भी

अर्वाचीन मान लिया जायगा ? जैसे यह कोई नहीं मानता; वैसे ही वर्तमान बौद्धधर्मसे भी पहलेकी वस्तु है।

फलतः गीता एक 'अलौकिक वस्तु' है; तभी तो उन पर टीका और भाष्योंकी बाढ़ वादीको भी माननी पड़ी। सब मूर्ख नहीं हैं; उस पर इतना प्रयत्न करते। आर्यसमाजी भी उससे पूर्ण प्रभावित। एक-दो विपक्षी-जैसे ऐरे-गैरे, नत्थू-खैरे, कट्टर-दयानन्दियोंको भला कैसे सहन होता; इसलिए अपने सिर पर सवार सूर्यकी ओर थूकने जो फल निकलना था, वही उनके मुँहपर पड़ रहा है। गीता यह कहती है कि-वेदोंकी ओर न आओ; गीता तो वेदकी खूब प्रशंसा करती है, देखो 'आलोक' (८ पुष्प पृ. १९०); भला भगवान् अपने ही वेदोंकी क्यों न प्रशंसा करें ? पर गीता साधारण अधिकारियोंकेलिए वेदका है, या वेदका द्वार है। वादी उसका विना खण्डन किये स्वयं भी वेदकी ओर जावे; और लोगोंको भी वेदकी ओर प्रवृत्त करे-यह उसे कौन निषिद्ध करता है; पर क्या उधर प्रवृत्ति गीताकी निन्दाके विना नहीं हो सकती ? महाशय, इस निन्दन-प्रवृत्तिको तथा निस्सार खण्डन-मण्डनको छोड़ो, इससे तुम्हारा कुछ बनने-बनानेका नहीं है। व्यर्थ अपने कलिकल्मषकलुषित मत बनाओ। गीता तथा पुराणोंको साथ ही रखकर वेदकी ओर मुड़ो। अपने ही साम्प्रदायिक-सिद्धान्तोंको बलात् वेदके मत्थे मत मढ़ो। याद रखो कि यही पुराणादि ही तुम्हें वेदके समझनेमें सहायता देंगे; क्योंकि वे भी वेदके ही रोचक भाष्य हैं, और याद रखो कि—

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरेदिति' (महा. १।१।२६४)। नहीं तो आप लोगोंकी दुर्नीतियोंसे ही उत्पन्न साम्यवाद आपके साथ ही साथ दूसरोंकी भी भस्म कर देगा। वेद आगम है—मानवका बुद्धिवाद नहीं। मानवका बुद्धिवाद अनित्य होता है, जैसाकि यास्कने कहा है (नि. १।२।७) इसके फेरमें न पड़ो

वेदमें भी भगवान्‌की ही बुद्धि वैशेषिकदर्शन (१।३, ६।१) को इष्ट है, मानुषी नहीं। गीताके विषयमें अपने उच्चकोटिके दार्शनिक विद्वान् श्री-गङ्गाप्रसाद उपाध्यायके विचारोंका जो तुम्हारे पुस्तकके पृ. ५७ से पृ. ६४ तक उद्धृत हैं—मान करो। उन्होंने स्पष्ट माना है कि—गीता वेदोंका मान करती है। आ.स.के विद्यामार्तण्ड श्रीध.दे.जी भी ऐसा ही मानते हैं, यह हम गत निवन्धमें दिखला चुके हैं। तव इनके द्वारा भी पूर्वपक्षीका मत खण्डित हो गया। प्रतिपक्षी 'शास्त्र' शब्दसे 'वेद' नहीं मानता, पर उसे जानना चाहिये कि गीताप्रोक्त 'शास्त्र' शब्द एक व्यापक शब्द है, जिसमें वेदादि शास्त्र सभी आ जाते हैं। वेद सबका मूल है, तव उसका ग्रहण स्वतः ही होगा। ऐसा कहनेवाली गीता वेदोंको स्पष्ट मानती है-- यह सिद्ध हो जाता है। गीताके 'वेदवादरताः' में 'वाद' का अर्थ 'अर्थवाद' है। सो स्तुति-निन्दा करके प्रवृत्ति-निवृत्ति करनेवाले अर्थवादोंका अपने अर्थमें तात्पर्य नहीं होता। इसी वातको वतलानेकेलिए 'वेदवादों'में न लग जानेमें श्रीगीताने प्रेरणा की है। इससे वेदकी विधि तो गीताको मान्य है—यह स्पष्ट हैं। वेदके अर्थवादोंको 'साधन' समझना चाहिये, उन्हे 'साध्य' समझनेकी भूल नहीं करनी चाहिये, यह गीताका उन अर्थवादोंकी निन्दामें तात्पर्य है।

वादीका यह कहना कि—'गीता २।४२, ४५, ४६ में स्पष्ट वेदका नाम लेकर वेदकी हेयता दिखाई गई है' यह वादीकी अपनी ही अल्प-श्रुतता है, इस विषयमें 'आलोक' (५) पृ. ७५३-७६७ तथा 'आलोक' (८) पृ. १८८-२११ देखो, तथा वादी इस पुष्पके पृ. १२१-१३० में देखे। वादी यदि उधर निष्पक्ष दृष्टि डाले; तो उसे सव समझ आ सकता है, पर यदि वह 'मेरे घोड़ेकी तीन टाँगें हैं' में अड़ा रहे; और वाल-चापल वा अपने वालहठको न छोड़ना चाहे; और समझना ही न चाहे; तव तो 'ज्ञानलवदुर्विदग्धं व्रह्मापि नरं न रञ्जयति' यह भर्तृहरि का कथन ही प्रमाणित होगा।

५ वेदस्वरूपनिरूपण (६)

('दयानन्दसिद्धान्तप्रकाश' अथवा 'दयानन्दसिद्धान्तसंहार' ?)

'वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र-तत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते'॥ (मनु. १२।१०२)

(वेद एवं शास्त्रोंके अर्थ एवं तत्त्वको जाननेवाला पुरुष चाहे जिस भी आश्रममें रहे; वह इस लोकमें रहता हुआ ही ब्रह्मभावको प्राप्त होने में समर्थ होता है)।

यह वादिप्रतिवादिमान्य मनुस्मृतिका वेदके तत्त्वज्ञाताकेलिए कहा हुआ अभिमत है। सो 'आलोक' पाठकोंको भी वेदस्वरूपके ज्ञानमें रुचि अवश्य रखनी चाहिये। यह हमारा वेदविषयक निवन्ध वहुत वड़ा होगा; पर हम वीच-वीचमें 'गीता' विषयक निवन्धोंका व्यवधान रखेंगे; जिससे पाठकोंको एक गम्भीर निवन्धके अवगाहनमें वैरस्य प्रतीत न हो।

गत निवन्धमें 'निरुक्त' के आधार पर हमने सिद्ध कर दिया है कि-वेद सभी शाखा, व्राह्मणों (आरण्यकों, उपनिषदों) का नाम है। इसीसे ही प्रतिपक्षियोंका यह मत सर्वथा खण्डित हो जाता है कि—केवल वर्तमान चार संहिताओंका नाम ही वेद है, शेष शाखा, व्राह्मणादि अवेद हैं'। तव इससे विरुद्ध मत रखनेवालोंकी पुस्तकोंके पृथक् खण्डन करनेकी आवश्यकता यद्यपि नहीं रहती; तथापि यदि प्रतिपक्षियोंकी पुस्तकका पृथक्-रूपसे खण्डन न किया जावे; तो वे समझ लेते हैं कि-हमारा मत ही ठीक है। उनको यह मोह न रहे-इसकेलिए यह दीर्घ निवन्ध है।

'सरस्वती' तथा अन्य 'श्रीस्वाध्याय' आदि पत्रोंमें प्रकाशित हमारे वेदविषयक निवन्धोंको आधारीकृत करके 'दयानन्दरहस्य'के लेखकने अपनी शैलीसे अपनी उस पुस्तकमें वेदविषयक एक लम्वा निवन्ध रखा था; उसकी प्रत्यालोचना 'दयानन्दसिद्धान्तप्रकाश' पुस्तकमें एक दयानन्दी द्वारा की गई थी; उसमें 'सार्वदेशिक' में प्रकाशित श्रीव्र.मु.जीके लेखकी

अपेक्षा नवीनता तो प्रायः नहीं थी; पर दयानन्दी लोग उस पुस्तकसे उत्साहित अवश्य हुए थे। वे दयानन्दी वेदविषयमें तथा व्याकरणमें पूर्ण ज्ञान न होनेसे यह नहीं समझ सके थे कि—'दयानन्दसिद्धान्तप्रकाश' वस्तुतः दयानन्दके वचनोंका पोषक नहीं, किन्तु वह तो दयानन्दके वचनों का संहारक ही है—यही बात हम इस निबन्धमें दर्शावेंगे। इससे पाठकों को वेदका वास्तविक स्वरूप भी ज्ञात हो जायेगा।

मालूम नहीं कि—'दयानन्दरहस्य'के लेखक अपनी उस प्रत्युत्तरात्मक पुस्तकको कब छपावें, यद्यपि वह उनने तैयार तो कर रखी है—यह उनके पत्रसे प्रतीत हुआ है; पर हम 'द.सि.प्र.के आक्रमणको अपने ऊपर समझकर; (क्योंकि-'दयानन्दरहस्य' का वेदविषयक निबन्ध हमारे ही लेखोंके आधारपर निकला था—) उस आक्रमणको विफल करनेकी चेष्टा करते हैं।

'दयानन्दरहस्य' के लेखकका कहना है कि—'द.सि.प्र.'का लेखक 'दयानन्दरहस्य' के तर्कोंका प्रत्युत्तर नहीं दे सका है, बल्कि उसने तो दयानन्दजीकी 'लुटिया ही डुबो दी है'। यह ठीक भी है; यह पाठक हमारे इस निबन्धमें भी देख सकेंगे; पर 'दयानन्दरहस्य'के लेखककी 'प्रत्युत्तरात्मक' उस पुस्तकके अभी तक प्रकाशित न होनेसे दयानन्दियोंको गर्व है कि—द.सि.प्र. का उत्तर बन ही नहीं सकता; पर 'आलोक' के पाठक स्वयं प्रतिभू (जामिन) बनेंगे कि—द.सि.प्र. पुस्तकने दयानन्दके वचनोंकी धज्जियां उड़ाकर स्वामीको अल्पश्रुत तथा वेदविषयमें भ्रान्त सिद्ध कर दिया है।

अब हम अपना निबन्ध आरम्भ करते हैं। पांठकगण बड़ी संलग्नता से इस विषयमें प्रवेश करें; क्योंकि—वेदविषय तथा व्याकरणका विषय होनेसे इसमें गम्भीरता रहनी स्वाभाविक ही है। इसमें हमने 'अभ्यास' (बार-बार रिपीट करना) विषयके दार्ढ्यार्थ रखा है, जिससे यह गम्भीर विषय दृढ़ता तथा सुगमतासे पाठकोंके हृदयङ्गम हो जावे; अतः इसमें

पुनरुक्तिदोष नहीं समझना चाहिये ('विहितस्यानुवाद्यत्वे...साहित्य)

वेदसे क्या गृहीत होता है ?

(१) सृष्टिके प्रारम्भसे लेकर आ.स.के प्रवर्तक स्वा.द.से पूर्व यही सिद्धान्त स्थिर रहा कि—मन्त्रभाग (समस्त ११३१ शाखाएं) ब्राह्मणभाग (समस्त ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि उत्तम साहित्य) दोनों मिलकर वेद हुआ करता है। मन्त्र और ब्राह्मण यह 'भाग' है। इसलिए स्वा.द.भी इन दोनोंके साथ 'भाग' शब्द लगाते हैं— **मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग**। भागोंका भागी भी तो कोई होता ही है। है वेद अर्थात्—मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग दोनों मिलकर ही भागी बनता है।

सो वेद वा उसके पर्यायवाचक शब्द 'छन्दः, निगम' आदि समुदाय वाचक शब्द हैं। हाँ, समुदायवाचक-शब्द अवयवपरक भी हुआ करता है। इस शास्त्रीय न्यायवश मन्त्र एवं ब्राह्मणको पृथक्-पृथक् भी वेद कहा जा सकता है, समुदितरूपमें भी। पर अब कई नये मतोंके लेखक [illegible] एडीतकका पसीना बहाते हुए यह सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं कि- मन्त्रभागमात्र, उसमें भी वर्तमान-प्रसिद्ध चार संहिता पोथियां (शाकलं [illegible] सं०, कौथुम० और शौसं०) ही मूलवेद हैं; अन्य संहिताएं वा ब्राह्मण वेद नहीं। वस्तुतः यह मत निरा भ्रान्त एवं निराधार है, केवल [illegible] पर टिका हुआ है—'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्'। और तब तक है; जब तक जनता वेदविषयमें रुचि नहीं लेती। हम [illegible] मतपर विचार करते हैं।

छन्दसे क्या गृहीत होता है ?

(२) जब हम 'छन्दः' शब्दसे ब्राह्मणभागको भी तथा [illegible] संहिताओंको भी वेद सिद्ध करते हैं; तो वादी एक नया एवं [illegible] लटका निकाला करते हैं कि—'छन्दः' से हेरफेर वाले मन्त्रभाग [illegible] समस्त शाखाएं गृहीत होती हैं; ब्राह्मणभाग नहीं'। हम ऐसे [illegible]

लेखकोंको धन्यवाद देते हैं कि—उन्होंने अपने आचार्य स्वा.द.जीसे विरुद्ध यह कहकर हमारा आधा परिश्रम तो बचा लिया, अर्थात् शाखाओंको तो उन्होंने आज 'वेद' मान लिया; क्योंकि–'छन्द' वेदको ही कहा जाता है। कल वे ब्राह्मणभागको भी वेद (छन्द) मान लेंगे। 'देर है अन्धेर नहीं'।

स्वा.द.जीने 'छन्द' से वेदोंका ग्रहण माना; शाखाओं और ब्राह्मणोंको उन्होंने छन्द (वेद) नहीं माना, किन्तु उन्होंने उन्हें लोक (अवेद) माना। स्वामी लिखते हैं—'जैसे छन्द और मन्त्र ये दोनों शब्द एकार्थवाची अर्थात् संहिताभाग (वेद) के नाम हैं, वैसे ही निगम, श्रुति भी वेदोंके नाम हैं।...वेदोंका नाम छन्द इसलिए रखा गया है कि-वे (वेद) स्वतन्त्र प्रमाण और सत्य विद्याओंसे परिपूर्ण हैं।...इससे यह चारों (छन्द, मन्त्र, निगम, श्रुति) शब्द पर्याय अर्थात् एक अर्थके वाचक हैं' (ऋभाभू. पृ. ६१)।

यहां स्वामीजीने 'छन्द' हेरफेरवाले मंत्रोंका नाम बिल्कुल नहीं रखा, किन्तु वेदोंका नाम रखा है। स्वा.द.जी अपने आपको वेदका, एवं महाभाष्यका पण्डित मानते थे; उनके अनुयायी भी उन्हें अष्टाध्यायी-महाभाष्यका मर्मज्ञ बताते हैं। उन्होंने 'छन्द' हेरफेरवाले मन्त्रका नाम कहीं भी नहीं माना। तब उनके नौसिखिया-चेले महाभाष्य द्वारा 'छन्द' का 'हेरफेरवाले मन्त्र' अर्थ करते हुए अपने ऋषि स्वा०द०जीसे विरुद्ध सिद्ध हुए।

"वैसे ही अष्टाध्यायी-व्याकरणमें भी छन्द, मन्त्र और निगम यह तीनों नाम वेदोंके ही हैं। इसलिए जो लोग इस [छन्द, मन्त्र और निगम] में भेद मानते हैं; उनका वचन प्रमाण करने योग्य नहीं' (ऋभाभू. पृ. ६१) 'छन्दो-वेदः' (ऋभाभू. पृ. ६०) यह भी स्वामीजीके शब्द हैं; तब छन्द, मन्त्र और निगममें भेद बतानेवाला द०सि०प्र० पुस्तक 'दयानन्द-सिद्धान्तसंहारक' ही सिद्ध हुआ, यह 'आलोक'-पाठक ध्यानमें रख लें।

(३) सो स्वा.द.जीका उक्त मत न मानकर उन्हींके नये चेलाजीने वाणीमात्रसे स्वा.द.जीको ऋषि, महर्षि, आचार्य, भगवान्, अद्वितीय वेद-द्रष्टा, व्याकरणमें अत्यन्त सप्रतिभ मानते हुए भी उन्हें अब भ्रान्त सिद्ध कर दिया है। अपनी जनताकी आंखोंमें धूल झोंकी है।

वे उनके नये चेले महाभाष्यानुसार छन्दको हेरफेरवाला मन्त्र बताते है, पर महाभाष्यकारका यह आशय नहीं है, यह 'आलोक' के ४र्थ तथा ८म पुष्पमें हम बता चुके हैं। यदि ऐसा होता; तो प्रतिपक्षियोंके अनुसार महाभाष्यके अद्वितीय पण्डित स्वामीजी भी ऐसा बताते; वे फिर छन्दका अर्थ वेद न मानते। यदि मंत्रमें हेरफेर हो जाय, तो वह वेद नहीं रहता; जब वादी भी यह मानते हैं; तब फिर हेरफेरवाले मन्त्र शाखाओंको वे छन्द कैसे मानते हैं? 'छन्द' तो 'वेद'का ही नाम होता है, स्वा.द.जी भी यही मानते हैं—यह हम पूर्व बता चुके हैं। सो यह विपक्षियोंके साम्प्रदायिक-सिद्धान्तका भङ्ग हो जानेसे 'अपसिद्धान्त' निग्रहस्थान उन्हें प्राप्त हुआ, जो पराजयका कारण होता है।

आम्नायसे क्या गृहीत होता है?

(ख) 'छन्द' की प्रतिद्वन्द्वितामें नये चेले 'आम्नाय' को रखते हैं, अर्थात् छन्दसे वे शाखाओंको लेते हैं; और 'आम्नाय'से वेदको लेते हैं। परन्तु यहां भी उनकी समस्त शाखाओं एवं ब्राह्मणभागसे जान नहीं छूटती। निरुक्त (७।२४।४) में 'वैश्वानर' के 'सूर्य' अर्थ पक्षमें 'पूर्वे याज्ञिकों' ने सवनोंके आरोहक्रममें प्रत्यवरोहके समय 'वैश्वानर' शब्दको सूर्यमें प्रयुक्त किया हुआ दिखलाया था, पर उत्तरपक्षमें शाकपूणिने सूर्यको 'वैश्वानर' कहना आम्नाय (अर्थवाद) के वचनसे बताया। अर्थवादात्मक ब्राह्मणको यहां आम्नाय वचन (नि० ७।२४।४) माना गया है।

(ख) इसी प्रकार निरुक्तमें 'ओषधे! त्रायस्वैनं' यह कृ. य. तै. सं. (१।२।१।१) का तथा कृ.य. काठकसं. (२६।३) तथा कृ०य०मैत्रा०सं० (३।६।३) का वचन है, जिसे आर्यसमाज वेद नहीं मानता। उसे भी

श्रीयास्कने **'आम्नाय-वचन'** (१।१६।६) कहा है। 'श्मशाने नाध्येयम्' इस वचनको आर्यसमाजसम्मत महाभाष्यके उक्त संकेतित स्थलमें **'आम्नाय-वचन'** (५।२।५९) माना है। यह भी किसी **शाखा वा ब्राह्मण** का वचन है। वह भी वेद सिद्ध होगा। इससे विपक्षियोंका पक्ष सर्वथा कट जाता है। 'छन्द'का भी उदाहरण 'छन्दसि निष्टक्यं' (पा. ३।१।१२३) 'निष्टक्यं चिन्वीत पशुकामः' दिया है—महाभाष्यकारने भी, स्वा.द.ने भी। यह ब्राह्मणभागका है। तब ब्राह्मणभाग भी, छन्द (वेद) सिद्ध हुआ।

'निगम' और 'वेद' से क्या गृहीत होता है ?

(४) छन्द और आम्नायकी भांति **'निगम'** शब्द भी **वेदका पर्याय-वाचक** है। निरुक्तमें जो निगम आते हैं, वे शाखा तथा ब्राह्मण दोनोंके आते हैं। इसकेलिए गत निबन्ध तथा 'आलोक' के गत पुष्पोंमें 'वेद-स्वरूपनिरूपण' देखना चाहिये। अतः मन्त्र-ब्राह्मण दोनों निगम (वेद) सिद्ध हुए। (ख) अब रहा 'वेद' शब्द। **'वेद' भी मन्त्र (समस्त शाखा) ब्राह्मण दोनोंका नाम है।** निरुक्त (१।२०।२) में 'मन्त्रान् सम्प्रादुः' के बाद **'वेदं च वेदाङ्गानि च** समाम्नासिषुः' यह शब्द आये हैं। इसमें **मंत्रसे भिन्न कहा हुआ 'वेद' शब्द ब्राह्मणभागवाचक सिद्ध होता है।** द.सि.प्र. का यहां 'वेद' का उपवेद (पृ २८) अर्थ लिखना सिद्ध करता है कि—शाखा भा, ब्राह्मण भी तथा उपवेद भी वेद हैं। इससे उन्हींका खण्डन है।

मंत्रसे क्या गृहीत होता है ?

(५) अब शेष रहा 'मन्त्र' शब्द, जिसे प्रतिपक्षी **मूलवेद मानता है;** उससे भी मन्त्रभाग (समस्त शाखाएं) तथा उपलक्षणसे ब्राह्मणभाग दोनों गृहीत हो जाते हैं। मन्त्रसार्थक्य-प्रकरणमें निरुक्तमें 'मन्त्र' शब्दसे 'ओषधे ! त्रायस्वैनं' यह कृष्णयजुर्वेद मैत्रायणीसं० (३।६।३, १।२।१४। ६०) कृ.य. काठकसं. (२६।३)कृ.य. तैत्तिरीयसं. (१।२।१।१) का वचन गृहीत किया गया है। और वहीं 'अग्नये समिध्यमानाय' यह कृय॰॰

मैत्रायणीसं० (१।४।११) तथा यजुः-शतपथब्राह्मण (१।३।२।३) शब्दसे ही शाखा तथा ब्राह्मणका वचन भी गृहीत किया गया है। 'प्रोहाणि' तथा 'एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः' यह भी लुप्त शाखाओं वा ब्राह्मणके वचन 'मन्त्र' के उद्धरणमें दिये गये हैं।

अष्टाध्यायीके 'मन्त्रे...जनिभ्यो लेः' (२।४।८०) इस सूत्रके का उदाहरण प्राचीन-अर्वाचीन सभीने 'अज्ञत वा अस्य दन्ताः' यह ऐ ब्रा० (७।१४।५) का दिया है। इससे वेद वा मन्त्र समस्त शाखाएं ब्राह्मण (सभी ब्राह्मणों, आरण्यक, उपनिषद्) सिद्ध होते हैं। इसी निरुक्त (३।४) में मन्त्रवाचक 'ऋक्' शब्दसे 'अङ्गादङ्गात् सम्भ यह मन्त्र दिया है; यह वादीकी चारों संहिताओंमें नहीं, किन्तु शत (१४।६।४।२६) का है, अतः शब्द-अर्थका नित्य सम्बन्ध होनेसे से 'ब्राह्मण' का भी ग्रहण हो गया। यह वही स०ध० का सिद्धान्त हो जाता है। ऐसा निष्कर्ष सिद्ध हो जाने पर प्रतिपक्षियोंका पक्ष विच्छिन्न हो जाता है। यद्यपि इतनेमात्रसे विपक्षीका पक्ष निराकृत जाता है, अन्य लिखनेकी आवश्यकता नहीं रही; तथापि अब विपक्षी युक्तियों पर भी आलोचना दी जाती है।

अथर्ववेदका प्रथम मंत्र।

(६) (द.सि.प्र. पृ. ७५) पहले अथर्ववेदका प्रथम मन्त्र कौनसा इसपर विचारनेसे विपक्षीके पक्षकी निर्मूलता तथा स०ध० के पक्ष समूलता सिद्ध होगी।

भाष्यकार श्रीपतञ्जलिने **अथर्ववेदसं० का प्रथम मंत्र** 'शंनो देवी भिष्टये' दिया है। **यजुर्वेदसं० का प्रथम मंत्र** 'इषे त्वा ऊर्जे त्वा' दिया यह कृष्ण और शुक्लकी मुख्य संहिताका प्रथम मन्त्र दिया है, क्योंकि **व्यवच्छेदक पद साथ नहीं है। ऋग्वेदसं० का प्रथममंत्र** 'अग्निमीळे पुरोहितं' और **सामवेदसं० का प्रथममंत्र** 'अग्ने आयाहि वीतये' दिया जो कौथुमी तथा जैमिनिसंहितामें समान है। भाष्यकारने यह चार

वेदसंहिताओंके **चार प्रथममंत्र-प्रतीक** दिये हैं। इस विषयमें 'आलोक' (४) में 'श्रीपतञ्जलि एवं शन्नो देवीरभिष्टये' यह निबन्ध देखना चाहिये।

इस पर विपक्षी कहता है कि—'यहांपर प्रसङ्ग वस्तुतः **लौकिक** और वैदिक शब्दोंका आया है, मूलसंहिता और शाखाके मन्त्रोंके निर्णयका नहीं' यह लिखते हुए वादीकी अत्यन्त दयनीय दशा हो गई है। लौकिक शब्द तो भाष्यकारने 'गौः अश्वः' आदि बता दिये। क्या यह वेदोंमें नहीं आते ? फिर वैदिक शब्द तो कोई बताये नहीं, किन्तु वेदसंहिताओंके मन्त्र दिये। वहांपर **एक भी मंत्र** 'शं नो देवीः' दिया जा सकता था, जो वादा की **चारों संहिताओंमें** आता है; पर भाष्यकारने यहां **चार उद्धरण** दिये हैं, यह बात **निर्निमित्त नहीं**। इससे स्पष्ट है कि—भाष्यकार चार वेदोंके **प्रथममन्त्रप्रतीक** दे रहे हैं।

यह केवल हम ही नहीं कहते, अपितु वादीके शब्दोंमें **'अद्वितीय वेद-द्रष्टा भगवान्'** दयानन्द भी यही कहते हैं—'महाभाष्येपि—'वैदिकाः खल्वपि—'शं नो देवीरभिष्टये...इत्यादि महाभाष्यकारेण **मंत्रभागस्यैव वेदसंज्ञां** मत्वा **प्रथममंत्र-प्रतीकानि** वैदिकेषु शब्देषु उदाहृतानि' (ऋभाभू, पृ. ९९) अब वादी बतावे कि यह **मंत्रभागके प्रथममंत्रप्रतीक किन वेदसंहिताओंके** हैं ? यदि वादीकी मानी चारों वेद संहिताओंके हैं; तो उनमें 'शं नो देवी' यह **प्रथममंत्रप्रतीक** जबकि वादीकी इस 'अथर्ववेद (शौ.) संहिता' का नहीं है, किन्तु यह **अथर्ववेद पैप्पलाद-संहिताका** है, और स्वा.द.जीके अनुसार यह मन्त्रभाग वेदका उदाहरण है; तो इस पैप्पलादशाखाके उपलक्षणसे सभी ११३१ शाखाएं चार वेद सिद्ध हुईं।

स्वा.द.जीने यह मन्त्र यहाँ **शाखाओंके** तो माने नहीं; किन्तु मन्त्र-भागरूप वेदोंके 'प्रथममंत्र' माने हैं; देखो उनके शब्द—'शं नो देवी'... इत्यादि महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्यैव वेदसंज्ञां मत्वा **प्रथममंत्रप्रतीकानि** वैदिकेषु शब्देषु उदाहृतानि' तो इससे **चारों वेदोंका स्वरूप** स्पष्ट व्यक्त

हो गया। अन्यथा भाष्यकार द्वारा चार उदाहरण न देकर एक ही उदाहरण दे देना पर्याप्त था। इससे यह "मूलसंहिताके मन्त्रोंके निर्णयका प्रसङ्ग नहीं" यह अपने स्वामीके विरुद्ध ब्याज बनाते हुए वादीका पक्ष निराधार सिद्ध हुआ। अब यह 'द०सि०प्र०' हुआ; या 'दयानन्दसिद्धान्त-संहार' ? यह वादी ही स्वयं बतावे ? भाष्यमें लौकिक और वैदिक इन दोनों शब्दोंकी **प्रतिद्वन्द्विता** है। लौकिक शब्द लोकका और वैदिक वेदका। शाखाएँ यदि वेद नहीं; तो लोक (भाषा) ही होंगी। उनका उदाहरण लोकमें होना चाहिये था। स्वा.द.जीने 'गौरश्वः इत्यादीनि **लौकिको-दाहरणानि-**ब्राह्मणादि-ग्रन्थेष्वेव घटन्ते' (यहाँ आदिग्रहणसे स्वामीको शाखाएँ इष्ट हो सकती हैं, क्योंकि–वे दोनों शाखा एवं ब्राह्मणोंको वेदका व्याख्यान मानते हैं) यह कहकर शाखा एवं ब्राह्मणोंको **लौकिक** सिद्ध करना चाहा था, यद्यपि यह बात गलत है, इस पर 'आलोक' (६) में हम प्रत्युत्तर दे चुके हैं। सो जब शाखाके मन्त्र भी लोकके न होकर वादीके अनुसार वेदके हो गये; तो **सभी शाखाएँ वेद सिद्ध हो गईं**। वादीके अद्वितीय वेद-द्रष्टाके ही वचनसे हमारा पक्ष सिद्ध हो गया।

(७) आगे वादी बहाना बनाता है कि—'वैदिक शब्दोंमें शाखाओं और संहिताओं दोनोंके ही पद आते हैं; अतः भाष्यकारने जहां तीन आदि मन्त्र मूलसंहिताओंके दिये, वहांपर 'शंनो देवी' शाखापठित आदि मन्त्र दे दिया'।

यहां प्रतिपक्षीने अपने 'वैदिकधर्मकी जय' तो स्वयं बोल दी। उसे बधाई हो। आर्यसमाजको भी बधाई हो, **जो उसने अपने स्वामीजीके मतका खण्डन करनेवाला नवशिक्षित व्यक्ति भी पैदा कर दिया।** उसकी इस घोषणा पर कि—'मैं आज तक आर्यसमाज वा स्वा०द० पर किये गये 'समस्त आक्षेपोंका समाधान कर दूँगा' पर मोहित होकर आ०स०ने उसे आंखोंपर बिछा लिया। अब आर्यसमाजको चाहिये कि–वेदशाखाओं को भी वैदिक शब्द मान ले। क्योंकि—उसके धर्मका नाम 'वैदिक धर्म'

है, 'मूलवेद-धर्म' तो नहीं।

स्वा.द.जी तो मानें शाखाओंको अवेद (लौकिक), अथवा वेदग्रन्थका व्याख्यान; पर नौ-सिखियाजी उन्हें 'वैदिक' शब्द होनेका फतवा देदें; तब अन्य क्या चाहिये? यह 'दयानन्दसिद्धान्तप्रकाश' हुआ, अथवा 'दयानन्दसिद्धान्त-संहार'? स्वा.द.जीने ब्राह्मणभागको **वेदका व्याख्यान होनेसे** 'वेद' नहीं माना, किन्तु लौकिक माना है, इसी प्रकार शाखाएँ भी स्वामीके अनुसार **वेदका व्याख्यान होनेसे अवेद अर्थात्** लौकिक होंगी। वादीकी संहिताएँ भी तो शाकल्य, माध्यन्दिनी, कौथुमी, शौनकी शाखाएँ हैं; तब वे मूलवेद कहाँ रहीं? 'इषे त्वोर्जे त्वा' यह जो उदाहरण भाष्यकारने दिया है, यह कृष्ण, और शुक्ल दोनों यजुओंका है, क्योंकि—व्यवच्छेदक शब्द 'वायवस्थ, उपायवस्थ' साथ नहीं; तब वह भी मूलवेद कहां रहा? शाखाओंसे उनके ब्राह्मण स्वयं गृहीत हो जाते हैं; वे भी वैदिक-शब्द हो गये। पर स्वा.द.जी उन्हें लौकिक शब्द मानते हैं। हो गया स्वामीजीका संहार।

जब भाष्यकार वैदिक शब्दोंके उदाहरणोंमें वेदोंके पद न देकर उनके आदिम मन्त्र दे रहे हैं; तो जैसे पिछले तीन भाष्यकारने वादीके अनुसार यजुर्वेदसं०, ऋग्वेदसं०, और सामवेदसं० के **प्रथम मन्त्र** दिये; तब कारम्भिक मन्त्र वादीकी इष्ट अथर्ववेद शौनकसं० का **प्रथममन्त्र** 'ये त्रिषप्ताः' न देकर जो कि 'शं नो देवी' वह अथर्ववेद-पैप्पलादसंहिताका प्रथम मन्त्र दिया है; इससे सर्वथा स्पष्ट हो गया कि—**अथर्ववेद पैप्पलाद-संहिता अथर्ववेद है;** क्योंकि—वेदोंको उदाहृत करनेमें उनकी ११३१ संहिताओंमें किन्हीं भी चार संहिताओंका प्रथममन्त्र उद्धृत किया जा सकता है। वह **वेदज्ञ भाष्यकारने** अथर्ववेद-पैप्पलाद संहिताका दिया, अतः भाष्यकार तथा वादी दोनोंके मतमें शाखाएँ वेद सिद्ध हो गईं, यह स०ध० का ही पक्ष सिद्ध हुआ। आरम्भिक उदाहरणने ही विपक्षीके पक्षका कचूमर निकाल दिया।

जो पिछले तीन उदाहरण हैं; क्या वे शाखाओंके नहीं हैं? 'इषे त्वा ऊर्जे त्वा' यह जो दूसरा भाष्यकारने उदाहरण दिया है, यजुवदमाध्यन्दिनसंहिता तथा यजुर्वेदतैत्तिरीयसंहिताका है, क्योंकि व्यवच्छेदक पद साथ नहीं है, यह दोनों ही शाखाएँ हैं। वादीकी यजुर्वेदसंहिता माध्यन्दिनी शाखा ही तो है। जहां 'संहिता' शब्द साथ हो समझ लो वह शाखा है। वादीको ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद कहीं नहीं मिलेंगे। जहां मिलेंगी, इन वेदोंकी संहिताएं ही मिलेंगी। संहिता शाखा ही तो होती है। वहां साथ ऋषिका नाम भी कहना होता है कि—वह किस ऋषिकी संहिता है? तब उत्तर मिलता है कि—माध्यन्दिनकी, वा शाकल्य की; वा कुथुमकी, वा शौनककी। श्रीजयदेव विद्यालंकारने अपने अथर्ववेद-भाष्यकी भूमिकामें लिखा है कि—'जिस प्रकार **शाकलादि शाखाओंका** नाम **ऋग्वेद** प्रसिद्ध है, इसी प्रकार **शौनकादि संहिताओंका** नाम अथर्ववेद प्रसिद्ध है' (पृ. ३) विपक्षी यह बात सदाकेलिए याद रख ले कि—ऐसी कोई भी संहिता नहीं है, जो शाखा नहीं हो। हाँ, इतना अवश्य होता है कि-जिनकी जो कुलपरम्परा से चार संहिता होती हैं; वह उनको मूलवेदसंहिता वा अपौरुषेय कहता है; शेषको उन्हींका व्याख्यान।

इसी प्रकार तीसरा उदाहरण 'अग्निमीले' यह शाकल्यशाखा वा आश्वलायनी ऋग्वेद शाखाका उदाहरण है। चतुर्थ 'अग्न आयाहि' यह सामवेदकी कौथुमशाखा तथा जैमिनिशाखाका है। इसलिए स्पष्ट होगया कि-सभी शाखा चार वेद हैं।

भाष्यकारने कहीं भी अथर्ववेदसंहिताके 'ये त्रिषप्ताः' मन्त्रको सम्भवतः **अथर्ववेदके प्रथममंत्ररूपमें स्मृत भी नहीं किया।** आर्यसमाज कानपुरके संयुक्त मन्त्री अपने 'वेदसंज्ञाविमर्श' (पृ. ८९) में 'ये त्रिषप्ताः' आदि मन्त्रवाली अथर्ववेदसंहिताको **'खण्डित प्रतिलिपियोंके आधारसे बनी** हुई हेरफेरवाली मानते हैं. और 'शं नो देवी' आरम्भिक मन्त्रवालीं अथर्ववेद-

पैप्पलादसंहिताको **अथर्ववेद** मानते है। उन्होंने यह लिखकर **आर्यसमाज का वेदविषयक मत समाप्त कर दिया है।**

वस्तुत: जो भी दयानन्दी इस गहरी दलदलमें घुसेगा, वह आर्यसमाज के मतका संहार कर देगा—**यह निश्चय है।** चाहे वह लाख बहानेबाज़ी करे, **पर सत्य कभी छिप नहीं सकता।** यह सत्य इन प्रतिपक्षियोंके समाजकी बालूकी दीवारको गिरा देनेवाला है। इसलिए ही तो आर्य-समाजके अनुभवी विद्वान् श्रीब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुने अपने 'यजुर्वेदभाष्य-विवरण' में इस शङ्काको **'पर्याप्त बलवती'** माना था। पर उनने जो अन्य बहाना बनाया था, उसे भी हमने 'आलोक' (४) में काट दिया है।

महाभाष्यमें सर्वत्र **'शंनोदेवीयकमधीष्व'** इत्यादि स्थलमें **अथर्व० का आरम्भिक मंत्र** यही दिया है। एतदर्थ 'आलोक' (४) देखिये। जिन्हें वादी वेदकी मूलसंहिता कहता है, वे भी तो यजुर्वेदकी माध्यन्दिनी शाखा, ऋग्वेदकी शाकल्य शाखा, सामवेदकी कौथुमी तथा अथर्ववेदकी शौनकी शाखा हैं। इससे स०ध० का आधा पक्ष तो विपक्षी द्वारा भी सिद्ध हो गया। सभी शाखाएँ चार वेद सिद्ध हो गईं।

तभी तो विपक्षीने भी लिखा है—'यह 'शं नो देवी' मन्त्र पैप्पलाद-शाखाका है, यह विद्वानोंका मत है'। जैसे वादीकी संहिताएँ वेदोंकी शाखाएं हैं; वैसे ही पैप्पलादशाखा भी अथर्ववेद-संहिता है। उनका पहला सूक्त शारदालिपिकी प्रतिमें प्रथम पृष्ठके न मिलनेसे अप्रत्यक्ष था; पर अब उडियाभाषामें मिली हुई अथर्ववेद-पैप्पलादसंहितामें भी **प्रथम** मन्त्र 'शं नो देवी' ही मिला है, यह प्रत्यक्ष हो गया है। तब वादिप्रति-वादिमान्य भाष्यकारके इस उल्लेखसे "पैप्पलादशाखाका मूल-अथर्ववेद होना किसी भी अवस्थामें सिद्ध नहीं होता हैं" वादीकी यह बात 'मम मुखे जिह्वा नास्ति' की भांति व्याघातग्रस्त सिद्ध है। अथर्व० पैप्पलाद-संहिता 'अथर्ववेदसंहिता' सिद्ध होगई। **मूलवेद शाखाओंसे भिन्न कहीं**

मिलते ही नहीं, मिल सकते भी नहीं।

जब भाष्यकार वैदिक-मन्त्रोंको दिखलाते हुए [illegible] तीन उदाहरण वादीके अनुसार मूलवेदसंहिताओंके दे रहे हैं; तो बिना विशेष नाम दिये, वा कुछ वक्तव्य दिये बिना, समान शैलीसे पहला उदाहरण भी भाष्यकार मूलवेदका ही दें, यह स्वाभाविक ही है। यदि वे आरम्भिक वेदके उदाहरणके स्थान वादीके अनुसार शाखाका देते हैं; और शेष वेदोंके तीन उदाहरण अन्तमें देते हैं, इनसे शाखाएँ बड़े धड़ल्ले-से वेद सिद्ध हो गईं; क्योंकि पिछले तीन उदाहरण भी तो माध्यन्दिन वा काण्व एवं तैत्तिरीय, शाकली वा आश्वलायन, कौथुमी वा जैमिनि शाखाओंके ही हैं। शाखाओं–जिन्हें संहिता भी कहा जाता है—से भिन्न वेद कहीं मिलते भी तो नहीं है। वादी जिन अपनी संहिताओंको मूलवेद कहते हैं, वे भी तो माध्यन्दिनी, शाकली, कौथुमी, शौनकी शाखाएँ ही हैं। इनसे स्पष्ट हो रहा है कि—सभी शाखाएँ मूलवेद हैं; क्योंकि—शाखाओंसे भिन्न शाखी मिल सकता ही नहीं। मूल जनप्रत्यक्षमें होता भी नहीं। वह तो सदा छिपा ही रहता है।

वस्तुत: भाष्यकारका यह आरम्भिक उद्धरण प्रतिपक्षियोंके पक्षको ले डूबा है। उन्हें कहींसे भी निकलनेका मार्ग नहीं देता। यह एक चक्र-व्यूह है। इसलिए आर्यसमाजके अनुभवी विद्वान् श्रीब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुने इस युक्तिको 'पर्याप्त बलवती' माना था। वस्तुत: अथर्ववेदकी शाखाओं की जहां भी चर्चा होती है; वहीं पहले पैप्पलादशाखाका नाम आता है, चाहे चरणव्यूहके परिशिष्टमें देखो, चाहे विष्णुपुराणमें, चाहे वाचस्पत्य-बृहदभिधान'में, चाहे हेमाद्रिमें, चाहे महाभारतमें, चाहे गोपथमें, शौनक शाखाका नाम तो ९ शाखाओंमें तीसरा, वा दूसरा वा ७वां नाम आता है; अत: उस समय उसे कोई जानता ही नहीं था, स्वा.द.को पहले जर्मनीसे शौनकशाखा मिली; उन्होंने उसे अथर्ववेद मान लिया; यदि उन्हें पैप्पलादसंहिता पहले मिलती, तब उसे ही अथर्ववेदकी मूलसंहिता मानते;

और वे उसमें हमारे वाले उत्तर देते।

(८) अब वादीकी तथाकथित मूलवेद-संहिताओंकी परीक्षा कीजिये। इनमें भाष्यकारसे दिये वैदिक शब्दोंके उदाहरणभूत 'इषे त्वोर्जे त्वा' इस मन्त्रको प्रतिपक्षीने मूलयजुर्वेद माना है। पर यह कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीय-संहिताका भी है। यदि भाष्यकारको यह मन्त्र वादीके अनुसार केवल माध्यं.सं० का इष्ट होता; तो 'इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः' इतना प्रतीक देते, जिससे 'उपायवस्थ' वाली कृ.य. तैत्तिरीयसंहिता व्यावृत्त हो जाती। अथवा भाष्यकारको शुक्लसंहिताकी व्यावृत्ति इष्ट होती; तो 'उपायवस्थ' वाला पाठ देते; पर व्यावृत्तिकारक पद न रखनेसे भाष्यकार को दोनों ही (माध्यं. और तैत्ति.) संहिताएँ वेद इष्ट हैं। तभी तो 'ऋषिः पठति-'शृणोत ग्रावाणः' (३।१।७) यह कृ.य.तैं.सं. (१।३।१३।१) का उदाहरण भाष्यकारने 'ऋषि' (वेद) नामसे दिया है। यदि भाष्यकारको केवल वादीकी मूलसंहिता यजुः-माध्यं.सं. मूलवेद (ऋषि) इष्ट होती; तो 'श्रोता ग्रावाणः' (६।२६) यह उद्धरण देते।

वादी इस जालसे कभी उन्मुक्त नहीं हो सकता, चाहे जिधरसे भी उछल-कूद करे। इससे जो विपक्षी लोग महाभाष्यकारके वचनसे शाखाको हेरफेरवाला मन्त्र कहकर उसे मूलवेदसे भिन्न सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं, यह उनका अर्थ भाष्यकारको इष्ट नहीं है—यह भाष्यकारके व्यवहार से भी सिद्ध हो रहा है। अतः भाष्यकारके पहलेकी भांति दूसरे मन्त्रके उद्धरणसे भी सभी शाखाएँ वेद सिद्ध हो गईं, और प्रतिपक्षि-समाजका पक्ष सदाकेलिए खण्डित हो गया। मूलवेदकी रट उनकी व्यर्थ है; क्योंकि—उनके तथाकथित मूलवेद भी शाखाएँ ही हैं; तभी उनके तथाकथित वेदोंका नाम ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद नहीं है, किन्तु ऋग्वेद-संहिता, यजुर्वेद-संहिता, सामवेद-संहिता, अथर्ववेद-संहिता यह नाम है। 'संहिता' के साथ ऋषिका नाम स्वतः ही कहना पड़ेगा कि—शाकल्य-संहिता, माध्यन्दिन-संहिता, कौथुम-संहिता, शौनक-संहिता।

तब वे भी स्वतः शाखा हो गईं। सो सभी शाखाएँ वेद सिद्ध हो ग[ईं]।

(ख) तभी तो आर्यसमाजियोंसे वेद-विद्वान् कहे जाते हुए श्री[सत्यव्रत] सामश्रमीजीने 'ऐतरेयालोचन' के शाखानिर्णयप्रकरणमें लिखा है—'[ने]का नाम संहिता शाखेति-व्यपदेशशून्या तेन महात्मना (दया[नन्देन]) उररीकृता, यस्या मूलवेदत्वं मत्वा शाखेतिप्रसिद्धानाम् अन्यासां [तु] व्याख्यानग्रन्थत्वं मन्तव्यं भवेद् इति तु अस्माकमज्ञेयमेव'।

इसका आर्यसमाजी श्रीहरिप्रसाद-वैदिकमुनिने आशय यह बत[लाया] कि—'जितनी वेदसंहिता हैं, वे सब शाखा-नामसे कही जाती हैं। [ऐसी] एक भी संहिता नहीं, जो शाखानामसे न कही जाती हो। जिस [तथा]कथित मूलसंहिता] यजुर्वेदसंहिता पर स्वा.द.ने भाष्य किया है, [वह] 'माध्यन्दिनी-शाखा' सुप्रसिद्ध है'।

पूर्ववचनके आगे श्रीसत्यव्रत-सामश्रमीने एक और मार्के[की बात] लिखी है कि—'अपिवा शाखातत्त्वानभिज्ञेन केनचित् तच्छिष्येण तत्र स्याद् विनिवेशितम्' अर्थात् स्वा.द.के किसी शाखातत्त्वके न जानने[वाले] शिष्यने यह स्वा.द.के लेखमें घुसेड़ दिया हो कि—हमारी संहि[ता] मूलवेद हैं; दूसरी शाखाएँ।

स्वा.द.जी पर श्रद्धा रखनेवाले पहलेके प्रसिद्ध आर्यसमाजी श्री[हरि]प्रसाद वैदिक मुनिने स्वा०द०जी पर श्रीसामश्रमी द्वारा किये गये [शाखा]सम्बन्धी आक्षेप पर समाधान करनेकी चेष्टा करते हुए अपने 'वेद[...]' के प्रथमभाग (पृ० ४२) में लिखा है—'मैं [वैदिकमुनि] ने [...] चाहा कि—पं० सत्यव्रतके प्रथम-उपहासका जो स्वा०द०की [...] किया गया है, किसी प्रकार प्रतीकार किया जावे; क्योंकि—स्वा[मी जीमें] मेरी भी श्रद्धेय बुद्धि है, परन्तु कोई वश नहीं चला। स्वामी[जीका पक्ष] सर्वथा निराधार होनेसे अत्यन्त निर्बल है'।

इस सन्दर्भसे अत्यन्त स्पष्ट हो गया कि—इसमें चार मूलवेद-संहि[ता] हैं; शेष ११२७ शाखा—यह दयानन्दी-सम्प्रदायका पक्ष बे-सिरपैर[का]

सभी ११३१ संहिताएँ चार वेद हैं। अपनी-अपनी जो चार नियत कुल-शाखाएँ होंगी; उस कुलके वही मूलवेद हैं, वे ही अपौरुषेय हैं। इनमें जो पाठभेद हैं, यह व्याख्यान नहीं; किन्तु समाधि लगाये हुए ऋषियोंको जो-जो पाठ संहिताओंका मिला, उसका प्रवचन करके उसे लिपिवद्ध कर दिया गया। किसी ऋषिने उसमें परिवर्तन नहीं किया; किन्तु समाधिमें माध्यमभेदसे वह भेद हुआ, जैसे वर्तमान संहिताओंमें भी यही बात दीखती है। अतः उसमें कृतकता कुछ नहीं; किन्तु उसमें भी अपौरुषेयता है। भाष्यकार उस समाधिदृष्टको भी अपनी परिभाषासे कृत कहते हैं; जैसेकि—पाणिनिप्रोक्त १४ शिवसूत्रोंको भी उन्होंने पाणिनिकृत सूचित कर दिया। उनमें वादीकी तथाकथित मूलसंहिताएँ भी शामिल हैं। महाभाष्यने ऋषिनामके जो काठक पैप्पलाद आदि भेद दिये है, वे समान न्यायसे वादियोंकी शाकल्य, माध्यन्दिन, कौथुम, शौनक इन ऋषि-नामोंकी संहिताओं पर भी लागू हैं। पाठभेद होना ही भाष्यकारने वर्णानुपूर्वीकी अनित्यता परिभाषित की है, यही उन्होंने शाखाभेद माना है। इसके मुकाबलेमें जो कि प्रतिपक्षिगण भाष्यकारका आम्नायमें 'अस्य वाम' की आनुपूर्वीको 'नियत' शब्दसे 'नित्य' बताते हैं—यह भी गलत है; वहां 'नियत' का अर्थ 'नित्य' नहीं; किन्तु अपने-अपने आम्नाय (शाखा-संहिता) में उसका नियत (निश्चित) होना बताया है कि—उसका परिवर्तन नहीं हुआ करता। यह बात भी शाखा-भेदको सुस्पष्ट कर रही है—इस विषयमें हम 'आलोक' के गत पुष्पोंमें 'वेदस्वरूप-निरूपण' में बहुत स्पष्ट कर चुके हैं। अस्तु।

(ग) भाष्यप्रोक्त पूर्व दिखलाये हुए 'वैदिक शब्दों'से जहां सभी शाखारूप मन्त्रभाग 'वेद' नामसे गृहीत हो जाता है, वहाँ मन्त्रके अर्थरूप ब्राह्मणभागका भी स्वतः ग्रहण हो जाता है, क्योंकि—'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्य अर्थेन सम्बन्धः' (शब्दका अर्थसे स्वाभाविक सम्बन्ध हुआ करता है, सो शब्दसे उसका अर्थ भी स्वतः गृहीत हो जाता है—मीमांसा. १।१।५)

'सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे' (महाभाष्य-पस्पशाह्निकमें वार्तिक) (शब्दका अर्थके साथ नित्य सम्बन्ध हुआ करता है) शब्दरूप मन्त्र और अर्थरूप ब्राह्मण एक-दूसरेसे नित्य-सम्बन्धवश स्वतः गृहीत हो जाते हैं। अतः ब्राह्मणभाग भी भाष्यकारानुसार 'वैदिक शब्द' सिद्ध हुए; वे भी 'वेद' हो गये; तभी आगे महाभाष्यकारने 'वेदेपि' कहकर 'पयोव्रतो ब्राह्मणः, यवागूव्रतो राजन्यः' इस ब्राह्मणवचनको जो स्वा.द.जीके अनुसार शतपथ-ब्रा० का है, वेद माना है। इस विषयके भाष्यकारके अन्य उदाहरण हम 'आलोक' (६) में दे चुके हैं।

(घ) "अनुक्रमणिकाओं और भाष्यकर्ताओंके भाष्योंसे भी यही ['ये त्रिषप्ताः' अथर्व. का] प्रथम मन्त्र ज्ञात होता है" यह विपक्षीकी बात भी अज्ञानमूलक है। अनुक्रमणिका तथा ब्राह्मण तथा गृह्यसूत्रादि सभी, बल्कि व्याकरण-निरुक्त आदि सभी वेदाङ्ग भी प्रायः अपनी-अपनी संहिताओंके पृथक्-पृथक् हुआ करते हैं। जो शौनक-संहिताकी अनुक्रमणी वा भाष्य होगा, वह 'ये त्रिषप्ताः' को आदिम मन्त्र लिखेगा। जो पैप्पलाद-संहिता की अनुक्रमणिका होगी; वह 'शंनो देवी' को ही अथर्ववेद का आदिमन्त्र लिखेगी। यह मोटी बात तो विपक्षीको स्मृतिमें रख ही लेनी चाहिये थी। पर इनके पास अपनी वैयक्तिक दृष्टि वा स्मृति कहां? इनकी दृष्टि वा स्मृति तो पराई है; वह है दयानन्दी सम्प्रदायकी।

देखिये—अथर्ववेदका ब्राह्मण 'गोपथ' है—यह स्वा.द.जी भी मान गये हैं; पर यह अथर्ववेद-शौनकसंहिताका न होकर अथर्ववेद-पैप्पलादसं० का है। शौनकी-संहिताका ब्राह्मण अभी तक मिला ही नहीं। पैप्पलादी अथर्व-संहिता तो अभी कल ही उपलब्ध हुई है, सो यदि उसकी अनुक्रमणिका अभी तक नहीं मिली, तो शौनकी-संहिताके ब्राह्मणकी तरह उसकी अनुपलब्धि ही समझनी चाहिये, अभाव नहीं। गवेषणाएँ विद्वानों की जारी हैं; समय पर पैप्पलादी अथर्वसंहिताकी उपलब्धिकी भांति उसकी अनुक्रमणिका तथा भाष्यकी भी सम्भवतः कहींसे उपलब्धि हो जावेगी;

जिसमें स्वयं अथर्वका प्रथम मन्त्र 'शन्नो देवी' लिखा होगा, जैसे कि अथर्व (पै.) सं० के ब्राह्मणमें है, वा महाभाष्यमें है। गुणविष्णु आदिने भी तो लिखा ही है। श्रीजयदेव विद्यालंकार आर्यसमाजी भाष्यकारने भी पैप्पलादशाखाका **प्रथममंत्र** 'शं नो देवी' माना ही है। बल्कि—जयदेवजीने शौनक-संहिता की हस्तलिपियोंमें भी 'शं नो देवी' को प्रथम-मन्त्र बताया है, वह 'मंगलाचरण' के लिए है-यह उनका व्याज तो व्यर्थ ही है। जैसे 'ये त्रिषप्ताः' मन्त्र प्रार्थना अर्थमें 'दधातु' यह लोट्लकारवाला है, वैसे 'आपो भवन्तु' में भी प्रार्थनामें लोट् है। उससे भी मङ्गल हो सकता है। इससे वादीका पक्ष गिर गया।

अनुक्रमणिकाएँ अपनी-अपनी संहिताओं की पृथक्-पृथक् होती हैं। वे अपनी-अपनी संहिताका आदिम मन्त्र लिखती हैं। इससे वादीका मत खण्डित होकर उल्टा यह बात सिद्ध हुई कि—सभी वेद-शाखाएँ अपने-अपने कुलकी मूलवेद हैं। सभी **समाधिदृष्ट हैं। शाखाओंसे भिन्न मूल**-वेद कहीं मिलता भी नहीं; और मिल सकता भी नहीं: **यह हमारी घोषणा है।** पैप्पलाद शाखा वाले पैप्पलादसंहिताको मूल-अथर्ववेद मानेंगे, शौनकी शाखा वाले आप लोग शौनकी-संहिताको ही अपना मूल अथर्ववेद मानिये; इसमें हमारे पक्षकी कुछ भी हानि नहीं है; बल्कि हमारे पक्षकी तो सिद्धि ही है कि—सभी ११३१ शाखा मूल चार वेद हैं। यही निष्पक्ष वा तटस्थ दृष्टिकोण है—यही सनातनधर्म है।

(६) वादी इस उलझनसे अपनेको छुड़ा सकनेमें असमर्थ होकर दूसरोंका ध्यान बटानेकेलिए एक निस्सार बात लिखता है कि—'भाष्यकार ने यहाँ [वेदके वर्णनमें] कोई **क्रम भी नहीं रखा है।** उसके अनुसार तो **प्रथम अथर्ववेद** है, यह भी कोई कह सकता है, परन्तु क्रम **ऋक्, यजुः, साम और अथर्व** है; अथर्व, यजुः, ऋक् और साम नहीं" बलिहारी है विपक्षीकी इस खोजपर ! इस कथनसे उसकी बेबसी तथा अपने पक्षके पोषणमें इधर-उधर दौड़कर भी असफलता पानेसे प्राप्त हुई-हुई थकानसे

उसके पक्षकी असफलता, तथा वेदमें अनभिज्ञता प्रकट हो रही है। इस विषयमें भी हमने 'आलोक' (४) में विस्तीर्ण विचार दे दिया है।

(ख) इस विषयमें दो दृष्टिकोण हैं। पहला यह है कि-भाष्यकार अथर्ववेदी ब्राह्मण थे; अतः उन्होंने पहले अथर्ववेदको उदाहृत किया है। यह महाभाष्यकी 'छाया' आदि टीकाओंमें सुस्पष्ट है। अपने वेदका अध्ययनादि अथवा उसका सम्मान करनेकेलिए उसका नाम 'स्वाध्याय' स्व-अध्याय अपना वेद कहा गया है, सो अपनी वेदसंहिताका सम्मान करनेकेलिए भाष्यकारने अपनी वेदसंहिता अथर्ववेद-पैप्पलादसंहिताको सर्वप्रथम गृहीत किया है।

दूसरा दृष्टिकोण इसमें यह है कि—वेद यज्ञार्थक होते हैं। इस विषयमें 'आलोक' (६) देखना चाहिये; तब यज्ञमें अपेक्षित क्रमसे ही वेदोंका उल्लेख भी हो सकता है। यज्ञमें वरणक्रम इस प्रकार होता है-'ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां' (ऋसं. १०।७१।११) इस पर निरुक्तकारने लिखा है—'ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति' (१।८।१) अथर्ववेद गोपथ ब्राह्मणने कहा है-'ब्रह्मैव विद्वान् भृग्वङ्गिरोवित् सम्यगधीयानः...अन्यूनातिरिक्ताङ्गो यज्ञं रक्षति। तस्य असान्निध्याद् यथा भिन्ना नौः अगाधे महति उदके संप्लवेत। तस्माद् यजमानो भृग्वङ्गिरोविदमेव ब्रह्माणं वृणुयात्। स हि यज्ञं तारयति' (२।२।५) अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम् (१।३।१।२) इन वचनोंसे ब्रह्माके सबसे बड़ा होनेसे उसका वेद ब्रह्मवेद अथर्ववेद यदि पहले लिया जाय; तो यह कोई व्युत्क्रम नहीं है।

(ख) अथवा अन्य दृष्टिकोणके अनुसार 'ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव... स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम् अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह' (१।१।१) मुण्डकोपनिषद्के इस वचनमें अथर्वको ज्येष्ठ बताया गया है। 'यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते' (ऋ. १।८३।५) यहां भी अथर्वाको यज्ञप्रक्रियाका प्रथम प्रकाशक कहा है। 'अथर्वाङ्गिरसो मुखम्' (अथर्वशौ.सं. १०।७।२०) यहां पर भी अथर्ववेदको मुख-मुख्य वेद कहा है। तब यदि भाष्यकारने

भी अथर्वका वचन पहले दिया, इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं आती ।

वादीके तथाकथित मूलवेदोंमें भी विपक्षीसे प्रोक्त ऋगादि-क्रम नहीं । देखिये—'ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह' (अ. ११।७।२४) यहां यजुर्वेदको साम और अथर्वसे पीछे डाला गया है । 'तस्मात् यज्ञात्' (यजुः माध्यं. ३१।७) में भी यजुःको अथर्वसे पीछे डाला गया है । इस प्रकार अन्य मन्त्र (यजुः ४।१ आदि) दिये जा सकते हैं । अब वादी बतावे कि-वेदने ही विद्वानोंके वेदोंके क्रममें क्यों व्युत्क्रम किया ? क्या यह यजुः अन्तिम वेद है ? यह बताना वादीके जिम्मे रहा ।

जब वादी (पृ. ७४) के अनुसार अन्तिम तीन उद्धरण वेदोंके आदिममंत्र हैं; तब शेष आदिम 'शं नो देवी' मंत्र भी अथर्ववेदका आदिम मंत्र सिद्ध हो जानेसे वादीके प्रयास पर पानी फिर गया है । यदि वह उसकेलिए पैप्पलादशाखाका नाम रखता है; तब शेष मन्त्रोंकेलिए भी कहा जावेगा कि वे भी माध्यन्दिनी, वा काण्व वा तैत्तिरीय, शाकल वा आश्वलायनी, कौथुमी वा जैमिनि शाखाओंके हैं; तब भी वादीका पक्ष कट जाता है ।

(१०) पृ. ७६ में विपक्षीने यह व्यर्थकी उट्टङ्कना की है कि—'शं नो देवी', अग्न आयाहि' आदि सर्वथा आदि मन्त्र नहीं कहे जा सकते, पर महाशय ! यहां तो आदिके ही मन्त्र हैं । तब "ऐसी अवस्थामें भाष्यकारने इन सबको चारों मूल-संहिताओंका आदि मन्त्र समझकर ही अपने भाष्यमें स्थान दिया हो, यह स्पष्ट ज्ञात नहीं होता" यह विपक्षीके शब्द उसकी बेवसी, उसके पक्षकी निर्बलता बता रहे हैं । यह चारों वेदोंके आदिम मन्त्र हैं-यह हम 'आलोक' (४) पृ. १२५-१२६) में पूरे विचार से निर्णीत कर चुके हैं । वादी उसका प्रत्युत्तर नहीं दे सकता । वादीके 'अद्वितीय वेदद्रष्टा' स्वा.द.जीने भी ऋभाभू. में इन चारों मन्त्रोंको चारों वेदोंका 'प्रथम-मंत्रप्रतीक' कहकर विपक्षीके पक्षको बड़ी निर्दयतासे नोचा है । नहीं तो फिर विपक्षी अब अपने स्वामीको वेदका अद्रष्टा एवं वेद-विषयमें अनभिज्ञ उद्घोषित करे ।

"चूँकि भाष्यकारको वैदिक शब्दोंका वर्णन करना था । यदि भाष्यकार 'ये त्रिषप्ताः' पाठ दे देता; तो 'छन्द' पदसे गृहीत हो जानेवाली शाखाओंको 'वैदिकशब्दका' का स्थान न प्राप्त होता; अतः भाष्यकारने हो सकता है कि—'अथर्व' का मूलमंत्र 'ये त्रिषप्ताः' जानते हुए भी शाखाओंके शब्दोंको वैदिक-शब्दकी स्थिति प्राप्त हो, इसलिए पैप्पलाद-शाखाके आदिमन्त्र 'शं नो देवी' को उद्धृत किया' (पृ. ७७) यह विपक्षी के शब्द उसकी दयनीय दशा व्यक्त कर रहे हैं, और शाखाओंको वेद न माननेके आर्यसमाजी पक्षका बड़ी निर्दयतासे खण्डन कर रहे हैं ।

यदि शाखाका मन्त्र भाष्यकार उद्धृत न करते; तो क्या वह वैदिक शब्द न होता ? भाष्यकारने 'ये त्रिषप्ताः' यह शौनकशाखाका मन्त्र नहीं दिया; तब क्या अब वह वैदिक-शब्द न रहेगा ? यदि ऐसा हो; तो वादी हमारी बधाई स्वीकार करे; और अपनी समाजमें घोषणा कर दे कि-चूँकि 'ये त्रिषप्ताः' वाली शौनकी शाखाकी संहिताका मन्त्र भाष्यकारने उद्धृत नहीं किया; तब उसे 'वैदिक-शब्द' का दर्जा प्राप्त नहीं ।

क्या 'छन्द' शब्द वेदवाचक नहीं, जो कि 'छन्दः' शब्दसे गृहीत होनेवाली शाखाएँ वेद न होतीं ? वादीकी सम्मत संहिताएँ जो शाकल, माध्यन्दिन, कौथुम, शौनक शाखाएँ हैं-यह सभी मानते हैं, क्या वे वेद नहीं ? और यह कहाँ लिखा है कि-यह चार संहिता मूलवेद हैं ? इसमें वादी दृढ प्रमाण दे; हम उसे देखनेकेलिए लालायित हैं । यदि वादी वैसे स्पष्ट प्रमाणको न दे सका; तो वह आर्यसमाजके वेदविषयक पक्षका बिस्तर गोल करा देगा—यह वह समझ ले ।

इसमें विपक्षीके पास क्या प्रमाण है कि-भाष्यकार 'शं नो देवीः' को अथर्वका मूल मन्त्र नहीं मानते थे, और 'ये त्रिषप्ताः' को ही मूल मन्त्र मानते थे । भाष्यकार पतञ्जलि तथा निरुक्तकारने 'ये त्रिषप्ताः' को सम्भवतः एक बार भी तो प्रादि—मन्त्ररूपसे अथवा वैसे ही कहीं भी उद्धृत नहीं किया । और यहां वादीके व्याजके अनुसार 'छन्दः' शब्द भी

नहीं है, किन्तु 'वेदका शब्द' है। भाष्यकारके दिये हुए वेदवचन पैप्पलाद, वाजसनेय (माध्यन्दिन) तैत्तिरीय, शाकल-बाष्कल, कौथुम-जैमिनि, शाखाओंके ही हैं, श्रीपाणिनिने भी इनका यही नाम माना है। वादीकी अथर्ववेदसंहिता भी 'शौनकादिभ्यः छन्दसि' (पा. ४।३।१०६) शौनकी शाखा है। इसी गणमें वादीकी यजुर्वेदसंहिताका नाम वाजसनेयी है। इस प्रकार शाकल, कौथुम जो विपक्षीके वेद हैं, भिन्न सूत्र-वार्तिकोंमें उनका नाम भी अष्टाध्यायीमें प्रत्यक्ष है (देखा ४।३।१२८, ४।३।१०८) इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि—सभी शाखाएँ वेद हैं।

वादी शाखाओंको वेदकी व्याख्या—वेदका अर्थ मानता है; स्वा.द.जी भी यही मानते हैं; तब वादीके अनुसार पैप्पलादका मन्त्र 'शं नो देवी' यह 'वैदिक-शब्द' कैसे हुआ? उसे तो भाष्यकारको वेदका अर्थ कहना चाहिये था। पर उनने 'केषां शब्दानाम्? वैदिकानां च' इसमें 'वैदिक-शब्द' ही कहे हैं, 'वैदिक अर्थ' नहीं कहे। इससे स्पष्ट है कि–सभी शाखाएँ वेदके शब्द हैं; वेदके अर्थ नहीं। नहीं तो भाष्यकार 'वैदिक शब्दों' में 'वैदिक अर्थ' कैसे दिखलाते? अथवा वादीके अनुसार अर्थरूप शाखा कैसे उदाहृत करते?

वादी यह भी बतावे कि—यदि वादी अपनी अथर्ववेद-संहिताके मन्त्र 'ये त्रिषप्ताः' को मूलवेदका मन्त्र मानता है, और 'पैप्पलादसंहिता' के 'शं नो देवी' मन्त्रको उसकी व्याख्या—उसका अर्थ मानता है; तब एक-एक पद लिखकर दिखलावे कि–किस-किस वादीकी मूलसंहिताके पदका पैप्पलाद-संहिताके 'शं नो देवी' मन्त्रका कौन-कौनसा पद अर्थ है?।

अथवा वादी दोनों संहिताओंके 'शं नो देवी' मन्त्रको ही ले; तो बतावे कि—मूलसंहिताके किस-किस पदकी शाखामन्त्रका कौन-कौनसा पद व्याख्या है? यह भी बतावे कि–उसकी मूलसंहिता तथा पैप्पलाद-संहिताके 'शंनो देवी' मन्त्रोंमें कुछ अन्तर भी है; या नहीं? यदि है; तो

कौन-कौनसा पद मूलसंहिताके किस-किस पदका अर्थ है? यदि अन्तर नहीं; तब पैप्पलादसंहिता, शौनकसंहिताकी व्याख्या कैसे हुई? पाठकोंने देख लिया है कि—प्रतिपक्षीके पक्षकी कितनी निर्मूलता एवं दुर्दशा सिद्ध हुई है; अतः उसका पक्ष सर्वथा गलत है–यह सिद्ध होगया।

(ख) पृ. ७८ में वादी 'गोपथब्राह्मण' के 'शं नो देवी' इत्येवमादिं कृत्वा अथर्ववेदमधीयते' इस वचन तथा स्वा.द.जी द्वारा अथर्ववेदका प्रथममंत्रप्रतीक 'शं नो देवी' कहनेसे जो कि अथर्वका आदि मन्त्र 'शं नो देवी' सिद्ध होता था, विपक्षी उसका कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं दे सका। जब उसका पक्ष ही निर्मूल है, तो वह उत्तर दे ही क्या सकता है?

(ग) यह वह जो कहता हैं कि—'गोपथब्राह्मण' पैप्पलादशाखाका ब्राह्मण ज्ञात होता है, इससे मूल अथर्वके प्रथम मन्त्र 'ये त्रिषप्ताः' होनेका खण्डन नहीं होता', यह वादीके शब्द उसके पक्षको निराधार वा निर्मूल बता रहे हैं। जब गोपथ शेष मन्त्र जो बता रहा है; उसको वेदोंका आदिम मन्त्र बता रहा है; तब स्पष्ट हुआ कि—'शं नो देवी' भी अथर्ववेद का ही 'प्रथममन्त्रप्रतीक' है।

(घ) विपक्षीके 'अद्वितीय वेदद्रष्टा' स्वा.द.जीने स.प्र. ३ पृ० ४० में 'ऐत. शत. साम. गोपथ को चारों वेदोंके चार ब्राह्मण माना है। तब उनके मतमें गोपथ अथर्ववेदका ब्राह्मण सिद्ध हो जानेसे विपक्षीके अनुसार वह पैप्पलादसंहिताका होनेसे और उसमें अथर्ववेदका स्वा.द.के लिखे अनुसार 'शं नो देवी' प्रथम मन्त्र होनेसे पैप्पलादसंहिता भी अब अथर्ववेद संहिता बन गई। उसने विपक्षीको अब लज्जासे अवनत-शिरवाला कर डाला; या फिर स्वा.द.जी ही 'भ्रान्त वेदद्रष्टा' थे—यह वादी अपनी ही लेखनीसे लिख दे; तो स्वामीजीकी अच्छी शोभा हो जायगी।

(अ) गोपथने भी अथर्ववेदका आदिम मन्त्र 'शं नो देवी' ही दिखलाया है; (आ) भाष्यकार श्रीपतञ्जलिने भी अथर्ववेदका आदिम मन्त्र 'शंनो देवी' दिखलाया; (इ) और वादीके 'अद्वितीय वेदद्रष्टा

स्वा.द.जीने भी 'शं नो देवी' को ही अथर्ववेदका 'प्रथममंत्रप्रतीक' ऋभाभू. में बताया। अब विपक्षी या तो गोपथ तथा पतञ्जलिको भ्रान्त कहे; और अपने 'अद्वितीय वेदद्रष्टा' के भी वेदानभिज्ञ होनेकी घोषणा कर दे; क्या यह इस सिंहनादकेलिए तैयार है ? यदि हां; तब तो उसका पक्ष सिद्ध होगा; नहीं तो उसका पक्ष बहुत बुरी तरहसे विध्वस्त हो गया। उसकी एतद्विषयक युक्तियाँ निस्सार सिद्ध हुईं; और उसके साम्प्रदायिक पक्षको ले डूबी हैं। तभी तो आर्यसमाजके 'अप्रतिभट-विद्वान्' श्रीब्रह्मदत्त जी जिज्ञासुने 'इस शङ्काको पर्याप्त बलवती' बताया था। इस उक्तिका मूल्य विपक्षीने भी अब समझ लिया होगा।

(ङ) 'ये त्रिषप्ताः' अथर्ववेद-शौनकसंहिताका प्रथम मन्त्र है, इसमें हमारा कोई नकार नहीं। हम तो 'शं नो देवी' को अथर्ववेदका प्रथम मन्त्र सिद्ध करके यह सिद्ध कर रहे हैं कि-अथर्ववेदकी नौ संहिताएँ सभी अथर्ववेद हैं। जो जिसकी कुल-शाखा हो, वह अपने अध्ययनमें उसे ही मुख्य रखे। पर चार वेद तो सभी ११३१ संहिताएँ मिलकर बनते हैं। यह 'चत्वारो वेदाः...एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधा आथर्वणो वेदः' यह इस भाष्यकारके वचनसे तथा 'शं नो देवी' को अथर्वका प्रथम मन्त्र लिखनेसे स्पष्ट सिद्ध हो रहा है। उक्त वचनमें सभी ११३१ शाखाओंको ही चार वेद बताया गया है। इसका यह भाव नहीं कि—चार वेदोंको अलग कर दो ११२७ शाखाएँ बचा दो, यह गलत है। जैसे 'वेद' शब्द चारों वेदोंसे पृथक् कोई पुस्तक-विशेष नहीं है, वैसे ही चारों वेद भी ११३१ शाखाओंसे भिन्न कहीं नहीं मिलते। तभी तो इन सबका नाम 'ऋग्वेद' आदि नहीं है, किन्तु 'ऋग्वेद-संहिता' आदि नाम है। 'संहिता' का अर्थ 'शाखा' है। उसमें किस ऋषिकी यह संहिता है; इस प्रश्न पर वहाँ शाकल आदि नाम कहना पड़ेगा। पाठक देख रहे हैं कि—विपक्षीका पक्ष कितनी सफाईसे कट गया। सभी शाखाएँ चार वेद सिद्ध हो गईं।

(११) यह जो विपक्षीने लिखा है कि—वर्तमान समयमें सायण-भाष्य भी उसी मूल-संहिता पर उपलब्ध है, जिसका आदिम मन्त्र 'ये त्रिषप्ताः' है।'

यह सुनकर वादी अपने पक्षकी निर्बलता अनुभव करेगा कि—सायणभाष्य जिस अथर्ववेदसंहिता पर है; वह आर्यसमाज वैदिक प्रेस से मुद्रित अथर्ववेदसंहितासे कुछ भिन्न है। उस संहिताके १८।४।४८ मन्त्रमें 'मृताः' यह पद है, देखिये-श्रीविश्वेश्वरानन्दजीकी 'अथर्ववेदकी पदसूची'। पर सायणभाष्यवाली संहितामें 'अमृताः' पाठ है। वर्तमान अ. ६।३०।१ में 'साम्मनस्यं' पद है, पर सायण वाली में 'साम्मनुष्यं' पाठ था; यह उसके भाष्यसे विदित होता है। वर्तमान अ. ३।३०।३ में 'वाचं वदत' है; पर सायणवाली संहितामें 'वदतु' है। इस प्रकार 'चोदयामि' 'नोदयामि' आदि भेद हैं। इस प्रकार अन्य भी बहुत से भेद हैं-यह बात वादी श्रीयुधिष्ठिर-मीमाँसकजीसे भी पूछ सकता है।

अथर्ववेदका गृह्यसूत्र 'कौशिकसूत्र' है; उसका भी मन्त्रक्रम शौनक-संहिताके रूपमें नहीं, किन्तु पैप्पलादसंहिताके अनुरूप है। इस प्रकार श्रीसायणने जिस ऋसं. पर भाष्य लिखा है, वह भी अजमेरी ऋसं. से भिन्न है। अजमेरी ऋसं. में वालखिल्यसूक्त हैं, पर सायणभाष्यवाली ऋसं. में नहीं। वह बाष्कलसंहिता मानी जाती है। उसमें विवाहसूक्तमें 'देवकामा' है; पर आर्यसमाजवालीमें 'देवृकामा' है। सायणने जिस यजु० सं० पर भाष्य किया है, उसमें 'वायवस्थ, उपायवस्थ' है, पर आर्यसमाजी यजु:सं. में 'उपायवस्थ' नहीं है। सायणने यजुः-काण्वसं. पर भी भाष्य किया है; पर आर्यसमाजी यजुः माध्यं. सं. पर भाष्य नहीं किया; सो यदि वादी सायणभाष्यकी दुहाई देता है; वा सायणभाष्यको वेदसंहिताओंकी कसौटी मानता है; तो सायणभाष्यवाली चारों संहिताओंको चार वेद माने; आर्यसमाजी संहिताओंका बाईकाट करे—या उसकी आर्यसमाजमें घोषणा कर दे। यदि नहीं करता; तब सायणभाष्यवाली वादीकी युक्ति

भी कट गई।

शेष हैं श्रीराजाराम-क्षेमकरण आदि; वे आर्यसमाजी हैं। उन्हें जो अथर्ववेदसंहिता मिल गई, उसपर ही उनने भाष्य कर दिया। यदि यह शौनकसंहिता पहले न मिलती; किन्तु अथर्ववेद-पैप्पलादसहिता ही पहले मिलती, तो वे उसीको वेद मानकर उसी पर भाष्य करते। इससे 'ये त्रिषप्ताः' वाली संहिताका वेदत्व हम काट नहीं रहे हैं, किन्तु यह सिद्ध कर रहे हैं कि-इस उपलक्षणसे सभी ११३१ संहिताएँ चार वेद हैं- इससे स० ध० का ही पक्ष सिद्ध होता है।

दो प्रकारके छन्द (?)

(१२) पृ० ७९ में यह जो कहा गया है कि—'महाभाष्यकारने दो प्रकारके छन्द माने है। एक छन्द वह जिसमें फेरफार है, और **दूसरा छन्द** वह-जिसमें फेरफार नहीं है, मूल है' यह वादीकी निराधार एवं गलत कल्पना है। महाभाष्यकारने **कहीं भी दो प्रकारके छन्द नहीं** माने, यह हमारा चैलेञ्ज है, किन्तु भाष्यकारने **सभी छन्द एक प्रकारके** माने हैं। अर्थरूपमें तो उन्हें नित्य (समान) माना है, पर सभी छन्दोंकी वर्णानुपूर्वी अनित्य (परस्पर असमान) मानी है। इस विषयमें हम 'आलोक' (४-६-७-८) में स्पष्टता कर चुके हैं। वेदमें फेरफार होना, या न होना—यह नया आविष्कार या तो श्रीब्रह्मदत्त जिज्ञासुजीका है, या श्रीभगवद्दत्तजी बी.ए.का; या फिर इन्हींके पिछलगुआ श्रीब्रह्ममुनि-जीका। पर यह पक्ष है सर्वथा निर्मूल ही। शौनक-संहिताका फेरफार पैप्पलादसंहितामें क्यों माना जावे? पैप्पलादसंहिताका ही--जिसे गोपथ, भाष्यकार, तथा स्वा.द, अथर्ववेद मान चुके हैं—फेरफार आर्यसमाजी शौनकसंहितामें क्यों न माना जावे? आर्यसमाजियोंकी चारों संहिताओंके समान मन्त्रोंमें ही परस्पर फेरफार है-यह हम गत पुष्पोंमें दिखला चुके हैं, तब क्या विपक्षी उनमें दूसरी संहिताको पहली संहिताकी शाखा मान लेगा? वस्तुतः यह फेरफार नहीं है; वेदोंको प्राप्त करनेकेलिए समाधिमें

लगे हुए ऋषियोंके माध्यमभेदसे यह भेद है, इसीको शाखाभेद कहा जाता है। यह पुरुषकृत वा ऋषिकृत फेरफार नहीं है। समाधिदृष्ट-संहिताओंको पौरुषेय नहीं माना जाता। नहीं तो फिर समान न्यायसे वादियोंकी संहिताओं को भी ऋषिकृत, वा पौरुषेय मानना पड़ जायगा।

(ख) वादीसे यह प्रष्टव्य है कि-महाभाष्यके उक्त वचनमें 'छन्द' का अर्थ वेद है, या नहीं? यदि वहाँ 'छन्द' का अर्थ वेद है; तो सभी छन्दों (वेदों) की वर्णानुपूर्वी भी भाष्यकारानुसार 'अनित्य' माननी पड़ेगी, और शाखाएँ भी वेद होंगी।

यदि कहा जावे कि—भाष्यके उक्त स्थलमें 'छन्दः' शब्दका 'वेद' अर्थ नहीं है; तो क्या अर्थ है? उसमें प्रमाण क्या है? यदि यह यहां पारिभाषिक शब्द है, तो यह परिभाषा केवल महाभाष्यमें सीमित है, वा दूसरी पुस्तकोंमें भी? यदि भाष्यकारने यह चालू की है; तो उससे पूर्वकी पुस्तकोंमें तो यह चालू नहीं होगी? यदि उनमें भी चालू है; तो उसमें उन प्राचीनोंका क्या प्रमाण है?

भाष्यका सन्दर्भ वादीने यह दिया है कि—'नहि छन्दाँसि क्रियन्ते, नित्यानि छन्दाँसि इति? [यहां वादीको बताना चाहिये कि—'छन्दाँसि' का क्या अर्थ है? यह पूर्वपक्ष है।) छन्दांस्यपि क्रियन्ते (यहां भी 'छन्दाँसि' का क्या अर्थ है, यह उत्तरपक्ष है)। यद्यपि [छन्दसाम्] अर्थो नित्यः, या तु असौ [छन्दसां] वर्णानुपूर्वी, सा अनित्या'। इसमें भाष्यकारने कहीं भी छन्दके दो भेद नहीं माने, किन्तु एक ही प्रकारका छन्द माना है, अर्थात् सभी छन्दों (वेदों) को **अर्थरूपसे नित्य** (समान) माना है; पर वर्णानुपूर्वीरूपसे सभी छन्दोंको अनित्य (परस्पर असमान) माना है। यही पारस्परिक असमानता ही छन्दों (वेदों) की वर्णानुपूर्वीकी अनित्यता भाष्यकारको अभिमत हैं; और इसी कारण भाष्यकारको संहिताभेद इष्ट है। जो कि भाष्यकारने 'काठकम्, पैप्पलादकम्' आदि उदाहरण दिये हैं, यह वेदोंकी सभी ११३१ संहिताओंके 'प्रधानेन व्यपदेशा भवन्ति' इस

न्यायसे उपलक्षण हैं, जिनमें माध्यन्दिनी, शौनकी, कौथुमी, शाकल आदि वादिसम्मत संहिता भी आ जातीं हैं। यदि वादी यह न माने; तो उसी भाष्य-सन्दर्भमें नहीं कही हुई तैत्तिरीयसंहिता, मैत्रायणीसंहिता, कठ-कपिष्ठलसंहिता, काण्वसंहिता आदि भी मूलवेद हो जाएँगी; जो कि वादी को अनिष्ट है। इस विषयमें 'आलोक' के गत पुष्पोंमें हम लिख चुके हैं। वादीकी संहिताओंमें भी समान मन्त्रोंका परस्पर हेरफेर देखा जाता है; यह हम आगे बताने वाले हैं। तैत्तिरीयसंहिता प्राचीन है, उसके पीछेकी वादीकी अपनी संहितामें उसी तैत्तिरीयके मन्त्रोंका हेरफेर मानना पड़ेगा। यदि वादीकी इष्ट संहितामें कहीं 'भ्रातृव्यस्य' है; और उससे भिन्नमें 'द्विषतः' है; तो यह आवश्यक नहीं कि—'भ्रातृव्य' की व्याख्या 'द्विषत्' हो। 'द्विषत्' की व्याख्या भी 'भ्रातृव्य' हो सकती है। किसी देशकालमें 'भ्रातृव्य' शब्द भी सुगम हो सकता है, जो 'द्विषत्' की व्याख्या भी हो सकता है। इसमें उदाहरणोंकी कमी नहीं है।

फलतः भाष्यकारके पूर्व सन्दर्भमें ऐसा छन्द (वेद) तो कोई लिखा नहीं; जिसमें वर्णानुपूर्वी नित्य बताई गई हो; जिसमें हेरफेर न होता हो। तब यहाँ छन्दको दो प्रकारका कहना वादीका निर्मूल पक्ष है। यदि कहा जावे कि—इस सन्दर्भमें तो किसी भी छन्दकी नित्यता नहीं लिखी; पर महाभाष्यके अन्य सन्दर्भमें तो छन्दकी नित्यता भी कही है, यह बात भी वादीकी ठीक नहीं। क्या उस सन्दर्भमें वादी 'छन्दः' शब्द दिखा सकेगा? यदि नहीं; तब छन्दके दो भेद तो सिद्ध न हुए! उद्दिष्ट-प्रतिनिर्दिष्ट वस्तुओंमें समान ही शब्द होता है; उसका पर्यायवाचक भी नहीं रखा जाता; नहीं तो भग्नप्रक्रम दोष अनिवार्य हो जाता है। 'उदन्वच्छिन्ना भूः स च पति-रपाँ योजनशतम्' इस पद्यमें समुद्रको 'उदन्वत्' शब्दसे निर्दिष्ट किया गया है, फिर उसीको 'अपाँ पतिः' शब्दसे प्रतिनिर्दिष्ट किया गया है। सो यहां उद्दिष्ट-प्रतिनिर्दिष्टके पर्यायवाचक भी भिन्न होनेसे सह्य नहीं होते; अतः वहां भग्नप्रक्रम दोष माना जाता है। उस दोषको हटानेका उपाय यह है

कि—या तो वहां वही शब्द दूसरी बार प्रयुक्त किया जावे; अथवा उसका परामर्शक सर्वनाम हो। जैसे-यदि 'उदये सविता ताम्रः, ताम्र एवास्तमेति च' यह पाठ हो, तो ठीक है, उद्दिष्ट-प्रतिनिर्दिष्टता संगत हो जाती है। यदि यहां 'उदये सविता ताम्रो, रक्त एवास्तमेति च' 'ताम्रः' के प्रति-निर्देश करनेकेलिए उसके पर्यायवाचक 'रक्त' शब्दको रख दिया जावे; तो फिर भग्नप्रक्रमदोष उपस्थित हो जाता है। उसके दूर करनेका उपाय यह है कि—वही शब्द पुनरावृत्त हो, जैसे कि पहले लिखा गया है। या फिर 'उदये सविता ताम्रः तादृगेवास्तमेति च' इस प्रकार सर्वनामका प्रयोग हो। सो भाष्यमें यदि अन्यत्र 'छन्द' का प्रतिनिर्देश करनेकेलिए भिन्न पर्याय दिया जायगा, तो भग्नप्रक्रम दोष अनिवार्य हो जावेगा। अथवा वहाँ भिन्नविषयता होगी; भिन्न बात होगी, पूर्वकी प्रतिद्वन्द्विता नहीं होगी। दोनों ही दशाओंमें हानि विपक्षीके पक्षकी ही होगी।

यदि दोनों स्थान 'छन्दः' शब्द रखा जावेगा; तो 'छन्द' वेदको कहते हैं, देखिये—कोषोंमें। जैसे—'छन्दः पद्ये च वेदे च' (मेदिनी कोष) इत्यादि। स्वा.द.जीका पहले उद्धरण दे ही चुके हैं। जैसे—'अतः छन्दो वेदः' (ऋभाभू. पृ. ६०) इत्यादि। फिर छन्दरूप शाखाओंको भी वादी को वेद मानना पड़ेगा। यह तो 'घट्टकुट्यां प्रभातायितम्' न्याय चरितार्थ हो जावेगा। कई गाडीवान चुंगीसे बचनेकेलिए रातमें चल पड़े थे; पर जहाँ उन्हें सवेरा हुआ; वहीं चुंगी खुली हुई थी; उन्हें चुंगी भरनी पड़ी। शाखाओंका वेदत्व हटानेकेलिए वादियोंने गलत कल्पनाका प्रासाद भी बनाया, फिर भी उन्हें शाखाओंको वेद मानना पड़ा—'भक्षितेपि लशुने न शान्तो व्याधिः' (लहसन खाया, फिर भी बीमारी नहीं हटी)।

अथवा छन्दके मुकाबलेमें यदि 'आम्नाय' शब्द प्रतिनिर्देशमें रखा जावेगा; तब भी वादीके पक्षकी हानि है। फिर भग्नप्रक्रम दोष उपस्थित हो जावेगा; या फिर उसमें भिन्न-विषयता सिद्ध होगी। तब वादी 'छन्द' के दो भेद नहीं कर सकेगा। पहलेका 'छन्द' शब्द फिर केवल शाखाओंका

नाम हो जावेगा। 'छन्द' शब्दका अर्थ वेद होनेसे शाखाएँ स्वतः वेद हो जावेंगी। 'छन्द' और 'आम्नाय' दोनों वेदके नाम होनेसे शाखाएं फिर भी वेद ही रहेंगी। यह वादीका अनिष्ट उपस्थित होगा। इसका कारण स्पष्ट है कि-विपक्षीका यह पक्ष निर्बल है, दृढ नहीं है।

यदि विपक्षी कहे कि—'हमें दोनों स्थलोंमें भिन्न शब्द छन्द एवं आम्नाय रखना इष्ट ही है; इससे शाखाएँ 'छन्द' सिद्ध होंगी; और हमारी (विपक्षीकी) शाखाएँ आम्नाय (वेद) रहेंगी; यह भी ठीक नहीं। इससे फिर 'छन्दः' शब्द वादीके अनुसार केवल शाखाओंका नाम ही हो जायगा; कहीं भी फिर वादीके अनुसार 'वेद' का वाचक नहीं रहेगा; पर वही वादी छन्दसे स्वयं वेदको भी माना करता है—जैसेकि आगे लिखा जायगा; सो यह अनियमितता होगी।

अन्य बात यह है कि--वादी जिन्हें चार मूलवेद बताता है, वे भी तो क्रमशः शाकली, माध्यन्दिनी (वाजसनेयी), कौथुमी, शौनकी शाखाएँ हैं। यह बात वादि-प्रतिवादिमान्य है। श्रीभगवद्दत्तजी, श्रीयुधिष्ठिरजी मीमांसक, श्रीविश्वबन्धु शास्त्री आदि आर्यसमाजी भी यह मानते हैं; वे भी वादीकी मूल-संहिताएँ वादीको अनित्य वर्णानुपूर्वी वाली माननी पड़ेंगी। फिर भी उसीके पक्षकी हानि है।

यदि वादी कहे कि—हम अपनी ऋग्वेदादि संहिताओंको शाकली आदि मनुष्य-सम्बद्ध माननेकेलिए तैयार नहीं; तब 'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः' (१।१।२७) इस मीमाँसादर्शनका पू० सूत्र निर्विषय हो जावेगा। इसमें वेदोंका पुरुष-सम्बन्ध सूचित किया गया है। सो शाकली, माध्यन्दिनी, कौथुमी, शौनकी वादीकी इष्ट-संहिताएँ भी पुरुषसम्बन्धवाली हो जाएंगी। यदि वादी इस सूत्रसे अपने बचावकेलिए इसे अपनी शौनकी आदि संहिताकेलिए न मानकर काठक, पैप्पलादादि-संहिताओंकेलिए मान ले; तो वह यह याद रखे कि--इस मीमांसासूत्रमें 'वेद' शब्द है; तो फिर पैप्पलाद आदि सभी वेदशाखाओंको वादिप्रतिवादिमान्य मीमांसा-

दर्शनानुसार वादीको वेद मानना पड़ जायगा। वादीका पक्ष जिसे वह बड़े संरम्भसे सिद्ध करनेकी सरतोड़ चेष्टा कर चुका है—रसातलको चला जावेगा। सार यह है कि—जब तक वादी स०ध० के पक्षकी शरणमें नहीं आवेगा; तब तक उसके आगे बड़ी सख्त गाँठें उपस्थित हो जायंगी; जिन्हें वह खोल नहीं सकेगा। स्पष्ट है कि—उसका या उसके समाजका पक्ष निरी बालूकी दीवार है।

फलतः 'या त्वसौ छन्दसां वर्णानुपूर्वी, सा अनित्या' भाष्यके इस सन्दर्भमें सभी छांदस संहिताएँ-वेद संहिताएँ गृहीत हो जाती हैं। उनमें वादीकी मानी हुई चार शाकली, माध्यन्दिनी, कौथुमी, शौनकी शाखाएं भी शामिल हो जाती हैं। भाष्यमें जो 'काठकम्, कालापकम्' आदि उदाहरण दिये हैं; वे अन्य सभी भाष्यकाराभिमत ११३१ संहिताओंके उपलक्षणार्थ हैं। 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति' इस न्यायसे उस समयकी प्रसिद्ध पैप्पलादी-अथर्ववेदसंहिता आदिका नाम ले लिया गया है। इससे स्पष्ट है कि उस समय वादीकी शौनकी-अथर्ववेदसंहिता आदि प्रसिद्ध नहीं थीं। यदि होतीं; तो भाष्यकार उनका नाम लेता। वादी सदाकेलिए याद रखे कि—जो भी कोई वेदसंहिता होगी; उसमें ऋषि-सम्बन्ध अवश्य होगा कि—यह अमुक ऋषिसे प्रोक्त संहिता है। नहीं तो फिर भाष्य-सन्दर्भमें लिखित काठक, कालापक, मौदक, पैप्पलादक' (महा० ४।३।१०१) से भिन्न तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काण्व, जाजलि, कठकपिष्ठल, बाष्कल, शाङ्खायन आदि शेष संहिताएँ भी वादीके अनुसार वेद हो जायंगी, फिर भी वादीके ही पक्षकी हानि होगी।

अत्र वादी बतावे कि—उक्त भाष्यके सन्दर्भ (४।३।१०१) में छन्द दो प्रकारका कहाँ कहा गया है? यह तो वादीकी बनावटमात्र सिद्ध हुई। वादीके अनुसार तो हेरफेरवाला मंत्र भी जब कभी वेद नहीं माना जा सकता; तो हेरफेरवाली संहिता भला छन्द (वेद) कैसे कही जा सकेगी?

'नियत' शब्दका भाष्यमें अर्थ क्या है ?

(१२) पृ. ८० जो कि वादी कहता है—'दूसरे छन्दः-प्रकारका वर्णन भाष्यकारने ५।२।५९ में किया है—'स्वरो नियत आम्नाये 'अस्य वाम' शब्दस्य; वर्णानुपूर्वी खल्वपि आम्नाये नियता' वेदमें स्वर नित्य है, अस्य वामकी वर्णानुपूर्वी भी वेदमें नित्य है'।

इसमें वादी स्वयं धोखा खा गया; वा दूसरों को धोखा दे रहा है-- यह तो वही जाने; पर यहां उसका पक्ष सिद्ध नहीं हो रहा। यहां पर 'अस्य वाम शब्दस्य' का जो दूसरी बार पाठ था, वादीने उसे लोकदृष्टिसे छिपा लिया है। यहां पर जबकि 'छन्दः' शब्द नहीं रखा गया है, किन्तु 'आम्नाय' शब्द है; तब वादीने छन्द दो प्रकारका कैसे सिद्ध किया ? यदि वादी कहे कि–छन्द और आम्नाय पर्यायवाचक शब्द हैं; तो पहलेके 'छन्दः' शब्दका अर्थ भी 'वेद' मानना पड़ेगा, और 'आम्नाय' का अर्थ भी 'वेद' मानना पड़ेगा; तब तदनुसार क्र.य. 'काठक' आदि संहिताओंको भी वादीको 'वेद' मानना पड़ेगा। तब क्या वादी इस बातको माननेकेलिए तैयार है ? यदि ऐसा है; तो फिर हमारे पक्षमें आ मिलनेपर वादीको धन्यवाद हो। अब उसे आर्यसमाजको छोड़ देना पड़ेगा। मतलब पूरा हो जानेपर फिर आ० स० भी वादीको दूधसे मक्खीकी भाँति निकाल फेंकेगा ? तब तो वादीका यही प्रमाण उष्ट्रलगुड-न्यायसे उसीका खण्डक सिद्ध हो जावेगा।

इस प्रमाणमें केवल दो बार 'अस्य वाम' का स्वर तथा उसीकी वर्णानुपूर्वी नियत बताई गई है। सारे वेदकी वर्णानुपूर्वी नियत नहीं बताई गई। अतः भाष्यमें उक्त दोनों स्थलोंमें प्रतिद्वन्द्विता नहीं है। इसके अतिरिक्त 'नियत' का यहाँ अर्थ भाष्यकारकी शैलीके अनुरूप 'निश्चित' ही है, 'नित्य' नहीं। जैसे कि—भाष्यकार-द्वारा प्रयुक्त 'नियत' का प्रयोग अन्य स्थलमें भी देखें—'एतस्मिंश्च अतिमहति शब्दस्य प्रयोग-विषये ते-ते शब्दाः तत्र-तत्र नियत-विषया दृश्यन्ते' (पस्पशाह्निक 'सर्वे

देशान्तरे' वार्तिक में) यहाँ भी 'नियता' का अर्थ 'निश्चिता' ही है 'नित्या' नहीं।

अब वादीसे उद्धृत पूर्वोक्त भाष्यकारके पाठके साथका पाठ भी पाठक देखें, तब 'नियत' शब्दका भाष्यकारको क्या अर्थ इष्ट है—यह ठीक-ठीक मालूम हो सकेगा; क्योंकि अर्थ पूर्वापरप्रकरणको देखकर करना पड़ता है, नहीं तो अव्यवस्था हो जाय। वह साथका पाठ यह है—'देशः खल्वपि आम्नाये नियतः' 'श्मशाने नाध्येयम्, चतुष्पथे नाध्येयम्' इति (५।२।५९) अब यहाँ विपक्षी विचार कर देखे कि—इस साथ वाले पाठमें क्या 'नियत' का अर्थ 'नित्य' कभी संगत हो सकता है ? कभी नहीं, यहाँ 'निश्चित' ही अर्थ है कि—आम्नाय (वेद) में देश भी निश्चित कर रखा गया है कि—श्मशान वा चौराहेमें अध्ययन न किया करो'। वैसे तो भाष्यकार 'नित्य' का अर्थ 'आभीक्ष्ण्य' कहकर उसका 'अनित्य' अर्थ भी कर देते हैं। देखिये पस्पशाह्निकमें 'सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे' वार्तिकमें। इसपर 'आलोक' (४) पृ. १५७ देखिये। पर यहाँ 'नियता' का पूर्वापर-प्रकरणसे 'निश्चिता' ही अर्थ है, 'नित्या' नहीं। पूर्वापरके संवादसे ही प्रयोक्तासे प्रयुक्त शब्दके अर्थका ठीक-ठीक पता लगा करता है, पर दयानन्दियोंने तो गुरुपरम्परानुसार पूर्वापरको छिपा देनेकी कसम खा रखी है।

अब फिर पूर्वसे आगेका पाठ देखिये—'कालः खल्वपि आम्नाये नियतः, न अमावास्यायामध्येयं न चतुर्दश्यामिति' यहां वादी 'नियत' का अर्थ एड़ी-चोटीका पसीना बहाकर भी क्या कभी 'नित्य' निकाल सकता है कि वेदमें काल भी नित्य होता है—चतुर्दशी वा अमावास्यामें न पढ़ो। वस्तुतः यहां भी 'नियत' का वास्तविक अर्थ 'निश्चित' है कि–वेदमें अध्ययनका काल भी 'निश्चित' कर रखा गया है कि--अमावास्या वा चतुर्दशीमें न पढ़ो। यदि यहां 'नियतः' का अर्थ 'नित्य' किया जावे; तो अन्य तिथियोंमें तो पढ़ना और चतुर्दशी वा अमावास्यामें न पढ़ना–

यह तो अनित्यकालता हो जावेगी, नित्यकालता यहाँ कहाँ रही ?

(ख) यदि यहाँ वादी 'आम्नाय' का अर्थ 'वेद' मानता है; और वेद भी अपनी वैदिकप्रेस अजमेरकी छपी चार पोथियोंको ही मानता है, तो वादी 'श्मशाने नाध्येयम्, चतुष्पथे नाध्येयम्, नामावास्यायामध्येयम्, न चतुर्दश्याम्' इस महाभाष्यके आम्नायके उद्धरणोंको आम्नाय अपनी **वैदिकप्रेसकी चार वेदपोथियोंसे दिखलावे**--यह उसे आह्वान (चैलेञ्ज) है। यदि वह उनसे इन उद्धरणोंको न दिखला सका; तो निश्चित होगा कि--उसका पक्ष बालूकी भित्ति होनेसे गिर गया। या फिर इस वाक्यमें 'आम्नाय' का अर्थ वेद नहीं है। यदि है; तो यह उद्धरण किसी लुप्त-संहिता वा ब्राह्मणके हैं; तब स. ध. का पक्ष 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' सिद्ध हो गया।

सम्भव है कि--अब यह विपक्षी यह भी कह दे कि—महाभाष्यकार भी वेदानभिज्ञ थे, (जैसे कि--दयानन्दी कुशवाहाने वै. सि. मा. (पृ. २८-२९) में यही सूचित किया है।) वेदका ज्ञान तो केवल स्वा.द.जीको था। पर वह शायद ऐसा नहीं मानेगा। स्वा.द.जीने 'शं नो देवी' को अथर्ववेदका **प्रथममंत्र** माना है; पर वादी स्वा.द.जी को भी यहां नहीं मानता। तब क्या स्वामी वादीके अनुसार 'अद्वितीय वेदद्रष्टा' हुए, या भ्रान्त वेदद्रष्टा ?

(ग) अब वादी निरुक्तकारकी भी 'नियत' शब्दके अर्थमें साक्षी सुने। निरुक्तकार श्रीयास्क भी मन्त्रोंको 'नियतानुपूर्वी' वाला तथा '**नियत**-वाचोयुक्ति' वाला मानते हैं। इस बातको सिद्ध करनेकेलिए श्रीयास्कने लौकिक उदाहरण 'इन्द्राग्नी, पितापुत्रौ' दिये हैं। इसी प्रकार नियतानुपूर्वीवाले लौकिक उदाहरण अन्य भी हैं। जैसे—'हरिहरौ, शिव-केशवौ, कुश-काशम्, युधिष्ठिरार्जुनौ, ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः, ईशकृष्णौ, कृत्तिकारोहिण्यौ, तापस-पर्वतौ' इन सबमें वर्णानुपूर्वी नियत है। तो क्या वादी इन लौकिक शब्दोंमें यही अर्थ करेगा कि—इनमें वर्णानुपूर्वी नित्य

है ? इसका तो तात्पर्य यह है कि—ऐसी आनुपूर्वी इनमें नि[illegible] निश्चित है, बदलती नहीं है। सो 'नियत' का नित्य' अर्थ कर[illegible] यदि नित्य अर्थ किया जायगा; तो फिर लौकिक उक्त शब्द भी[illegible] हो जाएंगे; और वेदमें 'अस्य वामीय' शब्द भी नित्य है, फिर[illegible] और वैदिक शब्दोंका वादीके मतमें तारतम्य क्या रहेगा? [illegible] वादिमान्य न्यायदर्शनमें शब्दकी नित्यतासे वेदकी नित्यता नहीं [illegible] गई, किन्तु वेदके शब्दोंको अनित्य मानकर भी वेदके सम्प्रदायके [illegible] रहनेसे वेदकी नित्यता मानी गई है। देखिये—इसपर स्वा.द.जीका प्र[illegible] वात्स्यायन-भाष्य—

'शब्दस्य वाचकत्वाद् अर्थप्रतिपत्तौ प्रमाणत्वं, न नित्यत्वात्। [illegible] वा वाक्य अर्थप्रतिपादक होनेसे प्रमाण हुआ करता है, नित्य होनेसे न[illegible] नित्यत्वे हि सर्वस्य सर्वेण वचनात् शब्दार्थस्य अनुपपत्तिः' (यदि [illegible] नित्य हों, तब उनसे पूर्व संकेतकर्ताके अभाववश सब शब्दोंसे स[illegible] निकलने लग जाएंगे, फिर शब्दविशेषसे अर्थविशेषकी प्रतीति [illegible] व्यवस्था उपपन्न नहीं हो सकेगी। पर यह इष्ट नहीं है। शब्दोंके [illegible] होनेसे उनसे पूर्व संकेतकर्ता हो सकता है। संकेतके अनुसार हो[illegible] होनेसे शब्दसे अर्थकी प्रतीति की व्यवस्था उपपन्न हो जाती[illegible] 'नाऽनित्यत्वे वाचकत्वमिति चेत्' (प्रश्न) (यदि वेदके शब्दोंको अ[illegible] माना जावेगा, तो फिर उनका वाचकत्व तथा प्रामाण्य नहीं हो सकेगा[illegible] न, लौकिकेषु अर्थदर्शनात् (उत्तर) (लौकिक अनित्य शब्दोंका अर्थ[illegible] जबकि हुआ करता है, तब शब्दोंकी अनित्यतामें उसकी अर्थवाचक[illegible] क्षति नहीं आती) तेपि नित्या इति चेत् (प्रश्न—उन लौकिक श[illegible] भी नित्य क्यों न मान लिया जावे ?) न, अनाप्तोपदेशाद् अर्थविसंवादा[illegible] नुपपन्नः-नित्यत्वाद्धि शब्दः प्रमाणम्--इति (उत्तर—यदि नित्य होने[illegible] शब्दको प्रमाण माना जावेगा, तो जो अनाप्त पुरुषका उपदेश है, व[illegible] फिर नित्य हो जावेगा, और उसे प्रमाण मानना पड़ जावेगा। तब[illegible]

अनाप्तके उपदेशकी अनर्थकता भी नहीं मानी जा सकेगी, परन्तु अनाप्तके उपदेशको गलत माना जाता है, अतः शब्दके नित्य होनेसे शब्दकी प्रमाणता नहीं होती, किन्तु आप्तके वचन होनेसे ही शब्दकी प्रमाणता हुआ करती है।)

'अनित्यः स इति चेत्' (प्रश्न—अनाप्तोपदेशको हम अनित्य मान लेंगे; अतः यह अप्रमाण हो जावेगा ?) अविशेषवचनात् अनाप्तोपदेशो लौकिको न नित्य इति कारणं वाच्यम् (उत्तर—यदि ऐसा हो तो लौकिक आप्तोपदेश नित्य है, और अनाप्तका उपदेश अनित्य--इसमें कारण बताना पड़ेगा, पर कारण नहीं बताया जा सकता। तब शब्दोंकी नित्यता होनेपर सब शब्दोंसे सभी अर्थ निकलने लग जाया करेंगे, यह अव्यवस्था आ पड़ेगी। अतः शब्दकी अनित्यता ही ठीक है, सो उसकी आप्तवचनता होनेसे ही प्रमाणता है, नित्य होनेसे प्रमाणता नहीं।)

यत्रार्थे नामधेयशब्दो नियुज्यते लोके तस्य नियोगसामर्थ्यात् प्रत्यायको भवति, न नित्यत्वात् (लौकिक वाक्य जिस अर्थमें संकेतित किया जाता है, उसके सामर्थ्यसे उस अर्थका बोधक होता है, **नित्य होनेसे** बोधक नहीं होता) मन्वन्तर-युगान्तरेषु च अतीतानागतेषु सम्प्रदायाभ्यासप्रयोगाऽविच्छेद इति वेदानां नित्यत्वम्, आप्तप्रामाण्याच्च प्रामाण्यम् (वेदकी जो नित्यता मानी जाती है, **वह शब्दोंकी नित्यताके कारण नहीं मानी** जाती, किन्तु भूत, भविष्यत्, वर्तमानके युगयुगान्तरोंमें वेदका सम्प्रदाय एवं अभ्यास नष्ट नहीं हुआ करता, यही **वेदोंकी नित्यता है, शब्दोंकी नित्यतासे नित्यता नहीं**; और आप्तप्रमाण होनेसे ही वेदोंको प्रमाण माना जाता है, **शब्दकी नित्यतासे उसकी प्रमाणता नहीं**। सृष्टिकी आदिमें परमात्मा वेदका उपदेश करता है, ऋषि समाधि लगाकर उस उपदेश को ग्रहण करते हैं। वे आप्त होते हैं, अतः उनकी प्रमाणतासे ही वेदकी प्रमाणता है, वेदके शब्दोंकी नित्यतासे उनकी प्रमाणता नहीं' (न्यायदर्शन २।१।६८)।

सो जैसे वादिप्रतिवादिमान्य न्यायदर्शनने वेदके शब्दोंकी अनित्यता बताई है, महाभाष्यने भी इसी शैलीसे वेदशब्दोंकी आनुपूर्वीको अनित्य बताया है। सो इस मीमांसासे वादीका मत 'आकाशका महल' बन गया। यदि वादी कहे कि—हम इस विषयमें न्यायदर्शनकी बात न कर मीमांसा-दर्शनकी बात मानकर वेदकी शब्दानुपूर्वीको नित्य मानेंगे; तब इसी तरह वेदकी शब्दानुपूर्वीकी अनित्यताका महाभाष्यका मत न मानकर वादी मीमांसाका मत मान ले।

भाष्यकारने अपने वैयक्तिक मतानुसार वेदकी शब्दानुपूर्वीकी अनित्यता बताई है; सो आप भले ही भाष्यकारका मत न मानें। इस पर आपको प्रतिबन्ध नहीं, पर भाष्यकारके शब्दोंमें तोड़-फोड़ मत करें। श्रीयास्कने उपसर्गोंकी वाचकता मानते हुए शाकटायनका मत न मानकर गार्ग्यका मत माना; अतः उसे उत्तरपक्षमें रख दिया। नामोंकी आख्यातजता बताते हुए यास्कने गार्ग्यका मत न मानकर शाकटायनका मत उस विषयमें मानकर उसे ही उत्तरपक्षमें रख लिया, पर उनके मतमें तोड़-मोड़ नहीं की। सो वादी भी भाष्यकार का वेदोंकी शब्दानुपूर्वीकी अनित्यताका मत मत माने। अथवा वहां वेदशब्दोंकी अनित्यताका भाव असमानता मान ले, जो वेदोंमें प्रत्यक्ष है, यह हम आगे दिखलाने वाले भी हैं, पर भाष्यकारके वचनका कपोलकल्पित अर्थ न करे। भाष्यकारके 'आम्नाये नियता' का अर्थ अपनी-अपनी वेदसंहितामें निश्चित है, नित्य नहीं' यह अर्थ मान ले; तो कुछ भी असङ्गति नहीं पड़ती। भाष्यकार तो 'नित्य' का भी अर्थ 'अनित्य' करते हैं, देखो पस्पशाह्निक। फिर वे 'नियत' का अपनेसे विरुद्ध 'नित्य' अर्थ कैसे मान सकते हैं, इस विषयमें 'आलोक' (४) पृ. १५७ देखो।

हम इसमें अन्य प्रमाण भी देते हैं—'वैदिक-प्रक्रियाके 'वा छन्दसि, छन्दस्युभयथा' आदि बहुतसे सूत्र हैं, जो वेदमें विकल्प किया करते हैं। तब वेदके पदोंकी आनुपूर्वी भी नित्य न रह सकी। नहीं तो 'शमीं च, शम्यं च' 'सूर्मिं, सूर्म्यम्' वाराही-वाराह्यौ, मानुषीः-मानुष्यः आदि यह दो

प्रयोग न बनकर एक प्रयोग बनता। 'बहुलं' वाले सभी वैदिकसूत्र वैदिक पदोंकी आनुपूर्वीकी अनित्यता बता रहे हैं—'क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिद-प्रवृत्तिः, क्वचिद्-विभाषा, क्वचिदन्यदेव'। सो 'नियतता' का भाव यह है कि—एक ही मन्त्रमें अपनी इच्छानुसार हम दोनों प्रयोग न रख सकेंगे। एक स्थानमें एक ही पद वेदमें रहेगा। यह नहीं कि–एक ही मन्त्रमें कभी 'स्नात्वा' पढ़ें, कभी 'स्नात्वी'। नहीं। एक मन्त्रमें किसी संहितामें 'स्नात्वी' रहेगा; और किसीमें 'स्नात्वा'। यही वैदिक पदोंकी 'नियतता' है। यही भाष्यकारके शब्दोंमें भिन्न-भिन्न वेदोंमें वर्णानुपूर्वीकी अनित्यता है। परन्तु लोकमें प्रायः पदानुपूर्वी की कोई व्यवस्था न होनेसे भाष्यकारने लौकिक वाक्य न दिखलाकर वैदिक वाक्य दिखलाये।

इस नियमसे 'अस्य वाम' शब्द भी जिस किसी भी वेदसंहितामें होगा, चाहे वादीकी इष्ट वेदशाखाओंमें हों; चाहे अन्य वेदशाखाओंमें हो, उसकी आनुपूर्वी वहाँ-वहाँ निश्चित रहेगी, बदली नहीं जावेगी—यह तात्पर्य निकला। इससे यह कहां सिद्ध हुआ कि–"शौनकी आदि विपक्षि-सम्मत वेदशाखाओंकी वर्णानुपूर्वी तो नित्य रहेगी; पर स्वा.द. सम्मत तथा गोपथ सम्मत पैप्पलादी-अथर्वसंहिताकी वर्णानुपूर्वी अनित्य रहेगी?

पै० अथर्ववेदसंहितामें भी 'अस्य वामीय' सूक्त पाया जाता है। उसकी भी अपनी वर्णानुपूर्वी निश्चित है, स्वर भी। यदि स्वरभेद हो भी सही; तो 'व्यत्ययो बहुलम्' (३।१।८५) वेदमें 'स्वरकर्तृयङां च' स्वरके व्यत्ययको प्रश्रय दिया गया है; इससे अवेदता नहीं हो जाती। तभी तो भाष्यकारने अथर्ववेद-पैप्पलादसहिताका आदिम मन्त्र **आम्नायरूपमें** उद्धृत किया। इसी कारण ४।३।१२६ में भाष्यकारने पैप्पलाद आदिको **'आम्नाय' अर्थमें** ही वुञ् किया है। उसके आम्नाय न होने पर वा न माननेपर भाष्यकार उसका मन्त्र सर्वारम्भमें उद्धृत न करते। विद्वान् पाठकोंने देख लिया है कि—विपक्षीका पक्ष 'अभित्तिचित्र' है।

(घ) वादीका यह अर्थ कपोलकल्पित है कि—एक छन्द ऐसे हैं,

जो 'अस्य वामीय' आदि हैं, इनमें फेरफार नहीं होता, और वर्णानुपूर्वी नित्य है, और यही मूलवेद-संहिता है' यह बात वादीकी नहीं। यह बात भाष्यकारने कहां लिखी है कि—शौनकी अथर्ववेद मूलवेद है? भाष्यकार पैप्पलादी-अथर्वसंहिताको वेद मानते हैं, वेदोंके आरम्भिक मन्त्र उद्धृत करते हुए उनने अथर्ववेदसंहिताका मन्त्र दिखलाते हुए पैप्पलादी-अथर्ववेदसंहिताका प्रथम मन्त्र शौनकीसंहिताका प्रथम मन्त्र नहीं लिखा। तब भाष्यकारको 'अस्य वा सूक्त पैप्पलाद-अथर्ववेदसंहिताका ही इष्ट है। वस्तुतः 'अस्य वाम' लिए वहां कहा गया है, न तो 'अस्य वाम' सूक्तकेलिए, और सूक्तोंकेलिए; क्योंकि--उक्त स्थलमें 'आदि' शब्द नहीं है। वादीने अर्थ गलत किया है। इसके अतिरिक्त यहाँ 'आम्नाय' का अर्थ अनुसार मूलवेदसंहिताका भी नहीं। नहीं तो भाष्यकार 'अस्य वाम' उद्धरण न देते; क्योंकि--'अस्य वाम' केवल वादीसे अभिमत-मूलसंहिता नहीं; यह तो पैप्पलादसंहितामें भी है, अन्य शाखाओंमें भी है। सभी शाखाओंको भी मूलसंहिता मानो।

जब वादीके अनुसार छन्द और आम्नाय पर्यायवाची हैं; तो ही मूलसंहिता हुई, न कि कोई अमूल और कोई मूल। अन्य शाखा भी कह सकता है कि--पहले कृष्णयजुर्वेद-तैत्तिरीयसंहिता थी, यह प्रसिद्ध है। भाषा-विज्ञान वालोंके अनुसार भी उसीकी भाषा प्राचीन है, वह मूल-संहिता थी। उसमें कुछ भी फेरफार नहीं था। माध्यन्दिन वाजसनेयी आदि १५ संहिताएँ पीछेसे वाजसनि-याज्ञवल्क्यको मिलीं उसीमें कृ. य. तै. सं. के पद परिवृत्त करके उसमें मिश्रित ब्राह्मण पृथक् करके, कहीं अगत्या, कुछ ब्राह्मणको भी रखकर वाजसनेयी बना दी गई।

इस प्रकार अन्य संहिताओं वाले भी कह सकते हैं कि यजुर्वेद संहिता मूल थी, वही शिष्टोंसे परिगृहीत थी। उसीकी ईशोप

शिष्टजन-परिगृहीत थी। आजकलके लोगोंने आजकलकी ईशोपनिषत्को काण्वसंहितासे उद्धृतकी हुई ईशोपनिषद्की देखादेखी माध्यन्दिनीसंहितासे पृथक् करके चालू कर दिया। इस विषयमें पूर्वके आर्यसमाजी वैदिकमुनि श्रीहरिप्रसादजीने वेदान्तसूत्रकी वैदिकवृत्तिकी भूमिकामें लिखा है—

'यथा हि ऋग्वेदमन्त्राणां तावत् शाकली संहिता प्रमाणं मन्यते, तथा याजुषमन्त्राणां 'काण्वी शाखा' प्रमाणं मन्यते, शिष्टजनपरिगृहीतत्वात्, न माध्यन्दिनी संहिता, तदऽपरिगृहीतत्वात्। यथा काण्वी संहिता शिष्टैः परिगृह्यते; नहि तथा माध्यन्दिनी संहिता परिगृह्यते, येन प्रमाणं मन्येत। शिष्टा हि...यथा काण्वानां मन्त्रोपनिषदम् ईशावास्यं तावत् संगृह्णन्ति; तथा ब्राह्मणोपनिषदं बृहदारण्यकमपि तेषामेव [काण्वानां] सञ्चिन्वन्ति; न च मध्यन्दिनानाम्। इदानीन्तनो वेदभाष्यकृत् सायणाचार्योपि काण्व-संहितामेव भाष्येण अलंकुरुते, न विन्दमानामपि माध्यन्दिनीं संहिताम्।' (अर्थात् शिष्ट लोग काण्वसंहिताको परिगृहीत किया करते हैं, माध्यन्दिनी संहिताको नहीं। अतः ईशावास्य उपनिषद् भी काण्वसंहिताकी ही शिष्टों ने परिगृहीत की है, स्वा. शङ्कराचार्यने भी भाष्य उसी पर किया है, माध्यन्दिनी-संहितावाली ईशावास्य पर भाष्य नहीं किया। सायणाचार्यने भी काण्वी यजुर्वेदसंहितापर भाष्य किया है; जिसके आज तक २० अध्याय छपे मिलते हैं; शेष अभी तक नहीं मिले; पर श्रीसायणने माध्यन्दिनयजुः-संहितापर भाष्य नहीं किया; क्योंकि वह शिष्टोंसे परिगृहीत नहीं थी)।

इस प्रकार अन्य शाखा वाले भी कह सकते हैं कि—राणायन-सामवेदसंहिता ही मूलसंहिता है, वादीकी कौथुमी संहिता मूल नहीं। उसमें हेरफेर किया गया है, ऋसं. के उसमें अधिक मन्त्र संकलित कर दिये गए हैं। राणायन साम. संहिता छोटी है; कौथुमी संहिता बड़ी। यह नहीं हो सकता कि—मूल तो बड़ा हो; और उसका व्याख्यान छोटा। प्रकरणवश हमने यह कह दिया। अब आगे चलना चाहिये।

(ङ) यदि वादीके अनुसार 'अस्य वाम' सूक्त ही हेरफेर वा न हेरफेर की कसौटी है; तो हम वादी की संहिताओंमें 'अस्य वाम' सूक्त की आनुपूर्वी वा वर्णानुपूर्वी तथा स्वरकी अनित्यता दिखलाते हैं; तब वादी 'स्वरो नियत आम्नाये 'अस्य वाम' शब्दस्य, वर्णानुपूर्वी खल्वपि आम्नाये नियता अस्य-वाम शब्दस्य' इस भाष्य-सन्दर्भमें 'नियत' का अर्थ 'नित्य' नहीं कर सकेगा। किन्तु 'नियता' का अपनी-अपनी संहितामें अस्य-वामीय सूक्तकी स्वर, वर्ण, क्रम आदिकी आनुपूर्वी निश्चित है, परिवर्तित नहीं होती, यही वास्तविक अर्थ स्वयं करेगा। अब पाठकगण यह संघटन (मिलान) देखें।

'अस्य वामीय सूक्त ऋशासं. में तथा अथर्ववेद-शौनकसंहितामें जिसे वादी मूलवेदसंहिता कहते हैं—में आया है। ऋसं. के प्रथम मण्डलमें एक ही १६४ सूक्तमें उक्त सूक्तके ५२ मन्त्र हैं; पर अथर्वसंहितामें नवम काण्डके ९-१० इन दो सूक्तोंमें विभक्त है। यदि इस पर वादी कहे कि—अष्टकों वाली ऋसं. में देखो; तो वह तो 'बाष्कल-संहिता' है; तब वादीके अनुसार वह मूलवेद कैसे हो सकती है? अस्तु।

पाठकोंने यह अस्य-वाम सूक्तका मन्त्रसंख्याभेद देख लिया; अब कुछ अन्य भेद तथा वर्णानुपूर्वीका भेद देखिये—ऋ. (१।१६४) अस्य-वामीय सूक्तका २१ वाँ मन्त्र 'यत्रा सुपर्णा' है; और २२ वां 'यस्मिन् वृक्षे' है; पर अथर्वसंहिता (९।९) में २१वां मन्त्र 'यस्मिन् वृक्षे' है, और २२वां 'यत्रा सुपर्णा' है। यहाँ आनुपूर्वी बदल जानेसे वादीकी ऋसं. तथा अथर्व-संहिता वादीके अनुसार शाखा हो गई, वेद नहीं रहीं। इसी सूक्तमें 'अचिकित्वाञ्चिकितुषः' (ऋ. ४६) आया है, पर अथर्वमें 'अचिकित्वाँ-श्चिकितुषः' (७) आया है, यह सन्धिभेद प्रत्यक्ष है। इसी मन्त्रमें 'विद्मने' (ऋ.) और विद्वनो (अ.) यह शब्दभेद प्रत्यक्ष है। 'सनेमि... तस्मिन्नार्पिताः' (ऋ. १४) 'सनेमि...यस्मिन्नातस्थुः' (अ. १४) यह सर्व-नाम तथा क्रियाका भेद है। वादी बतावे कि—इनमें कौनसी मूलसंहिता

है, और कौन उसकी व्याख्या शाखा है। 'अयं स शिङ्क्ते' उक्त सूक्तके इस प्रसिद्ध मन्त्रमें ऋसं. में 'मर्त्यं' (२९) और अथ. (९।१०।७) में 'मर्त्यान्' यह वचनभेद है। इस सूक्तमें वर्णानुपूर्वी में दोनों संहिताओंमें भारी भेद है। इस विषयमें 'आलोक' (४) पृ. १५८, तथा 'आलोक' (८) पृ. १०९-११) में देखना चाहिये।

तब तो वादीके अनुसार अथर्ववेदसंहिताका क्रम चतुर्थ और ऋसं. का क्रम प्रथम होनेसे ऋसं. के 'अस्य वाम' सूक्तकी वर्णानुपूर्वीका ही अथर्ववेद-शौनकसंहितामें हेरफेर मानकर अथर्व. शौनकसंहिताको ऋग्वेदसं० की शाखा मानना पड़ जावेगा। यह प्रत्यक्ष भी है कि—अथर्ववेदसंहिता-के आधे मन्त्र ऋसं. से लिखे गये हैं, तब आर्यसमाजकी चार वेदसंहिता न रहीं। लुप्त हो गईं।

इसी प्रकार सामवेदसंहिता तो प्रायः (थोड़ेसे मन्त्रोंको छोड़कर) सारी ऋसं. से ली गई है। उसके भी मन्त्रोंमें वर्णानुपूर्वीका पर्याप्त भेद है। इसी प्रकार यजुर्वेद माध्य.सं. के आधे मन्त्र ऋसं. से लिये गये हैं; उनमें भी आनुपूर्वीका पर्याप्त भेद है। केवल दोनों संहिताओंके पुरुषसूक्त के मन्त्रों का ही भेद देख लीजिये। सो यह तीनों संहिताएँ भी वादीके अनुसार शाखाएँ ही हुईं। आर्यसमाजके शेष तीन वेद भी समाप्त हो गये। आर्यसमाजकी ऋसं. में 'वायो' इस एक पदको 'वा यो' (ऋ. १०। २९।१) इस प्रकार दो पद कर दिया गया; जैसेकि—'निरुक्त (६।२८।३) में स्पष्ट है। अब आर्यसमाजका वैदिकधर्म नष्ट हो गया। यदि ऐसा नहीं; तब समान-न्यायसे अथर्ववेद-पैप्पलादसंहिता आदि सभी संहिताएँ वेद सिद्ध हो जानेसे विपक्षीका पक्ष कट गया। आनुपूर्वीकी नियतता अपनी-अपनी संहितामें नियत होती है, बदलती नहीं—यही मन्त्रकी नियतानुपूर्वी का तात्पर्य है।

यदि वादी 'आम्नाय' का अर्थ वेद मानता है; तो 'समाम्नायः समाम्नातः' (नि. १।१।१) यहाँ आम्नाय-निघण्टुको भी वेद मानना

पड़ेगा। तब निघण्टुके सभी शब्द वह वेदमें दिखलावे। आर्यसमाजके श्रीब्रह्ममुनिजीने अपने निरुक्तके भाष्यमें 'समाम्नायः' में 'आम्नाय' का अर्थ 'वेद' किया है। उनने निघण्टुके पदोंको वेदमें निबद्ध माना है। 'छन्दोभ्यः समाहृत्य' में श्रीब्रह्ममुनिजीने 'छन्दोभ्यः-मन्त्रेभ्यः: सम्यक् आहृत्य' (पृ. २) में 'छन्द' का अर्थ 'मन्त्र' किया है। श्रीभगवद्दत्तजी आर्यसमाजी रिसर्चस्कालर बी.ए.ने भी यही अर्थ किया है। आरम्भिक पृष्ठमें उनने भी निघण्टुके पदोंको वेदमन्त्रोंसे संगृहीत माना है। यह हम गत वेद-निबन्धमें लिख चुके हैं। जब इस प्रकार आर्यसमाजके मान्य नेता निघण्टुके पदोंको वेदोंसे संगृहीत मानते हैं; तब वे पद आर्यसमाजिक मान्य वेदोंकी ४ संहिताओंमें यदि न मिलें; किन्तु उनसे भिन्न वेदसंहिताओं वा ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदादिमें मिलें; तब उन्हें वेदोंके ही मानना पड़ेगा; इससे सभी शाखा-ब्राह्मण वेद सिद्ध हुए।

महाशय! यह सब आपकी कृत्रिमता तथा निर्मूल सिद्धान्तकी कृपा है; जो कि आप लोग अपने पक्षको बचानेकेलिए बनावटी युक्तियां देते हुए दूसरे जालमें फँस जाते हैं, बनावटमें झोल पड़ता ही है। वादी द्वारा दिये हुए उसी उद्धरणमें भाष्यकारने लिखा है—'देशः खल्वपि आम्नाये नियतः—'श्मशाने नाध्येयम्, चतुष्पथे नाध्येयम्'। वादी यहां पर 'आम्नाय' का अर्थ 'विना हेरफेरवाला वेद अर्थात् मूलवेदका नाम बताता है। अब वादी बतावे कि—'श्मशाने नाध्येयम्' आदि आम्नायसे भाष्यकार द्वारा उद्धृत दो मन्त्र वादीकी चार अजमेरी वेदपोथियोंमें कहां लिखे हैं? उनका पूरा स्थलनिर्देश करे। यदि न कर सके; और कह बैठे कि—यह किसी अन्य संहिता वा ब्राह्मणका उद्धरण है; तो वादीको बधाई हो कि-वह भी अब सनातनधर्मी पक्षका हो गया।

महाभाष्यने आम्नायके उद्धरण देते हुए यह लिखा है—'कालः खल्वपि आम्नाये नियतः—'नामावास्यायामध्येयम्, न चतुर्दश्याम्' यह दो उद्धरण भी उनके आम्नाय (चार वेदसंहिताओं) में किस स्थलमें हैं?

वादी उनका पूरा स्थलनिर्देश करे। यह बात यदि किसी लुप्त वा अलुप्त अन्य संहिता वा ब्राह्मणमें हो; तो वादीको उन्हें भी वेद मानकर अपने साम्प्रदायिक मतको समाप्त कर देना पड़ेगा।

जब ऐसा है; तो वादीका यह कथन कि—'भाष्यकार शाखाओंके वचन इसलिए नहीं प्रयोग करता है कि–शाखाएँ मूलवेद हैं, बल्कि इसलिए प्रयोग करता है कि–छन्दः में 'कृत छन्दः' के परिमाणमें वे आते हैं, यह व्याज स्वतः खण्डित हो गया। शाखाएँ उन-उन ऋषियोंसे 'कृत' नहीं हैं, किन्तु उन्होंने समाधिद्वारा उनको परमात्मासे दुहा है, अतः वे संहिताएँ उनसे दृष्ट हैं, 'ऋषिर्दर्शनात्। तद् यद् एनान् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भु (वेदः) अभ्यानर्षत्, तद् ऋषीणां ऋषित्वम्' (निरुक्त २।११।१)। वादीकी चार संहिताएँ भी शाकल, माध्यन्दिन, कौथुम, शौनक ऋषियोंकी है; तब क्या वादी उन्हें 'कृत छन्दः' मान लेगा? वे-वे ऋषि समाधिदृष्ट उन-उन संहिताओं वा उन-उन संहिताओंके मन्त्रोंके प्रवचन वा प्रचालन कर्ता हैं; प्रणेता नहीं। इसलिए 'कृतकं चाभिधानम्' (२।४।१२) मीमांसादर्शनके इस सूत्रके भाष्योंमें कहा गया है–'यतः प्रभृति कठस्य **प्रकृष्टं वचनं** (प्रवचनं)' (शाबर.) 'यदा कठेन प्रवचनं कृतम्, तदारभ्य प्रवृत्ता संज्ञा' (रामेश्वरसूरिकी सुबोधिनी वृत्ति) 'कृत्रिमं काठकाद्युक्तम् आख्या प्रवचनादिति' (कुमारिलभट्टकी कारिका) इसका भाव यह है कि—वेदोंकी काठक माध्यन्दिन आदि संज्ञा कर्तृत्वसे नहीं, किन्तु प्रवचनसे है। जैसे कि—'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः' (१।१।२७) इस पूर्वपक्षके सूत्रमें वेदोंके नामोंमें पुरुषका सम्बन्ध कौथुम, शौनक, काठक, पिप्पलादादि देखकर उनके द्वारा कर्तृत्वकी शङ्काके उत्तरपक्षमें कहा गया था कि—'आख्या प्रवचनात्' (१।१।३०)। 'प्रकर्षेण वचन-मनन्यसाधारणं कठादिभिरनुष्ठितं स्यात्' (शबराचार्य)।

भट्ट सोमेश्वरकी तन्त्रवार्तिक की न्यायसुधा टीकाने भी लिखा है—'कठस्य वैशम्पायनान्तेवासित्वात्–'कलापि-वैशम्पायन' इति 'तेन प्रोक्तम्'

इत्यस्मिन्नर्थे पाणिनिप्रत्ययस्मृतेः तस्य 'कठचरकाल्लुक्' इति लुक्स्मृतेः, कठेन प्रोक्तमधीते स कठः इति...काठकाद्यभिधाने पुरुषविशेषप्रवचन-कृतम्-इत्युक्तम्'। अध्वरमीमांसाकुतूहलवृत्तिमें लिखा है—'तेन प्रोक्तम्' इति तद्धितप्रत्ययान्तकाठकादि-नामधेयं प्रवचन-निमित्तत्वात्'। इन सब भाष्योंमें काठक आदि नाम प्रवचनके कारण बताये गये हैं, कर्तृत्वके कारण नहीं। वै. सि. मा. में पथिकने 'प्रवचन' शब्दका काठकादिग्रन्थ मनुष्यकृत हैं–यह अर्थ ग़लत किया है। इसी प्रकार वादीकी संहिताओं शौनकी, कौथुमी आदिमें भी क्या वादी शौनक-कुथुम आदि ऋषियों द्वारा उन संहिताओंका निर्माण मान लेगा? ऐसा नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि—जब ऋषियोंने समाधि-द्वारा मन्त्रोंका दर्शन किया; जैसे कि निरुक्तमें कहा है—'तद् यद् एनान् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भु अभ्यानर्षत् तद् ऋषीणामृषित्वम्' (निरु. २।११।१) उसके बाद उनका प्रवचन किया; इसी कारण उन-उन सभी संहिताओंका नाम (जिसमें वादीकी चारों संहिताएँ भी हैं, जिनका नाम शाकल्य-माध्यन्दिन, कुथुम, शौनक ऋषियोंके नामोंसे है) उन-उन ऋषियोंके नामोंसे रखा गया। पथिक लिखता है—'यद्यपि काठकादिमें जो मन्त्र हैं, वे तो मूलवेदोंके ही हैं, परन्तु प्रवचन तो नवीन ही है' (पृ. २७) इस अपने ही कथनसे पथिक का पक्ष कट गया। जब वह काठकादिसंहिताके मन्त्रोंको मूलवेदोंके मानता है; तो 'आगतोऽस्माकं पन्थाः' उन संहिताओंका प्रवचन पीछे भले ही किया गया हो; पर तत्तत्-संहिताओंके मन्त्र तो वही वेदके ही हैं; अतः स्पष्ट है कि—इसी प्रवचनको कई लोगोंने उपचारसे 'कृत' मान लिया; वस्तुतः यह कृतकत्व नहीं है, किन्तु प्रवचन ही है। जैसे कि—मीमांसादर्शनमें 'आख्या प्रवचनात्' (१।१।३०) कहा है।

वस्तुतः भाष्यकारका विपक्षिप्रदर्शित उक्त आशय नहीं है। भाष्यकार सभी प्रोक्त वेदसंहिताओंको जिनमें वादीकी संहिताएँ भी अन्तर्गत हैं, अपनी परिभाषासे 'कृत' अर्थमें प्रत्यय कह देते हैं, जैसे 'अ इ उण्' आदि

सूत्रोंको वर्णसमाम्नाय होनेसे वेदरूप होनेके कारण अनादि होते हुए भी भाष्यकार उनमें पाणिनिका आधिपत्य होनेसे उपचारसे पाणिनिकृत कह देते हैं; वास्तवमें तो वे अनादि सूत्र महेश्वरसे पाणिनिको समाधि-द्वारा मिले थे; देखो नन्दिकेश्वरकी काशिका तथा पाणिनि-शिक्षा (५७)। पाणिनिके समाधिदृष्ट उन अक्षरोंका केवल प्रवचन कर दिया, फिर भी उन्हें उपचारसे भाष्यकार 'पाणिनिकृत' कह देते हैं; वैसे ही ऋषियोंसे समाधि-द्वारा प्राप्त, अतएव ऋषियोंसे प्रोक्त संहिताओंको जिनमें वादीकी चार संहिताएँ भी हैं--भाष्यकार उपचारसे 'कृत' कह देते हैं। यह अवश्य याद रख लेना चाहिये। भाष्यकार किसी वेदसंहिताको कृत और किसी को 'अकृत' नहीं कहते; किन्तु सभी वेदसंहिताओंको जो ग्रन्थरूपमें है, जिनमें वादीकी चार संहिताएँ भी शामिल है, अपने ऐकदेशिक मतसे 'कृत' कह देते हैं; पर 'कृ' धातुका 'प्रकथन' अर्थ भी होता है। जैसे कि--'गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्य-प्रकथनोपयोगेषु कृञः' (पा. १।३।३२) इस सूत्रमें प्रत्यक्ष है। यदि यह वादी न माने; तो वेदमें आये हुए 'मन्त्र-कृतां' (ऋ. ९।११४।२) का भी अर्थ 'वेदमन्त्र बनानेवाले' हो जायगा। क्या वादी मन्त्रोंको ऋषियोंसे बनाया हुआ मान लेगा ?

यदि 'अस्य वाम' सूक्तका उदाहरण ही वादी की संहिताओं की नित्यताका निकष (कसौटी) होता, तो यह सूक्त वादीसे शाखारूपसे अभिमत अन्य संहितामें न आता। यह अथर्ववेद-पैप्पलादसंहिता (१६। ६६।१-१०) तथा आश्वलायन बाष्कल आदि वादीसे वेदरूपसे अनभिमत संहिताओंमें भी मिलता है, तब वादीका उक्त अभिप्राय गलत है। भाष्यकार तो सभी संहिता (शाखा) तथा सभी ब्राह्मणोंको वेद मानते हैं, केवल आर्यसमाजाभिमत चार पोथियोंको नहीं। देखिये--उनके कुछ 'वेद' के नामसे दिखलाये हुए उद्धरण--

(अ) 'वेदे खल्वपि' कहकर भाष्यकारने पस्पशाह्निकमें 'पयोव्रतो ब्राह्मणो' यह तथा 'बैल्वः खादिरो वा यूपः स्यात्' यह ब्राह्मणकण्डिकाएँ

ही वेदके उद्धरणमें दी हैं। स्वा.द.जी की सं. वि. पृ. ७९ के अनु 'पयोव्रतः' यह शतपथब्राह्मणका वचन है। (आ) 'बैल्वः खादिरो वा स्यात्' यह ऐतरेयब्राह्मण की द्वितीय पञ्चिकाके प्रारम्भमें हैं। भाष्य इसे 'वेद' माना है, इन्हें 'छन्दः-शब्दसे नहीं कहा। यहां साक्षात् कहा है। अब विपक्षी बतावे, हो न गया सिद्ध--'मन्त्र-ब्राह्मणयो नामधेयम्'।

(इ) पस्पशा० में 'ततुल्यं वेदशब्देन' इस वार्तिकमें 'योऽग्निं केतं चिनुते' (तै. ब्रा. ३।११।९ (३)। इस ब्राह्मणकण्डिकाको शब्दोंके उद्धरणमें दिया है। यहां 'वैदिक' शब्द भी नहीं है; विपक्षी बहाना बना सके कि--'वैदिक' शब्दसे शाखा-ब्राह्मणादि गृहीत हो जाते हैं, यहां तो साक्षात् 'वेद' शब्द है। यदि विपक्षीके 'वेद' से भी सभी शाखा-ब्राह्मण लिये जाते हैं. तो बधाई हो, प्रतिपक्षी भी अब सनातनधर्मी बन गया। यही है--'दयानन्द-सिद्धान्त संहार'।

(ई) तृतीयाह्निकमें (१।१।१) सूत्रमें 'वेदेपि याज्ञिकाः संज्ञां कुर्वं स्फ्यो यूपश्चषालः' यह वेदवचन दिया है। अब वादी इसे अपने वे दिखलावे। यदि वह कहे कि इनमें 'मूलवेद' शब्द नहीं है; अतः 'वेद' से शाखाब्राह्मण सभी लिये जाते है, तो प्रियवर ! आपको 'मूल' शब्द कहीं भी नहीं मिलेगा, यह तो आर्यसमाजसे गढ़ा हुआ अर्वा शब्द है।

(उ) ६।१।८४ सूत्रके भाष्यमें भी 'वेदे खल्वपि' कहकर ब्राह्मणोऽग्निष्टोमादिभिः क्रतुभिर्यजेत' यह वेदका उद्धरण दिया है। इसे भी अपने तथाकथित वेदसे दिखलावे।

(ऊ) १।१।५६ सूत्रके भाष्यमें भी 'वेदेपि' कहकर 'सोमस्य पूतीकतृणानि अभिषुणुयात् इत्युच्यते' यह वेदका उद्धरण दिया है। वेदवचनको भी वादी अपने तथाकथित मूलवेदसे दिखलावे। यदि

नहीं दिखला सका; तो माना जावेगा कि—भाष्यकारका यह आशय महाभाष्यमें नहीं है कि–'शाखा-ब्राह्मण 'कृत छन्द' की परिधिमें आते हैं; वे मूलवेद भाष्यकारके मतमें नहीं हैं'। तब विपक्षीका पक्ष सदाकेलिए कट गया। अब चाहे वह लाख जन्म भी ले ले; बल्कि भूमण्डल भरके सभी दयानन्दी भी एड़ीसे लेकर सिर तकका पसीना भी बहा दें; वे अपना पक्ष भाष्यकारके उस सन्दर्भसे वैसा कभी निकाल नहीं सकते। भाष्यकार तो सभी अपनी-अपनी संहिता वा ब्राह्मणादिमें आनूपूर्वीकी नियतता, निश्चितता, अपरिवर्तनीयता मानते हैं। क्योंकि—उन-उन ऋषियोंने समाधिमें जैसे-जैसे वेदके शब्दोंका साक्षात्कार किया; उन्हींका उन्होंने प्रवचन कर दिया। उन्होंने स्वयं हेरफेर सर्वथा नहीं किया।

सभी शाखाओंके वेदत्व-विषयमें महाभाष्यकी अन्तरङ्ग सम्मति भी 'आलोक' (४) पृ. १४१-१४२ में वादी देखे। तब वादीका आशय सर्वथा कट गया।

हम पहले कह चुके हैं कि—भाष्यकारने अथर्ववेदका आदिम मन्त्र 'शं नो देवी' यह अथर्व-पैप्पलादसंहिता (१।१।३) का दिया है। 'ये त्रिषप्ताः' वहां १।६ में है। सो भाष्यकारको अथर्व. पै. सं. अथर्ववेद इष्ट है; तभी तो चारों वेदोंका उद्धरण देते हुए अथर्ववेदका प्रथममन्त्र-प्रतीक जिसे स्वा.द.जीने भी माना है, उसी पैप्पलादी अथर्ववेदसंहिता का दिया है, शौनकी अथर्वसंहिता का नहीं दिया। शौनकी अथर्ववेदसंहिताका प्रथममन्त्रप्रतीक 'ये त्रिषप्ताः' है; उसे वहां भाष्यकारने चारों वेदसंहिताओं का उद्धरण देते हुए बिलकुल नहीं दिया।

सो जो भाष्यकारने 'वर्णानुपूर्वी खल्वपि आम्नाये नियता 'अस्य वाम' शब्दस्य (५।२।१।५९) यह 'अस्य वाम' का उद्धरण दिया है, वह अपने आम्नाय अथर्ववेद-पैप्पलादसंहिता' के 'अस्य वाम' का उद्धरण भाष्यकार को इष्ट है, इसलिए भाष्यकारने (४।३।२।२।१२० में) 'चरणाद् धर्माम्नानयोः' इस वार्तिकमें 'पैप्पलादकम्' में आम्नाय अर्थमें प्रत्यय किया

है। स्वा.द.जीने भी अपने 'स्त्रैणताद्धित' (४।३।१२४) के उक्त वार्तिक (४३२) में पिप्पलादानां धर्मं आम्नायो वा' इस अर्थमें वुञ् प्रत्यय किया है।

इस प्रकार पैप्पलादसंहिता अथर्ववेद-आम्नाय होनेसे 'वर्णानुपूर्वी खल्वपि आम्नाये नियता 'अस्य वाम' शब्दस्य' में भाष्यकारको अथर्व-पैप्पलादसंहिताका ही 'अस्य वाम' सूक्त 'आम्नाय' इष्ट होनेसे अथर्व-पैप्पलादसंहिता भाष्यकारके मतमें आम्नाय (वेद) सिद्ध होगई; तदनुसार सभी मन्त्र-संहिताएं वेद सिद्ध हो गईं: और स.ध.का पक्ष सिद्ध हो गया। दयानन्दियोंका इस विषयका पक्ष गलत सिद्ध हुआ।

(च) वस्तुतः यहां एक अन्य रहस्य है, जिस पर वादियोंका ध्यान नही गया। वह यह है कि–'यहां पर 'अस्य वाम' शब्दस्य' लिखा है, 'अस्य वाम' सूक्तस्य नहीं लिखा। इसका भाव यह है कि–'अस्य वामस्य' का एकदेश 'अस्य वाम' है; इस आम्नायकी आनुपूर्वीको प्रत्यय करनेकेलिए बदला नहीं जाता। सो 'छ' प्रत्यय 'अस्य वाम' को करना पड़ता है। यह नहीं कि–'अस्य वाम' को भिन्न-भिन्न शब्द होनेसे तथा विभक्ति-प्रत्ययान्त होनेकेकारण अप्रातिपदिकतावश एक शब्द न होनेसे उसके आगे 'छ' प्रत्ययका सम्भव न माना जावे। अथवा 'अस्य वामस्य' को 'एतद् वाम' प्रातिपदिक करके ही उसे 'छ' प्रत्यय किया जावे।

भाष्यकारका यह आशय है कि—'अस्य वाम' इस आम्नायके शब्द की आनुपूर्वीमें 'इदं-वाम' वा 'एतद्वाम' इस प्रकार भङ्ग करके उसे 'छ' प्रत्यय न करो, किन्तु आम्नायके 'अस्य वाम' को एक ही शब्द मानकर उसे 'अस्य-वामीयम्' इस प्रकार 'छ' प्रत्यय कर दो। सो 'अस्य वाम' को पदसमुदायात्मक होनेसे अप्रातिपदिकतावश न तो कर्मधारय वा बहुव्रीहिसमास प्राप्त हो सकता है; और न 'छ' आदि प्रत्यय प्राप्त है; पर भाष्यकार कहते हैं कि–'आम्नाय' में शब्दानुपूर्वी बदलती नहीं, किन्तु निश्चित रहती है, तब 'अस्य वाम' इस आनुपूर्वीके अनेक भी शब्दको

अनुकार्यतावश अर्थवत् होनेसे प्रातिपादिकसंज्ञा होकर समास वा 'छ प्रकरणे अनेकपदादपि' इस वार्तिकके बलसे छ आदि प्रत्यय हो जाया करते हैं। यहाँ यह भाव निकल सकता है।

(१४) जो कि वादी कहता है-'अप्रयुक्त-शब्दोंका यदि कोई प्रयोग शाखाभागसे दिया है; तब भी शाखाका वेद होना नहीं बनता। कारण यह है कि-'भाष्यकार छन्दके अन्तर्गत दोनोंको मानकर उदाहरण दे रहा है' (पृ. ८२) यह द. सि. प्र. के प्रणेताका बहाना गलत है।

जब भाष्यकार स्पष्ट शब्दोंमें प्रश्नोत्तर कर रहे हैं कि-'एतेषामपि प्रयोगो दृश्यते (ऊष, तेर, चक्र, पेच इन अप्रयुक्त शब्दोंका भी प्रयोग मिलता है) (प्र.) क्व? (इन शब्दोंका प्रयोग कहां मिलता है?) (ङ) वेदे (इन ऊष, तेर, चक्र, पेच आदिका प्रयोग वेदमें मिलता है।)

यहां वादीको कान खड़े करके सुनना चाहिये कि-यहां वादीसे तथाकथित 'छन्दः' शब्द भी नहीं है, जिससे वादी कोई बहाना बना सके, न 'शाखा' शब्द है, न 'वैदिक' शब्द है, जिससे प्रतिपक्षी कोई शाखासम्बन्धी बहाना बना सके; यहां तो स्पष्ट ही 'वेद' शब्द है। सो यहां भाष्यकार 'वेदके ही उद्धरण' दे सकेंगे; वेदसे भिन्नके नहीं। पर जब भाष्यकार वेदोंसे उद्धरण दे रहे हैं, अब वादीका कर्तव्य हो जाता है कि-उन्हें अपने वेदसे दिखलावे। चारमें दो ऊष, चक्र तो भाष्यकार वेदसे दिखला चुके। सभी चारों शब्दोंका वेदमें प्रयोग जब भाष्यकारने कहा है; तब वादीका कर्तव्य हो जाता है कि—'तेर' और 'पेच' इन दो अप्रयुक्त शब्दोंका भी प्रयोग वेदसे दिखलावे; तथा 'ऊष' का जो भाष्यकारने 'यद्वो रेवती रेवत्यां तमूष' यह वेदका उद्धरण दिया है। इन तीनका प्रयोग अपनी मूलवेदसंहिताओंसे दिखलाये। प्रतिपक्षी जबकि अपनी मूलवेद-संहिताओं को पूर्ण मानते हैं, न उनमें कुछ न्यूनता मानते हैं; और न कुछ उनमें प्रक्षेप (अधिकता) मानते हैं; तब यदि उनके वेदमें न शेष पद मिल रहे

हैं; और न हमसे दिखलाया हुआ वेदका वचन ही मिल रहा है; तब स्प... है कि—वेदोंकी सीमा उनकी अभिमत चार पोथियाँमात्र नहीं हैं; कि... ११३१ संहिता, तथा शब्द-अर्थके नित्य सम्बन्ध होनेसे उतने ही ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, पूर्ण वेदकी सीमा हैं।

यदि वादी हमारी यह बात न माने; तो वादिप्रतिवादिमान्य भाष्यकारने जो कि—'तेर, पेच' इन शब्दोंकी सत्ता 'वेदे' वेदमें मानी है; अब वादीको चैलेञ्ज है कि—वह भाष्यकारसे वेदमें माने हुए 'तेर, पेच' को भी अपने वेदमें दिखलावे; और 'यद्वो रेवती रेवत्यां तमूष' ... भाष्यकारसे वेदनामसे कहे हुए वचनको भी अपने वेदसे दिखलावे। ... वह कहे कि—यह शब्द तथा यह वचन किसी अन्य शाखामें होंगे; ... जबकि महाभाष्यकारने स्पष्ट 'वेद' शब्द लिखा है; तब वेद-शाखाएं ... स्पष्टतः 'वेद' सिद्ध हो गईं। इससे स०ध० के पक्षका विजय हुआ। ... इससे स्पष्ट है कि-वेदोंकी सीमा वादीकी अभिमत चार पोथियां नहीं; किन्तु ११३१ वेदसंहिताएँ, शब्द-अर्थके नित्य सम्बन्ध होनेसे उतने ही ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदें सीमा हैं। सो उक्त उद्धरण अंशतः ... काठकसं. (३१।७) में मिलनेसे समस्त शाखा-ब्राह्मण वेद सिद्ध हो ... वादीसे कही हुई भाष्यकी 'छन्दः' की द्विविधता तथा शाखाओंकी अवेद... खण्डित हो गई।

यदि 'वेद' शब्दसे विपक्षी 'वेदशाखाओं' का ग्रहण भी मानता है, जैसा कि उसने लिखा है; तो उसे बधाई हो, शाखाएँ भी वेद सिद्ध हो ... वादीका पक्ष कट गया। मूलवेद वा अमूलवेद यह विपक्षीका निः... सिद्धान्त है। 'यद्वो रेवती रेवत्यं तमूष' यह 'वेदे' कहकर दिया ... महाभाष्यका उद्धरण वादीके पूर्ण उपलब्ध तथाकथित मूलवेदमें न मि... से वादीका वेदबिषयक पक्ष सदाकेलिए कट गया, अब वह फड़फड़ा ... सकता।

महाभाष्यमें 'छन्दः' की द्विविधता बताना यह वादीका बना...

पक्ष है, उसका वादिप्रोक्त अर्थ सिद्ध नहीं। यह वादीके शब्द पाठक नोट करें। वह लिखता है—'यदि यह 'यद्वो रेवती' प्रतीक मूलवेदमें नहीं मिलती है; तो क्या इससे मूलवेदका वेद न होना और शाखाका वेद होना सिद्ध हो जावेगा ?' इस पर हम कहते हैं कि—जब भाष्यकार 'वेदे' कहकर 'वेद' का उद्धरण दें; और वह उद्धरण वादीके इष्ट वेदमें न मिले, किन्तु वादीके अनुसार तथाकथित शाखामें मिले; तब इससे सभी शाखाओंका वेदत्व स्वतः सिद्ध हो जायगा। और वह शाखा भी मूलवेद-संहिता सिद्ध हो जायगी। तब यह भी सिद्ध होगा कि भाष्यकारने वेद और शाखाका कहीं भी पार्थक्य नहीं किया, उससे शाखाकी वेदसे पृथक्ता समझना—यह वादीकी अपनी ही भूल है। महाभाष्यका अपना यह सिद्धान्त (शाखाओंको वेद न मानना) नहीं है—यह स्पष्ट सिद्ध हो गया।

यदि वह वेदनामसे कही हुई प्रतीक वादीके तथाकथित मूलवेदमें जिसे वह पूर्ण वेद मानता है, न उसमें कुछ प्रक्षिप्त (अधिक) मानता है; और न न्यून, न मिले, इससे उसकी वेदसंहिता अवेद तो भले ही न हो, परन्तु उससे यह सिद्ध तो हो ही जाता है कि–वह वादिमान्य मूलवेद भी अपूर्ण वेद है, और यह भी सिद्ध हो गया कि–वेदत्वकी इयत्ता वादीकी चार वेदपोथीमात्रमें नहीं, किन्तु यह चार पोथियां भी वेदशाखा ही हैं; सब ११३१ शाखा मिलकर ही उतने ब्राह्मणसमेत पूर्ण वेद होता है। यदि वेदनामका उद्धरण वादीके अनुसार शाखा कही जाती हुई पुस्तकमें मिल जावे; और वादीके वेदमें न मिले; तो वह तथाकथित शाखा भी तथा ब्राह्मण भी स्वतः वेद सिद्ध हो जाएंगे। यदि वेद नामसे कहा हुआ प्रमाण किसी उपलब्ध वेदसंहिता वा ब्राह्मणमें न मिले; तो उसकी सत्ता लुप्त संहिता वा ब्राह्मणमें अनुमित करनी पड़ेगी, क्योंकि–११३१ शाखा वा ब्राह्मणोंमें अभी भी बहुतसे ग्रन्थ लुप्त हैं। इससे सभी शाखा वा ब्राह्मण वेद सिद्ध हुए।

वादी अपनी चार पोथियोंको तब मूलवेद बतावे, जबकि भाष्योक्त या स्वा.द.से प्रोक्त वेदके मन्त्र उसकी संहिताओंमें तो हों; और शाखा कही जानेवाली वेदसंहितामें उनका अनुवाद मिले। वस्तुतः वादीकी संहिताएं भी शाखाएँ ही हैं; यह पहले बहुत बार बताया जा चुका है। यदि इन सभी शाखाओंमें पाठभेद मिले, तब यह नहीं कहा जा सकता कि–वादीकी चार शाखाएँ तो मूल हैं, अन्य शाखाएँ उनका व्याख्यान हैं। यह भी तो कहा जा सकता है कि—वे शाखाएँ मूल हैं; और वादीकी शाखाएँ उनका व्याख्यान हैं। तैत्तिरीयसंहिता आदि माध्यन्दिन आदिकी अपेक्षा प्राचीनतर हैं। प्राचीन ही मूल होंगी, उसके पीछेकी भला मूल कैसे कही जा सकती हैं ?

जब वादी अपनी संहिताओंको मूलवेद और पूर्ण बताता है; तब भाष्यकारसे 'वेद' कहकर दिये हुए 'यद्वो रेवती रेवत्यं तमूष' इस मन्त्रको अपनी मूलसंहितासे दिखलावे; और अन्य काठकादि-संहितामें उसका व्याख्यान दिखलावे ! यदि वह ऐसा न दिखला सके; तब मानना पड़ेगा कि—काठकसंहिता आदि भी मूल यजुर्वेद है। इससे प्रतिपक्षियोंका पक्ष सदाकेलिए विच्छिन्न हो गया। भाष्यकारने मूलवेद और अमूलवेद, अथवा व्याख्यात्मक वेद, अथवा वेद और शाखाको कहीं भी पृथक् नहीं माना, यह तो वादीकी बनावटमात्र है।

(१५) जबकि ७।१।४६ पाणिनिके छान्दससूत्रका उदाहरण 'स्नात्वी' है; और छन्द 'वेद' को कहते हैं—यह बात सर्वसम्मत है, तब यजुर्वेद-काठक-संहिता, यजुर्वेदमैत्रायणीसंहिता आदिमें आया हुआ 'स्नात्वी' शब्द अपने आपको वेदका शब्द और उन्हें प्रयुक्त करनेवाली कृ. य. काठक-आदि संहिताओंको 'वेद' सिद्ध करनेवाला बन गया। वादी क्या बता सकता है कि—'स्नात्वी' शब्द वेदका है, वा 'स्नात्वा' शब्द वेदका है ? 'स्नात्वा' तो लोकमें भी आता है, वेदमें उसकी विशेषता नहीं रहती। पर 'स्नात्वी' शब्द लोकमें बिल्कुल नहीं आता। वादीकी तथाकथित

मूलसंहिताओं में 'स्नात्वी' सर्वथा नहीं आता हैं, 'स्नात्वा' आता है; सो जिन वेदसंहिताओंमें 'स्नात्वी' आता है; वे मूलवेद-संहिता सिद्ध होंगी; जिनमें 'स्नात्वा' आता है; वे शाखा-संहिता सिद्ध होंगी। वादी अब इस कसौटीको रखकर मूल-अमूल संहिताओंकी 'रिसर्च' करे; तब उसे अपने पक्षकी निर्मूलता स्पष्ट मालूम हो जायगी। क्या वादी बता सकता हैं कि—**छन्द वेदका नाम नहीं है?** वादीके शब्दोंमें 'अद्वितीय वेदद्रष्टा भगवान्' दयानन्दजी भी 'छन्द' को मूलवेद मानते हैं। देखिये—

'छन्दो-वेद-निगम-मन्त्र-श्रुतीनां **पर्यायवाचकत्वात्** । छन्दांसि-वेदा मन्त्राश्च इति पर्यायौ' (ऋभाभू. पृ. ७९) 'यच्चोक्तम्, छन्दो-मन्त्रयो-र्भेदोस्ति; तदपि **असङ्गतम्** । कुतः ? छन्दो-वेद-निगम-मन्त्र-श्रुतीनां **पर्यायवाचकत्वात्**' (पृ. ७९)। 'तथा व्याकरणेऽपि—'मन्त्रे घस, छन्दसि लुङ्, वा षपूर्वस्य निगमे' अत्रापि छन्दो-मन्त्र-निगमाः **पर्यायवाचिनः** सन्ति। एवं छन्दआदीनां पर्यायसिद्धेः यो भेदं ब्रूते; तदवचनम् **अप्रमाण-मेवास्ति**' (पृ. ८०) यहां पर वादीके महर्षिने छन्द और वेदको एक ही बात बताया है।

अब वादी छन्द और वेदमें महाभाष्य-व्याकरणानुसार भेद बताता हुआ 'अद्वितीय वेदद्रष्टा और व्याकरणमें अद्वितीय प्रतिभावाला' है, अथवा उसके महर्षि 'छन्द और वेद' आदिमें अभेद बताते हुए 'अद्वितीय वेदद्रष्टा और व्याकरणमें प्रतिभावान्' हैं? यह बताना वादीका ही काम है। दोनों परस्पर-विरुद्ध वक्ताओंमें एक तो भ्रान्तिमान् होगा ही। यदि स्वामी भ्रान्तिमान् हैं; तब क्या आर्यसमाजी लोग स्वामीसे अद्वितीय वैयाकरण वा अद्वितीय वेदद्रष्टा पदवी छीनकर इस हमारे विपक्षीको देने केलिए तैयार हैं? आशा है—वे अपने 'वैदिकधर्मकी जय' करेंगे।

तब कृ. यजुः मैत्रायणीसंहितामें आया हुआ 'स्नात्वी' शब्द वेदका है—यह सिद्ध हो गया। वादीकी इष्टसंहिता शौनकशाखामें 'स्नात्वा' तो आता है, 'स्नात्वी' नहीं। वादी शाखाओंको वेदोंकी व्याख्या मानता है;

अब वह बतलावे कि—'स्नात्वी' की व्याख्या 'स्नात्वा' है; वा 'स्नात्वा' की व्याख्या 'स्नात्वी'? 'स्नात्वी' कठिन है, 'स्नात्वा' सुगम। कठिन, सुगममें वादी किसको व्याख्या मानेगा? व्याख्या सुगमताकेलिए होती है। यदि विपक्षी कठिन पदको भी व्याख्या मानेगा; तब 'द्विषतो वधाय' की व्याख्या भी 'भ्रातृव्यस्य वधाय' हो सकती है; उस समय 'भ्रातृव्य' शब्द भी बहुत प्रसिद्ध रहा होगा। जैसे कि—'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (पा. २।१।५७) इस सूत्रमें 'विशेषण' और 'विशेष्य' शब्द हैं। इसकी व्याख्यामें 'सिद्धान्तकौमुदी' में विशेषणका व्याख्या-शब्द 'भेदक' और विशेष्यका 'भेद्य' है। आजकल 'विशेषण-विशेष्य' शब्द तो प्रचलित हैं, पर 'भेदक-भेद्य' को आजकल कोई नहीं जानता। इस प्रकार के बहुतसे उदाहरण दिये जा सकते हैं। फिर माध्यन्दिनी-संहिता भी काण्वसंहिताकी व्याख्या हो जावेगी।

स्वा.द.जीने २।३।६२ सूत्रके अष्टाध्यायीभाष्यमें लिखा है—'छन्दः शब्देन **मन्त्रभागस्य मूलवेदस्य** ग्रहणं भवति' इसी छान्दससूत्रके छान्दस वार्तिकका भाष्यकारने 'या खर्वेण पिबति' यह कृ. य. तैत्तिरीयसंहिताका उदाहरण दिया है। अब वादी बतावे कि—वह मूलवेद हो गई न? क्या वादी इससे अपने पक्षका खण्डन मानेगा? 'क्त्वापि छन्दसि' (७।१।३८) यहाँ आख्यातिक (पृ. ३९४) में स्वा.द.जीने 'छन्दसि' का वेदमें अर्थ लिखकर 'कृष्णं वासो यजमानं परिधापयित्वा' यह उदाहरण दिया है। वादी बतावे यह उसके किस वेदका कहांका उदाहरण है? यदि वादीके अनुसार किसी शाखाका है; तो शाखा भी वेद सिद्ध हुई।

तब 'छन्द' में कहा हुआ 'स्नात्वी' शब्द भी 'वेदका' हुआ। यदि वादी ऐसा नहीं मानता; तो वह स्वा.द.जीकी वेद और व्याकरणादिकी **अनभिज्ञताकी घोषणा कर दे**। यदि वह ऐसा नहीं करता; तब वह स्वयं इस विषयमें अनभिज्ञ सिद्ध हुआ। शाखाओंको वेदका व्याख्यान मानना वस्तुतः गलत है। कृ. य. तैत्तिरीयसंहिता प्राचीनतर है, और माध्यन्दिनी

संहितासे पूर्व थी, यह इतिहास-प्रमाणित है। तव वह माध्यन्दिनी शाखा की व्याख्या वा शाखा कैसे हो सकती है? भाष्यकारने यजुर्वेदके १०१ भेद रखे हैं; इनमें ८६ कृष्णसंहिताएँ हैं; और १५ शुक्लसंहिताएँ हैं। भाष्यने दोनोंको यजुर्वेद माना है। राणायनीय शाखाके कौथुम शाखासे थोड़े मन्त्र हैं; तव राणायनीयसंहिता कौथुमीसंहिताकी व्याख्या कैसे है? फलतः वादीका पक्ष कट गया।

पृ. ८४ में वादी अष्टाध्यायीमें 'छन्दस्' को १०९ वार प्रयुक्त वताता है; और **मन्त्रको केवल ८ वार।** श्रीपाणिनि 'छन्द' को तो वेद मानते हैं, क्योंकि वह भाषाका प्रतिद्वन्द्वी है; और भाषाको पाणिनि लोक अर्थात् वेदभिन्न मानते हैं; पर 'मन्त्रे' को नहीं, और 'ब्राह्मणे' को भी नहीं। इससे मन्त्र तथा ब्राह्मण तो वेदके एक अवयव सिद्ध होते हैं; पर वेद (छन्द) मन्त्र-ब्राह्मण उभयात्मक सिद्ध होता है; अव वादी यह वतावे कि—श्रीपाणिनिके उक्त १०९ छान्दस सूत्र वेदके सूत्र हैं; या शाखाके सूत्र? यदि शाखाओंके; तो क्या वादी उन छान्दस १०९ प्रयोगोंको अपनी **मूलवेदसंहितासे दिखलाने** की प्रतिज्ञा कर सकता है? क्योंकि—वह शाखाओंके मन्त्रोंमें अपने मूलवेदोंके मन्त्रोंसे थोड़ा हेरफेर वताता हैं; शेष समानता मानता है? यदि ऐसा हो तो वह कमर कस ले। यदि उक्त छान्दस प्रयोगोंके मूलरूपोंको अपने मूलवेदोंसे नहीं दिखला सकता; तो उसका पक्ष कट गया; और शाखाएँ भी मूलवेद सिद्ध हो गई। क्या पाणिनिने आठ 'मन्त्रे' के सूत्रोंसे वैदिक-प्रक्रिया वनाई है, शेष वैदिक-प्रक्रिया शाखा और ब्राह्मणोंके प्रयोगोंसे भर दी है? यदि ऐसा है, तो वधाई हो। वेदज्ञ पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि आदि के मतमें मूलवेद तो शाखा-ब्राह्मण सिद्ध हो गये।

आगे वादी स्वयं लिखता है—'विभाषा छन्दसि' (१।२।३६) के उदाहरण मूलसंहिताओंसे दिये गये हैं। 'छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम्, विशाखयोश्च' में मैत्रायणी, काठक तथा तैत्तिरीयशाखाओंके दिये गये हैं'

इत्यादि जो उक्त विषयका अन्वेषण वादीने लिखा है, वह या तो अज्ञान-मूलक है, या प्रवञ्चनापूर्ण। पहले तो यह उसका **अपना अन्वेषण नहीं है।** यह तो उसने **स्वा.द.जीका अष्टाध्यायीभाष्य**—जो डा० रघुवीर तथा श्रीब्रह्मदत्त जिज्ञासु द्वारा सम्पादित है—**अपने सामने रख लिया है।** उसकी टिप्पणियोंसे दिया है। कहीं कई वातें स्वा.द.जीकी वादीने छिपा भी ली हैं; जनताके सामने नहीं आने दीं। हम भी उसका पूरा विवरण देंगे।

वस्तुतः अष्टाध्यायी ही क्या, किन्तु सर्वत्र ही जहां छन्दः, निगम, वेद शब्द आवें; वहाँ मन्त्र-ब्राह्मण दोनोंका ही ग्रहण हुआ करता है; क्योंकि—'छन्दः' शब्द समुदायवाचक है। छन्द तथा निगम वेदको कहते हैं; सो वह मन्त्र-ब्राह्मणरूपसे समुदित होकर 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इस कथनानुसार वेद कहाता है। उनमें 'मन्त्र' में समस्त ११३१ शाखा-संहिता आ जाती हैं, और ब्राह्मणमें ब्राह्मण, उपनिषत्, आरण्यक आदि सभी आ जाते हैं। सो छन्दके उदाहरणमें मन्त्र-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषदादि सारा साहित्य उदाहृत किया जा सकता है।

यह तो हुआ 'छन्द, निगम और वेदका लेखा। जहाँ केवल 'मन्त्रे' आवे; वहां वेदका केवल मन्त्रभाग—समस्त ११३१ शाखाएँ गृहीत हो जाती हैं; परन्तु कहीं उपलक्षणार्थ होने पर 'मन्त्र' से ब्राह्मण भी गृहीत हो जाते हैं, यह हम पहले निर्देश दे चुके हैं। केवल 'ब्राह्मणे' आ जावे; तो ११३१ संहिताओंके उतने ही ब्राह्मणों, उतनी ही उपनिषदों-आरण्यकोंका ग्रहण हो जाता है। हाँ, 'छन्दः' शब्द वा निगम वा वेद शब्द समुदायवाचक होनेसे 'समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते, घृतं भुक्तम्' इस भाष्योक्त न्यायसे 'छन्दः निगम, वेद आदि शब्दसे कहीं केवल मन्त्रभाग (समस्त शाखा) भी गृहीत किया जाता है, कहीं केवल ब्राह्मणभाग (तदन्तर्गत उपनिषदादि) भी।

जैसे कि—'वाम्-शसोः' (पा. ६।४।८०) इस सूत्रसे स्त्री-शब्दको

अम्-शस्में इयङ् विकल्पसे होता है, स्त्रियम्, स्त्रीम्' यह अम्में दो प्रयोग बनते हैं। अब यह प्रयोक्ताकी इच्छापर निर्भर है कि—वह इन दोनोंको प्रयुक्त करे; अथवा केवल 'स्त्रियम्' को, अथवा केवल 'स्त्रीम्' को प्रयुक्त करे। इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि—यदि कहीं 'स्त्रियम्' केवल प्रयुक्त किया गया हो; तो यह कहा जावे कि—'स्त्रीम्' बनता ही नहीं, अथवा इनमें एक मूल शब्द है और दूसरा उसकी व्याख्या है? अथवा कहीं 'स्त्रीम्' प्रयुक्त किया गया हो; तो वहां कोई कहे कि—'स्त्रियम्' यह नहीं बनता, अथवा यह अमूल शब्द है। एक ही का फतवा देनेवाले को अज्ञानी ही माना जाता है; वैसे ही 'छन्दः' विषयमें भी जानना चाहिये कि—यह समुदायवाचक शब्द है, और इसका अर्थ 'वेद' है। यह **मन्त्र-ब्राह्मण दोनोंका ग्राहक** होनेसे मन्त्र-ब्राह्मण दोनोंको वेद बनाता है; पर कहीं 'छन्द' का पूर्वोक्त न्यायसे केवल ब्राह्मणभागका उदाहरण दिया जावे, तो उसका यह भाव नहीं होगा कि—इससे मन्त्रभाग 'छन्द' (वेद) नहीं है। अथवा कहीं 'छन्द' का पूर्वोक्त न्यायसे केवल मन्त्रभाग वा उसके एक अंश किसी भी संहिता (शाखा) वा किसी ब्राह्मणका उदाहरण दिया जावे, तो उससे ब्राह्मणभाग 'छन्द' नहीं है, वा अन्य संहिताएँ चाहे वादीकी भी इष्ट हों 'छन्द' नहीं हैं? इससे ऐसा फतवा देनेवाले दयानन्दी अज्ञानी सिद्ध होते हैं।

वस्तुतः आर्यसमाजका वेदस्वरूप-विषयमें **पक्ष बहुत दुर्बल है। एक शताब्दी होने जा रही है,** अभी तक भी उसे वेदका **पूरा ज्ञान नहीं हो सका।** इसमें दोष है उसके पक्षपात-कलुषित दृष्टिकोणका। इस पूर्वोक्त कसौटीको जो कि वास्तविक एवं समूल है, प्रतिपक्षी लोग अपने पास रख लें; तो उन्हें कभी अव्यवस्थाका सामना न करना पड़े। पाठक देखेंगे कि—विपक्षीने अपना कैसा अव्यवस्थित पक्ष उपस्थित किया है।

अष्टाध्यायीसे शाखाओंका वेदत्व

(१६) पृ. ८४ में विपक्षीने स्वा.द.के डा० रघुवीर तथा श्रीब्रह्मदत्त-

जिज्ञासुसे सम्पादित अष्टाध्यायी-भाष्यको सामने रखकर—जो उनकी **अपनी गवेषणा नहीं है**—एक लम्बी सूची लिखी है, जिसपर कानपुर आर्यसमाज़के मन्त्री तथा नये दयानन्दी रंगरूट बहुत मुग्ध हुए हैं, इसका कारण उन लोगोंका व्याकरणमें अप्रवेश है। इन लोगोंने इस सूचीको द.सि.प्र. के कर्ताकी अपनी अकाट्य रिसर्च समझा है; पर आलोक पाठक आश्चर्यसे देखेंगे कि—इस रिसर्चसे आर्यसमाजका तथा स्वा.द.का पक्ष कटेगा। यह आर्यसमाजी भी ध्यानसे देखें कि—यह रिसर्च 'दयानन्द-सिद्धान्त-प्रकाश' है? वा 'दयानन्द-सिद्धान्त-संहार'?

विपक्षी लिखता है—'विभाषा छन्दसि' (पा. १।२।३६) के उदाहरण मूलसंहिता-मन्त्रोंसे ही दिये गये हैं' पर यह क्यों? जबकि विपक्षीके अनुसार 'छन्द' यह भाष्यानुसार अनित्य वर्णानुपूर्वीके हेरफेरवाली शाखाओंका नाम है? तब मूलसंहिताका उदाहरण उससे कैसे? विपक्षीके अद्वितीय वेदद्रष्टा भगवान्ने इस सूत्रमें 'छन्दः' का अर्थ किया है—'**वेदमन्त्राणां सामान्येन उच्चारणे कर्तव्ये**'। यहां स्वा.द.जीने 'छन्दः' का अर्थ 'वेदमन्त्र' किया है, शाखा नहीं। तब 'छन्दः' का अर्थ शाखा बतानेवाले विपक्षीका पक्ष विध्वस्त हो गया।

अब आगे स्वामीके ही लेखसे वादीका पक्ष कटता है, पाठक कौतुक देखें।

(क) स्वामीने इस सूत्रमें 'अग्निमीले', इषे त्वोर्जे त्वा, शंनो देवी-भिष्टये' यह छन्द (वेदमन्त्र) के उदाहरण देकर लिखा है—'**ऋग्यजुरथर्वणां त्रयाणां वेदानाम् इमानि क्रमेण उदाहरणानि**'। वादीने इस सूत्रमें लिखा है कि—इस सूत्रके छन्दके उदाहरण मूलसंहितामन्त्रोंसे ही दिये गये हैं।' तब विपक्षीके अद्वितीय वेदद्रष्टा भगवान्ने यहां विपक्षीका पक्ष सदाकेलिए चूर-चूर कर दिया है। यहां स्वामीने 'छन्द' का अर्थ वेद किया है, तब इससे वादी द्वारा 'छन्द' का 'हेरफेरवाला मन्त्र' यह अर्थ कट गया। यहांपर स्वामीने तीन वेदोंके तीन आदिम मन्त्र लिखे

इसमें यजुर्वेदका 'इषे त्वा ऊर्जे त्वा' यह मन्त्र दिया है। इसमें व्यवच्छेदक पद 'वायवस्थ उपायवस्थ' न रखनेसे कृष्ण और शुक्ल **दोनों यजुर्वेदोंका** वेदत्व स्वामीके लेखसे सिद्ध हो गया है; तब कृष्णयजुर्वेदको विपक्षी द्वारा शाखा कहना कट गया; वह भी मूलवेद सिद्ध हो गया।

उसके बाद अथर्ववेदका **आदिम मन्त्र** स्वामीने 'शं नो देवी' दिया है। यह अथर्ववेद-पैप्पलादसंहिताका आदिम मन्त्र है। वादीके तथाकथित अद्वितीय वेदद्रष्टा, महर्षिने अथर्व-पैप्पलादसंहिताका आदिम 'शं नो देवी' लिखकर उसे अथर्ववेद बताया है। जब स्वामीने उक्त उदाहरणोंमें ऋग्वेदका भी **आदिम** मन्त्र 'अग्निमीले' दिया है। यजुर्वेदका भी **आदिम** मन्त्र 'इषे त्वा' दिया है। तब स्पष्ट है कि--स्वामीने यहाँ अथर्ववेदका भी 'शं नो देवी' यह **आदिम मन्त्र** दिया है। ऋभाभू. में भी स्वामीने 'शं नो देवी' मन्त्रको अथर्ववेदका **'प्रथममन्त्रप्रतीक'** लिखा ही है। तब तदनुसार अथर्ववेद-पैप्पलादसंहिताके भी उनके मतके अनुकूल **अथर्ववेद** सिद्ध हो जानेसे उस नियमसे सभी वादीसे अभिमत शाखाएँ वेद सिद्ध हो गईं। तब वादी द्वारा 'छन्द' का जिसका वादीने 'हेरफेर वाला वेद-मन्त्र' अर्थ किया था--यह पक्ष भी कट गया; और वादीने जो लिखा था कि-भाष्यकारने शाखाको 'वैदिक पद' सिद्ध करनेकेलिए 'शं नो देवी' यह पैप्पलादशाखाका मन्त्र दिया—यह भी उसका पक्ष कट गया। अब वेदविषयक आर्यसमाजका पक्ष सदाकेलिए कट गया। अब यह विपक्षी एक लाख जन्म लेकर भी अपने पक्षको सिद्ध नहीं कर सकता। इससे आर्यसमाजका पक्ष कटकर सनातनधर्मका पक्ष आर्यसमाजियोंके महर्षि-द्वारा भी सिद्ध हो गया। हम भूमण्डल-भरके आर्यसमाजियोंको चैलेञ्ज करते हैं कि—वे अपने अशुद्ध पक्षको छोड़कर स० ध० का पक्ष पकड़ें; या फिर इन आक्षेपोंका समाधान करें।

इसी कारण ही आर्यसमाजके रहस्य-ज्ञाता श्रीब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुने 'शं नो देवी' वाली शङ्काको 'पर्याप्त बलवती' बताया था; पर उन्होंने

जो इसका प्रत्युत्तर दिया था कि—'भाष्यकारने इन मन्त्रोंको प्रथममन्त्र-रूपमें नहीं लिखा'। पर इसका स्वा.द.ने स्वयं ऋभाभू.में **'प्रथममन्त्र-प्रतीक'** बताकर खण्डन कर दिया था। अब या तो दयानन्दी दयानन्दजी को भ्रान्त बताकर उनके चलाये हुए आर्यसमाजको तथा समाधान करने-वाले इन चेले-चाँटोंको वेदसे अनभिज्ञ बतावें, या फिर स.ध.की शरणमें आवें, उन्हें सब समाधान प्राप्त होंगे।

(ख) 'छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम्' (१।२।६१-६२) यहां भी स्वामीजीने 'छन्दसि' का अर्थ लिखा है—'वेदविषये'। यहां स्वामीजीने 'शाखा' का अर्थ नहीं किया; क्योंकि—स्वामीजी शाखाको कभी छन्द (वेद) नहीं मानते। 'छन्द' वे **मूलवेदको** कहा करते हैं, जैसे कि पहले उनके उद्धरण दिये जा चुके हैं। तब वादी जो कि उन नक्षत्रोंके एकवचन कृ. य. तै. ब्रा. (२।१३।२०) कृ. य. काठक, (३६।१३) आदिमें स्वा.द. जीके अनुसार दिखलाता है; सो सभी शाखाएँ भी स्वा.द.जीके अनुसार वेद सिद्ध हो गईं। लोकमें तो 'पुनर्वसु' को द्विवचन होता ही है, एक-वचनकी विशेषता वेदमें होती है। आर्यसमाजकी इष्ट अथर्व-शौनकसंहिता (१६।७।२) में 'पुनर्वसु' को द्विवचन ही है, एकवचन नहीं। आर्यसमाज के अनुसार महाभाष्यके अद्वितीय विद्वान् स्वामीजीने 'छन्दः' का अर्थ **हेरफेर वाले मन्त्र वा शाखा** कहीं भी न करके 'वेद' अर्थ बताया है, इससे महाभाष्यमें वर्णानुपूर्वीकी अनित्यता शाखाओंकी नहीं, किन्तु वादी की तथाकथित संहिताओंकी भी मानी गई है। अतः स्वा.द.के अनुसार यह वादियोंका अभिप्राय-प्रकाशन स्वा.द.जीके अनुसार गलत सिद्ध हो गया; क्योंकि—स्वामीने कहीं भी **'छन्द' से वेदशाखाएं नहीं लीं,** किन्तु सदा 'वेद' ही लिया है। इससे विपक्षीके पक्षका उसीके महर्षि स्वा.द.जीने बड़ी क्रूरतासे खण्डन कर दिया है। अब विपक्षीको ही बताना पड़ेगा कि—यहां उसके **'अद्वितीय वेदद्रष्टा'** भ्रान्त हैं; वा उनका नवशिक्षित **और वेदविषयका न ज्ञाता यह विपक्षी ही स्वयं भ्रान्त है ?**

(ग) आगे विपक्षीने 'तृतीया च होश्छन्दसि' (२।३।३) सूत्र दिया है, और लिखा है—'इसके जितने उदाहरण मिलते हैं, वे सब ब्राह्मण-ग्रन्थोंसे दिये गये हैं'। इस पर विपक्षी याद रखे कि—यहाँ भी स्वामीजी ने 'छन्दसि' का अर्थ '**वेदविषये**' लिखा है, 'ब्राह्मणे' नहीं लिखा। स्वयं वादी भी 'छन्दः' का अर्थ 'ब्राह्मण' नहीं मानता, यह उसके पुस्तकमें स्पष्ट है। हां, 'छन्द' का शाखा वह अर्थ मानता है; तब उसने यहां छन्दका उदाहरण ब्राह्मणका कैसे मान लिया? क्या इससे यह स्पष्ट नहीं हो रहा कि—'छन्दः' वेदको कहते हैं; और वह वेदके मन्त्रों (सभी शाखाओं) तथा ब्राह्मण (ब्राह्मण, उपनिषद्, आरण्यक, आदि) दोनों का वाचक है? वादीके पक्षका यहां किस खूबीसे अपने तथा अपने 'ऋषि' द्वारा खण्डन हो गया। जिसे वह **मूलवेद** कहता हैं, वे भी तो क्रमशः शाकल, माध्यन्दिनी, कौथुमी, शौनकी शाखाएँ हैं। वह कोई ऐसा वेद (मन्त्र-भाग) बतावे; जो शाखा न हो। तब 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह प्राचीन पक्ष जो स० ध० का है, वह सिद्ध हो गया। **विपक्षीका तो पक्ष अव्यवस्थित हो गया।** कभी कहता है कि—'छन्द का प्रयोग **मूल-संहिताओंकेलिए** भी किया जाता है, कभी कहता है कि—छन्दका उदाहरण हेरफेर वाली शाखाका होता है। कभी कहता है—छन्दका उदाहरण ब्राह्मणभागका है। कभी आगे-पीछेके उदाहरण शाखा तथा ब्राह्मणके बताकर बीचवाला उसी छन्दका उदाहरण **मूलसंहिता** का बता देता है। कभी इससे विपरीत कह देता है। सीधा 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेद-नामधेयम्' कह दे; जहाँ वास्तविकता है; तो उसे आर्यसमाजसे विस्तर गोल करना पड़े।

विपक्षी ब्राह्मणभागको मूलवेदसंहिताकी व्याख्या कहता है; अब वह पाणिनिके २।३।३ छान्दससूत्रके स्वा.द.जीसे दिये हुए 'यवाग्वाऽग्निहोत्रं जुहोति' के 'यवागू' पदको अपनी मूलवेदसंहितासे दिखलावे; जिसका वह ब्राह्मणवचन व्याख्यान हो। यदि न दिखला सका; तो ब्राह्मणभाग भी

'वेद' सिद्ध हो ही गया। और वादीका पक्ष कट गया।

(१७) 'छन्दस्' और ब्राह्मणकी भिन्नार्थतामें वादी लिखता है— 'द्वितीया ब्राह्मणे' (२।३।६०) से 'ब्राह्मणे' की अनुवृत्ति प्राप्त होने भी 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (२।३। ६२) में छन्दः-पदका प्रयोग बातका ज्ञापक है कि—'छन्दस्' पदसे ब्राह्मणभिन्न मूलसंहिता-मन्त्रो ग्रहण है' (पृ. ८५)।

यहाँ वादीके पक्षकी कितनी अव्यवस्थितता है। यहां उसने छ का अर्थ 'हेरफेर वाले छन्द (शाखा)' का क्यों नहीं किया? यहां छ का अर्थ उसने **मूलवेदका** कैसे कर दिया? अपने स्वामीका अर्थ वादीने दिया है—'छन्दः-शब्देन मन्त्रभागस्य **मूलवेदस्य** ग्रहणं न ब्राह्मणशब्देन ऐतरेयादि-व्याख्यानानाम्'। तब इससे सिद्ध हो गया स्वा.द.जी सदा ही 'छन्दः'का अर्थ 'मूलवेद' ही किया करते हैं, न हेरफेर मन्त्र-शाखाओंका अर्थ स्वामी कभी करते हैं; और न कभी ब्राह्मण तब वादी-द्वारा भाष्यके वचनसे किया हुआ 'हेरफेरवाला मन्त्र' अर्थ गया। नहीं तो आर्यसमाजके अनुसार महाभाष्यके महान् विद्वान् स भी 'छन्दः' का अर्थ 'हेरफेर वाला मन्त्र शाखा' का कहीं लिखते। उन्होंने कहीं नहीं लिखा। तब स्पष्ट है कि—स्वा.द. से विरुद्ध ब्रह्ममुनिके अनुसार अर्थ करता हुआ विपक्षी खण्डित हो गया। ऐसा है; तब 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (२।३।६२) के 'छन्दः' का 'वेद' सिद्ध हो गया। तभी इस सूत्रके कारकीयमें भी स्वामीजीने हैं—'पूर्वसूत्रोंमें ब्राह्मण शब्दसे ऐतरेय आदि वेदव्याख्यानोंका ग्रहण हो और यहां (२।३।६२) 'छन्दः' शब्दसे **वेदोंका ग्रहण** होता है। इस सूत्रमें 'छन्द' ग्रहण किया है'। (पृ. ३२-३३) इसके उदाह वादीके स्वामीने 'दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम्' यह उदाहरण दिया यह मन्त्र माध्यन्दिनीसंहितामें भी है, और तैत्तिरीयसंहितामें भी। तैत्तिरीयसंहिता भी वेद सिद्ध हो गई। बल्कि इसका पूरा उदा

स्वा.द, की भी मान्य काशिकामें (देखिये स्वा,द.जीका अष्टाध्यायी-भाष्य चतुर्थ-पञ्चम अध्यायोंमें जिन्हें आर्यसमाजी प्रेसने प्रकाशित नहीं किया) 'पुरुषमृगश्चन्द्रमसे गोधाकालका दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम्' यह दिया है। यह मन्त्र कृष्णयजुर्वेद-तैत्तिरीयसंहिता (५।५।१५।१-२) का है, इसमें 'चन्द्रमसे' यह चतुर्थी है; पर माध्यन्दिनसंहिता (२४।३५) में षष्ठी है। तब कृष्णयजुर्वेद-तैत्तिरीयसंहिता भी मूलवेद-मन्त्र सिद्ध हो गई।

अब वादी स्वा.द.के अनुसार तथा स्वयं भी यहां 'छन्द' का अर्थ मूलवेद मानता है; तब देखिये कि स्वा.द.के तथा उसके अपने वचनसे भी उसका अपने पक्षका खण्डन होता है। इसी सूत्रके छान्दसवार्तिक (२।३।६२) का भाष्यकारने 'या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वः' यह उदाहरण दिया है। स्वा.द.जीने भी यही उदाहरण दिया है। अब वादी बतावे कि—जब वह उक्त सूत्रके 'छन्दः' का अर्थ 'मूलसंहिता-मन्त्रों' का मानता है; तब उक्त मन्त्र उसकी कौनसी मूलवेदसंहिताका है ?

यह तो कृष्णयजुर्वेद-तैत्तिरीयसंहिता (२।५।१७) का उद्धरण है; अब वादीके अनुसार कृष्णयजुर्वेद भी मूलवेद सिद्ध हो गया; और उसकी तैत्तिरीयसंहिता भी मूलवेदसंहिता सिद्ध हो गई। वादीको बधाई हो; अब वह भी स०ध० की छत्र-च्छायामें आ गया। उष्ट्रलगुड-न्यायसे वादीसे दिये उदाहरणसे उसीका ही पक्ष चूर्ण-विचूर्ण हो गया। वस्तुतः इसमें वादीका अपराध नहीं है, यह अपराध है उसके निर्मूल पक्ष पकड़ रखने का, जिससे वह उड़ान नहीं भर सकता; पद-पद में पतन प्राप्त करता है।

इसी छान्दस वार्तिकका उदाहरण स्वा.द.से मान्य महाभाष्यने 'अहल्यायै जारः' दिया है। इसे भी वादी अपने मूलवेदमें दिखलावे, इसमें भी षष्ठी-अर्थमें चतुर्थी हुई-हुई है। यह उदाहरण यजुर्वेद-शतपथ-ब्राह्मण (३।३।४।१८) षड्विंश ब्राह्मण (११) कृ. य. तैत्तिरीयारण्यक (१।१२।४) का है। इससे ब्राह्मण-आरण्यक भी छन्द (मूलवेद) बन

गये; क्योंकि—इस वार्तिकके सूत्रके छन्दः-पदका अर्थ वादीने मूलवेद माना था, वादीके स्वामीने भी। यह हम पहले बता आये हैं। वादीको बधाई हो कि—वह छिपे-छिपे स०ध० का पक्ष भी सिद्ध कर रहा है। तभी तो ८५ पृष्ठमें उसने लिखा है—'महर्षि दयानन्दने इस सूत्रके भाष्यमें ब्राह्मण और मूलवेदसे भी उदाहरण दिये हैं'। जब ऐसा है; तब ब्राह्मण वेदसे भिन्न कैसे हुए ?

वस्तुतः 'द्वितीया ब्राह्मणे' में 'ब्राह्मण' पद होनेसे उससे ब्राह्मणभाग ही गृहीत होता है, मन्त्रभाग नहीं। हां, कहीं ब्राह्मणभाग उपलक्षण हो; तो वहां मन्त्रभागका भी उससे ग्रहण हो जाता है। उससे अग्रिम 'चतुर्थ्यर्थे' में 'छन्दस्' होनेसे, 'छन्दः' का अर्थ 'वेद' होनेसे और वेदके मन्त्र-ब्राह्मण उभयात्मक होनेसे छान्दस-सूत्रमें मन्त्र-ब्राह्मण दोनों ही उदाहृत किये जा सकते हैं। यदि यहां 'ब्राह्मणे' की अनुवृत्ति रखी जाती; 'छन्दः' पद न रखा जाता; तो 'ब्राह्मण' के एकदेशी होनेसे 'चतुर्थ्यर्थे' सूत्र केवल ब्राह्मणभागमें लगता, मन्त्रभागमें नहीं। पर अब ६२ सूत्रमें 'छन्दः' होनेसे ६०-६१ सूत्र केवल ब्राह्मणमें लगेगा; और ६२ सूत्र और वार्तिक मन्त्र-ब्राह्मण दोनोंमें लगेगा; उसमें कृ. य. तै. सं. का उदाहरण भाष्यकारने दिया; वह तो मूलवेदसहिता सिद्ध हो ही गई; और काशिकाकारने ब्राह्मणका उदाहरण दे दिया। वह भी वेद सिद्ध हो गया। इससे स० ध० का पक्ष व्यवस्थित और समूल सिद्ध हो गया; और वादी का पक्ष अव्यवस्थित तथा निर्मूल सिद्ध होगया, और इसीलिए कट गया। इससे सिद्ध हो गया कि—छन्द, मन्त्र और ब्राह्मण दोनोंका नाम है। मन्त्रमें सभी ११३१ शाखाएं आ जाती हैं, ब्राह्मणमें सभी ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषदादि भी।

यदि स्वामी तथा वादीके अनुसार 'छन्द का अर्थ मूलवेदसंहिताका है; तो स्वामीने फिर यहां इस सूत्रके उदाहरण वादीके अनुसार मूलवेद-संहितासे न देकर क्यों ब्राह्मण तथा अन्य संहिताओंके दिये ? इससे भी

छन्दकी मन्त्र-ब्राह्मण उभयार्थता स० ध० का पक्ष पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि तथा वादियोंकी ओरसे भी सिद्ध हो गई। इससे बढ़कर आर्यसमाजके वेदविषयक मतका खण्डन अन्य क्या हो? अपने आपको वैदिकधर्मी कहनेवाले सम्प्रदायको एक शताब्दी पूरी होने जा रही है, पर उसे अभी तक भी पता नहीं लग सका कि—वेद क्या है? तब वेदविषयमें स्वयं अनभिज्ञ दयानन्दी समाज हमें पौराणिक और अपनेको वैदिक कैसे कहता है?

स्वा.द.जीने ऋभाभू. (पृ. ४०५) में लिखा है—'या खर्वेण' इत्यादि पाठसे यह प्रयोजन है कि—**वेदोंमें** षष्ठीविभक्तिके स्थानमें चतुर्थी हो जाती है, **लौकिक ग्रन्थोंमें नहीं**'। इससे सिद्ध हुआ कि–'या खर्वेण' यह ब्राह्मण 'वेद' है, लौकिक ग्रन्थ नहीं। इससे स्वामीके शिष्य वैं. ना. का खण्डन हो गया। आगे स्वामी बहाना बनाते हैं—'इसमें ब्राह्मणोंके उदाहरण इसलिए दिये हैं कि—महाभाष्यकारने ब्राह्मणोंको वेदोंके तुल्य मानके, अर्थात् इन (वेदों) में जो व्याकरणके कार्य होते हैं; वे ब्राह्मणोंमें हो जाते हैं'। बधाई हो। इससे स्वामीने सिद्ध किया कि—भाष्यकार ब्राह्मणको वेदके तुल्य मानते हैं। पर यहां बात ठीक यह है कि–ब्राह्मण को भाष्यकार तथा सभी अन्य प्राचीन विद्वान् वेद ही मानते हैं। इससे ब्राह्मणोंका तथाकथित वादिसम्मत अवेदत्व तथा लौकिकत्व खण्डित हो गया। हम भाष्यकी बात मानें, वा स्वामीकी?

(ख) जो कि 'सार्वदेशिक, के (सितम्बर-अक्टूबर १९४७ अङ्क) में अन्य प्रतिपक्षी (श्री ब्र. मु.) ने इस विषयमें लिखा है—'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (२।३।६२) पर 'षष्ठचर्थे चतुर्थी' (वार्ति.) की उदाहरणें महाभाष्यमें 'अहल्यायै जार' आदि ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी दी हैं, परन्तु यहाँ भाष्यकारने एक व्यवस्था दी है, जिससे ये उदाहरणें छन्दोविषयक न होकर ब्राह्मणविषयक हो गईं। वह इस प्रकार कि–अष्टा.में पूर्व 'द्वितीया ब्राह्मणे' (२।३।३०) पुनः 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (२।३।६२) है।

महाभाष्यकारने कहा है—'चतुर्थी' इति योगविभागात् सिद्धम् 'अर्थे बहुलं छन्दसि' (२।३।६२) पूर्वसूत्रसे ब्राह्मणमें षष्ठीविधान अब योगविभागसे 'चतुर्थी' अलग सूत्रका ब्राह्मणमें षष्ठीप्रसंगमें हो, यह अर्थ हो जाता है, पुनः 'अर्थे बहुलं छन्दसि' चतुर्थीके अर्थमें हो–बहुलं करके छन्दमें। इस प्रकार ब्राह्मणमें षष्ठीके स्थान पर होकर महाभाष्य द्वारा दी हुई ब्राह्मणोंकी उदाहरणें बन जाती इसलिए अष्टाध्यायीके 'छन्दसि' विषयकी उदाहरणोंका स्थान ब्राह्मण हैं।' (पृ. ४१६) द्वितीय स्तम्भ)।

पाठकोंने देखा कि—प्रतिपक्षीकी कैसी रद्दी और निस्सार अशुद्ध हिन्दी है। 'उदाहरण शब्द' को स्त्रीलिङ्ग बना दिया। भाष्यकार 'चतुर्थी' का योगविभाग लाघवकेलिए किया है; जिससे वार्तिककी आवश्यकता न रहे; सूत्रसे ही चतुर्थीके अर्थमें षष्ठी और षष्ठीके चतुर्थी हो। योगविभागमें भी 'छन्दसि' का अपकर्ष तो होगा इससे यह नहीं निकल सकता कि–ब्राह्मण भाष्यकारके मतमें छन्द (नहीं।

'पयोव्रतो ब्राह्मणः' इत्यादि स्वा.द.के अनुसार ब्राह्मणके भाष्यकारने वेदके नामसे ही तो दिया है। इस प्रकारके भाष्यकार बहुत उदाहरण दिये जा सकते हैं। 'आलोक' (६) देखो। योगवि करनेसे छन्द भला ब्राह्मण-विषयक कैसे हो जायगा; जबकि–'ब्राह्मण' की अनुवृत्ति पूर्वसूत्रसे आ रही है। फिर भाष्यकारको यदि यहाँ से 'ब्राह्मण' इष्ट था; तो फिर 'छन्दसि' रखनेकी आवश्यकता नहीं 'ब्राह्मणे' की अनुवृत्ति तो आ ही रही थी, अतः प्रतिपक्षी यहाँ सफल हो सका है। योगविभाग करनेपर भी भाष्यकारने 'छन्दसि' को **ही कहा है**; और फिर भाष्यकारने जो 'या खर्वेण पिबति' उदाहरण **है**, यह भी केवल ब्राह्मणकी कण्डिका नहीं हैं, किन्तु कृ. य. तैत्तिरीय **की कण्डिका है**। उसके अन्तर्निविष्ट ब्राह्मण भी 'तन्मध्यपतितस्तद्

गृह्यते' इस न्यायसे 'संहिता' (छन्द) ही माना जाता है, तभी तो नि. (१।१५।८) में 'अग्नये समिध्यमानाय' (मैत्रायणीसंहिता १।४।११) इस ब्राह्मणको संहितान्तर्गत होनेसे निरुक्तकारने इसे 'मन्त्र' माना है, वैसे तो तैत्तिरीय-ब्राह्मण इस तैत्तिरीयसंहितासे पृथक् है। स्वा.द.जी भी इस सूत्रके 'छन्दः' का अर्थ 'वेद' लिख गये हैं। तब वादीके अनुसार चाहे यह संहिताका प्रयोग हो, चाहे ब्राह्मणका, सुतराँ वह 'वेद' सिद्ध हो जानेसे वादीका पक्ष कट गया। अब प्रकरण पर चलते हैं—

(१८) 'यजेश्च करणे' (२।२।६३) में २।३।६२ सूत्रसे 'छन्दसि' की अनुवृत्ति है, जिसका स्वामीने भी 'मूलवेद-संहिता' का अर्थ अपने अष्टाध्यायीभाष्य तथा कारकीयमें किया है। इस छान्दस-सूत्रका उदाहरण भी वेदका ही होगा। नहीं तो यदि वादी वा उसका आचार्य ६२ सूत्रके 'छन्दसि' का तो अर्थ करे 'मूलवेद' में; और ६३ सूत्रमें अनुवृत्त उसी ६२ सूत्रवाले 'छन्दसि' का 'मूलवेद' अर्थ न करके उसका 'शाखा वा ब्राह्मण' अर्थ कर दे, तो उसकी या तो असत्यवादिता सिद्ध हो जायगी, या फिर उनका पक्ष वालूकी भित्ति सिद्ध हो जायगा; और यह उनकी स्वेच्छा-चारिता या कपोलकल्पनाका प्रमाण होकर उसके पक्षकी दुर्वलताका प्रमापक होगा। पूर्वसूत्रसे अनुवृत्त पदका पूर्वसूत्रवाला अर्थ न होकर क्या अन्य अर्थ हो जायगा? यदि पूर्वसूत्रमें 'पुंसि' हो; और उसकी अग्रिम सूत्रमें अनुवृत्ति आरही हो; तब क्या उस अग्रिमसूत्रमें पूर्वसूत्रसे अनुवृत्त 'पुंसि' का 'स्त्रीलिङ्ग' अर्थ हो जावेगा? यदि ऐसा हो, तो वादी धन्य है।

अब वादी कान खड़े करके अपने 'अद्वितीय वेदद्रष्टा' एवं 'भगवान्' से किया अर्थ एवं उदाहरण सुने। स्वामी इस ६३ सूत्रका उदाहरण 'वेदविषये बहुलं षष्ठी विभक्तिर्भवति' कहकर अपने अष्टाध्यायीभाष्यमें तथा 'कारकीय' (पृ. ३३) में देते हैं—'घृतस्य यजते, घृतेन यजते'। यह उदाहरण कौशीतकिब्राह्मण (१६।५) तथा शतपथब्राह्मण (४।४।२।४) में है। इससे वादीके पक्षका कचूमर निकल गया। ब्राह्मणभाग भी वेद सिद्ध हो गया। यह ठीक भी है; क्योंकि—वृक्षके मूलसे उसीसे उत्पन्न शाखा एवं अवयव भी मूलके ग्रहणसे गृहीत हो जाते हैं। यह नहीं कि—मूलको तो बनावे बीज; और शाखा तथा तनोंको बनावे कोई और, यह वादियोंकी बात उपहासास्पद है। वस्तुतः बीज तो परमात्मा ही है; उससे बने मूलसे सभी अवयव निकलते हैं; उनको बनाने वाला कोई अन्य मनुष्य नहीं हो जाता।

यह तो वादीके तथाकथित महर्षि द्वारा तथा उसकी अपनी ही लेखनी द्वारा स०ध० के पक्षकी सिद्धि हो रही है, धन्यवाद हो; हमारा आधा भार तो वादी हलका कर ही रहा है। अब वादीको चाहिये कि—उन पूर्वोक्त उदाहरणोंको अपने मूलवेदसे दिखलावे, या फिर 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद-नामधेयम्' इस सिद्धान्तको मानकर अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तका भङ्ग कर दे।

(१९) पृ. ८५ में 'मन्त्र और छन्दस्' की भिन्नार्थकता बताता हुआ वादी लिखता है—'मन्त्रे श्वेतवह' (३।२।७१) में 'मन्त्र' पदका प्रयोग है, इससे अगले 'अवे यजः' (७२) सूत्रमें इसकी अनुवृत्ति आती है। इसके उदाहरण ऋक् तथा यजुर्वेदके दिये गये हैं'।

अब यदि यह वादीकी बात सत्य है, और यह भी वादी मानता है कि—'मन्त्र' से मूल-वेदसंहिताओंका ग्रहण होता है'। उक्त सूत्र और 'डस् पदस्य' वार्तिकसे 'श्वेतवाः, श्वेतवाहौ, उक्थशाः, अवयाजौ' यह डस् तथा ण्विन् वाले प्रयोग भी सिद्ध होते हैं। प्रतिपक्षी लोग यह भी मानते हैं कि—मूलवेदसंहिताओंमें न कुछ न्यून है और न अधिक। अब हमसे दिखलाये गये इन मन्त्रभागके शब्दोंको प्रतिपक्षी अपने मूलवेदमें दिखलावे। वादीके तथाकथित 'अद्वितीय वेदद्रष्टा' स्वा.द.जीने उक्त पदोंके वेदके उद्धरण दिये हैं—'श्वेतवा इन्द्रः, श्वेतवाहौ। वरुणस्य अवया असि'। विपक्षी अपने 'अद्वितीय वेदद्रष्टा' के वेदके इन उद्धरणोंको अपने वेदसे

दिखलावे-यह उसे प्रेरणा है। यदि न दिखला सका; तो उसे मानना पड़ेगा कि-वेद केवल उससे अभिमत चार पोथियां नहीं; किन्तु ११३१ संहिता तथा उन्हींके ब्राह्मण-यह चार वेद हैं। तब वही स०ध० का सिद्धान्त सिद्ध हुआ; वादी तथा उसके समाजका अभिमत खण्डित हो गया। यहाँ उष्ट्रलगुड-न्याय चरितार्थ हुआ।

(ख) पूर्वसे आगे वादी लिखता है—'आगे 'विजुपे छन्दसि' (३।२। ७३) में 'छन्दसि' का प्रयोग है। यदि छन्दः और मन्त्र दोनों एकार्थक होते; तो 'मन्त्र' से पृथक् 'छन्दः' के प्रयोगकी आवश्यकता नहीं थी'। वादीको अपने पक्षकी दलदल में फँसे होने से इन बातोंका ज्ञान नहीं है; तभी उसे भ्रम होता है।

वह सदाकेलिए याद रख ले कि—'मन्त्रे' यह एकदेशी नाम है, उससे केवल मन्त्रभाग (सभी ११३१ शाखा) का ग्रहण होता हैं, ब्राह्मण (उपनिषद्, आरण्यक आदि) का 'मन्त्रे' से सामान्यतया ग्रहण नहीं होता, पर 'छन्दसि' से इन दोनों भागोंका सामान्यतया ग्रहण होता है। यदि यहां 'मन्त्रे' की अनुवृत्ति रखते, 'छन्दसि' यहाँ न रखते, तो 'विजुपे छन्दसि' वाला कार्य मन्त्र-ब्राह्मण दोनोंमें न होता, केवल मन्त्रभाग (११३१ शाखाओं) में होता; पर अब दोनों (मन्त्र और ब्राह्मण) में होगा। स्वा.द.जीका यहां 'छन्दः' से शाखाओंका ग्रहण व्यर्थ है। वह तो 'मन्त्रे' से गृहीत हो जाता है। स्वा.द.से अभिमत चार वेद भी शाकल, माध्यन्दिन, कौथुम, शौनक शाखाएं ही तो हैं। यहाँ तो 'छन्दः' से मन्त्र-ब्राह्मण दोनोंका ग्रहण होगा। इस सूत्रका उदाहरण स्वा.द.जीने 'उपयक्-उपयट्' दिया है। वादी शाखाको मूलवेदसंहिताकी व्याख्या मानता है। अब वह बतावे कि—उसके मूलवेदमें 'उपयक्, उपयट्' शब्द कहां हैं, जिनकी यह व्याख्या शाखामें है? वादी 'छन्दः' से ब्राह्मणभागको न लेकर शाखाको लेता है, और (उपयड्भ्यः) यह स्वा.द.जीसे दिया हुआ प्रयोग शतपथ ब्राह्मण (३।८।३।१८) में है। सो शतपथ भी क्या मूलसंहिताकी

११३१ शाखाओंके अन्तर्गत कोई शाखा है? यदि है; तो वह सि[द्ध] करे।

शतपथको भी वादी मन्त्रभागकी व्याख्या मानता है; सो वह बता[वे] कि—'उपयड्भ्यः' यह उसकी मूलवेदसंहिताके किस पदकी व्याख्या है? और कौनसा शेष भाग दोनोंमें समान है? यदि वह यह न दिखला सके; तो 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' का घोष वादी द्वारा ही सिद्ध हो गया।

वादीने इस प्रघट्टकका शीर्षक लिखा है—'मन्त्र और छन्द [की] भिन्नार्थकता', पर उसके 'अद्वितीय वेदद्रष्टा' सिंहनाद करते हैं—'छन्दां[सि] वेदा मन्त्राश्च इति पर्यायौ' (ऋभाभू. पृ. ७९)। 'यच्चोक्तं-छन्दो-मन्त्रयोर्भेदोस्ति; तद् असङ्गतम्। कुतः, छन्दो-वेद-निगम-मन्त्र-श्रुती[नां] पर्यायवाचकत्वात्' (पृ. ७९)। 'तथा व्याकरणेपि—'मन्त्रे घस, छन्द[सि] लुङ्' अत्रापि छन्दो-मन्त्र-निगमाः पर्यायवाचिनः सन्ति, तत् छन्दो-मन्त्रा[दी]नाँ पर्यायसिद्धेर्यो [वैद्यनाथादिः] भेदं ब्रूते, तद्-वचनम् अप्रमाणमेवा[स्ति]' (पृ. ८०) 'छन्द और मन्त्र यह दोनों शब्द एकार्थवाची अर्थात् संहि[ता] भागके नाम हैं।...यह चारों (छन्द, मन्त्र, निगम, श्रुति) शब्द प[र्याय] अर्थात् एक अर्थके वाची है, ऐसा ही जानना चाहिये' (पृ. ९१) अब छ[न्द] और मन्त्रमें अभेद बताने वाले वादीके शब्दोंमें 'अद्वितीय वेद[द्रष्टा], वैयाकरणशिरोमणि, भगवान्, महर्षि' स्वा,द.जी भी भ्रान्त हैं, वा उन[का] नौसिखिया चेला भ्रान्त है? यदि गुरु-चेलोंमें एक ठीक है, तो दू[सरा] गलत-वक्ता हुआ। इस प्रकार दोनों परस्पर-विरुद्ध वक्ता होनेके का[रण] अशुद्ध एवं अव्यवस्थित पक्षवाले सिद्ध हो गये; और आर्यसमाजकी [नीं]व वालूकी भित्ति हो गई। वादीका पक्ष विध्वस्त हो गया।

(२०) आगे वादी पृ. ८६ में लिखता है—'हेमन्त...छन्द[सि] (२।४।२८) के उदाहरण मूल-संहिता और काठक आदिसे दिये गये हैं; स्वा.द.जीने २।३।६२ सूत्रके अर्थमें 'छन्दः' शब्दको वेदवाचक माना है; तब यदि काठक आदिके उदाहरण इसमें मिलते हैं, तब उनकी वे[द]

स्पष्ट सिद्ध हो गई। यदि काठक वेद नहीं; तो वह 'भाषा' हुआ। स्वा.द. जीने अष्टाध्यायीभाष्यमें 'भाषा' का अर्थ लिखा है कि—'वेदाद् इतर-ग्रन्थेषु' (२।३।६६)। व्याकरण वा निरुक्तादिमें छन्द, वा अध्याय–जो वेदके पर्यायवाचक हैं–की प्रतिद्वन्द्विताम़ें 'भाषा' शब्द आया है, पर काठक आदि संहिताओंकेलिए कहीं भी भाषा 'शब्द' न आनेसे, सदा छन्द वा मन्त्र आदि शब्द आनेसे वे पूरे १०० पैसे 'वेद' सिद्ध हुए। इसके अतिरिक्त वादी शाखाको मूलवेदका हेरफेर वा व्याख्यान बताता है; तब वह अपने मूलवेदमें 'हेमन्त-शिशिरौ' का मूल-शब्द दिखलावे। यदि नहीं दिखलावेगा; तो शाखा भी मूलवेद सिद्ध हुई हीं; और हैं भी। वादीकी वेदोंकी चारों पोथियां भी तो शाखा हैं, यह पहले कई वार बताया जा चुका है।

(ख) जो कि वादी लिखता है—'बहुलं छन्दसि' (२।४।७३) छन्द के उदाहरण केवल मूलसहितासे दिये गये हैं, यह क्यों? जबकि वादी 'छन्दः' नाम 'शाखा' का बताता है। तब तो उसके अनुसार भी सिद्ध हो गया कि—'छन्द' वेदका नाम है; तब छन्दः-शब्दवाच्य शाखा-ब्राह्मण भी वेद सिद्ध हो गये। फिर लिखता है—'बहुलं छन्दसि' (२।४।७६) के उदाहरण केवल काठक और मैत्रायणी शाखाओंसे दिये गये हैं। यह क्यों? प्रश्न यह है कि—'छन्द' शब्दका एक अर्थ है या भिन्न-भिन्न? यदि भिन्न-भिन्न; तब उसके लिए पाणिनिको कोई व्यवच्छेदक चिन्ह रखना चाहिये था, जिससे दोनोंका भेद जान लिया जाता; पर जब उसके साथ कोई व्यवच्छेदक चिन्ह नहीं; तब उनकी एकता सिद्ध होगई। वादीके पक्षकी कितनी अव्यवस्थितता सिद्ध हो रही है, यह 'आलोक'-पाठकोंने देखा होगा। जबकि–उक्त सूत्रका वादीसे काठक नामसे दिया हुआ उदाहरण 'दाति प्रियाणि' (ऋशासं. ४।८।३) में भी मिलता है; सो वादीके अनुसार उसकी वेदसंहिता भी अब शाखा सिद्ध हो गई।

(ग) जो कि वादी 'मन्त्रे' (२।४।८०) जिसे वह मूलवेद बताता

है, के उदाहरणमें 'अज्ञत' यह ब्राह्मणका उदाहरण देता है, उससे उसका पक्ष खण्डित हो गया; ब्राह्मणभाग भी वेद सिद्ध हो गया। जो कि वह मन्त्रको 'विना हेरफेर वाला' वेद मानता है, और उसे पूर्ण मानता है; तब उस वेदमें 'जन्' धातुका उदाहरण 'अज्ञत' क्यों न मिले? इससे स्पष्ट सिद्ध हो गया कि–उसकी ४ पोथियां अपूर्ण वेद हैं। पाणिनिने वेदमें ही तो जन् धातुमें च्लिका लुक् देखकर उसके लिए सूत्र बनाया था; यदि वह रूप वादियोंसे पूर्ण माने जाते हुए वेदमें नहीं मिलता, किन्तु ब्राह्मणमें मिलता है; तब स्पष्ट हुआ कि—ब्राह्मण भी श्रीपाणिनिके मतमें वेद हैं, और वादीकी मानी जाती हुई संहिताएँ अपूर्ण वेद हैं।

वादी लोग 'ऋक्' भी मूलवेदका नाम मानते हैं; जैसे कि—'यथैव ऋचाऽनूक्तम् एव अनुब्रूयात्–होतारं विश्ववेदसम्' (शत. १।४।१।३५) अब देखिये–यास्कने 'ऋक्-श्लोकाभ्यामभ्युक्तम्' (३।४।२) यहां भी 'ऋक्' लिखा है; वह ऋक् 'अङ्गादङ्गात् सम्भवसि' यह दी है; वह ऋक् वादियों के वेदमें मिलनी चाहिये; पर यह कौशी. आरण्यक (४।११) में मिलती हैं; अथवा (शत. १४।६।८(४)२६) में मिलती है; इसी प्रकार यास्क अन्यत्र भी बहुत स्थलोंपर 'ऋक्' लिखता है—'तदभिवादिनी एषा ऋग् भवति' (नि. ६।५।१) यहां 'भद्रं वद' ऋचा वादियोंके मूलवेदमें न मिल-कर 'खिल' में मिलती है; इससे स्पष्ट सिद्ध हुआ कि—वेद मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक सभीका नाम मिलकर है।

जो कि वादी 'मन्त्र-ग्रहणं छन्दस उपलक्षणार्थम्' यह काशिकाकार की यहां साक्षी देता है, तथा स्वामीजीने भी ऐसा ही लिखा है, वादीने भी स्वयं यह लिखा है कि–'इससे ज्ञात हुआ कि—इससे 'छन्दस्' पदका प्रयोग मूलवेद और समस्त वैदिकसाहित्यकेलिए पाणिनिने किया है। यह वादीने स०ध० का ही पक्ष सिद्ध कर दिया; क्योंकि—छन्द वेदको कहते हैं, भाषा (लौकिक) को नहीं; और वेदसे मन्त्र-ब्राह्मणात्मक समस्त साहित्यका ग्रहण होता है। अतः मन्त्रके साथ ब्राह्मण भी वेद सिद्ध हो

गया। मन्त्रसे सभी ११३१ शाखा जिसमें वादीकी ४ संहिताएं भी शामिल हैं—गृहीत होती हैं। इसमें मूलवेद-अमूलवेदका वादीका लटका केवल अडंगाबाजी है, बात वही स०ध० की मानी गई है, सभी शाखाएँ मूलवेद सिद्ध हुईं, शब्दसे अर्थ स्वयं गृहीत हो जाता है; क्योंकि—'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' (रघु. १।१) तब अर्थरूप ब्राह्मण भी स्वयं वेदसे गृहीत हो जाता है। स्वा.द.जीने यहाँ 'मन्त्र' का अर्थ 'वेद' किया है। उसीका 'अज्ञत' यह ब्राह्मणका उदाहरण ब्राह्मणको वेद सिद्ध करनेवाला बन गया। नहीं तो स्वा.द.जी तो ब्राह्मणको 'ब्राह्मणग्रन्थ-शब्दा लौकिका एव सन्ति, न वैदिकाः' (ऋभाभू. पृ. ८४) यह कहते हैं; पर यहाँ 'मन्त्र' जिसका अर्थ वादियोंके अनुसार 'मूलवेद' है—उसीका ब्राह्मणका उदाहरण देना ब्राह्मणके शब्दोंको 'वेद' सिद्ध करना है। गुरु-चेला दोनोंका पक्ष खण्डित हो गया। इतना व्यर्थका विस्तार वादीने अपने पक्षके खण्डनार्थं किया—उसे बधाई हो। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि 'मन्त्र' से सभी शाखा तो स्वाभाविकतया गृहीत हो ही जाती हैं; पर मूल-मन्त्रसे उसका अर्थ ब्राह्मण भी गृहीत हो जाता है (वागर्थाविव संपृक्तौ)।

(घ) पृ. ८७ में वादी लिखता है—३।१।४२ से 'छन्दः' से निपातित अन्य पदोंका पता नहीं मिलता, परन्तु 'विदामक्रन्' प्रयोग तै. ब्रा. (१।३।१०।३) में है'। इससे जो कि वादी 'छन्दः' से 'ब्राह्मण' का ग्रहण होना नहीं मानता था, उसका खण्डन हो गया, इससे हमारी बात सिद्ध हो गई कि—छन्द वेदको कहते हैं, जैसे कि स्वा.द.जी भी ऋभाभू. में मान चुके हैं, यह हम पहले कह चुके हैं। और वेद 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' मन्त्र-ब्राह्मण दोनों मिलकर होते हैं, तब जो कि हम ब्राह्मणभागको वेद मानते हैं, पाणिनिने हमारे पक्षको सिद्ध कर दिया। अब पाणिनिने 'अभ्युत्सादयामकः' आदि जो छान्दस प्रयोग निपातित किये हैं; व वेदसे देखकर ही तो निपातित किये होंगे। नहीं तो वादी कहे कि पाणिनिको भी वेदका ज्ञान नहीं था। वेदका ज्ञान तो वादीको ही केवल है!!! यदि

वादी चार पोथीमात्रको वेद मानता है; तो इन छान्दस-प्रयोगोंको ... वेदोंसे दिखलावे? यदि वह कहे कि—शाखाओंमें होंगे; तब ... पाणिनि वादीकी मूलसंहिता तथा अन्य शाखाओंमें भेद मानता है ... बिना व्यवच्छेदक विशेषण दिये वह 'छन्दसि' कैसे लिख दिया करते हैं? इससे तो हमारा ही पक्ष सिद्ध होता है कि—११३१ संहिताएं ... शाखाएं हैं, जिनमें वादीकी संहिताएं भी अन्तः-पतित हैं। सो ... शाखाएं वेद सिद्ध हुईं। वादी अनित्य-वर्णानुपूर्वी वालोंको 'छन्दः' मानता ... हैं, नित्य वर्णानुपूर्वी वाले भी छन्द हैं, इस विषयमें उसके पास कोई प्रमाण नहीं। जो कि इसमें उसने नियतानुपूर्वीका भाष्यकारका वचन दिया, उसमें 'आम्नाय' शब्द है, 'छन्दः' नहीं; तब उसकी इष्ट-सिद्धि नहीं हो सकती। इस विषयमें हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। यदि वह कहे कि—'छन्द' और 'आम्नाय' शब्द पर्यायवाचक हैं; तब स्मरण रहे कि—यह दोनों वेदके नाम हैं; तब समस्त शास्त्र और ब्राह्मण वेद सिद्ध होंगे, तभी तो पाणिनि तथा भाष्यकार वेदके प्रयोगोंको दिखलानेकेलिए ... शाखा-ब्राह्मणों के उदाहरण देते है, अतः वादीका पक्ष कट गया।

अब यह लुप्त उदाहरण वादी यदि शाखाओंमें मानेगा, तो ध्यान रहे कि—वह शाखाओंको अपने वेदका व्याख्यान वा हेरफेर मानता है। उसके अपने वेद न तो लुप्त हैं, न न्यून वा न अधिक हैं; अब वह ... निपातित 'अभ्युत्सादयामकः, प्रजनयामकः, चिकयामकः' इन प्रयोगोंके मूल शब्द अपनी मूलवेद-संहिताओंसे दिखलाये, जिनके उक्त शाखा ... व्याख्या हैं, वा हेरफेर किये शब्द हैं। और स्पष्ट है कि—यदि ... प्रजनयामकः आदि व्याख्या-शब्द हैं; तो यह सुगम हैं, मूलशब्द ... कठिन होगा; 'प्रजनयामकः' का अर्थ है 'प्राजीजनत्' तो वे मूल ... शब्द वादी अपनी पूर्ण मूलसंहिताओंसे दिखलावे। यह उसे आह्वान है। यदि ऐसा न कर सका; तो उसका तथा उसके सम्प्रदाय आर्यसमाज का पक्ष कि—यही चार वैदिक प्रेसकी पोथियां ही मूल चार वेद हैं—

खण्डित हो गया। सभी शाखा-ब्राह्मण वेद सिद्ध हो गये, और वादीकी ४ तथाकथित मूलसंहिता भी शाखा सिद्ध हो गई। यह वादीका वैदिक-धर्म सदाकेलिए पराजित हो गया; और स०ध० के वैदिकधर्मको सदाके लिए 'जयलक्ष्मी' प्राप्त हो गई। वादीका पक्ष इतने बुरी रूपसे कट गया है कि-अब वादी कभी फड़फड़ा नहीं सकेगा, ऊँची उड़ान भरनी तो दूर रही। वादीके 'अद्वितीय वेदद्रष्टा' ने भी उसका पक्ष काट दिया है, क्योंकि—उक्त सूत्रके अर्थमें उनने लिख दिया है—'छन्दसि वैदिक-प्रयोगेषु' अर्थात् वेदके प्रयोगोंमें। यदि वादी कहे कि—'वैदिक' से 'शाखा-साहित्य' भी लिया जा सकता है; तो ध्यान रहे कि-'वैदिक' में 'वेद' शब्दसे ठक् प्रत्यय है; तब शाखाओंको भी वादीको वेद मानना पड़ेगा। तब भी उसके पक्षका क्षय हो गया। स्वा.द.जीने 'मन्त्रे' (२।४।७)का अर्थ 'वैदिक विषय' लिखा है; 'मन्त्रे श्वेतवह' (३।२।७१) में भी स्वामीने 'मन्त्रे' का 'वैदिक प्रयोगे' अर्थ किया है। तब 'मन्त्र' शब्द भी जिसे वादी मूलवेद-वाचक मानता है, शाखा-ब्राह्मणवाचक सिद्ध हो गया। 'तणि-संज्ञाछन्दसोः' (२।४।५४) में 'छन्दसि' का अर्थ स्वामीने 'वेदे' किया है। तब सभी शाखाएँ भी वेद सिद्ध हो गई। निष्कर्ष यह है कि-विपक्षी इस शाखा-ब्राह्मणोंके वेद होनेके गोरखधन्धेसे अपनेको कभी छुड़ा नहीं सकता।

(ङ) आगे वादीने 'नोनयति' (३।१।५१) सूत्र जान-बूझकर छोड़ दिया है, जिससे आर्यसमाजका पक्ष रसातलमें जाता है, जिसकेलिए उसके 'अद्वितीय वेदद्रष्टा भगवान्' ने लिखा है—'छन्दस्यनुवर्तते'। अर्थात् इसमें पूर्वसूत्रसे 'छन्दसि' की अनुवृत्ति आ रही है। उसका उदाहरण देते हुए स्वामीजीने लिखा है—'ऐलयीः, अर्दयीत्। इति वेदे'। इससे सिद्ध हुआ कि स्वामीजी 'छन्दसि' का अर्थ 'वेद' करते हैं। यहां स्वामीने 'वैदिक' शब्द भी नहीं लिखा कि-विपक्षी कोई बहाना बना सके, उसके 'अद्वितीय वेदद्रष्टा भगवान्' ने साक्षात् 'वेद' शब्द लिखा है। अब विपक्षी

लंगोटा कसकर अपने वेदरूपी छोटे तालाबनुमा समुद्रमें 'ऐलयीः अर्दयीत्' प्रयोग ढूंढ लावे! क्योंकि वादी अपने वेदमें न्यूनाधिकता कुछ नहीं मानता। यदि अपने अद्वितीय वेदद्रष्टा द्वारा साक्षात् 'वेदे' कहकर दिये हुए उदाहरण अपनी पूर्ण वेदसंहिताओंमें से न दिखला सका; और कह बैठा कि—यह लुप्त वेद-शाखाओंमें होंगे; तब क्या वह उन लुप्त शाखाओं को वेद मानने को तैयार है? यदि हाँ; तो वह हमें यह लिखकर दे, ताकि हम उसको नियत करनेवाले सार्वदेशिक आर्यसमाज-संस्थाके मन्त्री को वह लिखित पत्र दे दें। यदि वह कहे कि—नहीं; तब शाखा-प्रयोगों के लिए 'वेदे' लिखते हुए स्वा.द.जीको वह अब 'अद्वितीय वेदद्रष्टा' मानता है, वा भ्रान्त वेदद्रष्टा मानता है, यह भी हमें लिखकर दे दे। या फिर अपने-आपको भ्रान्त माने। अब वह बोले कि—यह 'दयानन्द-सिद्धान्त-प्रकाश' है, या 'दयानन्द-सिद्धान्त-संहार'?

(२०) यदि वादीके अनुसार 'कृमृदृरुहिभ्यः छन्दसि' (३।१।५९) के छन्दके कृ. रुह् के लुङ् के छान्दस प्रयोग उसकी वेदसंहितामें उपलब्ध हैं; तो वादी छन्द 'हेरफेर' वालेका नाम मानकर क्यों अव्यवस्था पैदा करता है? इससे उसकी वेदसंहिताएँ भी 'हेरफेरवाली' सिद्ध होनेसे (जो वस्तुतः वैसी हैं भी) उसीके अनुसार शाखाएं सिद्ध हो गई। हैं भी तो वे शाकल्य, माध्यन्दिनी, कौथुम, शौनकी शाखाएं। यह वादी प्रतिवादी उभय-सम्मत है। इस सूत्रके 'छन्दसि' का अर्थ वादीके स्वामीने 'वेद-विषये' लिखा है, उसके उदाहरण स्वामीने अकरत्, अमरत्, अदरत्, अरुहत् दिये हैं। वादी बतावे कि-यह सारे इसी रूपमें उसकी किस वेद-पोथीमें मिले हैं? यदि नहीं मिले; तो स्पष्ट ही वेदकी सीमा चार पोथियों से बढ़कर ११३१ संहिता और उतने ही ब्राह्मणोंमें जा पड़ी। उनमें बहुत से लुप्त एवं अनुपलब्ध हैं, उन्हींमें उनका अनुमान किया जा सकता है।

(ख) आगे- वादीने 'व्यत्ययो बहुलम्' (३।१।८५) इस छान्दस-

सूत्रको जान-बूझकर छोड़ दिया। उसके भगवान्ने अपने भाष्यमें 'छन्द' केलिए लिखा है—'व्याकरणशास्त्रके कर्ता भगवान् पाणिनि वेदमें सुप्-तिङ् आदिका व्यत्यय मानते हैं'। यहां स्वामीने 'छन्दसि' का अर्थ 'वेद' कहा है। स्वामीने उस वेदके 'भरति, शुभितम्, मधोस्तृप्ता इवासते, श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन, प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति' यह जो उदाहरण दिये हैं, ऋभाभू. (पृ. ४०७) में भी स्वामीने इस सूत्रकेलिए लिखा है—'वेदोंमें व्यत्यय होता है'। तव स्वामीसे दिये हुए उदाहरण वेदके हुए, यह सिद्ध हुआ। अब बताया जाय—यह इन वादीकी चार वेदपोथियोंमें किसमें हैं? यदि इनमें नहीं; तो या तो स्वा.द.जी वादीके अनुसार 'अद्वितीय वेदद्रष्टा' न होकर भ्रान्त एवं अनाप्त सिद्ध हुए: और उनसे सञ्चालित तथा उनके मतको माननेवाला आर्यसमाज भी भ्रान्त सिद्ध हुआ।

यदि विपक्षीके अनुसार उक्त सूत्रमें अनुवृत्त 'छन्दः' शब्द हेरफेर वाली शाखाओंका नाम है; तो स्मरण रहे कि—वादीके स्वामीने यहां 'छन्दः'-का अर्थ 'वेद' किया है; तव क्या स्वामी शाखाओंको भी 'वेद' मानते थे; जो कि यहाँपर उन्होंने 'वेद' शब्द लिखा? यदि हां; तो ११३१ शाखाएं तथा ब्राह्मण यह वेद सिद्ध हो ही गये; इससे वादीके 'अद्वितीय वेदद्रष्टा' ने स०ध० के पक्षको विजयी घोषित कर दिया; और वे उदाहरण अनुपलब्ध संहिताओं वा ब्राह्मणोंमें सिद्ध हुए।

'सत्यमेव जयते नानृतम्' (३।१।६) मुण्डकोपनिषद्के इस वचनमें भी 'जयते' में उक्त वैदिक सूत्रसे ही व्यत्ययवश आत्मनेपद हुआ है। 'उप त्वा नेष्ये' (४।४।५) इस छान्दोग्योपनिषद्के वचनमें भी 'व्यवहिताश्च' (१।४।८२) यह वैदिकसूत्र प्रवृत्त हुआ है। अब ब्राह्मण-भागान्तर्गत उपनिषदें भी वेद सिद्ध होकर स.ध. के पक्षको विजय करानेवाली वनीं। विपक्षीका हवाई महल गिर गया।

(ग) वादी आगे ३।१।१२३ सूत्रके 'छन्दसि' जिसका स्वा.द.जीने अपने अष्टाध्यायीभाष्यमें 'वेदविषये' अर्थ लिखा है—के 'निष्टर्क्यं' आदि

उदाहरणोंको ब्राह्मण-ग्रन्थोंके बताता है। स्वामीजीने जब यहां 'छन्दः' अर्थ 'वेद' लिखा है--और उसका वादीने उदाहरण ब्राह्मणभागका बताया; तब तो ब्राह्मण भी वेद सिद्ध हुआ। नहीं तो 'वेदके अद्वितीय द्रष्टा' क्या इतना भी पता नहीं था कि—'मैं 'छन्द' का अपने चेले (वै.ना.) विरुद्ध 'वेद' अर्थ कर रहा हूं; फिर उसका उदाहरण 'ब्राह्मणभाग'से देता हूं'? स्वामी इससे यह सूचित कर रहे हैं कि-मुझे वेदका थोड़ा ज्ञान है, पूर्ण नहीं। मुझे इन चेलोंने अपनी दुकानदारी खड़ी रखनेके बलात् अद्वितीय वेदद्रष्टा—'ठोक पीटकर वैद्यराज' बना दिया है'।

वस्तुतः वादी, हमारे इस विपक्षीने इन बातोंको खोल वा खुलवा अपने 'भगवान्' एवं महर्षि की 'लुटिया ही डुबो' दी। ठीक ही है कि 'पण्डितोपि वरं शत्रुर्न मूर्खो हितकारकः'। अब वादीने कई आर्यसमाजियोंको वेदके विषयमें 'त्रिशङ्कु' ही बना दिया। समस्त ... और ब्राह्मणोंको वैदिक साहित्य बताकर वादीने उन्हें सनातनधर्म ... का मार्ग दिखला दिया, और अपने स्वामीको पूरा भ्रान्त ... दिया।

आप लोग ब्राह्मणको वेदका भाष्य बताते हैं; अब आप कहिये कि मूलवेदमें ऐसा कौनसा शब्द है, जिसका ब्राह्मणमें 'निष्टर्क्यं' यह अनुक... भूत शब्द है? सब ब्राह्मणोंके उदाहरणोंके बीचमें छिपे पड़े 'आपृच्छ...' इस छान्दस प्रयोगको वादी मूल-ऋग्वेदका बताता है; इसीसे ... पक्ष कट गया; और 'छन्द' यह 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इस स... सिद्धान्तको सिद्ध करनेवाला बन गया। 'छन्द' वादी शाखाका ... बताता है, सो ऋसं. भी शाखा सिद्ध हो गई, वह है भी शाकल्य ... ही; इसे निरुक्तकारने (६।२८।३ में) बताया था; अजमेरी वैदिक यन्त्रालयमें प्रकाशित निरुक्तकी टिप्पणी भी इसमें साक्षी है; जहां लिखा है—'वा यो। इति शाकल्यः' (पृ. ८४)।

... ब्राह्मणको वादी छन्द नहीं मानता था, वह भी अब छन्द (...

सिद्ध हो गया। इस सूत्रके उदाहरण ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, शाखा-संहिता आदिके हैं। कुछ 'उच्छिष्य:, ध्वर्य:, खन्य:, खान्य:, प्रतिषीव्य:' आदि लुप्त संहिता वा ब्राह्मणोंके हैं। सो यह उपलब्ध-अनुपलब्ध शाखा-ब्राह्मणादि सारा साहित्य वेद सिद्ध हो जानेसे स० ध० का पक्ष परिपुष्ट हो गया।

इससे पूर्व ३।१।८६ सूत्रको विपक्षीने छिपा दिया है। इसके 'छन्दसि' का अर्थ स्वामीने लिखा है—'वैदिक-प्रयोगविषये'। इसके वैदिक उदाहरण स्वामीने दिये हैं—'उपस्थेयं वृषभं तुग्रियाणाम्' 'यज्ञेन प्रतिष्ठायां गमेयम्,' व्रतं चरिष्यामि तत् शकेयम्'। यह सब वादीके वेदमें अनुपलब्ध हैं। इससे स्पष्ट है कि—पूर्ण वेद अभी उपलब्ध नहीं। ११३१ संहिता, उतने ही ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदादि सारा साहित्य मिलकर पूर्ण वेद है।

'बहुलं तणि' (वा. ३।२।८) 'तणि' शब्द 'वेद' के अर्थमें पारिभाषिक होता है। इस छन्द (वेद) का स्वामीने 'या ब्राह्मणी सुरापी भवति, नैनां देवा: पतिलोकं नयन्ति' यह अनुपलब्ध वैदिक उदाहरण दिया है। इससे स्पष्ट है कि—वेदकी सीमा प्रचलित चार पोथियां नहीं; क्योंकि वे अपूर्ण वेद हैं, इसका प्रमाण यह है कि—स्वा.द. से भी दिये हुए बहुतसे वैदिक उदाहरण उनमें नहीं मिलते; किन्तु उपलब्ध-अनुपलब्ध शाखा-ब्राह्मण-आरण्यक उपनिषदादि सारा साहित्य पूरे चार वेद हैं। इसी स० ध० के पक्षको वादी तथा वादीका आचार्य सिद्ध कर रहे हैं। उन्हें बधाई हो।

(घ) पूर्वसे आगे वादी लिखता है—'छन्दसि वनसन' (३।२।२७) में छन्दस् के सारे उदाहरण मूलवेदसे ही दिये गये हैं'। इस प्रकार ३।२।६३ से ६७ सूत्र तकमें भी सब मूलवेदसे ही उदाहरण मिलते हैं। इन सबसे सिद्ध हो रहा है कि—श्रीपाणिनिने 'छन्द' का अर्थ 'वेद' रखा है; और वेद, मन्त्र (११३१ शाखा) ब्राह्मण (ब्राह्मण, आरण्यक, उप-

निषदादि) उभयात्मक हैं। ६४ सूत्रमें दिया हुआ 'प्रष्ठवाट्' और ६५ सूत्रमें दिया हुआ 'पुरीष्यवाहन:' और ६७ वें सूत्रका 'कूपखा:' प्रयोग वादीकी वेदसंहितामें नहीं मिलते। इससे वादिसम्मत वेदसंहिताएं अपूर्ण-वेद सिद्ध हुईं। नहीं तो—यदि वे पूर्ण होते; तो उनमें यह वादीके ही मूलवेदके नामसे कहे हुए प्रयोग अवश्य मिलते। पर नहीं मिलते। नहीं तो वादी उनका स्थलनिर्देश बतावे।

३।२।६७ सूत्रका 'अब्जा:, गोजा:' यह वैदिक प्रयोग है। हम उनकी संहिताका एक और प्रयोग दिखलाते हैं, वह है—'तुरीयस्ते मनुष्यजा:' (ऋसं. १०।८५।४०, अथर्व. १४।२।३) इसमें मनुष्य-उपपद जन्धातु को विट्प्रत्यय होनेपर 'विड्वनो:' (६।४।४१) से जन्के 'न्' को 'आ' फिर सवर्णदीर्घ होकर और सु प्रत्यय होकर विसर्ग होकर 'मनुष्यजा:' यह एकवचनका वैदिक प्रयोग बना है; स्वा.द.जीने स.प्र.में इसको बहुवचनान्त कैसे बना दिया, जबकि इसका विशेषण 'तुरीय:' यह एकवचनान्त है। इसमें इससे अग्रिम मन्त्रकी भी साक्षी है, वहां 'अग्निर्मह्यमथो इमाम्' (ऋ. १०।८५।४१) में 'मह्यम्' को एकवचन है। 'तुरीय:' का अर्थ 'चौथा' है, उसका चौथेसे लेकर ग्यारह तक अर्थ करना कितना अशुद्ध है। इस मन्त्रका विवाहमें विनियोग है; देखो इसमें पारस्करगृह्यसूत्र (१।४।१६)। इसको नियोग अर्थमें लगाना यह स्वा.द.जीका वेदके गले पर छुरी फेरना है। इस विषयपर वादी अपने विचार व्यक्त करे कि—क्या उनने ठीक लिखा है? इस विषयमें हमने 'आलोक' (८) पृ. ५८०-५८९ में विचार किया है।

(ङ) फिर वादीका कहना है कि—'मन्त्रे श्वेतवह' (३।२।७१) में सब मूलवेदोंसे उदाहरण मिलते हैं। 'विजुपे छन्दसि' (३।२।७३) के प्रयोग ब्राह्मण-ग्रन्थके हैं' इन बातोंसे वादीका पक्ष अव्यवस्थित सिद्ध हो रहा है, और यह भी स्पष्ट हो रहा है कि—छन्द शाखाओं (जिसमें वादी की चार संहिताएं भी शामिल हैं; क्योंकि वे भी शाकल्य आदिकी

शाखाएं हैं--वह हम पूर्व बता आये हैं) तथा ब्राह्मणोंका नाम मिलकर है।

वादीने यहां यह कहा है कि—७१-७२ सूत्रमें 'मन्त्र' पदकी स्थिति होने पर भी ७३ वें सूत्रका 'छन्द' पद मन्त्र और छन्दस् की समानार्थकता का बाधक है' यह कहकर वादीने अपने 'अद्वितीय वेदद्रष्टा भगवान्' का कचूमर निकाल दिया है। स्वामीजी मन्त्र और छन्द को ऋभाभू. में पर्यायवाचक मानते हैं—यह हम पहले लिख चुके हैं।

उल्टा यह प्रश्न तो स्वा.द. पर हमारा था कि–यदि स्वामी 'द्वितीया ब्राह्मणे' (२।३।६०) में 'ब्राह्मणे' देखकर और फिर 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (२।३।६२) में छन्दसि देखकर और 'छन्दसि' का अर्थ वेद करके ब्राह्मणको वेदसे भिन्न मानते हैं (देखो उनकी ऋभाभू.), तब उसी नीतिसे 'मन्त्रे श्वेतवह' (३।२।७१) में 'मन्त्रे' होनेसे और 'विजुपे छन्दसि' (३।२।७३) में वेदवाचक 'छन्दः' होनेसे, (क्योंकि स्वा.द.जी छन्दका अर्थ मूलवेद मानते हैं, शाखावाचक नहीं मानते) फिर मन्त्रभाग भी वेद न रहेगा; वेदसे भिन्न हो जावेगा। स्वा.द.जी इसका प्रत्युत्तर त्रिकालमें भी नहीं दे सकते थे; पर इस वादीने अपने 'अद्वितीय वेदद्रष्टा' से विरुद्ध यहां 'छन्दः' का 'ब्राह्मण' अर्थ करके स्वा.द.जीको तो भ्रान्त सिद्ध कर ही दिया; अपने पक्षका भी खण्डन कर दिया है। वह 'छन्दः' को ब्राह्मणवाचक नहीं मानता था, अब उसने यहां उसका ब्राह्मण अर्थ कर दिया, कभी 'छन्दः' का शाखा अर्थ कर देता है, कभी मूलवेद। यह उसके पक्षकी अव्यवस्थितता है। 'छन्दः' सदा 'वेद' का ही नाम होता है; तब 'छन्दः' से शाखा वा ब्राह्मण लेकर उसने शाखा-ब्राह्मणको भी वेद सिद्ध कर दिया। इससे बढ़कर उसके पक्षकी क्या पराजय होगी ? स्वा.द.जी ने 'छन्दसि' से यहाँ शाखाएँ ली हैं; उनका उदाहरण 'उपयक्' कहीं नहीं मिला। 'उपयड्भ्यः' शतपथब्रा. (३।८।३।१८) में मिला है; तब क्या ब्राह्मणभागको भी वेदशाखाओंमें कभी किसीने गिना है ?

यदि वादी हमसे प्रश्न करे कि—आप यहां 'मन्त्र और... भिन्न-भिन्नता दीखनेसे समानार्थकतामें बाधन प्रसक्त होने... समाधान करते हैं; तब वादी इस पर हमारा समाधान सुने— तो सभी ११३१ शाखाएं जिससे वादीकी इष्ट चार संहिताएं ... जाती हैं; और 'छन्द' से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों गृहीत हो... यदि 'मन्त्रे' की अनुवृत्ति रखते; तो ब्राह्मणमें कार्य न होता, दोनोंमें कार्य हो जायगा; क्योंकि–छन्दसे दोनों गृहीत होते हैं, यह समुदायवाचक शब्द है। यदि यहां 'छन्दसि' के स्थान 'ब्राह्मणे'... तो 'विजुपे छन्दसि' वाला कार्य मन्त्रभागमें बाधित हो जाता... 'उपयट्' प्रयोग न बन सकता; पर अब 'छन्दसि' रखने से ... ब्राह्मण दोनोंमें हो जाता है। यदि वादी कहे कि—'उपयट्' ... भागसे दिखलाओ; तो इस पर हमारा उत्तर यह है कि— सारी ११३१ संहिताएं आ जाती हैं, जिनमें १०-१२ उपलब्ध... अनुपलब्ध हैं। यदि उक्त प्रयोग उपलब्ध संहिताओंमें नहीं ... उनका अनुपलब्धोंमें अनुमान कर लेना चाहिये। पर वादी तो ... को पूर्ण उपलब्ध मानता है, उनमें न्यूनाधिकता भी नहीं मानता... वेदके नामसे यास्क, पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलिसे दिया हुआ... वादीके वेदमें न मिलकर उपलब्ध शाखाओं वा ब्राह्मणोंमें मिल... उनको वेद सिद्ध करनेवाला तो होगा ही, उनमें यदि न... अनुपलब्ध शाखा-ब्राह्मणोंमें उनका अनुमान कर लेना पड़ेगा; ... भी वेदता सिद्ध होगी।

नहीं तो वादीकी भ्रान्त धारणाके अनुसार 'मन्त्रे सोमाश्व...' (... १३१) में 'मन्त्रे' का ग्रहण है; और 'ऋचि तुनुघ' (६।३।...) 'ऋचि' का ग्रहण है; तब क्या वादी ऋग्वेदको मन्त्रभाग ... हेरफेर वाली शाखा मान लेगा ? ऐसा हो तो उसे बधाई हो। ... यहां मन्त्रभागका ही विशेष ऋग्वेद को माने; वैसे ही 'मन्त्रे'...

में भी मन्त्रका शेष ब्राह्मण मान ले। वेद दोनों ही हुए। 'विजुपे छन्दसि' (३।२।७३) के लिए स्वा.द.जीने 'आख्यातिक' में लिखा है—'यहां छन्दोग्रहण ब्राह्मणविषयकेलिए भी है' (पृ. ३५) यहां कहे हुए 'भी' शब्द से 'मन्त्रभाग' भी उन्हें इष्ट है, यह स्पष्ट है।

(च) पृ. ८८ आगे 'छन्दः, मन्त्र और ब्राह्मणकी भिन्नार्थकताको बताता हुआ वादी लिखता है—'आतो मनिन्' ३।२।७४) में 'विजुपे छन्दसि' (३।२।७३) से 'छन्दः' की अनुवृत्ति है। उदाहरण मूलवेद और शाखाओंसे दिये गये हैं'। यहां वादी अपने पक्षका आप खण्डन कर रहा है; क्योंकि—वह पक्ष निराधार तथा अव्यवस्थित एवं निर्मूल है। पृ. ८७ में ३।२।७३ सूत्रके 'छन्दः' का अर्थ वह केवल ब्राह्मणभाग करता है, स्वा.द. भी 'आख्यातिक' में यही लिख चुके हैं, क्योंकि—वह 'मन्त्रे' (३।२।७१) से भिन्न है। उसी ७३ से अनुवृत्त हुए 'छन्दः' का ७४ सूत्रमें भी वही अर्थ होगा, जो ७३ में हुआ है; उससे भिन्न अर्थ कदापि नहीं हो सकता। ७३ सूत्रमें 'छन्दः' का अर्थ जब उसने 'ब्राह्मण' किया था, तो ७४ सूत्रमें उसीका 'मूलवेद और शाखा' अर्थ कैसे हो गया? इससे स्पष्ट है कि-वादीके मतानुसार भी 'छन्दः' शब्द 'वेद' वाचक है, चाहे वह अपने निर्मूल पक्षके बचावके लिए 'छन्दः' का अर्थ भले ही बदले। विद्वान् तो इस चालको जान ही जाते हैं; पर व्याकरणमें प्रवेश न रखने वाले अविद्वान् आर्यसमाजी इन बातोंको न समझकर उक्त पुस्तकके प्रणेता पर रीझे हुए हैं। ज्ञान न होनेसे वे इस प्रणेता द्वारा स्वा.द.के अभिमतकी धज्जियां उडाने पर भी कुछ समझते नहीं। स्वा.द.जीने इसी ७४ छान्दस सूत्रके 'सुधीवा, सुपीवा, अन्नदावा, घृतपाः' यह उदाहरण दिये हैं; वादी इन्हें मूलसंहिताके पूर्व कह चुका है। अब वह बतावे कि—यह प्रयोग उसकी मूलवेदसंहिताके किस स्थलमें हैं? यदि न बता सका; तो शाखाओंको भी उन्हें फिर मूलवेद मान लेना पड़ेगा? अथवा—यदि स्वा.द.के अष्टाध्यायी-भाष्यके अनुसार यहाँ 'छन्दः' का अर्थ 'शाखा' है;

तो इसी सूत्रका उदाहरण 'सुदामा' (ऋ. ६।२०।७) यह भी वादीकी संहिताको शाकल्यशाखा सिद्ध करनेवाला बन गया। क्योंकि—वह है भी शाकल्य शाखा ही; इसे वैदिकप्रेसके निरुक्तकी टिप्पणीमें भी माना गया है। और शाखा भी वेद सिद्ध हो गई।

(२२) आगे वादी ३।२।८८ के 'छन्दस्' के उदाहरण छान्दोग्योपनिषद्' से बताता है। उसे बधाई हो; अब उपनिषद् भी वेद सिद्ध हो गये। क्योंकि—स्वा.द.जीने यहाँ 'छन्दसि' का अर्थ 'वेदविषये' लिखा है। ऋभाभू. (पृ. ४०६) में भी इस सूत्रकेलिए स्वामीने लिखा है—'अनेन क्विप् प्रत्ययो वेदेषु बहुलं विधीयते-मातृहा'। क्या तथाकथित वादीके 'अद्वितीय वेदद्रष्टा भगवान्' को इतना ज्ञान भी नहीं था कि—मैं जब इस सूत्रके 'छन्द' का अर्थ 'वेद' कर रहा हूं; और उसमें उदाहरण दे रहा हूं—उपनिषद्का; इससे तो उपनिषद् भी वेद हो जावेंगे! इससे प्रतीत होता है कि—वादीके अनुसार वादीके ऋषि 'वेदके अद्वितीय द्रष्टा' नहीं थे, वे तो आजकलके उनके अष्टाध्यायीभाष्यके टिप्पणीकर्तासे भी अत्यल्प ज्ञान रखते थे।

अथवा यदि वेदमें वादीके ऋषिको ३।२।८८ सूत्रका उदाहरण नहीं मिला, अतएव उपनिषद्से उनने उदाहरण दिया है; तो इससे स्पष्ट सिद्ध हो गया कि—**उनके वेद अपूर्ण हैं,** ११३१ मन्त्रसंहिता, उतने ही ब्राह्मण, उपनिषद्, आरण्यक मिलकर पूर्ण वेद बनते हैं, जैसे कि-स० ध० का सिद्धान्त है। यदि यह स० ध० का पक्ष मान लिया गया; तो आर्यसमाज उड जायगा, और अव्यवस्था भी हट जायगी। फिर स० ध० का साम्राज्य छा जावेगा। यह विपक्षीको अपने सम्प्रदायके पक्षपातसे कलुषित हुई उसकी बुद्धि उसे कुछ सोचने नहीं देती। उसने यह सारा हवाई महल स्वामी ब्रह्ममुनिके 'सार्वदेशिक' में प्रकाशित निर्मूल पक्षके सहारे बनाया है; जिसका हम 'आलोक' के गत पुष्पोंमें भली भाँति निराकरण कर चुके हैं। हम आर्यसमाजको बधाई देते हैं कि—उसने

स्वा.द.जीकी वा अपनी 'जुटिया डुबोने वाले' को रखकर स० ध० का बहुत लाभ किया है।

(ख) आगे वादी 'छन्दसि लिट्' (३।२।१०५-१०६) सूत्रके सभी उदाहरण मूलवेदसंहिताके बताता है। इसका भाव यह हुआ कि—यहां 'छन्दः' का अर्थ 'मूलवेद' है और कुछ नहीं। ऋभाभू. (पृ. ४०६) में भी स्वा.द.ने इस 'छन्दसि' के लिए लिखा है—'वेदेषु' सामान्यभूते लिड् विधीयते'। लिट्कार वेदोंमें सामान्यभूतकालमें आया है—'अहं द्यावा-पृथिवी आततान'। वादी तो 'छन्दः' यह अनित्य आनुपूर्वीवाली शाखाओंको भाष्यके प्रमाणसे 'छन्द' मानता था; उसने ऐसा कुछ भी भाष्यका प्रमाण नहीं दिया, जहाँ 'छन्द' की आनुपूर्वी नित्य बताई गई हो। उसे अब भी चैलेञ्ज है कि—ऐसा भाष्यका प्रमाण दे; जहां 'छन्दः' शब्द भाष्यने रखकर उसकी वर्णानुपूर्वी नित्य बताई हो; तब 'छन्दः' से मूलवेदसंहिता अर्थ करना उसका कट गया। वादी भी अपनी मर्जीसे कभी 'छन्दः' का अर्थ मूलवेद कर देता है, कभी 'छन्दः' का अर्थ 'शाखा' कर देता है, और कभी 'छन्दः' का अर्थ ब्राह्मण कर देता है, और कभी उपनिषद्। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि—उसके पक्षमें 'दालमें काला' है; वह यही कि—'छन्दः' शब्द वेदवाचक है; और वेद 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' मन्त्र-ब्राह्मण दोनों का नाम है, मन्त्रसे सभी ११३१ शाखा, और ब्राह्मणसे सभी उतने ही ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् गृहीत होते हैं, यह स०ध० का पक्ष है, इसके अवलम्बनसे कभी कोई अव्यवस्था नहीं हो सकती। पक्ष तो वादीने अब भी छिपे-छिपे स०ध०का ही ले रखा है, पर स्पष्ट कहते हुए 'अपनी किरकिरी' के डरसे कभी वह कुछ कह देता है कभी कुछ। पर इससे उसके पक्षकी अव्यवस्थितता बनी ही रहेगी। अस्तु।

जब वादी उक्त सूत्रमें 'छन्दः' का अर्थ 'मूलवेद' मानता है, और स्वा.द.जी भी यहां तथा ऋभाभू. में 'छन्दसि-वेदविषये' यही अर्थ लिख गये हैं। इसका उदाहरण स्वा.द.जीने 'अहं द्यावापृथिवी आततान' भी

दिया है; अब वादी लंगोटा बांधकर अपने चार संहिताओंरूपी [illegible] घुसे; और बतावे कि—'अहं...आततान' वाला मन्त्र उसकी किस [illegible] वा स्थलका है? यदि वह कहे कि—किसी अनुपलब्ध-संहिताका [illegible] भूमण्डलभरके आर्यसमाजी जान रखें कि—इससे सभी लुप्तसंहिता [illegible] वेद बन गईं।

(ग) इसके साथके 'क्वसुश्च' (३।२।१०७) में भी वही [illegible] अनुवृत्त है, जिसका अर्थ विपक्षीने 'मूलवेदसंहिता' बताया था, तथा [illegible] आचार्यने भी। स्वामीने ऋभाभू. (पृ. ४०७) में भी लिखा है—[illegible] लिट्लकारके स्थानमें क्वसु होता है। इसके 'आततान' आदि [illegible] बनते हैं। अब उनके 'पेठिवान्', जग्मिवान्, जघ्निवान्, [illegible] आततान' आदि को वादी अपनी मूलसंहिताओंसे दिखलावे—[illegible] प्रेरणा है। नहीं तो उसे लुप्त शाखा-ब्राह्मणोंको भी वेद मानना [illegible]

(घ) 'एेश्छन्दसि' (३।२।१३७) में स्वा.द.जीने 'छन्दसि-वेदे' [illegible] लिखा है, इसके उदाहरण 'भावयिष्णु, कारयिष्णु, धारयिष्णु' [illegible] अपने वेदसे दिखलावे, नहीं तो 'धारयिष्णुः' (१२।२।७) को प्रयुक्त [illegible] वाले शाङ्खायन आरण्यकको भी वेद माने। वादीने इसे छिपा लिया [illegible] इसीके आगे वार्तिकमें यही 'छन्दसि' है, उसका उदाहरण 'दङ्क्ष्णवः' [illegible] यह स्वामीने दिया है, वादी इसे अपने मूलवेदसे दिखलावे।

(ङ) ३।२।१७० में 'छन्दस्' का उदाहरण वादी मूलसंहिता [illegible] गया बताता है। इसका यह भाव हुआ कि—यहाँ 'छन्दः' का [illegible] वेद है। ऋभाभू. (पृ. ४०७) में स्वामीने इसका उदाहरण [illegible] दिया है। वादी इसे अपनी मूलवेदसंहितासे दिखावे। यदि नहीं [illegible] तब शाखा-ब्राह्मण भी वेद सिद्ध हो गये। ३।२।१७१ के वार्तिक [illegible] 'छन्दसि' है, जिसका वादीने मूलसंहिता अर्थ किया है। स्वा.द.जी [illegible] 'छन्दसि वेदे' यह अर्थ किया है, तब उसके उदाहरण स्वा.द.जीने [illegible] संहिता तथा ब्राह्मण वा आरण्यक 'सेदिः' (शत. ७।३।१।३) [illegible]

रण्यक (४।२२।१) से क्यों दिये ? इससे यह सिद्धान्त स्पष्ट हो रहा है कि—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'। इससे वादीका पक्ष स्वयं खंडित हो रहा है, और अव्यवस्थित भी। कहीं कहता है—'छन्द' मूलवेदका नाम है। कहीं कहता है—हेरफेर वाले मन्त्रभागका नाम 'छन्द' है। कभी कहता है—'छन्दः' ब्राह्मणका नाम है। क्या इससे सभी ११३१ शाखा तथा ब्राह्मण वेद सिद्ध नहीं हो रहे ? कभी लिखता है कि—'छन्दः' ब्राह्मणका नाम नहीं होता। कहीं 'छन्दः' के उदाहरण ब्राह्मण तथा आरण्यक, उपनिषद्के दे रहा होता है। इससे उसका वेदसिद्धान्तविषयक पक्ष जहां अव्यवस्थित है, वहाँ आर्यसमाजके पक्षको डुबानेवाला भी सिद्ध हो रहा है। स० ध० के पक्षका जिसकी जड़ें पाताल तक फैली हुई हैं—का काटना कोई सरल काम नहीं हैं। 'सत्य' का कभी खण्डन नहीं हो सकता, वादीकी तथाकथित मूलसंहिताएं भी शाकल, माध्यन्दिनी, कौथुमी शौनकी शाखाएँ ही तो हैं।

(च) वादीके 'अद्वितीय वेदद्रष्टा भगवान्' ने 'उत्सर्गः छन्दसि' (३।२।१७१) इस वार्तिकके 'छन्दसि' का अर्थ 'वेदे' किया है—'सदादिधातुभ्यो वेदेषु किकिनौ दृश्येते' इसका उदाहरण वादीके 'भगवान्' ने "सेदिः' यह प्रथमान्त दिया है। जब स्वामी भिन्न विभक्ति का वैदिक उदाहरण देते हैं; तो उस मन्त्रका साथका अंश भी लिखते हैं। अब वादी इस प्रथमान्त 'सेदिः' को अपने वेदसे दिखलावे। यदि यह उसे शतपथ (७।३।१।२३ तथा तै. आ. ४।२२।१) का कहे; तो उन्हें भी वेद मान ले। तब यह स० ध० के पक्षकी ही सिद्धि है। ऋभाभू. (पृ. ४११) में ३।४।१३ सूत्रकेलिए स्वा.द.ने लिखा है—'ईश्वरशब्दे उपपदे वेदे तोसुन्कसुनौ भवतः, ईश्वरोऽभिचरितोः'। 'ईश्वरो विलिखः' अब वादी इन वेदोंके उदाहरणोंको अपने वेदमें दिखलावे। ३।४।१४ पर स्वामीने वहीं लिखा है—'वेदविषये तवै एते प्रत्यया भवन्ति' 'ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै' (अष्टा. भा.) 'नावगाहे' 'दिदृक्षेण्यः, शुश्रूषेण्यः' यह उदाहरण

वादी वेदसे दिखलावे। नहीं तो उपलब्ध-अनुपलब्ध शाखा एवं ब्राह्मणों को वादी वेद मान ले। ऋभाभू. पृ. ४१२ में स्वामीने लिखा है—'इतः सूत्रादारभ्य' (४।४।११०) (चतुर्थ) पादपर्यन्तानि वेद-विषयकाणि सूत्राणि सन्ति' तब क्या वादी प्रतिज्ञा कर सकता है कि—उन सूत्रोंके उदाहरण उसके मूलवेदके हैं ? यदि नहीं तो स० ध० का पक्ष सिद्ध हो गया।

(छ) आगे वादी 'वृषंप' (३।३।९६) के सारे उदाहरण मूलसंहिता के बताता है। स्वा.द.जोने भी लिखा है—'वैदिकप्रयोगविषये'। सो उनसे उदाहृत किये गये 'वित्तिः, भूतिः' इन उदात्त क्तिन् वाले प्रयोगोंको वादी अपनी मूलसंहितासे दिखलावे। यदि उनमें न दिखला सके; तो केवल यही चार पोथियां मन्त्रभाग या मूलवेद कहते हुए विपक्षीका पक्ष कट गया। यह सीमा अब ११३१ संहिताओं पर जा पड़ी। अथवा यदि उसकी संहिताओंमें स्वरका हेरफेर माने; तो वह भी तदनुसार शाखा हो गई, और हैं भी सही। क्योंकि—आम्नायमें वादी स्वरको नित्य मानता है। पाणिनिने वेदको देखकर ही तो उक्त सूत्र बनाया; इससे वेदकी सीमा ११३१ शाखाओं तथा आरण्यक, एवं ब्राह्मणों-उपनिषदों पर जा पड़ी।

(२३) आगे 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (३।४।६) सूत्रसे १७ तकके सूत्रोंके तथा ११७ सूत्रके 'छन्दस्' के उदाहरण वादी अधिकतया ब्राह्मण-भागके और सामान्यतया अन्य वैदिक साहित्यके मानता है। यह कहकर क्या वह 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इस स० ध० के पक्षको सिद्ध नहीं कर रहा ? क्या उसे इतना भी ज्ञान नहीं कि—जबकि अष्टाध्यायीके वैदिकसूत्रोंमें 'छन्दस्' १०९ बार प्रयुक्त है, और श्रीपाणिनि उनसे वेदके प्रयोग सिद्ध कर रहे हैं, और उस वेदके पर्याय 'छन्दः' में मन्त्र (सभी ११३१ शाखा) ब्राह्मण (सभी आरण्यक, उपनिषद् ब्राह्मणादि) आ गये हैं—उदाहृत किये गये हैं, इससे यह सारा साहित्य वेद सिद्ध है; तब

केवल यही 'चार पोथियां ही वेद हैं, अन्य संहिता, ब्राह्मण आदि वेद नहीं' यह कहते हुए विपक्षी तथा उसके समाजका मुखमर्दन क्या श्रीपाणिनि-पतञ्जलि, यास्क आदिने नहीं कर रखा ? 'छन्दसि लुङ्लङ्' सूत्रकेलिए ऋभाभू. में (पृ. ४०८-४०९) में स्वा.द.ने 'छन्दसि' का अर्थ 'वेद-विषये' लिखा है। और लिखा है—'वेदोंमें लुङ् लङ् लिट् लकार सब कालोंमें होते हैं'। अब वादी स्वामीसे लिखे हुए 'अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः' और 'अद्य ममार' इन उदाहरणोंको वेदमें दिखलावे। स्वामीने यहाँ 'छन्दः' का अर्थ 'शाखा वा ब्राह्मण' नहीं किया। यदि न दिखला सका; और वे किसी शाखा वा ब्राह्मणमें मिले; तो वे वेद सिद्ध हो गये। वादीका पक्ष उसके स्वामी द्वारा कट गया। इसी प्रकार वहीं स्वा.द.जीने ३।४।८ सूत्र के लिए ऋभाभू. में लिखा हैं—'आशङ्कायां वेदेषु लेट् प्रत्ययो भवति' 'नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम' इस उदाहरणको अपने वेदसे दिखलावे। यदि न दिखला सका; तब उसका पक्ष मिथ्या सिद्ध हो गया। वहीं स्वामीने लिखा है—'मिथ्याचरणेन नरकपात आशङ्क्यते' अब वादी नरकपातकेलिए तैयार रहे'।

वादी जहां 'वेद' शब्द आवे; वहाँ तो 'मूलसंहिता' अर्थ करता है, जहाँ 'वैदिक' शब्द आवे; तो वहाँ सभी शाखा-ब्राह्मणको लेता है—यह भी उसके पक्षकी निर्मूलता है। 'वैदिक' में भी 'वेद' शब्द ही है; अन्य नहीं। तब क्या वादी वेदको सभी शाखा-ब्राह्मण वाचक मानता हैं ? ऐसा है; तो उसने स० ध० का पक्ष सिद्ध कर दिया। स्वा.द.जीने 'मन्त्रे' (३।३।९६) का 'वैदिक-प्रयोगविषये' यह अर्थ किया है; तब क्या वादी इस 'मन्त्र' की व्याख्या 'वैदिक' से सारा शाखा-साहित्य ले लेगा ? यदि ऐसा हो; तो अपने 'वैदिक धर्म' की जय करे। उसके धर्मका नाम 'मन्त्रधर्म' नहीं है, किन्तु 'वैदिक-धर्म' है। इसी 'वैदिक धर्म' शब्दसे स० ध० की सिद्धि स्वतः हो गई। यदि वह इस पक्षको नहीं मानता; तो 'आर्य-समाज' का 'वैदिक धर्म' छुड़वाकर 'मन्त्रधर्म' नाम रखवावे। अष्टाध्यायी

के 'मन्त्रे' वाले केवल ८ सूत्र तथा उनसे निष्पन्न ८-१० प्रयोगों वाले मन्त्र अपने माने, 'छन्दसि' वाले सारे १०९ सूत्रोंको छोड़ दे। 'छन्द' से समाम्नात सारे निघण्टु-निरुक्तको छोड़ दे।

(२४) ३।२।१७० में 'अघायुरिन्द्रियारामो' में समाधानार्थ स्वामीने लिखा है—'छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति' सो यहां वादी क्या यह अर्थ करेगा कि—'शाखावत् कवयः कुर्वन्ति' ? स्पष्ट है कि—'छन्द' यह वेदका नाम है। वेदमें मन्त्र-ब्राह्मण दोनों आ जाते हैं। स्वा.द.जीने यह समाधान इसलिए किया मालूम देता है कि—वैदिक प्रयोग लोकमें सामान्यतया नहीं हुआ करते; अतः गीताके 'अघायु' शब्दका समाधान कर दिया जावे।

वस्तुतः गीताका यह प्रयोग वैदिक नहीं है, जिससे समाधान करनेका प्रयास किया जावे। स्वामी ब्रह्ममुनिने भी 'सार्वदेशिक' में अपने लेखमें व्यर्थ ही इसे 'लोकमें वैदिक प्रयोग' बताया था। क्योंकि—यहाँ 'छन्दसि परेच्छायां क्यच उपसंख्यानम्' यह परेच्छाका वैदिक अर्थ गीतामें समन्वित नहीं मिलता। इसलिए स्वामी शङ्कराचार्यने अपने भाष्यमें 'अघायुः' 'परस्य अघम् इच्छति' इस वैदिक-अर्थके गीतामें न दीखनेसे 'अघं-पापम् आयुः-जीवनं यस्य सः' यह अर्थ किया है। यह है भी ठीक, क्योंकि प्राकरणिक है।

यदि वादी 'छन्द' का अर्थ 'वेद-व्याख्यान' माने; तो उसे सभी शाखाओंमें स्थित छान्दस-पदोंका पहला रूप, शेष पूरा मन्त्रसादृश्य अपनी मूलसंहिताओंसे दिखाना पड़ेगा; पर यह उसके लिए 'मृगमरीचिका' सिद्ध होगा, तब हारकर उसे इस अपने अशुद्ध अर्थको काटना पड़ेगा। जो कि वादी निष्कर्षमें गिरता है—'पाणिनीय अष्टकमें 'मन्त्र' का प्रयोग केवल मूलसंहितासे है' यह उसकी गलत बात है, नहीं तो 'मन्त्रे' वाले स्वा.द. तथा दीक्षित एवं काशिकाकार आदिसे दिखलाये हुए सभी पदोंको वह अपनी मूलसंहितासे दिखलावे।

'मन्त्रे' (३।२।७१) का 'श्वेतवा इन्द्र:' यह स्वा.द.से दिया हुआ प्रयोग, 'मन्त्रे' (२।४।८०) का 'अज्ञत' प्रयोग अपनी मूलसंहितासे दिखलावे, शेष पीछे दिखलाये जावेंगे। यदि वह अपने मूलवेदसे न दिखला सका; तो उसे ११३१ संहिताएँ 'मन्त्रे' से गृहीत होती हैं–यह मानना पड़ेगा। उसमें आर्यसमाजी पक्ष कट गया मानना पड़ेगा। सभी संहिताएँ अपने-अपने कुलके चार मूलवेद हैं; केवल तपस्यामें माध्यमके भेदसे मन्त्रोंका शब्दभेद मानना पड़ेगा। यदि वे अन्य संहिताओंके व्याख्यान हैं, तब वादीकी ऋसं.के मन्त्रोंका जहां वादीकी यजुर्वेद सामवेद-अथर्ववेद संहिताओंमें थोड़े-से पर्यायवाचकोंसे भेद है, उनको भी 'मन्त्र' न मानकर वादी ऋसं. की शाखा माने; जो कि वह यहीं लिखता है—'छन्द:' का प्रयोग सम्पूर्ण वेद तथा वैदिक साहित्यकेलिए है। इससे भी मन्त्र (सभी शाखा) ब्राह्मण (उपनिषद् आरण्यक आदि) सभी छन्द (वेद) सिद्ध हो गये। वादीके स्वा.द.ने सर्वत्र 'छन्द' का अर्थ 'वेद' किया है, शाखा कहीं भी अर्थ नहीं किया; क्योंकि—वे स्वामी शाखाको छन्द कभी नहीं मानते वा कहते थे। ४१० पृ. ऋभाभू. में ३।४।९ सूत्रकेलिए कहा है—'एते पञ्चदशप्रत्यया वेदेष्वेव भवन्ति' तब स्वामीसे दिये 'वक्षे राय:' 'कर्मण्युपाचरध्यै, सोमस्य पातवै' आदि उदाहरणोंको वादी अपने वेदसे दिखलावे–यदि न दिखला सका; तो सभी उपलब्ध-अनुपलब्ध शाखा-ब्राह्मण वेद सिद्ध हो गये। अब देखिये ऋभाभू. (पृ. ४०८-४०९) में स्वा.द.ने 'छन्दसि' का (३।३।१३०) अर्थ शाखा न करके 'वेद' किया है। इसका उदाहरण दिया है—'और धातुओंसे भी वेदोंमें युच् प्रत्यय देखनेमें आता है, 'सुदोहनामकृणोद् ब्रह्मणे गाम्'। अब वादी अपनी मूलसंहिता से दिखलावे; अथवा फिर शाखा वा ब्राह्मणोंको स्पष्ट शब्दोंमें 'वेद' माने; अथवा अपने वेदोंको अपूर्ण माने, शाखा-ब्राह्मणों सभीसे वेदकी पूर्ति माने। पर वादी शाखाओंको छन्द मानता तथा कहता हैं; अब इन गुरु-चेलोंमें कौन सच्चा है, और कौन झूठा–यह वादी ही बतावे; वा

दोनों झूठे होंगे। वादीका पक्ष यद्यपि यह अपना तो नहीं है, केवल श्रीब्रह्ममुनि स्वामीकी जूठन ही उसने चाटी है, और ब्रह्ममुनिजीने श्रीभगवद्दत्त बी. ए. तथा जिज्ञासुजीकी जूठन बटोरी है; तथापि इन सबका पक्ष स्वा.द.से विरुद्ध है। स्वामीने 'छन्द' का अर्थ कहीं भी शाखा-ब्राह्मण वा हेरफेर वाला मन्त्र नहीं किया। तब यह दयानन्दी लोग दयानन्दजीके विरुद्ध अपनी ढाई पावकी जो अलग खिचड़ी बना रहे हैं, यह आर्यसमाजके प्रतिकूल है। आर्यसमाजका मत स्वा.द.का मत है। अतएव वै. ना., भ. द., ब्र. द., ब्र. मु. इन सबका पक्ष स्वस्वामिविरुद्ध मत रखनेसे छिन्न-भिन्न हो गया, यह वह दलदल है, जिसमें घुसकर इन प्रतिपक्षियोंका पक्ष सावित नहीं बचता।

(ख) 'अत: यह सारे पद [छन्द:, मन्त्र, निगम आदि] एकार्थक नहीं हैं, भिन्नार्थक हैं' (पृ. ८८) यह स्वा,द.जीके साम्प्रदायिक शिष्य 'दयानन्दसिद्धान्तप्रकाश' प्रणेता हमारे प्रतिपक्षीका निष्कर्ष है; अब इसी वादीके शब्दोंमें 'अद्वितीय वेदद्रष्टा, भगवान्' (पृ. १ से पृ. १४४ तक) महर्षि (पृ. १४५-१५४ तक) व्याकरणशास्त्रके उद्भट, प्रतिवादि-भयङ्कर और अद्वितीय विद्वान् (पृ. १५५), दयानन्दी आर्यसमाजके सञ्चालक श्री स्वामी दयानन्दजीका सिंहनाद भी वादी सुने, जिसे सुनकर वह डरकर भाग जायगा।

स्वा.द.जी ऋभाभू. में लिखते हैं—'छन्दो-वेद-निगम-मन्त्र-श्रुतीनां पर्यायवाचकत्वात्'। छन्दांसि-वेदा मन्त्राश्च-इति पर्यायौ'। श्रुतिर्वेदो-मन्त्रश्च इति पर्यायौ स्त:' (पृ. ७९) यहाँ वादीके तथाकथित 'अद्वितीय-वेदद्रष्टा' ने छन्द, वेद, और मन्त्रमें कुछ भी भेद नहीं माना; इन्हें पर्यायवाचक ही माना है।

आगे वादीके अनुसार 'भगवान्' (अर्थात् परमात्मा, क्योंकि–वादी 'भगवान्' का द.सि.प्र. पृ. २५१ पं. ८-९ में 'परमात्मा' अर्थ समझता है।

वादीका यह वाक्य है कि—'और स्वामी थे भगवान्‌के अनन्य भक्त और विश्वासी') इन छन्द-मन्त्र-वेद आदि पदोंमें भेद बतानेवाले जिस-किसीको अथवा वादीके अनुसार भविष्यद्-द्रष्टा वे स्वामी इसी अपने साम्प्रदायिक शिष्य-इसी वादीको डाँटते हुए लिखते हैं—

'यच्चोक्तम्—'छन्दो-मन्त्रयोर्भेदोस्ति; तदपि असङ्गतम्। कुतः? छन्दो-वेद-निगम-मन्त्र-श्रुतीनां पर्यायवाचकत्वात्'। (ऋभाभू. पृ. ७९) यहां आर्यसमाजियोंके अनुसार तथाकथित भविष्यद्-द्रष्टा ऋषिने संवत् २०१९ में छन्द और मन्त्रकी भिन्नता बतानेवाले 'दयानन्दसिद्धान्तप्रकाश' के प्रणेताको 'दयानन्दसिद्धान्तसंहार' का प्रणेता सिद्ध कर डाला। अपने तथाकथित 'अद्वितीय वेदद्रष्टा'को इस नवशिक्षित उसके साम्प्रदायिक चेलेने 'वेदानभिज्ञ' सिद्ध कर डाला, जिसका हमें भी दुःख होता है।

जो कि विपक्षीने **व्याकरणसे** छन्द और वेद, निगम, मन्त्र आदिका भेद सिद्ध करना चाहा है, और द०सि०प्र० के १५५ पृष्ठसे 'महर्षिकी अद्वितीय व्याकरण प्रतिभा' भी सिद्ध कर डाली है, विपक्षीके शब्दोंमें उन्हीं तथाकथित 'व्याकरणके सूर्य गुरुवर' विरजानन्दसे अष्टाध्यायी और महाभाष्यकी शिक्षा प्राप्त करने वाले तथाकथित 'व्याकरणके उद्भट और अद्वितीय विद्वान्' 'महर्षि' स्वा.द.जीका वादी छन्द और वेद एवं मन्त्रके विषयमें ऋभाभू. में किया हुआ सिंहनाद सुने, जिससे वह डर कर भाग जायगा—

'तथा व्याकरणेपि—'मन्त्रे घस...जनिभ्यो लेः' (अ० २।४।८०) 'छन्दसि लुङ्' (अ. ३।४।६) 'वा षपूर्वस्य निगमे' (अ. ६।४।९) अत्रापि छन्दो-मन्त्र-निगमाः पर्यायवाचिनः सन्ति। एवं छन्दआदीनां पर्यायसिद्धेर्यो [दायानन्दोऽस्मदनुयायी ब्रह्ममुनि-वैद्यनाथादिः] भेदं ब्रूते; तद्वचनम् अप्रमाणमेव अस्ति' (पृ. ८०)।

इसी बातको स्वा.द.जी (आर्यभाषामें) स्पष्ट करते हैं—'जैसे 'छन्द' और मन्त्र ये दोनों शब्द **एकार्थवाची अर्थात् संहिताओंके नाम हैं,** वैसे ही

निगम और श्रुति भी वेदोंके नाम हैं। वेदोंका नाम 'छन्द' इसलिए ... कि—वे स्वतन्त्र प्रमाण और सत्यविद्याओंसे परिपूर्ण हैं...वैसे **अष्टाध्यायी व्याकरणमें भी छन्द, मन्त्र, निगम–ये तीनों नाम** वेदोंके हैं। इसलिए जो [चाहे मेरे पक्षी दयानन्दी चेले हों, चाहे विपक्षी ... मूलर आदि] लोग इन [छन्द, मन्त्र, वेद आदि शब्दों] में भेद मानें, उनका वचन **प्रमाण करने योग्य नहीं'** (पृ. ८०-८१)। २।३।६२ के अष्टाध्यायी-भाष्यमें 'भाषा' का अर्थ स्वा.द.जी 'वेदाद् इतरग्रन्थेषु' ... हैं, अर्थात् वेदोंसे भिन्न ग्रन्थोंको वे 'भाषा' मानते हैं, सो स्वा.द.जी ... तथा ब्राह्मणोंको वेद नहीं मानते; अतः उनके मतमें यह ग्रन्थ भाषा ... उन्हें स्वा.द.जी वेदके पर्यायवाचक 'छन्द-निगम' आदि नहीं ... २।३।६२ सूत्रके अष्टाध्यायी-भाष्यमें भी स्वा.द.जीने लिखा है—'छ... **शब्देन मन्त्रभागस्य मूलवेदस्य ग्रहणं भवति'**। ऋभाभू. में स्वा.द.ने ... में व्याकरण-नियमोंमें सर्वत्र 'छन्दः' का अर्थ 'वेद' किया है, शाखा ... नही किया। अतः स्वा.द. से विरुद्ध 'छन्दः' का 'शाखा' अर्थ करता ... वादी खण्डित हो गया। इन वचनोंसे स्पष्ट है कि—स्वामीजी व्या... (अष्टाध्यायी-महाभाष्य आदि) में भी मन्त्र, छन्द, और निग... **पर्यायवाची मानते हैं; इनमें थोड़ा भी भेद नहीं मानते** अर्थात् वे छ... **शब्दको मूलवेदवाचक** मानते हैं, वेदसे भिन्नको 'भाषा' मानते है। ऋभा... (पृ. ४०८-४०९) में ३।३।१२९ के 'छन्दसि' का अर्थ 'गत्यर्थक धातु... वेदोंमें युच् होता है–'सूपसदनोग्निः'। स्वा.द.ने यहाँ 'छन्द-' का अर्थ ... किया है; विपक्षी उक्त प्रयोगको अपने वेदसे दिखलावे, वा अन्य शाखा ... वा ब्राह्मणको वेद माने।

अब विपक्षी बतावे कि—शाखाओं वा ब्राह्मणोंको स्वा.द.जी ... **अनुसार मूलवेदवाची 'छन्दः'** शब्दसे मान्य करता हुआ वह (विपक्षी) **व्याकरणका** 'अद्वितीय विद्वान्' है; या उसके तथाकथित महर्षि 'व्याकरण **के अद्वितीय** विद्वान्' हैं? यदि स्वा.द. व्याकरणके 'अद्वितीय विद्वान्' ...

तब उनसे विरुद्ध शाखाओंको छन्द (स्वा.द.जीके अनुसार मूलवेद) लिखता हुआ दयानन्दशिष्य व्याकरणविषयमें यदि अज्ञानी नहीं है; तो कृत्रिम निर्मूल एवं स्वा.द.जीसे विरुद्ध कल्पना करने वाला तो सिद्ध हो ही गया।

अथवा यदि वादी व्याकरण वा वेदविषयका विद्वान् है; तब स्वा.द.जी वेदानभिज्ञ तथा अष्टाध्यायी-महाभाष्यसे अनभिज्ञ तथा परस्पर-विरुद्ध बातें कहने वाले, अल्पज्ञ एवं अनाप्त सिद्ध हो गये। वादीने पृ. ८८ में 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' के छन्दके उदाहरण ब्राह्मणग्रन्थों तथा अन्य वैदिक साहित्यमें माने हैं; पर स्वा.द.जी इस सूत्रके 'छन्द' शब्दको मूलवेदवाचक मानते हैं, तब यदि उसी मूलवेदके प्रयोगोंको सिद्ध करनेवाले सूत्रका उदाहरण स्वा.द.जी ब्राह्मणभाग वा शाखाओंसे देते हैं; तब स्पष्टतया वे भी मूलवेद सिद्ध हो गये। काशी-शास्त्रार्थमें भी स्वा.द.जीने ब्राह्मण-और उपनिषदोंके वचनोंको 'वेद' नामसे उद्धृत किया है—यह 'आलोक' (९) में देखो। हमारा पक्ष वादीके 'व्याकरणके अद्वितीय विद्वान्' आचार्य ने भी सिद्ध कर दिया।

'मन्त्रे घस' के 'मन्त्र' का स्वा.द.जीने 'वेद' अर्थ माना है; और उनसे दिया 'अक्षत' उदाहरण उनकी मानी संहिताओंमें नहीं मिलता, किन्तु ऋग्वेद ऐतरेयब्रा० में मिलता है, सो वह ब्राह्मण भी वेद सिद्ध हो गया। 'छन्दस उपलक्षणम्' शब्द ही वेदको मन्त्र-ब्राह्मणात्मक बता रहे हैं; स्वा.द.जी 'छन्दः' का अर्थ सदा वेद ही लिखते है। सो वनावटी पक्षमें इस प्रकारकी वहुत-सी अनुपपत्तियाँ पड़ा करती हैं। इससे स्वा.द.जी तथा उनके शिष्य तथा स्वामी ब्रह्ममुनि आदि सभी दयानन्दी परस्पर-विरुद्ध-वक्ता होनेसे अपने अनुसार वेदानभिज्ञ, व्याकरणानभिज्ञ एवं अनाप्त तथा गलत-पक्षवाले सिद्ध हो रहे हैं, वे स० ध० के पक्षका जिसकी जड़ें पाताल तक जमी हुई हैं—कभी भी खण्डन नहीं कर सकते।

(२५) पृ. ८९ में वादी पाणिनिके विचारोंको स्पष्ट करनेकेलिए कई सूत्र लिखता है—

(क) 'छन्दो-ब्राह्मणानि च' (४।२।६६) यदि छन्दस् और ब्राह्मण समानार्थक हैं; तो दोनोंमें एकका प्रयोग व्यर्थ है'। इसपर हमारा उत्तर यह है कि—वादी भी द.सि.प्र. के ८८ पृष्ठमें छन्दके उदाहरण मूल-संहिता, मैत्रायणी आदि शाखा तथा ब्राह्मणोंके मानता है। जब ऐसा है; तब 'छन्दो-ब्राह्मणानि च' के भिन्न-भिन्न कहनेके कारण बतानेका जैसे हम पर भार है, वैसा ही उस पर भी है। जब वह स्वयं 'छन्द' से शाखाएं लेता है; तो ब्राह्मण तो शाखाओंसे पृथक् होते ही हैं, यह सर्व-सम्मत है; तब उसका प्रश्न व्यर्थ है।

यदि वह 'छन्द' से 'वेद' लेता है; तो 'छन्द' के 'वेद' होनेसे उसके उदाहरणमें प्रयुज्यमान सभी शाखा-ब्राह्मण जिन्हें वह पहले दिखला चुका है, 'वेद' सिद्ध हुए। फिर 'ब्राह्मण' का 'छन्द' (वेद) से पृथक् रखनेका प्रश्न उसपर भी लागू हुआ। हमारा उत्तर तो इस पर 'आलोक' (६) पृ. ४६-५० तक देखना चाहिये।

वस्तुतः 'छन्दो-ब्राह्मणानि च' के पृथक्-पृथक् रखनेका उत्तर श्री-पाणिनिने 'तनादिकृञ्भ्य उः' (३।१।७९) सूत्रसे दे रखा है। उक्त सूत्रमें आये हुए तानादिक भी 'कृञ्' धातुको तनादिसे पृथक् कहनेसे भी जैसे 'कृञ्' तनादि ही मानी जाती है; अन्य गणकी नहीं, केवल उसकी विशेषता बतानेकेलिए कि—अन्य सभी तनादि धातु अनुनासिकान्त हैं; पर 'कृ' अनुनासिकान्त न होकर अजन्त है—उसे पृथक् रखा गया है, वैसे 'छन्दो-ब्राह्मणानि' में भी ब्राह्मणकी विशिष्टता-प्रदर्शनार्थ उसे 'गोबलीवर्द' न्यायसे छन्दसे पृथक् कहा गया है। 'गावोपि समागताः, बलीवर्दोपि समागतः' पृथक्-पृथक् कहने पर भी बलीवर्द 'गो' ही रहता है, गो-भिन्न नहीं। केवल विशेषता बतानेकेलिए उसे पृथक् कहा जाता है; वैसे ब्राह्मणकी विशिष्टता-प्रदर्शनार्थ उसे 'छन्दः' से पृथक् रखा गया है।

(ख) फिर वादी कहता है—'जुष्टार्पिते च छन्दसि' (६।१।२०९) में 'छन्दसि' पड़ा है, और अग्रिम 'नित्यं मन्त्रे' (६।१।२१०) में 'मन्त्रे' पड़ा है। यदि दोनों समानार्थ हैं, तो 'छन्दस्' से 'मन्त्र' को पृथक् क्यों कहा गया?' यह तो हमारा स्वा.द.जी पर प्रश्न था; क्योंकि—वे 'छन्दः'-से 'वेद' लेते हैं। हम उसका उत्तर यह देते हैं कि—यह 'छन्दः' शब्द 'मन्त्र-ब्राह्मण' दोनोंका इकट्ठा नाम है, और मन्त्र एवं ब्राह्मण वेदके एक-एक भाग हैं। नहीं तो 'मन्त्रे सोमाश्व' (पा. ६।३।१३१-१३२) 'ऋचि तुनुघ' (१३३) इन सूत्रोंमें पृथक्-पृथक् कहे हुए मन्त्रभाग एवं ऋग्वेद भी भिन्न-भिन्न हो जावेंगे; और वादीका भी अनिष्ट हो जावेगा।

जहां मन्त्र-छन्दः, अथवा ब्राह्मण-छन्दः दोनों आ जावें; वहां 'समुदायवाचक शब्द भी अवयवपरक हो जाता है' इस महाभाष्य (पस्पशाह्निक) में कहे न्यायसे 'मन्त्र-छन्दः' में 'छन्दः' शब्द अवशिष्ट ब्राह्मणका वाचक होता है; और 'छन्दः-ब्राह्मण' में 'छन्द' शब्द अवशिष्ट मन्त्रभागका वाचक होता है। सो मन्त्र-ब्राह्मण दोनों ही वेद सिद्ध हो गये।

'छन्दो-ब्राह्मणानि च' के मुकाबलेमें ही 'जुष्टार्पिते च छन्दसि' 'नित्यं मन्त्रे' यह दो सूत्र हैं। दोनों स्थान बराबर उत्तर है। श्रीपाणिनिमुनिने सोचा कि—दयानन्दी लोग 'छन्दो-ब्राह्मणानि च' इस सूत्र (४।२।६६) तथा 'द्वितीया ब्राह्मणे' (२।३।६०) 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (२।२।६२) इस सूत्रयुगलसे स०ध० के पक्ष 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' का खण्डन करनेकी चेष्टा करेंगे; तब उन्हें प्रत्युत्तर देनेकेलिए श्रीपाणिनिने इसी प्रकारके सूत्र बनाये—'मन्त्रे श्वेतवह' (३।२।७१) 'विजुपे छन्दसि' (३।२।७३) यह सूत्र-युगल तथा 'जुष्टार्पिते च छन्दसि' (६।१।२०९) 'नित्यं मन्त्रे' (६।१।२१०) यह सूत्र-युगल बनाये। दोनों स्थान समान उत्तर है, अर्थात् यदि 'ब्राह्मण' से भिन्न 'छन्द' (वेद) शब्द रखनेसे

ब्राह्मणको वादी वेदभिन्न होनेका दोष लगाकर उसको अवेद सिद्ध क हैं; उसी हिसाबसे 'मन्त्र' से भिन्न 'छन्द' (वेद) शब्द रखनेसे मन्त्र भी फिर अवेद हो जायगा। इसका जो उत्तर दिया जायगा, ब्राह्मण के वेदत्वमें भी वही उत्तर हो जायगा। पर पाणिनि कभी छन्दमें ब्रा की, कभी छन्दमें मन्त्रकी 'गोबलीवर्द' न्यायसे विशेषताकेलिए 'तन कृञ्भ्य उः' (३।१।७९) तनादि भी कृञ् धातुके तनादिसे पृथक् रख विशेषता बतानेकेलिए पृथक् रख देते हैं; इससे यह नहीं कि— रखनेसे कृञ् धातु तनादिकी न रहे; इसी प्रकार 'छन्द' से पृथक् ब्रा वा मन्त्र रखनेसे भी उनकी विशेषता इष्ट होनेसे उनकी अवेदता नहीं होती। वादीके दिये दोषका समाधान हमने कर दिया। इ स्पष्टता हमने 'आलोक' (६) में की है; वादी वहां देख सकता है।

यदि वादी हमारे अनुसार चले कि—मन्त्र-ब्राह्मण तो एक-एक होनेसे एकदेशी शब्द हैं; पर छन्द, वेद, निगम यह समुदायात्मक होनेसे मन्त्र-ब्राह्मण उभयात्मक हैं। समुदायवाचक शब्द अवयववाची हो जाता है, पूर्वोक्त महाभाष्यके न्यायसे 'ब्राह्मण-छन्द' में 'छन्द' श 'मन्त्रभाग'-वाचक हो जावेगा; और मन्त्र-छन्दमें 'छन्द' शब्द 'ब्राह्मणभा वाचक हो जावेगा। पर वेद दोनों ही रहेंगे—इस प्रकार समझ जाने वादीको कोई अव्यवस्था नहीं मिलेगी; पर यदि वह अपने साम्प्रदायि पक्षकी दलदलमें घुसा रहेगा; तो फिर उसे कुछ भी सूझ न पड़ेगा, पदे फिसलेगा, और उसे ठोकरें खानी पड़ेंगी। इस विषयमें हम 'आलो (६) में स्पष्टता कर चुके हैं।

(ग) आगे वादी 'निगम' (६।३।११३) एवं संहिता (६।३।११ का भेद बताता है, यह तो व्यर्थ है। यहां 'संहिता' शब्द 'वेदभाग वाचक नहीं, किन्तु 'सन्धि' वाचक है। और फिर यह वैदिकसूत्र भी है, किन्तु लौकिक सूत्र है। वादीके मूलवेदके नामके साथ 'संहिता' शब्द लगता हैं, ऋसं. यजु:सं. आदि, तो क्या वादी उनको

'निगम' न मानकर 'शाखा' मानेगा ? यदि ऐसा हो; तो बधाई हो, आपने अपना स्वयं ही खण्डन कर दिया। 'संहितायाम्' (६।१।७२) अधिकारसूत्र है। इसीसे आगेके 'शिवच्छाया, कर्णे, नहिवृति' आदि लौकिक सूत्र वा प्रयोग सिद्ध होते हैं। वादीका लिखा 'संहितायाम्' (६।३।११४) सूत्र तो अधिकारसूत्र है. इसमें 'निगमे' की अनुवृत्ति नहीं'। अतः वादीने 'निगमे' से उसकी प्रतिद्वन्द्विता व्यर्थकी उपक्षिप्त की है। प्रतिद्वन्द्विता समान-विषयके सूत्रोंकी होती है, भिन्न-विषयके सूत्रोंकी आपसमें प्रतिद्वन्द्विता नहीं होती। एक विधिसूत्र है, दूसरा अधिकारसूत्र। इनका आपसमें कुछ भी सम्बन्ध नहीं। विपक्षीके स्वामी भी संहिता और निगम (वेद) को एक ही वस्तु मानते हैं। इस 'निगमे' वाले (६।३।११३) सूत्रके 'साढ्यै, और साढ्वा' यह पद वादीकी संहितामें नहीं मिलते। यहां 'छन्द' शब्द भी नहीं है कि—वादी शाखाओंका बहाना बना ले। सो निगम (वेद) मन्त्र-ब्राह्मण उभयात्मक सिद्ध हुआ। किसी लुप्त शाखा वा ब्राह्मणमें इसकी सत्ता अनुमित करनी चाहिये। तब 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह स० ध० का पक्ष सिद्ध हुआ। वादी तो अपने वेदोंको पूर्ण एवं न्यूनाधिकतारहित मानता है, पर उनमें निगम जिसका अर्थ स्वामीने 'वेद' किया है—के पद न मिलनेसे उन चार पोथियोंकी अपूर्ण-वेदता प्रस्फुट है।

(घ) इसी प्रकार ८।२।१०८ तथा ८।३।१ में वादी द्वारा 'संहिता और छन्दस्' का भेद व्यर्थ उपक्षिप्त किया गया है। यहां भी 'संहिता'-शब्द सन्धिवाचक है, वेद-पुस्तकवाचक नहीं। इनमें ८।२।१०८ सूत्र पदपाठके प्लुतविकारके इ और उ की यणादि सन्धिकेलिए है। और इसी संहिताकी शेष सारे अष्टमाध्यायमें अधिकाररूप अनुवृत्ति जाती है। इसी अधिकारमें 'उभयथर्क्षु' (८।३।८) यह ऋग्वेदकेलिए है। यदि पूर्व सूत्रमें 'संहिता' वेदपुस्तक-वाचक माना जावे; तो 'ऋचा' संहिता नहीं बन सकेगी; और आगे बहुतसे आने वाले लौकिक प्रयोग भी वेदके मान लेने

पड़ेंगे; तो जब उक्त 'संहिता' शब्दका वेदशाखा आदि अर्थ ही नहीं; तो उसका वादी-द्वारा भेद बताना व्यर्थका है। उपमा और रूपकका तो भेद बताना पड़ता है; पर उपमा और विभावनाका भेद कोई नहीं बताता। यहां तो फिर स्वा.द.के मतमें भी दोष आ सकता है; क्योंकि वे वेद और संहिताको भिन्न नहीं मानते। अब वादी स्वयं बतावे कि—उक्त सूत्रके 'संहिता' को क्या मूलवेदवाचक मानते हो; और अग्रिम छन्दको वेदशाखावाचक मानते हो ? यदि ऐसा है; तो वह संहितावाले सूत्रके 'अग्नायाशा' प्रयोगको अपनी चारों संहिताओंमें दिखलावे। और फिर सभी शाखाएं 'संहिता' कही जाती हैं, उनको भी मूलवेद माने।

(ङ) मन्त्र और यज्ञका भेद भी व्यर्थ उपक्षिप्त किया गया है। हां, वेदका विषय यज्ञ तो अवश्य है।

(च) 'यजुष्येकेषाम्' (८।३।१०४) 'देवसुम्नयोर्यजुषि काठके' (७।४।३८) का भेद भी वादीने व्यर्थ उपक्षिप्त किया है। यदि उसका यह आशय हो कि—यजुर्वेद तो मूलसंहिता है; पर यजुर्वेद-काठकसंहिता मूलवेद नहीं, किन्तु वह यजुर्वेदकी शाखा (व्याख्यान) है। यदि वादीका यह अभिप्राय हो; तो वह फिर वेद वा व्याकरणका ज्ञान नहीं रखता, यह मानना पड़ेगा।

महाशय; याद रखो कि—'यजुषि' कहनेसे यजुर्वेदकी सभी शुक्ल-कृष्ण १०१ शाखा ली जावेंगी; जिसमें वादीकी माध्यन्दिनी शाखा भी साथ होंगी। परन्तु 'यजुषि काठके' से यजुर्वेदकी केवल कृष्ण काठक-संहिता लेनी पड़ेगी; अन्य शाखाएँ नहीं। पर इससे काठकसंहिताका यजुर्वेदत्व व्याहत नहीं होता, बल्कि स्फुट होता है; नहीं तो 'मन्त्रे' (पा. ६।३।१३१-१३२) में मन्त्रभागका नाम है, और 'ऋचि तुनुघ' (६।३।१३३) में ऋग्वेदका नाम है। इन दोनोंके पृथक्-पृथक् कहनेसे क्या मन्त्रभाग और ऋग्वेदमें वादी भेद मान लेगा ? यदि ऐसा हो, तो उसका ऋग्वेद मन्त्रभाग न रहेगा, शाखा हो जायगा। क्या वादीको है यह

स्वीकार ?

वस्तुतः वहां मन्त्र' यह मन्त्रभागका समष्टि नाम है; इसमें चारों वेदोंकी सभी शाखाएं गृहीत हो जाएँगी; पर 'ऋचि' यह मन्त्रभागका व्यष्टि (एकदेशी) नाम है, इससे चारों वेदोंकी सभी शाखाएं न लेकर केवल ऋग्वेदकी सभी २१ शाखाएं ली जाएंगी। वैसे यहां पर भी जान लेना चाहिये। 'यजुष्येकेषाम्' (८।३।१०४) में 'यजुषि' यह समष्टि नाम लेनेसे 'स' को 'ष' सभी यजुर्वेदकी शाखाओंमें होगा; पर 'यजुषि काठके' (७।४।३८) यहां 'काठके' यह यजुर्वेदका व्यष्टि (एकदेशी) नाम है। सो देव और सुम्नको 'आ' यजुर्वेदकी काठकसंहितामें होगा; अन्य संहिताओंमें नहीं होगा। यदि 'काठके' न कहते; तो यजुर्वेदकी सभी शुक्ल, कृष्ण शाखाओंमें हो जाता, काठक कृष्णयजुर्वेदकी संहिता है, श्रीपाणिनिके अनुसार वह भी यजुर्वेद सिद्ध हो गई। पाणिनिको प्रमाण माननेवाले वादीको यह बात समझ रखनी चाहिये। इससे वादी काठक-संहिताको मूलसंहितासे हटवाना चाहता था, पर काठकसंहिताके यजुर्वेद सिद्ध हो जानेसे वादी अपने पक्षका अनिष्ट करवा बैठा।

यदि वह आग्रह करे कि—'यजुषि एकेषाम्' (८।३।१०४) यहाँ पाणिनिने 'यजुषि' से हमारी मूल यजुर्वेदसंहिता मानी है; तो वह मुँह धो रखे; क्योंकि—यहां 'यजुषि'से यजुर्वेदकी सभी १०१ शाखाएं ब्राह्मण-सहित ली जावेंगी। यदि वादी हमारी यह बात न माने; तो इसी सूत्रके उदाहरण 'अर्चिभिष्टतक्षुः' को अपनी तथाकथित मूल यजुर्वेद माध्यन्दिनी-संहितासे दिखलावे, यह उसे चैलेञ्ज (आह्वान) है। यदि वह ऐसा न कर सका; किन्तु यजुर्वेदकी किसी अन्य संहितासे उसने दिखलाया, अथवा इस वेदके वचनको यजुर्वेदकी किसी लुप्त संहिताका बताया; तो वह याद रखे कि—इस प्रमाणसे तत्तद्वेदकी सभी शाखाएं वह-वह वेद सिद्ध हो जाएंगी। इससे वादीका पूर्वपक्ष गढ़ेमें जा पड़ेगा। क्या वह इस बातके माननेकेलिए तैयार है ? यदि हां; तो लंगोटा कसके खड़ा हो जाय;

देखिये इससे उसके दयानन्दी पक्षकी कितनी 'मट्टीपलीद' होती है। इ[illegible] प्रयाससे वह स०ध० के पक्षका ही लाभ कर रहा है। अतः [illegible] 'दयानन्द-सिद्धान्तप्रकाश' 'दयानन्द-सिद्धान्तसंहार' हो गया है। [illegible] भरके दयानन्दी इधर ध्यान दें। इससे स्पष्ट हो गया कि—वेदके ना[illegible] धन प्राप्त करके बड़ी-बड़ी बिल्डिग्स वा दूकानदारी खड़ी करने पर [illegible] दयानन्दियोंको वेदका स्वरूप एक शताब्दीके लगभगका समय हो जाने [illegible] भी ज्ञात नहीं हो सका। वादीको प्रेरणा है कि—कोई अन्य वहानेबा[illegible] न बनाकर इस प्रश्नका सीधा उत्तर दे।

(२६) यजुः और 'छन्द का भेद 'यजुष्येकेषाम्' (८।३।१०[illegible] 'स्तुतस्तोमयोः छन्दसि' (८।३।१०५) इन सूत्रों द्वारा बताता हुआ वा[illegible] यदि यजुः को छन्द या छन्दको यजुः नहीं मानता; तो यह उसकी भ्रा[illegible] है। यजुः यह वेदका एकदेश है, और छन्द यह पूरा वेद है। कई का[illegible] वेदके एक देशमें करने पड़ते हैं; जैसे अचोंके मध्यस्थ 'ड' को वैदिक [illegible] ऋग्वेदकी सभी संहिताओंमें, साम.में कहीं-कहीं होता है, पर अन्य यजु[illegible] अथर्व आदि संहिताओंमें नहीं होता। अनुस्वारको र, श, ष, स, ह [illegible] होनेपर यजुर्वेद तथा सामवेदकी संहिताओमें ँ करना पड़ता है, अन्य वेदोंकी संहिताओंमें नहीं। कई विधियां पूरे वेदोंमें करनी पड़ती हैं। तभी तो अष्टाध्यायीमें 'मन्त्रे' और 'ऋचि' 'मन्त्रे सोमाश्व, ऋचि तु[illegible] (६।३।१३१-१३२, १३३) यह भिन्न-भिन्न आये हैं; तब क्या वा[illegible] ऋग्वेदको मन्त्रभाग न मानेगा ? अथवा 'मन्त्रे' के कार्य वादी ऋग्वेद[illegible] नहीं मानेगा ? इनके पृथक्-पृथक् कथनकी यही सार्थकता है। पर [illegible] दोनों ही होते हैं। इससे वादीका पक्ष—जो इनका भेद बताता है [illegible] वालुकाभित्ति सिद्ध होता है। यदि वादी 'यजुषि' (८।३।१०४) से अप[illegible] मूलयजुर्वेद मानता है; तो उसके उदाहरण 'अर्चिभिष्टतक्षुः' 'अग्नि[illegible] अग्रम्' को अपने यजुर्वेदमें दिखलावे।

'मन्त्रे' और 'ऋचि' के जो हम भिन्न-भिन्न सूत्र दिखला चुके हैं

क्या वादी 'ऋचा' में 'मन्त्र' वाले कार्य नहीं मानेगा ? यदि ऐसा हो; तव 'ऋचा' 'मन्त्र' भाग नहीं रहेगी—यह वादीका अनिष्ट प्राप्त होगा।

वस्तुतः एतदादिक स्थलोंमें समान उत्तर है कि—एक स्थानमें 'ऋचि' यह मन्त्रभागके एकदेश—केवल ऋग्वेदकी सभी (२१) संहिताओं में वह कार्य होता है, अन्य वेदोंकी संहिताओंके यजुः-साम आदिमें नहीं। दूसरे वेदोंमें 'मन्त्रे' के कार्य उनकी सभी संहिताओं (शाखाओं) में होते हैं'।

यहां तक हम प्रतिपक्षीके बताये हुए ही अष्टाध्यायीके सूत्रोंसे शाखा एवं ब्राह्मण-उपनिषद् आदिका वेद होना—यह जो स० ध० का सिद्धान्त था--सम्यक् निरूपण कर चुके हैं। इसमें हमने पुनरुक्ति कहीं-कहीं इसलिए की है, जिन लोगोंका व्याकरणमें प्रवेश नहीं; उनको भी यह विषय हृदयङ्गम हो जावे।

आगे प्रतिप्रक्षीने इसी विषयका निष्कर्ष लिखा है; हम भी उसका प्रत्युत्तर एक 'गीता' विषयक निवन्धके समाप्त होनेके पश्चात् रखेंगे।

[शेष अग्रिम निवन्धकी समाप्ति पर]

---

(७) गीता का स्वरूप (४)

'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तद् अचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥'
(महा. भीष्म. ५।१२)

हमारे सामने 'गीताका सच्चा स्वरूप' रखा है, उसका लेखक एक दयानन्दी महाशय है। उसका कहना है कि—गीतामें वेदविरुद्ध तथा परस्पर-विरोधी बातें लिखी हुई हैं। "महर्षि वेदव्यास वेदोंके पूर्ण पण्डित थे, उनकी लेखनीसे किसी भी वेदविरुद्ध बातका लिखा जाना कदापि सम्भव नहीं" (पृ. ३ पं. १६-१८) अतः उन्हें व्यासजीकी कृति न समझ

कर प्रक्षिप्त ही समझना चाहिये' यह कहकर उसने अपने संग्रहमें अपनी समझके अनुसार तथाकथित-प्रक्षिप्त श्लोक निकाल दिये हैं, शेष रखे हैं, और उनका अपने मतानुसार अर्थ किया है।

(१) उक्त बात वादीकी गलत है। गीतामें वेदविरुद्धता नहीं है। हाँ, दयानन्दी-सिद्धान्तोंसे विरुद्धता हो, जिन्हें यह तथाकथित-वैदिक मानते हैं; वस्तुतः जो वैदिकाभास ही हैं, तो यह सम्भव है; क्योंकि–स्वा.द.जीने अपनी इच्छानुसार ही वेदका नाम लेकर वेदमन्त्रोंको बेरहमीसे तोड़-मरोड़कर अपने मनमाने अर्थ निकालकर अपने कल्पित सिद्धान्त गढ़े हैं। उनमें वास्तविकता नहीं है। वेदकी सीमा भी केवल वर्तमान चार पोथियां नहीं हैं, किन्तु मन्त्रभाग (जिसमें ११३१ संहिताएं) तथा ब्राह्मणभाग (जिसमें उपनिषद्, आरण्यक भी अन्तर्गत हो जाते हैं) यह सब वेदकी पारम्परिक सीमा है। एतदर्थ 'आलोक' ग्रन्थमाला (४, ६, ७, ८, १० पुष्पों) में 'वेदस्वरूपनिरूपण' देखें।

वादीने गीतामें पौराणिकों वा वैष्णवों द्वारा प्रक्षेप किया हुआ बताया है। वादी यह याद रखे कि—पुराण भी वेदोंके साथ ही अनादि-परम्परा से चले आ रहे हैं; इस पर वादी 'आलोक' (७) पृ. ३७७-३८८ देखे। तब दोनोंके सिद्धान्तोंमें ऐक्य स्वाभाविक है, प्रक्षेप नहीं।

(२) वादी अवतारवादके श्लोक गीतामें वेदविरुद्ध एवं प्रक्षिप्त मानता है। उसका कहना है—'न तस्य प्रतिमा अस्ति' (यजुः ३२।३) वेद कहता है कि—'उस परमात्माकी कोई मूर्ति नहीं है'। 'स पर्यगात् शुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्' (यजुः ४०।८) इस मन्त्रमें परमात्माको 'अकाय' (शरीर-रहित) कहकर पुकारा गया है; तव अवतारवादके श्लोक गीतामें प्रक्षिप्त हुए। मूर्तिपूजाको वैध ठहरानेकेलिए 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' पद्यको गीतामें प्रक्षिप्त किया गया है। जब परमात्मा की कोई मूर्ति नहीं है; तब मूर्तिपूजाका प्रश्न ही नहीं उठता। **परमात्मा ने हमें समस्त वस्तुएँ प्रदान की हैं, उसकी भेंट हम क्या कर सकते हैं' ?**

इतना ही वादीके पास वैदिक बल है। इसमें 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' पर वह 'आलोक' (४) पृ. ३८३-३८४ में देखे। 'अवतारवाद-रहस्य' को भी वह वहीं पृ. ३६४-४०४ में देखे। जब उसका मत स्वयं वेदविरुद्ध है, तब उसका स्वतः ही खण्डन हो गया। 'अकायमव्रणं' पर वह गत (३)-निबन्धके २१ वें अंशमें देखे, सब समाधान प्राप्त होगा।

अब वादी अपने मतप्रवर्तक स्वा.द.जीसे **परमात्माको गिलोयके रस का भोग** लगाया जाता हुआ देखे। 'आर्याभिविनय' में 'वायवायाहि दर्शत ! इमे सोमा अरंकृताः। **तेषां पाहि** श्रुधी हवम्' (ऋ. १।२।१) इस मन्त्रका अर्थ स्वामीने इस प्रकार किया है—'हे अनन्तवल **परेश** वायो दर्शनीय ! हम लोगोंने अपनी अल्प-शक्तिसे **सोमवल्यादि** ओषधियोंका उत्तम **रस** तैयार किया है, और जो कुछ भी **हमारे श्रेष्ठ पदार्थ हैं,** आपकेलिए अलङ्कृत अर्थात् उत्तम रीतिसे हमने **बनाये हैं;** और **वे सब आपके समर्पण किये गये हैं;** उनको **आप स्वीकार करो, सर्वात्मासे पान करो।** हम दीनोंकी दीनता सुनकर जैसे पिताको पुत्र **छोटी चीज समर्पण** करता है, उस पर **पिता अत्यन्त प्रसन्न होता है,** वैसे **आप हम पर** होओ' (पृ. १५)।

अब वादी बोले—यह उसके स्वा.द.जीने 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' के अनुकरणमें अथवा उसकी वेदानुकूलता सूचित करते हुए 'समस्त वस्तुओं को प्रदान करने वाले' परमात्माको सोमरस भेंट किया है, वा नहीं ? क्या सबको देने वाले परमात्माके पास सोमरस नहीं था ? अब मूर्तिपूजा वैदिक होगई, वा नहीं ? इस विषयमें 'वेदस्वरूपनिरूपण' में अग्रिम निबन्धमें देखो। 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' यह गीताका पद्य 'तदाह भगवान्' कहकर 'बोधायनगृह्यशेषसूत्र' (२।२२।६) में भी दिया गया है, अब यह प्रक्षिप्त कैसे हुआ ? उसीमें महाभारतीय 'विष्णु-सहस्रनाम' का उल्लेख (१।२२।८) भी है।

उक्त मन्त्रके 'पाहि' का अर्थ छान्दस विकरणव्यत्ययसे शप्-लुक् होने

के कारण 'पिब' (पी) है। पीना मुखसे होगा; तब वह परमात्मा ... भी हो गया। अब क्या वादी अपने अनुसार वेदविरुद्ध इस ... मन्त्र तथा अर्थको प्रक्षिप्त मानकर उसे 'आर्याभिविनय' से निकाल देगा? एक दयानन्दीने इस 'पाहि' का 'पी' अर्थ करनेसे अपने दयानन्दी ... पौराणिक-मतके सामने घुटना टेकना समझकर अपनी होती हुई ... छिपानेकेलिए एक उपहासास्पद प्रयत्न किया है। वह कहता है कि— 'पान करो' का 'पीना' अर्थ नहीं है, किन्तु यहां 'पान' शब्द 'पा ... धातुसे निष्पन्न माना गया है, [क्या वादी इसमें कुछ प्रमाण दे ... हैं ?] इसका अर्थ 'रक्षा करना है' (द.सि.प्र.)।

यह होता है सत्यकी हत्याका प्रयत्न। क्या कभी हिन्दीमें ... अर्थमें 'पान' शब्दका प्रयोग करके 'मघवा मूलं विडौजाः टीका' ... उदाहरण देखा गया है ? 'पीने' अर्थ में तो 'सांपको पयपान' शब्दके ... में 'पान' का प्रयोग देखा ही जाता है, पर 'दयानन्दी समाजका ... करनेवाला अब कोई विद्वान् नहीं रहा' इस अर्थके स्थान 'दयानन्दी ... का पान करनेवाला अब कोई नहीं रहा' ऐसे वाक्यका प्रयोग कोई ... कभी भी नहीं करता, न किसीने अब तक किया और न करेगा ... यह वादीकी अपने पक्षकी दुर्बलता छिपानेका बड़ा प्रबल प्रमाण है। क्या वादी 'पा पाने' में 'पान' का अर्थ भी रक्षा करना मानता है ? ... हां, तो क्या यह ठीक है ? यदि नहीं; तो यहाँ भी 'पान' का अर्थ 'रक्षा ... क्यों नहीं करते ?

और फिर सबसे बड़ी बात यह है कि—स्वयं स्वा.द.जीने 'हे ... हमसे समर्पण किये हुए सोमरसको आप स्वीकार करो' कहकर 'पान' ... स्पष्ट 'पीना' अर्थ सूचित कर दिया है; और 'ऊंट चले बीस कोस ... ऊंटका बच्चा चले तीस कोस, गुरु तो गुड और चेला चीनी हो गया' ... कहावतोंके उदाहरण बने हुए चेलेने स्वा.द.के अभिप्रायको छिपानेकी ... कोशिश की। 'पान' का अर्थ 'पीना' न करके उसका 'रक्षण' अर्थ ...

डाला !!! छि: छि: !

किसी पेय रसको, तथा श्रेष्ठ भक्ष्यपदार्थको असीम श्रद्धासे हम समर्पित करते हुए उस श्रद्धास्पदसे प्रार्थना करें कि—'महाराज; इस रसका पान करो; इस भक्ष्यका स्वीकार करो' तब क्या वादी इसका अर्थ यह करेगा कि—इसकी रक्षा करो ? वाह महाशय; अच्छे रहे ! क्या कोई सोम-रस पर डाका पड़ रहा था कि—उसे कहा जावे कि—'इस तैयार किये हुए उत्तम रसका पान करो' और उसका अर्थ निकल आवे कि—'इसकी रक्षा करो'।

यदि वादी कहे कि—'मन्त्रमें 'पाहि' है; इसका अर्थ पीना नहीं। यहाँ यदि 'पा पाने' धातुका प्रयोग होता; तो 'पिब' लिखा जाता, यह स्कूली व्याकरण पढ़ा हुआ छात्र भी जानता है, 'पाहि' तो 'पा रक्षणे' का होता है, 'पा पाने' का नहीं'।

इस पर हम स्वामीके 'उनको आप स्वीकार करो, सर्वात्मासे पान करो' इस वाक्य द्वारा सिद्ध कर चुके हैं कि—उनको यहां 'पाहि' का 'पीना' अर्थ इष्ट है। शेष रही व्याकरणकी बात; सो वह लौकिक व्याकरण की बात लोककेलिए तो सम्भव हो सकती है; पर वेदकेलिए नहीं। वेदकेलिए 'बहुलं छन्दसि' (पा. २।४।७३) इस सूत्रसे अदादिगणसे भिन्न धातुके आगे भी शप्‌का लुक् क्वचित् माना जाता है। यह 'पाहि' उसी शप्-लुक्‌का उदाहरण है। इसी कारण यहाँ श्रीसायणाचार्यने भी यही अर्थ किया है—'तान् सोमान् पाहि-पिब इत्यर्थः' (सोमको पी) (पाहि-इत्यत्र पिबादेशाभावः छान्दसः), तत्पानार्थमस्मदीयमाह्वानं शृणु'।

यदि वादी सायणभाष्यको माननेकेलिए तैयार न हो; तब वह जिस निरुक्तको मानकर स्वामीने 'पाहि' का अर्थ 'पान करो' किया है, उसकी साक्षी भी देखे। श्रीयास्कने लिखा है—'दर्शनीय ! इमे सोमा अलंकृताः; तेषां पिब, शृणु नो ह्वानम्' (१०।२।१) यहाँ 'पाहि' का 'पिब' अर्थ किया है; तब वादिप्रतिवादिमान्य निरुक्तके इस वचनसे कौन भला दयानन्दी नकार कर सकता है ? अब विपक्षी समझ गया होगा कि—मूर्तिपूजा वैदिक हो गई। स्वा.द.जी स.प्र.में लिख गये हैं—'सुनो भ्रन्धो ! ...वेदोंमें पाषाणादि मूर्तिपूजा और परमेश्वरके आवाहन विसर्जन करनेका एक अक्षर भी नहीं है' (११ समु. पृ. १९६) सो जब उक्त वेदमन्त्रमें स्वामी ने भी परमात्माका सोमरस पीनेकेलिए-आवाहन किया है; और वेद स्पष्ट कह भी रहा है—'श्रुधी हवम्', और निरुक्तने भी उसका अर्थ 'शृणु नो ह्वानम्' किया है; तब मूर्तिपूजा तथा उसमें परमात्माका आह्वान वैदिक सिद्ध हो गये, और दयानन्दी-समाजका मूर्तिपूजाविरोधी सिद्धान्त अवैदिक सिद्ध हो गया।

यदि विपक्षी न तो माने यहां अपने स्वामीका अर्थ; और न वह माने निरुक्तका 'पाहि' का 'पिब' अर्थ; और आग्रहवश वेदके ही मन्त्रमें स्पष्ट 'पिब' देखना चाहे; तब हम उसे इसी प्रकारका स्पष्ट वेदका मन्त्र सुनाते हैं। वह कान खोलकर सुने—'वायवायाहि वीतये जुषाणो हव्यदातये। पिबा सुतस्य अन्धसो' (ऋसं. ५।५१।५) यह आर्याभिविनयकी भांति वायुदेवता—जिसका अर्थ स्वामीने 'परमात्मा' किया है—का मन्त्र है। इसमें 'सुतस्य पिब' का अर्थ है—हे वायो, आओ, सोमरस पीवो'। 'सुत' यह सोमरसका नाम है—'षुञ् अभिषवे' (स्वा. अ. उ.) का 'क्त' में प्रयोग है, जिसका सोमरसमें प्रयोग होता है। 'कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव' यहां कर्मके स्थान षष्ठी है। अब इस वायुदेवता वाले वेदमन्त्रकी साक्षीसे भी सिद्ध हुआ कि पूर्वके वायुदेवतावाले मन्त्रमें भी 'पाहि' का 'पिब' अर्थ है। 'पीना' मुखसे होता है, तब परमात्मा दिव्य आकार वाला सिद्ध हो गया। अब मूर्तिपूजा तथा उसमें भगवान्‌का बुलाना, तथा उसे किसी वस्तुका समर्पण करना—यह वैदिक सिद्ध हो गया; तब उसे ही 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' में समर्पण करानेवाली गीता वेदानुकूल सिद्ध हो गई, यह वचन प्रक्षिप्त सिद्ध न हुआ।

(३) आगे वादी लिखता है—'द्वाविमौ पुरुषौ लोके' 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' (१५।१६-१७) इन श्लोकोंमें गीताकार त्रैतवादका माननेवाला है, तब गीताके अद्वैतवादके पद्योंको प्रक्षिप्त ही समझना चाहिये'। यह बात भी इस वादीकी गलत है। यहां त्रैतवाद तो कहीं आया ही नहीं। गीतामें त्रैतवाद माननेवाला यह दयानन्दी, अन्य दयानन्दीकी बनाई 'गीता-विवेचन' पुस्तकका सिंहनाद सुने।—

'गीता नव्य वेदान्तके अद्वैतवादके सिद्धान्तकी पोषक है। यह आर्यसमाज एवं वेदोंके त्रैतवादकी मान्यताकी विरोधिनी है। यह दूसरी बात हैं कि-कुछ गीताके आर्यसमाजी टीकाकार खींचतान करके इन श्लोकोंका विपरीत अर्थ करनेका प्रयत्न करते हैं, पर वे उसमें सफल नहीं हो पाते हैं। गीता वेद नहीं है, जिसके स्थलोंकी सङ्गति लगानेमें कल्पनाओं वा अन्य शास्त्रोंका आश्रय लिया जावे; वह [गीता] तो नाटकके समान दो पात्रोंका खुला क्रमबद्ध संवाद है, अतः उसके भावों को समझनेमें मिर्च-मसाला लगाकर तोड़-मरोड़ करनेकी आवश्यकता नहीं है' (पृ. २२४ पं. ७-१५) इससे वादीने वेदमें तो तोड़-मरोड़की गुंजाइश बता दी है, पर गीतामें नहीं। इससे स्पष्ट सिद्ध हो गया कि—गीतामें अद्वैतवाद प्रमुख है।

वादी याद रखे कि—द्वैतवाद व्यवहारवाद होता है, वह भक्ति एवं उपासनाकेलिए होता है; जगत्के साधारण लोगोंमें मर्यादा-स्थापनार्थ होता है; और 'अद्वैतवाद' पारमार्थिकवाद होता है। वह अन्तिम कोटिमें होता है; तब दोनों कोटियोंको यथावसर दिखलानेकेलिए दोनों ही वाद यथावसर वर्णित करने पड़ते हैं, यह विरोध नहीं हो जाता। उसी गीतामें जीव एवं प्रकृतिको भगवान्का अंश बताया गया है (७.४-५, ६।८, १३। २, २२)। 'इससे परमात्मा' के टुकड़े मानने पड़ेंगे' यह बात वादीकी गलत है। जब योगी भी अपने कई रूप बनाकर उनसे विविध कार्य करता है, यह स्वा.द.जी भी अपने यजुर्वेदभाष्य (१७।७१) में मान गये हैं, तब

क्या इससे उस योगीके टुकड़े हो जाते हैं? फोटोग्राफरने वादीके फोटो (प्रतिबिम्ब) बना दिये; तब क्या वादी अपने दो टुकड़े हुए मान लेगा?

(४) 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' (९।१०) इसमें कही हुई प्रकृति भगवान्की मायाशक्ति है, 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वेता. ४।१०) श्रीशङ्कराचार्य-स्वामीने भी यहां प्रकृतिको 'मम माया' भगवान्की माया कहा है। 'मम माया दुरत्यया (गी. ७।१४) यहां भी 'माया' भगवान्की शक्ति इष्ट है। तब वादीका इससे क्या सिद्ध हुआ? परमात्माने ही अपनी शक्तिसे जगत्को पैदा किया; तभी तो वह जगत्कर्ता कहा जाता है। भगवान्की शक्ति भगवान्से स्वतन्त्र नहीं है, पर व्यवहारवादसे उसका पृथक् नाम कहा जाता है। 'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना' (गीता ९।४) यहांपर भी भगवान्को अव्यक्त (प्रकृति) मूर्ति और जगत्का निर्माता कहा है। प्रकृतिको यदि वादी उपादानकारण मानता है; और वह प्रकृति ही वादीके अनुसार जगत्को पैदा करती है, तब वादी बतावे कि—प्रकृति निराकार है, वा साकार? यदि निराकार है, तो जगत् भी निराकार होना चाहिये, क्योंकि-स्वा.द. मानते हैं कि-उपादान-कारणकी जो आकृति होती है; उसके कार्यकी आकृति भी वैसी होती है। जैसे कि—स.प्र. में ब्राह्मणकी मुखसे उत्पत्ति पर आक्षेप करते हुए स्वामीने लिखा है—'जो मुखादि अङ्गोंसे ब्राह्मणादि उत्पन्न होते तो उपादान-कारणके सदृश ब्राह्मणादिकी आकृति अवश्य होती। जैसे मुखका आकार गोलमोल है, वैसे ही उस [ब्राह्मण] का शरीर भी गोलमोल मुखाकृतिके समान होना चाहिये' (स. प्र. ४ समु. पृ. ५३) यहां स्वामीने मुखको उपादानकारण और ब्राह्मणको उसका कार्य मानकर यह बात बताई है; इसी प्रकार निराकार प्रकृतिको भी उपादानकारण मानें तो तद्रूप कार्य की भी वही निराकारत्वकी प्रसक्ति हो जावेगी? नहीं होगी; तब स्वा.द.का पूर्व किया हुआ आक्षेप कट गया। अ

वादी साकार तो मानता नहीं होगा; यदि मानता है; तो उसे स्त्रीके रूपमें दिखलावे। प्रकृतिने वादीको पैदा कर दिया; तब क्या निराकार प्रकृतिने निराकार आत्माको पैदा किया ? या साकार शरीरको ? यदि निराकारने निराकारको पैदा किया; तो आत्मा अनित्य हो जावेगा ? यदि साकार शरीरको उसने पैदा किया, तब निराकार उपादानकारण साकारका उत्पादक कैसे हो गया ? इस प्रकार माननेसे परमात्मा निमित्त-कारण होगा; तब वह सर्वव्यापक भी नहीं हो सकेगा; क्योंकि—कार्यमें उपादानकारण सर्वव्यापक होता है, निमित्तकारण नहीं। परमात्माको अभिन्न-निमित्तोपादानकारण तथा निराकार एवं साकार एवं सर्वशक्तिमान् माननेपर कोई भी दोष नहीं रहता। दयानन्दियोंका परमात्मा तो सृष्टि-नियमविरुद्ध सृष्टिनियमपरिवर्तनकी शक्ति न होनेकेकारण अपूर्ण शक्तिमान् रहेगा, सर्वव्यापक भी नहीं रहता। जब प्रकृति ही सभी करेगी; तब उन्हें प्रकृति की उपासना करनी पड़ेगी। वस्तुत: वादीका मत 'बालूकी दीवार' है।

(५) वादी लिखता है—'गीताके १८वें अध्यायमें ब्राह्मणादिकेलिए आया हुआ 'स्वभावजम्' शब्द वर्णव्यवस्थाको गुण, कर्म, स्वभावके आधार पर बता रहा है, जन्मके आधार पर नहीं।'

इसपर यदि वादी गुण-कर्म पिछले जन्मके मानता है; तब उसका इस जन्मके गुण-कर्मोंसे वर्णव्यवस्था पक्ष—जिसे उसका सम्प्रदाय मानता है, कट गया। गत जन्मके गुणकर्मोंसे ही तो इस जन्ममें स्वभाव बनता हैं। वादी स्वयं यह बतावे कि—स्वभाव जन्मसे ही आता है, या पीछे पैदा होता है ? यदि जन्मसे, जैसे अग्निकी ऊष्मा, तब भी उसका ऐहिक जन्मके गुणकर्मोंसे वर्णव्यवस्था पक्ष कट गया। अग्निका स्वभाव उष्णता, जलका स्वभाव शीतलता क्या जन्मसिद्ध नहीं ? क्या यह पीछेके गुण-कर्मो से होता है ? यदि नहीं, तब इससे वादीका ही पक्ष कट गया।

यदि वादी वर्णव्यवस्थाको गुणकर्मणा मानता है; तब क्या गीतोपदेशक

श्रीकृष्णको ब्राह्मण कहींसे सिद्ध कर सकता है, जबकि वे महाभारतमें क्षत्रिय कहे गये हैं ? युद्ध कर्म करनेवाले ब्राह्मण द्रोणाचार्यको क्या वादी क्षत्रिय सिद्ध कर सकता है ? 'युद्धे चाप्यपलायनम्' (गीता १८।४३) इस क्षत्रियकर्मसे विरुद्ध युद्धसे भागनेवाले युधिष्ठिरको (यह महाभारतमें कर्णादिके युद्धके अवसर पर स्पष्ट है) शम, दम, आदि ब्राह्मण-गुणकर्म-धारी होनेपर भी क्या महाभारतसे ब्राह्मण सिद्ध कर सकता है ? तथा युद्धके आरम्भमें युद्ध छोड़कर भिक्षा मांगनेकी तैयारी कर रहे हुए अर्जुन को भी कहींसे ब्राह्मण सिद्ध कर सकता है ? आततायी अश्वत्थामाको जिसने सोते हुए द्रौपदीके पुत्रोंको मार दिया, तथा उत्तराके गर्भ पर भी अस्त्र फेंक दिया; वादी महाभारतसे अब्राह्मण सिद्ध कर सकता है ? शान्तिपर्व तथा अनुशासनपर्वका उपदेश देनेवाले शरशय्या पर सो रहे भीष्मको भी ब्राह्मण सिद्ध कर सकता है ? यदि नहीं; तब 'गुणकर्मणा वर्णव्यवस्था' वादीका पक्ष कट कर जन्मना वर्णव्यवस्था सिद्ध हुई; तब 'स्वभावजम्' शब्दसे वर्णव्यवस्था जन्मसे ही सिद्ध हुई, गुणकर्मणा नहीं।

इस विषयमें वादी अन्य दयानन्दीका मत भी उसके 'गीता-विवेचन' में देखे। उसमें वह लिखता है—'इसका अर्थ स्पष्ट है कि गीताकारका वर्णव्यवस्था-विधान केवल जन्मपर आधारित है' (पृ. १७४ पं. १४) इस विषयमें अन्यत्र भी (पृ. १३४ में) लिखा जा चुका है।

(६) 'एक ओर तो गीताकार वेदको ईश्वरीय ज्ञान मानता है (३।३५, ८।११), दूसरी ओर 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !' (२।४५-४६) यह गीताके वेदकी निन्दाके श्लोक कहता है, यह एक व्यक्तिके लिखे नहीं हो सकते; अत: प्रक्षिप्त हैं'।

यह वादीकी अपनी बुद्धिका दोष है, इस विषयमें वादी 'आलोक' (८) पृ. १८७-२११ में तथा इस पुष्पके पृ. १२०-१३० में देखे। इस प्रकार वादीका 'प्राक्कथन' खण्डित हो गया।

(७) वादी मुक्तिके विषयमें लिखता हुआ कहता है—'मुमु

(श्रीकृष्ण) को प्राप्त करके मनुष्य पुनर्जन्मसे छूट जाता है' यह भाव वेदानुकूल नहीं हैं, क्योंकि–जब शुभकर्मोंका फल समाप्त हो जाता है, तो जीवको कर्म करनेकेलिए फिर संसारमें आना पड़ता हैं। प्रत्येक कर्म की कोई सीमा है; अतः उसके फलकी भी सीमा है। ऐसा कोई कर्म नहीं है, जिसका अनन्त (कभी समाप्त न होनेवाला) फल हो; अतः गीताके संसारमें पुनः न लौटने वाले पद्य प्रक्षिप्त हैं'।

इसका समाधान द्वितीय निबन्धके १२वें, १४वें और १५वें अंशमें पृ. १४४-१५६ में देखो। इससे वादीने अपने सम्प्रदायसे विरुद्ध स्वर्ग एवं मुक्तिके लोकको एक नियत स्थानमें लोकविशेष माना है : नहीं तो मुक्त जीव इस संसारमें उसके अनुसार रहता; तब वह कर्मोंसे छूटकर केवल कर्मभोग कैसे करता रहता ? यदि वह परमेश्वरमें रहता; तो वह एकदेशी जीव सर्वव्यापक परमेश्वरके किस अंशमें रहता ? तब सर्वव्यापक एवं अखण्ड परमेश्वरके भी खण्ड मानने पड़ेंगे; और वह मुक्त जीव निराकार रहता है, वा साकार ? यदि साकार; तब क्या अपने अनुसार मुक्त स्वा.द.को दिखला सकते हो ? यदि वह निराकार रहता है; तो वह बिना शरीरके* ३६ हजार साल तक सुख कैसे भोग सकता है, क्योंकि न्यायदर्शनमें शरीरको ही सुख आदिके भोगका साधन बताया है (३।१। ६) ? मुक्तका शरीर तो है नहीं।

---

*स.प्र. की द्वितीय आवृत्तिमें मुक्तिकी अवधि 'तीन लाख साठ सहस्र वर्ष तक' की स्वा.द.जीने लिखी थी। सन् १८८७ तृतीयावृत्तिमें भी स.प्र.में इतनी ही अवधि शब्दों और अङ्कोंमें लिखी गई थी। परन्तु स.प्र. की ४र्थ आवृत्तिमें ३६००० वर्ष मुक्तिकी अवधि कर दी गई। स्वा.द.जी की तो स.प्र. की द्वितीयावृत्ति छपने तक मृत्यु हो गई थी; फिर चतुर्थावृत्ति छपने पर यह परिवर्तन किसने किया ? इससे स्वा.द.जी की अनाप्तता भी सिद्ध हो जाती है। उनके चेलोंका ज्ञान स्वा.द.जीसे भी बढ़ जाता है, जो कि वे उनके लेखोंमें पीछेसे भी परिवर्तन करते रहते हैं।

और वादीके अनुसार इन मुक्ति वा स्वर्गादिस्थानोंको केवल ... भोग-स्थान होनेसे, कर्मस्थान न होनेसे, क्योंकि वादी वैसा कहीं ... नहीं; तब वहांके रहनेवाले देवता वादीके अनुसार भी 'भोगयोनि' हो गये; तथा 'संसारी जीव कर्मयोनि सिद्ध हो गये; तब उन मुक्ति... रत रहनेवाले भोगयोनियोंके पुराणवर्णित चरित्रोंकी संसारी ... मनुष्योंके दृष्टिकोणसे जो दयानन्दी आलोचना कर रहे होते हैं, ... आलोचना विपक्षीके अनुसार ही स्वयं खण्डित हो गई। क्योंकि ... मुक्ति तथा दयानन्दियोंसे तथाकथित पौराणिक स्वर्ग बराबर ... तथा उनमें रहनेवाले भोगयोनि देवता होनेके कारण वे अपनी ... जहां-तहाँ जानेकी क्षमता होनेसे सब तरहके सुख-भोग प्राप्त करें; कर्मयोनि मनुष्यों पर तो शास्त्रका नियन्त्रण होनेसे वे सुख-भोग ... इच्छानुसार न प्राप्त कर सकेंगे; पर भोगयोनि मुक्तों वा देवों ... लोकके शास्त्रका कन्ट्रोल न होनेसे वे यथेच्छ सुखभोग भोग सकें; ... प्रकार वादीके अनुसार ही वैसा वर्णन करनेवाले पुराण सत्य ... गये; सो जैसे वादी गीता पर पौराणिक-प्रभाव मानता है, ... बतानेवाले उसके वेदमें भी पौराणिक-प्रभाव सिद्ध हो गया; तब पुरा... वेदके समयके ही सिद्ध हो गये। तब तो 'पुत्रार्थं भगवदाराधनं ... भर्तापि नष्टः' यह वादियोंके सिद्धान्तपर अनिष्ट वज्रपात हो गया। सब शास्त्रों वा पुराणोंकी शरण छोड़कर अपने मनमाने सिद्धा... बनानेका फल है।

(८) वादी कहता है—'६।२७ में योगीके ब्रह्मभूत-ब्रह्म हो ... वर्णन गीतामें वेद एवं बुद्धिसे विरुद्ध है, जीव कभी ब्रह्म नहीं बन ... यदि जीवका ब्रह्ममें मिलना माना जावे; तो ब्रह्ममें कमी-बेशी ... पड़ेगी, फिर वह ब्रह्म नहीं हो सकेगा'।

यह वादीका कथन गलत है। आत्मा एवं परमात्माका ... उपाधिकृत है। उपाधिके भङ्ग होने पर जीव भी ब्रह्म ही हो जाता ...

महाभारतमें कहा है—'आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः । तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः' (शान्ति. १८७।२४) । आकाश सर्व-व्यापक एवं असीमित है । हमने मकान बनाया; वहां आकाश सीमित-सा हो गया; बन्धनमें आगया-सा हो गया । फिर उसे उपाधिवश मठाकाश कहा जाता है; उसकी लम्बाई-चौड़ाई भी भले ही नाप लो । पर जब वह मकान जोकि उपाधिरूप था, टूट गया; फिर वही सीमित मठाकाश सर्व-व्यापक महाकाश बन गया । जब तक वह मठ है; वा जब तक उस मठमें हेरफेर होता रहे; तब तक वह आकाश भी मठाकाशरूप बन्धनमें ही रहेगा; उस बन्धनके समाप्त होनेपर फिर वहीका वही हो जाता है । वस्तुतः आकाशमें कोई बन्धन नहीं था; पर प्राकृत दृष्टिमे वा संसारी दृष्टिमें वह बन्धन था, उस मठके टूटनेपर सब दृष्टियोंमें वह वही मठाकाश-घटाकाश आदि उपाधियोंसे सर्वथा मुक्त हो गया । यदि कहा जावे; कि-क्या फिर वहीं मकान नहीं बन सकेगा; यहां पर जानना चाहिये कि-दृष्टान्तका एकदेश लेना पड़ता है, सो वहाँ आत्माके उपाधिभङ्ग होने पर उसका सदाकेलिए परमात्मा हो जाना सिद्ध हो ही गया ।

वादीकी बुद्धि ही सदा स्वतः-प्रमाण नहीं हो सकती कि—उसके विरुद्ध शास्त्रमें मिली हुई सभी बातें प्रक्षिप्त हो जावें । समुद्रका ही जल हो, समुद्रसे ही निकालकर एक शीशीमें बन्द कर दिया जावे; फिर उसी को समुद्रमें मिला दिया जावे । समुद्रके पानीको सूर्य अपनी किरणों द्वारा खींच ले; और उसके बादल बनाकर फिर उसी जलको वृष्टि द्वारा नदियां बना दे, फिर वही नदियां समुद्रमें जा मिलें; तो समुद्रकी अनन्ततावश समुद्रमें न्यूनाधिकता नहीं होती; केवल नामरूप-रूप उपाधिभेद हो जाता है कि—वह वृष्टिका वा नदीका जल है, और यह समुद्रका जल है । जैसे कि-उपनिषदात्मक वेदका यह वचन प्रसिद्ध है—'यथा नद्यः स्यन्द-मानाः समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे-विहाय । तथा विद्वान् [आत्मा] नामरूपाद् विमुक्तः परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम्'. (मुण्डक. ३।२।८) 'कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति' (३।२।७) ।

(६) "गीताके १।४२ पद्यमें पितरोंको जलदान तथा पिण्डदान देनेका वर्णन वेदविरुद्ध तथा बुद्धिविरुद्ध होनेसे महर्षि वेदव्यासका नहीं हो सकता" ।

यह वादीका कथन ही वेदविरुद्ध है । मृतक पुरुषके जीवका श्राद्ध वेदानुकूल है । जैसे कि यह एक मन्त्र देख लीजिये— 'जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिः' अ. ६।१०(१५)।८) इसका अर्थ यह है कि–मृतक पुरुषका जीव स्वधा (श्राद्ध) से तृप्त होता है । स्वधा जलका नाम भी होता है, इसपर देखो वैदिक-निघण्टु (१।१२) । पितरोंको दिये जाते हुए अन्नका नाम भी 'स्वधा' आता है । वैदिक-निघण्टुमें 'अन्न'के नामोंमें 'स्वधा' (२।७) भी पढ़ा गया है । अव्ययोंमें 'स्वधा' यह पितृनिमित्तक अन्नादिनिमित्तक दानकेलिए आता है । 'अव्ययार्थभाग' में स्वा.द.जीने भी लिखा है—'देवेभ्यः स्वाहा, पितृभ्यः स्वधा' । इसीलिए 'सिद्धान्तकौमुदी' के अव्ययप्र. की तत्त्वबोधिनी आदि टीकाओंमें भी 'स्वधा' पितृ-दान अर्थमें आया है । वेदमें 'पितृ' शब्द प्रायः मृतकपुरुषों को प्राप्त होनेवाले लोकमें रहनेवालों के लिए आया है । जैसे कि—'पितॄणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः' (अ. १२।२।४५) 'अधा मृताः पितृषु सम्भवन्तु' (अ. १८।४।४८) । इसलिए मरणके निकट प्राप्त हुए जीवके लिए कहा जाता है—'माऽनुगाः पितॄन्' (अ. ८।१।७) अर्थात् ऐ पुरुष, तू जीता रह, पितरोंके पास मत जा अर्थात् मर नहीं; इत्यादि बहुतसे प्रमाण इस विषयमें दिये जा सकते हैं । इसलिए श्मशान का नाम भी 'पितृवन' प्रसिद्ध है । फलतः मृतकश्राद्धके वेदाभिमत होनेसे वादीकी अपनी बुद्धि ही विरुद्ध सिद्ध हुई । मृतकश्राद्ध-विषय 'आलोक' (४) पृ. ३३०-३४४), 'आलोक' (५) पृ. ६६४-६९२), 'आलोक' (८) पृ. ४१९-४३८) में देखो । तब गीताका १।४२ पद्य वेदविरुद्ध सिद्ध न हुआ ।

(१०) वादी कहता है—६।२२ गीतापद्यमें यह वर्णन है कि—'जो

मनुष्य श्रद्धासे युक्त होकर दूसरे देवताओंका पूजन करते है, वह भी मेरा पूजन है, यद्यपि उनका वह पूजन विधिपूर्वक नहीं है।' यह भाव वेद-विरुद्ध एवं बुद्धिविरुद्ध एवं गीताविरुद्ध है'। यह वादीका कथन उसकी बुद्धिको अल्पश्रुत सिद्ध कर रहा है, इस विषयमें 'आलोक' (८) पृ. २०४-२११ देखो। वेदोंमें भी देवपूजा स्पष्ट है—'आलोक' (४) पृ० ४३५-४३७) देखो।

(११) 'गीता १०।१२-१७ तक श्लोक केवल श्रीकृष्णको ईश्वरावतार सिद्ध करनेलिए रखे होनेसे प्रक्षिप्त हैं' यह वादीका कथन वेदविरुद्ध है। वेद अवतारवाद मानता है। देखो-'आलोक' (४) पृ. ३९४-४०४)।

(१२) ११वें अध्यायमें श्रीकृष्णने अर्जुनको दिव्य-दृष्टि दी; जिससे वह उसके विराट् स्वरूपको देख सका, पर संजय कैसे देख सका; जबकि—श्रीकृष्णके द्वारा उसे दिव्यदृष्टि देनेका कोई वर्णन नहीं मिलता।'

इस कथनसे मालूम होता है कि वादी अल्पश्रुत है। श्रीव्यास अन्ध धृतराष्ट्रको युद्धका हाल देखनेकेलिए नेत्र दे देना चाहते थे; 'यदि चेच्छसि संग्रामे द्रष्टुमेतान् विशाँपते! चक्षुर्ददामि ते पुत्र! युद्धं तत्र निशामय' (भीष्म. २।६) पर धृतराष्ट्र अपने कुलक्षयको नहीं देखना चाहता था—'न रोचये ज्ञातिवधं द्रष्टुं ब्रह्मर्षिसत्तम! युद्धमेतत्त्वशेषेण शृणुयां तव **तेजसा**' (७) उसने कहा मैं अपने ज्ञातिवालोंका हाल आपके तेजसे पूरा सुनना अवश्य चाहता हूं; तब तपोनिधि एवं अलौकिक-प्रभावशाली श्रीव्यासने **सञ्जयको दिव्यदृष्टि दी**, जिससे वह युद्धका पूरा वृत्त देख-सुनकर सुना सके। यह महाभारतमें व्यासजीने स्पष्ट कहा है—

'एतस्मिन् नेच्छति द्रष्टुं संग्रामं श्रोतुमिच्छति। **वराणामीश्वरो** (वर देनेमें समर्थ) व्यासः सञ्जयाय **वरं ददौ**' (८) तुम्हारे रथवाहक सञ्जयको मैं दिव्य-दृष्टि देता हूं, यह तुम्हें महाभारतका पूरा दृश्य और श्रव्य वृत्त सुनावेगा—'एष ते संजयो राजन्! युद्धमेतद् वदिष्यति। एतस्य सर्वसंग्रामे **न परोक्षं भविष्यति**' (भीष्म. २।९) इसे युद्धमें कुछ भी परोक्ष

नहीं होगा। 'चक्षुषा संजयो राजन्! **दिव्येनैव समन्वितः**। कथयि[illegible] ते युद्धं **सर्वज्ञश्च** भविष्यति' (१०) 'प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा दिवा वा [illegible] वा निशि। **मनसा चिन्तितमपि सर्वं** वेत्स्यति सञ्जयः' (११) यह स[illegible] जान सकेगा, चाहे वह वृत्तान्त गुप्त हो, दिनका वा रातका वृत्त हो, [illegible] **दूसरेके मनकी बात भी संजय तुम्हें बता देगा।**

'नैनं शस्त्राणि छेत्स्यन्ति नैनं बाधिष्यते श्रमः। गावल्गणिरयं [illegible] युद्धादस्माद् विमोक्ष्यति' (१२) यह युद्धमें देखभाल करने जाकर [illegible] शस्त्रोंसे अछूता रहेगा। यह कहकर श्रीव्यासने धृतराष्ट्रको उस सम[illegible] रहे अपशकुन भी सुनाये—'देवताप्रतिमाश्चैव कम्पन्ति च हसन्ति [illegible] वमन्ति रुधिरं चास्यैः स्विद्यन्ति प्रपतन्ति च' (२६) देवमूर्तियां क[illegible] काँपती हैं, कभी हँसती हैं, कभी मुखोंसे लहू उगलती हैं, कभी [illegible] पसीना-सा आ जाता है और कभी गिर पड़ती हैं।

यही बात वाल्मीकिरामायणमें भी सूचित की गई है—'देवागारा[illegible] शून्यानि...**देवतार्चाः** (देवमूर्तयः) **प्रविद्धाश्च** (२।७१।४०)। यही [illegible] मानवगृह्यसूत्रमें भी सूचित की गई है—'यदि अर्चा (मूर्तिः) दह्येत [illegible] नश्येद् वा, प्रपतेद् वा, प्रभज्येत वा, एताभिर्जुहुयात्' (२।१५।[illegible] यही बात सामवेद-षड्विंशब्राह्मणमें भी बताई गई हैं-'यदा देवताय[illegible] कम्पन्ते, दैवतप्रतिमा हसन्ति, रुदन्ति, नृत्यन्ति, स्फुटन्ति, स्विद्य[illegible] उन्मीलन्ति, निमीलन्ति, तदा प्रायश्चित्तं भवति...जुहोति, विष्णवे स्वा[illegible] चक्रपाणये स्वाहा' २६।५।१०) जो दयानन्दी इसका अर्थ बदलनेकी [illegible] करते हैं, यह गलत सिद्ध हो गया, यहां देवप्रतिमाओंका यह अपश[illegible] दिखलाया है। इसे स्वा.द.जीने काशीशास्त्रार्थमें **सामवेदके** नामसे [illegible] था; इससे मूर्तिपूजा भी वैदिक सिद्ध हो गई। अस्तु।

सञ्जयको दिव्य-दृष्टि मिलनेसे वह युद्धके परोक्ष दृश्यकी [illegible] विराट्रूपको भी पूर्वोक्त पद्योंके अनुसार देख सका; तब वादीका [illegible] खण्डित होनेसे गीताका ११वां अध्याय प्रक्षिप्त सिद्ध न हो स[illegible]

धृतराष्ट्रने भी यही सञ्जयको कहा था—'दिव्यबुद्धिप्रदीपेन युक्तस्त्वं ज्ञानचक्षुषा। प्रभावात् तस्य विप्रर्षेर्व्यासस्यामिततेजसः' (४।८) सञ्जयने भी स्वयं कहा था—'नमस्कृत्वा पितुस्तेऽहं पाराशर्याय धीमते। यस्य प्रसादाद् दिव्यं तत् प्राप्तं ज्ञानमनुत्तमम्। दृष्टिश्चातीन्द्रिया राजन्! दूरात् श्रवणमेव च। परचित्तस्य विज्ञानमाकाशे च गतिः शुभा। अस्त्रैरसङ्गो युद्धेषु वरदानान्महात्मनः। शृणु मे विस्तरेणेदं विचित्रं परमाद्भुतम्' (भीष्म. १५।७-१०) यहाँ पर सञ्जयकी अतीन्द्रिय दिव्यदृष्टि तथा आकाशगमन भी कहा है। इस प्रकार विपक्षीके आक्षेप खण्डित हो गये।

(१३) '१२।१-५ श्लोक ग्यारहवें अध्यायसे सम्बन्धित हैं। अर्जुन प्रश्न करता है—'आपके साकार-निराकार स्वरूपकी उपासना करनेवालों में कौन श्रेष्ठ योगका जाननेवाला है? श्रीकृष्णने ५वें श्लोकमें कहा—अव्यक्तकी उपासनामें अधिक कष्ट उठाना पड़ता हैं; क्योंकि-देहधारियोंको अव्यक्तकी प्राप्ति बड़ी कठिनतासे होती है' यह श्लोक मूर्तिपूजकोंके मिलाये हुए हैं कि—लोगोंको बताया जावे कि—साकार और निराकार परमात्माके दो स्वरूप हैं, और साकारकी उपासना निराकारकी अपेक्षा सरल है। वेद कहता है—'न तस्य प्रतिमा अस्ति' उस परमात्माकी कोई मूर्ति नहीं है। गीतामें भी सूक्ष्मत्वात् तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्' (१३।१५) यही कहा है कि—'सूक्ष्म होनेके कारण वह परमात्मा इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता'। जब उसका सूक्ष्म होनेसे आकार ही नहीं; तब साकारकी उपासना कैसी? अतः उक्त चारों श्लोक गीतामें प्रक्षिप्त हैं'।

इस पर वादी जाने कि—परमात्माके दो रूप शास्त्रीय हैं। जैसा कि—यजुर्वेदशतपथब्राह्मण में कहा है—'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे, मूर्तं चैव अमूर्तं च' (१४।५।३।१, बृहदा. २।३।१); तब गीताका कथन ठीक ही है। देहधारी उपासक पुरुष जब स्वयं व्यक्त है, एकदेशी है; तब वह

सर्वदेशी-अव्यक्त की उपासना सुगमतासे कैसे कर सकता है? जब वादी स्वयं मानता है कि—सूक्ष्म होनेसे परमात्मा इन्द्रियोंसे नहीं जाना जा सकता; तब वादी अपनी मन आदि इन्द्रियोंसे उसकी उपासना कैसे कर सकता है? तब तो उसे अपनी अभिमत उपासना भी छोड़नी पड़ेगी। यदि बिना इन्द्रियोंसे वादी अव्यक्तकी उपासना करे; तो उसमें कठिनता तो क्या, वहाँ तो असम्भव दोष उपस्थित हो जावेगा। पर गीताने उसे असम्भव न कहकर क्लिष्टतर कहा है, जिसका उपयोग सर्वसाधारण न करके उच्च योगी—जो साधारण देहधारियोंसे ऊपर उठे होते हैं—करेंगे, यह गीताने ध्वनित कर दिया है। तब गीताकी 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसाम्' यह बात ठीक ही निकल आई। सो अनुभवगम्य तथा प्रत्यक्षानुभूयमान गीताका कथन प्रक्षिप्त कैसे हो सकता है? इससे वादीका प्रक्षेप-अस्त्रका सहारा लेना उसका साम्प्रदायिक दुराग्रह है।

(ख) "गीता (१५।१६-१७) के अनुसार जीव-परमात्मा अलग-अलग हैं। अल्पज्ञ-सर्वज्ञ, एकदेशी-सर्वदेशी, अल्पशक्तिमान्-सर्वशक्तिमान् आदि दोनोंके भिन्न-भिन्न धर्म हैं। जीवको परमात्माका अंश माननेपर परमात्मा के टुकड़े मानने पड़ेंगे" यह वादीका कथन अपूर्ण है। इसपर विचार गत निबन्धोंमें हो चुका है; तब इस पर गीताके १३।२, १८।२२-२५ पद्योंको प्रक्षिप्त बताना भी वादीका खण्डित हो गया। यह तो अपने पक्षके बचावके हथकण्डे हैं। ८।४ आदि बहुतसे पद्योंमें अद्वैतपक्ष स्पष्ट है।

(१४) वादी कहता है—"१३।२३ के अनुसार खाली प्रकृति और पुरुषको जान लेनेसे पुनर्जन्म न होकर मुक्ति हो जाना कहना बुद्धिविरुद्ध है। वेदविहित शुभकर्मोंसे ही मुक्ति मिलती है, जाननेमात्रसे मुक्ति नहीं मिलती। और मुक्तका फिर जन्म नहीं होता, कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि—शुभकर्मोंका फल समाप्त हो जाने पर फिर जीवको कर्म करनेके लिए संसारमें आना पड़ता है; अतः यह पद्य भी प्रक्षिप्त है"।

इसमें वादीके अल्पश्रुतत्वका अपराध है। न्यायदर्शनमें कहा है—

'प्रमाणप्रमेय...निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः' (१।१।१) यहाँ इन पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मुक्ति-प्राप्ति कही है, तब क्या न्यायकार भी वादीके अनुसार नासमझ थे ? 'द्रव्य...समवायानां पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्' (१।१।४) वैशेषिकदर्शनके इस सूत्रसे द्रव्यादि छः पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मुक्ति बताई है। स्वा.द.के मान्य प्रशस्त-पादभाष्यमें भी इसी प्रकार 'षण्णां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्य-तत्त्वज्ञानं निःश्रेयस-हेतुः' यहां भी वही है, तब क्या महामुनि कणाद और प्रशस्तपाद भी वादीके अनुसार अज्ञानी थे ? इस प्रकार सांख्यशास्त्रमें प्रकृति-पुरुषके तत्त्वज्ञानसे मुक्ति मानी गई है। अन्य दार्शनिक भी अपने कहे पदार्थोंके यथार्थज्ञानसे मुक्ति मानते हैं; क्योंकि उनकी हेयता वा उपादेयता जानकर पुरुष उनका रहस्य समझ जाता है, वही मुक्तिकी सीढ़ी बन जाती है। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' आदि प्रसिद्ध वचन इसीलिए ही तो ज्ञानसे मुक्ति कहा करते हैं। मुक्तिका फल प्राप्त होनेके कारण वादीके कहे सुकर्मोंके समाप्त हो चुकनेसे पुरुष फिर किन कर्मोंसे मनुष्य-संसारमें आवेगा, यह वादीको सप्रमाण बताना पड़ेगा ? क्या गर्भमें विना कर्म भी आत्मा फिर आ सकेगा ? तब तो वादीने नित्य-मुक्त परमात्माका अवतार भी सिद्ध कर दिया। वह भी बिना कर्मके ही स्वेच्छासे ही संसारमें अवतार लेगा; इतना उसका लौकिक मुक्तसे अन्तर अवश्य ही होगा।

वस्तुतः कर्मसे मुक्ति नहीं मिला करती; सुकर्मसे तो स्वर्ग ही मिला करता है। मुक्ति तो कर्मफलके त्यागसे कर्मके अकर्म (कर्माभाव) होने पर और फिर 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते' (४।३३) 'तत् (ज्ञानं) स्वयं योग [कर्मयोग] संसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति' (४।३८) ज्ञान प्राप्त हो जाने पर मिलती है। मुक्त होने पर कर्म तिलमात्र भी न रहनेसे कर्मोंसे होनेवाला पुनर्जन्म हो ही नहीं सकता। इस विषयमें द्वितीय निबन्धके १३, १४, १५ अंश पृ. १४४-१५६ में देखो। इस प्रकार वादीका पक्ष निराकृत हो गया।

(ख) इसी तरह १४।२, १९, २६, २७ गीताके इन पद्योंको जो कि वादी प्रक्षिप्त बताता है, इसका प्रत्युत्तर हम १३ (ख) पृ. ३६५ में तथा ३रे अङ्क पृ. ३५४-५५ में पूर्व दे चुके हैं।

(१५) "१५।६-८, १३-१४ पद्योंके 'जहां जाकर फिर लौटना नहीं पड़ता है' इस पर मुक्तिमें वादी द्वारा अनन्तता न मानना पूर्व कई बार खण्डित किया जा चुका है। यह जो वादीने कहा है कि—'वेदोंमें कहीं ऐसा प्रमाण नहीं मिलता; जहां मुक्तोंकेलिए परमात्माने विशेष स्थान नियत किया हुआ हो; अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त हैं' यह कथन भी व्यर्थ हैं। वादीको भी ३६००० वर्ष तक मुक्तोंकी किसी विशेष स्थानमें रखना मानना ही पड़ेगा। ३६००० वर्षोंके वारेमें टिप्पणी पृ. ३५८ में देखो।

वल्कि पहले तो स्वामी प्रथम सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्कारविधि और प्रथम ऋभाभू. के समय मुक्तिको अनन्त अवधि-रहित (सदाकेलिए) मानते रहे, वल्कि १८७७ के चांदपुरमेलाके ईसाइयोंके साथ अपने शास्त्रार्थके समय तक भी स्वामीजी मुक्तिको अनन्त मानते रहे; पर उन ईसाइयोंकी युक्तियोंसे निरुत्तर होकर फिर वे मुक्तिको सान्त (अन्तवाली) मानने लगे। मुक्तिको अन्तवाली मानने पर भी १८८४ वाली स.प्र.की दूसरी आवृत्तिमें स्वामीजीने मुक्तिकी अवधि तीन लाख साठ सहस्र वार सृष्टिकी उत्पत्ति और प्रलयके समयके वरावर नियत कर दी। सन् १८८ की स.प्र.की ३री आवृत्तिमें भी यही मुक्तिकी अवधि स्थित रही। उस आवृत्तिमें यह (तीन लाख साठ हज़ार) अवधि अङ्कोंमें ही केवल नहीं लिखी गई, जिससे छापेकी भूलकी गुञ्जाइश कही जा सके; बल्कि अक्षरों-शब्दोंमें भी वह लिखी गई; जिससे अङ्क घट-बढ़ जानेका अवसर भी न रहा; पर स.प्र.की ४र्थ आवृत्तिमें 'तीन लाख ६० सहस्र' संख्याके बदले 'छत्तीस सहस्र वार' शब्द छाप दिये गये। द.सि.प्र. (पृ. २३६) में उसका प्रणेता कुछ उत्तर तो नहीं दे सका; किन्तु स्वा.द.के पौराणिक कुलमें उत्पन्न होनेसे पौराणिक संस्कारके कारण ऐसा होना मानता है, पर

यह गलत है, पौराणिक मतमें मुक्तिकी तीन लाख वर्ष अवधि कभी भी नहीं मानी गई। यदि पौराणिक कुलमें उत्पन्न होनेसे स्वा.द.ने यह भूल की, तो वे तथाकथित 'वैदिककुल' में तो कभी उत्पन्न हुए भी नहीं; तब उनकी पुस्तकोंमें शेष सारी बातें 'पौराणिक' क्यों न मानी जावें? फिर 'बोधोत्सव' का कुछ भी महत्त्व न रहा; क्योंकि—बोधप्राप्तिसे शुरू करके अन्त तक भी उनके मत परिवर्तित होते रहे। सो यह केवल दयानन्दियोंकी बहाने-बाज़ी है।

इससे जहां स्वामीकी अपने सिद्धान्त बदलते रहनेसे अनाप्तता सिद्ध होती है; वहाँ इतने हज़ार वर्ष तक मुक्तोंके रहनेकेलिए परमात्मा द्वारा कोई विशेष स्थान वादियोंको भी मानना ही पड़ेगा। इस विषयमें हम अन्यत्र विवेचन कर चुके हैं। सो वादी जो प्रमाण इस विषयमें देगा; उसे ही हम भी दे सकेंगे। संहितात्मक वेदमें कर्म-उपासनाका विषय मुख्य होनेसे उसका फल स्वर्ग होता है; अतः उस (संहितात्मक वेद) में प्रायः स्वर्गका वर्णन पर्याप्त मिलता भी है। फलासक्ति-रहित कर्म एवं ज्ञानका मुख्य विषय उपनिषदात्मक वेदका होनेसे मुक्तिके सम्बन्धमें पर्याप्त प्रमाण भी उपनिषदोंमें ही मिलेंगे। वहाँ सूर्यलोकको मुक्तिका द्वार बताया है। उसीमें से होकर मुक्तोंको मुक्तिलोक-वैकुण्ठमें रहना पड़ता है; पर वे मुक्त स्वेच्छानुसार जहाँ-तहां सूक्ष्मरूपमें वा कोई मायिक वा अभौतिक शरीर बनाकर आ-जा सकते हैं, जैसे कि छान्दोग्यादि-उपनिषदोंसे यह विषय स्पष्ट है। स्वामीने भी ऋभाभू. आदिमें कुछ-कुछ इसको माना है। वादी वेदसे मुक्तोंके जो मन्त्र दिखलावेगा; उन्हींमें मुक्तिलोक भी ढूंढा जा सकता है।

हम भी उसे उसीके अभिमत कुछ प्रमाण बताते हैं। वादी देखे—'यत्र देवा अमृतमानशानाः तृतीये धामन्नध्यैरयन्त' (यजुःसं. ३२।१०) यहां तृतीयलोकको मुक्तिका स्थान बताया है; जिसे निरुक्तकार द्युलोक कहते हैं। स्वा.द. उसी 'द्यु' को सूर्यलोक भी कहा करते हैं; तब

उपनिषदोंसे संहिताका भी ऐकमत्य सिद्ध हो गया। यहां 'अमृत' का अर्थ 'मुक्ति' किया जा सकता है। 'यत्र [लोके] ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वः [सूर्यज्योतिः] हितम् [निहितम्]। तस्मिन् मां धेहि पवमान! अमृते लोके अक्षिते' (ऋ. ९।११३।७) यहाँपर न नष्ट होनेवाले अमृत (मुक्ति) लोकका वर्णन है, और उसमें मुक्तका रखना कहा है। इसी प्रकार 'यत्राऽनुकामं चरतां त्रिनाके त्रिदिवे दिवः। लोका यत्र ज्योतिष्मन्तः तत्र माम् अमृतं कृधि' (ऋ. ९।११३।९) यहां पर मुक्तिके लोक-विशेष में इच्छानुसार घूमना-फिरना और सूर्यकी स्थिति भी कही है। 'यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम्। स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधि' (ऋ. १०) यहां पर सूर्यलोकमें मुक्तिलोकका संकेत दिया गया है; उसीमें सब तरहके कामोंकी प्राप्ति और तृप्ति बताई गई है। यदि वादी मुक्तकेलिए जहां केवल उनके अनुसार कर्मफलभोग ही है; कर्म नहीं; तब क्या वादी मुक्तको ३६००० साल इस मनुष्यलोकमें रखता है? यदि हाँ; तो मनुष्यलोक तो कर्मलोक है; फिर उन्हें कर्म करने पड़ेंगे; फिर मुक्तिका इस लोकसे भेद क्या हुआ? यदि वे मुक्तलोग परमात्मामें रहते हैं; यही मुक्तिलोक है; तो परमात्मा तो वादियोंके अनुसार अखण्ड सर्वव्यापक है; उसमें वे एकदेशी जीव कैसे विचरते हैं? क्या वे भी उसमें सर्वव्यापक हो जाते हैं? अब भी इस लोकके लोग भी क्या परमात्मामें नहीं विचर रहे? तब मुक्तिका इस लोकसे अन्तर क्या हुआ?

अथवा यदि वादी भी परमात्माकी मुक्तिलोक (वैकुण्ठ) में विशेष स्थिति मानते हैं; उसीमें मुक्तोंका सञ्चरण मानते है; तब यह तो 'घट्टकुटयां प्रभातायितम्' न्यायसे वही आप लोगोंसे न मानी जाती हुई पौराणिक मुक्ति आ गई? फिर गीताके मुक्तिप्रतिपादक श्लोक प्रक्षिप्त कैसे हुए? स्वा.द.ने सं.वि. वानप्रस्थमें लिखा है—'वे विद्वान् निर्दोष, निष्पाप, निर्मल होके प्राणके द्वारा जहां मरणजन्मसे पृथक् नाशरहित पूर्ण

परमात्मा विराजमान हैं, वहीं जाते हैं (पृ. २४६) यहां स्वामीने भी परमात्माको 'जहां वहीं' यह कहकर मुक्तिरूप लोकविशेष परमात्माके नियत स्थान-विशेष, जो उनके मतमें आकाशमें है—'वे मुक्त जीव... सङ्कल्पमय शरीरसे आकाशमें विचरते हैं' (स. प्र. ६ पृ. १४६) सो सूर्यादि लोकोंमें नियतस्थानमें माना है।

(१६) "जीवका मन और ज्ञानेन्द्रियोंको अपने साथ ले जाना बुद्धि-विरुद्ध होनेसे मान्य नहीं। मन और ज्ञानेन्द्रियां प्रकृतिनिर्मित हैं, जीवात्मा स्वभावसे निर्विकारी है, अतः उन्हें साथ नहीं ले जा सकता। जब उसका शरीरसे सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है; तो इससे भी उसका सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, अतः १५।७-८ पद्य प्रक्षिप्त हैं"।

वादीका यह कहना अल्पश्रुतता है। आत्मा सूक्ष्म शरीरको भी अपने साथ ले जाता है, उस सूक्ष्मशरीरमें भी वे सब संस्कार रहते हैं। वादी यहां तो कहता हैं कि—'जीवात्मा स्वभावसे निर्विकारी है' (पृ. १६३) और पृ. १६२ में कहता है कि—जीव कभी परमात्मा नहीं बन सकता, क्योंकि—सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष और प्रयत्न [आदिसे बुद्धि, धर्म, अधर्म होंगे] जो जीवके स्वाभाविक गुण हैं, वह उससे अलग नहीं किये जा सकते। परमात्मा सुख, दुःख, द्वेष आदिसे रहित है, यह वादीका परस्पर-विरोध है। आत्माको यहां वादीने विकारी बना दिया। तब क्या वह अपने इन वचनोंको प्रक्षिप्त माननेकेलिए तैयार है? यदि नहीं, तब गीतामें परस्पर-विरोध बताकर उसमें प्रक्षेप बताना उसका अपनेसे निराकृत हो गया। निःसङ्ग कर्मोंसे चित्त-शुद्धि द्वारा सब दोषोंको हटाकर आत्मा पूर्ण निर्विकार बनकर ब्रह्म ही हो जाता है। उस समय उसका सूक्ष्म शरीर भी जल जाता है। फिर वह ब्रह्मसे पृथक् नहीं रह जाता। समुद्रका जल समुद्रमें जा मिलता है।

(१७) वादी कहता है—'मैं चन्द्रमा बनकर वनस्पतियोंको पुष्ट करता हूं। यह बुद्धिविरुद्ध होनेसे माननीय नहीं है, क्योंकि—सूर्य-चन्द्रमा

'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इस वेदवचनानुसार परमात्मा... बनाये हुए हैं, न कि वे स्वयं परमात्मा हैं'।

वादीको याद रखना चाहिये कि अद्वैतवादमें सबको अपना... कहना पड़ता है। बनाता भी वही है, बनता भी वही है। व्यवहार... भिन्नतासे निर्माण भी कहना पड़ता है। 'पितासे पुत्र होता है' यह... कहा जाता है। 'पिता ही पुत्र होता है', क्योंकि वह उसीका अंश है—... भी कहा जाता है।

वेदमें भी इस प्रकारका वर्णन मिलता है...'अहं मनुर... सूर्यश्चाऽहं' (ऋ. ४।२६।१) में परमात्मा अपने-आपको सूर्य कहता है। 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ. १०।१६०।३) ... परमात्मा द्वारा सूर्य-निर्माण कहा है। 'योऽसौ आदित्ये पुरुषः, सोऽसावह...' (यजु: ४०।१७) यहाँ अपनेको परमात्माने सूर्यका आत्मा कहा है। ... दक्षिणमक्षि असौ स आदित्यः, यदस्य सव्यमक्षि, असौ स चन्द्र...' (अथ. १५।१८।२) यहाँ सूर्य-चन्द्रको व्रात्य (वादियोंके अनुसार परमात्मा) की दाहिनी-बाईं आंख बताया है। सो अङ्ग अङ्गीसे अभिन्न होता है; इसलिए सूर्य-चन्द्र भी वही हुआ, गीताकी बात भी ठीक सिद्ध हुई।

इस प्रकार वादीका 'गीताका सच्चा स्वरूप' निबन्ध वास्तवमें '... का गलत रूप' ही उपस्थित करता है। यह बात सिद्ध हो गई। ... मान्य पुस्तक 'भगवद्गीता' की सारे संसारमें प्रतिष्ठा देखकर ही ... जले-भुने हुए विपक्षी उसे गिरानेकी असफल चेष्टा किया करते हैं। 'आलोक' पाठकोंने उनकी यह दुश्चेष्टा देख ही ली। अतः जनताको ... लोगोंका 'वास्तविक रहस्य' समझकर इन कृतियों वस्तुतः दुष्कृतियों... कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। इस प्रकार गीताकी तीन आलोच... पुस्तिकाओंकी प्रत्यालोचना कर दी गई है। इसके बाद 'वेदस्व... निरूपण' देकर पूर्ववत् फिर गीताकी चतुर्थ आलोचना-पुस्तिका... प्रत्यालोचना दी जावेगी।

वेदस्वरूपनिरूपण (शेष भाग)

(पृ० ३४८ से आगे)

(२७) १-२ पृ- ६० निष्कर्षमें वादी लिखता है—'निगम तथा छन्दः' पद सम्पूर्ण वैदिक-साहित्य (मूल-संहिता, शाखा, ब्राह्मण आदि) के लिए है'। वादीके अनुसार उसके 'अद्वितीय वेदद्रष्टा भगवान्' दयानन्द स. प्र. (७ समु. पृ. १२७) में 'इत्यपि निगमो भवति' इति ब्राह्मणम्' 'छन्दो-ब्राह्मणानि च तद्' के अनुसार निगम तथा छन्दको वेद-वाचक मानते हैं, ब्राह्मणको अलग करते हैं। पर यदि वादीके अनुसार शाखा तथा ब्राह्मण भी निगम तथा छन्द हैं; तो आर्यसमाजको बधाई हो, उसके मान्य एक अनुसन्धाताने समस्त शाखा-ब्राह्मणोंको वेद बना दिया; और अपने अद्वितीय वेदद्रष्टा स्वा.द.का खण्डन कर दिया। हमारे पक्ष की पुष्टि इससे अधिक क्या हो?

यदि वादी निगम तथा छन्दको स्वामीके कथनानुसार 'वेद' वाचक नहीं मानता; तो स्वा.द.का अपनेसे दिया हुआ 'अद्वितीय वेदद्रष्टा भगवान्' यह विशेषण हटवा कर उसी विशेषणको अपने नामके साथ लगा ले। या तो वह अपनेको भ्रान्त माने, या स्वा.द.जीको, या दोनोंको। वस्तुतः विपक्षीने अपने साम्प्रदायिक स्वामीके मतकी लुटिया डुबोकर स.ध.के पक्षकी बड़ी सहायता की है, उसे धन्यवाद!!!

२ वादी शाखाओंको मूलवेदकी व्याख्या मानता है; तो क्या वह 'छन्दस्' के उदाहरणभूत शाखा-ब्राह्मणोंके पदोंका मूल अपनी मूलवेद-संहितासे दिखला सकता है? यदि ऐसा है; तो 'निष्टर्क्यं चिन्वीत पशुकामः' (३।१।१२२) 'मामकी तनू इति' (१।१।१८) 'ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत्' (१।१।१६) आदि शतशः पदों वा वाक्यांशोंका मूल अपनी मूलसंहितासे दिखलानेकी प्रतिज्ञा करे। यदि नहीं करता; तब उसकी इष्ट-संहिताएं न तो पूर्ण वेद हुई, और न मूल-संहिता सिद्ध हुई। वह त्रिकालमें भी इस अपनी गिरी दीवारको खड़ा नहीं कर सकता।

३ 'संहिता' को यदि वादी मूलसंहिताओं एवं शाखाओंकेलिए मानता है; तो बधाई हो। आर्यसमाज संहिताओं को वेद मानता है, तब सभी काण्व, काठक आदि संहिताएँ (शाखाएं) तदनुसार वेद हो गईं; 'मूल-संहिता' शब्द तो व्यर्थ है। सभी ११३१ शाखाएँ मूलवेदसंहिता हैं। सभी समाधिदृष्ट हैं। अपनी कुलपरम्परानुसार ११३१ संहिताओंमें जो भी चार संहिता होती हैं, उस कुलकी वही मूलसंहिता होती है, शेष शाखा। वादीके सम्प्रदायकी तथाकथित संहिता भी शाकल, माध्यन्दिनी, कौथुमी, शौनकी शाखाएँ ही तो हैं। ऐसे चारों वेद कोई भी नहीं, जो शाखा न हों। यास्कमुनिकी तथा भाष्यकारकी मूल ऋसं. अन्य है, यजुर्वेदसं. अथर्ववेदसंहिता अन्य हैं, यह हम गत निबन्धमें बता चुके हैं; वे वादीकी संहिताओंको शाखा भी कहेंगे, सम्भव है कि इन्हें पौरुषेय भी कह दें। जैसेकि यास्कमुनिने वादीकी ऋसं.के 'वा यो' को 'शाकल्यकी कृति' कहकर खण्डित कर दिया, और अपनी मूल ऋसं.का 'वायः' यह एक पद बताया, यह हम गत निबन्धमें बता चुके हैं, गत पुष्पोंमें भी बता चुके। परन्तु तटस्थ-दृष्टिवाला सभी शाखाओंका मान करता है; और सभीको वेद मानता है; और समझता है कि—शाखी शाखाओंसे कभी पृथक् नहीं होता। मूल तो परोक्षमें होता है, वह तो पृथिवीमें दबा होता है, दीखता ही नहीं। दीखने वाले सभी अंश शाखाएं ही होते हैं। पर यहांका मूल तो 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्' यह ऊर्ध्व परमात्मा ही होता है।

४ 'मन्त्र' पदका प्रयोग वादी मूलसंहिताओंकेलिए तथा शाखाओंके मूलसंहिताओंसे उद्धृत मन्त्रभागकेलिए मानता है; यदि ऐसा है तो वह 'मन्त्रे' (३।२।७१) के 'श्वेतवा इन्द्रः, श्वेतवाहौ, उक्थशाः, अवयाजौ, वरुणस्य अवया असि' आदि मन्त्रभागके पद वा वाक्यांशोंको 'मन्त्रे' (२।४।८०) के 'अक्रत वा अस्य दन्ताः' मन्त्रभागके वाक्यांशको 'मन्त्रे' (३।३।९६) के वित्तिः, भूतिः' आदि उदात्त क्तिन् वाले इस प्रकार अन्य भी बहुतसे प्रयोग हैं; अपनी मूलसंहितासे दिखलावे; क्योंकि—वादीके

अनुसार शाखाओंके मन्त्रोंमें मूलसंहितासे थोड़ा ही भेद होता है, शेष पूरा मन्त्र आपसमें मिल ही जाता है।

इसी प्रकार 'निरुक्तकार' से उद्धृत मन्त्रभागके मन्त्रोंको उसी रूप से अपनी मूलसंहितासे दिखलावे; जैसे कि—'एक एव रुद्रोऽवरुस्थे न द्वितीयः' (१।१५।७) जिसका आगेका अंश है—'रणे निघ्नन् पृतनासु शत्रून्' और अन्तमें 'सञ्चुकोचान्तकाले' है, 'ओषधे ! त्रायस्वैनम्' (१।१५।६), प्रोहाणि, पूर्वमन्त्रके साहचर्यसे लोट्लकारका (१।१५।५), 'अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि' (१।१५।८) इन मन्त्रोंको भी वादी अपनी मूलसंहिताओंसे दिखलावे। यदि न दिखला सका; तो उसका मत गलत है—यह वह लिखकर हमें दे दे।

वस्तुतः 'मन्त्र' पदका प्रयोग सभी शाखाओंकेलिए होता है, मूल-संहिता पृथक् कोई नहीं होती। ये भी शाखाएँ ही होती हैं। यदि मूल-संहितासे तत्तन्मन्त्र उद्धृत करनेसे वा कुछ थोड़ा हेरफेर होनेसे ही यदि 'शाखा' नाम होता है, तो वादीकी इष्ट यजुः, साम, अथर्वसंहितामें ऋसं॰ के बहुतसे मन्त्र हेरफेर करके आये हैं; तब क्या वे संहिताएं भी ऋग्वेदकी शाखाएं हैं ? यदि वे मन्त्र अपने-अपने वेदके माने जावें, वैसे ही सभी शाखाओंके सदृश मन्त्र भी अपनी-अपनी संहिताओंके माने जाते हैं। कृ.य. तैत्ति.सं. वाला भी कह सकता है कि–हमारे 'श्रृणोत ग्रावाणः' (३।१।७) को माध्यन्दिनी-शाखामें 'श्रोता ग्रावाणः' (माध्यं. ६।२६) के रूपमें हेर-फेर कर दिया। हमारे आदिम-मन्त्रको कुछ काट-छांट करके माध्यन्दिन-संहितामें आदिमें रख दिया गया; हमारी संहिताकी भाषा प्राचीन है, माध्यन्दिनीकी नवीन है–इत्यादि; फिर विनिगमनाविरहसे वादीका पक्ष सिद्ध नहीं हो सकता। सभी शाखाएँ, जिनमें वादीकी चार शाखाएँ भी हैं, वे भी सभी मूलसंहिताएँ हैं; वे भी सब याज्ञवल्क्य कुथुम, शौनक, माध्यन्दिन आदि नामोंवाले ऋषियोंसे दृष्ट हैं।

पृ. ६१। श्रीपाणिनिने जब 'स्नात्वी' मूल वैदिक पद सिद्ध किया है,

उसका अभाव ही तो 'स्नात्वा' होगा। 'स्नात्वा' तो लोकमें भी ... उसकी तो कुछ भी विशेषता न रही। विशेषता 'स्नात्वी' में है। ... 'स्नात्वी' शब्द स्पष्ट वेदका सिद्ध हुआ। इससे 'स्नात्वी' पाठ रखने... संहिताएं वेद सिद्ध हुईं, उसके स्थान 'स्नात्वा' रखनेवाली संहिताएं ... हेरफेर वा व्याख्यान सिद्ध हुईं। श्रीपाणिनि यदि सभी शाखाओंको ... न मानते, तो उन्हें 'भाषायां' में गृहीत करते; पर न करनेसे स्पष्ट है कि वे वेद हैं। वादीके स्वा.द.जीने अपने 'अष्टाध्यायीभाष्य' में 'भाषायाम्' का ... लिखा है—'वेदाद् इतरग्रन्थेषु' (२।३।६६)। और फिर स्वा.द. ... 'छन्दः' का अर्थ वेद ही किया है, उसका शाखा अर्थ नहीं किया। ... के अन्तमें तथा अपने वेदाङ्गप्रकाशों तथा अष्टाध्यायी-भाष्यमें सर्वत्र ... का अर्थ उन्होंने 'वेद' किया है। सो सभी संहिताओं वा ब्राह्मणादिक... को किसीने भी प्राचीन ग्रन्थमें 'भाषा' नहीं माना गया। भाषासे भिन्न ... यास्क तथा भाष्यकार एवं पाणिनिने वेद माना है। तो वादी जिन्हें ... शाखा कहता है, वे भी 'वेद' ही सिद्ध हुए, भाषा नहीं।

क्या वादी 'अग्निर्मूर्धा दिवः ककुद्' को 'मूर्धा अग्निः ककुद् ...' रूपमें हेरफेर करने पर, वा पर्यायवाचक शब्द बदलने पर, वा ... पर्यायवाचक छन्द, वा निगम, वा आम्नाय, वा मन्त्र मान लेगा? यदि ... पर समस्त शाखाओं को छन्द (वेद) माना जाता है; तो स्पष्ट है कि ... वे वेद हैं। समाधि लगाने वाले शाकल्य, माध्यन्दिन, तित्तिरि, कण्व, ... आदि ऋषियोंको परमात्मा-द्वारा जो-जो शब्द-वर्ग मिला, उसका ... प्रवचन कर दिया गया, इसलिए उस-उस संहिताका नाम उस ... ऋषिके नामसे प्रसिद्ध हुआ। ऋषि दर्शन वा प्रवचनसे होता है, निर्मा... नहीं। श्रीयास्कने 'कुत्स ऋषिर्भवति, कर्ता स्तोमानाम्' (३।२।१) ... ऋषिको वेदके सूक्तोंका कर्ता कहा है; पर अन्यत्र कहा है—'ऋषिर्दद... स्तोमान् ददर्श' (२।११।१) यहां ऋषिको वेदमन्त्रोंका द्रष्टा कहा है। सो समाधिमें दर्शन होनेसे उसी मन्त्रको उसी रूपमें प्रवचन कर दे...

यही ऋषित्व होता है; सो ऋषि बनानेसे नहीं होता, किन्तु दर्शन वा प्रवचनसे। सो जो प्रवचन करता है, वह कर्ता नहीं हो जाता है। 'यत् तेन प्रोक्तम्, न तत् तेन कृतम्' (महाभा. ४।३।१०१)। पर हम लोग जो वेदमन्त्रोंमें परिवर्तन कर दें; तब मन्त्रकी मन्त्रता वा वेदता नष्ट हो जाती है, क्योंकि-हम समाधि नहीं लगा सकते; अतः वह, हमारी रचना वा पौरुषेय योजना हो जाती है, पर ऋषि मनुष्ययोनिसे भिन्न होते हैं; अतः वेदादिमें उन्हें मनुष्यसे भिन्न कहा गया है। जैसे कि—

मनुस्मृति (४।२१) में 'ऋषियज्ञ' को नृयज्ञ से भिन्न बताया गया है। अथर्ववेदसंहितामें भी 'देवा मनुष्या असुराः पितरः ऋषयः' (१०।१०।२६) 'देवान्, मनुष्यान्, असुरान् उत ऋषीन्' (८।९।२४) प्रत्यक्ष है। योगदर्शनके व्यासभाष्यमें देखिये—'मनुष्य-जातिः पशून् उद्दिश्य श्रेयसी, देवान् ऋषींश्च अधिकृत्य न [श्रेयसी] (४।३३) यहां भी ऋषियोंको मनुष्योंसे भिन्न बताया गया है। इसीलिए वैशेषिकदर्शनके प्रशस्तपादभाष्य में ऋषियोंकी उत्पत्तिमें भी मनुष्योंसे विलक्षणता बताई गई है—'तत्र अयोनिजम् अनपेक्ष्य शुक्रशोणितं देव-ऋषीणां शरीरं धर्मसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते' (द्रव्यग्रन्थ पृथिवी-निरूपणमें) इससे ऋषि एक प्रकारके अवतार बताये गये हैं, जैसे कि श्रीकृष्णावतारादि, मनुष्योंके घर हुए। 'मनुष्य-देव-ऋषि-पितृगणाः प्रजापतेर्मानसा आख्याता.' (प्रशस्त. सृष्टिसंहारविधि-निरूपण) यहां भी ऋषियोंको मनुष्योंसे भिन्न एक योनिविशेष बताया गया है। इस विषयमें अन्य भी प्रमाण (मनु. १।३६), ऐतरेयब्रा. (६।१, ७।१), शतपथब्रा. (१४।४।२।२१) निरुक्त (१३।१२) महाभारत (द्रोणपर्व ५६।१२) 'देव, ऋषि और मनुष्यका भेद न समझकर पं० शिवशंकर काव्यतीर्थने अपने उपनिषद्भाष्यके उपोद्घातमें 'सहस्र-संवत्सर (मी. ६।७।१३) इस सूत्रका अधूरा अर्थ किया है, और ऋषियों की आयु भी मनुष्यवत् सीमित करनेकी भूल की है' (भारतवर्षका बृहद् इतिहास) प्रथमभाग पृ. १४० की टिप्पणीमें श्रीभगवद्दत्तजी) आदि दिये

जा सकते है, पर दिङ्मात्र हमने यहां दिखलाये हैं। अतः उन ऋषिदृष्ट संहिताओंको अवेद नहीं कहा जा सकता, न किसीने आज तक कहा है।

'मूलसंहिता'की रट' यह दयानन्दी-सम्प्रदाय है। उसकी तथाकथित मूलसंहिता भी तो शाकल, माध्यन्दिन, वाजसनेय, कुथुम, शौनक आदि ऋषियोंसे प्रोक्त शाखाएं हैं, यह सर्वमान्य है। तभी तो वादीको ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, कहीं भी नहीं मिलेंगे। जहां मिलेंगी, वहां 'संहिताएं' ही मिलेंगी—ऋग्वेदसंहिता, यजुर्वेदसंहिता आदि। फिर प्रश्न होगा कि-यह कौनसी यजुर्वेदसंहिता है; तो उत्तर होगा कि—यह वाजसनेयी यजुर्वेदसं. है, यह तैत्तिरीय यजुर्वेदसं. है, यह यजुः-काण्वसं. है। प्रश्न होगा यह कौनसी अथर्ववेदसं. है; तो उत्तर होगा कि-यह शौनकी संहिता है, यह पैप्पलादीसंहिता है-आदि। वादी यह अवश्य याद रख ले। इससे उसकी सभी भ्रान्तियां नष्ट होंगी।

इसलिए 'ताद्धित' (पृ. ६१) में स्वामीजी 'छन्दो-ब्राह्मणानि च तद्'-(४।२।६५) सूत्रमें तथा आप सभी वादी यहां 'छन्द' का अर्थ वेद मानते हैं; स्वामीजीने उक्तसूत्रमें उस छन्द (वेद) के उदाहरण 'वाजसनेयिनः, कठाः, पैप्पलादाः' यह दिये हैं। वाजसनेयी १५ शुक्ल शाखाएँ हैं; उनमें प्रसिद्ध माध्यन्दिनी शाखाका नाम 'वाजसनेयी' है, जिसे आर्यसमाजी अपना वेद मानते हैं। सो यह भी शाखा है। 'कठाः' यह पाणिनिके अनुसार यजुर्वेदसंहिता है। 'पैप्पलादाः' यह महाभाष्यकारकी इष्ट अथर्व-वेद-संहिता है।

'शौनकादिभ्यः छन्दसि' (४।३।१०६) में छन्द (वेद) वाच्य होनेपर शौनक आदियोंको णिनि कहा है। इस गणमें शौनक तथा वाजसनेयी शाखाओंका नाम स्पष्ट है। सो शौनकसंहिता वही है, जिसे आर्यसमाजी अपना अथर्ववेद कहते हैं। वाजसनेयी संहिता वही है, जिसे दयानन्दी यजुर्वेदसंहिता कहते हैं। इसको छन्द (वेद) कहा गया है। स्वा.द. 'छन्द' का अर्थ 'वेद' कहते हैं, वादी 'छन्द' का अर्थ 'शाखा' भी करता है; सो

उसकी मान्य संहिताएं शाखा भी सिद्ध हो गईं, और वेद भी। इसी प्रकार 'कठचरकाल्लुक्' (४।३।१०७) 'कलापिनोऽण्' (४।३।१०८) में कठ, चरक तथा कलाप-शाखाओंको छन्दस्त्व (वेदत्व) अभिधेय होनेपर ही प्रत्यय वा प्रत्ययका लुक् कहा गया है। इनमें कठशाखाको श्रीपाणिनिने यजुर्वेद (७।४।३८) कहा है।

इसी प्रकार 'शाकलाद् वा' (पा. ४।३।१२८) में शाकलसंहिताको याद किया गया है, जिसे वादी ऋग्वेदसंहिता कहते हैं। ४।३।१०२ में तैत्तिरीयसंहिताको स्मरण किया गया है। 'नान्तस्य टिलोपे...कौथुमि' (४।३।१०८) में कौथुमीसंहिताको स्मरण किया गया है, जिसे वादी सामवेदसंहिता कहते हैं। 'चरणाद् धर्माम्नाययो:' (वा. ४।३।१२४) इस वार्तिकसे चरण (शाखाप्रवचनकर्ता) से आम्नाय अर्थमें प्रत्यय कहा है। इसका उदाहरण दिया गया है—'कठानाम् आम्नाय: काठकम्। पिप्पलादानामाम्नाय: पैप्पलादकम्' आदि। यहां वह 'काठक' है, जिसे श्रीपाणिनि (अष्टा. ७।४।३८) यजुर्वेद कहते हैं। पैप्पलादक वह है, जिसे महाभाष्यकार अथर्ववेद कहते हैं। वादी भी आम्नायका अर्थ महाभाष्यके वचनमें 'वेद' मानता है। शेष रहा इसमें माध्यन्दिन-शौनक आदि वादीके इष्ट चरणोंका उदाहरणमें न कहना, सो कारण यह है कि—महाभाष्यके समयमें आर्यसमाजसम्मत शौनकमाध्यन्दिन आदिको कोई जानता वा पूछता भी नहीं था। तभी तो महाभाष्यकारको कहना पड़ा—'ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते' (४।३।१०१)।

फलत: सभी मन्त्रसंहिता वेदशाखा ही होती हैं; सो सभी वेदशाखा पूर्ववचनोंसे वेद ही होती हैं। पाणिनिका 'छन्द:' शब्द मन्त्र (सभी शाखाओं-संहिताओं) तथा ब्राह्मण (ब्राह्मणों, उपनिषदों, आरण्यकों सहित) के लिए है। स्वा.द.जीके अनुसार 'छन्द:' शब्द मूल-वेदसंहिताओंके लिए है, वह इन्हींके लिए 'वेद' शब्दका प्रयोग करते हैं, शेषोंको वे शाखा, ब्राह्मणादि वा लौकिक शब्द कहते हैं, यह हम स्थान-स्थान पर दिखला

चुके हैं। इस प्रकार वादीका खण्डन हो गया।

(ख) 'निष्टक्यं' (पा. ३।१।१२३) का पूरा वाक्य 'निष्टक्यं चिन्वीत पशुकाम:' ब्राह्मणका है। स्वा.द.जीने भी 'आख्यातिक' में वही दिया है, अत: उसकी जिम्मेवारी आर्यसमाज पर भी है। यदि नहीं मिलता, तो अनुपलब्धि समझनी चाहिये। बहुतसे शाखा-ब्राह्मण आज अनुपलब्ध हैं, नहीं मिलते, यह छान्दस-सूत्रका उदाहरण है। 'छन्द:' का स्वा.द.जीके अनुसार 'वेद' अर्थ है, तब 'निष्टक्यं' किसी अनुपलब्ध शाखा वा ब्राह्मणका होनेसे जो पाणिनिके समय उपलब्ध था—यह सभी वेद सिद्ध हुए। वादी 'छन्द' को 'वेदकी शाखा' मानता है, और 'शाखा' का अर्थ 'वेदका व्याख्यान' मानता है; तब वह अपने वेदसे वह मूल पद दिखलावे, जिसका 'निष्टक्यं' व्याख्यान है; शेष समानता दिखलावे।

यदि उक्त पाणिनिसूत्र (३।१।१२३] में 'छन्द' का अर्थ 'वेद' नहीं है, तो 'निष्टक्यं' आदिके बीचमें आया हुआ 'आपृच्छ्य:' यह छान्दस-शब्द वादीसे तथाकथित वेदका यहां कैसे आ पड़ा? पाणिनि साहचर्यनियमका बड़ा ध्यान रखते हैं। लौकिकोंमें वैदिक और वैदिकोंमें लौकिक रूप नहीं घुसेड़ते। इससे स्पष्ट है कि—सभी शाखा तथा ब्राह्मण वेद हैं। यदि श्रीपाणिनिके अनुसार शाखा वेद न होतीं; तो आपृच्छ्य:' को 'मन्त्रे' के उदाहरणमें रखना चाहिये था, यहां नहीं। जब यहां दिया है, तो वादीके पक्षका खण्डन और स.ध.के पक्षकी स्पष्ट सिद्धि है।

पृ० ९२। 'भाष्यकार हेरफेर वाले और बिन हेरफेरवाले दो प्रकारके छन्दोंको मानता है।' यह विपक्षीकी बात स्वा. ब्र. मु. की नकल है, पर 'नकलमें भी अकल चाहिये'। अत: यह निर्मूल वा निराधार है। ऐसा भाष्यमें कहीं लिखा भी नहीं। वहां 'छन्द' का अर्थ 'वेद' है। भाष्यकारके निजी मतमें वेदोंकी वर्णानुपूर्वी को अनित्य माना गया है, वेदके अर्थको नित्य माना गया है। उन अनित्य वर्णानुपूर्वीको शाखाभेद बतलाया गया है, उनमें 'काठकम्, पैप्पलादकम्' आदि उदाहरण सभी छन्दों (वेदों)

का उपलक्षण है; उसीमें वादीकी शाकल्य, माध्यन्दिनी, कौथुमी, शौनकी चार शाखा स्वतः गृहीत हो जाती हैं। जब इन चारों संहिताओंके समान मन्त्रोंका परस्पर वर्णानुपूर्वी-भेद मिलता है; तो वेदोंकी वर्णानुपूर्वीकी नित्यता कहां रही ?

भाष्यकारका दूसरा जो नियत-वर्णानुपूर्वीका उद्धरण दिया जाता है, वहां वादीके अनुसार 'छन्दः' शब्द नहीं है, किन्तु 'आम्नाय' शब्द है; वहां 'नियत' का अर्थ भी 'नित्य' नहीं है, किन्तु 'निश्चित' अर्थ है। यदि वादी वहां 'आम्नाय' का अर्थ 'वेद' मानता है; तो जो कि महाभाष्यमें वहीं 'न श्मशानेऽध्येयम्, नाऽमावास्यायामध्येयम्' यह आम्नायके उद्धरण दिये हैं; वादी उन्हें अपने मूलवेदमें दिखलावे-यह उसे सदाकेलिए चैलेञ्ज है। यदि न दिखला सका; तो उसका पक्ष गिर गया। अब विपक्षी बतावे कि-भाष्यके दोनों उद्धरणोंमें एकमें 'छन्दः' शब्द है, दूसरेमें 'आम्नाय'। इन दोनोंका समान अर्थ है, वा भिन्न-भिन्न ? और इसमें प्रमाण क्या है ? यदि समान अर्थ है, अर्थात् वेद; तो 'वेदमें भी वर्णानुपूर्वी अनित्य है' यह विपक्षीको भी मानना पड़ेगा; तब उसका प्रयास व्यर्थ सिद्ध हुआ। दूसरे स्थलमें वर्णानुपूर्वीकी नियतता 'इन्द्राग्नी, पितापुत्रौ' की तरह 'निश्चित' अर्थ वाली है 'नित्य' अर्थ वाली नहीं-यह हम पूर्व तथा गत पुष्पोंमें विपक्षीके पक्षके खण्डनके साथ ही साथ सिद्ध कर चुके हैं। विपक्षीकी अब शक्ति नहीं कि—वहां कुछ हाथ-पैर मार सके ? वहां यदि 'आम्नाय' का वादी 'वेद' अर्थ करता है, वह भी अपने मूलवेद; तो वहां 'आम्नाय' के 'न चतुर्दश्यामध्येयम्, न श्मशाने अध्येयम्' आदि उद्धरणोंको अपने मूलवेदसे दिखलावे ? पर हजार जन्म लेकर भी वह नहीं दिखला सकता; अतः 'छन्दकी द्विविधता' उसका पक्ष खण्डित हो गया। 'छन्द' वहाँ 'वेद' है, वा कुछ और ? यदि 'वेद' अर्थ है, तो विपक्षीके अनुसार भी वेद दो प्रकारका होनेसे तथाकथित अनित्य-वर्णानुपूर्वीरूप शाखाएं भी वादीके अनुसार वेद हो गईं। तब झगड़ा क्या ? वादीकी

संहिता भी तो शाकल्य, माध्यन्दिन, कौथुम, शौनक, शाखाएँ ही तो हैं; सब वादीके अनुसार वे भी अनित्य-वर्णानुपूर्वी वाली सिद्ध हो गईं; हम पहले यह उनके उद्धरणपूर्वक दिखला भी चुके हैं; और पैप्पलादको जो वह हेरफेर वाली शाखा भाष्यकारके मतमें बताता था; पर भाष्यकारने उसे अथर्ववेदके प्रथम-मन्त्रप्रतीकरूपमें उदाहृत करके विपक्षीके प्रयास पर पानी फेर दिया—यह हम 'आलोक' के ४र्थ पुष्प, तथा इस पुष्पमें तथा गत अन्य पुष्पोंमें भी सम्यक्तया सिद्ध कर चुके हैं; अतः वादीकी रेतीली दीवार गिर गई, भूस्खलन होकर उसका पतन हो गया।

यदि 'श्रोता' मूल पाठ होता; तो पाणिनि वा भाष्यकार उसे ही सिद्ध करते, वा उद्धृत करते। 'तप्' (पा. ७।१।४५) का सर्वत्र उदाहरण 'शृणोत ग्रावाणः' ही आया है, भाष्यकारने उसे वादिप्रतिवादिमान्य वेदवाचक 'ऋषि' शब्दसे (३।१।७ सूत्रमें) कहा है, 'श्रोता ग्रावाणः' पाठ कहीं भी भाष्यकारोंने उद्धृत नहीं किया। मीमांसादर्शनमें भी ऐसा ही हैं। वादीकी संहिताओंको पहलेके विद्वान् पूछते वा आदृत नहीं करते थे; और वही 'शृणोत ग्रावाणः' कृष्णयजुर्वेदकी संहिताओंमें मिलता है; अतः वे मूलवेद स्वतः सिद्ध हो गईं। लोकमें 'शृणुत' बनता हैं, वहां 'त' के ङित् होनेसे गुण नहीं होता, पर वेदमें 'तप्' 'पित्' होनेसे श्नुको गुण होकर 'शृणोत' बन गया है। वही मूल शब्द है। 'श्रोता' को जो माध्यन्दिनी-संहितामें है, वह 'शृणोत' का ही हेरफेर है, क्योंकि—कृष्ण-यजुर्वेद पहले था; शुक्लयजुर्वेद उससे पीछे आया-यह इतिहास-प्रसिद्ध भी है, अतः वादीके अनुसार वह 'शृणोत' की व्याख्या है। भाष्यकारने 'ऋषिः पठति-शृणोत ग्रावाणः' (३।१।७) यही लिखा है—'ऋषि' का 'वेद' अर्थ वादिप्रतिवादिमान्य है ही। यदि भाष्यकार 'श्रोता ग्रावाणः' को ही मूलपाठ मानते; तो उसे ही उद्धृत करते; इसीसे स्पष्ट है कि—वे कृष्णयजुर्वेदको मूलवेद मानते थे। तभी तो भाष्यकारने यजुर्वेदका स्वा.द.जीके शब्दोंमें 'प्रथममन्त्र-प्रतीक' देते हुए 'इषे त्वा ऊर्जे त्वा' यही

उद्धरण दिया है। यदि उन्हें माध्यन्दिनीसंहिता ही मूलवेद इष्ट होती; कृष्णयजुर्वेदसंहिता उसकी व्याख्या इष्ट होती; तो 'वैदिक-शब्द' निरूपण करते हुए वे कृष्णयजुर्वेदकी व्यावृत्ति करनेकेलिए 'वायवस्थ देवो वः' यह शब्द साथ रख देते, जिससे 'उपायवस्थ' वाली संहिताकी व्यावृत्ति हो जाती; यह हम पहले बता चुके हैं।

शेष है 'शृणोत ग्रावाणः' में पत्थरोंके सुननेपर आक्षेप, वह तो 'श्रोता ग्रावाणः' इस वादीके मान्य वेदवचनमें भी हो सकता है; पर ३।१।७ सूत्रके भाष्यमें भाष्यकारने 'सर्वस्य वा चेतनावत्त्वात्' (इस संसार में सभी पदार्थ चेतनावाले (चेतनावत्-में मतुप्प्रत्यय है, 'वति' नहीं, अर्थात् चेतन) हैं। निरुक्त 'चेतनावद्वद् हि स्तुतयो भवन्ति (७।६।३) में भी 'चेतनावत्' शब्द मतुबन्त है, 'वति' वहाँ पर पृथक् है) उक्त वार्तिक द्वारा भाष्यकारने वेदके मतमें पत्थर आदि सभी पदार्थोंको चेतन सिद्ध किया है। प्रतीन होना है कि—वादी महाभाष्यका भी पूरा ज्ञान नहीं रखता। केवल स्वा.द.के भ्रान्त चश्मेसे ही सभी कुछ देखनेकी चेष्टा करता है, अतः उसका पतन हो जाता है; जो कि स्वाभाविक है। फिर उसे भ्रम क्यों न पड़े ?

(२८) श्रीयास्कने 'ओषधे त्रायस्वैनं' प्रतीक मन्त्रभागके सार्थक्यानर्थक्य-प्रकरणमें दी हैं। उसने यहां वादीके व्याजानुसार 'छन्दः' शब्द भी नहीं रखा, किन्तु 'मन्त्र' रखा है। 'मन्त्र' को वादी 'मूलसंहिता और बिना हेरफेर' की मानता है; तब 'ओषधे त्रायस्वैनं' प्रतीक अपने वेदसे दिखलावे, पर नहीं दिखला सकता; क्योंकि-उसमें 'त्रायस्व' के साथ 'एनं' नहीं है; पर यह प्रतीक कृ.य. तैत्तिसं. तथा काठकसंहिता-जिनका यह मन्त्र है—'मन्त्रभागात्मक वेद' सिद्ध करनेवाला बना। वादीके पास इसका उत्तर त्रिकालमें भी नहीं है। केवल बहानेबाज़ी बना लेनेसे यथार्थता पर परदा नहीं डाला जा सकता, क्योंकि-निरुक्तकार भी कृष्ण-यजुर्वेदको वेद माना करते हैं, तभी आर्यसमाजके विद्वान् स्वामी

ब्र.मु.जीने अपने 'निरुक्तसम्मर्श' में इसी प्रकरणके 'एक एव रुद्रोवतस्थे न द्वितीयः' को पृ. ५० में तै.सं. (१।८।६।१) का बताया है; तथा वहाँ 'अग्नये समिध्यमानाय' मन्त्रको मै.सं. (६।३।७।१) का बताया है। इसी प्रकार 'इत्यपि निगमो भवति' इस 'निगम' शब्द द्वारा स्वा.द.के शब्दोंमें निरुक्तकार वेदवचन देते हैं। सो 'यस्मात्परं नापरमस्ति इत्यपि निगमो भवति' (निरुक्त. २।३।१) में स्वामी ब्रह्ममुनिने इस वचनको तैत्तिरीयारण्यक (१०।१०।२३) का माना है। इससे कृष्णयजुर्वेद तथा उसका आरण्यक भी यास्कके मतमें 'वेद' है; और उसमें 'त्रायस्व' के साथ 'एनं' है; यह यास्कके मतमें वेदवचन सिद्ध हुआ।

जो कि आगे वादी अपने निराधार पक्षकी सिद्धि में असफल होकर अपनी आत्माकी आवाज़के विरुद्ध निर्मूल बहाना बनाता है कि--'यास्क द्वारा आगेके वाक्यमें 'एनं' पद देखकर इस वाक्यमें भी 'एनं' अध्याहृत कर लिया गया है' इससे वादीने अपनी संहिताकी 'न्यूनपदता' बताकर उसे स्वयम् अपमानित कर दिया है। यह यास्क-द्वारा अध्याहारका बहाना व्यर्थ है; जबकि यजुर्वेदकाठकसं. तैत्ति.सं. आदिमें पूर्व वाक्यमें भी 'एनं' यह उपलब्ध है, यास्कने उन्हीं संहिताओंसे उद्धरण दिया है। अध्याहारको अलग रखा जाता है, मूलमें घुसेड़ नहीं दिया जाता है, जबकि श्रीयास्क मन्त्रको 'नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति' (१।१५।४) नियत-आनुपूर्वीवाला और नियतपद-प्रयोग वाला मानते हैं; तब वे स्वयं वहाँ मन्त्रमें 'एनं' को अध्याहृत करके भी नहीं, बल्कि मन्त्रमें 'एनं' को घुसेड़ कर 'यावज्जीवमहं मौनी' की भांति व्याघात दोष कैसे कर सकते हैं? वहां 'ऊह' का जो यज्ञमें होता है--इस शास्त्रार्थमें कोई प्रसङ्ग भी नहीं; वादी यह कहे कि--हमारे पास इस युक्तिका कोई प्रत्युत्तर है ही नहीं। तभी तो श्रीभगवद्दत्तजीने भी अपने "निरुक्त'-भाष्य (पृ. ४६) में 'ओषधे त्रायस्वैनं' को यजुः ४।१ का न लिखकर मै.सं. ३।६।३ का लिखा है। इससे वादीके पक्षका कचूमर निकल गया।

यहां 'ऊह' का कोई प्रसङ्ग भी नहीं। 'निरुक्त' में कोई यज्ञ भी नहीं चल रहा; नहीं तो फिर वादीको वेदका विषय यज्ञ भी मानना पड़ जायगा। यदि वादी यहां यास्क-द्वारा 'ऊह' मानेगा; तो 'अनाम्नातेषु अमन्त्रत्वम्' (मी. २।१।३४) के अनुसार हेरफेर हो जानेसे उसे मन्त्र भी न कहा जा सकेगा; या फिर सभी शाखाओंमें भी 'ऊह' मानकर वादीको उन्हें भी 'मन्त्र' कहना पड़ेगा।

यहां तो वादीने यास्क-द्वारा 'ऊह' का बहाना बनाया, पर जो कि श्रीयास्कने वहीं इसी मन्त्रभागकी सार्थकतामें 'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' मन्त्र दिया है; यह वादीकी किस मूलवेद-संहिताका है? इसे वादीको बताना पड़ेगा। यदि वादी इसे कृष्ण-यजुर्वेद मै.सं.का वा कृ.य. तैत्ति.सं. (६।३।७।१) का मानेगा; जैसे कि—श्रीभगवद्दत्तजीने अपने निरुक्त-भाष्य (पृ. ५०) में लिखा है; तो वह भी वादीके मतमें मन्त्रभाग सिद्ध हो जानेसे आर्यसमाजके पक्षकी जड़ काटनेवाला सिद्ध होगा। यहां वादी के अनुसार 'छन्द' शब्द भी नहीं है कि—वादी यहां हेरफेरका बहाना कर सके। यहां तो 'मन्त्रे' शब्द है, जिसमें वादी हेरफेरका नाम भी नहीं मानता है। श्रीयास्कने 'प्रोहाणि' भी मन्त्रका अंश वहीं लिखा है; इसे वादी अपनी चारों वेद-संहिताओंमें दिखला दे। 'उरु प्रथस्व' इस लोट्की भांति श्रीयास्कने 'प्रोहाणि' भी लोट्लकार वाला मन्त्र उद्धृत किया है, 'लट्' वाला नहीं—यह ध्यान रख लेना चाहिये। इसीलिए श्रीभगवद्दत्त-जीने अपने निरुक्तभाष्य (पृ. ४६) की टिप्पणीमें 'प्रोहामि' से 'प्रोहाणि' की तुलना कही है, पाठ तो 'प्रोहाणि' ही माना है।

उसी मन्त्रसार्थक्यप्रकरणमें निरुक्तमें 'एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः' यह मन्त्र भी दिया गया है; यहां वादीके अनुसार निरुक्तमें मन्त्रभागके वर्णनमें शाखाओंका वर्णन नहीं हो रहा। यहां 'छन्दः' शब्द नहीं है, किन्तु स्पष्ट 'मन्त्र' शब्द है। अब इस मन्त्रको भी वादी अपनी मूलवेदसंहितासे

दिखलावे। यदि इस मन्त्रको 'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे' वादी इस रूपमें माने; तो यह कृ.य. तैत्ति.सं. (१।८।६।१) का होनेसे कृष्णयजुर्वेद की सभी संहिताएं इससे वादीको वेद माननी पड़ेंगी। अथवा वादी निरुक्तप्रोक्त पूर्वोक्त मन्त्रको 'मन्त्रभाग' का माने; तब उसे ही अपने मूलवेदसे दिखलावे। यदि न दिखला सका तो पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलिकी भांति यास्क द्वारा भी वादीका पक्ष विध्वस्त हो जावेगा। यदि यह मन्त्र वादी किसी लुप्तसंहिताका मानेगा; तब वादीके वेद अपूर्ण सिद्ध हो जाएंगे; क्योंकि—वादियों द्वारा उनमें न्यूनाधिकता न मानने पर भी न्यूनता स्पष्ट हो गई, और स.ध. का वेद पूर्ण सिद्ध हो गया। अब स्पष्ट हो गया कि—श्रीयास्क भी 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यही सिद्धान्त मानते हैं। वादी स्वयं मानता है कि—मन्त्र वह होता है कि—जिसमें हेरफेर न हो। तब यास्क स्वयं इस मतके होते हुए भी वादीके अनुसार स्वयं हेरफेर किये हुए 'एनं' पद डाले हुए को भला 'मन्त्र' कैसे कह सकते हैं? क्या यह 'यावज्जीवमहं मौनी' की भांति परस्पर-विरुद्धता नहीं हो जावेगी? क्यों श्रीयास्क वादीकी मूलसंहितासे भिन्न मन्त्रभागका मन्त्र दे रहे हैं? पर जब दिया है; और वह कृष्णयजुर्वेदका है; तब वादीका पक्ष खण्डित हो गया। अध्याहृत पद पृथक् दिया जाता है, मन्त्रमें मिला नहीं दिया जाता। स्पष्ट है कि—वादीके पास इसका कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं है। जब यह वचन निरुक्तके 'मन्त्र' के प्रकरणसे 'मन्त्र' के लिए दिया गया है, वादीके अनुसार 'छन्द' शब्द यहां सर्वथा नहीं; तब यह बहाना भी वादीका कट गया। यहां पदोंकी बात नहीं हैं, यहां तो मन्त्रों की बात है। पदोंका उत्तर हम आगे देंगे। इसलिए श्रीभगवद्दत्तजीने अपने निरुक्त-भाष्यमें 'एक एव रुद्रो' की तै. सं. (१।८।६।१) से तुलना करनेकेलिए तो कहा है, मन्त्र तो वही 'एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः' यह माना है। इससे वादीका पक्ष विध्वस्त हो गया। शाखा मन्त्रभाग बन गया।

(२६) पृ. ६३ 'काममाविजनितोः' यह स्वा.द.जीने 'छन्दः' का उदाहरण दिया है। स्वा.द.जी 'छन्द' का अर्थ 'वेद' करते हैं, हम उनके इस विषयके बहुतसे उद्धरण पूर्व दे चुके हैं। 'वेद' का अभिप्राय उनका मूलवेद है। वह मूलवेद और टीकावेद यह दो वेद नहीं मानते; किन्तु वेद वे एक-ही अपनी चार वेद-पोथियोंको कहते हैं। उनसे भिन्न शाखा-ब्राह्मणोंको वे वेद नहीं कहते। स्वा.द.जी तथा उनके अनुयायी इन चार वेदपोथियोंको न्यूनाधिकता से रहित पूर्ण मानते हैं। यदि स्वामी 'छन्दः' का अर्थ वेद करके उस वेदका उदाहरण अपने चार वेदोंसे न देकर आप लोगोंके अनुसार शाखाका देते हैं; तो उसमें दो बातें सिद्ध होती हैं। एक तो यह कि—स्वामीजीको अपनी चार वेदपोथियोंका ज्ञान नहीं था कि—हम वेदके उदाहरण मूलवेदसे न देकर टीकावेदसे क्यों दे रहे हैं? इससे वे 'वेदके अद्वितीय द्रष्टा' न होकर द.सि.प्र.के प्रणेताके अनुसार 'वेदके भ्रान्त द्रष्टा वा वेदानभिज्ञ' सिद्ध होते हैं। दूसरी बात यह कि—शाखा-ब्राह्मणादि सभी वेद हैं। वादी भी छिपे-छिपे उन शाखाओंको वेद-पर्यायवाचक 'छन्दः' शब्दसे कहता है, साफ-साफ उन्हें 'वेद' नहीं कहता। साफ-साफ उन्हें 'वेद' कह दे; तो हमारा यह शास्त्रार्थ समाप्त हो जायगा। हमारे स.ध.की विजय-वैजयन्ती फिर आप-लोगों द्वारा भी फहरा दी जायगी। अब हम उसे स्पष्ट शब्दोंमें पूछते हैं कि—छन्द वेदका नाम है, वा भाषा (लोक) का? इनमें एक उत्तर वह दे, और उसमें प्रमाण दे।

हमने स्वा.द.जीका यह उदाहरण दिया था कि—उनके अनुसार भी कृष्णयजुर्वेदतै.सं. मूलवेद बनता है; और 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह सिद्धान्त सिद्ध हो जाता है। श्रीपाणिनिने 'छन्दः' की वादि-प्रोक्त परिभाषा कहीं नहीं बताई। पाणिनि तो मन्त्र-ब्राह्मण दोनोंको वेद कहते हैं; उसी का पर्यायवाचक 'छन्दः' शब्द देते हैं। वार्तिककार और भाष्यकार भी ऐसा ही मानते हैं। यदि यह तीनों व्याकरणके मुनि ऐसा न मानते होते; तो वे शाखाओंका उदाहरण 'भाषा' शब्दमें देते; 'छन्दः' शब्दमें न देते।

क्योंकि अष्टाध्यायीमें 'छन्दः' तथा 'भाषा' शब्द एक-दूसरेके प्रतिद्वन्द्वी हैं। 'मन्त्र' तथा 'ब्राह्मण' शब्द 'छन्दः' के ही दो एकदेशी भाग हैं; अतः वे वेदसे पृथक् नहीं। भाग भागीके ही होते हैं। इसी कारण स्वा.द. भी इन्हें मन्त्रभाग एवं ब्राह्मणभाग कहते हैं। सो यह भाग हैं, भागी नहीं। 'भागी' है वेद। 'मन्त्र'में ११३१ शाखा आ जाती हैं; और 'ब्राह्मण' में ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आ जाते हैं। कैसा यह सरल मार्ग है; पर वादी कुटिल एवं कण्टकाकीर्ण मार्गमें जाते हैं; और फिर पदे-पदे ठोकरें खाते हैं, लज्जित होते हैं; पर सरल मार्ग नहीं पकड़ते।

वादीके ठोकरें खानेका कारण यह है कि—वादी मानता है कि-शाखाएं मूलवेद-संहिताओं (४ पोथियों) की कहीं-कहीं परिवर्तित शब्दों वाली व्याख्या है अर्थात् मूलवेदका मन्त्र शाखा वहीका वही रखती है, हां, कहीं किसी शब्दका स्पष्टताकेलिए पर्यायवाचक रख देती है. जैसे—'भ्रातृव्यस्य वधाय' के स्थान 'द्विषतो वधाय' आदि। सो अब यदि वादी 'काममाविजनितोः सम्भवाम' यह शाखाका मन्त्र मानता है; मूलवेदका नहीं; तो वह बतावे कि—मूलवेदका वह कौनसा मन्त्र है, जिसमें 'कामम् आविजनितोः सम्भवाम' का मूलमन्त्र हो, और उसका शाखामें यह परिवर्तित पर्यायवाचक वाला व्याख्या-मन्त्र हो।'

इस प्रकार 'छन्दः' शब्दके सभी उदाहरणोंकेलिए जो चाहे निघण्टु वा महाभाष्यकारने दिये हों, चाहे काशिका वा सिद्धान्तकौमुदीने दिये हों, चाहे स्वा.द.ने दिये हों; वादीको उनके मूलमन्त्र वा मूल शब्द अपने मूल-वेदोंसे दिखलानेकी प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी। विपक्षी यह नोट करले कि-यदि वह उन 'छान्दस' उद्धरणोंको अपने मूलवेदोंसे न दिखला सका; तो उसे यह लिखकर हमें देना पड़ेगा कि--उसकी तथाकथित मूलसंहिताएं पूर्ण वेद नहीं हैं, किन्तु 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' के अनुसार ११३१ संहिता मूल चार वेद होंगे, और उसका उतना ही शेष पूरक दूसरा भाग ब्राह्मण मिलकर वेद बनेगा। यह वादी याद रखले कि--उसने वेदविषयक

एक वालूकी भित्तिवाला पक्ष ले रखा है; वह पक्ष नितान्त दुर्बल है। थोड़े ही झटकेमें वह टूट गया है।

'भ्रातृव्यस्य वधाय' की 'द्विषतो वधाय' यह जो कि वादी व्याख्या मानते हैं; और 'भ्रातृव्य' के कठिन शब्द होनेसे उसे मूल पद मानते हैं, यह भी बात गलत है। कई ऐसे शब्द प्रचलित होते हैं; जो उस समय बहुत चालू थे; अब हमें वे न्यून मात्रामें प्रयुक्त होनेसे कठिन मालूम देते हैं; पर उस समय वे सर्वसाधारण थे। उस अपनी समझमें कठिन शब्दको व्याख्यामें प्रयुक्त देखकर हम उस पर 'मघवा मूलं विडौजा: टीका' इस मुहावरेको प्रयुक्त कर उपहास भी करते हैं; पर उस प्राचीन समयमें 'भ्रातृव्य:' आदिके बहुत प्रचलित होनेसे उसे भी 'द्विषत:' की व्याख्या कहा जा सकता है, इसके बहुतसे उदाहरण वादीकी इष्ट संहिताओंसे भी दिखलाये जा सकते हैं। एक उदाहरण वादी यह देख ले।

वादी ऋसं.का क्रम सबसे पूर्व मानता हैं, और अथर्ववेदसंहिताका सर्वान्तिमें। 'इहैव स्तं...मोदमानौ स्वे गृहे' (१०।८५।४२) इसमें 'स्वे गृहे' है. यह सुगम शब्द है, इसका कठिन पर्यायवाचक सर्वान्तिम वेद अथर्व-संहितामें देखिये—'इहैव स्तं मोदमानौ स्वस्तकौ' (१४।१।२२) यहाँ पर सुगम 'गृह' का पर्यायवाचक 'अस्त' कठिन शब्द है; तब क्या वादी ऋ.सं. को अथर्व.सं.की शाखा मानेगा? यदि नहीं; तब तै.सं. भी माध्य.की शाखा नहीं बन सकती। बल्कि पूर्ववर्तिनी तैत्तिरीयसं.की ही पीछेकी माध्यसं. शाखा हो सकती है, 'द्विषत:' का पर्यायवाचक 'भ्रातृव्यस्य' भी हो सकता है।

'यजुषि काठके' का उत्तर हम पहले दे चुके हैं कि—केवल 'यजुषि' लिखते; तो वहां यजुर्वेदकी सभी १०१ संहिताओंमें जिनमें वादीकी माध्यन्दिनी शाखा भी शामिल है, 'देव और सुम्न' को 'आ' हो जाता; पर अब तो यजु: की कठसंहितामें होगा; वह भी यजुर्वेद सिद्ध हो गई। उसके यजुर्वेदत्वमें कुछ भी क्षति नहीं आई। कई छान्दस कार्य ऋक्में

होते हैं, और यजु:में नहीं होते। उससे उन दोनोंमें किसी एकके वेदत्वमें क्षति नहीं आती। नहीं तो यजुर्वेदमें यदि अनुस्वारको ँ होता है; और ऋग्, अथर्वमें नहीं होता; तब वे क्या वेद नहीं रह जायेंगे? यह वादीके पक्षकी दुर्बलता विद्वानोंसे तिरोहित नहीं।

'काठके यजुषि' का अर्थ 'कठदृष्टे यजुर्वेदे' है; इससे बढ़कर स०ध० की पक्षसिद्धि अन्य क्या हो? वादीके पास इसका त्रिकालमें भी कोई प्रत्युत्तर नहीं। यदि काठक वेद न होता; तब वह मूलसे पाठ-परिवर्तन होनेपर यजुर्वेद कभी न रहता; वह भाषिक-प्रयोग हो जाता। पर उसे श्रीपाणिनि 'भाषा' न मानकर यजुर्वेद कहते हैं; तब वादीका पक्ष सर्वथा ही उच्छिन्न हो गया।

(३०) पृ. ९४-९५ में वादी लिखता है—'छन्दोभ्य: समाहृत्य' में यह नहीं कहा गया कि—इसमें केवल मूलवेद-संहिताओंके ही पद संगृहीत हैं' यह वादीका कथन हास्यास्पद है। 'श्रीयास्क वा श्रीपाणिनि कात्यायन पतञ्जलि' आदि विद्वानोंने कहीं मूलवेद वा टीका-वेद शब्द कहा ही नहीं। जहां कहा है; वहाँ वेदवाचक 'छन्द:' शब्दसे कहा है। वादीके ऋषिने भी सर्वत्र 'छन्द' का अर्थ 'वेद' ही किया है; देखो उनकी ऋभाभू. तथा 'वेदाङ्ग-प्रकाश आदि' सो वे वेदके उदाहरण सिद्ध करते हैं कि—सभी शाखा एवं ब्राह्मण वेद हैं। वादी जिनको मूलवेद कहते हैं; वे भी तो शाखा हैं--यह हम कई बार बता चुके हैं। तभी तो उनका नाम 'ऋग्वेद यजुर्वेद' नहीं कहा है, किन्तु ऋग्वेद-संहिता, यजुर्वेद-संहिता ही कहा है। वादी क्या वेदमें ऋग्वेद-संहिता आदि शब्द दिखला सकता है? यदि नहीं; तब वह इन संहिताओंको यदि मूलवेद कहता हैं; तब सभी ११३१ संहिताएँ भी मूलवेद ही हैं। इससे स० ध० का पक्ष सिद्ध हो गया।

सभी वादी-प्रतिवादी निरुक्तको वेदाङ्ग ही कहते हैं, शाखाङ्ग कोई भी नहीं कहता; तब सभी शाखाएँ वेद सिद्ध हुईं। स्वा.द.जीने भी निघण्टु के शब्दोंका सम्बन्ध वेदसे बताया है, शाखाओंसे नहीं; तभी इसे 'वेदाङ्ग-

प्रकाश' कहा। सो स्वामीके मतमें वेद यह शाखाओंका नाम तो नहीं था। वे तो अपनी तथाकथित मूलसंहिताओं को वेद कहते थे; तभी तो उनने इसका नाम भी 'निघण्टुर्वैदिककोषः' रखा था। सो यदि फिर भी इस वैदिक-कोष' निघण्टुके शब्द उनकी तथाकथित मूलसंहिताओंमें नहीं मिलते, जैसे कि—'बुर्बुरम्, भविष्यत्' (१।१२) यह जलके नाम, 'मल्मलाभवन्' (१।१७) यह जलते हुए, चमकते हुएका नाम, 'करन्ती' (२।११) यह कर्मका नाम है; इस प्रकारके पचासों शब्द हैं, यह लोकमें भी नहीं हैं; अतः दयानन्दियोंका मूलवेद अपूर्ण है। इन 'छान्दस' शब्दोंमें यदि वादिकल्पित कपोलकल्पनाके अनुसार वादी यहां वादिप्रतिवादिमतमें वेदके पर्यायवाचक 'छन्दः' का अर्थ 'शाखाओं' का कर लेता है; तो वादीके 'अद्वितीय वेदद्रष्टा' 'छन्दः' का अर्थ सदा 'वेद' ही करते हैं; और वे शाखाओंको मूलसंहिताके मन्त्रोंका व्याख्यान कहते हैं। वादी भी स्वीकार करता है कि—मूल-संहिताओंके कई पद स्पष्टतार्थ शाखाओंमें बदलकर शेष मन्त्र वैसेका वैसा मूलवेदके मन्त्रका रख दिया जाता है। आर्यसमाजके अनुसन्धाता श्री-भगवद्दत्तजी भी इससे सहमत हैं।

अब वादी बतावे कि—निघण्टुके १ 'आष्ठा' यह दिशाका, २ 'शोकी' रात्रिका ३ 'वलिशानः' मेघका, ४ 'वेकुरा' वाक्‌का, ५ 'सर्णीकम्' ६ स्वृतीकम्, ७ बुर्बुरम्, ८ यहः, ९ 'भविष्यत्' यह जलके नाम, १० मल्ल-लाभवन्' यह 'ज्वलन्' का ११ 'करन्ती' यह कर्मका नाम, ५३ 'साचीवित्' क्षिप्रका नाम, १३ 'निघृष्वः' ह्रस्वका नाम, १४ 'यहः' (निघण्टु २।९) यह बलका नाम—यह आपकी किस मूलसंहिताके किस-किस पदके स्पष्ट करनेकेलिए वादीसे तथाकथित शाखामें दिये गये हैं; यह वादीको ही अपने वे मूलमन्त्र उपस्थित करने होंगे? जहां शेष मन्त्र समान हो। जब व्याख्या मूल-शब्दको सुगम शब्दोंमें स्पष्ट करनेकेलिए होती है; तो 'सर्णीकम्', 'यहः' आदि क्या सुगम शब्द हैं, जो वादीके अनुसार शाखाओं के हैं? और मूलसंहिताके इनसे भी कठिन पर्यायवाचक शब्द कौनसे हैं,

मन्त्रके समान शेष-भागकी तुलना भी वादीको बतानी होगी। ... बता सका, तो उसका 'वैदिक-धर्म' लुप्त हो गया। सभी शाखाएं ... संहिता बन बैठीं। क्या वादीकी संहिताएं शाकल्य, माध्यन्दिनी, कौ... शौनक शाखाएं नहीं हैं? वे ही वादीकी शाखाएं मूल हैं, अन्य शाखा... व्याख्यान इसमें भी वादीके पास क्या प्रमाण है? ऋग्वेद, यजु... सामवेद, अथर्ववेदकी अन्य चार शाखाओंवाला भी कह सकता है कि ... हमारी शाखाएं मूल हैं; और वादीकी शाखा उनका व्याख्यान है? ... हमारी शाखाओंसे अर्वाचीन हैं।

वादी यह भी बतावे कि—उन शाखाओंमें मूलशाखासे परिव... किसने किया? यदि ऋषियोंने, तो वह परिवर्तन वेद हुआ या लोक? यदि लोक; तो उनको 'भाषा' न कहकर वेदके पर्यायवाचक 'छन्दः' ... कैसे कहा जाता है? वस्तुतः एक गलत पक्ष रखनेके कारण वादीके पा... इन प्रश्नोंका कुछ उत्तर है ही नहीं; हो सकता भी नहीं। उसे 'मूल-संहिता, टीका-संहिता' की झूठी रट छोड़ देनी ही पड़ेगी।

'छन्दोभ्यः' का अर्थ आर्यसमाजी श्रीब्रह्ममुनिजीने अपने 'निरु... सम्मर्श' में 'मन्त्रेभ्यः' किया है। श्रीभगवद्दत्तजीने भी अपने निरुक्तभाष्य... 'छन्दोभ्यः' का अर्थ 'मन्त्रेभ्यः' किया है। श्रीभगवद्दत्तजी लिखते हैं— 'छन्दः पदका अर्थ मन्त्रभाग है' (पृ. २)। 'छन्दोभ्यः' का अर्थ उन्हों... निरुक्तभाष्यके १ पृष्ठमें किया है—निघण्टवः [निघण्टुके पद] छन्द अर्थात् मन्त्रोंसे एकत्र करके संगृहीत किए गए हैं। आजकलके आर्यसमाजी कुशवाहा आदि भी यही 'मन्त्रेभ्यः' अर्थ करते हैं। श्रीदुर्गाचार्य आदि प्राचीन भाष्यकारोंने भी 'मन्त्रेभ्यः' ही अर्थ किया है। स्वा.द.जी तो सर्वत्र 'छन्द' का अर्थ 'वेद' ही करते हैं, हम पहले उनके इस विषयके उद्धरण दिखा चुके हैं। सनातनधर्मी भी 'छन्दः' का अर्थ 'वेद' ही करते हैं। 'छन्दः' का अर्थ 'शाखा' कभी किसी भी प्राचीन विद्वान्‌ने नहीं किया। तब 'छन्दः' का अर्थ 'वेद' ही सिद्ध होनेसे उसके उदाहरणमें दिये जाते हुए ...

संहिताओं तथा उतने ही ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदोंको वेद ही मानना पड़ेगा। तब जाकर वादी इन प्रश्नोंका उत्तर पा सकेगा, अन्यथा कभी नहीं। यह निघण्टुके प्रोक्त शब्द लौकिक तो कहे ही नहीं जा सकते।

वादीके तथाकथित 'अद्वितीय वेदद्रष्टा' उसी वैदिककोश निघण्टुके शब्दोंकेलिए लिखते हैं कि-'यह सब [निघण्टुके] शब्द वेदमें यौगिक और योगरूढि आते हैं. केवल रूढि नहीं'। सो जब स्वा.द.के अनुसार निघण्टु के शब्द वेदके हैं; परन्तु वे वादीके तथाकथित वेदोंमें नहीं मिलते; तो स्पष्ट है कि—उनकी चार पोथियां पूरा वेद नहीं हैं। हमसे कहा हुआ पूरा साहित्य ही चार वेद है। सो जहां वादी बहानेबाज़ी करके 'छन्द' का अर्थ 'शाखा' करेगा; तो वही शाखाका मूल-शाखाके पदसे तत्सम पर्यायवाचक शब्द, शेष तथाकथित मूल और शाखा दोनोंके मन्त्रोंका पूरा सादृश्य उसे अपनी मूलसंहिताओंमें तुलना करके दिखलाना पड़ेगा, यह हमारा वादीको खुला आह्वान है। यदि वह ऐसा न कर सका; केवल निर्मूल 'मूलवेद' की रट लगाता रहा; तब स्पष्ट होगा कि—उसका मत निर्मूल है। उसका वैदिक-धर्म अभी अपूर्ण है। उसका 'वैदिक-धर्म' फिर 'शाखाओंका धर्म' हो जावेगा, मूलवेदका नहीं रहेगा; क्योंकि उसका वेद मूल कहां हैं, वह भी तो शाखा है। उसे अन्य वेदोंका व्याख्यान मान ले। यदि वह नहीं मानता; तो फिर वादी 'वैदिक-धर्म' शब्द सनातनधर्मियोंको दे दे; क्योंकि—वे सभी शाखा-ब्राह्मणोंको वेद मानते हैं; वादी अपने धर्म का नाम मन्त्र-धर्म रखे; क्योंकि—'वैदिक' शब्दसे वह स्वयं शाखाओंका ग्रहण मानता ही है। 'मन्त्रधर्म' से भी उसकी सनातनधर्मीपक्षसे जान छूट नहीं सकेगी; क्योंकि—मन्त्रसे भी सभी शाखा गृहीत हो जाती हैं। अतः अब वह 'सनातनधर्मी'' बन जाय, तो फिर उसे कृत्रिमताएँ नहीं करनी पड़ेंगी।

श्रीदुर्गाचार्यने भी 'छन्दोभ्यः समाहृत्य' में 'छन्दांसि-मन्त्राः' यह अर्थ लिखा है। सो तदनुसार जो वर्तमान ४ संहिताओंसे भिन्न शाखाओंमें

मिलते हैं, वे भी इन चार संहिताओंको अपूर्ण बताने वाले हैं। जो शेष संहिताओंमें नहीं मिलते, वे लुप्त संहिताओंमें होंगे। सो स्पष्ट है कि—'छन्द' वेदका नाम है। वेद मन्त्र-ब्राह्मणात्मक होता है। मन्त्रसे सभी शाखाएं गृहीत हो जाती हैं, केवल वादीकी संहिताएं (शाखाएँ) ही नहीं। सो निघण्टुमें दोनोंके शब्द मिल सकते हैं। यदि वादी यह स्पष्ट मान ले कि-वेदमें सभी शाखा-ब्राह्मण आ जाते हैं; तब तो सब व्यवस्था ठीक हो जावे; पर साम्प्रदायिक-पाशमें बद्ध होनेसे वादीमें शक्ति नहीं कि-स्पष्ट इस बातकी घोषणा कर दे। कहता तो वादी अब भी है, पर इसी बातको घुमा-फिराकर कहता है, जिससे लोगोंको दयानन्दी पक्षकी स्पष्ट निर्मूलता प्रतीत न हो जावे।

यह तो हमने निघण्टुके थोड़ेसे शब्द बताये हैं; इस प्रकारके पचासों शब्द दिखलाये जा सकते हैं। कुछ अन्य भी हम ४र्थ निबन्धमें बता चुके हैं। विपक्षी इतना तो ज्ञान रखे ही; कि—वादिप्रतिवादिमान्य यास्क हों, चाहे श्रीपतञ्जलि आदि प्राचीन विद्वान् हों; वे वेदका निरूपण करते हुए क्यों वादीके अनुसार शाखा-ब्राह्मणोंको बिना उनका विशेष नाम लिये देते हैं; इसीलिए ही तो कि—यह सारा साहित्य वेद है। यदि वेद न होता, 'भाषा' होता; तो बिना 'भाषा' (लौकिक शब्द) का नाम लिये वेदके स्थान क्यों उन तथाकथित शाखाओंको प्रमाणित करते हैं, इसलिए कि—यह सारा साहित्य वेद है। इसका उदाहरण भी देख लीजिये—पूर्वपक्षीने मन्त्रमें आनुपूर्वी-नियम बताकर मन्त्रकी अनर्थकता बताई थी, पर उत्तरपक्षमें श्रीयास्कने 'इस आनुपूर्वीके नियमकी सार्थकतामें 'लौकिकेषु अपि एतद्, यथा-इन्द्राग्नी, पितापुत्रौ' (नि. १।१६।४) यह लौकिक शब्द कहकर लोकमें भी आनुपूर्वी-नियम बताकर सार्थकता सिद्ध की। यदि शाखा-ब्राह्मण भी 'भाषा' (लौकिक शब्द) होते, तो उन्हें भी 'लौकिक-शब्द' का नाम कहकर उदाहृत किया जाता; पर वैसा नहीं किया गया; अतः स्पष्ट है कि—शाखा-ब्राह्मण सभी वेद हैं। बहुत कहनेसे क्या, वादी

की ४ संहिताएँ भी तो शाखा हैं; उनका वा अन्य शाखाओंका कुछ भी तारतम्य, वा अन्तर नहीं बताया गया।

(३१) यह जो वादीने लिखा है कि—'रुद्र' शब्दकी व्याख्या यास्कने काठक और हारिद्रविक शाखाओंसे की है'। इससे वादीकी क्या इष्ट-सिद्धि है, बल्कि उसके पक्षकी हानि है। यह निघण्टुका होनेसे वेदका शब्द है। वादी भी इसका निगम वेदसे ही दिया मानता है। यास्कने जो 'रोदयतेर्वा' यह निर्वचन दिया है, उसकी साक्षीकेलिए कृ.य. काठकसं. वा ब्राह्मणका प्रमाण दिया है। इससे उनके वेदत्वका खण्डन नहीं होता। श्रीयास्क शाखाओं तथा ब्राह्मणका नाम बिना लिये भी उनका प्रमाण वेदप्रमाणरूपसे उद्धृत करता है, यह हम पीछे बता आये हैं। यहाँ तो मतभेद दिखलानेकेलिए ही काठक और हारिद्रविकका नाम श्रीयास्कने लिया है; नहीं तो न लेते।

यदि निर्वचन करनेसे विपक्षी काठक और हारिद्रविकको व्याख्या-पुस्तक बताकर उनके अवेदत्व कहनेकी धृष्टता करे, तो यह उसकी भूल होगी। निर्वचन केवल व्याख्या-ग्रन्थोंमें ही नहीं होते; किन्तु वादीके शब्दोंमें मूलग्रन्थोंमें भी होते हैं। श्रीयास्कने 'नद्यः कस्माद् नदना इमा भवन्ति शब्दवत्यः' (२।२४।५) यह यहां श्रीयास्कने निर्वचन किया है। यदि वे चाहते; तो इस निर्वचनकी साक्षीमें अथर्व.की शौनक-शाखाका जिसे विपक्षी मूलवेद मानता है, 'यददः संप्रयतीरहावनदता हते। तस्माद् आनद्यो नाम' (१) देते। 'आपः' का निर्वचन यास्कने दिया है—'आप आप्नोतेः' (९।२६।२) यदि श्रीयास्क चाहते; तो इस निर्वचनकी साक्षीमें अथर्व.शौनकशाखाका 'तद् आप्नोद् इन्द्रो वो यतीस्तस्माद् आपः' (३।१३।२) यह मन्त्र भी दे सकते थे। 'वार्वत्यः' यह शब्द निघण्टु (१।१३) में आया है। यदि श्रीयास्क चाहते; तो 'वार्' का 'वारयति' निर्वचन करके उसमें 'अप कामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम्। इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीः, तस्माद् वार नाम वो हितम्' (३।१३।३) यह वादिसम्मत अथर्ववेदकी शौनक-शाखाका साक्षीरूपसे वचन दे सकते थे।

निघण्टु (१२) में 'उदकम्' यह नाम आया है। उसमें यास्कने 'उनत्ति' (२।२४।३) यह निर्वचन किया है, यदि वे 'उदानयति' यह निर्वचन कर लेते; तो उसमें साक्षीस्वरूप 'उदानिषुर्महीरिति तस्माद् उदकमुच्यते' (३।१३।४) यह वादीकी अथर्व-शौनकशाखा वचन दे सकते थे; तब क्या अपनी तथाकथित मूलसंहिता (अथर्व.शौ.सं.) को भी वादी व्याख्या वाली शाखा मान लेगा?

वस्तुतः एक शाखाके पदका दूसरी शाखाके वचनसे अर्थ दिखलाया जा सकता है। उसमें वादीकी तथाकथित मूलसंहिता भी उक्त तर्कसे शाखा हो जायगी। क्या वादीको यह स्वीकार है? वादीको यह सदा याद रख लेना चाहिये कि-सभी शाखाएं 'मन्त्र' होती हैं। ऋसं.के भाष्यके उपोद्घातमें मन्त्रब्राह्मणका स्वरूप निर्णीत करते हुए श्रीसायणने पूर्वपक्षमें 'हेतुर्निर्वचनं निन्दा' यह वचन उद्धृत करते हुए ब्राह्मणका स्वरूप बताया है कि—ब्राह्मणकी निशानी है कि उसमें निर्वचन भी होता है; पर इसे वहां काटा गया है—'न च हेत्वादीनामन्यतमत्वं ब्राह्मणमिति लक्षणम्; मन्त्रेष्वपि हेत्वादि-सद्भावात्—'उदानिषुर्महीरिति तस्माद् उदकमुच्यते' (अ. ३।१३।४) इति निर्वचनम्' इत्यादि।

कहनेका निष्कर्ष यह है कि—शाखाएं सभी हैं। जिन्हें वादी मूल-संहिताएं कहता है, वे भी शौनक आदि शाखाएं हैं; तो एक शाखाके पदका निर्वचनादि अन्य शाखासे दिखलाया जा सकता है। इससे काठक आदिका वादीके अनुसार शाखा होना यास्काभिमत नहीं कि-यह मूलवेदके व्याख्यान हैं। नहीं तो यदि वादीकी तथाकथित मूल अथर्ववेदसंहिताके निघण्टुमें आये पदोंका जो कि निर्वचन मिल रहा है, तो वादी अपनी उस मूलसंहिताको भी समान न्यायसे शाखा तथा व्याख्याग्रन्थ मान ले। यदि नहीं मानता; तो यहां पर भी ऐसी बात नहीं। बल्कि-इससे वादीके अनुसार यास्कके दिये तथाकथित शाखा-ब्राह्मणके वचन भी वेद हैं।

सिद्ध होते हैं।

(३२) यह जो वादी कहता है कि— 'यास्क छन्दःकी परिधिमें शाखा और मूलवेदोंके लेते हुए भी दोनोंको पृथक् भी कर देता है। वह कहता है कि—वेदकी वर्णानुपूर्वी नित्य है--'नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति'। यह वादीका वचन भी उसीके पक्षको काटनेवाला है, और गलत भी है। यास्क कहीं भी मूलवेद शब्द वा शाखाशब्द भेदकत्वार्थ नहीं कर रहा, और दोनोंमें कोई भेद भी नहीं कर रहा। यास्कने यहां न तो 'वेद' शब्द कहा है, न 'मूलवेद' शब्द ही कहा है। यहां तो वह 'मन्त्र' शब्द कह रहा हैं। वादी उसीका अर्थ 'वेद' कह रहा है। यदि वादी उसीको मूलवेद मानता है; तो उसमें 'एक एव रुद्रोवतस्थे न द्वितीयः' यह वेदमन्त्र दिया है, 'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' यह निरुक्तने वेदमन्त्र दिया है। वादी अपनी तथाकथित मूलसंहितासे उक्त मन्त्र दिखलावे। वहीं 'उरु प्रथस्व' इस लोट्वाले मन्त्रका सहचारी 'प्रोहाणि' (१।१५।५) यह लोट्वाला मन्त्र दिया है। यह 'उरु प्रथस्व' कृष्णयजुर्वेद मैत्रायणीसं. (१।१।६) में भी मिलता है, और शु.य. माध्यन्दिनीसं. (१।२२) में भी। तब यास्क माध्यन्दिनीसं. से इतिहासानुसार पूर्वकी तै.सं. को मूलवेद मानकर फिर 'प्रोहाणि' को दिखलाता है; सो यह 'प्रोहाणि' भी किसी लुप्त कृष्णसंहिताका मन्त्र है; अब वादी दिखलावे कि यह उसकी कौनसी मूलसंहिताका मन्त्र है ?

वहीं पर 'ओषधे ! त्रायस्वैनं' यास्कने मन्त्रमें ही 'एनं' यह नियत आनुपूर्वी दिखलाई है; सो यह कृष्णयजुर्वेदसंहितामें है। पर वादीकी तथाकथित मूलसंहितामें जो इतिहासानुसार कृष्णयजुर्वेदसे पीछेकी है—माध्यंसं.में 'एनं' को हटाकर 'हेरफेर' कर दिया गया है, अतः वह 'शाखा' है। यदि वादी यह ४ मन्त्र 'अग्नये समिध्यमानाय' आदि, अपनी तथाकथित मूलसंहितासे इसी रूपमें न दिखला सका, और उसको उक्त मन्त्र कृष्णयजुर्वेद मैत्रायणी आदि संहिताओंमें मिल गये, तब यह तो

मूलसंहिताएं सिद्ध हुईं, और वादीकी माध्यन्दिनी-संहिता आदि, शाखाएं सिद्ध हो गईं, क्योंकि—कृष्णयजुर्वेदके बाद ही शुक्लसंहिताएं प्रकट हुईं। भाषाविदोंके अनुसार कृष्णयजुःकी भाषा भी शुक्लसे प्राचीनतर है। तब वादीको 'यह चार पोथियाँ ही मूलवेद हैं, अन्य शाखा हैं' इस आर्यसमाजी मतको मटियामेट करके स.ध.का पक्ष अपनाना पड़ेगा; और उसे यह घोषणा करनी पड़ेगी कि—'सभी शाखा-ब्राह्मणादि वेद हैं—'मन्त्रब्राह्मण-योर्वेदनामधेयम्' और आर्यसमाजका मत अयुक्त हैं' इत्यादि।

निरुक्तके 'नियतवाचोयुक्तयः नियतानुपूर्व्या भवन्ति' (१।१६।४) इस वचनमें भी 'नियत' का अर्थ 'निश्चित' तो है, 'नित्य' अर्थ नहीं। नहीं तो 'ओषधे ! त्रायस्वैनं' में वादीके अनुसार 'एनं' शब्द डालकर यास्कने स्वयं ही आनुपूर्वी-भङ्ग करके 'यावज्जीवमहं मौनी' इस 'व्याघात' दोषको कैसे प्रश्रय दिया ? वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। यास्कने पूर्वोत्तर-साक्षीसे यह सभी मन्त्र प्रायः कृष्णयजुर्वेदके उपस्थित किये हैं। श्रीयास्क उन्हें वेदमन्त्र बताकर वादीके पक्षका मटियामेट कर रहे हैं।

यदि यहां 'नियत' का अर्थ 'नित्य' है, तो इस मन्त्रकी आनुपूर्वीकी नियततामें 'लौकिकेष्वप्येतद्' कहकर 'इन्द्राग्नी, पितापुत्रौ' यह लौकिक उदाहरण भी दिये हैं, तब वादी 'पितापुत्रौ' आदि लौकिक शब्दोंकी आनुपूर्वीको निश्चित मानेगा, वा नित्य ? यदि नित्य; तो क्या वह लौकिक शब्दोंको भी नित्य मानता है ? लोकमें 'मातापितरौ' भी बनता है, 'मातरपितरौ' भी; पर वेदमें 'पितरामातरा' (यजुः ९।१९) भी बनता है। जो 'पितरामातरा च छन्दसि' (६।३।३३) इन पाणिनिके वैदिकसूत्र का उदाहरण है, 'मातरापितरा' (ऋ. ४।६।७) भी बनता है; तब वेदकी आनुपूर्वी 'नित्य' कहाँ रही ?

'नियतानुपूर्वी' का 'नित्य आनुपूर्वी' अर्थ मानकर वादी इसमें यास्क-द्वारा दिया हुआ 'क्रीलन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः' यह मन्त्र उपस्थित करते हैं। श्रीब्रह्ममुनिजीने भी यही उदाहरण 'सार्वदेशिक' में दिया था। अब वादी

इस मन्त्रकी आनुपूर्वीकी अनित्यताका अपने मन्त्रभागमें ही परीक्षण देखें। 'क्रीलन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे' यह ऋसं. (१०।८५।४२) में 'स्वे गृहे' रूपमें है; पर अथर्ववेदसंहितामें यही मन्त्र 'क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ' (१४।१।२२) रूपमें हैं, दोनोंमें वर्णानुपूर्वीका भेद है; अब वेदकी आनुपूर्वी नित्य कहाँ रही; अनित्य हो गई। वादी इस हेरफेर से यहां किसको किसकी शाखा मानेगा ? ऋग्वेदको पहले माना जाता हैं, उसीके आधे मन्त्र अथर्ववेदसं. में गये हैं। अथर्वका 'स्वस्तकौ' कठिन शब्द है, ऋक्का 'स्वे गृहे' सुगम; तब पूर्वके वेदका पीछेकी वेदकी संहितामें कठिन शब्द भी देखा जानेसे यह शाखाविषयक प्रश्न हल हो जाता है कि—उसमें सुगमकी व्याख्या भी कठिन शब्दसे हो सकती है। इससे सुगम शब्दवालीका नाम शाखा, और कठिन शब्दवालीका नाम संहिता नहीं हो जाता। क्या वादी इनमें हेरफेर वा परस्पर-व्याख्यान देखकर अनित्यता वा शाखात्व मानेगा ? अब वादी बतावे कि—क्या यह वर्णानुपूर्वी समान ही मन्त्रकी 'नित्य' रही, या अनित्य हो गई ? वादी इस हेरफेरसे किसको किसकी शाखा मानेगा ? तब क्या ऋक्मन्त्रको अथर्वकी व्याख्या वा हेरफेर मानकर उसे शाखाग्रन्थ मान लेगा ? यह आर्यसमाजका पक्ष जो वादीने इस रूपमें उपस्थित किया है—निर्मूल होकर गिर गया। इसी प्रकार वादीसे कही जाती हुई शाखाएं उसकी संहिताओंकी शाखा नहीं हैं; किन्तु वे संहिताएं भी तथा अन्य सभी संहिताएं भी यजुर्वेदकी शाखाएं हैं, अर्थात् यजुर्वेद ऋग्वेद सामवेद अथर्ववेद इन शाखाओंसे भिन्न कभी नहीं मिल सकते हैं; और न मिलते ही हैं। वादी अपने पक्षको त्रिकालमें भी खड़ा नहीं रख सकता।

वस्तुतः यास्क-वचनमें 'नियत' का अर्थ 'निश्चित' है कि—अपनी-अपनी संहिता (शाखा) में आनुपूर्वी निश्चित होती है, बदली नहीं जाती, यह इसका तात्पर्य है। वादिप्रोक्त 'नित्य' अर्थ नहीं है। नहीं तो यास्कसे उद्धृत की हुई ऋचाओंका—जिनको वह 'तस्य एषा भवति' (८।१७।१)

'तस्य एषाऽपरा भवति' (२।१६।२, ८।२०।१) इस शब्दसे बिना विशेष नामके जो लिखता है—उनका वादीकी तथाकथित ऋचाओंसे भेद क्यों दीखता है (निरुक्त ८।२०।१ आदि) जैसेकि--'वनस्पते रशनया नियूय' इस मन्त्रकी तुलना ऋ. १०।७०।१० से करो। हम इसके उदाहरण 'आलोक' ग्रन्थमालाके गत पुष्पोंमें दिखला चुके हैं।

अब निरुक्तकारकी अन्य साक्षी भी देखिये—'तदेतद् बहुलमाध्वर्यवे याज्ञेषु-मन्त्रेषु' (नि. ७।३।३) में श्रीयास्कने यजुर्वेदके मन्त्रोंमें आशीर्वादके भावोंकी बहुतायत दिखाई है। इसके उदाहरणमें श्रीयास्कने 'सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासम्, सुवर्चा मुखेन, सुश्रुत् कर्णाभ्यां भूयासम्' यह यजुर्वेदका आशीर्लिङ्का मन्त्र उद्धृत किया है। विपक्षी 'यजुर्वेद'से अपनी यजुर्वेदकी संहिता लेता है; अब वादी इस मन्त्रको अपने यजुर्वेदसे दिखलाये। यह मन्त्र मानवगृ. (१।६।२५) में उद्धृत है। यदि वह यजुर्वेदकी वादीसे तथाकथित शाखामें होगा; तब वह शाखा भी यजुर्वेद सिद्ध हुई। अध्वर्युका वेद यजुर्वेद ही होता है। इसी प्रकार इसीके अन्तमें 'एवमुच्चावचैर्भावैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति' (नि. ७।३।८) में मन्त्रदर्शन दिखलाया है, तब उक्त मन्त्र भी वादियोंकी संहितामें मिलना चाहिये; जब नहीं मिल रहा; तब स्पष्ट है कि—वे शाखाएं भी मन्त्र हैं। इससे यह भी सिद्ध है कि—श्रीयास्ककी यजुर्वेद-संहिता भी अन्य थी; आर्यसमाजियों वाली आजकलकी नहीं थी।

जिस प्रकार यास्ककी यजुर्वेदसंहिता अन्य थी, इस प्रकार यास्ककी ऋग्वेदसंहिता भी अन्य थी। देखिये—'वने न वायो' यह मन्त्र यास्कने (नि. ६।२८।३) दिया है, उसमें 'वायः' एक पद था, जिसका अर्थ 'वेः पुत्रः' था; पर दयानन्दियोंकी वर्तमान ऋसं. में 'वा' और 'यः' यह भिन्न-भिन्न पद हैं (ऋसं. १०।२६।१) आर्यसमाजके श्रीविश्वेश्वरानन्द नित्यानन्दजीने भी अपनी 'ऋग्वेद-पदानुक्रमणी' में यह दो भिन्न-भिन्न पद भिन्न-भिन्न पृष्ठों ('व' के और य' के पृष्ठों) में लिखे और माने हैं। पर श्री-

यास्कने कहा है कि—शाकल्य ऋषिने अपनी संहितामें एक पदके दो पद बना दिये हैं, यह ठीक नहीं (नि, ६।२८।३) अब यह आर्यसमाजका ऋग्वेद ऋग्वेदकी शाकल्यशाखा हुई। वैदिक प्रेस अजमेरके निरुक्तकी टिप्पणीमें भी उक्त स्थलमें सिंहनादके साथ लिखा है—'वा, यो' इति शाकल्यः' (निरु. पृ, ६४)। इससे आर्यसमाजकी वैदिक प्रेस अजमेर की ऋसं. वैदिकयन्त्रालयके अनुसार भी शाकल्यकी संहिता होनेसे शाखा सिद्ध हो गई। अब आर्यसमाज ऋग्वेदसे हीन हो गया। उसका वेदकी शाखाओं को मानना ही वैदिक-धर्म है।

यदि वादी श्रीयास्कको वेदके बड़े विद्वान् तथा वादिप्रतिवादिमान्य मान कर यास्ककी 'वायः' इस एक पद वाली संहिता को ही मूलसंहिता मानेगा, तो आर्यसमाजकी ऋग्वेद-संहितामें शाकल्य-द्वारा हेरफेर किये जानेसे वह अब वेद नहीं रही, शाकल्य-शाखा बन गई। सो आर्यसमाज ऋग्वेदसे तो हाथ धो ही बैठा; अपने अथर्ववेदसे भी हाथ धो बैठा; क्योंकि—उसमें भी उक्त मन्त्रमें शौनक ऋषिने ऋसं. के 'वायः' इस पदमें हेरफेर करके 'वा यः' (अथर्व. २०।७६।१) यह दो पद बना दिये हैं। अब यह भी वेद न रहकर शौनक शाखा बन गई। वादीके अनुसार 'पौरुषेय' बन गई। सो आर्यसमाज भी अपने धर्मका नाम अब 'वैदिक-धर्म' के स्थान 'शाखाधर्म' नाम वाला बने; अथवा फिर सभी शाखाओंको वेद मानकर सनातनधर्मके अन्दर अपना विलय कर ले।

अथर्ववेदकी अन्य साक्षी भी वादी देख ले। 'वैदिक-यन्त्रालय' के निरुक्त (पृ. १५५) में पुनरेहि वाचस्पते ! निरामय मय्येव तन्वं मम' यह अथर्ववेद (१।१।२) का मन्त्र दिया है, (नि. १०।१८।१) पर आर्यसमाजकी वर्तमान अथर्वसं. में 'निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम्' यह मन्त्र छपा है। और निरुक्तका दिया मन्त्र अथर्ववेद पैप्पलादसंहिता (१।६।२) का है; सो शौनकऋषिने उसमें हेरफेर करके यह मन्त्र लिख दिया, सो आर्यसमाजकी अथर्ववेदसं. अब शौनकी शाखा हो गई, और पौरुषेय हो

गई। अब आर्यसमाज अथर्ववेदसे हीन हो गया। जैसे कि—महाभाष्यकार का अथर्ववेद 'पैप्पलादसंहिता' है, वैसे वेदके भाष्यकार श्रीयास्ककी भी वही संहिता थी। अब अथर्ववेद भी छिन जानेसे आर्यसमाज शाखाधर्मी बन गया, अपना 'वैदिकधर्म' नष्ट कर बैठा; इसलिए आर्यसमाज कानपुर के संयुक्त मन्त्री 'श्रीविद्याधर' जीने आर्यसमाजकी अथर्ववेद-शौनकसंहिता' को खण्डित प्रतिलिपियोंके आधार पर बनी हुई कहकर उसमें हेरफेर मान लिया है। देखो उनकी 'वेदसंज्ञा-विचार' पुस्तकमें, पर यदि आर्यसमाजी सभी शाखाओंको वेद मान लें; तब कोई भी दोष नहीं आता है; अपनी अपनी संहिताएं जो ऋषियोंने समाधिसे प्राप्त की थीं; उनकी वर्णानुपूर्वी नियत-निश्चित रहती है, बदलती नहीं—सभी शाखाएँ वेद हैं—यह निष्कर्ष निकला।

यदि वादी इन बातोंका प्रत्युत्तर नहीं देगा; तो उसका एवं आर्यसमाजका 'वैदिकमत' सदाकेलिए समाप्त ही होगया समझिये। कई लाख के आर्यसमाजियोंको इसपर विचार करके अब स०ध० पक्षकी घोषणा कर देनी चाहिये कि—"मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'। यह हमारी उन्हें सत्सम्मति है। अब अन्वेषणका युग आ गया है, उनकी बालुकाभित्तियाँ अब शीघ्र ढह जाएंगी।

विनयनगर वैदिकअनुसन्धान-समिति ब्र० कृष्णदत्तके वैदिकप्रवचन कराया एवं छापा करती है। उसका विश्वास है कि—ब्रह्मचारीजी वेदमन्त्र बोला करते हैं। प्रवचनके पञ्चम पुष्प पृ. १४ पं० १४ में ब्र.कृ.द.का वाक्य छपा है—'हे माता दुर्गे; तुझे वेदोंने चमण्डला कहा है। अब क्या दयानन्दी बतावेंगे कि—उनकी चारों वेदसंहिताओंमें 'दुर्गा' का नाम 'चमण्डला' कहां कहा है। पृ. १०-११ में ब्रह्मचारीजीका यह वाक्य है—'हे महान् ब्रह्मचारी ! तू भी इस प्रकार अपने जीवनको पवित्र बना; यह वेदका अमूल्य आदेश कहता है। वेदने कहा हैं—'वहति हृदयश्रता वार्णोनि

कामा: वेतु न हृदयश्चते कामन्तेनुगच्छामि हृदयस्वतः' अब आर्यसमाजी लोग इस वेदमन्त्रको अपने वेदसे ढूंढ कर दें। यदि न दे सके; तो उनका वेदविषयक सिद्धान्त गलत सिद्ध हुआ; या फिर ब्र.क्रु.द.के उनसे छपवाये हुए वैदिक प्रवचन ठगीके सिद्ध हुए। इनमें जिस पक्षको वे चाहें चुन लें।

'परिभाषाकी दृष्टिसे यास्कके 'छन्दस्' प्रयोगमें दोनोंका ही ग्रहण है' यह वादीकी कृत्रिम तथा निराधार कल्पना है। 'मन्त्र-सार्थक-अनर्थक प्रकरणमें' श्रीयास्कने 'छन्दः' शब्द नहीं रखा, किन्तु 'मन्त्र' शब्द रखा है, जिसका वादी 'मूलवेद' अर्थ मानता है। और फिर 'छन्दस्' की वादीसे प्रोक्त परिभाषा श्रीयास्कने कहीं बताई भी नहीं। यास्क बहुत प्राचीन हैं पाणिनिसे भी पूर्वके। महाभाष्यकार इनसे बहुत अर्वाचीन हैं; तब भाष्यकारके मतसे वादी-द्वारा बलात् गढ़ी हुई कल्पना भला यास्काभिमत कैसे हो सकती है? भाष्यकारने भी कहीं ऐसी कल्पना नहीं की है। यह केवल अपने निर्मूल पक्षके बचावकेलिए वादीकी बनावट है, हम इसका खण्डन पहले कर चुके है।

वादी डरते-डरते 'छन्दः' शब्द क्यों रखता है, स्पष्ट ही 'वेद' शब्द क्यों नहीं रखता। 'छन्दः' वेदको ही तो कहते हैं; तब स्पष्ट है कि—वह वेद सम्पूर्ण शाखा तथा सम्पूर्ण ब्राह्मणात्मक है। यह हम गत निबन्धमें निरुक्तानुसार सिद्ध कर चुके हैं। अतः वादीका पक्ष असिद्ध है। अब 'निरुक्त' भी 'वेदाङ्ग' है, वा शाखाङ्ग; यह वादी ही बतावे। यदि उसे 'शाखाङ्ग' बतावे, तो आर्यसमाजसे वेदाङ्ग 'निरुक्त' भी छिन गया। वेदाङ्ग 'छन्दः' भी उससे कट गया; क्योंकि—'छन्दः-शास्त्र 'पिङ्गल' आदि में कई गायत्री आदि छन्दोंके भेदोंमें जो वेदसे उदाहरण दिये गये हैं, वे भी वादीकी वेदसंहिताओंमें नहीं मिलते; यह वादी श्रीभगवद्दत्तजी, तथा श्रीयुधिष्ठिरजीकी पुस्तकोंमें देख ले। वेदाङ्ग व्याकरण अष्टाध्यायी भी अब वादीके अनुसार 'शाखाङ्ग' हो गई, यह हम पीछे बता आये हैं। यही दशा अन्य वेदाङ्गोंकी भी है। अब वादीके सम्प्रदायके पास न अङ्गी वेद

रहा; न रहे वेदाङ्ग, क्योंकि—वे उनके अनुसार शाखाओंके हैं। 'छन्दोस्[illegible] सूत्राणि भवन्ति' 'लेट्लकारः छन्दोमात्रगोचरः' आदिमें वादी 'छन्दः' का क्या अर्थ करता है—'वेद' या 'शाखा'? यदि वादीके अनुसार 'छन्द' की परिधिमें सभी शाखा-ब्राह्मण आ जाते हैं, तो स० ध० का ही पक्ष सिद्ध हुआ; वादीका गलत, क्योंकि—'छन्द' वेदका ही नाम होता है—इसमें हम स्वा.द.जीकी साक्षी भी दे चुके।

(३२) पृ. ९५। 'स्वाध्याय' का अर्थ 'स्वशाखा' ठीक ही है; क्योंकि निरुक्तमें 'अध्याय' वेदका नाम है। देखो उनका 'अन्वध्यायम्' (नि. १। ४।८) शब्द। 'स्व-अध्याय' 'अपना वेद' कोई शाखा ही हुई; नहीं तो 'स्व' शब्दके देनेकी आवश्यकता नहीं थी। यह वादीके तथाकथित मूलवेद भी तो शाकल, माध्यन्दिनी, कौथुमी शाखाएं ही तो हैं। सो 'स्वाध्याय' का अर्थ होता है अपने-अपने कुलके चार वेद। 'स्व-अध्याय' होनेसे अपने वेद की शाखाके अध्ययनका विचार होनेसे सभी शाखाएं वेद सिद्ध हो गई। वेदसंहिताएं सभी शाखाएं ही है। उनका अध्ययन सुदीर्घकालसाध्य होनेसे कोई कर सकता नहीं। अतः कुलपरम्परा अथवा गुरुपरम्पराकी जो भी चार शाखाएं पढ़ी जाती हैं, वही उस कुलके चार मूलवेद माने जाते हैं। जैसे आर्यसमाजने इन चार शाखाओंको अपने चार वेद अपने सम्प्रदायवश मान रखा है, पर तटस्थ दृष्टि तथा वस्तुदृष्टिसे सभी शाखा-ब्राह्मणादि वेद हैं। यह बात यदि वादी समझ लें, तो वादीकी सभी भ्रान्तियाँ समाप्त हो जावें।

(३३) पृ. ९६-९९ वेदोंकी संख्या चार है--यह ठीक है। ११३१ संहिता, उतने ही ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् यह सारा साहित्य चार वेद है। इससे न हमारे मतका कुछ खण्डन है; और न वादीकी कुछ इष्टसिद्धि। ऋसं. (१०।९०।७) में वादीके अनुसार ऋ.यजुः, साम और अथर्व गृहीत हैं, पर उसमें ऋग्वेदसंहिता, यजुर्वेदसं., सामवेदसं. और अथर्ववेदसंहिता यह नाम नहीं है, सो ऋग्वेदकी सभी संहिता (शाखाएं)

ऋग्वेदकी होंगी। वादीकी ऋक्संहिता शाकल्यशाखा ही है। इनमें निरुक्तकी साक्षी अभी-अभी दी जा चुकी है।

कई लोग 'अहेरिव सर्पणं शाकलस्य' (ऐ. ब्रा. १४।५) इस वचनसे भी यही सिद्ध करते हैं कि--शाकलके आदिम-अन्तिम मण्डलोंके सूक्त बराबर (१९१) हैं। वादी अपने वेदका नाम ऋग्वेदसंहिता-अथर्ववेद-संहिता आदि कहते हैं; पर किसी भी उनके इष्ट वेदके मन्त्रमें यह शब्द नहीं मिलता; तब स्पष्ट है कि—यह सभी संहिता विशेष-विशेष ऋषियों की संहिताएं शाखाएं हैं। सभी शाखाएं ही मन्त्रभाग होती हैं। 'संहिता' का भाव 'शाखा' है। वेदोंकी चार संख्यासे ११३१ संख्या नहीं हटती, और ११३१ संख्यासे वेदोंकी चतुष्टयतामें कोई क्षति नहीं आती; क्योंकि—भाष्यकारने चारों वेदोंकी ही ११३१ संहिताएं बताई हैं। अथर्वके ज्ञाता को 'ब्रह्मा' कहा है, सो अथर्वकी जिस भी संहिताको, चाहे वह 'शंनो देवी' वाली (पैप्पलादी) हो, चाहे वह 'ये त्रिषप्ताः' आदि मन्त्र वाली हो; वह अथर्ववेद ही है; उसका ज्ञाता ब्रह्मा बनेगा, वह अपनी उसी संहिताका जप करेगा।

जब वादी गोपथको अथर्व पैप्पलादसंहिताका ब्राह्मण मानता है, और उस ब्राह्मणने अथर्ववेदका 'शं नो देवी' से प्रारम्भ माना है, उसने भी तो वेदकी संख्या चार ही बताई है। यदि कभी आर्यसमाजाभिमत शौनकी अथर्ववेदसं.का ब्राह्मण मिलेगा; वह भी अपना आदिम मन्त्र बताकर चार वेद ही बतावेगा। अर्थात् सभी ११३१ संहिता और उतने ही ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् यह सभी मिलकर चार वेद होते है। जैसे वेद ऋग्वेदादिसे भिन्न कोई स्वतन्त्र पुस्तकरूपसे नहीं मिलते; वैसे ही यजुर्वेदादि भी तैत्तिरीयसंहिता, माध्यन्दिनसंहिता आदि शाखाओंसे भिन्न स्वतन्त्ररूपसे कहीं नहीं मिलते। इन बातोंका ज्ञान यदि वादियोंको हो जावे; तो उनकी सभी वैकारिक लघु-दीर्घशङ्काएं सूख जावें।

जिस शैलीसे वादी शाखाओंको व्याख्यान मानता है, उसी शैलीसे

उसकी तथाकथित चार संहिता भी शाखाएं तथा व्याख्यान हैं। वेदोंकी नित्यता शाखाओंके वेद होनेकी बाधिका सर्वथा नहीं; क्योंकि—शाखासे भिन्न कोई वेदसंहिता होती ही नहीं। वादीकी तथाकथित चार संहिता शाकल, माध्यन्दिनी-वाजसनेयी, कौथुमी, शौनकी, शाखाएं हैं, यह हम कई बार सिद्ध कर चुके है, यह बात वादिप्रतिवादिमान्य है। वादीकी संहिता ही मूल है; अन्य व्याख्यान, इसमें कोई प्रमाण नहीं। उन संहिताओंकी भी वादीकी संहिताएं व्याख्या हो सकती हैं, 'शृणोत' का वादीकी संहिता ने 'श्रोता' कर दिया है—इस पर हम पहले बता आये हैं। सो जिसकी जो चार कुल-शाखाएं होंगी, वे ही उसकी ऋग्वेदसं. यजुर्वेदसंहिता, सामवेदसंहिता तथा अथर्ववेदसंहिता होंगी। तब उनकी नित्यतामें कोई बाधक नहीं। यह हम सिद्ध कर चुके हैं कि—वह 'नियत' का अर्थ 'निश्चित' है, 'नित्य' नहीं।

पृ. १०१ 'होतारं विश्ववेदसम्' की विवेचना हम 'आलोक' छठे पृ. १७५-१७८) तथा ८वें पुष्प (पृ. ८७-९५) में कर चुके हैं। यदि वहांके 'यथैव ऋचा प्रोक्तम्' के 'ऋचा' का ऋग्वेद अर्थ किया जावे, तो निरुक्तमें 'ऋचा' के परोक्षकृत् भेदमें जो 'इन्द्रे कामा अयंसत' यह सप्तमी का उदाहरण श्रीयास्कने दिया है; इसे वादी अपने ऋग्वेदमें दिखलावे। यदि उसे न दिखलाकर किसी लुप्तशाखामें माने; तो लुप्तशाखाको भी 'ऋचा' (ऋग्वेद) मान ले। इस प्रकारकी यास्क-द्वारा उदाहृत बीसों ऋचा मिलती हैं, जो वादीकी चारों संहिताओंमें नहीं मिलतीं। इस विषयमें वादी इस पुष्पके पृ. १९४-२१६ में देखे।

(३४) पृ. १०२-१०३ जो कि वादी चारों वेदोंकी अक्षरगणना की बात कहता है, इससे उसीका पक्ष कटेगा। ब्राह्मण अपनी-अपनी चार संहिताओंकी अक्षरसंख्या बताते हैं। उसमें वादीकी तथाकथित संहिताओं की संख्या मेल नहीं खाती। वह ऋचाओं, यजुओं तथा सामों इन त्रिविध मन्त्रविशेषोंकी संख्या है, चार वेद-पोथियोंकी नहीं। इस विषयमें वादी

अपने अभिमतका खण्डन 'आलोक' (६ पुष्प) (पृ. ८११-८२३) में देखे। इस अक्षरसंख्याको माननेपर वादीके वेदोंका ही खण्डन होगा; क्योंकि— उनमें यह अक्षरसंख्या नहीं संघटित होती।

यदि वादीको शतपथकी बात प्रमाण हो, तो शतपथने उर्वशी-पुरूरवाः सूक्तकी १५ ऋचा मानी हैं (११।५।१।१०); पर वादीकी ऋसं. (१०।६५) में १८ ऋचा है। तब क्या शतपथकी बात मानकर वादी अपनी १८ ऋचा वाली उर्वशी-पुरूरवाः सूक्तकी ऋसं. को हेरफेर वाली, एवं अमूल संहिता वा उसमें प्रक्षेप मान लेगा? उत्तर दोनों स्थान समान है। और १५ वा १८ ऋचाओंके भेदसे 'अक्षरोंकी संख्यामें भी स्वयं भेद पड़ेगा। वहाँ बह्वृच ऋग्वेदका नाम है, जैसे कि—'एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्' यह महाभाष्यके पस्पशाह्निकके वचनमें है। यदि यह अन्य किसी शाखाका नाम हो; तो शतपथकी वही ऋग्वेदसंहिता होगी।

(३५) पृ. १०३ में वादीने लिखा है—'शिताम' की व्याख्यामें दुर्गने तै.ब्रा. ३।८।११ का उदाहरण दिया है, जबकि वह यजुर्वेद (३१। ४३) में पाया जाता है'। पर यह उपालम्भ व्यर्थ है। हमें तो वेङ्कटेश्वर प्रेस के निरुक्त (पृ. २७०) में उसका यजुः मा.सं. (२१।४३) यह पता लिखा मिला है। यदि तै.ब्रा. का कहीं लिखा भी है; तब भी उपालम्भ व्यर्थ है। जबकि वादी स्वयं मानता है कि—निरुक्तके पद, संहिता तथा शाखा-ब्राह्मणोंमें भी आते है; तब उन शाखाओं वा ब्राह्मणोंसे भी उसे लिखा जा सकता है; बात भी ठीक है क्योंकि-यास्क सभी शाखा वा ब्राह्मणोंको वेद मानते ही हैं। वादी इस अपनी 'मूलसंहिता' की रट हटा दे; नहीं तो वह पद-पद पर ठोकरें खावेगा, अन्तमें उसे स.ध.का पक्ष स्वीकार करना भी पड़ेगा, कि—सभी शाखा-ब्राह्मण (आरण्यक-उपनिषद् सहित) मिलकर ही वेद कहलाते हैं। देखिये—

निघण्टु वेद और उसका व्याख्यान निरुक्त वेदाङ्ग कहलाता है। सो उसके सभी पद सभी संहिता, ब्राह्मणोंसे (जहां-जहां मिलें) देखे और

दिखलाये जा सकते हैं। केवल मूल-संहिताकी रट वादीकी ही हानि ... वादीके वेदोंको अपूर्ण-वेद सिद्ध करा देगी। देखिये—नैगमकाण्डके चतुर्थाध्यायमें 'सुविते' (२८) यह 'निगम' का पद है। स्वा.द. जिसे 'वेद' का नाम कहते हैं, वह हम पूर्व बता चुके हैं, उस पदका ... श्रीयास्कने 'सुविते मा धाः' (नि. ४।१७।१) यह दिया है। ... क्या अपनी संहितामें दिखला सकता है? यह तो कृष्णयजुर्वेद (तै. ... १।२।७] का उद्धरण है। इस निगम (वेद) के पदको श्रीयास्क 'सुविते दधातु' (यजुः माध्य. २९-४) से भी दिखला सकते थे; पर ... दिखलाकर कृष्णयजुर्वेदसे उनने दिखलाया; इससे स्पष्ट है कि-श्रीयास्क भी कृष्णसंहिताको मूलसंहिता मानते थे; और माध्यन्दिनी वादीकी संहिताको उसकी व्याख्यानकी शाखा मानते थे। अथवा फिर उनका ... मत है कि—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'। तब श्रीयास्कको भी ... उलाहना क्यों नहीं देता?

(ख) आगे 'दयते' (२९) यह निगम (वेद) का पद है। ... निरुक्तमें 'नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम (४।१३।८) यह कृ.य. मैत्रायणी सं.का उद्धरण दिया है। क्यों वादीकी मूलसंहितासे नहीं दिया? ... आगे 'इमे सुता इन्दवः प्रातरित्वना...दयमानो अबूबुधत्' यह ... दिया है; यह भी वादीकी तथाकथित मूलसंहितामें नहीं है; जबकि- 'दयमानः' के उद्धरण वादीकी इष्टसंहिताओंसे भी दिये जा सकते ... यदि कहो कि—वह निघण्टुप्रोक्त अर्थ उस मूलसंहितामें नहीं मिलता, अतः वह अर्थ अब अन्य शाखाओंमें मिलता है; तो उसे उद्धृत करते हैं, तो इससे स्पष्ट हुआ कि–वेदोंसे जो तत्तद्-अर्थ वाले पद यास्कने उद्धृत किये, इससे अत्यन्त स्पष्ट हो गया कि—वे उन शाखाओं ब्राह्मणों को वेद मानते थे, नहीं तो इस विषयके लौकिक श्लोक यास्क क्यों नहीं दिये? इसलिए कि—वेद नहीं हैं; यदि शाखाएं-ब्राह्मण यास्कके मतमें अवेद होते; तो लौकिक-वाक्य हो जानेसे यास्क उन्हें ...

उद्धृत न करता; तब वादीका पक्ष खण्डित हो गया।

केवल वादी की चार पोथियोंकी मूलवेद होनेकी रट लगाना—यह सभी प्राचीन प्रामाणिक वेदज्ञोंसे विरुद्ध एवं निर्मूल सिद्धान्त है। इसके सैंकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं। हम इसका संग्रह ४ संख्या पृ. १६४ से २१८ पृ. तक कर चुके हैं। फलतः वादीका यह उपालम्भ व्यर्थका है। एक उदाहरण वादी यहां भी देख ले। निरुक्त (६।२४।१ वैदिक प्रेस अजमेरमें प्रकाशित) में 'आ त्वा विशन्तु इन्दव आगल्दा धमनीनाम्' (ऋसं. १।१५।१) यह मन्त्र आता है; वादी इसे अपनी ऋसं.में इसी रूपमें दिखलावे। यदि वादीकी ऋसं. में कुछ अन्य पाठ है; तो उसकी आनुपूर्वीमें परिवर्तन क्या वादीके अनुसार उसके मूलसंहितात्वको नष्ट करके वादीके शब्दोंमें उसके शाखात्वको सूचित नहीं कर रहा? स्पष्ट है कि—यास्कके मतमें सभी शाखा वेद हैं। इस विषयमें पूर्णता 'वेदस्वरूप-निरूपण (८) इसी पुष्पमें देखो।

वास्तवमें बात यह है कि—स्वा.द.जीको यही चार संहिताएं छपी हुई विदेशसे मिली थीं, अतः उन्होंने केवल इन्हें ही मूलरूप में (बिना भाष्यके) छपवाया, अतः उन्होंने वा उनके अनुयायिओंने इनका नाम मूलवेद प्रसिद्ध कर दिया। यदि उन्हें अन्य चार शाखाएं मिल जातीं; वे उन्हें ही चार वेद मानते वा बताते। वस्तुतः ११३१ संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् यह सब मिलकर चार वेद हैं।

(३६) इसी प्रकार 'सुषुम्णः सूर्यरश्मिः' के लिए भी उसी निरुक्त (पृ. १२०) में (य. वा. सं. १८।४०) लिखा ही है। सबको सब स्मरण नहीं रहता। कभी कोई टिप्पणीकर्ता थोड़ा-सा भूल जावे; तो वादी कितना हो-हल्ला मचाता है, पर उससे हमारे मूल-सिद्धान्तकी कोई हानि नहीं होती, वादीका ही सिद्धान्त कटता है। देखिये, यास्कने केवल इतना ही लिखा है—"सुषुम्णः सूर्यरश्मिः चन्द्रमा गन्धर्वः इत्यपि निगमो भवति' (नि. २।६।३) तब यह नहीं कहा ज़ा सकता कि—श्रीयास्कको माध्य-

न्दिनीसंहितावाला ही मन्त्र इष्ट है, क्योंकि—यास्क इस संहिताका आदर नहीं करता, वह कृष्णयजुर्वेदसंहिताका ही आदर करता है. जो ८६ संहिता हैं। सो श्रीयास्क कृ.य. मैत्रा.सं. के ही प्रायः उद्धरण देता है, सो यह वहींका (२।१२।२) वा कृ.य. कपिष्ठल कठसं. (२६।१) का, अथवा 'कृ.य.तै. (३।४।७) का वा कृ.य. काठकसं. (१८।१४) का भी यास्कको इष्ट हो सकता है क्योंकि—यास्कके मतमें यह वेद हैं। यास्कने व्यवच्छेदक पाठभेद 'नाम, ताभ्यः स्वाहा वाट्' 'स नः' यह नहीं रखे; अतः उसे यह माध्यं.सं.का मन्त्र इष्ट हो—यह आवश्यक नहीं है।

जैसे वादी इनका नाम मैत्रायणीशाखा, काठकशाखा आदि लिखता है, वैसे अपनी संहिताका नाम भी 'माध्यन्दिनी शाखा' जिसमें इसे मिलाकर १५ शाखाएं है—क्यों नहीं लिखता, जबकि वह वही शाखा है। पर यास्क आदि प्राचीन विद्वान् इन सभी शाखाओंको वेद मानते थे, वादीकी चारों शाखाओंका उतना आदर नहीं करते थे। कृष्णयजुः की ८६ संहिता हैं, और शुक्लकी केवल १५। कृष्णका इतना साहित्य होनेसे प्राचीन विद्वान् उनका आदर करते थे। शुक्लका साहित्य बहुत थोड़ा है; अतः उसके उद्धरण प्राचीन विद्वान् प्रायः नहीं देते थे। यह वादीको सदा के लिए समझकर अपना शाखाविषयक अज्ञान मिटा लेना चाहिये। वह सदाकेलिए याद रखे कि—यजुर्वेदकी सब १०१ शाखा हैं। यह सभी यजुर्वेद हैं—'राहोः शिरः' 'वस्त्रस्य तन्तुः, 'वृक्षस्य शाखा' की तरह इनमें व्यपदेशिवद्भावसे भेद दिखलाया जाता है, पर वस्तुतः राहुसे सिर कोई पृथक् नहीं है, वस्त्रसे तन्तु कोई भिन्न नहीं होती, वृक्षसे शाखा कोई पृथक् नहीं होती; अवयवीसे अवयव पृथक् कहीं नहीं मिलता। वस्तुतः तो अवयवोंसे ही अवयवी होता है, शाखाओंसे ही वृक्ष होता है। शिरसे ही राहु होता है; इस प्रकार वेद-शाखाओंसे शाखी (वेद) पृथक् कभी नहीं होता। वादी अपना अज्ञान मिटा ले। अवयवी सारा कभी नहीं दीखेगा; जो दीखेगा—उनका अवयव ही दीखेगा, इस पर वादी न्यायदर्शन

में अवयवि-प्रकरण देखे; सो जिस हिसाबसे वादी मैत्रायणी-शाखा कहता है, उसी हिसाबसे वह अपनी संहिताको माध्यन्दिनी-वाजसनेयी शाखा कहे। इन शाखाओंसे भिन्न यजुर्वेद वा ऋग्वेद नामकी कोई भी पोथी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखती। जो भी यजुर्वेद-शाखा हो; उसको यजुर्वेद-संहिता ही कहना पड़ता है. व्यवच्छेदकताके लिए माध्यन्दिनसं., काण्वसं., तैत्तिरीयसं. आदि कहना पड़ता है। यदि कई लाखके आर्यसमाजी इसका ज्ञान कर लें, तो उनका वैदिकधर्म और हमारा सनातनधर्म इनकी खाई समाप्त हो जावे।

(३७) अब हम इससे पूर्वकी वादीकी वेदसम्बन्धी कुछ अन्य बातों पर भी विचार करते हैं—

पृ. ५८ महाभाष्यके 'नामिक' में दिये गये स्वा.द.जीके भाष्यवचनकी व्याख्याके वचनसे ११३१ शाखाएं चार वेद सिद्ध होती हैं—यह हमने दिखलाया था, इस पर वादी कहता है—'इससे शाखाओंके वेद होने वा उनके ११३१ होनेके निर्णयका कोई प्रसङ्ग नहीं है'। यहां वादी प्रत्यक्ष पर भी धूल झोंक रहा है। यहां कहीं नहीं लिखा कि—११२७ शाखाएं हैं; और चार वेद इनसे भिन्न हैं; किन्तु ११३१ संहिताएं ही भाष्यकारने चार वेद माने हैं, शब्द-अर्थका नित्य सम्बन्ध होनेसे ब्राह्मणभाग इसीमें गृहीत हो जाता है। यदि भाष्यकार चार वेद अलग मानते; तो ११२७ शाखा कहते, यह अत्यन्त स्पष्ट है, उन्होंने सभी ११३१ शाखाएं ही चार वेद बतलाये हैं; इसका भाव यह हुआ कि—इन भेदोंसे भिन्न चार वेद कहीं पृथक् नहीं होते। जैसे वेद चार हैं—कहनेसे चारों वेदोंसे भिन्न 'वेद' नाम वाली पुस्तक कहीं अलग गृहीत नहीं होती; इसी प्रकार ११३१ संहिताओंको ही चार वेद कहनेसे उन ११३१ से भिन्न कहीं चार वेदकी पुस्तकें पृथक् नहीं मिलतीं—यह निष्कर्ष है, इसके बहुत उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं। जैसे—अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा, व्यञ्जना इन चार शक्तियोंके साहित्य-ग्रन्थोंमें भेद आते हैं, जैसे लक्षणाके ८०, व्यञ्जनाके

दो शाब्दी, आर्थी, फिर इनके भी बहुत-से भेद होते हैं; सो वे भी [illegible] भेद ही चार शक्तियाँ होती हैं; उन भेदोंसे भिन्न चार शक्तियां [illegible] भिन्न वस्तु नहीं हो जातीं।

यदि वादीका मत भाष्यकारके वचनमें यही निकलता, तब भाष्यकार चार वेद अलग कहते, और ११२७ संहिता अलग कहते; पर यहां ११[illegible] शाखाएं पृथक् नहीं कही गईं, और ४ वेदपुस्तक कहीं अलग नहीं [illegible] गये। अन्य भी किसी प्राचीन ग्रन्थमें ऐसा नहीं। वादीकी ४ इष्ट संहिता[illegible] सब स्थान शाखाएं कही गई हैं। पहले समयमें इन वादीकी इष्ट शाखा[illegible] को कोई सम्मानित नहीं करता था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि—वादी जिन्हें ब्राह्मण वा शाखा कहते हैं, उनके प्रमाणोंको भाष्यकार वेद, निगम, आम्नाय, ऋचा आदि शब्दोंसे कहते हैं। यजुर्वेदके उदाहरणों[illegible] वे प्रायः कृष्णयजुर्वेदके उदाहरण देते हैं; यह पहले बताया जा चुका है। इस प्रकार वादीकी इष्ट चार संहिताओंसे भिन्न संहिताओंके मन्त्र त[illegible] ब्राह्मण, आरण्यक उपनिषदोंके वचन भी वेदके नामसे देते हैं। यह वि[illegible] 'आलोक' (४, ६, ७, ८ पुष्पोंमें) वादी देख सकता है।

वादीको यहाँ इतना ज्ञान भी नहीं कि—साहित्यमें ध्वनिके [illegible] ५१ कहे गये हैं, क्या वहां वादी 'ध्वनि' को ५१ से पृथक् करके ध्वनि[illegible] ५० भेद मान लेगा? लक्षणाके वहां ८० भेद कहे गये हैं; क्या वा[illegible] वहां 'लक्षणा' को पृथक् करके उसके भेद ७९ मान लेगा? दिल्ली[illegible] ३२ विभाग बने हुए हैं; तब क्या वह ३२ विभागोंमें 'दिल्ली' को पृथ[illegible] करके उसके ३१ भेद मान लेगा? यदि ऐसा मान लेगा, तो जनता उ[illegible] अज्ञान पर तरस करेगी। इसी प्रकार वेदके ११३१ विभागमें चार [illegible] कोई पृथक् नहीं हो जाते।

'साङ्गाः' शब्दपर वादीने व्यर्थ ही लिखा है। शाखाओंको [illegible] शाकल्यसं., माध्यन्दिनसं. कौथुमसं., तथा शौनकसंहिता इस वादी[illegible] इष्ट संहिताओंका अङ्ग नहीं बताया गया; किन्तु सभी शाखाएं अ[illegible]

(चार वेद) बताई गई हैं। शिक्षा आदि अङ्ग उनके बताये जाते हैं। जैसे अङ्गी आत्माको अङ्गों-हाथ पाओं आदिसे अलग कहा जाता है; वैसे व्याकरण (अष्टाध्यायी आदि) इन वादीकी चार संहिताओंके ही नहीं, किन्तु सभी ११३१ रूप अङ्गी चार वेदोंके, अङ्ग हैं। उनके अभेद का प्रश्न ही नहीं। क्या वादी प्रतिज्ञा कर सकता है कि—अष्टाध्यायी केवल उसकी चार पोथियोंका अङ्ग है; और इन ४ पोथियोंके प्रयोगों को सिद्ध करती है, ११३१ संहिताओं तथा उतने ही ब्राह्मणों आरण्यकों के प्रयोगों को सिद्ध नहीं करती? कभी नहीं; शिक्षा, कल्प, व्याकरण आदिको पांव, हाथ, मुख अङ्ग कहा जाता है, पर ११३१ शाखाओंको पांव, कान, नाक, मुख आदि नहीं कहा जाता; वे तो आत्मा हैं, अङ्गी हैं। तब उनका अङ्गोंसे अभेद व्यर्थ उपक्षिप्त किया गया है।

'सरहस्याः' से यह कहीं सूचित नहीं होता, कि—शाखाएं वादीकी चार संहिताओंका रहस्य बताती हैं। यदि वादी कई पर्यायवाची दिखलाता है; तो क्या पर्यायवाचकोंसे रहस्यका पता लग जाता है? जब सभी ११३१ शाखा संहिताएं हैं; मन्त्र—समूह है; तो कौन किसकी व्याख्या हो सकती है?। (क) कृ. य. तै. सं. में मन्त्र आता है—'भूमिर्भूम्ना द्यौर्वरिणाऽन्तरिक्षं महित्वा। उपस्थे ते, देव्यदिते!' (१।५।३।१)। माध्यं. सं. (३।५)में मन्त्र आता है-'भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा। तस्यास्ते पृथिवि! देवयजनि पृष्ठे'। इनमें 'वरिणा' कठिनका व्याख्यान 'वरिम्णा' इस सुगम शब्दसे वादीकी संहितामें है, (ख) इस प्रकार 'उपस्थे ते देवि! अदिते!' इन तै. सं० के कठिन शब्दोंका व्याख्यान वादीकी माध्य. संहितामें 'तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठे' यह सुगम शब्दोंमें आया है।

(ग) 'तै. सं. में पाठ आया है-'वाचमद्य स्वदाति नः' (१।७।७।१) यहां लेट्लकार कठिन है; पर वादीकी माध्यं. सं. में 'वाचं नः स्वदतु' (११।७) यहां पर सुगमतार्थ लोट् रख दिया गया। तै. सं. में 'राष्ट्रे

जागृयाम पुरोहिताः' (१।७।१०।१)में व्यत्ययका प्राचीन प्रयोग है; पर वादीकी माध्यं. सं. में 'जागृयाम' (९।२३) व्यत्ययरहित सुगम प्रयोग कर दिया है।

(घ) 'स गायत्रिया त्रिष्टुभा जगत्या' (२।२।४।१५) तै. सं. में आता है, इसमें 'गायत्रिया' यह प्राचीन प्रयोग है,। त्रिष्टुप् जगती छन्दों का साहचर्य है; उसीको वादीकी संहितामें 'गायत्र्या त्रिष्टुभाऽनुष्टुभा च' (माध्यं १३।३४) 'गायत्र्या' यह अर्वाचीन एवं सुगमरूपमें कर डाला; और जगतीके स्थान 'अनुष्टुप्' छन्द कर डाला। (ङ) 'अस्मासु इन्द्र इन्द्रियं दधातु' यह तै. सं. २।४।१२।७ में समष्टिकी प्रार्थना थी; पर वादीकी माध्यं. सं. में 'मयि इन्द्र! इन्द्रियं' (२।१०) 'मयि' परिवर्तन करके एक व्यक्तिकी प्रार्थना कर दी। (च) 'तैसं. में 'यथाभागं मन्दध्वं' (३।२।५।१८) था; पर वादी की माध्यं. सं. में 'मादयध्वं यथाभागम्' (२।३१) परिवर्तन कर दिया गया। (घ) 'तै. सं. में 'अमृतस्य योनौ महिषा अहिन्वन्' (४।२।२।३) यह कठिन शब्द थे, पर वादीकी संहितामें 'अपामुपस्थे महिषा अवर्धन्' (१२।२०) यह सुगम शब्द कर दिये।

इन मन्त्रोंमें तो उल्टा वादीकी शुक्लयजुःसंहिताने कृष्णयजुर्वेदके मन्त्रोंके कठिन पदोंको सुगम बताकर उनका रहस्य खोल दिया, इस प्रकार के बहुत से उदाहरण दिखलाये जा सकते हैं; तब क्या वादी अपनी शाखाको व्याख्यान मानेगा, वा तैत्तिरीय-शाखाको?।

(३८) पृ. ५९ में वादी कहता है—'बहुधा' में 'धाच्' प्रत्यय है, जो संख्या और प्रकार अर्थमें ही होता है'

मालूम होता है कि—वादीने पाणिनीय-व्याकरण भी नहीं पढ़ रखा। उसमें तो 'संख्याया विधार्थे धा' (पा. ५।३।४२) 'धा' प्रत्यय किया गया है, 'धाच्' नहीं। कदाचित् उसे 'चित्' करके वादीने पाणिनिकी भूल निकाली हो। उस सूत्रमें संख्यासे प्रकार अर्थमें 'धा' प्रत्यय किया

गया है। जो कि—'संख्या और प्रकार अर्थमें'यह वादीने 'दो अर्थ' बताये हैं, वह भी उसकी व्याकरणसे अनभिज्ञता सूचित करते हैं। यह सूत्रमें नहीं लिखा कि 'संख्यार्थे च प्रकारार्थे च' यहां तो संख्यामें षष्ठी है, 'संख्याका प्रकार' बताया गया है, न कि संख्या और प्रकार। 'बहुगण-वतुडति संख्या' (पा. १।१।२३) से 'बहु' शब्द संख्यावाचक है, उसे 'धा' प्रत्यय होकर 'बहुधा' बना है, उसका अर्थ है कि—चार वेदोंके ११३१ रूपमें बहुत प्रकार हैं। उसीकी आगे स्पष्टता है—'एकशतम् अध्वर्यु-शाखाः' इत्यादि' अर्थात् यजुर्वेदके १०१ प्रकार हैं। यहां यजुर्वेदकी १०१ शाखायें (प्रकार) कही हैं, यह यहां कहां लिखा है कि—यजुर्वेद एक है, और उसकी शाखा १०० हैं। यह न तो किसी शब्दका अर्थ है, और न तात्पर्य। क्या 'एकशतं' का अर्थ १०० है? यदि ऐसा होता; तो 'शतम्' होता, 'एकशतं' न होता। 'एकशतम्' का अर्थ है 'एकाधिकशतम्'। तब १०१ में वादीकी संहिता भी अन्तर्गत होगई, और वह शाखा हुई। कृष्ण-यजुर्वेदकी ८६ संहिताएं हैं, और शुक्लकी १५। सो वादीकी संहिता भी यजुर्वेदके प्रकारोंमें हुई, यजुर्वेद न हुई। यजुर्वेद तो यह सब मिलकर हुआ।

'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' सामवेदके १००० प्रकार हैं—यहां यह तो लिखा है, पर यह कहीं नहीं लिखा कि—सामवेद एक है, और उसके प्रकार ९९९ है। क्या 'सहस्रवर्त्मा' का अर्थ ९९९ हैं। यदि १००० अर्थ है; तो वादीकी इष्ट संहिता भी सामवेदका प्रकार हुई, सामवेद न हुई। सामवेद तो १००० प्रकार मिलकर हुआ।

'एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधा आथर्वणो वेदः। यहां फिर 'धा' प्रत्यय है कि-ऋग्वेदके २१ प्रकार हैं, और अथर्ववेदके ९ प्रकार अर्थात् भेद। यह नहीं लिखा कि-ऋग्वेद एक है और उसकी शाखा २०। यह नहीं लिखा कि-अथर्ववेद एक है; और शाखा ८, किन्तु यह कहा कि-अथर्ववेदके ९ भेद हैं। अर्थात् ९ संख्या मिलकर अथर्ववेद होता है।

इससे वादीका अभिप्राय कि-शाखा वेदोंसे पृथक् हैं; और वेदोंके व्याख्यान हैं—खण्डित होगया। तभी तो वायुपुराणमें कहा है—'सर्वा[illegible] हि चतुष्पादाः सर्वा एकार्थवाचकाः। पाठान्तरे पृथग्भूता वेदशाखा[illegible] तथा' (६१।५९) इससे वेदशाखाओंका पाठभेद माना गया है, अर्थभेद नहीं। यही महाभाष्यका अभिप्राय है। देखिये—'यद्यपि [छन्दसाम्] अर्थो नित्यः [एकः], या तु (छन्दसाम्) असौ वर्णानुपूर्वी, सा अनित्या (भिन्न-भिन्ना), (छन्दसां) तद्-(आनुपूर्वी-) भेदाच्च एतद् भवति-काठकम्, कालापकम्, मौदकम्, पैप्पलादकम् (एवं माध्यन्दिनकम्, शौनककम्, शाकलकम्, इत्यादि)' (४।३।१०१) और उन शाखाओंके परस्पर-पाठभेदको भी मनुष्यकृत न कहकर 'परमात्मकृत' कहा गया है। जैसाकि महाभारतमें कहा है—'शाखाभेदाश्च ये केचिद् याश्च शाखासु गीतयः। स्वरवर्ण-समुच्चाराः सर्वान् तान् विद्धि मत्-[भगवत्-] कृतान्' (शान्तिपर्व. ३४२।१००) इससे सिद्ध हुआ कि-ऋषियोंको समाधि-द्वारा यह पाठभेदरूपमें वेद मिले; सो उन भेदोंकी चरितार्थता कुल-भेदोंमें हो जाती है। वेद सभी शाखाएं हैं।

"इससे "भिन्नाः' पदसे शाखाओंको वेदसे भिन्न वेदका व्याख्यान [illegible] मानकर केवल वेदका ही पाठान्तर मानना और वेद मानना [illegible] प्रकार बन सकता है" यह द. सि. प्र. के प्रणेताकी बात कट गई। 'शब्दभेदमात्रसे भिन्नता है, अर्थभेद नहीं' ऐसा महाभाष्यके कहनेपर [illegible] उन शाखाओंको उनका व्याख्यान कहना वादी तथा उसके आचार्य[illegible] कथन कट गया; और वादीका यह कथन भी कट गया कि—'यदि ऐसा मन्तव्य होता कि-शाखाएं भी वेद हैं; तो फिर 'चत्वारो वेदाः' [illegible] [illegible] भाष्यकार न करते'। वादी यहां भी प्रत्यक्षका अपलाप कर [illegible] है। यहां तो यह भाव है कि-११३१ संहिता ही चार वेद हैं, [illegible] [illegible] वेदा बहुधा भिन्नाः' यह भाष्यकारके शब्दोंसे ही प्रकट है।

'बहुधा भिन्नाः' की ही व्याख्या अग्रिम वाक्य है—'एकशतमध्वर्यु[illegible]

शाखा:'-इत्यादि। क्योंकि-यह भाष्यका तरीका होता है कि—अपने पदोंकी भी व्याख्या करना 'स्वदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदु:'। इसमें वादीकी संहिताएं भी शाखा-भेदोंमें प्रत्यक्ष हैं, नहीं तो ११२७ संहिता कही जातीं; और चार वेद पृथक् कहे जाते, पर इसमें यजुर्वेदादिको शाखाओंसे भिन्न स्वतन्त्र पुस्तक नहीं कहा जा रहा। अब वादी बतावे कि—उसका निर्मूल अभिप्राय कहां चला गया? 'वेद पृथक् हैं, और शाखाएं पृथक्' यह यहां न तो किसी पदका अर्थ है, और न किसीका तात्पर्य। न ही भाष्यकारका आगेका व्यवहार वादीका तात्पर्य कहीं सिद्ध कर रहा है, भाष्यकारने वेदके नामसे जो मन्त्र उदाहृत किये हैं; वे वादीके अनुसार तथाकथित शाखाओं वा ब्राह्मणोंके हैं—यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

(३६) यह वादीके मुखसे भी सत्य निकल पड़ा कि-'फिर तो ११३१ शाखाएं बन जाती हैं, यह ठीक ही तो है, ११२७ शाखाएं कहाँ लिखी हैं, भाष्यका कोई वचन तो बताओ?' वादी जिन्हें मूल-वेद कहता है—वे भी तो शाकल्य आदि शाखाएं ही हैं। दिल्लीकी ३२ शाखाएं होनेपर कोई कहे कि—यह तो सारी दिल्ली की सारी शाखाएं होगईं, दिल्ली कहाँ चली गई?' जैसे उस वक्ता पुरुषकी बुद्धि है, वैसी ही वादीकी भी। महाशय, अपना ज्ञान बढ़ाइये। क्या फिर वादी दिल्ली के विभागोंसे 'दिल्ली' को अलग निकालकर उसके विभाग ३१ मानलेगा? वाह पाण्डित्य! वाह ज्ञान!!!

इस उदाहरणसे वादीका यह—"चार वेद जिनकी शाखाएं बनाई गई--को इनसे पृथक् करनेपर ११२७ शाखाएं ही रह जाती हैं' यह कथन कट गया। यह कथन जहाँ भाष्यकारसे विरुद्ध है, वहांपर प्रत्यक्षपर भी धूल झोंकना है। यहां ४ वेद पूर्व कहकर उन्हींके 'बहुधा भिन्ना:' से ११३१ भेद कहे गये। इससे ११३१ भेद ही चार वेद हैं। यह स्पष्ट होरहा है। कहां लिखा है कि—११३१ से चार अलग कर दो? चार

वेदोंके ११३१ भेद कहे गये हैं, तो चार अलग कैसे करने पड़ेंगे? वादीकी यहां स्पष्ट बनावट सिद्ध होगई। पहले हम ध्वनि तथा लक्षणाके भेदोंसे यह स्पष्ट कर चुके हैं। स्वा. द. जीने देवता तेतीस माने हैं; तब वादी 'देवता' को एक मानकर शेष उनके ३२ भेद मानेगा? वेद चार हैं, तब वादीके अनुसार इसमें १ भेद तो हुआ वेदका; शेष उसके तीन भेद रहे। यास्कने देवताओंके तीन भेद माने हैं; तब वादी उसमें एक भेद 'देवता' का मानकर शेष देवताओंके दो भेद मान लेगा? इसपर तो वादी को राष्ट्रपतिसे सुवर्णपदक मिलना चाहिये। वादीका हम इस ओर भी ध्यान दिलाते हैं—भाष्यकारने लिखा है—'नवधा आथर्वणो वेद:, इसका वादी अर्थ करे। इसमें 'वेद:' शब्द साथ है। इसका यही तो अर्थ होगा कि—अथर्ववेद ९ प्रकार का है; तब ९ प्रकार मिलकर ही तो अथर्ववेद हुआ—वह इन ९ शाखाओंसे अलग कहां हुआ?।

आगे वादीने चार वेदोंके आदिम—अन्तिम मन्त्र लिख दिये और लिख दिया कि—'यह चारों वेदोंका आदि-अन्त है', वे भाष्यकारने कहाँ लिखे हैं? बात तो भाष्यकारकी चल रही थी; और भी किसने आदि-अन्तके ये मन्त्र लिये हैं? भाष्यकारने जब अथर्ववेदका आदिम मन्त्र 'शं नो देवी' कहा है; स्वा. द. भी इसी मन्त्रको अथर्ववेदका प्रथम-मन्त्र-प्रतीक कहते हैं; इस विषयमें हम उनके दो-तीन उद्धरण दे चुके हैं, गोपथब्राह्मणने भी वही लिखा है—, तब वादीने भाष्यकारसे विरुद्ध, तथा अपने मतप्रवर्तकसे विरुद्ध, अथर्वकी आदिका मन्त्र 'ये त्रिषप्ता:' कैसे लिख डाला? यह तो भाष्यकारके अनुसार अथर्व. १।६ में है १।१ में नहीं।

'इषे त्वा ऊर्जे त्वा' यह मन्त्र तो यजुर्वेद तै. सं. (१।१।१।१) में भी आता है, सो अब वादी कृष्ण—यजुर्वेदको भी वेद माने। 'अग्न आ याहि' मन्त्र सामवेद जै. सं. का आदि भी है, वह भी अब सामवेद बन गया।

इस प्रकार 'अग्निमीले' ऋ. आश्वलायन सं. आदिके आदिमें भी आता है, वादीके अनुसार वे भी वेद होगये । जब तक इन आदिम-अन्तिम मन्त्रोंको किसी प्राचीन ग्रन्थसे वादी प्रमाणित करके न लिखे, तब तक केवल वैदिक-यन्त्रालय के छपे वेदोंसे जो मैक्समूलरसे लिये गये-खोलकर उनके आदि-अन्तके मन्त्रोंके प्रतीकमात्र लिख देनेसे वादीका पक्ष सिद्ध नहीं हो सकता । फलतः ११३१ संहिता ही चार वेद हैं । शब्द अर्थके सम्बन्धके नित्य होनेसे ब्राह्मण स्वयं गृहीत हो ही जाते हैं । 'वेदसंज्ञाविमर्श'के सम्पादक आर्यसमाजके संयुक्तमन्त्री श्रीविद्याधरजी 'ये त्रिषप्ताः' आदि मन्त्र वाली अथर्वसंहिताको खण्डित प्रतिलिपियोंके आधारपर संकलित एवं हेर-फेर वाली मानते हैं, 'और 'शंनोदेवी' आदिममन्त्र वाली अथर्ववेद संहिताको वेद मानते हैं । स्वा. द. जी भी अथर्ववेदका प्रथम-मन्त्र 'शंनो देवी' ही मानते हैं । अब यह महाशय भ्रान्त हैं, या वादी भ्रान्त है ? यह वह बतावे । यदि स्वा. द. जीने कहीं 'ये त्रिषप्ताः' को अथर्वका प्रथममन्त्र लिखा है; तो या तो वादी स्वा. द. को दो मान ले; या फिर स्वा. द. जी को परस्पर--विरुद्धवक्ता होनेसे अपने शब्दोंमें 'अद्वितीय वेदद्रष्टा' न मानकर उन्हें 'भ्रान्त एवं भूला-भटका स्वामी' मान ले । या फिर स. प्र. वा सं. वि. में उनके शिष्योंका प्रक्षेप मान ले । या यह मान ले कि--स्वामी की अपनी कोई भी पुस्तक बनी हुई नहीं है । इन सबको श्रीभीमसेनजीने लिख डाला है । तब जान छूट जावेगी ।

(४०) पृ. ६० यदि भाष्यकारने ऋग्वेदकी २१ संहिता मानी हैं; तो वादीकी ऋग्वेद-संहिता भी तो शाकलशाखा है—यह वादि-प्रमाणित काशीकरके वादीसे उद्धृत लेखसे ही स्पष्ट है । वैदिकप्रेसके निरुक्तकी टिप्पणीसे भी हम पहले बता आये हैं । जब सभीमें कोई विशेष भेद भी नहीं है—यह उस कथनमें स्पष्ट है; तब सभी शाखाएं वेद सिद्ध हो ही गई । यदि ऋग्वेदकी अन्य साङ्ख्यायन (शाङ्खायन) आदि शाखाएं मिल भी रही हैं; तब इससे यह थोड़े ही सिद्ध हुआ कि—शाखाएं वेद

नहीं हैं । इस वादीसे प्रमाणित वचनसे ही सभी शाखाएं वेद सिद्ध हो रही हैं । शब्द-अर्थके सम्बन्धके नित्य होनेसे ब्राह्मण इससे स्वतः गृहीत होजाते हैं ।

कृष्णयजुर्वेदकी संहिताओंमें मन्त्र—ब्राह्मण दोनों मिश्रित हैं, जो उन्हीं संहिताओंके ब्राह्मणभागमें अपनी संहिताके मन्त्रोंका दर्शन यदि लिखा गया है; तो विनियोग भी उसका विषय होनेसे इससे उस संहिता के वेदत्वमें हानि नहीं; उसे भी 'तन्मध्यपतितः तद्ग्रहणेन गृह्यते' इस न्यायसे 'मन्त्र' ही कहा जाता है । तभी तो निरुक्तकारने 'मन्त्रके सार्थक्य-प्रकरणमें 'अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि' (शत. १।३।२।३) इस ब्राह्मणको भी (देखो इसपर वैदिक यन्त्रालय अजमेरका निरुक्त) संहितान्तर्गत होनेसे (देखो मैत्रायणी सं. १।४।११ में) 'मन्त्रसार्थक्य प्रकरणमें ही उद्धृत किया है । चूंकि-निरुक्तकार भी कृष्णयजुर्वेदको यजुर्वेद ही मानते थे; जैसे कि—उनके 'ओषधे ! त्रायस्वैनम्' आदि स्थित 'त्रायस्व' के साथ ठहरे 'एनं' से स्पष्ट हो रहा है, जोकि वादीकी इष्ट संहितामें 'त्रायस्व' के साथ नहीं है; इसीलिए निरुक्तने 'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' आदि ब्राह्मणको भी कृष्णसंहिता (मैत्रा. १।४।११) के अन्तर्गत होनेसे उसे 'मन्त्र' माना है । तभी तो संहितासे भिन्न 'तैत्तिरीय ब्राह्मण तै. सं. से पृथक् मिलता है, और कृष्ण--संहितामें ब्राह्मण, संहितान्तर्गत होनेसे 'मन्त्र' ही माना जाता है । इसी प्रकार वादीकी संहितामें भी थोड़ा ब्राह्मण है, पर है तो सही ।—

जैसे—'आग्नेयः कृष्णग्रीवः सारस्वती मेषी, (माध्यं. २९।५८) 'अग्नयेऽनीकवते' (५९) 'अग्नये गायत्राय त्रिवृते (६०) इन कण्डिकाओंके लिए श्रीमहीधराचार्यने लिखा है—'अश्वमेधे श्रुतिरस्ति-'द्वे त्वेव एते एकादशिन्यौ आलभते' (१३।५। १।३) इसी तयोरेकादशिन्योः पशवस्तद्देवताश्च कण्डिकाद्वयेन उच्यन्ते, तेन इमानि ब्राह्मणवाक्यानि द्रव्यदेवता-प्रतिपादकानि, न तु मन्त्राः।

'अथ अग्निषोमीयस्य पशु पुरोडाशमनुदिशाम् आवेष्टीर्निर्वपति-इत्युपक्रम्य-दशहविष्कामेष्टिसंज्ञा इष्टिः कथिता तस्या देवता हवींषि चाह। इमान्यपि ब्राह्मणवाक्यानि, न तु मन्त्राः'। इस प्रकार अथर्व. के १५ वें काण्डमें भी 'इतिहासस्य च वै सपुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति, य एवं वेद' (अ. १५।६।१२) इत्यादि प्रायः सभी सूक्तोंमें 'य एवं वेद' इस प्रकार ब्राह्मणभाग स्पष्ट है। उसे भी संहितान्तर्गत होनेसे 'मन्त्र' ही माना जाता है। अस्तु—इस प्रकारके यास्क तथा पतञ्जलि आदिके बहुतसे उदाहरण हैं; जिन्हें हम 'आलोक' के गत पुष्पों में निर्दशित कर चुके हैं। तभी 'ऋचा' शब्द कह कर श्रीयास्क तैत्ति. मैत्रा. आदि संहिताओंके मन्त्र उद्धृत करते रहते हैं। देखिये—त्रिविध ऋचाओंके उदाहरणमें श्रीयास्कने परोक्षकृत् ऋचाओंका वेद-वचन देते हुए 'इन्द्रे कामा अयंसत' यह उद्धरण दिया है। अब वादी इस ऋचाको अपनी मूल-वेदसंहितासे दिखलावे। यदि वह कहे कि—किसी लुप्त संहिता में होगी; तब सभी लुप्त-अलुप्त शाखाओंको वेद माननेका शङ्खनाद करं दे।

तैत्तिरीय, काठक, मैत्रायणी आदि कृष्णयजुर्वेदकी ८६ संहिताएं हैं, उनमें चार मिली हैं, शेष ८२ अभी तक नहीं मिलीं। सो मन्त्र-सार्थक्य प्रकरणके 'एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः' तथा 'प्रोहाणि' आदि मन्त्र भी उन्हीं अनुपलब्ध संहिताओंमें समझ लेने चाहियें।

यदि एक संहिताके मन्त्रके किसी पदका अन्य संहिताके मन्त्रमें 'अनमीवस्य—अयक्ष्मस्य' आदि रूपमें दूसरा रूप आजाता है; तो उससे व्याख्या नहीं हो जाती; वह पद भी समाधिदृष्ट ही होता है; किसी ऋषि द्वारा परिवर्तन नहीं किया जाता। वादीकी मूलसंहिता (१६।४,११, ११।३८,) में भी 'अयक्ष्म' शब्द आता है; तो उसे भी वादी व्याख्या-संहिता मान ले; मूलवेद मत माने। यदि वादी हमारी यह बात न माने तो अपनी तथाकथित मूलसंहिताओंमें भी फिर इस शैलीसे वेदत्व मानना

बन्द करदे। इसका हम दिग्दर्शन कराते हैं।—

(क) 'स भूमि विश्वतो वृत्वा' यह ऋशा सं. (१०।९०।१) में पाठ है, 'स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा' यह यजुः माध्यं. (३१।१) में है। एक में 'विश्वतः' है, दूसरीमें उसका पर्यायवाचक 'सर्वतः' है। (ख) 'उतामृतत्वस्येशानः' (ऋ. ३) इसके 'ईशानः' का पर्यायवाचक 'उतामृतत्वस्येश्वरः' (अथ. १९।६।४) में 'ईश्वरः' व्याख्या है। (ग) 'यमं राजानं हविषा दुवस्य' (ऋ. १०।१४।१) में 'दुवस्य' है, और अथर्व सं. में 'हविषा सपर्यत' (१८।१।४६) है। 'निघण्टुके अनुसार 'सपर्यति' और 'दुवस्यति' यह धातुएं 'परिचरण' अर्थके पर्यायवाचक हैं। इस प्रकार कृष्णयजुर्वेदके ही मन्त्रपदोंके शुक्लमें दूसरे पर्यायवाचक भी हम पीछे दिखला चुके हैं। इस प्रकारके कई सहस्रों पदोंके उदाहरण हम वादीकी मान्य संहिताओंसे दिखला सकते हैं। तब वादी अपनी संहिताओंको भी शाखा एवं अवेद माननेको तैयार होजावे। 'अनमीव' और 'अयक्ष्म' को वादी पर्यायवाचक मानता है; तो उसकी यजुःसंहिताके प्रथममन्त्रमें 'अनमीवा अयक्ष्मा' (१।१) यह दो पद—इकट्ठे कैसे आये हैं, क्या यह पुनरुक्ति है?

कृ. य. तैसं. में 'व्यख्यन् महिषः सुवः' (१।५।३।४) पाठ है; पर वादीकी माध्यन्दिन सं. में उसकी 'सुवः' की कठिनताको दूर करके वहाँ 'दिवम्' (३।७) रख डाला है। वस्तुतः कृ. य. तैसं. में मन्त्रोंका क्रम अपना है। यहींके मन्त्रोंका वादी मिलान कर देखे। वह माध्यन्दिनसं. को उपजीवित करके नहीं बनी। उससे पहले ही थी। शेष रहा तै.सं.के अपने मन्त्रोंका व्याख्यान, सो वह 'ब्राह्मण' है। यह भी वेद है। क्या स्वा. द. की ऋभाभू. (संस्कृत)का स्वा. द. से बनाया हिन्दी अनुवाद ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका न मानकर 'कुरान' मान लिया जावेगा? स्वा. द. का मूल 'सत्यार्थप्रकाश' जो उन्होंने संस्कृत बोलकर लिखाया था; ऐसा आर्यसमाजी कहते हैं, और अब उसका हिन्दी रूपान्तर 'सत्यार्थप्रकाश'

न होकर 'इञ्जीन' हो जायगा ? ऐसा है; तो आर्यसमाजी उस हिन्दी रूपान्तर स. प्र. को स्वा. द. का मूल स. प्र. मानकर हृदयसे क्यों चिपटाये हुए हैं ?

वादी व्याख्यान मानकर शाखाओंको अवेद कहनेमें सदा उत्कण्ठित रहता है। उसमें निस्सार और स्वपक्षविघातक युक्तियाँ दिया करता है। वेदविषयको अपने पक्षसे कलुषित दृष्टि होनेके कारण वह पूरा देख वा जान नहीं पाया है। अतः उसका पक्ष सर्वथा निर्बल है। अपनी संहिताओंमें वह अपने मन्त्रोंका स्वयं व्याख्यान देखे—

'परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्य रायः पतयः स्याम। न शेषोऽग्ने ! अन्यजातमस्ति अचेतानस्य मा पथो विदुक्षः' (ऋ. ७।४।७) इसीकी व्याख्या 'नहि ग्रभाय अरणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ।' (८) इस दूसरे मन्त्रमें है, जिसके विषयमें श्रीयास्क प्रायः लिखा करते हैं— 'तस्य उत्तरा भूयसे निर्वचनाय (विशिष्ट-व्याख्यायै, पूर्वस्पष्टतायै); तब क्या वादीके मतमें यह मन्त्र 'अवेद' हो जायगा ?। इसी प्रकार 'आर्ष्टि-षेणो होत्रमृषिर्निषीदन्' (ऋ. १०।९८।५) तथा 'यद् देवापिः शन्तनवे पुरोहितः' (१०।९८।७) इत्यादि बहुतसे मन्त्र उद्धृत किये जा सकते हैं।

वादी कहता है—'सूर्यस्य त्वा चक्षुषा प्रतीक्षे' वह मूलमन्त्र है, 'तै. सं.' में 'सूर्यस्य त्वा चक्षुषा प्रतिपश्यामि' यह पूर्वका अनुवाद है। यदि ऐसा है; तो वादी वह 'चक्षुषा प्रतीक्षे' वाला मूलमन्त्र दिखावे। यदि न दिखला सका; तो मानना पड़ेगा कि—यह मन्त्र तै. सं. का अपना है। तभी तो वहां लिखा है—'स एतं मन्त्रमपश्यत्' (२।६।८।१२) इस 'अपश्यत्' क्रियाने बताया। वादीकी संहितामें भी 'चक्षुषाऽवपश्यामि'—(१।३०) है; तब वह भी क्या मूलसंहिता नहीं रही। यह जितने संहिताओं के पाठभेद दीखते हैं, यह सब ऋषियोंसे परिवर्तित नहीं हैं; किन्तु ऋषियोंसे समाधिमें दृष्ट किये गये हैं। तब वादीका पक्ष कट गया।

पृ. ६७ श्रीसामश्रमीको आर्यसमाजी वेदका बड़ा विद्वान् मानते हैं;

तब उन्होंने स्वा. द. जी का यदि वेद—विषयक अज्ञान दिखलाया है; आर्यसमाजियोंको अपने नियमानुसार 'सत्यका ग्रहण' कर लेना चाहिये पर ऐसा कहते हुए श्रीसामश्रमी अब 'वेदानभिज्ञ' कह दिये जाते वादियोंके 'भगवान्' भला भूल कैसे करें ? यही तो आर्यसमाजी है। इसी प्रकार 'श्रीहरिप्रसाद वैदिकमुनि' भी आर्यसमाजी विद्वान् हैं; उन्होंने आर्यसमाजानुसार दर्शनों पर भाष्य किये हैं; वेद पर पु लिखीं, 'पर जो अन्वेषक सच्ची गवेषणा करके स्वतन्त्र सम्मति दे जावे, वह आर्यसमाजसे निकाल दिया जाता है। वादीका भी यही हो सकता है। स्वा. द. जी ने 'छन्द' का अर्थ 'वेद' किया है; वादीने उसका 'शाखा' अर्थ किया है। अभी आर्यसमाजियोंने इधर नहीं दिया। जब उनको पता लगेगा कि—वादीकी पुस्तक 'दयानन्द सिद्धान्तप्रकाश' नहीं है, यह तो 'दयानन्दमत-संहार है; तब वादीको आर्यसमाजसे निकाल दिया जावेगा।

(४१) पृ. ७१ वादी कहता है—'जो लोग ऋग्वेदादिको शा आदि नामोंसे लिखते हैं, वे गलत लिखते हैं'। यह वादीकी बात गलत है। जब वे हैं ही शाकल आदि संहिता—तब यह गलत कैसे हम इसके प्रमाण पूर्व दे ही चुके हैं। मीमांसादर्शनमें यह सूत्र 'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या' (१।१।२७) यह पूर्वपक्षका सूत्र 'वेदोंको पुरुषोंसे बना हुआ मानते हैं'। अब वादी बतावे कि— प्रतिवादिमान्य जैमिनिके इस सूत्रोंमें साक्षात् 'वेद' शब्द है। सूत्रमें 'वेद' शब्दका अर्थ वादीकी इष्टसंहिता है; अथवा सभी शाखा यदि पैप्पलादादि, काठकादि शाखाएं 'वेद शब्दसे इष्ट हैं; तो वे सिद्ध हुईं। वादीका पक्ष कट गया। यदि वादीकी तथाकथित सं यहां 'वेद' शब्दसे इष्ट हैं, तब इनमें भी पुरुषसम्बन्ध कहे होनेसे शाकल आदि संहिताएं हुईं। अनुसन्धानविशारद आर्यसमाजी भी शाकलसंहिता आदि कहते-मानते हैं। पुराने षड्गुरुशिष्य इसे

आम्नाये' कहकर लिखते हैं। आर्यसमाजी श्रीयुधिष्ठिर-मीमांसक आदिने 'लौहिरभाष्य' का उद्धरण दिया है—'अथ पञ्चदशशाखासु माध्यन्दिनी मुख्या वेदितव्या' आदि। माध्यन्दिनी संहिता यही तो है, जिसे वादी यजुर्वेद कहता है। मुख्य भले ही हो; पर यह भी शाखा हुई; और अन्य १४ संहिताएं भी यजुर्वेद हुईं। यदि वह 'माध्यन्दिनी संहिता' कहना गलत मानता है, तो काठक-संहिता आदि भी वह गलत लिखता है। उसका नाम भी यजुर्वेद—संहिता है। जैमिनि-संहिता भी 'सामवेद संहिता' है। पैप्पलाद-संहिता भी 'अथर्ववेद--संहिता' है। ऋषि-नाम समाधि-दर्शनके कारण है, निर्माणके कारण नहीं है। यही वादीकी संहिताओंमें भी ऋषिदर्शनके कारण है।

यदि वेदमें वादीके अनुसार 'गृभ्णातु' पाठ है, और 'हृग्रहोर्भ-श्छन्दसि' से 'भ' वेदमें होता है; और किसी शाखामें 'गृह्णातु' पाठ है; तब क्या वादीके कथनसे वह वेद न रहेगी, यदि ऐसा है तो 'गृह्णातु' (अथर्व. ३।१७।४,२६।८), 'गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं' (अथर्व. १४।१। ५०) प्रतिगृह्णाति' (अ. ६।३।६) 'गृह्णातु' (ऋ. ४।५७।७) 'गृह्णामि' (यजु. १।१०,२।११) आदि वादिमान्य संहिताओंमें 'ह' को 'भ' नहीं किया गया है; तब क्या वादी अपनी संहिताओंको भी 'अवेद' कह देगा ?, इसी प्रकारकी उपपत्तियोंसे तो पाश्चात्य लोग ऋ. सं. के १म, और १० वें मण्डलको अर्वाचीन कहते हैं, खेद ! वादीने भी वही शैली पकड़ी है !!! तब यह युक्ति लचर सिद्ध हुई। जैसे आप लोग उनकी यह युक्तियां नहीं मानते; तब उसी तरह की आप लोगोंकी उपपत्तियां हम भी नहीं मान सकते। 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य' (५।१।२।१) यहां यजुः तै. सं. में भी ग्रहधातुके 'ह' को 'भ' किया गया है। इस प्रकार 'हिरण्यं हस्ते भवति अथ गृभ्णाति' यहां ब्राह्मणमें भी 'ह' को 'भ' हुआ है; 'हृग्रहोर्भः छन्दसि' इस वार्तिकका उदाहरण अपने अष्टाध्यायीभाष्यमें स्वा. द. ने 'उदगृभायत' दिया है, वादी इसे अपने वेदोंसे दिखलावे।

यदि न दिखला सका; तब यह किसी शाखा वा ब्राह्मणमें होनेसे उन्हें वेद सिद्ध करनेवाला हुआ। 'भरताः' से यदि तै. सं. शाखाकी अवेदता हो; तो 'भरतेभ्यः' (यजुः माध्यं. १५।२७) इस अपने मन्त्रको अवेद मान लोगे ?

पृ. ७३ 'अग्निष्वात्ताः' का अर्थ यजुर्वेद-शतपथने लिखा है—'यानग्निरेव दहन् स्वदयति, ते पितरोऽग्निष्वात्ताः' (२।६।१।७) सो 'अग्निदग्धाः' इसीकी व्याख्या है। 'अग्निना स्वादिताः' यह श्रीसायणने अर्थ किया है। सो 'ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते' (यजुः माध्यं. १६।६०) 'ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते' (अथर्व शौ. १८।२।३५) में परस्पर--पर्यायवाचकता स्पष्ट है, क्योंकि—शेष पाठ समान है। 'अग्निदग्धाः' का भी आर्यसमाजी 'अग्नि-विद्यामें विदग्ध' (चतुर) यह अर्थ करते हैं; तब भी पर्यायवाचकता हुई। 'अग्निर्दग्धो यैः' ऐसा ऐहलौकिक अर्थ करनेपर 'निष्ठा' (पा. २। २।३६) इस वेदाङ्गसूत्रसे 'दग्धाग्नयः' और 'स्वात्ताग्नयः' होना; पर यहांपर तत्पुरुष समास है। 'अग्निसे जलाये गये हुए' यह अर्थ है, वादि-प्रोक्त बनावटी अर्थ नहीं। यहां पर मृतकश्राद्धकी सिद्धि है। अतः वादी का कल्पना-प्रासाद निरी वालू है। यह कल्पना मृतकश्राद्धसे अपना बचाव करनेके लिए दयानन्दियों द्वारा गढ़ी गई है। शेष पर लिखा जा चुका है।

(४२) पृ. १११ वादी मीमांसादर्शन (१।१।५) के सूत्रसे वेद (शब्द) को स्वतः-प्रमाण मानता है; सो वेदमें मन्त्र-ब्राह्मण दोनों गृहीत होजाते हैं—यह मीमांसादर्शनादि सभी शास्त्र मानते हैं; उनमें मन्त्रमें सभी ११३१ संहिता, ब्राह्मणमें सभी ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदादि गृहीत होजाते हैं। सो वे स्वतः-प्रमाण होनेसे ब्राह्मणभाग वा शाखाओं को परतःप्रमाण मानना नहीं बन सकता है। नहीं तो फिर—मन्त्रभाग भी परतःप्रमाण बन जावेगा। 'शब्दोंसे दोनों--मन्त्र-ब्राह्मणोंका ग्रहण बराबर है--यह वादी भी मानते हैं। 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या, शेषे ब्राह्मण-शब्दः' (२।१।३२-३३) में मन्त्र एवं ब्राह्मण दो भाग हैं, वेद दोनों ही

होंगे। स्वा. द. भी मन्त्रभाग एवं ब्राह्मणभाग दोनोंको भाग ही मानते हैं। 'भागी' नहीं। सो भागी होता है वेद। वेदका स्वतःप्रामाण्य वादीको स्वीकृत है ही। तब ब्राह्मणभाग भी वेद होनेसे उसकी परतःप्रमाणता कहां रही? मीमांसादर्शनने 'तच्चोदकेषु वेदाख्या' नहीं लिखा, 'मन्त्राख्या' लिखा है। सो 'मन्त्र' भी भाग है, भागी नहीं। अङ्ग है अङ्गी नहीं। अङ्गी है वेद। सो दोनों मन्त्र-ब्राह्मण अङ्ग मिलकर, अङ्गी वेद सिद्ध हुए, दोनोंकी प्रमाणता भी बराबर रही। ब्राह्मणभागको वा शाखाको कहीं स्मृति वा लौकिक नहीं माना गया। ब्राह्मणभागसे आरण्यक, उपनिषद् भी गृहीत होजाते हैं। ब्राह्मणभागके ८ भेदोंमें 'इतिहास' गृहीत होजाता है, तभी तो मन्त्रभागमें भी इतिहास-पुराण आदि का नाम आता है।

(ख) यदि मन्त्रभाग ईश्वर-प्रणीत है; तो ब्राह्मणभाग भी ईश्वर-प्रणीत है। परमात्माके शब्दका अर्थ भी परमात्मा ही बता सकता था, मनुष्य कैसे बता सके? यदि वेद को ईश्वरप्रणीत माना जाता है; तो वेद मन्त्र-ब्राह्मण उभयात्मक ही तो होता है; यह सभी-शास्त्रकार मानते हैं। पहलेके उद्धरणोंसे हम यह प्रत्यक्ष सिद्ध कर भी चुके हैं। जैसे समाधिद्वारा ऋषियोंने माध्यन्दिनी संहिता आदि उपलब्ध की, इस प्रकार तैत्तिरीयसं. आदि भी समाधिद्वारा उपलब्ध कीं। जिस-जिसने जो संहिता जिन-जिन पदों रूपमें प्राप्त कीं; वे उन्हीं-उन्हीं ऋषियोंके नामसे हैं। तब इसपर उपहास उड़ाना अनभिज्ञता है। यह समुद्रके एक भागके जलको समुद्र मानना और दूसरेको समुद्र न मानना-के समान है। शतपथके वचनको स्वा. द. जी ने काट-छाँटकर ही तो लिखा है—यह प्रत्यक्ष है। 'एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्, यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः—से लेकर 'अस्यैव एतानि सर्वाणि निःश्वसितानि' यहां तक यह वाक्य पूर्ण होता है। इसमें ऋग्वेद आदि तो लिखा है, 'ऋग्वेद संहिता—अथर्ववेद संहिता' आदि नहीं लिखा। सो ऋग्वेदकी

शाकल आदि सभी २१ संहिता 'ऋग्वेद' शब्दसे गृहीत हो जाती हैं।

आगे—'इतिहासः पुराणं' आदि पाठ है। उससे आठ-प्रका... 'ब्राह्मण' गृहीत होता है, जैसेकि-स्वा. श्रीशङ्कराचार्यने बृहदारण्य... तथा श्रीसायणाचार्यने अपनी वेदभाष्यभूमिकामें स्पष्ट किया है। यहां मन्त्र-ब्राह्मण दोनोंको ईश्वरका निश्वास कहा गया है। तब... अंशको छिपा देना यह स्वा. द. जी के पक्षको निर्मूल सिद्ध क... है। यह चोरी उनके पक्षको ले डूबी है। 'जितने भागकी आवश्य... समझी जाती है; उतना ही लिखा जाता है', यह जो वादीने स्वा... हिमायतमें लिखा है, इससे उसने स्वामीके पक्षको गलत सिद्ध कर... है, अर्थात्—अगले अंशको विना छिपाये स्वा. द. का पक्ष सिद्ध... हो सकता—यह सूचित किया है।

स्वा. द. जी ने लिखा है—'महत आकाशादपि महतः परमेश्व... सकाशाद् ऋग्वेदादिवेदचतुष्टयं निश्वासवत् सहजतया निःसृतमस्ति'... आकाशादिसे भी बड़ा सर्वव्यापक परमेश्वर है, उससे ही चारों... उत्पन्न हुए हैं' (ऋभाभू. पृ. ११-१२); तब उसका वादी द्वारा... से भी महान् व्यापक परमेश्वरके समीपसे भूतस्य-ज्ञानी प्राणीके लि... ये ऋग्वेदादि हैं, अर्थात् उसकी निमित्तता और समीपतासे ऋषि... श्वासकी भान्ति इसका विस्तार किया, यह स्वा. द. के विरुद्ध... अर्थ करना—जोकि किसी शब्दका नहीं—कितना निर्मूल है। ... भूतस्य' यह इकट्ठा है; इसका स्वा. द. जी ने 'महान् भूत आ... अर्थ करके उससे उपमित परमात्माका अर्थ किया है। फिर ... को पृथक् करके 'ज्ञानीकी वाणी' अर्थ करना—यह स्वा. द. के वि... अपने स्वामीके विरुद्ध अकाण्ड-ताण्डव है, और स्वा. द. जी ने जो... उत्तर अंश छिपाया है; उससे स्पष्ट ही उनके पक्षकी दुर्बलता प्र... क्योंकि—वे आठ प्रकारके ब्राह्मण भी उस महाभूत परमात्माके नि... सिद्ध होरहे हैं। तब वादीका उसे न मानना उसके पक्षकी दुर्ब...

परिचायक है। स्वा. द. जी का यह बहाना कि—अगला अंश वेदविरुद्ध है, यह भी ठीक नहीं। मन्त्रभाग भी इसी ब्राह्मणभागकी बातको समर्थित करता है।

देखिये—'ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे' (अथर्वशौ सं. ११।७।२४) यहांपर 'पुराण' से ब्राह्मण-भागका भी ग्रहण होता है, पुराणोंका भी। ऋभाभू. के ८२-८३ पृष्ठमें स्वा. द. ने 'पुराण-इतिहास' शब्दसे ब्राह्मणभागका ग्रहण किया है। जैसे कि–'तमितिहासश्च पुराणं च' (अथर्व. ११।३०।१) इति प्रमाणैर्ब्राह्मण-ग्रन्थानामेव ग्रहणं जायते, यह लिखकर स्वा. द. जी ने अथर्ववेदके 'पुराण' शब्दका अर्थ 'ब्राह्मणग्रन्थोंका' किया है। सो वे ब्राह्मणग्रन्थ भी अथर्ववेदके उक्त मन्त्रसे परमात्मासे उत्पन्न वेद सिद्ध होगये।

आर्यसमाजी चतुर्वेदभाष्यकार श्रीजयदेव-विद्यालङ्कार जी ने भी यही अर्थ किया है। देखिये—'पुराणं—सृष्टि, उत्पत्ति-प्रलय आदिके वर्णन करने हारे मन्त्र और ब्राह्मणभाग उस सर्वोत्कृष्ट परमेश्वरसे उत्पन्न होते हैं'। (अथर्व. तृतीय खण्ड पृ. २५५) अब इससे बढ़कर आर्यसमाजियोंके लिए क्या प्रमाण चाहिये ?

पर इसपर दयानन्दी कुशवाहाने 'वेदवाणी' के वेदाङ्क (६) में श्रीजयदेव जी को खूब डाँटा है कि–'आपने ब्राह्मणभागको भी परमेश्वरसे उत्पन्न लिख दिया, जबकि वैदिक-सिद्धान्त (?) है कि—ब्राह्मणभाग वेदोंके व्याख्याभाग ऋषियोंकी कृति है'। पाठकगण, आपने देख ली एक दयानन्दीकी करतूत। वे लोग जो वेद कहता है, उसे वैदिक नहीं कहते; किन्तु जिसको दयानन्द कहें; वह अवैदिक होते हुए भी वैदिक होजावे। यह जो अर्थ श्रीजयदेवने किया है—यह स्वा. द. के प्रतिकूल नहीं। यह डांट वह दयानन्दी, श्रीजयदेव जी को नहीं दे रहा, किन्तु दयानन्द जी को दे रहा है। स्वा. द. जी अथर्ववेदके 'पुराण' शब्दका अर्थ 'ब्राह्मणभाग' करते हैं। तो क्या स्वा. द. जी भी वैदिक-सिद्धान्तपर कुठाराघात कर

रहे हैं ? देखिये ऋभाभू. में–'ब्राह्मणग्रन्थानामेव पुराणादि-नाम अस्ति··· 'तमितिहसश्च पुराणं च'···'इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च···प्रियं धाम भवति' (अथर्व. १५।३०।१।४)···एतैः प्रमाणैर्ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं जायते···ब्राह्मणग्रन्थेषु इतिहासपुराणादीनामन्तर्भावात्' (पृ. ९४) 'अथर्ववेदमें भी इतिहास--पुराणादि-नामोंका लेख है···ब्राह्मणग्रन्थोंका ही इतिहासपुराणादि नाम जानना चाहिये' (पृ. ९५-९६)

स. प्र. में भी स्वामीने लिखा है–(प्रश्न) वेद संस्कृतभाषामें प्रकाशित हुए, और अग्नि आदि ऋषि लोग संस्कृतभाषा नहीं जानते थे; फिर वेदोंका अर्थ उन्होंने कैसे जाना ? (उ.) परमेश्वरने जनाया। धर्मात्मा योगी महर्षि लोग जब-जब जिस अर्थके जाननेकी इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वरके स्वरूपमें समाधि-स्थित हुए, तब-तब परमात्माने अभीष्ट मन्त्रोंके अर्थ जनाये। ···उनका नाम ब्राह्मण हुआ, अर्थात्—ब्रह्म जो वेद, उसका व्याख्यानग्रन्थ होनेसे 'ब्राह्मण' नाम हुआ।' (७ समु. पृ. १२६) इस प्रकार ब्राह्मणभाग परमेश्वरने ऋषियोंको समाधिमें दिया, उसी प्रकार जैसे परमेश्वरने ऋषियोंको समाधि-द्वारा मन्त्रभाग दिया, वैसे ब्राह्मणभाग भी। यदि कृतत्व ब्राह्मणभागमें हो; तो मन्त्रभागमें भी समानन्यायसे कृतत्व मानना पड़ेगा। यदि वह नहीं; तो यह भी नहीं।

यह वादीका कथन उपहास्य है कि–'उपनिषद् व्याख्यानादि शब्दोंसे इन विज्ञानोंका ग्रहण है, उपनिषद् और व्याख्याके ग्रन्थोंका नहीं'। फिर तो उक्त शतपथ वा बृहदारण्यकके वचनमें 'ऋग्वेदादिका नाम आनेसे और 'ऋग्वेद-संहिता' आदि नाम न आनेसे इन चार पोथियोंके अर्थ भी वादी निकाल नहीं सकेगा। बधाई हो। बनावटी अर्थ करके वादीने अपना वेद भी काट दिया। वादीकी इष्ट पोथियां ऋग्वेदसंहिता आदि हैं, ऋग्वेद आदि नहीं'। देख ले अपनी ४ संहिताओंको उठाकर। साहचर्य--नियम सदा रखना ही पड़ता है। यदि यह वेद यहाँपर ग्रन्थ हैं; तो

आगेके आठ प्रकारके ब्राह्मण भी ग्रन्थ हैं। यदि आगेके कई विज्ञान हैं, तो ऋग्वेदादि भी विज्ञान हैं, पुस्तक-विशेष नहीं हो सकते। 'एकयोग-निर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः, सह वा निवृत्तिः, यह एक न्याय होता है। पाठकोंने देख लिया कि—वादी स.ध. के पक्षको काटनेकेलिए कितनी कृत्रिमताएं, श्रुतिसे कितने बलात्कार करते हैं; साथ ही अज्ञानसे अपना पक्ष भी काट देते हैं।

(४३) पृ. ११४-११५ सभी संहिताओंके ब्राह्मण भी हुआ करते हैं, क्योंकि—'सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे' 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्य अर्थेन सम्बन्धः' 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' यह न्याय हुआ करते हैं। अर्थका भाव उनका भाष्य नहीं, किन्तु उनकी शेषपूर्ति है। सो उनका जिसमें जो विनियोग है, वही उन संहिता तथा ब्राह्मण वालोंको ग्राह्य है। इसमें विरोध वा परस्पर-भेद नहीं, । 'अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते' आदिका वादी द्वारा दिया हुआ उपहास व्यर्थ है। जिस शतपथको स्वा. द. ने अपनी 'ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका' में इन मन्त्रोंके सत्य अर्थमें प्रमाणित किया है, जब वादीके स्वामी उसे प्रमाणित करते हैं; तब स्वामीके शिष्यको भी उस शतपथको प्रमाणित करना पड़ेगा। उसी शतपथमें भी वही लिखा है, जो उसने महीधर और श्रौतसूत्रसे लिखा है। शेष है उसका समाधान, तो वादी 'आलोक' के पञ्चम पुष्पमें 'गणानां त्वा' मन्त्रका महीधरभाष्य' निबन्ध तथा उसीके छठे पुष्पमें 'गोमेध-अश्वमेधादियज्ञ' यह विषय देखे। तब उसमें अर्थकी दोषपूर्णता नहीं रहेगी। प्रक्षेप कह देनेसे काम नहीं चलेगा।

पृ. ११८। 'कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिः वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वात्' से स्पष्ट है कि—स्वामी जी कात्यायनको प्रमाण मानते हैं, और कात्यायनने स्वामीके अनुसार ही ब्राह्मणभागको वेद माना है, अन्य मुनियोंने नहीं माना। तभी तो वहीं स्वामीने लिखा है—'जो कात्यायन ऋषिने कहा है—'मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थोंका नाम वेद है' (पृ. ९२) 'एक कात्यायन-को छोड़के किसी अन्य ऋषिने उन [मन्त्र. ब्राह्मण दोनों] के वेद होनेमें

साक्षी नहीं दी' (पृ. ९२) 'कात्यायनेनापि ब्रह्मणा—वेदेन सहचरित... सहचरोपाधि मत्वा ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा संमता-इति विज्ञायते' (पृ. १०.. यह कहकर भी फिर स. प्र. में स्वा. द. का यह कहना कि—'यह कात्या... का वचन नहीं हो सकता' यह स्वा. द. का परस्पर-विरोध स्पष्ट ही... है। श्रीशिवप्रसाद सितारेहिन्दसे पत्रव्यवहार द्वारा हुए शास्त्रार्थमें ... द. जी के पराजित होनेपर फिर स. प्र. द्वितीयावृत्तिमें यह वचन ... किसी शिष्य-द्वारा प्रक्षिप्त किया गया है कि—'ऋभाभू. में यह कात्या... का वचन नहीं होसकता' ऐसा ही सिद्ध किया गया है'। (पृ. १२७) ... वाक्यमें तथा ऋभाभू. के स्वामीके वाक्यमें परस्परविरोध स्पष्ट है। ... उसमें जोकि-वादीने 'प्रमाण' शब्द प्रक्षिप्त किया है कि—'कात्या... वचन प्रमाण नहीं होसकता' इसमें वादीकी बड़ी दयनीय दशा होगई है।

पृ. ११९ में वादी कहता है—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (कात्या... यन प्रतिज्ञा. १।१, आपस्तम्बश्रौ. २४।१।३१, सत्याषाढश्रौत. ... में इसी रूपमें मिलता है, परन्तु बौधायनगृ. (२।६।३) में 'मन्त्रब्राह्म... योर्वेद इत्याचक्षते' तथा षड्गुरुशिष्य सर्वानुक्रमणीके भाष्यमें '... ब्राह्मणयोराहुर्वेदशब्दं महर्षयः' और कौशिकसूत्र (१।३) में 'आम्ना... पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च' पाठ मिलते हैं। इनमें 'नामधेयम्, ... और आचक्षते' शब्द प्रकट करते हैं कि—मन्त्र और ब्राह्मण वस्तुतः ... नहीं हैं, बल्कि इनका ऐसा नाम किया जाता है और ऐसा कहे ... यह वादीका कथन है।

यहांपर वादीकी बड़ी दुर्दशा हुई है। मीमांसादर्शनके २।१।... सूत्रमें भी 'मन्त्राख्या' यहां 'नाम' वाचक 'आख्या' शब्द लिखा है। ... मन्त्र भी वादीके अनुसार वेद न हुआ। कौशिकसूत्रमें तो न 'नामधे... है, और न 'आहुः' वा 'आचक्षते' है। फिर यहां वादी क्या ... बनावेगा। इन वचनोंमें वास्तविकता बताई गई है। वास्तविकता... यथा-तथा खण्डन करनेका सरतोड़ प्रयत्न करता हुआ वादी अपना...

भी खण्डित कर बैठा है। तव तो वादीके अनुसार वादीसे अभिमंत 'मन्त्र' भी 'वेद' न हुआ; क्योंकि—'एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः, सह वा निवृत्तिः' यह एक न्याय है। तब यदि ब्राह्मणकी 'वेद' संज्ञा 'यज्ञकी परिभाषा' मात्र है; अतः वह वेद नहीं है; तब उसी सूत्रमें स्थित उसी 'ब्राह्मण' के सहचारी 'मन्त्र' की 'वेद' संज्ञा भी वादीके अनुसार 'यज्ञकी परिभाषामात्र' सिद्ध हुई; 'मन्त्र' भी फिर 'वेद' नहीं रहा। यदि यह नहीं; तो वह भी नहीं। 'चौबे गये थे छब्बे बनने; दुबे बनकर आये'। महाशय, वेदका विषय ही 'यज्ञ' है; यह 'आलोक' (६) में देखो; तब मन्त्र-ब्राह्मणकी वेदता भी सदा ही रही।

(४४) पृ. १२०। मीमाँसादर्शनके २।१।३२-३३ सूत्रोंसे भी वादीके ही पक्षका खण्डन है। वादी लिखता है—"यहांपर ब्राह्मणका वेद होना पाया ही नहीं जाता" यह कोई युक्ति नहीं। वादीके अभिमत 'मन्त्र' का भी तो यहां 'वेद' होना नहीं बताया गया। वहांपर 'मन्त्रे वेदाख्या' नहीं लिखा गया, 'ब्राह्मणं न वेदः' भी नहीं लिखा गया है; तब वादीका पक्ष कैसे सिद्ध हुआ ?

महाशय ! मन्त्र एवं ब्राह्मण दोनों, भाग हैं। वेद वे दोनों मिलकर हैं। शबरस्वामीने मूलके विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा; 'मन्त्राख्या, ब्राह्मण-शब्दः' है, 'वेदाख्या, ब्राह्मणशब्दः' नहीं है। ब्रह्मपारायणयज्ञोंमें वादी भी ब्राह्मणभागको 'वेद' मानता होगा। वेदोंके-कर्मप्रधान कहनेसे, यज्ञके भी व्यापक अर्थ वाला होनेसे उसके साथ उपासना-काण्ड एवं ज्ञानकाण्डका साहचर्य होनेसे उपनिषदात्मक वेदमें ज्ञानकाण्ड सिद्ध हुआ। तब वादीका उपालम्भ व्यर्थ है। जहां मीमांसाने 'आम्नाय' आदि शब्दों द्वारा 'वेद' का नाम कहा है, सो 'आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च' 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद-नामधेयम्' आम्नायके मन्त्रब्राह्मणात्मक होनेसे यदि दर्शनोंके भाष्यकार वेदका प्रमाण देते हुए ब्राह्मणोंका प्रमाण देते हैं, जैसे कि—'वेदेपि' कहकर भाष्यकार श्रीपतञ्जलिने 'पयोव्रतो ब्राह्मणः' आदि 'ब्राह्मणभाग' का

प्रमाण दिया है; तो यह वास्तविकता है, इसमें आक्षेपकी कोई भी बात नहीं।

(पृ. १२३) 'अपि वा वेदनिर्देशाद् अपशूद्राणां प्रतीयेत' (मीमां. (६।१।३३) में 'वेदे त्रयाणां निर्देशो भवति-वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यं, वर्षासु वैश्यम्' यही वेदवचन इष्ट है, 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' यह वादिदत्त वेदवचन इष्ट नहीं; क्योंकि इस वचनमें अध्ययन वा उपनयनका मीमांसासूत्रोक्त कोई प्रसङ्ग नहीं। मीमांसासूत्रमें तो 'अपशूद्राधिकरण' होनेसे तीन वर्ण अधिकृत किये गये हैं, शूद्र नहीं। वादिदत्त-मन्त्रमें तो मीमांसाका कोई प्रकरण भी नहीं; और इसमें तीन वर्णोंका नाम न होकर शूद्रका नाम भी है। इस मन्त्रमें तो सृष्टिप्रकरण है। मीमांसासूत्रमें तो 'अपशूद्राणां' कहा गया है कि—'शूद्रवर्जितानाम्', न कि 'शूद्राणाम्'। अतः यह वादीकी दयनीय दशा बता रहा है; यहां वादीको इस मीमांसासूत्रका इष्ट वचन अपनी मूलसंहितामें नहीं मिलेगा। मीमांसाका इष्ट (वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत' इत्यादि) वचन तो वादीको उससे तथाकथित शाखा वा ब्राह्मणमें मिलेगा; जो कि उन दोनोंको मीमांसानुसार वादीको वेद मानना पड़ेगा।

६।७।२६ में 'सहस्रायु' का वर्णन करना वादीका बलात्कार है; वह तो ६।७।३१ से चलता है। यह है वादियोंका गलत अर्थ करनेका स्वभाव। २६ सूत्रमें 'वेद'का वचन ब्राह्मणभागका है। 'श्रुति' शब्दको स्वा.द.जीने भी वेदवाचक माना है—यह हम पहले कह चुके हैं। अब यदि शाखाओंके मन्त्रोंका नाम वादी 'श्रुति' कहता है; तो उसे बधाई हो। वे भी वेद सिद्ध हो गये, क्योंकि-वादीके स्वामी 'श्रुति' वेदका नाम कहते हैं।

पृ. १२४। मीमांसासूत्र (६।१।५) को स्त्रीका अधिकारसूत्र बताना वादीका अज्ञानमूलक है। वहां कोई भी ऐसा प्रकरण नहीं। अधिकरण भी भिन्न है। 'कुर्वन्नेवेह' मन्त्रमें भी स्त्रीका नाम नहीं। इस विषयमें

'आलोक' (८) पृ. १३१-१४२ में देखना चाहिये। 'जातिं तु वादरायणः' (६।१।८) में स्त्रीको उपनयनादिका अधिकार नहीं बताया गया, हां, यज्ञमें पतिके साथ बैठाना सूचित किया गया है। इस विषयमें 'आलोक' तृतीय पुष्प पृ. १४८-१५७ में देखना चाहिये।

(४५) मीमांसा (११।२।४१) में 'आम्नाय' का पद 'ब्राह्मण' के लिए है—यह स्पष्ट है। इससे ब्राह्मणभाग भी आम्नाय (वेद) सिद्ध हो गया। यदि वादी यहां 'आम्नाय' का अर्थ वेद मानकर उस आम्नायके उद्धरणमें 'शाखाका वचन' होना भी मान ले; तब शाखाओंके भी आम्नाय (वेद) सिद्ध हो जानेसे वादीके पक्षमें जलती दियासलाई लग गई; क्योंकि—यहां 'आम्नाय' शब्द है, 'छन्दः' नहीं। आम्नाय वादी मूलवेदका नाम ही मानता है। वादीने इसमें कोई प्रमाण अपनी मूलसंहिताका नहीं दिया। इसलिए वह ढीला होकर लिखता है—"यदि 'आम्नाय" पद मीमांसामें 'ब्राह्मण' के अर्थमें प्रयुक्त भी हो; तो क्या वेदका लक्षण जो जैमिनिने किया है; वह व्यर्थ हो जावेगा ?'

इस वाक्यसे वादीकी बेबसी झलकती है; और उसकी बुद्धिपर दया भी आती है कि—उसे इन साधारण बातोंका भी ज्ञान नहीं। महाशय, मीमांसामें ही क्या, बल्कि सर्वत्र 'आम्नाय, छन्द' आदि वेदका नाम है। वेदके दो भाग हैं, मन्त्र तथा ब्राह्मण। 'मन्त्र' से सभी ११३१ संहिता (शाखा) जिसमें वादीकी ४ संहिताएं भी अन्तर्गत हैं; तथा अन्य सभी संहिताएं भी गृहीत हो जाती हैं, और ब्राह्मणसे सभी ब्राह्मणग्रन्थ; जिनमें सभी आरण्यक और उपनिषद् तथा विधि-अर्थवाद आदि आ जाते हैं, भी गृहीत हो जाते हैं। सो यदि 'आम्नाय' में 'शाखा' तथा 'ब्राह्मण' का वचन आ जावे; तो इससे वादीका ही पक्ष खण्डित होगा। सो 'आम्नायवचनं तद्वद्' (११।२।४१) इत्यादिसे 'यदेव अध्वर्युः करोति' इस ब्राह्मणवचनको 'आम्नाय' माना गया है। इस प्रकार १२।४।३२ सूत्र में भी 'यो वै···' यह ब्राह्मण ही उदाहृत किया गया है। सो ब्राह्मणभाग

के वेद सिद्ध हो जानेसे वादीका पक्ष चूर-चूर हो गया।

शेष है वादीका यह लिखना कि—'वेदका लक्षण जो जैमिनिने किया है, वह क्या व्यर्थ हो जावेगा ?' इसपर हम वादीको चैलेञ्ज करते हैं कि—जैमिनिने 'वेदे' का लक्षण कहां लिखा है ?। 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' (२।१।३२) यहां तो उसने 'वेद' का लक्षण न करके 'वेद' के एकदेश 'मन्त्र' का लक्षण दिया है। 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (२।१।३३) में उसने वेदके एकदेश 'ब्राह्मण' का लक्षण दिया है। जैसे कि कोई मनुष्यके स्वरूप का लक्षण बताते हुए उसके एकदेश दक्षिण पार्श्वका अलग लक्षण करे, और उसके एकदेश वामपार्श्वका पृथक् लक्षण करे। सो पूर्णस्वरूप तो दोनों पार्श्वोंके मिलानेपर ही होगा। वैसा वादी यहां पर भी समझे, अपना ज्ञान बढ़ावे। अभी तो उसका सीमित ज्ञान है। श्रीजैमिनिने 'तच्चोदकेषु वेदाख्या, शेषे ब्राह्मणशब्दः' ऐसा कोई लक्षण नहीं रखा, जिससे ब्राह्मण वेदभिन्न सिद्ध हो जावे। और जैमिनिने वादीका 'मूलवेद' शब्द भी कहीं नहीं रखा। तब वह जैमिनिसे भी पिट गया। हां, मन्त्र और ब्राह्मणमें तो अन्तर कुछ रखा भी जा सकता है, यद्यपि वह भी कहीं-कहीं नहीं रहता, 'मन्त्रे' से 'ब्राह्मण' भी गृहीत हो जाता है—इसमें उदाहरणोंकी कमी नहीं है। सो मन्त्रभाग-ब्राह्मणभाग पृथक्-पृथक् होने पर भी 'वेद' दोनों हैं, यह हम कई बार सप्रमाण दिखला चुके हैं।

यदि श्रीजैमिनि कहीं 'मन्त्रे' लिखे, उसमें उसे शाखाका वचन सर्वथा इष्ट न हो, केवल वादीकी तथाकथित मूलसंहिताका वचन ही उसे वहां इष्ट हो; तब तो वादीका मत कथञ्चित् सिद्ध हो सकता है, और ऐसे उद्धरण वादी जैमिनिका देवे, और जैमिनि अपने सूत्रमें आम्नाये, वा वेदे कहकर वादीकी मूलसंहिता ही उदाहृत करे; ११३१ शाखाओंका वा 'ब्राह्मण' का कोई भी वचन उसे इष्ट न हो; तब भी वादीका पक्ष कथञ्चित् सिद्ध हो सकता है, पर वह 'वेदे' वा 'मन्त्रे' कहकर अन्यशाखा के मन्त्र वा ब्राह्मणकी कण्डिकाको इष्ट करे; तो हमें कहना पड़ेगा कि

श्रीजैमिनिने वादीके साम्प्रदायिक पक्षकी 'रीढ़की हड्डी' तोड़ दी।

हमसे वा हमारा आश्रय लेकर 'यक्ता' ने अपने पक्षके साधक प्रमाण जैमिनिके दर्शनसे भी दिखलाये। वादी उनका कुछ भी उत्तर नहीं देता है, केवल वहाने बनाता है। जैमिनि 'मन्त्र' का लक्षण—जिसे वादी अपना मूलवेद मानता है—'चोदक' (विधिवाक्य) वाक्य लिखता हैं; जिसमें वादीकी भी सहमति है; तब क्या वादी अपनी मूलसंहिताओंसे उपनयन, शिखा, सन्ध्या आदिके चोदक (विधि) वाक्य दिखला सकता है? यदि ऐसा है; तो फिर कमर कस ले। 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत, स्वर्गकामो यजेत, अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत, एकादशवर्षे राजन्यम्, द्वादशवर्षे वैश्यम्' इन विधिवाक्योंको अपनी संहितामें दिखला दे! उनका पूरा स्थलनिर्देश करे; तव हम उसके अनुसन्धानका आदर करेंगे। यदि वह ऐसा नहीं करता; तब वह हमारा ही पक्ष सिद्ध करेगा।

(४६) अब वादी ऊपरके पक्षको पूर्ण समाहित न करके आगे गति करता है—। लिखता है कि—'ब्राह्मणोंका भाषिक-स्वर और मन्त्रोंका त्रैस्वर्य बताकर ब्राह्मणकी अवेदता बताई गई है'। इस पर वादी याद रखे कि—इस स्वरभेदसे 'मन्त्र' और 'ब्राह्मण' का पार्थक्य तो हो जाता है, यह सर्वसम्मत है; पर यह नहीं हो जाता कि—मन्त्र तो वेद हो जावे; पर ब्राह्मण वेद न रहे। ऐसे आक्षेप अज्ञानमूलक हैं। ब्राह्मणको भाषा नहीं माना जाता। नहीं तो 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' (पा० ७।२।८८) इत्यादि भाषिक-सूत्र वहां भी प्रवृत्त होते। उसमें भी 'युवाम्' बनता; 'युवम्' कभी न बनता; पर ब्राह्मणमें भी 'युवम्' बनता है, देखो (शत. ८।२।१।३, ५।५।४।२५, ऐत. २।२८) इससे उसकी भाषिकता कट जाती है। जो कि ब्राह्मणमें 'भाषिक-स्वर' कहा जाता है, इसका यह अर्थ नहीं है कि—ब्राह्मणमें लोक-वाला स्वर होता है, वेद वाला स्वर नहीं होता। 'भाषिक-स्वर' तो इसमें एक 'पारिभाषिक-शब्द' है। यहां पर 'भाषा' का अर्थ 'लोक' नहीं। स्वरप्रक्रियामें लौकिक और वैदिक-स्वरका भेद बहुत

न्यून (क्वचित् ही) आता है। यह सब वेदोंकी अपनी-अपनी मर्यादाएं हुआ करती हैं।

वेदोंमें कई प्रकारके प्रक्रिया-भेद हुआ करते हैं; इससे उनकी कोई अवेदता नहीं हो पाती। देखिये—ऋग्वेदमें अचोंके मध्यमें 'ड' को 'ळ' और 'ढ' को 'ळ्ह' हुआ करता है; पर वह यजुर्वेद और अथर्वमें नहीं हुआ करता। यजुः और साममें र, श, ष, स, ह परे होनेपर अनुस्वारको ँ हो जाता है, शेष वेदोंमें नहीं। इस प्रकार अन्य भी साम्प्रदायिक भेद हुआ करते हैं। इनसे इनका परस्पर-भेद तो हो जाता है; पर इससे अन्य संहितामें वेदत्वकी क्षति नहीं आ जाती।

वादी बतावे कि—उनकी तथाकथित शाखाओंके मन्त्रोंमें भाषिक-स्वर होता है, या त्रैस्वर्य? यदि भाषिक, तो इसमें प्रमाण बतावे। यदि उनमें भी वह त्रैस्वर्य माने, तो फिर शाखाएं भी उसके अनुसार वेद बन गईं। तब यह युक्ति उसकी कट गई।

कृष्णयजुर्वेदमें वह ब्राह्मणका मिश्रण मानता होगा, उस संहितामें ब्राह्मणमें त्रैस्वर्य मानता है या नहीं? यदि हां, तो फिर 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' को मान ले! आर्यसमाजके विद्वान् स्वा. ब्रह्ममुनि 'सार्वदेशिक' (सित. अक्टू. १९४७ पृ. ४१३) में 'यज्ञविषयक कर्मकाण्डमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद पढ़नेकी प्रथा है,...यज्ञके कर्मकाण्डमें अथर्ववेदका उपयोग नहीं होता, किन्तु ब्रह्म-यज्ञ, जप-यज्ञमें होता है; तब याज्ञिक कर्मकाण्डमें अथर्वका उपयोग न होनेसे क्या वादी अथर्ववेदको भी वेद नहीं मानेगा?

वादी मानता है कि—वेदोंके मन्त्रोंका पाठ यज्ञमें एकश्रुतिसे होता है, त्रैस्वर्यसे नहीं, तब क्या वादी यज्ञकर्ममें बोले जाने वाले त्रैस्वर्यरहित वेद-मन्त्रोंको भाषा (अवेद) मान लेगा? कृष्णयजुर्वेद तै.सं. में ब्राह्मणको भी त्रैस्वर्य हुआ करता है; तब क्या वादी उसे मन्त्र मान लेगा? यदि ऐसा हो, तो वह हमारी बधाई स्वीकार करे! तब यज्ञमें वेदके मन्त्रों

के त्रैस्वर्यरहितत्वकी भांति ब्राह्मणमें भी यदि त्रैस्वर्य नहीं होता; तो इससे उसकी अवेदता कैसे हो जायगी ? क्या यज्ञमें वेदोंके त्रैस्वर्यरहित पाठसे वह वेदोंको भाषा वा अवेद मान लेगा ? ऋग्वेदमें तथा कहीं यजुःमें प्रकृतिभाव हो जाता है, अन्य संहिताओंमें नहीं; तब क्या वे अन्य मन्त्र वेद न रहेंगे ?

महाशय ! 'भाषिक-स्वर' तो एक पारिभाषिक-शब्द है; लौकिक-वाचक नहीं है। देखिये मीमांसादर्शन (१२।३।१६) का शावरभाष्य। उसमें लिखा है—'छन्दोगा बह्वृचाश्चैव तथा वाजसनेयिनः। उच्चनीच-स्वरं प्राहुः स वै भाषिक उच्यते'। यहां छन्दोग (सामवेद) बह्वृच (ऋग्वेद) वाजसनेय (यजुर्वेद) का भी भाषिक स्वर कहा है; तब क्या वादी इन्हें भी अवेद मान लेगा ? ब्राह्मणमें भी 'केचिन्मन्त्रा भाषिकेण स्वरेण उपदिष्टाः' कई मन्त्रोंको भाषिक-स्वर वाला माना है; तो क्या उन मन्त्रोंको वादी अवेद मान लेगा ? वस्तुतः यह युक्ति ब्राह्मणके अवेदत्वको सिद्ध करनेमें अत्यन्त दुर्बल है। वेदके अपने-अपने भिन्न सम्प्रदाय होते हैं; इस वैभिन्न्यसे उनके वेदत्वमें क्षति नहीं आती।

(४७) पृ. १२५। न्यायदर्शनमें जब 'शब्द' प्रमाणकी परीक्षाका प्रकरण है; और 'शब्द' से यहां 'वेद' विवक्षित है, लौकिकशास्त्र वहां कोई विवक्षित नहीं; तो वेदकी परीक्षामें ब्राह्मणको उदाहृत करनेमें ब्राह्मणभाग स्पष्ट वेद सिद्ध हो गया।

यह जो वादी कहता है कि—'वैदिक शब्दोंमें शाखाएं और ब्राह्मणोंके शब्द भी आते हैं; अतः उनका प्रयोग करना अनुचित नहीं'। वादीको बधाई हो कि—उसने शाखाओं और ब्राह्मणोंको वैदिक शब्द मान लिया। 'वैदिक शब्द' का अर्थ 'वेदका शब्द' ही तो है, लौकिक-शब्द नहीं। उसके 'अद्वितीय वेदद्रष्टाने तो ब्राह्मणोंको 'लौकिक-शब्द' माना है, वैदिक नहीं। देखिये—'ब्राह्मणग्रन्थशब्दा लौकिका एव, न वैदिकाः' (ऋभाभू. पृ. ९६)। और भी देखिये—'यानि गौरश्व इत्यादीनि लौकिको-

दाहरणानि भाष्यकारेण प्रोक्तानि; तानि (लौकिकोदाहरणानि) ब्राह्मण... ग्रन्थेष्वेव घटन्ते; तेषु ईदृश (लौकिक) शब्दव्यवहारदर्शनात्' (पृ. ९...)

अब वादी बतावे कि—ब्राह्मणग्रन्थोंको लौकिक शब्द बताते हुए... अद्वितीय-वेदद्रष्टा भ्रान्त हैं, अथवा उनको 'वैदिक-शब्द' बताता हु... वादी भ्रान्त है ? हर्ष है कि वादी अपने स्वामीका अज्ञान सिद्ध करके... 'भ्रान्त वेदद्रष्टा' सूचित करके आर्यसमाजका पूरा मित्र (?) बन... है।' मालूम होता है कि—दयानन्दियोंने वादीकी इस पुस्तकको ध्या... नहीं पढ़ा। नहीं तो शायद वादीको आर्यसमाजसे अपना विस्तर... करना पड़ता। यह उसका 'दयानन्दसिद्धान्तप्रकाश' है, या दया... सिद्धान्त-संहार' ?।

'प्रमाणं शब्दो यथा लोके' का अर्थ वादी लिखता है—'लोकमें... शब्दकी प्रमाणता है, वैसे ब्राह्मण आदि ग्रन्थोंकी भी'। 'शब्द' शब्द... वेदकेलिए सामान्य है, 'ब्राह्मण' के लिए विशेष कहीं नहीं; तब... 'शब्द' का वेद अर्थ न करके वादीने 'ब्राह्मण' अर्थ निर्मूलतासे कै... दिया है ? फिर भी वादीकी इस योजनासे, वा इस न्यायके वा... अर्थसे 'ब्राह्मण' लोकसे भिन्न सिद्ध हो रहा है। स्वा. द. जी ने वा... यनके इसी वाक्यको आधार बनाकर लिखा है—'अयमभिप्रायः- ब्र... ग्रन्था लौकिका एव न वैदिकाः'।

अब वादी ब्राह्मण—शब्द को लौकिकसे भिन्नं 'वैदिक-शब्द' ... हुआ 'दर्शनतत्त्वदर्शी' हुआ; वा ब्राह्मणको 'लौकिकशब्द' मानते हुए ... 'दर्शनतत्त्वदर्शी' हुए ? वा दोनों ही 'दर्शनतत्त्वानभिज्ञ' सिद्ध हुए... वादी ही स्वयं बतावे।

श्रीवात्स्यायनने विधि, अर्थवाद आदिके लौकिक उदाहरण भी... दिये हैं; ब्राह्मणके भी। इससे ब्राह्मण लोकसे भिन्न सिद्ध हुए। ... कोई भी उदाहरण ब्राह्मणभागका कहीं भी किसी प्राचीन द्वारा नहीं... गया है—यह सदा स्मरण रखनेकी बात है। लोककी प्रतिद्व...

भाष्यकार वात्स्यायनने वेदके प्रमाण दिये हैं; क्योंकि-शब्द (वेद) की परीक्षाका प्रकरण है, और वेदके मन्त्रभागका कोई प्रमाण न देकर ब्राह्मणभागके ही प्रमाण दिये गये हैं; इससे ब्राह्मण स्पष्ट 'वेद' सिद्ध हैं।

यदि कहा जावे कि—यहां 'ब्राह्मण' शब्द है, 'वेद' नहीं। तब क्या वेद 'शब्द' प्रमाण नहीं होता ? वस्तुतः यहां 'शब्द' का अर्थ है वेद, और वेदके दो भाग हैं— मन्त्र और ब्राह्मण। दोनोंमें किसीके भी वर्णन आजाने से वेदकी चरितार्थता हो जाती है। यदि वहां 'ब्राह्मण' शब्द आया है; 'वेद' शब्द नहीं; तो समयपर 'वेद' शब्द न आकर 'मन्त्र' शब्द भी आ जाता है; तब क्या इससे 'मन्त्र' वेद न रहेगा ?।

जब यहां लौकिक वाक्योंमें विभागसे अर्थ गृहीत माना है, और वैदिक वाक्योंमें भी। और लौकिक वाक्योंसे भिन्न मन्त्रभागके वाक्य तो अर्थवादादिके वात्स्यायनमुनिने दिये नहीं, किन्तु ब्राह्मणभागके ही दिये हैं, तब लोक-भिन्न ब्राह्मणकी वेदता स्पष्ट सिद्ध हुई। तभी तो इसी शब्द-परीक्षाके उपसंहार में जिसमें ब्राह्मणके वाक्य ही उदाहृत किये गये हैं, संघटन करते हुए भाष्यकार वात्स्यायन उन ब्राह्मणोंके वाक्योंको वेदवाक्य कहते हैं। वादी भी इधर दृष्टि डाले। श्रीवात्स्यायन लिखते हैं—

'यथा लौकिके वाक्ये ('ओदनं पच-इत्यादि पूर्वोक्ते) विभागेन अर्थ-ग्रहणात् प्रमाणत्वम्, एवं वेदवाक्यानां (अग्निहोत्रं जुहुयाद्-इत्यादि पूर्वोक्तानां ब्राह्मण-वाक्यानाम्) विभागेन अर्थग्रहणात् प्रमाणत्वं भवितुमर्हति' (२।१।६५) यहांपर उन्हीं ब्राह्मणवाक्योंको 'वेदवाक्य' कहनेसे वादीका पक्ष गिर गया; क्योंकि—लौकिक—वाक्योंमें श्रीवात्स्यायनने ब्राह्मणभागका एक भी उदाहरण नहीं दिया, और वेदवाक्योंमें मन्त्रभागका एक भी वाक्य नहीं दिया, सभी ब्राह्मणभागके वाक्य दिये। सो इस निष्कर्षके निर्णायक उपसंहारसे भी ब्राह्मणभाग, वेद सिद्ध होगया। इस विषयमें विशेष 'आलोक' (६) पृष्ठ ५५-६४ में) देखना चाहिये।

२।२।६७ में उसी 'शब्द' का वर्णन है। पहले शब्द (वेद) का

'ब्राह्मणभाग' लिया, फिर ६७ सूत्रमें मन्त्रभाग लिया।

(४८) पृ. १२३। 'प्रातिशाख्य' प्रत्येक शाखा में सम्बद्ध व्याकरण है, यह ठीक है। सो वादीकी तथाकथित यजुर्वेद—संहिता भी तो वाजसनेयी (माध्यन्दिनी) शाखा है। इसलिए 'वाजसनेयी-प्रातिशाख्य' की व्याख्यामें उवटका 'मन्त्र—ब्राह्मण' को वेद बताना संगत ही है। वादी तभी तो उन्हें नहीं मानता कि-उसका पक्ष इसमे गिरता है। 'आचक्षते, आहुः' शब्दोंसे यदि परिभाषा मानी जावे; और उसे कल्पित माना जावे; तब तो 'मन्त्र—ब्राह्मणयोराहुर्वेदशब्दं महर्षयः' इत्यादिसे ब्राह्मणके सहचारी मन्त्रकी वेदता भी 'आहुः' शब्दसे वादीके अनुसार पारिभाषिक होनेसे, 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' इस मीमांसा—सूत्रमें भी 'संज्ञा' वाचक 'आख्या' शब्द होनेसे वह परिभाषा वादीके अनुसार कल्पित होजावेगी, फिर मन्त्रभाग भी वेद नहीं रहेगा। इससे वादीके पक्षका खण्डन हो जावेगा।

सर्वानुक्रम मन्त्रभागके होते हैं; क्योंकि वह विनियोक्तव्य होता है; विनियोजकका भला सर्वानुक्रम कैसे हो ? वे सर्वानुक्रम भी सभी शाखाओंके होते हैं; यह आवश्यक नहीं कि—वादीकी ही संहिताओंके हों। ब्राह्मण नियोजक होता है, उससे उसका सर्वानुक्रम नहीं होता; पर इससे उसके वेदत्वमें क्षति नहीं पड़ती। विनियोज्य न होनेसे ब्राह्मणभाग, मन्त्र-भाग भले ही न हो, इसमें किसीकी भी विमति नहीं; पर वेद तो मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही होते हैं; इसमें प्राचीन गण्यमान्य विद्वानोंकी विमति नहीं। वादीका यह पक्ष बहुत निर्बल है।

श्रीसायणाचार्य आदिके वचनको तो वादी क्या मानेगा; वह किसीके भी वचनको प्रमाणित नहीं करता। वह तो समयपर अपने स्वयं ही तथाकथित 'अद्वितीय वेदद्रष्टा'के वचनको भी प्रमाणित नहीं करता। स्वा. द. जी 'छन्द, वेद और निगमको पर्यायवाचक मानते हैं—यह हम पूर्व बता चुके हैं; परन्तु वादी यहां स्वा. द. जी की बात भी नहीं

मानता। जिसे चाहा मान लिया, न चाहा; तो उसे निकाल दिया। चाहे जैमिनि हो, चाहे व्यास, किसीकी भी इन लोगों ने सुननी नहीं है। आगेकी वादीकी बातोंमें कोई सार नहीं। प्रमाण वह माने, वा न माने, पर यह सिद्ध है कि—सभी प्राचीन ब्राह्मणभागको भी वेद मानते थे; और मन्त्रसे सभी ११३१ शाखाओंको लेते थे। केवल अर्वाचीन सम्प्रदाय आर्य-समाज यह नहीं मानता। वैसे वह किसको मानता है ?

यदि वादी लौकिकसे भिन्नको 'वैदिक' मानता है; तो 'वैदिक'का अर्थ है 'वेदका', सो ब्राह्मण-उपनिषद्में आया हुआ—'श्रद्धा वा आपः' वाक्य वेदका सिद्ध होजानेसे ब्राह्मणभाग उपनिषद् भी वेद सिद्ध होगया, वादीका प्रयत्न निष्फल रहा।

पृ. १२६। मनु० (४।९५-९८)में तो वादीने 'छन्दः' का अर्थ 'वेद' कर दिया, फिर १०० वें पद्यमें 'छन्दः' का अर्थ 'ब्राह्मण' कर दिया, इससे 'ब्राह्मण' भी 'वेद' ही सिद्ध हुआ; क्योंकि—'छन्द' वेदका नाम है, यह सर्वसम्मत है। वादी तो स्वेच्छाचारी है, कभी तो 'छन्द' का अर्थ 'मूल वेद' कर देता है, कभी 'वेद' कर देता है, कभी 'शाखा' अर्थ कर देता है, और कभी 'ब्राह्मण' अर्थ कर देता है। इससे स्पष्ट सिद्ध होरहा है कि—यह सब साहित्य वेद है। वादी कहां तक छिपावेगा ? आगको कपड़ेमें छिपा लेनेसे वह उसे ही जला देगी।

'ब्रह्म छन्दस्कृतं' में वादी कहता है—'ब्रह्म मूलवेद-भागकेलिए प्रयुक्त है; और 'छन्दस्कृत' ब्राह्मण आदिकेलिए प्रयुक्त है'। क्या वादी यहां 'छन्दो-ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि' अपने इस प्रिय सूत्रको भूल जाता है ? यहां भी तो उसी तरह का प्रयोग है। यदि वह कहे कि--वहां तो 'ब्राह्मण' है, और यहां 'ब्रह्म' है; तो क्या वादी स्वा. द. जीके ऋभाभूके 'ब्रह्मेति ब्राह्मणानां नामास्ति' (पृ. ९९) इस वचनको भूल जाता है ?। यहांपर स्वा. द. जी ने 'समानार्थौ एतौ 'ब्रह्मन्' शब्दो 'ब्राह्मण' शब्दश्चेति'। ब्रह्म-ब्राह्मणको एक-वाची बताया है। तब वादीकी क्या शक्ति है कि-वह

'ब्रह्म' का 'ब्राह्मण' अर्थ कहते हुए कुल्लूकभट्ट आदिका अर्थ काट ... 'तदाहुर्ब्राह्मणं महत्, (अ. १०।८।३३) यहां वादी 'ब्राह्मण'का क्या ... करेगा ? यदि ब्राह्मणभाग; तब वह भी 'वेद' हुआ। यदि 'ब्राह्मण' ... 'ब्रह्म' अर्थ कर देगा; तब कुल्लूकादिको कैसे काट सकता है ?'। ... मनुपद्यमें छन्दसे भिन्न ब्राह्मणका कहना 'ब्राह्मणवसिष्ठन्याय' ... 'गोबलीवर्द'-न्यायसे ब्राह्मणको विशेषता—प्रदानार्थ है।

(४९) आगे वादी कहता है—'छन्दस्' पदसे सभी वैदिक-साहि... का ग्रहण किया जाता है' वादीको यहां 'सारा वैदिक साहित्य' से ... और ब्राह्मण भी इष्ट हैं। यदि ऐसा है, तो वादीको बधाई हो। ... तथाकथित 'अद्वितीय वेद-द्रष्टा भगवान्' ने लिखा है कि—'ब्राह्मण... शब्दा लौकिका एव, न वैदिकाः' (ऋभाभू. पृ. ९६) लेकिन ... ब्राह्मणको लौकिक-शब्द न मानकर 'वैदिक-शब्द' मानता है; तब वादी... 'भगवान्' भ्रान्त हुआ, या वादी स्वयं भ्रान्त हुआ; अथवा दोनों ... हुए-यह बताना वादीका काम है।

जब भाष्यकार 'वेदे खल्वपि'—कहकर 'पयोव्रतो ब्राह्मणो' ... के अनुसार 'शतपथब्राह्मण' के इस वचन को, तथा 'बैल्वः खादिरो ... यूपः स्यात्' इस ब्राह्मणके वचनको वेद-वचन मानते हैं; । 'वेदेपि' ... 'सोमस्य स्थाने पूतीकतृणानि अभिषुणुयात्'—(१।१।५६) यह ब्राह्मण ... शाखाका उद्धरण देते हैं; इससे स्पष्ट है कि—वादीसे प्रमाणित भाष्य... रानुसार सभी शाखा-ब्राह्मण वेद ही हैं।

महाभाष्यकार ब्राह्मणभाग वा शाखाको 'भाषा' शब्दसे कभी ... उदाहृत नहीं करते; किंतु उसे वेद--वचनसे उदाहृत करते हैं, तब वादी... मत समूल छिन्न होगया। क्या वादी 'वेद' शब्दसे 'शाखा-ब्राह्मण' ... गृहीत करता है ? यदि करता है, तो शाखा-ब्राह्मणादि सभी वेद ... हुए। 'मूलसंहिता' शब्दको तो कोई भी प्राचीन शास्त्रकार नहीं लिख... यह तो वादीकी 'गढ़न्त' है। मूलवेदकी वर्णानुपूर्वीको भाष्यकारने ...

'नित्य' नहीं माना। 'नियत' का अर्थ वहां 'निश्चित' है, 'नित्य' नहीं। जैसे कि श्रीयास्कने 'नियतवर्णानुपूर्वी' के लौकिक उदाहरण 'इन्द्राग्नी, पितापुत्रौ' दिये हैं; वैसे ही 'तापसपर्वतौ, ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः, युधिष्ठिरार्जुनौ, कुशकाशम्, हरिहरौ, आदि लौकिक शब्दोंकी वर्णानुपूर्वीको 'नियत' माना जावेगा। जो इन यास्क-सङ्केतित लौकिक-शब्दों की वर्णानुपूर्वीके 'नियत' होनेका अर्थ होगा; वही 'वैदिकवर्णानुपूर्वी' के 'नियत' होनेका भी अर्थ होगा। 'नियत' शब्द जब लौकिक-वैदिक दोनों शब्दोंमें समान है; तब अर्थ भी दोनों स्थान समान होगा। स्पष्ट है कि-दोनों स्थान 'निश्चित' अर्थ है, 'नित्य' नहीं।

वादीके अनुसार भाष्यकारने जोकि 'आम्नाय' (५।२।५९) के शब्दों की वर्णानुपूर्वीको 'नियत' बताया है; यहां 'आम्नाय' शब्द 'मूलसंहिता' का वाचक है? वा शाखाब्राह्मणादिका-यह वादी से प्रश्न है? यदि भाष्यके उस स्थलमें 'आम्नाय'का अर्थ शाखा-ब्राह्मणादिका है; तो उनकी वर्णानुपूर्वी भी नियत सिद्ध हुई। तब शास्त्रार्थ समाप्त होगया। वादी पराजित होगया। यदि वादी कहे कि-नहीं, वहां (५।२।५९) 'आम्नाय' शब्द पूरे १०० पैसे 'मूलवेदसंहिता'-वाचक है; उसी मूलवेदसंहिताकी वर्णानुपूर्वी 'नियत' (नित्य) है, शाखा-ब्राह्मणोंकी नहीं; तब वहीं भाष्यकारने आम्नायके निम्न उद्धरण दिये हैं—

'देशः कालश्च खल्वपि नियत आम्नाये-'श्मशाने नाध्येयम्, चतुष्पथे नाध्येयम्, नामावास्यायामध्येयम्, न चतुर्दश्याम्' यह उद्धरण वादी अपनी तथाकथित मूल वेदसंहिताओंसे दिखलावे-यह उसे आह्वान है। यदि यह वचन वादी अपनी तथाकथित मूल वेद-संहितासे न दिखला सका; तो वह अपने पक्षका पराजय उद्घोषित कर दे।

जो वहां 'अस्य वामस्य' का उदाहरण दिया गया है; उसमें प्रथम मन्त्रमें 'स्य' को 'स्वरित' है, और ७ म मन्त्रमें 'अस्य वामस्य' के 'स्य' को 'अनुदात्त' है; तो क्या 'अस्य वामस्य' का स्वर 'नित्य' हुआ? इस

सूक्तकी वर्णानुपूर्वीकी अनित्यता हम पहले दिखला चुके हैं। अतः स्पष्ट है कि-वहां 'नियत' का अर्थ 'नित्य' न होकर 'निश्चित' है। जब लौकिक शब्दोंकी वर्णानुपूर्वी भी उक्त शब्दोंमें नियत है; तब शाखा-ब्राह्मणकी स्वर वा वर्णकी आनुपूर्वीकी अनियतता वादीको क्या दीखी है? वादीकी तथाकथित मूल संहिताओंमें समान मन्त्रोंकी वर्णानुपूर्वी वा स्वरानुपूर्वीके हेरफेरका वादी जो प्रत्युत्तर देगा; वही हमारा भी अन्य संहिताओंकी वर्णानुपूर्वीकी विभिन्नताका प्रत्युत्तर होजायगा। वस्तुतः इस भाष्यपाठका अन्य आशय है, यह इस पुष्पके २९३-२९४ पृष्ठमें देखिये।

'वेद-शब्दा अप्येवं वदन्ति' इस महाभाष्योक्त षष्ठीतत्पुरुषान्त-'वेदशब्दाः' में 'वेदशब्दो वाचको येषां ते' ऐसा बहुव्रीहि-समासका बनावटी अर्थ कर देना वादीकी बेबसी बता रहा है। 'वेदशब्दाः' के साथ 'वाचक' शब्द नहीं है; वादीने उसमें प्रक्षिप्त कैसे किया? और फिर बहुव्रीहि-समास सदा किसी अन्य पदार्थ विशेष्यका विशेषण हुआ करता है, वह विशेष्य यहां कहां है? है कोई वादीके पास इसका प्रत्युत्तर? 'येषां ते' कहनेसे न वादी यहां 'ब्राह्मणानि' कह सकता है; क्योंकि वे नपुंसक होनेसे 'ते' इस पुंलिङ्गसे गृहीत नहीं हो सकते। शाखाके भी स्त्रीलिङ्ग होनेसे 'येषां ते' से वे भी गृहीत नहीं हो सकतीं। बनावटका भला वादी प्रत्युत्तर क्या दे सकता है?। वादीने यह बिना भित्तिके चित्र बनानेकी कला कहां से सीखी है? यह कुकृत्य उसने इसलिए किया है कि-कहीं शाखा-ब्राह्मणके शब्द वेद न बन जाएं। भाष्यने 'वेदेपि' कहकर 'पयोव्रतो-ब्राह्मणो' यह वादीके आचार्यके अनुसार शतपथके वचनको 'वेद' बताया; यहां अब वादी इसमें कौन-सा समास निकालेगा?

'वेदशब्दा अप्येवं वदन्ति' इन वेदोंके शब्द भाष्यकारने 'योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते य उ च एनम् एवं वेद' इत्यादि रूपमें दिखलाये हैं। अब वादी इसे अपनी मूल-संहितासे दिखलावे। यदि वह कहे कि-यह शाखा वा ब्राह्मणमें है; तो ध्यान रहे—वादी मानता है कि-शाखा वा ब्राह्मण

वेदके व्याख्यान हैं; थोड़ासा शब्दभेद होता है, शेष मन्त्र मूलसंहितासे समान मिल जाता है; तब वादी वैसा मन्त्र मूल-संहितासे दिखलावे। न दिखला सके; तो अपने पक्षका पराजय स्वीकार करे, और लिखकर दे।

'तत्तुल्यं वेद-शब्देन' इस पूर्वोक्त वार्तिकमें जातिमें एक-वचन था; पर भाष्यकारने 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' (१।२।५८) इस सूत्रसे 'जाति-शब्दा एवमेव' में बहुवचन किया है; पर दोनों ही स्थान बहुव्रीहि-समास नहीं; क्योंकि-'वेदशब्देन तुल्यम्' यहांपर 'वेद-शब्देन' का विशेष्य कोई भी नहीं। यह है वादीका भाष्यकी भारतीसे बलात्कार!

(५०) 'ऋलृक्' सूत्रमें महाभाष्यके 'वेदेपि'—'य एवं विश्वसृजः सत्राणि अध्यासते' के 'वेदे' का 'वेदशब्द' अर्थ कर देना यह वादीके पक्षका कचूमर निकल गया सिद्ध करता है। जब वादी महाभाष्यकारके मतमें वेदकी वर्णानुपूर्वीको नित्य बताता है; तब उसने जो वेदमन्त्र दिया है, तो क्या वेदके अलग-अलग सूक्तोंके भिन्न-भिन्न मन्त्रोंके पदोंका संग्रह किया है, तो क्या यह वेदकी वर्णानुपूर्वीकी नित्यताका परिचायक है?। क्या महाभाष्यकार वेदोंकी पदानुक्रमणिका बना रहे थे; जो उनने वेदके भिन्न-भिन्न पद संगृहीत कर लिये?। वादीको वेदके इन महाभाष्यप्रोक्त तथाकथित-शब्दोंकी योजना एक वेदमन्त्रमें दिखलानी पड़ेगी। क्या उसके पास यह क्षमता है? कभी नहीं। वह एक लाख जन्म भी ले ले; तब भी यह मन्त्र वह अपने वेदमें नहीं दिखा सकता। तब क्यों नहीं सनातनधर्मके चरणोंकी शरण लेता? स. ध. की शरण कर ले; तो वह उसे बतावेगा—'बेटा, आर्यसमाजको छोड़ो, सभी ११३१ शाखा तथा उतने ही ब्राह्मणोंको वेद मानो; तब तुम्हें भाष्यकारसे दिया हुआ वेद-मन्त्र उनमें पूराका पूरा मिल जावेगा। आर्यसमाजको झूठा प्रसन्न कर देनेकेलिए प्राचीन विद्वानोंके शब्दोंके सम्भवी अर्थमें तोड़-मोड़ मत करो; नहीं तो कहींके नहीं रहोगे, असत्यप्रेमी माने जाओगे; वेदज्ञ

विद्वानोंमें नाक कटा बैठोगे'।

'वेदेऽपि' वहां 'वेद'में सप्तमी है, जिसका अर्थ 'वेदमें' है। वादीने वहांपर 'वेद-शब्दमें' अर्थ कैसे कर दिया? 'वेदे खल्वपि' कहकर भाष्यकारने 'पयोव्रतो ब्राह्मणः' वचन दिया है, सो यह शब्द वादी अपनी-मूल संहितासे दिखलावे। उसके 'अद्वितीय वेदद्रष्टा' ने इसे 'शतपथब्राह्मणका वचन' बताकर वादीके वेदविषयक पक्षका बड़ी निर्दयतासे खण्डन कर दिया है। अब वादि-महाशय, आप या तो शाखा-ब्राह्मणको वेद मानो, या स्वा. द. जी को 'वेदानभिज्ञ' मानो, या आर्यसमाजके एवं अपने वेद-सिद्धान्त विषयक पक्षको अशुद्ध मानो, या महाभाष्यको वेदानभिज्ञ मानो। बोलो, इनमें किस विकल्पको मानते हो? यदि चुप रहोगे; तो तुम्हारा तुमसे ही खण्डन होगया। तुमने 'दयानन्दसिद्धान्तप्रकाश' लिखकर दयानन्दी पक्षकी लुटिया ही डुबो दी।

(५०) पृ. १३०। 'त्रिजुपे छन्दसि, जुष्टार्पिते च छन्दसि' का हम पूर्व प्रत्युत्तर दे चुके हैं कि—'मन्त्रे' केवल मन्त्रभाग (११३१ संहिताएं, जिनमें वादीकी संहिताएं भी शामिल हैं), और 'छन्दसि'में मन्त्र-ब्राह्मण ब्राह्मणमें ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्-यह सारा साहित्य शामिल है, यह दोनों गृहीत होते हैं। यदि 'छन्दसि' के पूर्व 'मन्त्रे' आ जावे; तो वेदका पर्यायवाचक 'छन्दः' शब्द 'ब्राह्मण'-वाचक बनकर उसीको 'वेद' बतानेवाला सिद्ध होगा। यदि 'छन्दसि' से पूर्व 'ब्राह्मणे' आ जावे; तो 'छन्दः' शब्द मन्त्र (सारी ११३१ शाखाओं जिनमें वादीकी ४ शाखाएं भी शामिल हैं) वाचक रहेगा, और कहीं मन्त्र उपलक्षणपरक हो; तो ब्राह्मणभागका ग्रहण भी हो जावेगा। इसका निष्कर्ष अन्तमें यही निकलेगा कि—'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'। समझे कुछ!

यह वादीका लिखना व्यर्थका है कि—२०९ वें सूत्रके 'छन्दः' से ब्राह्मण-शाखा कुछ भी अर्थ कर लो, पर २१० वें सूत्रके 'मन्त्रे' से ब्राह्मण वेदसे पृथक् हो जायगा—यहां 'मन्त्रे' तो लिखा है, पर 'वेदे' नहीं लिखा

तब वह वेदसे पृथक् कैसे हो जावेगा ? 'ब्राह्मण' मन्त्रसे पृथक् है—यह तो ठीक है, पर 'वेदे' से तो पृथक् नहीं, कोई प्रमाण तो बताओ ? 'मन्त्रे' से ११३१ शाखाएं ली जावेंगी। यह तो 'वादीकी भारी भूल' है कि— वह 'मन्त्रे' से वेद ले लेता है। महाशय, 'मन्त्रे' तो वेदके 'एकदेश' का नाम है, 'सर्वदेश' का नाम नहीं, तब मन्त्र और ब्राह्मणका परस्पर-पार्थक्य होनेपर भी 'वेद' से उनका पार्थक्य नहीं, क्योंकि—वेद तो समुदायवाचक शब्द है, दोनोंको उसने क्रोड़ीकृत कर रखा है।

पृ. १६१ 'ग्नास्त्वा' वाक्य 'ब्राह्मण' का है—यह ठीक है; उसे जो वेदके पर्याय 'निगम' शब्दसे निरुक्तमें उद्धृत किया गया है, इससे स्पष्ट है कि—मन्त्र (११३१ संहिता) ब्राह्मण (सभी आरण्यक-उपनिषदों सहित) दोनों निगम (वेद) हैं, क्योंकि—'निगम' वेदको कहते हैं। इस विषयमें हम वादीके तथाकथित 'अद्वितीय वेदद्रष्टा' का वचन भी दे चुके हैं।

अब वादी या तो अपने स्वा.द.का यह वचन कि—'छन्दो-वेदनिगम-श्रुतीनां पर्यायवाचकत्वात्' (ऋभाभू. पृ. ७९) जिसमें स्वामीने 'निगम' को 'वेद' का पर्यायवाचक बताया है—ढंढोरा पिटाकर सार्वदेशिक सभा में सभी आर्यसमाजोंके सामने उसका खण्डन करे, वा स्वा.द.जीको जिनकी दूकानदारी 'बड़ी बिल्डिंग्स' के रूपमें बनी है, वेदानभिज्ञ बतावे। या फिर 'निगम' कहकर यास्कसे उदाहृत शाखा एवं ब्राह्मणको 'वेद' मानकर स.ध. की शरण-ग्रहण करे।

जो कि वादी 'ग्नास्त्वा' को 'मैत्रायणी-संहिता' का बताता है, तो वह कृष्णयजुर्वेद है। कृ.य. में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों हैं, सो उनके ब्राह्मणका वचन होनेसे 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' हमारा पक्ष सिद्ध हो ही गया। अब मैत्रायणी-शाखा भी वेद बन गई; क्योंकि स्वा.द.जी 'निगम' को 'वेद' का पर्यायवाचक मान चुके हैं। अब वादीको चाहिये कि—स्वा.द.के अनुसार 'निगम' को वेद'-वाचक मानकर शाखाओंको 'वेद' मानना शुरू कर दे; जिससे हमारा आधा परिश्रम तो बच जाय।

जब वादी यह पक्ष मान लेगा; तो आगे 'ब्राह्मण' की वेदतामें कोई कठिनाई शेष नहीं रह जाएगी। अथवा अपने वेदसे वह मूलवचन दिखलावे, जिसका उक्त ब्राह्मणका शाखा-व्याख्यान हो।

'ताण्ड्य' को तो वादी सामवेदका ब्राह्मण मानता होगा। तब साम-वेदके ब्राह्मणमें कृ.य.मै.सं. का मन्त्र कैसे चला गया ? क्या वह मै.सं. की व्याख्या है ? वह मूलसामवेदकी व्याख्या करता; वह तथाकथित शाखाकी व्याख्या करने कैसे बैठा ? इससे क्या यह सिद्ध नहीं कि—'मन्त्र-ब्राह्मण-योर्वेदनामधेयम्' ? यह सिद्धान्त ठीक है। इसमें 'मन्त्र' से सभी ११३१ संहिताएं गृहीत होजाती हैं।

स्वा. द. जी की ऋभाभू. में लिखा है—'इत्यपि निगमो भवति' इति निरुक्ते। श्रुतिर्वेदो मन्त्रश्च, निगमो वेदो मन्त्रश्च-इति पर्यायौ स्तः। इससे यह चारों [छन्द, मन्त्र, श्रुति, निगम] पर्याय-अर्थात् एक अर्थके वाची हैं, ऐसा ही जानना चाहिये। इसलिए जो [हमारे कोई चेले-चांटे वा अन्य] लोग इन [छन्द, मन्त्र, वेद, श्रुति] में भेद मानते हैं, उनका वचन प्रमाण करने योग्य नहीं। (पृ. ९१) इसमें स्वा. द. जीने निगमका अर्थ 'वेद' माना है। इससे क्या वादीके तथाकथित 'अद्वितीय वेदद्रष्टा' ऋभाभू. के प्रणेता भ्रान्त सिद्ध हुए; या वादी 'निगम' का अर्थ 'वेद' न मानता हुआ भ्रान्त है ? यह वादी खुले शब्दोंसे बतावे। निरुक्तमें 'वध्वां ते हरी धाना उप ऋजीषं जिघ्रताम्' इत्यपि निगमो भवति' (५।१२।१) इस ब्राह्मणको 'निगम' लिखा गया है। अब वादीका पक्ष खण्डित होगया, या नहीं ? महाशय, अब अनुसन्धानका युग आगया है। अनुसन्धान हो जानेपर वादीके आर्यसमाजकी वेदविषयकमतकी दीवारें ढह जाएंगी, और स. ध. का पक्ष ही स्थिर रहेगा।

जोकि वादी लिखता है—'निगमो भवति' से 'मूलसंहितामन्त्रो भवति' अर्थमात्र ही नहीं अभिप्रेत हैं' यह कहकर वादीने 'इत्यपि निगमो

भवति' इति निरुक्ते, श्रुतिर्वेदो मन्त्रो, निगमो—वेदो मन्त्रश्च' इति पर्यायौ रतः' (ऋभाभू. पृ. ६१) अपने 'अद्वितीय वेदद्रष्टा भगवान्' दयानन्द को अपने पैरों तले रौंद दिया। आर्यसमाजको ऐसा पण्डित चुननेमें बधाई हो। हमें वादी किसी प्राचीन ग्रन्थसे 'मूलवेदसंहिता' शब्द दिखलावे। यदि न दिखला सका; तो उसका 'मूलवेद' निर्मूल होगया समझे।

वादी 'ब्राह्मणोंके प्रतीक देनेमें यास्कने कहीं पर 'निगमो भवति' का प्रयोग नहीं किया है' क्या अव्यवस्थितपक्ष वाला वादी अपनी इस प्रतिज्ञाको निभा सकेगा? यदि ऐसा है; तो फिर वह तैयार होजावे। वादीकी इस बातको श्रीयास्कने 'यस्मात्परं नापरमस्ति' इत्यपि निगमो भवति' (२।३।१) कहकर यह श्वेताश्वतर ब्राह्मणका वचन दिया है, और वादीको पीस दिया है। इस वचनको वैदिक-यन्त्रालयके निरुक्तमें 'तैत्तिरीयारण्यक'का माना है। दूसरे लोगोंने श्वेताश्वतर—उपनिषद्का माना है। आरण्यक और उपनिषद ब्राह्मण-भागान्तर्गत हैं। अब वादीकी प्रतिज्ञा विफल होगई—या नहीं—यह वही बतावे।

जोकि वादी एक अनिश्चित बात कहता है कि-'यस्मात्परं' यह यास्क के समय किसी शाखामें रहा होगा; और वहांसे ही यास्कने दिया होगा' वादीकी इस बातपर हंसी आती है। 'दृष्टे सति अदृष्टकल्पना अन्याय्या भवति' अब वादी समझले; उसका अभी खण्डन होता है। वादी मानता है कि—शाखाएं मूलसंहिताके कुछ थोड़ेसे शब्दोंके हेरफेरसे अनुवाद है; अब वादी अपनी मूलसंहिताका इसी प्रकारका पूरा मूलमन्त्र उपस्थित करे; जिसमें एक-दो शब्दोंके हेरफेरके अतिरिक्त 'यस्मात् परं नापर-' शेष सारा मन्त्र समान हो। यदि वह उपस्थित न कर सका; तो स्पष्ट है कि-उपनिषद, आरण्यक आदि ब्राह्मण भी निगम (वेद) हैं, और समस्त शाखा भी निगम (वेद) हैं। और श्रीयास्कने उपनिषद् वा आरण्यकरूप ब्राह्मणका ही यह वचन दिया है।

इसी प्रकार 'नोपरस्याविष्कुर्यात्' इत्यपि निगमो भवति' (३।१।...) यह निगम भी ब्राह्मणभागका है; तब वादीकी प्रतिज्ञा विफल होगई। तब यह किसी संहितामें होगा—यह वादीका बहाना कट गया। ... स्वा. द. निगमका अर्थ शाखाएं मान गये हैं? कभी नहीं? उन्होंने 'निगम' का अर्थ 'वेद' माना है। तब यदि स्वा. द. के अनुसार भी वेद-पर्यायवाचक 'निगम' का उदाहरण संहिताओं वा ब्राह्मणोंमें मिले; ... स्पष्ट है कि—वे वेद हैं। यदि कृष्ण-यजुर्वेदकी संहिताओंमें मिले; ... स्मरण रहे कि—उसमें 'ब्राह्मण'का मिश्रण सर्वसम्मत है। तब यह ब्राह्मण-की वेदताका परिचायक है। 'नेमे देवा नेमेऽसुराः' इत्यपि निगमो भवति' (नि. ३।२०) इसकेलिए श्रीब्रह्ममुनि लिखते हैं 'ब्राह्मणम्' कि-... ब्राह्मणका वचन है। यदि किसी कृष्ण सं. में दिखाया जावे, उसमें ... भी 'ब्राह्मणों'का मिश्रण मानते हैं। तब 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' सिद्ध होगया।

(५१) पृ. १३२। यदि वादी 'मन्त्रान् सम्प्रादुः, वेदं च समाम्नासिषुः' निरुक्तके इस वचनमें मन्त्रसे भिन्न 'वेद' शब्दको शाखा... उपवेदवाचक मानता है, तो उसे बधाई हो; अब शाखा भी वेद होगईं, हमारा भी इष्ट यही था। अब वादीका क्या सधा? यहां 'चौबे गये थे छब्बे बनने दुबे होकर आये'। अत्र 'मन्त्र' वेदसे ... होनेसे वेद न रहा, शाखा वेद होगईं। तब ब्राह्मणको वादीने ... क्यों नहीं माना? क्या ब्राह्मणने वेदको वादीके अनुसार ... विस्तीर्ण नहीं किया? वस्तुतः 'मन्त्र' से पृथक् गृहीत 'वेद' शब्द ब्राह्मणवाचक है। ११३१ शाखाओंका तो 'मन्त्रै' से ही ग्रहण है, है, क्योंकि—वे मूलमन्त्रभाग हैं। उपवेदको कहीं भी 'वेद' नहीं माना; अतः वादीका 'उपवेद' अर्थ करना निर्मूल है। सभी शाखाओंकी ... पूर्वी जिसमें वादीकी चार माध्यन्दिनी आदि शाखाएं भी सम्मिलित अपनी-अपनी संहितामें 'नियत' होती हैं। यदि वादी यह न ...

उसकी तथाकथित मूलसंहिता ऋग्वेद सं. के जो मन्त्र यजुः, साम, अथर्व सं. में कुछ हेरफेरसे आते हैं, वादीको उन्हें मन्त्रभाग वा वेद न मानना पड़ेगा।

(५२) आगे श्रीयास्कका 'शिशिरं जीवनाय कम्' यह वादीने उद्धरण दिया है, उसकी ऋसं. में 'हविषा जीवनाय कम्' है, शेषभाग कहांका उद्धरण है, यह वादीको पता नहीं लग सका। इससे तो उसने स्वयं स्पष्ट कर दिया है कि—सभी उपलब्ध-अनुपलब्ध शाखा तथा ब्राह्मण शास्त्रानुसार वेद हैं। अथवा यास्कसे प्रमाणित ऋग्वेदसं. वादीकी शाकलीसं. से कोई भिन्न थी। तभी तो श्रीयास्कने आर्यसमाजाभिमत शाकलसंहिताकी त्रुटि बताई है। 'भद्रं वद दक्षिणतः' यह ऋचा श्रीयास्कने ऋक्परिशिष्टसे दी है; वह परिशिष्ट भी वेद सिद्ध हुआ। काशीशास्त्रार्थमें स्वा. द. ने ब्राह्मणभागको वेद माना है; उसकी कई बातें आर्यसमाजियोंने बदल दी हैं, और टिप्पणी तो बिल्कुल ही गलत दी है। इस विषयमें 'आलोक' (९) को देखिये।

पृ. १३३। 'वेद' शब्द समुदायवाचक है, समुदाय-शब्द अवयवपरक भी होता है—'समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते' (पस्पशा०) यह भाष्योक्त न्याय लोक-सिद्ध भी है। वादी दिल्लीमें रहता है। 'दिल्ली' समुदायका नाम है; तब क्या वह सारी दिल्लीमें व्यापक है ? नहीं; किन्तु दिल्लीके एकदेशमें आसफअली रोडमें रहता है। पर पूछनेपर अपने देश वालोंको कहता है कि-मैं 'दिल्ली' में रहता हूँ'! क्योंकि-समुदायवाचक 'दिल्ली' अवयवका नाम भी होता है। तब समुदायवाचक 'वेद' के मन्त्र-ब्राह्मणोभयात्मक होनेसे उक्त न्यायसे वेदके उदाहरण देनेकी आवश्यकता होनेपर केवल मन्त्रभाग (समस्त शाखाभाग) भी उदाहृत किया जा सकता है, केवल ब्राह्मणभाग भी। यह बात स्वाभाविक है।

'आम' समुदायवाचक शब्द है। उसकी दो-तीन फांकें काटकर किसी ने खाई हों; तब भी वह यही कहेगा कि—मैंने 'आम' खाया है। शेष

दो-तीन फांकें अपने बच्चोंको खिलावे; तब भी यही कहा जावेगा कि—बच्चोंको भी मैंने आम खिलाया है। उसमें 'आम' कहनेपर समूचे वनका अर्थ नहीं निकलता' यह वादीका अर्थ निकालना बता रहा है कि—वादी इस न्यायको नहीं समझ सका। इसको हम बहुत बार स्पष्ट कर चुके हैं। वादी इसका उल्टा अर्थ कर रहा है, वह अवयवसे समुदायका अर्थ ले रहा है—। केवल रोड़ा अटकानेकेलिए वादीने अपनी नासमझीका प्रयोग किया है। दालचीनी-एक समुदाय-शब्द है, वह सारी छालको भी कहा जायगा; उसके अवयवको भी। इस प्रकार 'वेद' समुदाय-शब्द होनेसे सब शाखा-ब्राह्मणवाचक होगा; केवल शाखाका भी, केवल ब्राह्मणका भी।

(५३) 'ब्राह्मणवसिष्ठ' न्यायसे 'छन्दोब्राह्मणानि' के पार्थक्यका समाधान होजाता है। सो वसिष्ठजीके ब्राह्मण होनेपर भी उनकी विशेषता बतानेकेलिए जैसे वसिष्ठजीको ब्राह्मणसे पृथक् कहा गया है, वैसे ही ब्राह्मणभागके छन्द होनेपर भी ब्राह्मणभागकी विशेषता बतानेकेलिए 'तनादिकृञ्भ्य उः' (३।१।७९) में तनादिसे पृथक् तानादिक भी कृञ्के ग्रहण की भान्ति 'ब्राह्मण' को भी 'छन्द' से पृथक् कहा गया है, इसीप्रकार 'वैशेषिक-दर्शन' में भी। इसीलिए 'छन्दोब्राह्मणानि' सूत्रपर 'काशिका' में भी कहा गया है—(प्र.) ब्राह्मणग्रहणं किम्, यावता छन्द एव तद् (ब्राह्मणम्)' ? (उ.) ब्राह्मण-विशेषप्रतिपत्त्यर्थम्'। इससे वादीके आक्षेपका परिहार होगया।

जोकि यहां 'वेदसंज्ञाविमर्श' का अनुकरण करके वादीने लिखा है—'जहां सब ब्राह्मण ही ब्राह्मण हैं, और वसिष्ठ भी ब्राह्मण हों, वहांपर तो 'ब्राह्मणवसिष्ठ' न्याय कुछ समयकेलिए लागू होजाता है।'

तब वादीने स्वयं ही उक्त न्याय जब मान लिया; तो वसिष्ठजीको अब्राह्मण कहता ही कौन है ? विश्वामित्रके ब्राह्मण-अब्राह्मणतामें लोगों का मतभेद था; पर वसिष्ठजीकी ब्राह्मणतामें तो किसीको भी विप्रतिपत्ति नहीं। इसीप्रकार ब्राह्मणभागको भी सभी प्राचीन, छन्द (वेद)

मानते ही हैं। काशिकाकी सम्मति तो हमने बता ही दी। शेष प्राचीनों की सम्मतियाँ 'आलोक' (६) में देखिये, स्वा. द. जी भी पहले यही मानते थे—यह हम नवम पुष्पमें 'काशीशास्त्रार्थ' समीक्षामें लिख चुके हैं, वादीके आक्षेपका परिहार हो ही गया।

जोकि वह आगे लिखता है—'परन्तु जहां वसिष्ठ ब्राह्मणपुत्र न हों, 'गणिका-गर्भसम्भूत' माननेवालोंके यहां तो यह न्याय सर्वथा ही व्यर्थ है'। यह वादीका कथन भी व्यर्थ है। वसिष्ठजीकी देवाप्सरा उर्वशीसे **मानसिक उत्पत्ति हुई थी, वे उसके गर्भसे उत्पन्न नहीं हुए थे**। वसिष्ठजी एवं अगस्त्य, ब्राह्मण-मित्रावरुणके वीर्यसे उत्पन्न हुए थे; अतः वीर्यमूलक उत्पत्तिवश वे ब्राह्मण ही थे, 'तस्माद् बीजं विशिष्यते' (१०।७२.६।३५) यह मनुजीका सिंहनाद है। उन्हें **कोई शूद्र कहता ही नहीं**। भविष्य-पुराणके उक्त वादीके सङ्केतित वचनमें तो **पूर्वपक्ष** है, लोककी असत्प्रसिद्धिके कारण वहां पूर्वपक्ष किया गया है। लोककी असत्प्रसिद्धिके कारण ही कर्णको क्षत्रिय होनेपर भी 'वेणीसंहार' में 'राधागर्भभारभूत' रूपमें सूतपुत्र कहा गया है। कर्ण तो फिर भी असत्प्रसिद्धिवश 'सूत' कहा जाता था; पर 'वसिष्ठ' जी तो कभी भी, कहीं भी **'अब्राह्मण' नहीं कहे गये**। उन्हें कहीं भी कोई भी 'शूद्र' नहीं कहता। इसमें **पौराणिक-इतिहास साक्षी है**। वेदने भी वसिष्ठजी को 'ब्रह्मन्' (ऋ. ७।३३।११) कहकर 'ब्राह्मण' ही कहा है। तब यह बाधा खड़ी करनी व्यर्थ है। क्या वादी वर्ण-व्यवस्था जन्मना मानता है? यदि ऐसा हो, तो बधाई हो। इस पक्षमें भी यहां ब्राह्मणका वीर्य है, और उत्पत्ति भी उर्वशीके निमित्त से हुई; उर्वशीमें शुक्रनिषेक नहीं किया गया। और न ही उर्वशीके गर्भसे ही उनकी उत्पत्ति हुई। केवल मनसे ही उत्पत्ति हुई—यह पुराणमें तो प्रसिद्ध है ही, निरुक्त (५।१३।१, ५।१४।१) और वेदमें भी प्रसिद्ध है—यह हम पूर्व ८३-८६ पृष्ठमें भी कह चुके हैं। उक्त बात बतानेवाला वेद-मन्त्र यह है—

'उतासि **मैत्रावरुणो** वसिष्ठ! **उर्वश्या ब्रह्मन्!** मनसोऽधि...' (ऋ. ७।३३।११) 'अप्सरसः परिजज्ञे वसिष्ठः' (ऋ. ७।३३।१२) मन्त्रमें वसिष्ठको ब्राह्मण कहकर सम्बोधित किया गया है, मित्रावरुण... लड़का और उर्वशीके मनसे [गर्भाशयसे नहीं] उत्पत्ति बताई गई। आर्यसमाजकी मूल ऋसं. में भी १-६ वसिष्ठपुत्राः, १०-१४ मैत्रावरुणि वसिष्ठ ऋषि, त एव देवताः' वसिष्ठजीको इस मन्त्रमें वर्णित किया गया है। यह इतिहास नित्य है; क्योंकि—ऋषियोंका सम्बन्ध वेदसे नि... हुआ करता है। इस प्रकार-जब वसिष्ठ ऋषि वादी-प्रतिवादी सभी... ब्राह्मण माने गये हैं; तब 'ब्राह्मण-वसिष्ठ' न्यायसे 'छन्दो-ब्राह्मणानि'... प्रत्युत्तर दे दिया गया। यहां वादीकी दयनीय दशा होगई है। यहां... बलीवर्द' न्याय अथवा 'विप्रपरिव्राजक' न्याय भी चरितार्थ किया जा सकता है। 'गणिकागर्भसम्भूतः' पूर्वपक्षका पद्य है—यह भ.पु. में स्पष्ट है। इसपर 'आलोक' (४) पृ. २६१—३०८ देखिये।

पृ. १३४। छन्दस् वा निगमको केवल मन्त्रभागकेलिए सनातनी भी नहीं मानते। वे भी छन्द और निगम वेदका नाम मानते हैं।... होता है मन्त्र-ब्राह्मणका समुदाय। हाँ, 'समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते' इस न्यायसे कहीं-कहीं 'छन्दः' तथा 'निगम' केवल मन्त्रभागकेलिए भी आते हैं; केवल ब्राह्मणभागकेलिए भी। यदि 'छन्दो-ब्राह्मणानि' इस पाणिनिसूत्रसे वादी ब्राह्मणको 'छन्दः' से पृथक् ... होनेसे 'छन्दः' नहीं मानता; तो इस प्रकारके पाणिनिसूत्र-'तनादिकृञ्भ्य उः' (३।१।७६)में भी तनादिसे पृथक् पठित 'कृञ्' धातुको भी क्या... 'तनादि' नहीं मानता? जैसे श्रीपाणिनिने तनादि भी कृञ् धातुको ... की विशेषता बतानेकेलिए (कि-अन्य तनादि धातु तो अनुनासिकान्त हैं, पर कृञ्धातु अजन्त है) तनादिसे भिन्न बता दिया; वैसे ही श्रीपाणिनि... अपने 'छन्दो-ब्राह्मणानि च' सूत्रमें उक्त सूत्रकी भान्ति ब्राह्मणको छन्द... होनेपर भी उसकी विशेषता बतानेकेलिए 'छन्दः' से पृथक् कहा है।

'इत्यपि निगमो भवति' पर जो वादीने लिखा है कि—'इसमें यास्क शाखाके वचन भी देता है, जबकि शाखा वेद नहीं, अपितु वेदके व्याख्यान हैं' इस लिखनेसे वादीकी बुद्धि पर दया आती है। वह यह बतावे कि—'निगम' वेदका नाम है-या नहीं ? यदि नहीं; तो इसमें प्रमाण बतावे। वादीके आचार्यने 'निगम' का अर्थ 'वेद' बताया है—यह हम पहले कह ही चुके हैं। यदि वादी कहे कि-'निगम' वेदका नाम है; तब यदि यास्क उसमें शाखा तथा ब्राह्मणके वचन देता है; तो क्या वे वेद सिद्ध न हुए ? वादी अपनी 'मूलसंहिता' की जो गलत रट लगाये हुए है; क्या वे उसकी संहिताएं शाखा नहीं ? अनुसन्धाता आर्यसमाजी भी इन्हें शाखा मानते हैं—यह हम पहले कह चुके हैं। तब तो फिर वे भी वेद सिद्ध न हुए। महाशय ! अपना ज्ञान बढ़ाइये। सभी शाखाएं मूलवेद हैं; कोई किसीका व्याख्यान नहीं। यह तो जो व्याख्यानपद मालूम होते हैं; वे सभी शब्द समाधिमें ऋषियोंको मिले, ऋषियोंने उनका भी प्रवचन कर दिया। (निरुक्त २।११।१) 'यज्ञेन वाचः पदवीमायन् तमन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्' ऋ. १०।७१।३) इसका श्रीभगवद्दत्तजी ने अर्थ लिखा है—'वाक् ऋषियोंमें प्रविष्ट हुई, उसी वाक्को ऋषियोंने देखा और सुना' (नि. भा. भू. पृ. ११) हां, ब्राह्मण मन्त्रभागके व्याख्यान हैं; वे भी अनुवादात्मक नहीं; किन्तु कहीं-कहीं व्याख्यान भी; और प्रायः उपबृंहक वा शेषपूर्ति करनेवाले हैं। वे 'मन्त्र' नहीं; और 'मन्त्र' 'ब्राह्मण' नहीं; पर वेद दोनों हैं। यह यदि वादी हृदयङ्गम कर ले; तो उसकी इस प्रकारकी वैकारिक लघुशङ्काएं बन्द होजावें।

'निगम' पदकेलिए श्रीसायणने भी ऋ. भाष्योपोद्घातमें लिखा है—'निगम' शब्दो वेद-वाची; यास्केन तत्र-तत्र, 'अपि निगमो भवति' इत्येवं वेदवाक्यानामवतारितत्वात्, (पूना सं. पृ. २८) इससे हमारा पक्ष सुस्पष्ट होगया कि—यास्कने निगममें वेद-वचन दिये हैं। उसमें शाखा—ब्राह्मण सभीके वचन, बिना विशेषता बताये उद्धृत करके

श्रीयास्कने उन्हें भी वेद सिद्ध करके हमारे पक्षको सुस्पष्ट कर दिया है।

(ख) यदि वादी श्रीसायणकी बात न माने, तो अपने 'अद्वितीय वेद-द्रष्टा भगवान्' की बातको तो मान लेगा कि—निरुक्तमें 'इत्यपि निगमो भवति' का अर्थ 'वेदका उद्धरण' है। देखिये—स.प्र. (७ समु. पृ. १२७) में स्वामी लिखते हैं—'इत्यपि निगमो भवति' 'इति ब्राह्मणम्' (निरु.) 'छन्दो-ब्राह्मणानि च' (अष्टा.) इससे भी स्पष्ट विदित होता है कि-वेद मन्त्रभाग और ब्राह्मण-व्याख्याभाग है'। ऋभाभू. पृ. ६१ में भी स्वामी लिखते हैं—'इत्यपि निगमो भवति' इति निरुक्ते; 'निगमो वेदो मन्त्रश्च' इति पर्यायी स्तः'। इन वचनों-द्वारा स्वा. द. निरुक्तके 'निगम' को वेद-वाचक मानते हैं। जब यास्कसे दिये हुए उसी निगमके वचन शाखा एवं ब्राह्मणोंमें मिलते हैं; तो वे वेद सिद्ध हो ही गये।

अथवा यदि स्वामीको पता नहीं था कि—निरुक्तमें 'निगम' के नामसे शाखा-ब्राह्मणोंके मन्त्र दिये हैं; इसलिए स्वामीने 'निगम' का अर्थ 'वेद' किया; तो वे वादीके अनुसार 'अद्वितीय—वेदद्रष्टा' कहां हुए ? वे वेदके विषयमें 'अल्पज्ञ' और अनाप्त सिद्ध हुए।

पृ. १३५ हम ब्राह्मण और छन्दः को एक नहीं मानते; क्योंकि—ब्राह्मण एकदेशी (अवयव) शब्द है, और 'छन्दः' मन्त्र-ब्राह्मणादि समुदायात्मक। अवयवसे बिना विशेष कहे—समुदायका ग्रहण नहीं होता; पर समुदायसे तो बिना विशेष कहे भी अवयवका ग्रहण होजाता है। 'ब्राह्मणे' वाला कार्य केवल 'ब्राह्मण' में होगा, मन्त्रमें प्रायः नहीं, पर 'छन्दसि' वाला कार्य दोनोंमें होगा। तभी तो 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वाच्यम्' इस छान्दस वार्तिकका उदाहरण भाष्यकारने कृष्णयजुर्वेदके ब्राह्मणका दिया है—'या खर्वेण पिबति'। अतः स्वामी वा शिष्य दोनोंका आक्षेप अनभिज्ञताका सूचक है। यदि 'ब्राह्मणे' की ही अनुवृत्ति रहती; तो 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' वाला कार्य मन्त्रभाग 'पुरुषमृगश्चन्द्रमसे' इसमें न होता। अब 'छन्दसि' रखनेसे मन्त्र-ब्राह्मण दोनोंमें होगया। इससे मन्त्र

ग्रौर ब्राह्मण तो दोनों भिन्न-भिन्न हैं, पर वेद दोनों ही हैं; इस बातका ज्ञान न होनेकी दुर्बलतासे ही वादियोंको बार-बार इसी प्रकारकी लघु-शङ्काएं हुग्रा करती हैं; जो उनके पक्षकी निर्बलताकी निशानियां हैं।

'छन्दसि' ग्रहण मन्त्र-ब्राह्मण दोनोंकेलिए होता है, यह हम कह ही चुके हैं; ग्रौर 'मन्त्र' शब्द मन्त्रभागकी सभी शाखाग्रोंकेलिए होता है—यह भी हम कह चुके हैं। पर जब छन्दके साथ या पहले 'मन्त्रे' ग्रा जावे; तो 'छन्द' शब्द 'ब्राह्मणभाग'केलिए ग्रवशिष्ट रह जाता है। जब 'छन्द' के साथ या पहले 'ब्राह्मणे' ग्राजावे; तो 'छन्दः' शब्द 'मन्त्रभाग' के लिए ग्रवशिष्ट रह जाता है; ग्रतः 'जुष्टार्पिते च छन्दसि' 'नित्यं मन्त्रे' तथा 'द्वितीया ब्राह्मणे' ग्रौर 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' इन सूत्रोंकी सङ्गति लग जाती है; पर यदि स्वा. द. जी का मत माना जावे, कि—'द्वितीया ब्राह्मणे' ग्रौर 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि'के ग्रानेसे पृथक् गृहीत 'ब्राह्मण' वेद नहीं रहेगा; तब उसी न्यायसे स्वा. द. जी के मतमें 'मन्त्रे श्वेतवह–' 'विजुपे छन्दसि' में भी मन्त्रभाग वेद नहीं रहेगा; क्योंकि—वे ऋभाभू. ग्रादिमें 'छन्द' का ग्रर्थ 'वेद' ही मानते हैं। इससे स्वामीके ही पक्षकी हानि है, हमारी नहीं।

'छन्दस्' से केवल 'वेद' स्वा. द. जीने ही लिया है; वे उद्धरण हम पहले कई बार दे चुके हैं; पर वादीका पक्ष तो स्वा. द. जीसे विरुद्ध ही है; ग्रौर ग्रार्यसमाजकी हानि करनेवाला है। यदि उसका पक्ष माना गया, तो **ग्रार्यसमाजको समस्त शाखाग्रोंको भी वेद मानना पड़ जायगा**; क्योंकि—'छन्द' वेदका ही नाम होता है, 'छन्द' शाखाका नाम किसी कोष में भी नहीं ग्राता।

(ढ) भागका किया हुग्रा ग्राक्षेप वादी ग्रपने—'ग्रद्वितीय वेदद्रष्टा भगवान्' दयानन्दपर करे, जोकि—उन्होंने 'द्वितीया ब्राह्मणे' ग्रौर 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' का ग्राक्षेप हम लोगोंपर किया है। वादी 'भगवान्' यह 'परमात्मा' का नाम मानता है। देखे वह ग्रपने शब्द—"ग्रौर [स्वामी] थे भगवान्के ग्रनन्य भक्त" (द.सि.प्र. पृ. २५१) तब वह भगवान् (परमात्मा)के दूसरे रूपसे पूछे। छन्दसे स्वामी वेदको लेते हैं; वे मन्त्रभागमात्रको लेते हैं; उसी हिसाबसे 'मन्त्रे श्वेतवह' 'विजुपे छन्दसि' का उनके पक्षमें भी दोष ग्राता है, फिर मन्त्रभाग भी उनके ग्रनुसार वेद नहीं रहता है। इसीलिए यह हमें लिखना पड़ा। वादी भी तो छन्द से 'वेद' लेता है, उसके पक्षमें भी दोष ग्राता है। शाखाग्रोंका नाम-छन्द है, इसका उसके पास कोई प्रमाण नहीं। यदि है; तो छन्द वेदार्थक होनेसे उसमें उदाहृत शाखाएं भी वेद हुईं। यदि 'छन्द' शाखाका नाम है; वेदका नहीं; तो वादीके वेद भी तो शाखाएं ही हैं; तब उनकी वर्णानुपूर्वीको भी भाषानुसार वह ग्रनित्य मान ले। ग्राम्नाय-वर्णानुपूर्वी जो 'नियत' बताई गई है, वहाँ 'नियत' का ग्रर्थ 'नित्य' नहीं है, यह हम पहले बता चुके हैं।

(ण) भागमें वादी कहता है— 'ग्रथर्ववेद (१५।६।११) में 'इतिहासश्च पुराणं च' में 'इतिहास-पुराण' का जो वर्णन है, वह ब्राह्मण-ग्रन्थों ग्रथवा श्रीमद्भागवतादिकेलिए नहीं है, (पृ. १३०) इसपर वादी ग्रपने 'ग्रद्वितीय वेदद्रष्टा भगवान्'के शब्द सुने। वे कहते हैं—'तमितिहासश्च पुराणं च' एतैः प्रमाणैः ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं जायते' (ऋभाभू. पृ. ९४) इससे प्रतीत होता है कि—वादीने स्वामीके ग्रन्थ भी ठीक-ठीक नहीं देख रखे; तभी तो वह पं० माधवाचार्यजीके लड़के श्रीप्रेमाचार्य शास्त्री जो हमारे भी शिष्य रहे हैं—से भी शास्त्रार्थमें हार गया था; इसीलिए उसने यह जो पुस्तक लिखी है—यह द. सि. प्र. नहीं है, किन्तु 'दयानन्द-सिद्धान्तसंहार' ही है।

जब मन्त्रभागने ब्राह्मणग्रन्थोंको भी याद कर लिया; तब उनकी वेदतामें किसका ननु-नच होसकता है? यह ब्राह्मण शब्द नपुंसक-लिङ्ग है; इसको मन्त्रभागने बड़ी प्रतिष्ठासे याद किया है, ग्रौर उसे परमात्मासे उत्पन्न माना है – 'तस्माद् जातं ब्राह्मणं ब्रह्मज्येष्ठम्' (ग्रथर्व. ११।८।३३.) 'तदाहुर्ब्राह्मणं महत्' (ग्र० १०।८।३३) 'ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं

यजुषा सह (११।७।२४) यहांपर भी उसी ब्राह्मणभागको परमात्मासे उत्पन्न हुआ माना है। यहांपर आर्यसमाजी वेदभाष्यकार श्रीजयदेवजी ने भी 'पुराण' का अर्थ 'ब्राह्मणभाग' माना है, यह हम पहले बता चुके हैं। उन्हीं ब्राह्मणोंके लौकिकरूपमें पुराणोंका संग्रह हुआ है, वे भी अनादि हैं, सो उनका भी यहाँ ग्रहण होजाता है। सो अब तथाकथित वादीके 'भगवान्' भ्रान्त हैं, या वादी; या दोनों भ्रान्त हैं, यह बताना वादीका काम है।

स्वा.द. जी ने यहां 'ब्राह्मणग्रन्थानामेव' में 'एव' शब्द लिखकर वेदमें 'पुराण'से ब्राह्मणभाग ही लिया है; 'ब्राह्मणविद्याओं और विज्ञानोंका नाम' उनने कहीं भी नहीं लिखा; यह वादीकी अपने बचावकेलिए स्वा. द. से विरुद्ध कृत्रिम वा निजकपोल-कल्पित 'गढन्त' है। वे विद्याएं वा विज्ञान किसी पुस्तकमें थे, वा केवल कथनमात्र? दोनों पक्षोंमें क्या प्रमाण? वादी इस बातको स्पष्ट सप्रमाण सिद्ध करे। वे विज्ञान वा विद्याओंके ग्रन्थ भी मन्त्रभागात्मक वेदसे पहले थे, वा पीछेके? यदि पीछेके; तो वादीके तथाकथित वेदमें पहलेसे उनका नाम कैसे आगया? या फिर इसी तरीकेसे ब्राह्मणभागका नाम मन्त्रभागमें पहले कैसे नहीं आ सकता?।

यदि वे विज्ञानके ग्रन्थ मन्त्रभागसे पहलेके थे तो मन्त्रभागकी आदिमता मारी गई?, यदि इसी मन्त्रभागमें ही वे विज्ञान थे; तो क्या उनका 'ऋचः, सामानि, छन्दांसि, यजुः' से ग्रहण नहीं था? इनके उच्छिष्टसे प्राप्त होनेसे फिर इन्हीं वेदोंके अन्तर्गत उन विज्ञानोंकी उच्छिष्ट से प्राप्तिकी पृथक् कहनेकी क्या आवश्यकता रहती है? यदि 'ब्राह्मण-वसिष्ठ' न्यायसे, वा 'गोवलीवर्द'-न्यायसे उसकी पृथक् कहनेकी विशेषता वादी बतावे; तो वही उसका उत्तर 'छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि' सूत्रमें भी हमारा होगा। वादीका आक्षेप स्वयं उसीसे समाहित होगया। महाशय, सनातनधर्मपर आक्षेप कर देना कोई सुगम-काम नहीं है।

यदि मन्त्रभागके ही कई स्थलोंको वादी 'पुराणेतिहास'-सञ्ज्ञक माने; तो वे स्वा. द. जी के अनुसार 'वेद' नहीं रहेंगे,--क्योंकि—ब्राह्मण-भागको 'पुराणेतिहाससंज्ञकत्वात्' इस अपने हेतुसे स्वा. द. जी ने उन्हें 'अवेद' बताया था; उसी हेतुसे वेदके वे पुराणेतिहास—संज्ञक स्थल 'वेद' नहीं रहेंगे। 'उष्ट्रलगुड' न्यायसे स्वामीके ही डण्डेसे स्वामीजीके ही पक्षकी रीढ़की हड्डी टूट गई? स्वामी जी अब वेंटनेके योग्य भी नहीं रह सके। सो महाशयजी! ब्राह्मणभागको परम्परासे प्राप्त वेदत्वसे काटना कोई 'खालाजीका घर' नहीं है।

क्या वादी उन ब्राह्मण वा पुराणोंके विज्ञानोंका तुलनात्मक विवेचन मन्त्रभागसे कर सकता है? वस्तुतः तो अपने पक्षके बचावकेलिए उसे यह कृत्रिमताएं करनी पड़ी हैं। जब इस अपने तर्कमें दम न होनेसे वादी ने अपने पक्षकी असफलता देखी, तब 'अथवा' करके वह अन्य उत्तर देता है—'इस पुराण-इतिहास-विद्यावाले एवं पुराण-इतिहास संज्ञावाले चारों वेदोंके मन्त्रोंका यहांपर ग्रहण है'।

वादी महाशय! अब बधाई लीजिये हमारी; अब वे पुराण-इतिहास-संज्ञक चारों वेदोंके मन्त्र भी 'वेद' न रहे; क्योंकि—आपके 'भगवान्'ने 'न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हति। कुतः? पुराणेतिहाससंज्ञकत्वात्' यह हेतु देदेकर ब्राह्मणभागकी वेदता हटाई है। तब 'पुराण-इतिहाससंज्ञा' वाले मन्त्र भी वादीके तथा वादीके भगवान्के अनुसार वेद न रहे। 'चौबे गये थे छबे बनने, दुबे बनकर आये'। महाशयजी गये थे ब्राह्मण-भागकी वेदता काटने, उल्टे मन्त्रभागकी वेदता भी काट बैठे। अब वादी को बधाई देते हुए हम इतिहास-पुराणसंज्ञक उन मन्त्रोंके उपस्थित करने की प्रेरणा भी वादीको करते हैं, जिससे जनताको भी वह लाभ प्राप्त हो जावे। या फिर स्वामीके इस हेतु को 'हेत्वाभास' माने।

पृ. १३६ 'त्र्यायुषं जमदग्नेः' के विषयमें 'आलोक' (७) पृ. ७९२-

७६६ में देखना चाहिये, अथवा छठे पुष्प (पृ. ६७-७१) में देखो।

'विद्वांसो हि देवाः'

(५४) पृ. १३७ 'विद्वाँसो हि देवाः' में 'देव' शब्द विद्वत्पर्याय नहीं, किन्तु भाव यह है कि-चूंकि देवता जाननेवाले होते हैं, इसलिए 'उशिजो वह्नितमान्' मन्त्रमें उनका 'उशिजः' विशेषण दिया गया है। इस विषयमें 'आलोक' (४) (पृ. ४२१--४३७) में देखना चाहिये। 'यजमानो वै यूपः' में 'यूप' को यज्ञके कार्यमें व्यापृत होनेसे 'यजमान' कहा जाता है, इससे पर्यायवाचकता नहीं होजाती। 'शृणोत ग्रावाणः' में 'पत्थरोंका सुनना' महाभाष्यकारने ३।१।७ सूत्रमें सभी वस्तुओंको चेतन मानकर बताया है—'सर्वस्य वा चेतनावत्त्वात्' अथवा सर्वं चेतनावत् इत्यादि। इस विषयमें हमारा अभिप्राय 'आलोक' (५) में 'गायत्रीमन्त्रकी महत्ता' निबन्ध वा अन्य पुष्पमें देखें।

'प्राणा वै ग्रावाणः' आदिमें भी कहीं पर्यायवाचकता नहीं। अर्थवादसे उनको तत्तच्छब्दवाच्य कहीं-कहीं कहा जाता है; जिसमें साक्षी 'बहुभक्ति-वादीनि ब्राह्मणानि भवन्ति' (७।२४।६) यह श्रीयास्ककी है। 'भक्तिवाद' का भाव 'अर्थवाद' है; पर्यायवाचकता नहीं—यह प्रकरणपर स्वयं घटा लेना चाहिये। 'आयुर्वै घृतम्' (कृ. य. तै. सं. २।३।२।२) में क्या 'आयु' को 'घृत' का, वा घृतको आयुका पर्यायवाचक मान लिया जायगा? कभी नहीं। इस प्रकार 'विद्वाँसो हि देवाः' में भी 'देव' -शब्द 'विद्वान्' का पर्यायवाचक नहीं। इसपर 'क्या विद्वान् मनुष्य ही देव हैं?' यह निबन्ध 'आलोक' (४) में देखना चाहिये। इससे वादीकी सभी शङ्काएं मिट जावेंगी।

पृ. १३८ 'देवयोनि मनुष्यसे भिन्न होती है' यह वेदमें ठसाठस भरा है, इसपर 'आलोक' (४) देखिये। देवता विद्वान् (जानने वाले) होते हैं, अविद्वान् नहीं। उन्हीं देवताओंकेलिए कहा गया है—'विद्वाँसो हि देवाः'। 'विद्वांसो वै देवाः' यह पाठ वादीने स्वयं गढ़ा है। वहांपर 'हि'

हेतु-अर्थमें है, पर्यायवाचक नहीं। यह शतपथमें देखा जा सकता है। 'तेषां मनुष्यवद् देवताभिधानम्' यहांपर 'देवता' का अर्थ 'वेदमन्त्र' कर देना वादीकी 'बनावट' है कि—कहीं देवयोनि न सिद्ध होजावे, और देवपूजा गले न आ पड़े। वादी अपनी शैलीसे 'खर्बूजे' का 'बिल्ली' अर्थ भी कर सकता है। यह अर्थ उसने आर्यसमाजी भाष्योंसे लिया है, जो अप्रामाणिक है। यदि देवता कोई भिन्न योनि नहीं है; तो यहां 'देवता' और 'मनुष्य' का भिन्न-भिन्न नाम क्यों रखा गया है? और फिर मध्यम अन्तरिक्ष-स्थानी तथा द्युस्थानी देवता क्या कोई विद्वान् मनुष्य हैं? स्वा. द. जीने तिथियों तथा नक्षत्रोंके देवता भी संस्कारविधिमें लिखे हैं, उनकी पूजार्थ उनके नामसे स्वामी आहुति भी अग्निमें डलवाते हैं; तब यह कोई विद्वान् मनुष्य हैं? उनको आहुति भी वादी मूर्तिपूजा मानेगा। 'तेषां मनुष्यवद् देवताभिधानम्' का यह अर्थ है कि—जिस प्रकार हम संस्कृत शब्दोंसे मनुष्योंसे व्यवहार करते हैं; इस प्रकार द्युलोकस्थानी देवताओंसे 'द्युस्थानो भवतीति वा, यो देवः स देवता' (निरु. ७।१५।१) भी संस्कृत-शब्दोंका व्यवहार कर सकते हैं। इसी कारण जब हम देवता-सम्बन्धी यज्ञ करते हैं; तब भी 'वरुणाय स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा' आदि संस्कृत शब्दोंमें कहते हैं। अथवा—देवपूजा करें, तब भी कहना पड़ता है—'इन्द्राय नमः' 'वायो! आयाहि दर्शत! इमे सोमा अरंकृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम्' हे वायु देवता; इस सोम इसका पान करो, हमारा आह्वान सुनो।

फिर प्रश्न हुआ कि—हम देवताओंका यज्ञ वा आह्वान अपनी संस्कृत भाषामें क्यों न करें; उसमें वेदमन्त्रोंके उच्चारणकी क्या आवश्यकता है? उसमें श्रीयास्कने उत्तर दिया—'पुरुषविद्याऽनित्यत्वात्—' अर्थात् पुरुषकी विद्या अनित्य हैं, सो पुरुषकी रचना में कुछ दोष देखकर देवता कदाचित् पसन्द न करें; और हमसे कहीं क्रुद्ध न होजावें; इसलिए वेदमें कर्मसम्पादक मन्त्र संगृहीत हैं। वेद देवताओंकी अपनी वाणी होती है; उसका यदि शुद्ध प्रयोग किया जावे; तो वे नाराज नहीं होते—यह यहां

भाव है। इससे श्रीयास्कने भी वेदोंका विषय यज्ञ सूचित किया है। इस यास्कीय वाक्यसे देवता और मनुष्योंका भेद भी स्पष्ट होजाता है।

स्वा. द. के द्वारा परमात्माको सोमरसका भोग।

(५५) हमने यहां ऊपर 'वायवायाहि दर्शत' यह वेदमन्त्र लिखा है, प्रकरणवश यहां वादीके द. सि. प्र. पृ. २३७ में स्थित कथनकी भी कुछ आलोचना कर दी जाती है। 'आर्याभिविनय'में स्वा.द. ने यहां भगवान्‌को सोमरसका नैवेद्य देकर मूर्तिपूजा की है। यहांपर 'हरेरप्रत्यक्षत्वात्··· भोजनकरणाऽभावात् तन्नैवेद्यकरणं व्यर्थम्। इदन्तु छलमेवास्ति। अङ्गुष्ठदर्शनेन घण्टानादं कृत्वा स्वभोजनाभिप्रायस्य विद्यमानत्वात्' (शिक्षापत्रीध्वान्त० पृ. ८१८ शताब्दी सं०) यह स्वामीजीका आक्षेप स्वामीजी पर ही घटता है।

'पाहि' का अर्थ स्वा. द. जी के 'सर्वात्मासे पान करो' इस वाक्यके अनुसार 'सोमरसका पीना' ही है, पर वादीने ध्येय ही यही बना रखा है कि—जहां स्वा. द. के वाक्य वा अर्थमें स. ध. की गन्ध आवे; उसे तोड़-मोड़कर बदल देता है। यही हाल वह वेदादि सभीका करता है। उसे यह नहीं डर आता है कि—इस पापका फल कभी उसे भोगना ही पड़ेगा। 'छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवादी अति तं सृजन्तु' (अ. ४।१६।६)। सिर्फ अपने गलत पक्षको सिद्ध करनेका उसे ध्यान रहता है कि—वास्तविक बात देखनेसे कहीं अपने सम्प्रदायसे मिलनेवाली वृत्तिमें बाधा न पड़े। इस विषयमें यद्यपि पहले पृ. ३५०-३५३ में लिख चुके हैं, पर वादी यह न कहे कि—उसे यहीं लिखना चाहिये था; तदनुसार हम यहां भी लिखते हैं।

वादी लिखता है—'इमे सोमा अरंकृताः' मन्त्रकी 'पाहि' क्रियाका भाव व्यक्त करनेकेलिए ब्राकेटमें 'सर्वात्मासे पान करो' लिखा है—। यहां 'पान' का अर्थ 'पीना' नहीं है! 'पा' पीने अर्थकी धातु भी है, और 'पा' रक्षा अर्थकी भी धातु है। यहांपर 'पान' शब्द 'पा रक्षणे' धातुसे

निष्पन्न स्वीकार किया गया है, इसका अर्थ सर्वात्मासे 'रक्षा करना' है।

इस वादीसे पूछना चाहिये कि—ब्रैकेटमें जो लिखा जाता है, वहां स्पष्टताकेलिए 'सुगम' वा 'प्रसिद्ध' शब्द रखा जाता है, वा कठिन एवं अप्रसिद्ध शब्द? क्या 'मघवा मूलं बिडौजाः टीका' वाली कहावत तो स्वामीजी नहीं कर रहे थे? फिर तो वादी 'द्विषतो वधाय' इस काण्व-संहिताके मूलपाठके पदकी 'भ्रातृव्यस्य वधाय' इस अपनी माध्यन्दिन-संहिताके पाठको व्याख्या वा स्पष्टता क्यों नहीं मान लेता? पृ. ७२ में उसने उल्टा क्यों लिख दिया? क्या कोई हिन्दीभाषामें भी 'रक्षा' अर्थ वाली 'पा रक्षणे' धातुका ल्युट्प्रत्ययमें प्रयोग करता है? वादी क्या कभी अपने समाजमें परमात्मासे रक्षाकी प्रार्थना करता हुआ कहता है—'हे परमेश्वर! आप हमारा सर्वात्मासे पान करो'। बल्कि इस प्रयोगको सुनकर हिन्दीके कोविद उसपर हँसेंगे।

स्वा. द. के 'आर्याभिविनय' में यह शब्द हैं—'हे अनन्तबल परेश! वायो! दर्शनीय······हम लोगोंने अपनी अल्प शक्तिसे सोमवल्ल्यादि-औषधियोंका उत्तम रस सम्पादन किया है, और जो कुछ भी श्रेष्ठ पदार्थ हैं; वे आपकेलिए उत्तमरीतिसे हमने बनाये हैं, और वे सब आपके समर्पण किये गये हैं, उनको आप सर्वात्मासे स्वीकार करो (सर्वात्मासे पान करो)। हम दीनोंकी दीनता सुनकर जैसे पिताको पुत्र छोटी चीज समर्पण करता है, उसपर पिता अत्यन्त प्रसन्न होता है, वैसे आप हमपर [सोमवल्ल्यादि रस एक छोटी चीज समर्पणकेलिए प्रसन्न] होओ' (पृ. १५)

विद्वान् पाठक इन स्वामीके वाक्यों को भली-भांति देखें। अब वे बतावें कि—'हे परेश! यह रस हमने बनाये हैं, और वे आपको समर्पण किये जाते हैं इन्हें आप स्वीकार करो और हम पर प्रसन्न होओ, उन रसोंका पान करो' ऐसी वाक्ययोजनामें कोई समझदार व्यक्ति 'इन रसादि पदार्थोंकी रक्षा करो' यह अर्थ कर सकता है? वा 'सोमरसकी रक्षा

करने' का तात्पर्य निकाल सकता है ? परमात्माको वे रस जब समर्पण किये गये, और वे उन्हें स्वीकार (पान) करनेकेलिच प्रार्थना की गई; तो इसका यही तो तात्पर्य निकलेगा कि—हमसे दी हुई यह तुच्छ रसकी भेंट स्वीकारिये, और इस रसको पीजिये। जब वे रस उसी परेशकेलिए अपनी अल्पशक्तिके अनुसार तैयार किये गये, और उन्हें समर्पण किया गया, और स्वीकार करनेकेलिए कहा गया, तब रसका 'पीनेका' अर्थ न होकर भला 'इन पदार्थोंकी जो आपको समर्पण किये हैं--रक्षा करो' यह अर्थ वा तात्पर्य भला कैसे हो सकता है ? यह तो वादीने कमाल कर दिया, 'एक चोरी दूसरी सीना-जोरी'। 'करः खलु निवार्यते प्रहरतो, न वक्तुर्मुखम्'।

वादी किसी अतिथिको कहे कि—महाशय जी, यह दूध हमने आपके समर्पण किया है, आप इसे सर्वात्मासे स्वीकार करो—पान करो' तब इसका क्या यही अर्थ होगा कि—'इस दूधको पीना मत, हमने 'पान' का अर्थ 'रक्षा' रखा है। सो इसकी रक्षा करना, बचाव करना, इसको बना रखना'। वाह, साम्प्रदायिक पक्षपात ! तू धन्य है !!! 'स्वीकार करो' यह व्यङ्ग्यसे कहा गया; फिर उसे स्पष्ट करनेकेलिए वाच्यरूपमें 'पान करो' कहा गया; तब क्या स्वीकारका अर्थ संरक्षण होगा ? 'स्वीकार' का अर्थ संरक्षण भला कैसे हो सकता हैं ? कहा गया रसको स्वीकार एवं पान करनेकेलिए; पर उस परेशको वादीने धमका दिया, कि—'पीना मत, इसकी पहरेदारी करना'। क्या यहां स्वा.द.जीका अपना 'शिक्षापत्री-ध्वान्त' वाला वाक्य नहीं घट रहा कि – 'परमात्मा तो अप्रत्यक्ष हैं, रस पीवेंगे नहीं; फिर उन्हें रस पीनेकेलिए कहना तो छलमात्र है, यह भगवान् को अंगूठा दिखाना है, इसमें अपने खाने-पीनेका अभिप्राय है' (पृ. १८)?

वस्तुतः स्वा.द.जीने परमात्माको सोमरसका नैवद्य देकर मूर्तिपूजाके आगे सिर झुका दिया, क्योंकि पान मुखके बिना हो नहीं सकता, तब परमात्माको साकार बनाना पड़ा। साकार एवं एकदेशी बना दिया; तो

मूर्तिपूजा स्वतः सिद्ध हो गई। सोमरस तो वादीके पास एकदेशमें [illegible] था; पर परमात्मा हुआ सर्वदेशी; तब सर्वदेशीको उपासनाकेलिए एकदेशी बनाना, यही तो मूर्तिपूजा होती है !

वादीसे प्रष्टव्य है कि—'पा पाने' धातुके 'पान' का अर्थ क्या 'पीना' न करके उसका 'रक्षण' अर्थ करोगे ? यदि वादी कहे कि--मन्त्रमें 'पाहि' शब्द है, जिसमें 'पा-रक्षणे' धातु है, 'पा-पाने' नहीं। यदि 'पा-पाने' धातु होती, तो उक्त वेदमन्त्रमें 'पिब' होना चाहिये था। हमें वादीसे [illegible] बच्चोंवाली लघु-शङ्का कर देने की आशा तो नहीं करनी चाहिए; [illegible] ऐसा हैं; तो हम उसकी असामयिक लघुशङ्का दूर करनेका उपाय बताते हैं, वह उसे याद रखे।

स्वा.द.जीने जो यहां 'पाहि' का 'पिब' पीना अर्थ किया है, [illegible] उन्होंने अपने मान्य निरुक्तसे किया है। देखिये उक्त मन्त्र पर श्रीयास्क[illegible] व्याख्या—'वायो ! आयाहि दर्शनीय ! इमे सोमा अरंकृताः—अलंकृताः। तेषां पाहि-पिब। शृणु नो ह्वानम्' (१०।२।१) यह आह्वान भी मूर्ति-पूजामें होता है, स्वामी तो सर्वव्यापकका आवाहन स.प्र. ११ मूर्तिपूजा-प्रकरणमें नहीं मानते। इस विषयमें ३५३ पृष्ठ देखें।

अब वादी बतावे कि—निरुक्तकारने 'पाहि' का 'पिब' अर्थ किया है, और स्वा.द.जीने उसीके अनुसार हिन्दी अर्थ 'पान' किया है, तब क्या [illegible] का 'रक्षा कर' यह अर्थ होगा ? सोमरस वादीने जब परेशको समर्पणके[illegible] तैयार किया है; तब उसके रक्षणकी बेतुकी अप्रासङ्गिक प्रार्थना कैसी ? फिर तो वादी 'ऊंट' का अर्थ 'बिल्ली' भी कर सकता है, और 'दि[illegible]' का अर्थ कबूतर भी कर सकता है। वस्तुतः वादी डरता है कि—'परमात्मा द्वारा पीना' अर्थ करनेसे 'गये थे रोजे बखशवाने, लेकिन न[illegible] गले आ पड़ी' वाली कहावतके अनुसार हमसे खण्डित मूर्तिपूजा ह[illegible] गले आ पड़ेगी; और मूर्तिके खण्डक आर्यसमाजकी नाक कट जा[illegible]; यह सोचकर एक नया लटका लगाया कि—यहां 'रक्षा' अर्थ कर[illegible]

कौन है यहां कहने-सुनने वाला, यहां तो भगवान्‌की कृपासे 'सर्वं वै... मण्डलम्' है, हम जैसा भी अर्थ वा अनर्थ कर देंगे; वैसा मानने वाले, बल्कि उसका समर्थन भी करने वाले 'आर्य भाई' निकल ही आएंगे। हम वड़ी सभाके कृपापात्र सहज वन जाएंगे; और वन भी गये।

यह एक नई सूझ वादीको नहीं आई कि—'हम लोग स्वामीकी भूलोंको सदा छापेखाने वालोंके सिर पर मढ़ दिया करते हैं, और स्वामी का हम लोग वचाव कर दिया करते हैं; सो यहां भी हम वही पुराना तरीका अपनाएं कि—जो कि स्वामीने 'पान करो' लिखा है, छापने वाले सनातनधर्मी लोग स्वामी पर कृपा करके स्वामीके सिद्धान्तविरुद्ध गलतियां कर डालते थे; यहां था 'सोमरसका पालन करो' जो 'पा रक्षणे' के अनुकूल है; पर छापने वालोंने स्वा.द.के सिद्धान्तविरुद्ध 'पालन' में से 'ल' उड़ा दिया, और 'पान' छाप दिया; तव यहां 'रक्षण' अर्थ ठीक है'।

वादी हमारे इस नये अर्थको देखकर वड़ा पश्चात्ताप कर रहा होगा कि--यह सूझ मुझे द. सि. प्र. छपनेके समय क्यों न आई; पर महाशय; यह सूझ यदि आपको आ भी जाती; तव भी कोई फल नहीं था; इससे आपको प्रसन्नता प्राप्त नहीं होनी थी; क्योंकि--स्वामी जी पूर्व लिख गये हैं—'उन समर्पित किये गये रसोंको आप सर्वात्मासे स्वीकार करो' तव 'स्वीकार करो' का तात्पर्य 'पान करो' ही हो सकता है 'पालन करो' कभी नहीं। अतः स्वामीने ही स्वयं वादीकी प्रसन्नता छीन ली। इस समय वादी स्वामी पर क्रुद्ध होकर उसे गाली निकाल रहा होगा।

वादीका प्रश्न फिर हम पर भी होगा कि--'मन्त्रमें 'पाहि' है, जो 'पा रक्षणे' धातुका है। 'पा पाने' का तो 'पिव' ही वना करता है--यह एक स्कूली थोड़ी संस्कृत जानने वाला छात्र भी जानता है, आप 'पाहि' का 'पिव' अर्थ करके पाणिनीय धातुपाठ पर क्यों डाका डाल रहे हैं?

हमें ऐसे प्रश्न की वादीसे आशा तो नहीं करनी चाहिये; पर वादी द्वारा 'पान' का 'रक्षा करना' अर्थ देखकर उसके द्वारा वैसे प्रश्नका

अनुमान करना पड़ता है। इस पर हम उसे प्रत्युत्तर देते हैं—'पाहि' का अर्थ 'पिव' पाणिनीय व्याकरण की वैदिक-प्रक्रियाके अनुकूल भी है। देखिये—

'व्यत्ययो वहुलम्' (पा. ३।१।८५) तथा 'वहुलं छन्दसि' (पा. २।४। ७३) इत्यादि सूत्रोंसे वेदमें विकरणोंका व्यत्यय भी हो जाया करता है। जैसे वेदमें 'हनति' में अदादिकी धातु होने पर भी २।४।७३ से 'शप्' का लुक् नहीं हुआ है, और भ्वादिकी 'त्रैङ् पालने' (भ्वा. अ. आ.) धातुका लोट्में शप् होने पर 'त्रायध्वम्' वनता है, पर वेदमें शप्का लुक् करके 'त्राध्वं नो देवाः' (ऋ. २।२९।६ में) 'त्राध्वम्' वन जाता है, वैसे 'इमे सोमा अरंकृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम्' (१।२।१) इस ऋग्वेदके मन्त्रमें भी 'पिव' के शप्का लुक् होकर शित् न रह जानेसे 'पिव' आदेशकी प्रसक्ति न होनेसे 'पाहि' वन जाता है, पर धातु यहां 'पा पाने' ही है, अतः उसका अर्थ भी 'पिव' ही होगा।

इसलिए श्रीसायणाचार्यने भी उक्त मन्त्रके भाष्यमें लिखा है—'तान् सोमान् पाहि-पिव इत्यर्थः। तत्पानार्थमस्मदीयमाह्वानं शृणु'। 'पाहि' इत्यत्र पिवादेशाभावः छान्दसः'। आगे श्रीसायणने इसमें श्रीयास्ककी साक्षी भी दी है—'तेषां पिव, शृणु नो ह्वानम्' (नि. १०।२) यहां 'तान्' के स्थान 'तेषां' यह 'चतुर्थ्यर्थे वहुलं छन्दसि' (पा. २।३।६२) इस सूत्रसे षष्ठी हुई है।

इसी 'पीने' अर्थका प्रसङ्ग होनेसे--उक्त मन्त्रके ही अग्रिम मन्त्र 'वायो! तव सोमपीतये' (१।२।३) में 'सोमपीतये' आया है। क्या वादीकी शक्ति है कि--यहां 'सोमपीति' का अर्थ 'सोमपान' न करके 'सोम का रक्षण' अर्थ करे? यदि वह करेगा; तव घुमास्थागापा' (पा. ६।४। ६६) सूत्रकी 'काशिका' उसे रोकेगी—'पातेरिह ग्रहणं नास्ति, लुग्विकरण-त्वात्' अर्थात् यहां 'पा पाने' इष्ट है, 'पा रक्षणे' नहीं; क्योंकि पाणिनि साहचर्यनियमका वड़ा विचार रखता है—'स्था, गा, पा' तीनों भ्वादिकी

धातु इकट्ठी रखी हैं।

यदि फिर भी वादी हमारी बात न मानकर यहां 'पाहि' का 'पान' अर्थ असम्भव माने; 'रक्षण' अर्थ ही सम्भव माने; तब हम इसे स्पष्ट करनेवाला और उसमें साक्षीभूत उसकी संहिताका ही 'पिव' शब्द वाला स्पष्ट मन्त्र दिखलाते हैं। वादी हृदयको थाम कर देखे। वह यह है—'वायो! आयाहि वीतये जुषाणो हव्यदातये। पिबा सुतस्य अन्धसः' (ऋ. ५।५१।५) यहां भी वायुको ही 'सुतस्य पिब' सोमरसपानकेलिए और 'वीतये' (भक्षणाय) खानेकेलिए प्रार्थना की गई है। इस विषयमें हम वादीको बहुतसे वेदमन्त्र दे सकते हैं। अब उस सोमरस पर क्या आर्यसमाजियोंका डाका पड़ रहा था कि—'मूर्तिपूजाके डरके मारे वे उस सोमरसको गिरा न दें, अतः उसमें सोमरसकी वादीने रक्षाकी प्रार्थना कर दी है।

आशा है—अब वादी परमेश्वरको स्वयं भी सोमरस वा अन्य किसी वस्तुका भोग लगाना शुरू करके भगवती वेदवाक्से बलात्कारके पापको क्षमा करवा लेगा। उसकी सारी पुस्तक इसी प्रकारके अशुद्ध अर्थोंसे भरी पड़ी है। उसमें आर्यसमाजी सिद्धान्तोंकी नाक रखनेकेलिए अपने आचार्य स्वा.द.जीकी वाक्से बलात्कार करनेमें भी वादी नहीं चूका। इस विषयमें इस पुष्पके ३५० पृष्ठ से ३५३ पृ. तक भी देख लेना चाहिये। सोमरस पीनेकी प्रार्थना करनी स्पष्ट मूर्तिपूजा है। मूर्तिपूजा वैदिक भी है। देखिये—'शिला आदि पदार्थ, पत्थर और धूलि यह भूमि ही है। सुवर्णादि-धातुओंको अपने गर्भमें धारण करनेवाली उस पृथिवीको (नमः अकरम्' हम नमस्कार करते हैं' (अथर्व, १२।१।२६) इस जयदेव-विद्यालंकारके अर्थसे मट्टी-पत्थर रूप पृथिवीको नमस्कार कही गई है—यहां मूर्तिपूजाकी वैदिकता स्पष्ट है। स्वा.द.जी लिख गये हैं—'क्या यह मूर्तिपूजा नहीं है। किसी जड़-पदार्थ [पत्थर, पृथिवी आदि] को शिर झुकाना वा उसकी पूजा करना सब मूर्तिपूजा है' (स. प्र. ११

पृ. २३०) पृथिवी तथा उसके पत्थर जड़ हैं, उन्हें 'नमः' कहकर सिर झुकाया गया है, क्योंकि—'णम प्रह्वत्वे' का अर्थ सिर झुकाना ही है। सो यह पृथिवी वा पत्थरकी पूजा परमात्मा के शरीरकी पूजा है, क्योंकि 'यस्य पृथिवी शरीरम्' (शत.) 'जिस परमेश्वरके शरीरके समान पृथिवी है' (आ. नि. में) यह स्वा.द.जीका अर्थ है। इस प्रकार मूर्ति-पूजा वैदिक सिद्ध हुई। अस्तु। अब हम प्रकरण पर आते हैं।—

वायु आदि प्रत्यक्ष देवताओंके आत्मस्वरूप अधिष्ठातृ देव चेतन हुआ करते हैं; जैसा कि निरुक्त (७।७।८-९) में सिद्धान्त रखा गया है। वादी को 'विद्वांसो हि देवाः' में 'विद्वान्' (जानने वाला) बताया है, शतपथ (२।२।२।४) का प्रमाण भी वादीके पक्षको काट रहा है। अग्नि आदिको देवता कहा है. पर विद्वान् ब्राह्मणोंको देव न कहकर 'मनुष्यदेव' कहा है। आहुतियोंसे देवोंका प्रीणन (प्रसन्न वा तृप्त) करना कहा है; विद्वान् मनुष्योंका नहीं। विद्वान् मनुष्योंका तो दक्षिणासे प्रीणन (प्रसन्न) करना कहा है। इससे वादीका पक्ष कट रहा है। 'प्रीणाति' का दोनों स्थान समान प्रयोग है। सो देवताओंका प्रीणन (तृप्ति) कहनेसे इन्द्र आदि देवताओंकी सिद्धि हो जानेसे वादीका पक्ष गिर गया। ऋत्विग् कादि मनुष्यदेव कहे गये हैं, देव (देवयोनि) नहीं। 'विद्वांसो हि देवाः' यह देवोंकेलिए है, मनुष्यदेवोंकेलिए नहीं।

(५६) पृ. १३९ यदि वेदमें 'पराशर' आदिका इतिहास आता है, तो इससे वेदके वेदत्वकी हानि नहीं। ऋषि एक नित्य जाति होती है, जो वेदके समय सदा होती ही है। नित्य इतिहास तो वादी भी मानते ही हैं। स्वा.द.जी भी लिख गये हैं—'ईश्वरो हि त्रीन् कालान् जानाति। भूत-भविष्यद्-वर्तमानकालस्थैर्मन्त्रद्रष्टृभिः...ऋषिभिरीदृग्-ईड्यो वभूव, भवामि, भविष्यामि च' इति विदित्वा [परमेश्वरेण] इत्युक्तम्' (ऋभाभू. पृ. ८६)। स.प्र. ११ समु. में स्वा.द. लिखते हैं—'वह ईश्वर ही नहीं जो सर्वज्ञ न हो, न भविष्यत्की बात जाने; ...

है' (पृ. ३०३) इस कारण 'वसिष्ठ वा पराशर आदि ऋषिका नाम वेदमें भविष्यद्-ज्ञान वश आ जावे; तो इससे वेदके वेदत्वकी कुछ भी हानि नहीं ? क्योंकि वह वेदके समयके तथा भविष्यद्के ऋषियोंको जानता है, और उनका नाम भी जानता है।

'पराशीर्णस्य स्थविरस्य वसिष्ठस्य जज्ञे' यह इतिहास स्पष्ट है। वसिष्ठ शब्द जल आदि जनेक अर्थ भले ही रखे, पर यहां तो पराशर-वसिष्ठ ऋषिविशेष ही हैं' 'यास्कने पराशरका अर्थ वसिष्ठकुलोत्पन्न इतिहासकी दृष्टिसे किया होगा, वेदमन्त्रके अर्थकी दृष्टिसे नहीं' यह वादीकी वात उपहास्य है। यही अर्थ करके तो श्रीयास्कने निगम दिया है, अन्यत्र भी यास्क वेदमें इतिहास दिखलाते ही हैं।

'इन्द्रोपि पराशर उच्यते' यह यदि यास्कने कहा है, तो कोई हानि नहीं; उसका निगम पूर्व निगमसे भिन्न कहा है—'इन्द्रो यातूनामभवत् पराशरः'। वहां भी 'पराशर' इन्द्रका पर्यायवाचक नहीं वताया गया, किन्तु विधेय विशेषण बताया गया है। विशेषण सदा यौगिक ही हुआ करता है। विधेय-विशेषण नामके पीछे आता है। प्रथम निगममें तो पराशर योगरूढ है। वादीके 'अद्वितीय वेदद्रष्टा' भी 'निघण्टु वैदिककोश' की भूमिकामें कहते हैं-'यह सब शब्द वेदमें यौगिक और योगरूढि आते हैं, केवल रूढि नहीं'। केवल रूढि तो पराशर आदिको हम नहीं कह रहे हैं, किन्तु योगरूढि। प्राचीनकालमें 'यथा नाम तथा गुणः' के अनुसार सार्थक नाम रखे जाते थे, अतः उनका निर्वचन वा व्युत्पत्ति भी की जाती थी। फिर 'पङ्कज' की तरह एकका नाम होनेसे वह शब्द 'योगरूढ' हो जाता था। जब स्वा.द.जीके अनुसार वेदमें 'योगरूढि' शब्द भी सिद्ध हो गये; तो वेदमें इतिहास स्वतः सिद्ध हो गया. क्योंकि—वहां व्युत्पत्ति होकर एक विशेष व्यक्तिका नाम हो गया; यही तो 'योगरूढ' का अर्थ है। वादीने ऊहापोहके साथ अपने 'वैदिक-इतिहास-विमर्श' में 'पराशर'का अर्थ वदला होगा। अर्थ तो स्वा.द.का भी व्युत्पत्ति करके वदला जा

सकता है, इसी प्रकार आर्यसमाजका और सत्यार्थप्रकाशका भी बदला जा सकता है; तब तो स्वा.द. आदि भी कोई नहीं हुए; वा हैं, क्या यह बात वादी मान लेगा ?

ऋभाभू. का तृतीय पद्य यह है—'दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः, सरस्वत्यस्याग्रे निवसति हिता हीशशरणा। इयं ख्यातिर्यस्य प्रतनुसुगुणा वेदमननाऽस्त्यनेनेदं भाष्यं रचितमिति बोद्धव्यमनघाः' (पृ. १) यहांपर 'दयाया आनन्दः, सरस्वती ईशशरणा अस्य अग्रे निवसति' यह सब यौगिकरूपसे लिखा है; पर 'जिनका नाम स्वामी दयानन्द सरस्वती है, उन्होंने इस वेदभाष्यको रचा है' (पृ. २) वहां रूढि वा योगरूढिसे अर्थ किया है; पर वादीके अनुसार तो पद्यमें यौगिकता होनेसे उसका हिन्दी अनुवादमें रूढ़ अर्थ कैसे किया गया ? मानना पड़ेगा कि—यह प्रकार योगरूढ हुआ करता है। श्रीयास्क भी 'परिव्राजकः, भूमिजः' आदि उदाहरण देकर वेदमें शब्दोंको 'योगरूढि' मानते ही हैं। योगरूढ होनेपर इतिहास स्वतः सिद्ध हो जाता है।

अर्थ तो राम और कृष्णका भी 'रमन्ते योगिनोऽस्मिन्, कर्षति भक्तान्' इस प्रकार व्युत्पत्ति करके बदला जा सकता है, तब क्या राम-कृष्णादि वादीके अनुसार कोई नहीं हुए। जैसेकि—गान्धिजी आदि कहते थे, वादी क्या ऐसा मान लेगा ? अनेकार्थकतामें भी कोई नियम होता ही है, पर जब साम्प्रदायिक चक्षु बन जावे; तो अर्थ सब बदल सकते हैं। प्रो० पराशर एम.ए. ने युधिष्ठिरका जुआ खेलना, शूर्पणखाकी नाक काटना आदिका अर्थ आलङ्कारिकता दिखलाकर बदल दिया है। अर्थ तो धृतराष्ट्र, दुर्योधन आदिका भी वदलकर गौणी-वृत्तिसे पृथ्वी-आकाशके कुलावे मिला दिये जाते हैं। पर यह भाषापर बलात्कार होता है। भाषा स्वाभाविक अर्थ देनेकलिए उपन्यस्त की जाती है यह नहीं कि—उसके मनमाने अर्थ निकालते रहो। वादी स्वयं अपनी पुस्तकमें कहता है कि—'वेदमें मुख्यार्थका बोध होता ही नहीं। वेदमें गौणी वृत्ति नहीं चलती है।'

(द.सि.प्र. पृ. २३३) तब वादी स्वयं इन शब्दोंके मुख्यार्थको बाधित करके गौण अर्थ निकालनेकेलिए श्रुति पर बलात्कार करके क्यों वदतो-व्याघात कर रहा है ?

'खं ब्रह्म' आकाशसे ब्रह्मको उपमित किया गया है। 'अन्नं प्राणाः' में भी यही उपमा है। ऐसे शब्द वाचकलुप्ता-उपमाके रूप माने जाते हैं, अथवा रूपक। इसी प्रकार 'प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः' आदिमें भी जाना जा सकता है। वहांपर यजुः १३।५४-५८ मन्त्रोंके कारण वसिष्ठ आदिमें 'त्वया प्राणं, त्वया चक्षुः' रूपमें प्राणत्व, चक्षुष्ट्व आदिका आरोप किया गया है। वह भी केवल इन्हीं सीमित मन्त्रोंमें; सर्वत्र नहीं। जिससे शतपथमें भी 'प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः' आदिमें 'वै' आदि शब्दोंसे उन्हीं सीमित मन्त्रोंमें 'आयुर्वै घृतम्' (कृ.य. तै.सं. २।३।२।२) की भान्ति चक्षु आदिका आरोप किया गया है। यह नहीं कि पर्यायवाचकता हो जावे। क्या 'आयुर्वै घृतम्' इस वेदवाक्यमें आयु और घृत पर्यायवाचक हैं ? यदि नहीं, तो उक्त वेदवाक्योंमें भी विभक्ति-भेदवश प्राण एवं वसिष्ठ आदि पर्यायवाचक नहीं। वहाँ पर मनोरूपो भरद्वाज ऋषिः, विश्वामित्रर्षिरूपं यत् श्रोत्रम्, ईदृशं (जमदग्निसंदृशं) यत् चक्षुः' इत्यादि आरोप महीधर-भाष्य आदिमें भी स्पष्ट है, तब वादीसे अभिमत पर्यायवाचकता खण्डित हो गई है।

यदि ब्राह्मणभागकी बात वादी मानता है; तो 'वागेव ऋग्वेदः' (शत. १४।४।३।१२) आदिके अनुसार ऋग्वेद आदिकी भी **वेदमें वाणी आदिसे भिन्न सत्ता न माने;** क्यों वह वेदमें वेदका इतिहास बताता है ? यदि यहां वैसा नही मानता, तब 'चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः' से भी जमदग्नि ऋषिकी पृथक् सत्ता वेदसे हटाई नहीं जा सकती। विश्वामित्र ! जमदग्ने ! वसिष्ठ ! भरद्वाज ! गोतम ! वामदेव ! शर्दिर्नो अत्रिः अग्रभीद् नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडता नः' (अथर्व. १८।३।१६) इन मन्त्रोंमें ऋषियोंका नाम स्पष्ट है। यहां उन्हें नमस्कार किया गया है।

क्या वेदमें आंख, नाक, कानको वादी नमस्कार तथा उनसे [illegible] प्रार्थना करके मूर्तिपूजक बनेगा, वा जनताका उपहासपात्र ?

वेद जब प्राचीन-अर्वाचीन ऋषियोंका स्मरण करता है, जैसे कि 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत' (ऋ. १।१।२); तब [illegible] वसिष्ठ आदि प्रसिद्ध ऋषियोंका नाम भी वर्णित करे, यह स्वाभाविक। यह ऋषि भी राम-कृष्णादिकी भांति अवतारविशेष होते हैं, वेदोंके [illegible] पर प्रकट होते हैं, फिर इन ऋषियुग की समाप्ति कलिके प्रारम्भमें [illegible] जाती है, जैसेकि निरुक्तकारने सूचित किया है—'मनुष्या वा ऋषिषु उत्क्रामत्सु देवान् अब्रुवन्-को न ऋषिर्भविष्यतीति' (१३।१२) ऋषियोंकी जाति हुआ करती है, उनका भी वेदाविर्भावके साथ [illegible] सम्बन्ध होनेसे वेदमें यदि उनका वर्णन आ जावे; तो इसमें वेदके [illegible] की कुछ भी हानि नहीं।

यह ठीक भी है—'लौकिकानां हि साधूनामर्थं वाग् अनुवर्तते। ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति' (भवभूतिः उ.रा.च. १।[illegible]) **वेदकी वाणी पहले** चलती है कि—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' और सूर्य-चन्द्र अपने समय पर प्रकट होते हैं। वादीकी नीतिके [illegible] सूर्यचन्द्रादि-निर्माणके बाद ही क्या वेद बनाये गये ? फिर वे [illegible] कैसे ? 'वैद्यनाथो वै स्वा. दयानन्दः' इस वाक्यमें 'इव' यह अर्थ [illegible] है, क्या यहां वादी 'वै' शब्दसे वैद्यनाथको दयानन्दका पर्यायवाचक [illegible] लेगा ? उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानेगा ? तब 'प्राणो वै वसिष्ठः' आदिमें 'प्राण इव' अर्थमें यदि वादी कहे कि—बिना 'वत्' प्रत्ययके [illegible] का अर्थ कैसे ? तब वह इसमें महाभाष्यका स्पष्ट वचन देखे—

'अन्तरेणापि वतिमतिदेशो गम्यते। तद् यथा 'एष ब्रह्मदत्तः' [illegible] 'अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह। तेन मन्यामहे ब्रह्मदत्तवद् अयं [illegible]' (बहुगण-सूत्रमें)।

(५७) जब वादी वेदमें आधिभौतिकता, आधिदैविकता, [illegible]

त्मिकता तीनों अर्थ मानते हैं; तब एक पक्षमें भावी आधिभौतिकरूपमें इतिहास आ जावे; इससे वेदके वेदत्वकी कुछ भी हानि नहीं। तब 'त्रित' एक ऋषिका कुएँमें पतन अर्थ भी हो जाता है। तभी तो निरुक्तकारको कहना पड़ा—'तत्र ब्रह्म (वेदः) इतिहासमिश्रम् ऋङ्मिश्रं गाथामिश्रं च भवति' (४।६।१)। फिर कूपका अर्थ 'वर्तुल' आदि करना, त्रित' की एकत, द्वितसे बलात् संगति लगानी—यह सब भाषाके साथ बलात्कार है। ऐसे अर्थोंसे स्वा.द. भी उडाये जा सकते हैं, तथा वादी भी। कई लोग इतिहासमें युधिष्ठिर, धृष्टद्युम्न आदिकी यौगिकता बताकर उन्हें भी उडा रहे होते हैं। उनकी बुद्धिका जो मूल्य है, वही वेदके साथ ही प्रकट हुए ऋषियोंके नामके इतिहासोंके उडानेमें लगे हुए वादीकी बुद्धिका भी मूल्य है। वेदका 'पुराण-इतिहास' शब्द वेदोंमें इतिहासकी स्पष्ट सूचना दे रहा है। स्वा.द.जीका लिखा हुआ 'भूत-भविष्यद्-वर्तमान कालस्थैः मन्त्रद्रष्टृभिः' यहां का 'भूत-भविष्यत्' शब्द भी गत कल्प, इस कल्प तथा भविष्यत्-कल्पके मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंके इतिहासको बता रहा है। स्वा.द.जीने लिखा है—'वह ईश्वर ही नहीं, जो सर्वज्ञ न हो; न भविष्यत्की बात जाने, वह जीव है' (स.प्र. १३ पृ. ३०३) जब वेद सर्वज्ञ एवं भविष्यत्-द्रष्टा ईश्वरकी कृति माना जाता है; तब उनमें भूत-भविष्यत्का इतिहास परमात्माकी इच्छानुकूल आ सकता है।

जिस शतपथको वादी मन्त्रभागका भाष्य मानते है, वही शतपथ पुरूरवा-उर्वशी आदिका इतिहास बताकर फिर उसमें मन्त्रभागका प्रमाण देता है—'तदेतद् उक्तप्रत्युक्तं (संवादं) पञ्चदशर्चं बह्वृचाः (ऋग्वेद संहिता) प्राहुः' (शत. ११।५।१।१०) इत्यादि। तब वादी उस समय ब्राह्मणभागसे कहा हुआ मन्त्रका ऐतिहासिक अर्थ क्यों नहीं मानते ?

वेदोंमें वेदोंकी उत्पत्तिका इतिहास तो स्पष्ट ही है। स्वा.द.ने भी 'अग्ने ! देवेषु प्रवोचः' में ४ ऋषियोंमें वेदप्रवचनका इतिहास संकेतरूपसे माना है। फिर यह मन्त्र तो परमात्माके वेदमें होगा नहीं, क्योंकि—

इतिहासको आर्यसमाजी पीछेके कालका मानते हैं। पर जब वह इतिहास वेदमें मिलता है, तो क्या वह वेदमें प्रक्षिप्त है ? यह इतिहास ही तो है! अथर्वाङ्गिरस वेदको अथर्वा और अङ्गिराका वेद मानना, फिर 'अथर्वाङ्गिरसो मुखम्' में 'अङ्ग-अङ्गमें जिसके रस एवं ज्ञान हो, उनका नाम आङ्गिरस' ऐसे बनावटी अर्थ बना लेना, वेदाङ्ग व्याकरणको धता बता देना—यह साम्प्रदायिक दलदल है। यह भी इतिहास है। जब अङ्गिरा वा अथर्वा ऋषिको वह वेद मिला; और उन ऋषियोंका 'यथा नाम तथा गुणः' के अनुसार योगसे, अर्थ करके भी उन्हींके नामसे वेदमें 'अथर्वाङ्गिरस' शब्द वेदमें भी आ गया, तो यह इतिहास ही तो हुआ ? वेदका ही वह रूढि विशेषण क्यों माना जावे ? यह उन ऋषियोंका वाचक भी हो सकता है।

यदि 'अथर्वाङ्गिरसः' यह वेदका ही विशेषण माना जावे; तो शेष वेदोंमें ज्ञान न होना माना जा सकेगा। आधी अथर्ववेदसंहिता तो ऋसं. से ली गई है, तो उस ऋसं. का नाम 'आङ्गिरससंहिता' क्यों न हुआ ? क्या ऋसं.में स्थित होने तक उनमें ज्ञान नहीं रहा, और वे मन्त्र अथर्व-संहितामें आते ही 'ज्ञानकाण्ड' बन गये !!! वस्तुतः यह सब अटकलपच्चू बनावटी अर्थ हैं। इस प्रकार तो रामायण-महाभारतादिमें भी भिन्न अर्थ करके जैसे कि—श्रीसातवलेकर आदि किया करते हैं, उनका भी इतिहास समाप्त कर दिया जा सकता हैं।

पृ. १४२ इतिहास-पुराण आदि यदि वादीके अनुसार वेदोंमें एकमात्र ब्राह्मणोंके ही नाम हैं; तो वादीको बधाई हो। फिर तो 'ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे' (अथर्व. ११।७।२४) इस वादीके ज्ञानकाण्ड वेदके मन्त्रसे ब्राह्मणभाग भी ऋग्वेदादिकी भांति परमात्मासे उत्पन्न वेद सिद्ध हो गया; क्योंकि—यहां उच्छिष्ट (परमात्मा) से वेदोंकी उत्पत्ति बताई गई है।

आर्यसमाजके चतुर्वेदभाष्यकार श्रीजयदेव विद्यालंकार मीमांसातीर्थने

भी इसके अर्थमें लिखा है—'ऋग्वेदके मन्त्र सामवेद और उसके सहस्रों सामगानके भेद अथर्वके मन्त्र; यजुर्वेद अर्थात् कर्मप्रवर्तक मन्त्रोंके साथ, सृष्टि-उत्पत्ति, प्रलय आदिके वर्णन करने हारे मन्त्र और ब्राह्मणभाग, आकाशस्थ सूर्यादि समस्त दिव्यलोक [देवता] उस सर्वोत्कृष्ट परमेश्वरसे उत्पन्न होते हैं।' (अथर्व. तृतीयखण्ड ४र्थ संस्करण पृ. १६७)।

इससे बढ़कर हमारे पक्षकी सिद्धि अन्य क्या हो? परन्तु इसपर कट्टर दयानन्दी 'पथिक' ने मीमांसातीर्थजीको 'वेदवाणी' के वेदाङ्क (६) में खूब खरी-खोटी सुनाते हुए लिखा है कि—'आप (श्रीजयदेव शर्मा) वैदिक सिद्धान्तके अच्छे विद्वान् माने जाते हैं। आपने चारों वेदोंका सरल आर्यभाषामें अर्थ किया है। पता नहीं, आपने अथर्ववेदका भाष्य करते समय महर्षि दयानन्दजीके सिद्धान्तोंको क्यों ओझल कर दिया?...। मैंने इस अर्थका स्पष्टीकरण करानेकेलिए उनके पास पत्र लिखा, तो उन्होंने इस प्रकार स्पष्टीकरण किया...इस पदके अर्थमें तो मैं या कोई और कुछ नहीं कर सकता...यह है श्री ज.दे.जीका स्पष्टीकरण, जो और भी संशय डाल देता है। इससे कितनी भ्रान्ति फैल सकती है। विज्ञ पाठक वृन्द विचार करें। आपके अर्थ और अन्य पौराणिकोंके अर्थमें क्या अन्तर रहा? अतः आपके वेदभाष्यमें अनेक त्रुटियां, वा वैदिक सिद्धान्तके विरुद्ध बातें हैं। पं० ज.दे.जीके अथर्वभाष्यका एक ही नमूना पर्याप्त होगा, जो वैदिक सिद्धान्तपर कुठाराघात करता है'।

यह लिखकर आगे दयानन्दी पथिक लिखता है—'आपने ब्राह्मणभाग को भी परमेश्वरसे उत्पन्न लिख दिया, जबकि वैदिक-सिद्धान्त (?) है कि—ब्राह्मणभाग वेदोंके व्याख्याभाग ऋषियोंकी कृति है' (पृ. ८७-८८) यह है दयानन्दियोंका एक आदर्श कि-जो वेद है, वा वेदका स्पष्ट वचन है; वह वैदिक-सिद्धान्त नहीं, किन्तु जो आर्यसमाजने अपने मनमाने सिद्धान्त बना रखे हैं, वे है वैदिक सिद्धान्त!!! इसीका नाम है दयानन्दी-सम्प्रदाय। वेदके वचनोंमें बलात् तोड़मोड़कर अर्थ भी दयानन्दी-

सम्प्रदायके अनुसार होना चाहिये। देख लिया आपने पाठकगण!

तब वेदमें 'पुराण' का ब्राह्मणभाग अर्थ करते हुए 'दयानन्द-सिद्धान्त-प्रकाश' के प्रणेताको भी दयानन्दी पथिक आर्यसमाजसे निकलवा देगा-यह शायद हमारा विपक्षी नहीं जानता; पर यह दयानन्दी-पथिककी डांट व्यर्थ है, जबकि स्वा.द.जी भी अथर्ववेदके 'पुराण-इतिहास' का अर्थ ब्राह्मणभाग करते हैं। देखिये ऋभाभू. में—'तमितिहासश्च पुराणं च... इतिहासस्य च वै स पुराणस्य...' (अथर्व. १५।३०।१।४) एतैः प्रमाणैः ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं जायते' (पृ. ६४) 'जिसमें जगत्की उत्पत्ति आदिका वर्णन है, उस ब्राह्मणभागका नाम पुराण है' (पृ. ६५)।

तब क्या स्वा.द.जी भी वैदिक सिद्धान्तपर कुठाराघात करते हैं? फलतः इतिहासपुराणात्मक ब्राह्मणभाग पूर्वोक्त वृहदारण्यकके प्रमाणसे ईश्वरका ही निःश्वास सिद्ध हो गया। तभी तो स्वा.द.जी भी मन्त्रभाग की तरह ब्राह्मणभागरूप अर्थ भी ऋषियोंको परमात्माके स्वरूपमें समाधि लगानेपर प्राप्त हुआ मानते हैं (स.प्र. ७ पृ. १२६)। स.प्र.में अन्यत्र भी स्वामीने लिखा है—'ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ब्राह्मण-ग्रन्थोंके ही इतिहास-पुराण आदि नाम हैं।...इसलिए सबसे प्राचीन ब्राह्मणग्रन्थों में ही यह सब घटना हो सकती है' (११ समु. पृ. २०६) न्यायदर्शनमें भी लिखा है—'ये एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च' (२।१।६८) तब वेदार्थ ब्राह्मण भी समाधिदृष्ट होनेसे वेद हुए।

वादीका यह कथन हास्यास्पद है—,यदि मन्त्र-ब्राह्मणको वात्सायन(?) एक स्वीकार करता, तो फिर २।१।६७ पर ब्राह्मणका ग्रहण करता। परन्तु मन्त्रार्थके द्रष्टा और प्रयोक्ता शब्दोंका ही प्रयोग है'। यहां 'मन्त्रार्थानां द्रष्टारः' लिखा ही कहां है? यहां तो 'वेदार्थानां द्रष्टारः' लिखा है। सो वेद सब प्राचीनोंके मतमें मन्त्र-ब्राह्मणात्मक है; तो 'वेद' शब्दसे उन दोनोंका ग्रहण स्पष्ट है। वास्तवमें वादियोंकी अस्थि-मज्जामें 'मन्त्रभाग ही वेद है' यह भ्रान्त धारणा घुसी हुई है। इसी कारण इस

प्रकारकी भूलें उनसे हुआ करती हैं।

वादी सदाकेलिए यह याद रख लें कि—जहां 'मन्त्र' शब्द आवे; वहां वेदके 'मन्त्रभाग' जिसमें ११३१ शाखाएं वा संहिताएं आ जाती हैं, जिनमें वादियोंकी इष्ट चार पोथियां भी अन्तर्भूत हैं, जो कि शाखाएं ही हैं, गृहीत होती हैं। जहां 'ब्राह्मण' शब्द आवे, वहां वेदके 'ब्राह्मणभाग' का ग्रहण होता है, जिसमें आरण्यक, तथा उपनिषदें भी गृहीत हो जाती हैं; पर जहां 'वेद' शब्द वा उसका पर्यायवाचक छन्दः, आम्नाय, निगम, श्रुति आदि आ जावे; वहां मन्त्र-ब्राह्मण दोनोंका पूर्वोक्त सम्पूर्ण साहित्य गृहीत होता है, इसी कारण 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' (२।६) इस मनुवचनमें 'वेद' का 'अखिलः' यह विशेषण दिया गया है। इससे न कहीं असङ्गति पड़ती है न वनावट होती हैं, और न कोई आपत्तियां खड़ी होती हैं। इसी मतको माननेसे वादीके सम्प्रदायका भी कल्याण है। जिस प्रकार मन्त्रभागके अर्थ वदलनेकी वादीके सम्प्रदायमें शक्ति है; वैसे ही ब्राह्मण-भागके भी अर्थ वदल सकते हो। उनके वेदत्वका हटाना क्या?

यदि विपक्षियोंने इस मतको न अपनाया; तो कई असङ्गतियां पैदा कर लेंगे, और भ्रमकूपोंमें पड़े रहेंगे। उनका वेद अपूर्ण सिद्ध होगा; क्योंकि—प्राचीन ग्रन्थोंमें दिये गये अनेकों, वेदोंके उद्धरण उन्हें अपने वेदोंमें नहीं मिलेंगे। उन्हें समय-समय पर शास्त्रार्थोंमें निरुत्तर होना पड़ेगा। यह आर्यसमाज अपना भाग्य समझे कि—उनके साथ किसीने वेदस्वरूपके विषयमें शास्त्रार्थ नहीं किया। यदि कोई शास्त्रार्थकर्ता 'आलोक' के भिन्न-भिन्न पुष्पोंमें हमारे वेदस्वरूपनिरूपण सम्बन्धी सभी निबन्धोंको हृदयङ्गम कर ले, और उनसे इस विषयमें शास्त्रार्थ करे, फिर आर्यसमाजके किसी भी बड़े से बड़े विद्वान् वा अनुसन्धाताकी भी शक्ति नहीं कि—वह वेदविषयक अपना पक्ष सिद्ध कर सके। हमारे पक्षको न मानने पर विपक्षियोंको कई असत्य बोलने पड़ेंगे। इस शास्त्रार्थमें स्वा.द. भी वेदके विषयमें अल्पज्ञ, अथवा परस्पर-विरुद्धवक्ता तथा अनाप्त सिद्ध हो

जाएंगे। शास्त्रार्थकर्ता तथा स्वा.द.के वचनोंकी भी परस्पर-विरुद्धता प्रकट हो जायगी।

यदि विपक्षी लोग स.ध.के एतद्-विषयक पक्षको मान लें, जो कि वास्तविक है; तो उनका यह स.ध. में दीक्षा-ग्रहण हो जायगा। परस्परकी खाई दूर हो जायगी। परमात्मा इनसे साम्प्रदायिक आवरण दूर कर दे, जिससे उन्हें ठीक-ठीक दर्शनमें बाधा न पड़े। इन्हें जो भगवती वाक्से बलात्कारका पाप करना पड़ रहा है, भाषाविज्ञान तथा भाषाकी छीछालेदर इनके द्वारा की जा रही है, असत्य वा छलका पल्लो पकड़ना पड़ रहा है, प्रक्षिप्तता वा अप्रामाण्यताका जो अकाण्ड-ताण्डव करना पड़ रहा है, शास्त्रोंसे मुंह मोड़कर स्वेच्छाचारिताको अपनाना पड़ रहा है—यह सब दुष्प्रवृत्तियां इनसे दूर हो जावें।

अन्तमें वादीने जो युक्तियां दी हैं; उन सबका इस निबन्धमें वा गत पुष्पोंके इस विषयमें पूरा-पूरा प्रत्युत्तर दिया जा चुका है। मन्त्र भले ही ब्राह्मण न हों; और ब्राह्मण मन्त्र न हों, ब्राह्मण भले ही मन्त्रके उपबृंहक व्याख्यान हों, मन्त्रोंके विनियोजक हों; पर वेद मन्त्र-ब्राह्मण दोनों ही हैं। चार वेदोंमें ११३१ मन्त्रसंहिताएं तथा उतने ही उपनिषद्, आरण्यक सहित ब्राह्मण आ जाते हैं।

ऋग्वेदसंहितासे उसके मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् साथ ही गृहीत हो जाते हैं। इस प्रकार शेष वेदसंहिताओंकेलिए भी समझ लेना चाहिये। निष्कर्ष यह है कि ११३१ मन्त्रसंहिता, उतने ही ब्राह्मण, उतने ही आरण्यक, उपनिषद् सहित यह सारा साहित्य पूर्ण वेद है। वादीकी चार संहिता तो अपूर्ण वेद हैं; इनमें न तो अष्टाध्यायीसूत्रों तथा वार्तिकोंके वैदिक उदाहरण जो महाभाष्यकारने, काशिकाकार, सिद्धान्त-कौमुदीकारने, वल्कि स्वा.द.ने भी अपने वेदाङ्गप्रकाशों तथा अष्टाध्यायी-भाष्यमें दिये हैं; जो यास्कीय निरुक्तमें वेदोंके निगम हैं, जो कल्प,

गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र तथा छन्दोंके पिङ्गल-सूत्रोंमें वैदिक उदाहरण हैं, वे भी सारे इन चारों वादीकी इष्ट ४ संहिताओंमें नहीं मिलते। वे उन शाखा कही जाती हुई तथा लुप्त संहिताओंमें मिल सकते हैं।

यद्यपि यह निबन्ध विस्तीर्ण हो गया है, पर इसका ज्ञान **द्विजोंकेलिए अवश्य अपेक्षित है।** इससे उन्हें पता लगेगा कि—**प्रतिपक्षियोंका पक्ष सचमुच बालूकी भित्ति है।** इसीलिए ही यह लोग किसी भी प्राचीन ग्रन्थ वा विद्वान्को पूर्णतया नहीं मानते। बल्कि अपने मतके विद्वानोंकी भी बात, तथा अपने मतप्रवर्तककी भी प्रवृत्ति यह लोग नहीं मानते।

इनके मतके लोग भी अपने मतका आवरण हटाकर जब हमारे गवेषणापूर्ण निबंधोंको निष्पक्ष दृष्टिकोणसे देखेंगे, और अपना अध्ययन तथा अनुसन्धान बढ़ावेंगे, तब वे स्वयं सनातनधर्मकी शरणमें आ जावेंगे। जो कोई वेदविषयक हमारे इस निबन्धको मनोयोगसे पूर्णरूपमें पढ़ेगा; और इसे हृदयङ्गम और कण्ठस्थ कर लेगा, वह आर्यसमाजके बड़े से बड़े शास्त्रार्थीको वेदके स्वरूपके विषयमें पछाड़ देगा; उसे पराजित एवं मूक कर देगा—यह हमारी घोषणा है।

'दयानन्दरहस्य' के वेदविषयक जिस निबन्धपर वादीने लिखा है; वह प्रायः मेरे ही निबन्धों एवं सम्मतियों पर आश्रित था; उसे हमने वादी-द्वारा अपनेपर आक्रमण समझकर उसका यह प्रत्याक्रमणात्मक प्रत्युत्तर दिया है। 'दयानन्दरहस्य' प्रणेता द.सि.प्र. का पूरा प्रत्युत्तर लिख चुके हैं—यह उन्होंने मुझे सूचित किया था; वह वृद्ध होनेसे जब भी अपनी पुस्तक प्रकाशित करें; वह भी दर्शनीय होगी; क्योंकि—उन्होंने सब विषयों पर लिखा होगा। अस्तु।

(परिशिष्ट)

(८) मुखबन्धकी बातोंकी प्रत्यालोचना

(५८) 'दयानन्दरहस्य' के 'मुखबन्ध' में हमने कुछ बातें स्वा.द.जीके विषयमें लिखी थीं; उनपर भी वादीने अपनी उक्त पुस्तकमें कुछ लिखा,

हैं। अब हम यहां उनका प्रत्युत्तर देकर यह विस्तीर्ण निबन्ध समाप्त करेंगे।

(क) पृ. २६६ 'समस्त वैदिक परम्परामें चार ही वेदकी संहिताएं मानी गई हैं' यह वादीका पक्ष इस अंशमें तो ठीक है कि—वेद चार होते हैं; पर उनकी संहिताएं चार नहीं होतीं; वे तो ११३१ हैं। देखिये इस पर महाभाष्य—'चत्वारो वेदाः' तो उसमें लिखा है, पर 'चतस्रो वेदसंहिता भवन्ति' यह वहाँ, कहां लिखा है? और न ही वादी कभी १०० वर्ष तक भी यह बात किसी प्राचीन एवं प्रामाणिक ग्रन्थसे दिखला सकता है।

संहिताएं तो वहां वेदोंकी ११३१, कहीं इससे भी कुछ अधिक लिखी हैं, यह हम इस निबन्धमें स्पष्ट कर चुके हैं। हां, अपनी कुलपरम्पराकी चार वेदोंकी एक-एक शाखा करके चार संहिताएं होती हैं। सब कुल वाले अपनी-अपनी चार संहिताओंको **मूलवेद संहिताएं** मानते हैं। निरुक्तकार श्रीयास्ककी चार कुल-संहिताएं इन वर्तमान चार संहिताओंसे भिन्न थीं, निरुक्तस्थ सभी मन्त्र उन्हीं संहिताओंसे लिये गये थे; इसमें मन्त्रोंमें कुछ पाठभेद प्रमाण हैं; क्योंकि—शाखाओंमें परस्पर क्वाचित्क पाठभेदको छोड़ कर प्रायः मन्त्र समान मिलते थे। यह हम इस पुष्पमें पृ. १९४-२१६ में बता चुके हैं। इसी प्रकार महाभाष्यकी चार कुल संहिताएं अन्य थीं, इसी प्रकार गृह्यसूत्रों वा श्रौतसूत्रोंकी भी। वे अपनी शाखाओंके मन्त्रोंके तो प्रतीक देते थे, पर अन्य शाखाओंके मन्त्र पूरे देते थे। सब अपनी-अपनी कुल संहिताओंको वेद मानते थे; और अन्य संहिताओंको उनकी शाखा। शब्द और अर्थका सम्बन्ध नित्य होनेसे अर्थरूप ब्राह्मण भी इस मूलके साथ स्वयं ही गृहीत हो जाता है, यह बात समझ लेने पर फिर वादी भ्रम-कूपमें नहीं गिरेगा।

(अ) 'स्वामीको असत्यसे प्रेम था' यह बात तो उनकी पुस्तकें पदे-पदे बता रही हैं। निष्पक्ष व्यक्ति और शास्त्रोंके मर्मज्ञ विद्वान् उस बातको स्वीकार करते है। (क) 'तरुतारं' में 'तारं' यह तृच् प्रत्ययकी द्वितीया है; जैसे

लोकमें—'कर्तारम्, 'दिधातारम्, तरितारम्, तरीतारम्, हैं। यहां 'तारम्' कोई स्वतन्त्र पद नहीं है, इस 'तारम्' अंशको देखते ही 'ताराख्यं-यन्त्र' यह स्वा.द. द्वारा अर्थ कर देना कितना असत्यसे प्रेमसूचक है ! उस अर्थको 'आर्षपरम्परा' के अनुकूल बतानेवाला विपक्षी किसी प्राचीन ऋषि-मुनि वा ग्रन्थकारका वचन बतावे, जहां उस पदका 'ताराख्यं यन्त्रं' अर्थ किया गया हो। तब यह वादीका कथन काकदन्तको सिद्ध करनेकी चेष्टा है।

(ख) 'द्वादश प्रधयः' का देवता 'संवत्सरात्मा कालः' है, यह आर्य-समाजसे छपवाये ऋग्वेदमें भी स्पष्ट लिखा है। देवताका अर्थ वादी भी उस मन्त्रका 'वर्णनीय विषय' मानता होगा; तब यहां 'एक वर्ष' का वर्णन है, उसके विरुद्ध तथा निरुक्तकारके विरुद्ध 'विमान' अर्थ बताना, और उसको आर्षपरम्पराके अनुकूल बताना 'शशशृङ्गका तीक्ष्ण' करना है। आधिभौतिकता तो व्याजमात्र है। काल और विमान एक वस्तु नहीं हो सकते।

(ग) 'स्वर्ग' का 'सुख' अर्थ करनेमें वादीने कोई निघण्टु' आदिका प्रमाण नहीं दिया, 'लोके' का 'द्रष्टव्ये' यह अर्थ कैसे है—जबकि इसमें कृत्यप्रत्यय नहीं। इसपर वादीने कोई भी प्रमाण न देकर स्वा.द.के इस अर्थको निर्मूल सिद्ध करके स्वा.द.का असत्यसे प्रेम सिद्ध कर दिया है।

'दिव्' का अर्थ जहां 'स्वर्ग' है, वहां स्वा.द. द्वारा 'सूर्य' अर्थ कर देना ठीक नहीं। अथवा वादी सूर्यलोकको 'स्वर्गलोक' सिद्ध करना चाहे; तब तो स्वर्गलोककी सिद्धि हो गई। वेद तथा स्मृति आदियोंके स्वामीने मनमाने अर्थ कर डाले, इस पर हमारी 'आलोक' ग्रन्थमालामें प्रमाण पद-पद पर मिलेंगे। मनमाने अर्थ करनेमें हमारा विपक्षी भी कम नहीं। 'वेदं वेदाङ्गानि च' इस निरुक्तके पाठमें वेदका अर्थ वादिद्वारा 'उपवेद' कर देना—यह उसका प्रमाण है।

(घ) ब्राह्मणादि वर्णव्यवस्था जन्मसे ही है—यह हम 'आलोक' के

गत पुष्पोंमें लिख ही चुके हैं; तब फिर स्वा.द. का 'जन्मना वर्णः' से द्वेष जन्म-ब्राह्मणोंसे द्वेष स्पष्ट है। स्वामीने पारस्करगृह्यके आश्रयसे 'संस्कार-विधि' बनाई, और वहां आये 'ब्राह्मण-भोजनम्' का अर्थ छिपाकर 'मित्रों का भोजन' अर्थ कैसे कर दिया ? वेद भी तो 'इममोदनं निदधे ब्राह्मणेषु' (अ. ४।३४।८) 'ब्रह्मभ्यो विभजा वसु' (ऋ. १०।८५।२९) आदि सैकड़ों मन्त्रोंमें ब्राह्मणोंको भोजन तथा दान देना बताता है। इन वेदवाक्योंके आधारपर लिखे पारस्करके वचनों को क्या वादी उदरम्भरियोंका वाक्य कहेगा ? उदरम्भरी तो वादीका सम्प्रदाय ही है, जो चतुरतासे सनातनध-र्मियोंसे लिये हुए धनसे बड़ी-बड़ी बिल्डिंग्स तथा दुकानदारी बनाकर अपने लोगोंका पेट भर रहा है। फिर तो जो संस्कारोंकी विधि पारस्करने लिखी है, क्या वे वेदवाक्य हैं-यह वादी बता सकता है ?

'ब्राह्मोऽजातौ' (पा. ६।४।१७१) इस वेदाङ्गके सूत्रके अनुसार 'ब्राह्मणजात्युत्पन्न पुरुषका नाम 'ब्राह्मण' होता है, पर स्वा.द.ने उसे गुणकर्मानुसार माना है; अतः स्वामीका तथा तदनुयायी वादीका 'ब्राह्मण न होते हुए भी ब्राह्मण कहलानेवालोंसे घृणा थी' यह कथन कट गया। 'ब्राह्मण' जन्मसे ही वेदानुसार होता है' यह स.ध.का ही पक्ष स्थिर रहा। 'आलोक' ग्रन्थमाला पढ़ो।

(च) 'योऽनधीत्य द्विजो वेदं...स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः' (मनु. २।१६८) पर हमने लिखा था कि—इस मनुपद्यके 'जीवन्नेव' पदमें ठहरे हुए 'एव' से यह ध्वनि निकलती है कि—जीवनमें वर्णका परिवर्तन नहीं होता है, किन्तु मरनेमें ही वर्ण-परिवर्तन होता है। नहीं तो 'एव' शब्द व्यर्थ होता, और उसमें 'अनियमे नियमः' दोष होता; और असाभिप्रायता होती। इसी कारण तो इस मनुके पद्यके अर्थ लिखने के समय स्वा.द.जीने अपने पक्षके खण्डनके डरसे चालाकी की कि—'जीवन्नेव' पदका अर्थ ही नहीं किया, क्योंकि—इसमें मरनेपर ही वर्ण-परिवर्तनकी सिद्धि होती है, जैसे कि—आपस्तम्ब धर्मसूत्रमें लिखा है—

'धर्मचर्यया जघन्यो-जघन्यो वर्णः पूर्व-पूर्व वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ । अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं-जघन्यं वर्णमापद्यते जाति-परिवृत्तौ' (२।११। १०-११) यहां 'जातिपरिवृत्तौ' का अर्थ श्रीहरदत्तमिश्रने 'जन्मनः परिवर्तने' किया है, सो **जन्मका परिवर्तन मरणमें होता है**। जन्मका परिवर्तन यह है कि—पहले शरीरको छोड़कर दूसरा जन्म वा शरीर ग्रहण करना। इस शब्दका अर्थ भी **स्वा.द.ने स.प्र.में लोकदृष्टिसे छिपा लिया है**। इसी अर्थको बतानेवाला छान्दोग्योपनिषद् (५।१०।७) का वाक्य भी है।

जब ऐसी बात है, तब वादीका यह कहना कि—'यहां 'जीवन्नेव' पद इसलिए है कि कोई मर कर शूद्र बननेका अर्थ न कर लेवे' यह स्वयं खण्डित हो गया; क्योंकि—तब 'जीवन्नेव' शब्द व्यर्थ और असाभिप्राय हो जाता है, तभी तो **स्वामीने उसका अर्थ छिपाया और आपस्तम्बके पदका अर्थ** छिपाया, और ऋभाभू.में उसके अर्थमें हेरफेर किया।

आगे जो कि वादी यह कहता है—'स.प्र. के अर्थमें 'वह अपने पुत्र-पौत्र सहित' अर्थसे 'जीवन्नेव' का भाव संगृहीत है।' यह वादीका कथन बेबुनियाद तथा अशुद्ध एवं व्याजमात्र है; क्योंकि वह तो **'सान्वयः' पदका अर्थ है**। यदि मनुजीको इसीसे 'जीवन्' का अर्थ इष्ट होता; **तो मनुजी 'जीवन्नेव' और 'सान्वयः' दोनों पदोंको एक ही पद्यमें गृहीत करके** पुनरुक्ति क्यों करते? तभी तो यहां स्वामीने 'चोरकी दाढ़ीमें तिनका' चरितार्थ करते हुए 'जीवन्नेव' पदके अर्थको छिपा दिया। और फिर वादी एकके कर्मका फल दूसरेको होना नहीं मानते; तब पुरुषके वेदानध्ययनसे सारा कुल शूद्र क्यों कहा जाता? इससे तो कृतहान और अकृताभ्यागम दोष उपस्थित हो जाते? अतः स्पष्ट है कि—यहां वेदानध्ययनका 'अर्थवाद' है।

इससे निकलने वाली एक अन्य भी बात, आर्यसमाज के पक्ष की विघातक है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि **शूद्रको वेदाधिकार नहीं**

होता है। यदि होता, तो **वेद न पढ़ने वाले द्विजको 'शूद्र'-सदृश क्यों** कहा जाता? अन्य बात यहां यह है कि—वह जीवनमें 'शूद्र' जैसा कहा गया है। यहां अर्थवाद होनेसे 'शूद्र' का अर्थ है—'शूद्रसदृश'। जैसे कि—साहित्य-सङ्गीत-कलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः' (भर्तृहरिः) 'विद्याविहीनः पशुः' इत्यादि स्थलोंमें जैसे 'पशुः' का अर्थ 'पशु-सदृश' है, वैसे उक्त मनुपद्यमें भी 'शूद्र' का अर्थ 'शूद्र-सदृश' है।

तभी तो उक्त मनुपद्यके विषयमें 'वसिष्ठ-धर्मसूत्र' ने स्पष्टता की है—**'अश्रोत्रियाः (वेदानध्येतारः)...शूद्रसधर्माणो (शूद्रसदृशाः) भवन्ति। मानवं चात्र श्लोकमुदाहरन्ति**—'योऽनधीत्य द्विजो...स जीवन्नेव शूद्रत्वं' इत्यादि (३।१।२-३)।

'शूद्र' का 'शूद्रवत्' अर्थ कैसे? इस विषयमें महाभाष्यका यह वचन याद रख लेना चाहिये—**'अन्तरेणापि वतिम् अतिदेशो गम्यते**। तद् यथा-'एष ब्रह्मदत्तः। अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह तेन मन्यामहे ब्रह्मदत्तवद् अयं भवति' (१।१।२३) सो 'जीवन्नेव' पदके छिपानेने स्वा.द.जीके अपने पक्षके खण्डनकी चुगली कर दी। यहां वादी सफल नहीं हो सका।

(छ) प्रमाणवादसे हेतुवादको स्वामी अधिक मानते थे; इन पर हमने 'योवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः' (२।११) यह मनुका पद्य दिया था, जिसमें 'हेतुवादकी निन्दा' थी; तभी स्वामीने **'हेतुशास्त्राश्रयाद्' का अर्थ छिपा दिया था**। देखो (स.प्र. ३ पृ. ३०)। इस पर वादी कहता है—"स.प्र. में भावमात्र लिखा गया है, 'शब्दार्थ' नहीं'; तब 'दलीलबाजीसे श्रुतिस्मृतिका अपमान करता है' यह 'हेतुवाद' शब्दका भाव स्वामीने कहां दिया है, यह वादी बतावे?

स्वामीने 'हेतुशास्त्राश्रयात्' के अतिरिक्त **पद्यके शेष सब पदोंका अर्थ कर दिया है**, सो 'स्वामीने भावमात्र लिखा है, शब्दार्थ नहीं' यह वादीका बहाना कट गया।

केवल स्वामीने यहां ही स.प्र. में उक्त पदका अर्थ नहीं छिपाया,

किन्तु अन्य भी दो स्थलों पर छिपाया है। इसमें हम वे स्थल उद्धृत करते हैं—

स.प्र. १० समु. (पृ. १६२) में भी स्वामीने मनुके उक्त पद्यके शेष सभी पदोंका अर्थ किया है, केवल 'हेतुशास्त्राश्रयात्' का अर्थ छिपाया है। इसी प्रकार स.प्र. ११ (पृ. १९८) में भी 'हेतुशास्त्राश्रयात्' के भावका संकेतमात्र भी नहीं किया। हमारी बात सत्य और वादीकी बात असत्य निकली। आगे वादीने जो श्रीशङ्कराचार्यका उपालम्भ दिया है कि—'उनने अनेकों वाक्य अपने भाष्यमें प्रमाण रूपमें दिये, परन्तु उनके शब्दशः अर्थ नहीं किये हैं' यह उपालम्भ भी व्यर्थ है। उन्होंने अपनी पुस्तकें संस्कृतमें लिखी हैं, हिन्दीमें नहीं, तब वहां शब्दार्थकी क्या आवश्यकता थी? उसकी आवश्यकता तो हिन्दी माध्यम होनेपर होती है; क्योंकि—हिन्दी जाननेवालोंको संस्कृतके प्रमाणका अर्थ ज्ञात नहीं होता; अतः वहां अर्थ लिखनेकी आवश्यकता होती है। तभी तो स्वामीने उस पद्यका अर्थ लिखा भी है। शेष अन्य सब पदोंका अर्थ दिया, केवल 'हेतुशास्त्राश्रयात्' पदका अर्थ छिपाकर स्वामीने अपनी तर्कप्रियता सिद्ध कर दी।

आगे वादी भी अपना 'दलीलबाज़ी' में अभिनिवेश बताता है। लिखता है—'यदि दलीलबाज़ीको स्थान न दिया जावे; तो प्रमाणोंकी साराऽसारताका निर्णय किस प्रकार होगा?' यह बात गलत है। हमारे यहाँ तर्क सहायक अवश्य होता है, पर मुख्य नहीं। तभी तो मनुजीने वेदशास्त्राऽविरोधिना। यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः' (१२।१०६) लिखा है। सो तर्क प्रमाणकी सहायतार्थ तो होता है; अतः वह गौण हुआ करता है; पर मुख्य नहीं। यही बात 'न्यायदर्शन' के वात्स्यायनभाष्य में भी कही है—'अयं तर्कः तत्त्वज्ञानार्थः, न तत्त्वज्ञानमेव, अनवधारणात्। अनुजानाति अयमेकतेरं धर्मं कारणोपपत्त्या, न तु अवधारयति, न निश्चिनोति' (१।१।४०) कोई पुरुष वेदके वचनका दलीलबाज़ीसे खण्डन कर दे, तब क्या वादी उस वेदके वचनको असार मान लेगा?

महाशय! आपने भी 'दलीलबाज़ी' शब्दका आदरसे प्रयोग किया है; इससे आप भी 'दलीलबाज़ी' के हिमायती हुए। शास्त्रोंमें 'दलीलबाज़' को 'हैतुक' कहा जाता है। शास्त्र उसकी निन्दा करता है। देखिये—मनुजीने यहां तो 'हैतुक' का 'बहिष्कार' कहा ही है, अन्यत्र भी मनुजीने 'हैतुक' का वाणीमात्रसे भी सत्कार निषिद्ध कर दिया है। 'हैतुकान् (तार्किकान्) बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्' (४।३०)। इसीलिए 'सुश्रुत-संहिता' में भी कहा है—'तस्मात् तिष्ठेत्तु मतिमान् आगमे, न तु हेतुषु' (सूत्रस्थान ४०।२१)।

'वाक्यपदीय' में भी कहा है—'नचागमाद् ऋते धर्मः तर्केण व्यवतिष्ठते। ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागम-हेतुकम्' (१।३०) 'हस्तस्पर्शादिवान्धेन विषमे पथि धावता। अनुमान (तर्क) प्रधानेन विनिपातो न दुर्लभः' (१।४२) केवल तर्कप्रधान रहे; तो उसका पतन सम्भव हो सकता है। यहां भी आगमको मुख्य माना गया है, केवल-'तर्क' का तिरस्कार किया है। न्यायशास्त्रको तर्कशास्त्र कहते हैं, उसका नाम 'आन्वीक्षिकी' होता है। उसपर न्यायने कहा है—'प्रत्यक्षाऽऽगमाभ्यामीक्षितस्य अन्वीक्षण-मन्वीक्षा, तया प्रवर्तते इति आन्वीक्षिकी। यत् पुनरनुमानं (तर्कः) प्रत्यक्षाऽऽगमविरुद्धं न्यायाभासः सः' (न्याय. १।१।१) यहां आगमसे विरुद्ध तर्कको 'न्याय' नहीं माना गया; किन्तु न्यायाभास ही माना गया है। वादिप्रतिवादिमान्य महाभाष्यकारने भी कहा है—'शब्द-प्रमाणका वयम्, यत् शब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्' (पस्पशा.)।

तब वादीका 'दलीलबाज़ीसे प्रमाणोंकी सारासारताका निर्णय' बताना गलत है; किन्तु वेद तथा स्मृतिसे अविरुद्ध (तदनुकूल) तर्कसे ही धर्मका ज्ञान होता है। जैसे कि—मनुजीने कहा है—'आर्षं (वेदं) धर्मोपदेशं (स्मृतिं) च वेद-शास्त्रा (स्मृत्य) विरोधिना। यः तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः' (१२।१०६) केवल हैतुकतासे श्रुति-स्मृतिका अपमान करनेवालेके बहिष्कारकी घोषणा की है। पर आर्यसमाजी भी दलीलबाज़ीके

प्रेमी होनेसे इस पद्यका भी 'वेदशास्त्राऽविरोधिना' यह पद लोकदृष्टिमें छिपाकर 'यस्तर्केणानुसन्धत्ते' इतना पद्य कहा करते हैं। इससे वादीका पक्ष कट गया।

(ज) 'ऋतुमती अपि' पर हम आलोचना 'आलोक' (९) में (पृ. २२८ से) कर चुके है, पर वादी यह न कहे जि–उसे यहां उद्धृत नहीं किया गया; अतः हम यहां भी लिख देते हैं—

'काममामरणात् तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि' (९।८९) वादी इसे 'ऋतुमती कन्याके विवाहमें प्रमाण' माना करते हैं; यह ठीक नहीं। यह तो कन्याके 'ऋतुमती होनेसे पूर्वमें विवाह करनेको बतानेवाला प्रमाण है। वादी लोग जब तक पूर्वापर-प्रकरण या उस वचनका पद न छिपावें; तब तक उनके पेटमें पानी नहीं पचता। यहां पर 'कामं' और ऋतुमती अपि' इन पदोंका अर्थ छिपाया जाता है। इस पद्यका यह अर्थ है–'चाहे कन्या ऋतुमती भी होकर पिताके घर मरने तक बैठी रहे, पर लड़कीको पिता गुणहीनको कभी न दे'। इसमें 'अपि' तथा 'कामं' शब्दकी ध्वनिसे यह स्पष्ट हो रहा है कि–'पिता कन्याको ऋतुमती होनेसे पूर्व ही गुणवान् वरको दे दे'। यहां 'भले ही रहे', यह तो है, पर 'उसे रहना ही चाहिये' यह अर्थ सर्वथा ही नहीं है।

इसी कारण इस पक्षकी सिद्धिसे डरकर स्वा.द.जीने स.प्र. (४ समु. पृ. ४६) में 'ऋतुमती अपि' का अर्थ ही नहीं किया कि—कहीं ऋतुकाल से पूर्व कन्याका विवाह सिद्ध न हो जावे। और इस पद्यमें 'ऋतुमती' लिङ्गसे 'लड़की' का अर्थ है; पर स्वा.द.ने 'लड़के' का अर्थ भी साथ घुसेड़ दिया। क्या लड़का भी ऋतुमती होगा? खूब!!! इसी प्रकार स्वामीने सं.वि. (पृ. १२७) में भी इस पदका अर्थ नहीं किया। इस अर्थ चुरानेसे स्पष्ट है कि—'दालमें कुछ काला है' परन्तु छिपानेसे वह बात छिपती नहीं; किन्तु और अधिक प्रकट हो जाती है। इस कथनसे व्यक्त हो रहा है कि–पिताके घरमें विवाहसे पूर्व मनुजीको कन्याका

ऋतुमती होना इष्ट नहीं। तभी तो मनुजी 'द्वादशवार्षिकीम्' (९।९४) ऋतुमतीत्वसे पूर्व ही १२वें वर्ष तक कन्याका विवाह कर देना चाहते हैं।

जहां १२ वर्षसे अधिक वर्षकी मनुजीने कन्याविवाहावस्था वताई है; वहां 'अदीयमाना' (९।९१) कन्याके पिता द्वारा अदीयमानतामें बताई है, सामान्यतया नहीं, तब वहाँ पिताका लड़कीपर आधिपत्य भी नहीं वताया गया है, किन्तु लड़कीको स्वयं वर ले लेना वताया है; पर वह गान्धर्व-विवाहका रूप होनेसे मनुजीको उत्तमरूपसे इष्ट नहीं—वह विवाहके लक्षणों में मनुजीकी व्यवस्थासे सिद्ध है।

जो कि वादीने द.सि.प्र. में स्वा.द.जीके 'ऋतुमती अपि' शब्दका अर्थ न करनेपर हमसे किये हुए आक्षेपमें प्रत्युत्तर दिया है कि–'मनुके ९।९० श्लोककी व्याख्यामें स.प्र. (४ समु.) में 'ऋतुमती' का अर्थ कर दिया था, अतः प्रसङ्गमें इस श्लोक (९।८९) का केवल भाव ही दे दिया; 'ऋतुमती अपि' का शब्दार्थ नहीं किया'।

वहानेवाजीमें आर्यसमाजी लोग होशियार हुआ करते है। यहां हमने यह थोड़े ही कहा है कि—स्वामीने 'ऋतुमती' का अर्थ नहीं दिया, किन्तु 'ऋतुमती अपि' का अर्थ स्वामीने नहीं किया, यही हमने लिखा था। सो 'ऋतुमती अपि' इन शब्दोंका अर्थ छोड़ देनेसे हमारी उक्त बात (स्वा.द.जीका असत्यसे प्रेम) सिद्ध हो रही है।

यदि वादीके अनुसार ९।९० पद्यके 'ऋतुमती' के अर्थ करनेसे ९।८९ पद्यके 'ऋतुमती अपि' के अर्थ करनेकी आवश्यकता नहीं; तो मनुजीने दोनों ८९-९० पद्योंमें 'ऋतुमती' शब्दको दो वार क्यों पढ़ा, यह क्या वादीको समझ नहीं आता? और फिर ९० पद्यमें 'ऋतुमती सती' है, और ८९ में 'ऋतुमती अपि' है। दोनोंमें सहचारी पदोंकी भिन्नतासे भी तात्पर्यभेद प्रत्यक्ष हो जाता है; तब हमारी कही हुई वह बात कि–स्वामीजी रजस्वला-विवाहके प्रेमी थे—यह स्पष्ट सिद्ध हो रही है।

सो स्वामीने 'ऋतुमती अपि' का शब्दार्थ भी नहीं दिया, और

'ऋतुमती ग्रपि' का भावार्थ भी नहीं दिया। यहां वादीका असत्य-कथन स्पष्ट है कि—'स्वामीने इसका भाव ही लिख दिया। तभी स्वामीने ८९-९० पद्योंका अर्थ क्रमसे न करके व्युत्क्रम (आगे-पीछे) से किया। और 'त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमारी ऋतुमती सती' इस ९० पद्यमें भी लड़कीका ऋतुमती होनेपर सर्व-साधारणसे विवाह नहीं कहा गया, किन्तु 'अदीयमाना' (९।९१) यह पिता आदिसे गुणवान् वरको यथासमय न दी गई कन्याके आपत्तिकालमें कहा है; अतः यह अपवाद है। अपवादसे अपने विषयको छोड़कर शेष स्थान उत्सर्गकी निवृत्ति नहीं हुआ करती—'न चोत्सर्गस्य अपवादाद् निवृत्तिः' (योगदर्शन व्यास. साधन १३) यह एक न्याय है। इसी रजस्वला-विवाह प्रेमके कारण स्वामीने ९।९० पद्यके व्यवस्थापक ९।९१ मनुपद्यके अर्थको भी लोकदृष्टिसे चुरा लिया।

सो 'कुमारी ऋतुमती अपि पितृगृहे कामं तिष्ठेद्' इससे मनुजी ऋतुमती-विवाहको इष्ट नहीं करते—यह स्पष्ट है। इसके ज्ञापक 'पित्रे न् दद्यात् शुल्कं तु कन्यामृतुमतीं हरन्। स हि स्वाम्याद् अतिक्रामेद् ऋतूनां प्रतिरोधनात्' (९।९३) तथा 'अलंकारं नाददीत पित्र्यं कन्या स्वयं-वरा। मातृकं भ्रातृदत्तं वा, स्तेना स्याद् यदि तं हरेत्' (९।९२) यह दो पद्य भी हैं।

जो कि द.सि.प्र,में वादी कहता है कि—'असदृश वरको न देनेमें यह अपवाद बताया गया है' इस पर वह जाने कि—'रजस्वलात्वसे पूर्व कन्या गुणवान् वरको दे देनी चाहिये' यह सिद्धान्त इस पद्यसे निकल रहा है। "२।९०-९१ श्लोकोंमें यह अपवाद तीन वर्षका है, और पुनः स्वयं कन्या को विवाह करनेका अधिकार दे दिया गया है" यह वादीकी बात ठीक हैं, इससे जो कि स्वा.द. आदि यह विधि बताते हैं कि—१६वें वर्षमें लड़की-का विवाह किया जावे, यह उनकी बात कट गई; क्योंकि—यह 'अदीय-मानता' में अपवाद-वचन है। यह उत्सर्ग वा विधिवचन नहीं, यह 'अदीयमाना' (९।९१) इस लिङ्गसे प्रकट है। इससे यह सिद्धान्त स्पष्ट

हो रहा है कि—पिता कन्याका दान करे और ऋतुकालसे पूर्व कर दे। ऋतुकाल हो जाने पर लड़कीको स्वयं वर कर लेनेके अधिकार दे देनेसे मनुजीने यह स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि—पिताका लड़कीपर अधिकार ऋतुमतीत्वसे पूर्व ही रहता है। वेदादिशास्त्रोंमें जब 'लड़कीका पिता द्वारा दान' बताया गया है; इनसे स्पष्ट है कि—वह ऋतुकालकी अवस्थासे पूर्व की है। यदि वह ऋतुकाल वाली होती; तब उसका स्वयं पतिको ले लेना कहा जाता; पिता द्वारा उसका दान शास्त्रोंमें न कहा जाता। इसलिए 'कालेऽदाता पिता वाच्यः' (९।४) में मनुजीको ऋतुकालसे पूर्व ही कन्याका दान इष्ट है। उसीको मनुजीने 'स (पिता) हि स्वाम्याद् अतिक्रामेद् ऋतूनां प्रतिरोधनात्' (९।९३) इस अपने पद्यमें स्पष्ट कर दिया है। इसलिए गौतमधर्मसूत्रमें—'प्रदानं प्राग् ऋतोः, अप्रयच्छन् दोषी' (२।९।२१-२२) लड़कीका ऋतुसे पूर्व विवाह कर देना कहा है। इस विषयमें सर्वाङ्गपूर्ण स्पष्टता 'आलोक' (९) पृ. २३५-२४१) में वादीको देखनी चाहिये।

आगे द.सि.प्र.में वादीका यह आक्षेप है—'१० वर्षके बाद कन्या रजस्वला हो जाती है, और उसे देखकर पिता आदि नरकको जाते हैं, इन वचनोंकी आपके यहां क्या स्थिति होगी?'

यहां पर दस वर्षके बाद किसी देश-कालमें ऐसा होना सम्भव सूचित किया गया है, परन्तु प्रायः १२-१३ वर्षके बाद ही कन्याका ऋतुधर्म भारतीय प्रकृति है, सो वहां वही अवस्था विवाहकी होगी। भाव यह है कि—जहां जिस कालमें ऋतु होता है, उससे कुछ पूर्व ही कन्याका विवाह कर देना चाहिये।

शेष है मनुजीके अपवाद-वचन पर वादीका यह आक्षेप कि—'घरमें रजस्वलाका दर्शन करते रहनेसे अधिक रजस्वलाप्रेम और क्या हो सकता हैं' (पृ. २६७) इसपर वादी यह जाने कि—'विषं भुङ्क्ष्व, मास्म चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इस न्यायसे जैसे विष खाना इस वाक्यका तात्पर्य-विषय

नहीं होता, किन्तु उस व्यक्तिके घरमें भोजन न करना ही तात्पर्यका विषय होता हैं, वैसे ही मनुजीका कन्याको गुणवान् वरको ऋतुमतीत्वसे पूर्व दे देनेमें तात्पर्य वा सिद्धान्त है, न कि ऋतुमती कन्याको घर बैठाने में—यह हम पहले स्पष्ट कर चुके है। सो वादीको आक्षेपमात्रमें शूर न बनकर कुछ अपनी बुद्धि भी उसमें लगानी चाहिये।

इसलिए विष्णुस्मृतिने 'ऋतुत्रयमुपास्यैव कन्या कुर्यात् स्वयं वरम्। ऋतुत्रये व्यतीते तु प्रभवत्यात्मनः सदा' (२४ अ.) पिता द्वारा यथासमय वरको न दिये जानेपर कन्याको तीन ऋतुके बाद स्वयं ही वर कर लेना कहा है; क्योंकि—तब पिता उसका स्वामी नहीं होता; वह आप ही अपनी स्वामिनी होती है। इसी प्रकार मनुवचनमें भी 'त्रीणि वर्षाणि' का भी 'तीन ऋतु' अर्थ प्रतीत हो रहा है। एक ऋतुकाल उस लड़कीके वर्षके समान होता है-यह वहां तात्पर्य है। जैसे मीमांसामें 'वर्ष' का अर्थ 'दिन' बताया गया है; वैसे ही यहां वर्षका अर्थ 'ऋतु' है।

सो मनुजी भी ऋतुकालसे पूर्व ही कन्याका विवाह चाहते हैं, ऋतुकालमें विवाहकी विधि कहीं नहीं करते। यह 'त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत' (प्रतीक्षेत) **विधिवचन नहीं, किन्तु अपवाद है। अपवादसे कहीं व्यवस्था नहीं हुआ करती।** जो परिस्थितिवश ऋतुमतीत्वसे पूर्व कन्याका विवाह नहीं कर सकते, वे आर्यसमाजियोंसे दिये जाते हुए 'संस्कारकौस्तुभ' के वचनसे **गोदान वा दक्षिणा-दानादिरूपमें प्रायश्चित्त कर लेते हैं,** परन्तु 'प्रायश्चित्तीया मा भूम' इस भाष्यकारके अनुसार उससे पूर्व ही कन्या-विवाह कर देना—यह धर्मशास्त्रीय सिद्धान्त है। पर रजस्वलाविवाहप्रेमी स्वा.द.जीने इन सब बातोंको लोकदृष्टिमें आने न देकर 'ऋतुमती अपि कामं तिष्ठेत्' इसका अर्थ छिपाकर बड़े दुस्साहसका कार्य किया है।

वस्तुतः शीतदेशकालमें तो लड़कीकी विवाहावस्था बढ़ाई जावे; यह ठीक है; पर भारतदेश जैसे उष्णदेशकालमें उसका बढ़ाना ठीक नहीं। जैसे उस शीतलदेशकी 'कुनाइन' ओषधि इस उष्णदेशमें बलात् लाई गई

है, वैसे १२-१३ वर्षसे ऊपर कन्याविवाह करना यह अवस्था भी यूरोपसे बलात् लाई गई है। पर अब तो यूरोपमें भी लड़कियोंकी ऋतुकालावस्था पूर्व होने लगी है। देखिये—

दैनिक 'वीर अर्जुन' (२९-१०-६५ के अङ्क) में ब्रिटिश बालिकाएं ब्रिटिश महिला-डाक्टरके अनुसार ब्रिटेनके स्कूलोंकी छात्राएं अल्प आयुमें ही किशोरीसे युवती इसलिए बन जाती हैं कि—वे मांस खाती हैं। इससे उनके यौन-विकास शीघ्र होने लगता है।...मांसमें ऐसे कामोत्तेजक तत्त्व हैं, जिनसे बालिका शीघ्र विकसित-युवति बन जाती है। अब बालिकाओंकी पूर्ण-युवति बननेकी आयु १७ वर्षसे गिरकर १३॥ वर्ष तक जा पहुँची है'। यह एक उद्धरण हमने दिया है। अब दूसरा उद्धरण भी देखिये—

"१२-१३ वर्षकी लड़कियां मां बन गईं" (विसवेडन जर्मनी २ अगस्त) यहां १२-१३ वर्षकी ९ लड़कियां माताएं बन गईं। पश्चिमी जर्मनीके केन्द्रीय सोरिव्यक विभागने १९६६ की रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए उक्त आंकड़े दिये' (वीर अर्जुन ३।८।६८)। 'नवभारत' (३०-११-६८) में ब्रुसेल्समें १० वर्ष की लड़कीका प्रसव करनेकेलिए हस्पतालमें भर्ती होनेका वृत्त छपा है। (श्रीसातवलेकरजीकी स्त्री १२ वर्षमें व्याही थी। अब उसकी आयु ९१ वर्षकी है। श्रीसातवलेकरजीका १०१ वर्षमें देहान्त हुआ।)

जब ठण्डे देश यूरोपका यह हाल है; तब उष्णदेश भारतमें तो लड़कियोंके १३वें वर्षमें युवति होनेमें कोई शंका न रही। 'वीर अर्जुन' में यह एक खबर छपी थी—'इस समय यह लड़की १३ वर्षकी अल्पायुमें १॥ वर्षकी एक बच्चीकी मां है (१८-८-६८ पृ. ८) तब शास्त्रकारोंका ऋतुमतीत्वसे पूर्व कन्या-विवाह करनेका सिद्धान्त अक्षत रहा; पर स्वामी जीने यूरोपकी चकाचौंधमें आकर १७ से २४ वर्ष तक कन्याविवाहकी आयुका निर्धारण जो किया है वह अशास्त्रीय है। इसी बातको सिद्ध करनेकेलिए उन्होंने 'ऋतुमती अपि' इन शब्दोंका अर्थ 'काममामरणात्

तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि। न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्' (९।८९) पद्यमें छिपा लिया था; तभी तो उसका अर्थ नहीं किया, यह हमारी बात सिद्ध हो गई।

(फ) "अधर्मचर्यया पूर्वः पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जाति-परिवृत्तौ' इस आपस्तम्बवचनमें मरनेपर ही वर्णका परिवर्तन स्पष्ट है; पर स्वामीने 'गुणकर्मसे वर्णव्यवस्था' को इस वचनसे बलात् निकालते हुए स.प्र.में उक्त सूत्रके 'जातिपरिवृत्तौ' का अर्थ छिपा दिया, जिसका अर्थ था 'जन्मपरिवर्तन (मृत्यु एवं पुनर्जन्म) होनेपर वर्णपरिवर्तन हो सकता है। इसी अर्थमें सङ्गति है। स्वा द.के अर्थमें तो पुनरुक्ति होनेसे स्पष्ट असङ्गति है। यह हमने 'दयानन्द-रहस्य' के 'मुखवन्ध' में लिखा था। इस पर वादीने कुछ भी दोष नहीं दिखलाया, और स्वा.द. द्वारा उस शब्दके अर्थको स.प्र. में छिपाना भी वादीने स्वीकृत कर लिया। इस विषयकी स्पष्टता 'आलोक' के ४र्थ पुष्प तथा अन्य पुष्पोंमें वर्णित है।

यहां जो कि वादी आपत्ति करता है कि—'जो धर्मपरिवर्तन करके यवन ईसाई हो जाते है; उनको जन्मपरिवर्तन-पर्यन्त उसी ही वर्णमें मानना चाहिये' यह आपत्ति निस्सार है। तब भी वे उसी वर्णके होते हैं, हां, उन्हें कुब्राह्मण एवं अधम ब्राह्मणादि कह सकते हैं, शेष है उनसे व्यवहार, सो लड्डू नाली वा मोरीमें गिर जावे; उसे कहा तो लड्डू ही जावेगा; पर वह व्यवहार्य नहीं होता; इस प्रकार वह अधम ब्राह्मण भी व्यवहार्य नहीं होता। पर यदि लड्डूवाली बात यहां उपमावश पूरी न भी मानी जावे, तब यदि वह कामपूर्वक ईसाई-मुसलमान नहीं बना; किन्तु बलात्कारसे वा इसी प्रकारके किसी अन्य कारणवश विधर्मी बनाया गया है, तब यथायोग्य-प्रायश्चित्तपूर्वक उसे अपनाया जा सकता है। इस आक्षेपसे हमारे पक्षकी कुछ भी हानि नहीं। मरनेके बाद शरीर-परिवर्तनकी भांति उसके वर्णका भी परिवर्तन होगा। पक्ष हमारा अक्षत ही रहा है।

(ब) हमने लिखा था—'स्वामीजी वेदमन्त्रोंका अर्थ करते समय बहुतसे पद अर्थोंमें प्रक्षिप्त कर डालते थे। उसमें हमने 'इयं नारी पति-लोकं वृणाना' मन्त्रका उदाहरण दिया था कि स्वामीने 'प्रेतं (मृतं) पतिं' के आगे 'विहाय' पद प्रक्षिप्त कर डाला 'त्वा उपनिपद्यते' में 'पतिं (जीवितं) बढ़ा डाला, 'तव समीपं नियोग-विधानेन आगच्छति. तां त्वं गृहाण, अस्यां सन्तानानि (?) उत्पादय' इत्यादि पद स्वा.द.ने बढ़ा दिये; वे मन्त्रमें कहां हैं—वादी ही बतावे ?

इस पर वादी लिखता है—'महर्षिने मन्त्रमें तो कोई प्रक्षेप नहीं किया। अर्थ करते समय यदि कोई शब्द अध्याहृत किया जाता है, उसका नाम प्रक्षेप नहीं है'। इस पर वादी यह जाने कि—हमसे उद्धृत किये हुए यह पद स्वामीने मन्त्रार्थमें मन्त्रके मूलपदोंका अन्वय करते हुए मन्त्रके पदों में स्वयं प्रक्षिप्त कर दिये, मन्त्रमें यह मूलपद नहीं थे। अध्याहार मूलमें न्यूनता होनेपर ही हुआ करता है, वह न्यूनता जिन शब्दोंसे दिखलाई जाती है, वह प्रक्षेप ही तो होता है। मन्त्रमें तो था—'निपद्यते उप त्वा मर्त्य प्रेतम्' पर स्वामीने 'विहाय' यह शब्द 'प्रेतं' के आगे उसमें प्रक्षिप्त कर दिया।

मैं वादीका कोई संस्कृतका वाक्य उद्धृत करूं, उसमें अर्थ करते समय उसके मूल पदोंमें कोई शब्द अपनी इच्छासुसार अर्थमें प्रक्षिप्त कर दूं; जिससे वादीका इष्ट अर्थ बदल जावे, तब क्या वादी उपालम्भ नहीं देगा कि—आपने मेरे मूलवाक्यके अर्थ करते समय मेरे मूल पदोंमें अपने अन्य शब्द अपनी इच्छानुसार क्यों प्रक्षिप्त कर दिये ? क्यों ऐसा किया ? जब नियोगका कोई उस मन्त्रमें प्रकरण नहीं है; तब वे शब्द वहां क्यों प्रक्षिप्त किये गये ?

आगे वादी लिखता है कि—'क्या आपके अनुसार 'प्रेत' का अर्थ 'जीवित' होगा' ? हमने ऐसा कब कहा है कि—'प्रेत' का अर्थ जीवित है ?

आप ही लोग वहाँ भी अर्थ पलटते हैं। हम तो वहां मृतक-पतिके साथ उसकी स्त्रीका मन्त्रानुसार 'सती होना' बताते हैं; आप लोग ही जीवित के साथ विधवाका विवाह बताते हैं; जो कि शास्त्रीय वा वेदानुकूल नहीं है। हम तो कहते हैं कि—वहां 'प्रेतं त्वा उपनिपद्यते' यह अन्वय है और ठीक भी है; और यह अर्थ हैं कि—'हे मरणधर्म वाले पुरुष ! यह नारी तुझ मरे हुएके पास अनुमरणार्थ लेटी है'। पर स्वा.द.जीने यहां 'प्रेतं विहाय' यह 'विहाय' शब्द वहां वैदिक मूलपदोंमें प्रक्षिप्त कैसे कर दिया ? जबकि वह मन्त्रमें नहीं है ? इससे मन्त्रका अर्थ उल्टा हो गया। क्या यह मन्त्रके मूलपदोंमें अपने पक्षका प्रक्षेप 'मन्त्रमें स्वामीका प्रक्षेप' नहीं ? इससे वादीका अग्रिम कथन व्यर्थ है।

'मृतपतिसे अतिरिक्त और किसीके साथ सती होती है' यह हमने कहां कहा है ? यह तो वादीका समाज ही प्रक्षेप करके 'मरे हुए पतिको छुड़ाकर उसे अन्य जीवित पति, बिना वेदके कहे ही दे देता है। ऐसी स्त्री भला सती कैसे हो सकती है ? इस मन्त्रपर तो वादी चुप्पी लगा गया है; क्योंकि—उसे 'इयं नारी' इस मन्त्रमें नियोग बलात्कार-मूलक मालूम हुआ।

'ऋग्विधान'का समाधान।

(५८) अब वादी आगे 'उदीर्ष्व नारि' इस मन्त्रको हमसे उपस्थित न करनेपर भी उसे स्वयं ही बलात् उपक्षिप्त करता है। इससे प्रतीत होता है कि—वादीको यह मन्त्र नियोग-विषयमें अधिक प्रबल मालूम हुआ है। इसपर वह लिखता है—'ऋग्विधान' में 'उदीर्ष्व नारि' इस मन्त्रको नियोगमें ही लगाया है'।

इसपर प्रष्टव्य है कि—क्या 'ऋग्विधान' पुस्तक आर्यसमाजकी मान्य धर्मपुस्तक है, जिसे मानकर स्वा.द.ने इस मन्त्रका 'नियोग'-परक अर्थ किया है ? क्योंकि अन्य तो किसीने इसे नियोगमें लगाया ही नहीं है। यही बात वादीसे उपजीव्य आर्यसमाजी श्रीरामावतार तीर्थ-चतुष्टयने भी

लिखी है कि—'ऋग्विधान' ही एक ऐसी पुस्तक अब तक मेरी आंखोंके सामने आई है, जिसने स्पष्ट शब्दोंमें 'उदीर्ष्व नारि' का स्वा.द.जीसे प्रतिपादित नियोगके अर्थमें विनियोग बताया है' ('स्वाध्याय' प्रथमभाग पृ. १५६)।]

वस्तुतः 'ऋग्विधान' ने स्वा.द.से माना हुआ नियोग नहीं बताया, क्योंकि—वह (ऋ. वि.) स्वा.द.जीसे पीछेकी पुस्तक थोड़े ही है ? किन्तु ऋ.वि.ने तो मनुसम्मत कन्या (कुमारी)-अविवाहित विधवाका नियोग बताया है। स्वा.द. तो उक्त मन्त्रसे अपनी इच्छानुसार विवाहिता विधवाका नियोग बता गये थे; जिसका पूर्णवेदज्ञ मनुजीने 'नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्। न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः' (९।६५) 'नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः। अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम्' (९।६६) इन पद्योंके द्वारा द्विजोंके लिए निषेध किया था।

'ऋग्विधान' में भूतप्रेतादि भी माने गये हैं; फिर स्वामीने ऋ.वि. के अनुसार भूत प्रेतादियोनि क्यों नहीं मानी ?. हमारे पास 'गणपत कृष्णाजी' के प्रेसमें मुद्रित 'ऋग्विधान' है, जो सायणभाष्यवाली ऋसं. के साथ छपा था; उसमें वादीका लिखा पद्य नहीं मिलता; तथापि हम उसका रहस्य बताते हैं। वादीसे उद्धृत पद्य यह है—'भ्रातुर्भार्यामपुत्रस्य सन्तानार्थं मृतेपतौ। देवरोऽन्वारुरुक्षन्तीमुदीर्ष्वेति निवर्तयेत्' (३।४४)।

यहाँपर 'पतौ' हैं। वादी जानता होगा कि—'पतिः समास एव' (पा. १।४।८) 'पति' की समासमें ही 'घि' संज्ञा होती है। अकेले 'पति' का सप्तमीमें 'पत्यौ' बनता है, 'पतौ' नहीं। तब यहाँ 'पतौ' कैसे है ? स्पष्ट है कि यह समासयुक्त पद है। 'मृते अपतौ' यह छेद है। यहां पर 'एङः पदान्तादति' (पा. ६।१।१०९) से पूर्वरूप होकर 'मृतेपतौ' बना हैं। 'ऽ' का चिन्ह कोई पाणिनिसे अनुशिष्ट नहीं कि—उसका होना आवश्यक हो। 'अपतिः' का विग्रह है—'न पतिः इति अपतिः'। यह नञ्

तत्पुरुष समास है। यहां पर 'नञ्' निषेधवाची नहीं; किन्तु यह वाग्दानादिका उपलक्षण है।

नञ्के 'छः' अर्थ हुआ करते हैं—'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः' इनमें एक 'सादृश्य' अर्थ, तथा दूसरा 'अल्प' अर्थ भी हुआ करता हैं। आर्यसमाजी श्रीचारुदेवशास्त्री अपने 'शब्दापशब्दविवेक' में 'मनो न रमते स्त्रीणां जराजीर्णेन्द्रियेपतौ' (पृ. ८ पं. ७) के 'पतौ' के लिए लिखते हैं—'केवलस्य 'पति' शब्दस्य घिसंज्ञा नास्ति, इति सप्तम्यां 'पत्यौ' इति इष्यते' (अकेले पतिकी घिसंज्ञा नहीं हुआ करती, अतः यहां 'पत्यौ' होना चाहिते। फिर वह इस पर दूसरा समाधान करते हैं) **नञ्-समासो वा अत्र इष्टः**, कुत्सितः पतिरपतिः। अप्राशस्त्ये नञ्' (पृ. १५२ पं. ४-५) अर्थात् यहां 'अपतौ' यह समासवाला पद है, और यहां नञ्का 'अप्रशस्त' अर्थ है। सो उनने भी यहां 'अपतौ' पाठ ही माना है।

इसी प्रकार वे (श्रीचा.दे.जी) 'क्लीबे च पतितेपतौ' पर भी लिखते हैं—'पत्यौ इति तु युक्तम्, हेतुश्च उक्तपूर्वः') (पृ. १५२) अर्थात् यहां भी 'पत्यौ' चाहिये, अथवा पूर्वानुसार 'अपतौ' समस्त पद इष्ट है, यहांपर नञ् का अर्थ 'अल्प' होगा; सो यह वाग्दत्त-पतिका उपलक्षण है। इसी प्रकार 'ऋग्विधान' के पद्यमें भी 'पत्यौ' होना चाहिये था; जब नहीं है, और वहां 'पतौ' है; तो स्पष्ट है कि वह समस्त होनेसे 'अपतौ' है। सो यहां नञ्का सदृश वा अल्प अर्थ इष्ट होसेसे 'अपतौ' होनेसे पूर्वरूपमें प्रयोग है। सो वह 'अपति' वाग्दत्त-पति ही यहां इष्ट हैं; उसकी मृत्युमें वाग्दत्ता वह लड़की 'विधवा' मानी जाती है; उसका कारण यह है—मनुजीने लिखा है—'प्रदानं स्वाम्य-कारणम्' (५।१५२) अर्थात् वाग्दानमें लड़की जिसे वाणीसे दी जाती है; **वही उस दिनसे उसका पति हो जाता है**। विवाहसे पूर्व उस पतिका भेद रखनेकेलिए उस वाग्दानकालीनको 'अपति' कह दिया जाता है।

अथवा उसे 'पतिरित्याख्यातः पतिः' इस नामधातुवाला 'पति' भी कह दिया जाता है, वह लाक्षणिक 'पति' होनेसे वाग्दानकालीन माना जाता है; उसकी विशेषता यह होती है कि—उसका 'पतिः समास एव' (पा. १।४।८) इस प्रतिपदोक्त 'पति' शब्दसे भेद होनेसे उसपर घिसंज्ञा-निषेधका प्रभाव नहीं पड़ता; उसका सप्तमीमें 'पतौ' बन जाता है। भाव यह है कि—'ऋग्विधान' के पद्यमें चाहे 'अपतौ' मानो, चाहे 'पतौ' मानो, दोनों दशाओंमें भी वहां विवाहवाचक 'पति' न मानकर उसे **वाग्दानकालीन पति ही माना जाता है।**

फलतः उस लड़कीका जिससे वाग्दान होता है, मनुजीके पूर्व कहे वचनके अनुसार वही उसका पति हो जाता हैं। वाणीसे दान होनेसे वह वाग्दान कहा जाता है। 'रामो द्विर्नाभिभाषते' के अनुसार 'वागेका तु मनस्विनः' वाणी सत्पुरुषकी एक हुआ करती है; दो नहीं। एक बार कहकर वह वाणी वदली नहीं जाती। उस लड़कीका पति वह स्थिर कर लिया जाता है। फिर दूसरी बार उसीके अनुवादमें लड़कीका सङ्कल्पके जलसे दान होता है। यह और मजबूत कर देता है। तीसरी वार उसीके अनुवादमें सप्तपदी हो जानेपर अन्य भी दृढ़ता हो जाती है। पति वही वाग्दानवाला ही स्थिर रखा जाता है।

अथवा 'ऋग्विधान' के पद्यमें 'अपतौ' न भी माना जावे; 'पतौ' ही माना जावे; तब उसकी सिद्धि तत्त्वबोधिनीकारसे प्रदर्शित 'पतिरित्याख्यातः पतिः' इस नामधातुसे औणादिक 'इ' प्रत्यय करनेपर होगी। सो उसको लाक्षणिक होनेसे वाग्दानकालीन पति माना जाता है। इसका प्रमाण यह है कि—प्रतिपदोक्त 'पति' का सप्तमीमें 'पत्यौ' बनता है, 'पतौ' नहीं; परन्तु लाक्षणिकका तो 'पत्यौ' न बनकर 'पतौ' बनता है। कारण यह है कि—'पतिः समास एव' में 'पति' शब्द प्रतिपदोक्त होनेसे जो विवाहवाले पतिका वाचक है—उसकी तो घिसंज्ञा समासमें होती है, असमासमें नहीं; अतः वहां वाग्दानकालीनता बतानेकेलिए नञ्समास रखना पड़ता है।

अथवा वाग्दानकालीनता बतानेकेलिए लाक्षणिक नामधातु वाला 'पति' शब्द रखा जावे; तो उस पर 'पतिः समास एव' (पा. १।४।८) इस प्रतिपदोक्त पतिवाले सूत्रका प्रभाव न होनेसे वहांपर असमासमें भी 'घि' संज्ञा हो जाती है, जैसा कि—तत्त्वबोधिनीकारने प्रकृतसूत्रकी टीकामें 'क्लीबे च पतितेपतौ' इस पराशरके वचनको उदाहृत किया है। इस विषयमें स्पष्टतार्थ 'आलोक' (८) में 'पतौ या अपतौ' इस निबन्धका मनोयोगसे अध्ययन करना चाहिये।

'पतौ' को यहाँ आर्षपाठ किसीने नहीं माना है, नहीं तो तत्त्वबोधिनी-कार श्रीज्ञानेन्द्र सरस्वती 'क्लीबे च पतिते पतौ' इति तु आर्षम्' इस सुगम समाधानको छोड़कर 'पतिरित्याख्यातः पतिः। 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिचि (प्रातिपदिकत्वेन इष्ठवत्त्वात्) टिलोपे 'अच इः' इत्यौणादिके 'इ' प्रत्यये 'णेरनिटि' इति णिलोपे च निष्पन्नोऽयं 'पति' शब्दः 'पतिः समास एव' इत्यत्र न गृह्यते, लाक्षणिकत्वादिति' (१।४।८ अजन्त पुंलिङ्ग) इस कठिन नामधातुवाले समाधानको करके द्रविडप्राणायाम न करते। उस सिद्धिसे उन्होंने प्रतिपदोक्त (विवाहनिष्पन्न) पतिका पराशरके वचनमें अभाव देखकर उसे लाक्षणिक 'पतिरिति आख्यातः' इससे सप्तपदीसे पूर्वके वाग्दानकालीन पतिको सूचित कर दिया है।✤

✤लाक्षणिकता वाग्दान आदिसे भी 'पति' की होती है, अन्य ढंगसे भी होती है; जैसे कि—'सीतायाः पतये नमः' में श्रीरामके लोकविलक्षण-पति' होनेसे वहांका भी 'पति' लाक्षणिक है। तभी यहाँ भी 'घि' संज्ञाका कार्य हो गया है। 'जारेण जनयेत्...मृते त्यक्ते गते पतौ' (१०।३१) इस पराशरस्मृतिके पद्यमें स्थित 'पति' व्यभिचारिणीकेलिए गौण है; अतः वह भी लाक्षणिक है। इसकेलिए यहाँ भी लाक्षणिक होनेसे 'पतिः समास एव' (पा. १।४।८) इस प्रतिपदोक्त घिसंज्ञाका निषेध अप्रसक्त होनेसे उक्त पराशरके वचनमें भी घिसंज्ञाका कार्य हो गया है। इसी प्रकारके अन्य भी लाक्षणिक 'पति' शब्दके प्रयोग समझ लेने चाहियें। उनमें विना

सो पूर्वके अत्यन्त धार्मिक युगोंमें 'गौरेका तु मनस्विनः' (... एक ही वाणी होती है, जैसे कि—'रामो द्विर्नाभिभाषते' इस न्यायसे ... द्वारा उस लड़कीका किसी गुणवान् व्यक्तिको दान करनेपर 'प्रदानं स्वा... कारणम्' (५।१५२) इस मनुवचन-द्वारा उसे पतिवाली मान लिया ... था। इसकी टीकामें श्रीकुल्लूकभट्टने स्पष्ट कर दिया है—'यत् पुनः ... प्रदानं वाग्दानात्मकम्, तदेव भर्तुः स्वाम्यजनकम्। ततश्च वाग्दान... आरभ्य स्त्री भर्तृपरतन्त्रा। तस्मात् तं (पतिं) श्रयेत्-इति पूर्वोक्त-शेषः'।

सो उत्तम स्त्रीके किसीसे वाग्दान कर देने पर फिर पतिकी ... फेर-बदल नहीं की जाती थी। नहीं तो 'वाचा दत्ता मनोदत्ता कृतकौतुक-मङ्गला।' इत्यादि प्राचीन निबन्धोंमें उद्धृत इस काश्यप आदिके वचन... उस वाग्दानकालीन पतिके परिवर्तन कर देनेपर, उसे वाग्दानमें ही ... पति दे देने पर उन पुण्ययुगोंमें उस वाग्दत्तात्वमें विवाहिताको भी 'पुन... मान लिया जाता था। 'पुनर्भू' को शास्त्रोंमें निन्दित माना जाता है इस विषयमें 'आलोक' (८) में देखिये।

उक्त कुल्लूकभट्टके व्याख्यानमें यह कहनेसे कि—वाग्दानसे ही कन्या का पति जब स्थिर कर लिया जाता है, तब 'सप्तपदी' उसकी दृढ़ता... लिए क्यों की जाती है' यह प्रश्न उपस्थित होता है। इस प्रश्न... उपस्थित करके श्रीकुल्लूकने उत्तर दिया है—'यत्तु अष्टमे वक्ष्यते—'... निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे' (८।२२७) इति, तद् भार्या... संस्कारार्थम्-इत्यविरोधः' अर्थात्--पति तो कन्याका वाग्दानमें ही ... हो जाता है; परन्तु सप्तपदी इसलिए की जाती है कि--वह 'भार्या' ... भर्तव्या-पोषणीया हो जावे, क्योंकि--सप्तपदी भार्यात्वनिष्पादक संस्कार माना जाता है।

भी समासके घिसंज्ञा हो जाती है। जैसे 'स्वामी' (मालिक) वाचक 'पति' शब्दका भी विवाहितपतिसे अन्तर होनेसे पुंवद्भावके भाव-अभावमें ... भिन्नता हो जाती है—यह अन्यत्र कहा जावेगा।

इसका हम इतिहाससे एक प्रसिद्ध उदाहरण देते हैं। 'महाभारत' वनपर्वमें सावित्री-सत्यवान्‌का उपाख्यान प्रसिद्ध है। सावित्रीने पिताकी अनुमति मिल जाने पर (२९३।३२-३३) सत्यवान्‌को पतिरूपमें मनसे (२९४।१०) वरण कर लिया था। वह 'मनोदत्ता' हो चुकी। अब उसका सत्यवान्‌से वैध विवाह-संस्कार होना था। इतनेमें नारदजी आये और कहा कि—यह सम्बन्ध ठीक नहीं। क्योंकि--सत्यवान्‌की आयुः शेष एक वर्ष है (२९४।२३)। इसे अन्यको दिया जावे।

पिताने सावित्रीको अन्य पुरुषके वरणार्थ कहा (२४)। परन्तु उस सती-साध्वी एवं भारतका मुख उज्ज्वल करनेवाली, उत्तमकोटिकी बालाने वह बात स्वीकार नहीं की, नहीं तो इससे वह परपूर्वा वा पुनर्भू कही जाती। उसी 'प्रदानं स्वाम्यकारणम्' इस पूर्वोक्त मनुवचनानुसार वाग्दान-कालीन मनोदानकालीन पतिको ही स्थिर किया। सावित्रीने कहा था—'सकृत् कन्या प्रदीयते' (२६) कन्या एक बार ही दी जाती है। (काठकी हंडिया चूल्हेपर बार-बार नहीं चढ़ा करती)। 'दीर्घायुरथवाऽल्पायुः सगुणो निर्गुणोपि वा। सकृद् वृतो मया भर्ता, न द्वितीयं वृणोम्यहम्' (२७) (मैं एक बार भर्तांका वरण कर चुकी हूं; अब दूसरेको नहीं वरूंगी।) इसपर वह आगे कहती है—'मनसा निश्चयं कृत्वा ततो वाचाभिधीयते। क्रियते कर्मणा पश्चात् प्रमाणं मे मनस्ततः' (२८) (पहले मनसे निश्चय करके फिर वाणीसे कहना पड़ता है, फिर उसे कर्मरूपमें वरण करना पड़ता है। सो वह मैं मनसे किये हुए अपने निश्चयको नहीं बदलूंगी; सत्यवान् मेरा भर्ता बन चुका, अब अन्य नहीं बन सकता।)

मनुजीने भी यही कहा है—'सकृत् कन्या प्रदीयते' (९।४७) कन्या का एक बार ही दान होता है, उसमें लौट-फेर नहीं किया जाता। इसपर श्रीकुल्लूकभट्टने स्पष्टता की है—'कन्या पित्रादिना सकृद् एकस्मै दत्ता, न पुनरन्यस्मै दीयते। एवं च अन्येन पूर्वमन्यस्मै दत्तायाँ पश्चात् पित्रादिना प्राप्तायामपि जनितमपत्यं न बीजिनो भवति, इत्येतदर्थम् अस्य उपन्यासः'। (लड़कीका पिता एक बार ही दान करता है। इसका भाव यह है कि—यदि कोई उस दत्ता लड़कीमें अन्यसे सन्तान पैदा करा ले; तो वह सन्तान अन्य बीज-निषेचक की नहीं होगी, किन्तु वह उस वाग्दत्त पतिकी ही होगी; क्योंकि--वह उस स्त्रीका पति बन चुका)।

सावित्रीने भी 'सकृत् कन्या प्रदीयते' कहकर यही बात सोची थी कि यदि मैं मनोदत्त वा वाग्दत्त पतिसे भिन्न को लूं; इस तरह तो वह द्वितीय पति हो जानेसे मैं 'पुनर्भू' वा 'परपूर्वा' कहलाऊंगी, क्योंकि—वह उत्तम मार्ग नहीं है; अतः मेरे उस दत्त पतिकी यदि एक वर्ष बाद मृत्यु हो जाती है; पर वह मेरा वाग्दानमें भी पति बन चुका; अब मैं अन्य पति नहीं बनाऊंगी। एक हिन्दी कविने इसी बातको सावित्रीके मुखसे द्रुतविलम्बित छन्दमें क्या ही सुन्दर रूपमें कहलवाया है—

"नृपसुता तब यों कहने लगी; वर चुकी जिसको वर ही चुकी।
अब मुझे वर अन्य न चाहिये, न प्रभु को कहना यह योग्य है"।

कैसा था यह पातिव्रत्य धर्म! वाग्दानमें भी इतनी मर्यादा रखी; जबकि यह मर्यादा दयानन्दी लोग विवाहमें भी नहीं रखने देते, और वेदमन्त्रोंका अर्थ तोड़-मोड़ करके बदलते रहते हैं!!! छिः!! करें वे अपने स्वैराचारसे विधवा-विवाह। उन्हें कौन रोकता है; पर शास्त्रीय वचनोंकी तोड़-मोड़ तो न करें!

अब वादी प्रकरण पर आवे। वाग्दानकालीन उस पतिकी यदि मृत्यु हो जावे; उस समय उत्तमकोटिकी पतिव्रता स्त्री उसके साथ ही 'सती' हो जाना पसन्द करती थी। इस बातको 'इयं नारी पतिलोकं वृणाना' यह वेदमन्त्र प्रस्फुट कर रहा है। इस विषयमें 'आलोक' (८) देखें।

यह श्रेणी तो है उत्तम। इसलिए इस उत्तम श्रेणीमें वेदमें स्तुत मनु प्रजापति उस वाग्दत्ताकेलिए सन्तानकी आवश्यकता भी नहीं समझते। जैसा कि उनने अपनी स्मृतिमें कहा है—'आसीतामरणात् क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी। यो धर्म एक-पत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम्' (५।१५८)

अर्थात् एक पतिवाली होना सर्वोत्तम धर्म है; अतः वह ब्रह्मचारिणी रहे। फिर प्रश्न होगा कि--बिना सन्तानके उस विधवाका, वा उसके दत्त पति का उद्धार कैसे होगा? क्योंकि--'अपत्य' का निर्वचन यही है कि—'नानेन पतति वा' (निरु. २।१।४) 'अनेन अपत्येन जातेन सता पिता नरके न पतति' इति दुर्गाचार्यः। इससे प्रतीत होता है कि—सन्तान न होनेपर दम्पतिको नरकमें गिरना पड़ता है? इसपर मनुजी उत्तर देते हैं—

'अनेकानि सहस्राणि कुमार-ब्रह्मचारिणाम्। दिवं गतानि विप्राणाम-कृत्वा कुलसन्ततिम्' (५।१५६) अर्थात् बिना भी सन्तानके ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य-धर्मके बलसे स्वर्गमें प्राप्त होते हैं। इस प्रकार ब्रह्मचारिणी भी अपने एकपतिव्रतरूप धर्मके बलसे अपना भी उद्धार करती है, अपने पतिका भी। जैसेकि--पराशरस्मृतिमें कहा है--'व्यालग्राही यथा सर्पं बलाद् उद्धरते बिलात्। एवं स्त्री पतिमुद्धृत्य तेनैव दिवि मोदते' (४।३५) 'तत्र सा भर्तृपरमा स्तूयमानाऽप्सरोगणैः। क्रीडते पतिना सार्धं यावदिन्द्राश्चतुर्दश' (यह स्मृत्यन्तरका वचन है) जैसे संपेरा सांपको बिलसे बलात् निकाल लेता है, इसी प्रकार वह पतिव्रता भी अपने पातिव्रत्यधर्मके बलसे मृतक-पतिको भी द्युलोकमें खींचकर उसके साथ प्रमुदित रहती है।

यही मनुजी भी कहते हैं—'मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता। स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः' (५।१६०) (अर्थात् वह साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्यके बलसे पुत्र न होने पर भी स्वर्गलोकमें उन ब्रह्मचारियोंकी भाँति चली जाती है) आगे मनु कहते हैं—'अपत्य-लोभाद् या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते। सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते' (१६१) (सन्तानके लोभसे जो विधवा स्त्री अपने मृतक पतिका अतिक्रमण कर देती है, वह पतिलोक (स्वर्ग) से गिर जाती है।

वेदज्ञ मनुजी इसे अन्य भी स्पष्ट करते हैं—'नान्योत्पन्ना प्रजास्तीह नचाप्यन्यपरिग्रहे। न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद् भर्तोपदिश्यते' (१६२) अन्यसे उत्पन्न सन्तान, सन्तान नहीं मानी जाती, जैसे कि—मनुस्मृतिसे

उपजीव्य वेदमें कहा हैं—'न शेषो अग्ने! अन्यजातमस्ति अचेतानस्य' (ऋ. ७।४।७) 'न हि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ' (८)। साध्वी स्त्रियोंका दूसरा भर्ता नहीं हुआ करता, इस प्रकार मनुजी ने उत्तम-श्रेणी बताकर विधवाको ब्रह्मचारिणी रहना आदिष्ट किया।

यह मनुके पद्य विवाहिता-विधवाकेलिए हैं। उसकेलिए मनुजी पुनर्विवाह वा नियोगका निषेध करते हैं; जैसेकि—'नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः। अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम्' (९।६४) 'नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्। न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः' (९।६५)। यहां विवाहिता विधवाका देवर वा सपिण्डसे नियोग मनुजीने सप्रमाण निषिद्ध किया है। उसे हम आगे लिखेंगे।

अस्तु -उत्तम श्रेणीका निरूपण हो चुका; पर संसारमें केवल एक श्रेणी नहीं हुआ करती; किन्तु उत्तम, मध्यम, अधम यह तीन श्रेणियां हुआ करती हैं। अब मध्यम दर्जा यह है कि—'वाग्दत्त पतिकी मृत्यु हो जावे; तब उस पतिकी सद्गत्यर्थ सन्तान भी अपेक्षित हैं, जैसेकि—निरुक्त का वचन हम पूर्व उपस्थित कर चुके हैं। यदि उसकी कोई सन्तान नहीं है, तब उस वाग्दत्त-पतिका भ्राता देवर उससे बिना कामुकताके सन्तान-मात्र उत्पन्न कर सकता है। वह सन्तान उस मृतक वाग्दत्त पतिकी दायभागी भी होगी; और उसका परलोकके उद्धारका पिण्डदानादि द्वारा साधन भी बनेगी। मनुजीने यहाँ वाग्दत्ताकेलिए देवर-नियोजन अपवाद बताया है, उसे हम आगे लिखेंगे। विवाहिता स्त्रीकेलिए तो देवर-नियोजन मनुजीने द्विजकेलिए निषिद्ध बताया था; जैसेकि हम मनुजीके वचन पूर्व दे चुके हैं; पर वाग्दत्ता विधवाकेलिए 'भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः' (२।२२६) इस मनुवचनसे भ्राता अपनी मूर्ति होनेसे उस आपत्कालमें उससे बिना कामके उत्पादित सन्तान भी उस देवरकी न होकर उस मृत-पतिकी ही सन्तान मानी जावेगी, और उसके परलोकोद्धार आदि कार्यमें सक्षम हो

सकेगी।

इसीको बतानेवाला वादीसे उपक्षिप्त 'ऋग्विधान' का यह पद्य आता है—'भ्रातुर्भार्यामपुत्रस्य सन्तानार्थं मृतेपतौ। देवरोऽन्वारुरुक्षन्तीम् 'उदीर्ष्वेति निवर्तयेत्' (३।४४) अर्थात्—'अपति'=वाग्दानकालीन पतिकी यदि मृत्यु हो गई है, ग्रौर उसका कोई अन्य स्त्रीका पुत्र नहीं रहा; और वह मृतककी वाग्दत्ता नारी 'इयं नारी पतिलोकं वृणाना' इस मन्त्रके आदेशानुसार 'पतिलोकं वृणाना' पतिसे प्राप्त स्वर्गलोकका वरण करती हुई 'अन्वारुरुक्षन्तीं' अर्थात् अनुमरणकेलिए उस वाग्दानकालीन और अब मृत पतिकी चितापर 'सती' होनेकेलिए चढ़ना चाहती है; तो उसे 'देवर' उस मृतक वाग्दत्त पतिका भ्राता सन्तानकेलिए 'उदीर्ष्व नारि' इस मन्त्रसे कि—उस मृत वाग्दत्त-पतिका दायभागी तथा 'पुत्-नाम्नो नरकात् त्रायते इति पुत्रः' (निरुक्त २।११।१, मनु. ९।१३८) पुत्रहीन उस पतिका 'पुत्' नामक नरकमें पतन न हो जावे, इस कारण उसके पुत्रोत्पादनार्थं उस मृतक वाग्दत्त-पतिकी चितापर चढ़नेसे रोके, और उससे यथासमय यथाविधि जैसाकि प्राचीन तरीका था (इसकेलिए देखो 'आलोक' (८) पृ. ४३८-४८९) विना कामुकताके सन्तान पैदा करे।

यह यहांपर तात्पर्य है। इसका यह भी तात्पर्य निकलता है कि—यदि उस मृतक वाग्दत्तपतिकी किसी पूर्व स्त्रीसे सन्तान है, तो 'इयं नारी' इस मन्त्रसे चितापर अन्वारोहण करना चाहती हुई उस स्त्रीको देवर सती होनेसे न रोके। इससे यह भी सिद्ध होगया कि—'उदीर्ष्वं नारि!' मन्त्र 'ऋग्विधान'के मतमें विवाहिता-विधवाके नियोगार्थ नहीं है, किन्तु वाग्दानकालीन विधवाके नियोजनार्थ है, और इससे पूर्वका 'इयं नारी' यह जो 'सती' होनेका मन्त्र है, यह वाग्दत्ता विधवा, अथवा विवाहिता-विधवा दोनोंकेलिए है।

अब यहां वादी प्रसन्न न हो कि 'ऋग्विधान' से 'उदीर्ष्व' मन्त्र-द्वारा दयानन्दी-नियोग सिद्ध हो गया; नहीं, यहाँ तो 'ऋग्विधान' ने स्वा.द. द्वारा

'उदीर्ष्व' मन्त्रसे कराये जाते हुए विवाहिता 'विधवा-नियोग'का बड़ी प्रबलता से खण्डन कर दिया, क्योंकि वह किसी भी धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र आदिको अनुमत नहीं। 'ऋग्विधान' ने तो वाग्दानकालीन विधवाका नियोजन बताया है, विवाहिता विधवाका नहीं। इसी बातको सूचित करनेकेलिए 'ऋग्विधान' ने उसका सूचक 'अपतौ' वा 'पतौ' रखा है; नहीं तो यहां वह 'पत्यौ' रखता; 'पतौ' न रखता। यदि कहा जावे कि—'पत्यौ' रखनेसे छन्दोभङ्ग होता; तो 'मृते धवे' यह पाठ भी रखा जा सकता था; पर 'ऋग्विधान' ने जानबूझकर 'मृतेपतौ' रखा; इसका यही रहस्य है कि—यह वाग्दान-कालीन विधवाका नियोजन है--यह पूर्व स्पष्ट कर चुके हैं, अथवा एतदर्थ 'आलोक' (८) में 'पतौ या अपतौ' (पृ. ६४१-६८१) निबन्ध देखना चाहिये।

अब वादीकी, तथा इसे बताने वाले पथिक की, तथा श्रीरामावतार जी की अपने पक्षकी सिद्धि की प्रसन्नता हट गई। यहां पर 'ऋग्विधान' ने वाग्दत्ताका वाग्दत्तपतिके मरनेपर हुए-हुए वैधव्यमें देवर-द्वारा सन्तान पैदा करानेकेलिए 'उदीर्ष्व नारि' मन्त्रका विनियोग बता दिया। विवाहिता-विधवाके नियोगमें तो उक्त मन्त्रका विनियोग तो कहीं भी आदिष्ट नहीं—यह वादिप्रमाणित 'ऋग्विधान' से ही सिद्ध हो गया। सो स्वा.द.ने जोकि 'उदीर्ष्व नारि!' का विनियोग विवाहिता स्त्रीके वैधव्यमें सन्तानार्थ किया है—यह इस विवेचनासे कट गया।

अब वादीका प्रश्न हम पर होगा कि—इसमें आपके पास किसी अन्य प्राचीन तथा वादिप्रतिवादिमान्य ग्रन्थकारका क्या प्रमाण है कि—'ऋग्विधान' के उक्त पद्यमें वाग्दत्ता-विधवाका ही नियोजन है, विवाहिता-विधवाका नहीं'। इस पर हम पूर्व विवेचना दे चुके हैं, उसकेलिए अन्य प्रमाणकी आवश्यकता ही नहीं है, तथापि हम इसपर वादिप्रतिवादिमान्य तथा स्वा.द.के भी परममान्य, सृष्टिके आदिकालमें उत्पन्न मनुजीका प्रमाण देते हैं; वादी उसे सावधानतासे देखे। वह यह है—

'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः । तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः' (९।६९) अर्थात् जिस कन्या (कुमारी) का वाचा-सत्ये कृते—वाग्दान हो जानेपर, वाणीद्वारा किसीको दान किये जानेपर वह उसका 'पति' (वाग्दानकालीन 'पति') यदि मर जावे; तो देवर उसे आगे कहे जाने वाले विधानसे विन्देत—प्राप्त करे। इस पर श्रीकुल्लूक-भट्टने यह अवतरणिका दी है -'नियोगप्रकरणत्वात् कन्यागतं विशेषमाह' अर्थात् यहां नियोग-प्रकरण चला हुआ है, इस पर मनुजी कन्या (कुमारी)-विधवाकेलिए विशेष बात कहते हैं। इससे स्पष्ट हो गया है कि-मनुजीने यह कन्या (अविवाहिता कुमारी) का नियोजन माना है, विवाहिता-स्त्रीका नहीं; परन्तु स्वा.द.जीने उक्त पद्यके पूर्वार्द्ध 'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः' से जहां वाग्दत्ता-विधवाका नियोजन सिद्ध होता था, उसकी चोरी करके उसका उत्तरार्धमात्र दे दिया, जिससे उनकी हमसे उपक्षिप्त असत्यप्रियता सिद्ध हो रही है, देखो इस पर सत्यार्थप्रकाश (४र्थ समु. पृ. ७२)।

वह विधान मनुजीका यह है—'यथाविध्यनुगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचि-व्रताम्। मिथो भजेताप्रसवात् सकृत्-सकृद् ऋतौ-ऋतौ' (९।७०) अर्थात् ऋतु-ऋतुमें देवर जब तक उस स्त्रीकी सन्तान पैदा नहीं होती, तब तक यथाविधि एक-एक वार गमन करे। 'शुक्लवस्त्रां' में एक रहस्य है। स्त्रीको सधवा होने पर सौभाग्यके रंगे हुए लाल-पीले रंगके वस्त्र पहनने पड़ते हैं; पर वह इस समय यद्यपि वाग्दत्ता है; पर उस वाग्दत्त-पतिकी मृत्यु होनेसे विधवा है; इसलिए रंगे सौभाग्यके वस्त्र न पहनकर केवल सुफ़ेद कपड़े जो दौर्भाग्यके चिन्ह होते हैं—पहरती है—यह यहां सूचित हो रहा है। सो देवरका भी उस पर सदाकेलिए अधिकार नहीं रह जाता। यह भी इससे सूचित हो रहा है।

उक्त मनुस्मृतिके पद्यका प्राचीन टीकाकार यह अर्थ करते हैं। कुल्लूकः—'यस्याः कन्याया वाग्दाने कृते सति भर्ता म्रियते, तामनेन वक्ष्य-

माणानुष्ठानेन भर्तुः सोदरभ्राता परिणयेत। मेधातिथिः—वाचा सत्ये कृते-वाग्दाने निष्पन्ने निजसोदरो देवरो विन्देत-विवाहयेत्'। सर्वज्ञनारायणः-'वाग्दत्ताविषयकमेव। वाचा-सत्यवचनेन—सत्यं मया दातव्या इयमिति सत्याङ्गीकारे। अनेन विधिना-विवाहविधिना, निजः पतिसोदरो देवरो विन्देत'। नन्दनः—'अथ वाग्दत्तायाः पत्यौ मृते कर्तव्यं श्लोकद्वयेन आह'। रामचन्द्रः—वाग्दत्तां प्रति आह, अनेन विधानेन-विवाहविधानेन निजो देवरः विवाहयेत्'।

स्वा.द.जीने भी उक्त पद्यका यह अर्थ किया है—'अक्षतयोनि-विधवा हो जाय, तो पतिका निज छोटा भाई भी उससे विवाह कर सकता है' (स.प्र. ४ पृ. ७२) यद्यपि यहां स्वा.द.जीने उक्त पद्यके पूर्वार्द्धको छिपा दिया है, तथापि उनकी इस व्याख्यासे यह पद्य वाग्दत्ता-विधवाकेलिए सूचित हो रहा है; क्योंकि स्वा.द.जीके अनुसार वह वाग्दत्ता-अवस्थामें अक्षतयोनि होती है। विवाह वाले दिन तो विवाहके बाद ही उस स्त्रीको स्वा.द.जी क्षतयोनि करा दिया करते हैं, देखो उनका सत्यार्थप्रकाश ४र्थ समु. (पृ. ५६) तथा संस्कारविधि (पृ. १३४)।

इस प्रकार आर्यसमाजके म.म. श्रीआर्यमुनिजी तथा श्रीराजाराम शास्त्रीने भी उक्त मनुपद्यको वाग्दत्ताके विवाहमें लगाया है; इसी भांति आर्यसमाजसे प्रकाशित 'अबला-रक्षक' में भी। आर्यसमाजकी ढहती दीवारको यथाकथञ्चित् सहारा देने वाले श्री तुलसीराम स्वामी उक्त मनुपद्योंका यह अर्थ करते है—'जिस कन्या (पतिसे भोग-रहिता) का सत्य वाग्दान (कन्यादान संकल्प) करनेके पश्चात् पति मर जावे, तो उसको इस विधानसे निज देवरको प्राप्त हो कि—(६९) (वह देवर) नियोगविधिसे इसके पास जाकर श्वेतवस्त्रधारण किये हुई और काय, मन, वाणीसे पवित्र हुईके साथ सन्तानोत्पत्तिपर्यन्त गर्भाधानकालमें एक-एक वार परस्पर गमन करे, गर्भाधान हो जावे, तब मैथुन त्याग दे' (९।७०)। स्वा.द.जीने उक्त मनुपद्य (९।६९) के पूर्वार्धको लोकदृष्टिसे क्यों छिपा दिया? इस छिपा देनेसे ही सिद्ध हो रहा है कि—यह वाग्दत्ता विधवाके

लिए है, विवाहिता-विधवाकेलिए नहीं।

अब प्रश्न यह होता है कि— उस वाग्दत्तपतिवाली विधवाका देवरसे विवाह क्यों न कर दिया जावे? इसपर मनुजी वताते हैं—'न दत्त्वा-कस्यचित् कन्यां पुनर्दद्याद् विचक्षणः। दत्त्वा पुनः प्रयच्छन् हि प्राप्नोति पुरुषोऽनृतम्' (९।७१) किसीको वाणी-द्वारा भी अपनी लड़कीका दान (वाग्दान) करके फिर उसका विधवा हो जानेपर भी दूसरेको दान (विवाहादि) न करे; नहीं तो पिता अनृत दोषका भागी हो जाता है। इससे यह विषय स्वच्छ हो गया। सो उस वाग्दत्ता-विधवाका देवरसे सन्तानमात्रकेलिए सम्वन्ध कहा गया, विवाहसम्वन्ध नहीं कहा गया। यह मध्यमकोटि सिद्ध हुई। उत्तमकोटिमें तो सन्तानकी आवश्यकता नहीं समझी जाती। उस कोटिमें वह वाग्दत्ता ब्रह्मचर्यसे भी रह सकती है, अथवा सती भी हो सकती है।

इस प्रकार मनुजीकी साक्षीसे 'ऋग्विधान' में 'पति' शब्द वाग्दत्ता-पतिका वाचक है, विवाहिता-पतिका वाचक नहीं है; जैसा कि—'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः' यहां वाग्दानमें भी उस पुरुषको पतिः कहा गया है। यह नामधातुवाला 'पतिरित्याख्यातः पतिः' है, अतः उसीको सूचित करने वाला पद 'ऋग्विधान' में भी 'अपतौ' वा 'पतौ' रखा गया; अन्यथा वहां 'पत्यौ' रखा जाता। सो वाग्दत्ता-विधवा कन्या के नियोजनकेलिए वादिमान्य 'ऋग्विधान' के अनुसारे 'उदीर्ष्व नारि!' मन्त्रका विनियोग है, विवाहिता-विधवाका नियोग नहीं, इससे वादीके पक्षकी सिद्धि न हो सकी, 'पति' शब्द भिन्न-भिन्न अर्थवाली भी होता है, इसमें प्रमाण यह है कि—एक 'पति' के बहुव्रीहि-समासके स्त्रीलिङ्गमें 'पुंवद्भाव' होता है, दूसरे 'पति' शब्दमें पुंवद्भाव नहीं होता। जैसे कि-सापत्नः, सापत्यः। इस प्रकार विवाहित 'पति' की तो असमासमें 'घि' संज्ञा नहीं होती; पर विवाहसे पूर्ववाची 'पति' शब्दकी असमासमें भी 'घि' संज्ञा हो जाती है। यह सप्तमी आदि विभक्तिसे दोनोंका अन्तर

स्पष्ट हो जाता है, पर प्रथमा आदि विभक्तिमें उसका अन्तर प्रतीत नहीं होता; जैसे कि श्रीमनुने 'वाग्दानकालीन' को भी 'पति' (९।६९) बताया है। इन बातों का ध्यान करनेसे सब सन्देह दूर हो जाते हैं।

उस वाग्दत्ता-विधवा कन्याको भी देवरका ग्रहण करनेकेलिए 'पुनर्भू' माना गया है, यह हम पहले काश्यपके वचनसे सूचित कर चुके हैं। वह पूरा वचन यह है कि—'सप्त पौनर्भवाः कन्या वर्जनीयाः प्रयत्नतः। वाचा दत्ता, मनोदत्ता, कृत-कौतुकमङ्गला। उदकस्पर्शिता या च, या च पाणि-गृहीतिका। अग्निं परिगता या च, पुनर्भू-प्रभवा च या' (उद्वाहतत्त्वधृत काश्यप वचन, अथवा धर्मचन्द्रिका आदि निबन्ध ग्रन्थोंमें उद्धृत वचन) उसीको बतानेवाले वेदमन्त्र भी मिलते हैं—

'या [कन्या] पूर्वं पतिं [वाग्दानेन] वित्त्वा अथान्यं विन्दते परम्। पञ्चौदनं च तौ अजं ददातो न वियोपतः' (अथर्व. ९।५।२७)। यही उपमा 'विधवेव देवरं, मर्यं न योषा' (ऋ. १०।४०।२) इस मन्त्रमें भी दी गई है। यहां पर भी 'विधवा-कन्या' ही गृहीत है। इस विषयकी स्पष्टता 'आलोक' (८) पृ. ५६८-५७४) में देखनी चाहिये।

पर यह बातें सृष्टिके आदिकालके पुण्ययुग सत्ययुग की हैं; उसे बतानेवाली मनुस्मृति स्वयं सृष्टिके आदि सत्ययुगकी है। यह बात यास्क-मुनिने भी 'विसर्गादौ (सृष्ट्यादौ) मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्' (नि. ३।४।२) में सूचित की है। आर्यसमाजके सञ्चालक स्वा.द.जीने स.प्र. ११वें समुल्लासकी आदिमें लिखा है—'यह मनुस्मृति जो सृष्टिकी आदिमें हुई है, उसका प्रमाण है' (स.प्र. ११ समु. पृ. १७२), पर ऐसी कठिनता कलियुग जैसे अनृत एवं पाप-युगोंकेलिए सम्भव नहीं कि—वाग्दत्ता-विधवा भी मृत-पतिके साथ सती होवे; वा देवरके नियोगके बन्धनमें रहे। सो यह कलिवर्जित है, पर कलियुगकेलिए व्यवस्थापित पराशर-स्मृतिमें पराशर-ऋषिने वैसी वाग्दत्ता-विधवाका अन्य पुरुषसे विवाह करनेका

आदेश दे दिया है, जैसे कि—'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतितेपतौ। पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते' (४।३२) यहां भी 'अपतौ' यह वाग्दानकालीन-पतिका वाचक है; अतः यहां समस्त होनेसे 'अपतौ' बन गया। 'एङः पदान्तादति' (६।१।१०६) से पूर्वरूप हो गया। 'ऽ' यह चिन्ह पूर्वरूपमें प्राचीन नहीं।

अथवा यहां 'पतौ' भी पाठ माना जावे; तो भी तत्त्वबोधिनीके प्रणेताके अनुसार यहां नामधातुका लाक्षणिक (वाग्दानकालीन) विशेष-पति इष्ट होनेसे वह 'पति' शब्द 'पतिः समास एव' (पा. १।४।८) इस सीमामें नहीं आता; अतः वहां भी 'हरौ' की भांति 'पतौ' में भी 'घि' संज्ञा हो ही जाती है। उस वाग्दत्ता-विधवाका कलियुगकेलिए व्यवस्थापित 'पराशर-स्मृति' के इस वचनके अनुसार अन्यसे विवाह हो जावेगा। इससे न उसे नियोगकी सीमामें बन्धना पड़ेगा; और न उसे 'पुनर्भू' बनना पड़ेगा। वह देवरकी, अथवा देवरकी असुविधामें दूसरे वर (देवरो द्वितीयो वरः) की स्त्री हो जायगी। लड़की वाग्दानमें ही विधवा हो जावे; तो उसका विवाह अब भी सनातनधर्मियोंमें भी कर दिया जाता है। इसका मूल पराशरजीकी उक्त व्यवस्था ही है। इससे स्वा.द.जीके 'नियोग' की कुछ भी सिद्धि नहीं; क्योंकि उन्होंने तो उसे विवाहिता-विधवाकेलिए बताया है। इस विषयमें 'आलोक' (८) पृ. ६४१-६८१) देखना चाहिये। सभी शङ्काओंका समाधान हो जावेगा।

अब स्पष्ट सिद्ध हो गया कि – यह श्रीरामावतार आदि दयानन्दियोंके उल्लेखानुसार स्वा.द.जीका बालविवाहिता-विधवाका नियोग नहीं है; यह तो वाग्दत्ता-विधवाका नियोजन वा विवाह है। वाग्दत्ताके पतिके मरनेपर स्वा.द.से पूर्व भी उसका देवरसे विवाह हुआ करता था; वह अब भी हुआ करता है। इसी बातको उद्देश्यमें रखकर मनुस्मृतिके टीकाकारों ने मनु. (९।६९) पद्यकी टीकाओंमें देवरसे 'परिणयेत, (कुल्लू.), विवाहयेत् (मेधा.), विवाहविधिना (नारायण), विवाहयेत्' (रामचन्द्रः) 'विवाह

कर सकता है' (स्वा.द.) इन शब्दोंसे नियोग न मानकर वाग्दत्ता-विधवा का विवाह ही माना है। अतः इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं आती। तब उस मन्त्रका भी वाग्दानमें देवरसे विवाहमें तात्पर्य होगा। और फिर ऋग्विधानमें भी वाग्दत्ता-विधवाका देवरके साथ विवाहमें ही तात्पर्य समझना चाहिये, जोकि अब भी हुआ करता है, विवाहिता-विधवाका पुनर्विवाह तो शास्त्रीय नहीं।

वस्तुतः 'इयं नारी' 'उदीर्ष्व नारि!' यह दोनों मन्त्र भी स्वा.द. सम्मत (विवाहिता-विधवाका) नियोग नहीं बताते। इस विषयमें स्पष्टता पाठक 'आलोक' (८) पृ. ५१७ से ५४६ पृष्ठ तक देखें, वादी भी देखे। तब 'ऋग्विधान' से भी वादीकी इष्टसिद्धि न हुई। उस इष्टसिद्धि-रूप लता पर तुषारपात हो गया। विवाहिताका नियोग तो अधमकोटिका है, क्योंकि—वह विवाहिता-विधवा दूसरेसे उच्छिष्ट हो चुकी; अतः उस उच्छिष्टासे सम्बन्ध करनेका शास्त्रमें द्विजकेलिए निषेध है। जिस अधम-वस्तुका जब शास्त्र ही निषेध करे; तब वह भला शास्त्रानुमोदित कैसे हो सकती है? उसका धर्मशास्त्रकारोंमें मूर्धन्य मनुजीने निषेध कर दिया है (९।६५-६६)। हां विवाहिता-विधवासे विना मैथुनके, विशेष-शक्तिसे सन्तान उत्पन्न की जावे; जैसे प्राचीन मुनियोंमें शक्ति होती थी—देखिये इसपर महाभारत, उसका कोई भी निषेध नहीं करता। इस पर देखिये—'आलोक' (८) में 'नियोग और मैथुन' (१) पृ. ४३८-४७३); पर कलियुगमें वैसी शक्ति न होनेसे उसे 'कलिवर्जित' कर दिया गया है। अन्य प्रकारके नियोग भी इस कामी युगमें ठीक सिद्ध नहीं हो सके, इसलिए 'कलिवर्जित' कर दिए गये हैं। इसी कारण ही यद्यपि 'नियोग' चालू करनेकेलिए स्वा.द.जीने बड़ा बल लगाया; आर्यसमाजियोंने भी शास्त्रार्थ उस विषयमें करके लोगोंको प्रोत्साहन दिया; पर वह इस कलियुगमें भी लज्जास्पद सिद्ध हुआ है; तब इसकी पूर्व विद्वानोंने जो कलिवर्जितता बताई थी, वह ठीक सिद्ध हो गई। इस विषयपर हम 'आलोक' (८) में

बहुत कुछ लिख चुके हैं।

इस प्रकार वादीकी विप्रतिपत्तियोंका उत्तर पूर्ण हो जानेसे यह मुखबन्ध-विषयक निबन्ध भी समाप्त किया जाता है। हमसे दिखलाये हुए स्वा.द.के वे 'असत्य' स्वा.द.जीपर अब भी वैसे के वैसे ही चढ़े हुए हैं।

स्वा.द.जीने कई व्याकरणसम्बन्धी श्रीभट्टोजिदीक्षितकी भूलें 'आख्यातिक' में दी थीं; वादीने अपने द.सि.प्र. में उनका समर्थन किया है, हम उनका निराकरण 'आलोक' (६) पृ. ५७०-५७७) में कर चुके हैं।

(५६) स्वा.द.के 'शाकमानयनाय' इस अशुद्ध वाक्यका समाधान करनेकेलिए वादी श्रीयास्कका 'ततो वयः प्रपतन्ति पूरुषान् अदनाय' (नि. २।६।१) यह वचन देता है, सो यदि पाणिनिसे पूर्वज होनेके कारण श्रीयास्कने पाणिनिका नियम नहीं माना, कर्ममें षष्ठी नहीं की; तब पाणिनीय-व्याकरणके प्रचारक और उसके बड़े संरम्भसे अनुमोदक स्वा.द. जी क्या पाणिनिसे विरुद्ध लिखते हुए मान्य हो जावेंगे? वादिप्रतिवादि-मान्य निरुक्तकार श्रीयास्कमुनिसे, व्याकरणकी अशुद्धियोंके पुतले स्वा.द.जी की भला क्या तुलना? कहां राजा भोज और कहां भोजुआ तेली?' यदि श्रीयास्क गलती करें, तो क्या इससे स्वा.द.जीकी गलतीका समाधान हो जावेगा? यह कोई वादीका उचित उत्तर नहीं।

वस्तुतः श्रीयास्कके वाक्यमें अशुद्धि नहीं; वहां तो 'वयः-बाणाः, अदनाय-भक्षणाय, हिंसितुम्, पुरुषान् प्रपतन्ति-प्राप्नुवन्ति' यह 'पत्लृ गतौ' सकर्मक क्रियाका 'पुरुषान्' कर्म है। यास्कमुनि कभी अन्वयसापेक्ष भी निर्वचन किया करते हैं, जैसे कि—उनने लोभवाचक मत्सर' का निर्वचन करते हुए लिखा है—'अभिमत्त एनेन धनं भवति' (२।५।४) यहांपर 'धनं' यह कर्म 'अभिमत्तः' का है, वैसे यहां भी 'पुरुषान्' यह कर्म भी 'प्रपतन्ति' क्रिया का है 'अदनाय' का नहीं। अतः श्रीयास्कके वाक्यकी यह त्रुटि नहीं

है। वादीने स्वा.द. की त्रुटिका कुछ भी समाधान नहीं दिया; अतः उनकी अशुद्धि स्थिर ही रही। अन्य एक दयानन्दीने यहां 'गुणकर्मणि वेष्यते' इस वार्तिकसे 'अश्वस्य नेता स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा' की तरह 'शाकमानयनाय' में द्वितीया सिद्ध की है, यह समाधान भी गलत है, क्योंकि—यहां शाक गौण कर्म नहीं, किन्तु प्रधान कर्म है, सो 'अश्वस्य नेता' की तरह वहां नित्य षष्ठी होगी।

'दयानन्दरहस्य' के हमारे निबन्धोंके आश्रयपर लिखे हुए वेदविषयक निबन्धके वादीके प्रत्युत्तरको हमने अपनेपर आक्रमण समझकर ही उसका निराकरण किया है। शेष बातोंको 'दयानन्दरहस्य' के प्रणेता स्वयं ही समाहित करेंगे। हमारे पास उतना समय वा स्थान न होनेसे हम वैसी शक्ति होते हुए भी उसे उपेक्षित कर रहे हैं।

अब बहुत विस्तार हो जानेसे यह विषय समाप्त किया जाता है। यह हमारा विषय 'आलोक' (९) में छपनेकेलिए तैयार था, पर वहां स्थान न निकल सकनेसे इसे इस दशम पुष्पमें रखना पड़ा। हमारे सपक्षी और विपक्षी दोनों प्रकारके व्यक्तियोंको इस हमारे निबन्धका बहुत सावधानीसे अनुशीलन करना चाहिये, जिससे उन्हें वेदविषयकी वास्तविकताका ज्ञान हो जावे। हम वादीको भी धन्यवाद देते हैं—जिससे उसने अन्य भी पुरुषोंको वेदविषयकी वास्तविकता जाननेका अवसर दिया। अब पूर्वकी भान्ति एक गीताविषयक निबन्ध दिया जावेगा। उसकी समाप्तिपर वेद एवं गीताकी चर्चाका विषय समाप्त हो जावेगा।

——

(६) 'गीताकी वैज्ञानिक परीक्षा' की समीक्षा (५)

"निजदोषावृतमनसामतिसुन्दरमेव भाति विपरीतम्।
पश्यति पित्तोपहतः शशिशुभ्रं शङ्खमपि पीतम्"।
'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति' (गीता ४।४०)
'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' (४।३९) 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' (३।४२)

(१) जो स.ध. की कोई पुस्तक सर्वप्रिय हो जाती है; तब विपक्षियों के पेटमें चूहे कूदने लगते हैं, अतएव दोषोंका दृष्टिकोण रखकर वे उस पुस्तकका कई बार पारायण करते हैं। पूर्वापर-प्रकरण छिपाकर थोड़ा पढ़ा-लिखा भी किसी पुस्तकसे परस्पर-विरोध वा दोषाभास दिखला सकता है। निमाज़ पढ़ रहे हुओंको एकने बताया था कि - एक मौलवीने एक अखबारमें यह फतवा दिया है—'मत पढ़ो निमाज़'। वे लोग हैरान हो गये। उससे वह अखबार छीनकर देखा गया; उसके आगे लिखा था—'जब हो नापाक'। यह अंश उसने छिपा लिया था। इससे अर्थका अनर्थ हो गया। तभी तो यह कथन प्रसिद्ध है—'नचात्रातीव कर्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः। दोषो ह्यविद्यमानोपि तच्चित्तानां प्रकाशते' अर्थात् इस पुस्तकमें मनको दोषदृष्टिपरक करके न देखना; क्योंकि-उसमें दोष न होनेपर भी दुष्टचित्तवालोंको वह दोषरूपमें दीखने लग जाता है। सो जो व्यक्ति एक छोटी-सी पुस्तकके पीछे हाथ धोकर पड़ जावे कि - इसमें दोष निकालने ही हैं, और उसमें कसौटी रख ले अपनी संकुचित बुद्धिको; तब उस पुस्तकसे दोष निकाले जा सकते हैं, इसमें असम्भव नहीं। वही पुरुष चाहे, तो उन दोषोंका समाधान भी कर सकता है; पर वह स्वबुद्धिजीवी होनेसे तथा उस पुस्तकसे 'घृणा' होनेसे उन समाधानोंको देखकर भी नहीं देखता, समझकर भी नहीं समझता, समाधान कर सकनेपर भी नहीं करता।

इसी घृणाको रखकर आजकल विपक्षी लोग, पुराणोंके भी दोष ढूंढा करते हैं। अब एक नये बुद्धिजीवी रंगरूट निकले हैं, जिनने गीतापर भी हाथ साफ करना चाहा है। जो अपनी बुद्धि वा अपने तर्कोंको अन्तिम समझकर दूसरी वस्तुका खण्डन करनेपर तुल जाते हैं; उन्हें याद रखना चाहिये कि - 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' (गी. ३।४२) वह भगवान् बुद्धिसे भी परे है। बुद्धि भला उसपर कैसे चल सकती है? दूसरा 'तर्काऽप्रतिष्ठानात्' (वे. २।१।११) यह भी प्रसिद्ध है कि —'तर्कोऽप्रतिष्ठः' (महा० ३।३१३।११७) तर्कके पांव नहीं होते। एक तर्कको दूसरे तर्क काट दिया करते हैं। कालान्तरमें पुरुष अपने उन्हीं तर्कोंको भी अपने तर्कोंसे काट दिया करता है।

एक बहुत योग्य वकील था; उसे सुरापानकी लत थी। वह सुरापान करके अपने वकालतके तर्क उपस्थित करता था; तब प्रतिपक्षी वकील मुँह ताकता रह जाता था। एक बार जब वह जजके सामने अपने मवक्किलके पक्षको सिद्ध करने उठा; तो सुरा का दौर-दौरा हो जानेसे अपने मवक्किलके पक्षके विरुद्ध तर्क देने लगा। प्रतिपक्षी वकील हैरान हो रहा था। उसकी दृष्टिमें वे तर्क इतने प्रवल थे; कि उनकी सूझ भी उसे नहीं हो सकती थी; अतएव वह प्रसन्न था। इधर वकीलके क्लर्कने वकीलको कहा कि—यह आप क्या कर रहे हैं? अपने मवक्किल का ही पक्ष काट रहे हैं—यह तो आपका पक्ष नहीं है; यह तो प्रतिपक्षी का पक्ष है।

वह वकील सम्हल गया। कहने लगा कि—प्रतिपक्षी वकील अधिक से अधिक यही तर्क अपने पक्षकी सिद्धिमें प्रस्तुत कर सकता था। अब मैं इन तर्कोंका खण्डन शुरू करता हूं—यह कहकर उसने कानूनकी धाराओंको इधर-उधर सम्वद्ध करके उन तर्कोंका पूरा-पूरा खण्डन कर दिया। प्रतिपक्षी वकील सोचता था कि - उन तर्कोंका प्रत्युत्तर बन ही नहीं सकता; यह मेरे मवक्किलके पक्षकेलिए वहुत लाभदायक है; पर उसने देखा कि—वे तर्क अब थोथे हो गये। अबके यह नवीन तर्क तो इतने प्रवल हैं; मैं तो इनका प्रतिखण्डन नहीं कर सकता; हां, इस वकीलमें तो यह शक्ति हो सकती है।

फलतः 'वैज्ञानिक-परीक्षा' के प्रणेताने भी जो कि एक एडवोकेट है, यही कुछ किया है। वे स्वयं भूमिकामें लिखते हैं कि—'वैज्ञानिक परीक्षाके लिए 'श्रद्धा और घृणा' दोनोंसे ऊपर उठ जाना आवश्यक होता है। यह दोनों ही पक्षपात उत्पन्न करते है; और सत्य पर पर्दा डाल देते हैं'।

सो उस लेखकने श्रद्धा तो रखी नहीं; क्योंकि—'श्रद्धया सत्यमाप्यते' (यजु: १९।३०) (श्रद्धासे सत्यकी प्राप्ति हुआ करती है)। यह वह जानता था कि श्रद्धा करनेसे कहीं सत्य गले न चिपट जावे; हां, 'घृणा' उसने अवश्य रखी है। घृणा रखे विना दोष कभी निकाले ही नहीं जा सकते।

जो स्वा.द.जीको 'ऋषि' मानता हो; और जिसने उनकी पुस्तक 'स.प्र.' का श्रद्धासे '६ वार पाठ' किया हो; और श्रद्धावश उसे अपना 'सौभाग्य' समझता हो, और उसी स.प्र.में गीताकी 'वेदविरुद्धता'का फतवा दे दिया गया हो, और जो (स्वा.द.) तर्क (हेतुवाद) को प्रवल माना करते हों; तभी तो स्वा.द.जीने 'योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विज:। स साधुभिर्वहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दक:' (२।११) इस मनुके पद्यमें जिसका यह अर्थ था—'जो श्रुति-स्मृतिका हेतुशास्त्र (दलीलवाज़ी) के बलसे अपमान करता है, उस श्रुति-स्मृतिनिन्दकको वहिष्कृत कर देना चाहिये'। स्वा.द.जीने यहां 'हेतुशास्त्राश्रयात्' का अर्थ ही छिपा दिया, देखो स.प्र. ३ पृ. ३०। इसी प्रकार स.प्र. १० समु. पृ. १६२ में भी स्वामीने उक्त पद्यके शेष सभी पदोंका अर्थ किया, केवल 'हेतुशास्त्राश्रयात्' (तर्कात्) का अर्थ छिपा दिया। इसी प्रकार स.प्र. ११ पृ. १९८ में भी 'हेतुशास्त्राश्रयात्' के भावका संकेतमात्र भी नहीं दिया। इस विषयमें इसी पुष्पमें पृ. ४८७-४९० में देखें।

तब स्वा.द.के श्रद्धालु वादीने भी तर्कप्रिय होनेसे स्वा.द. द्वारा गीता-को त्रिदोषग्रस्त कहनेपर स्वयं भी वैसा सिद्ध करनेकेलिए यह पोथी वनाई हो; तब स्वा.द.का श्रद्धालु वादी स्वाभाविकतया गीतासे घृणा करने लगा होगा। घृणासे दोष ही तो निकलने हुए। और फिर ७०० पद्योंकी छोटी-सी पुस्तकके दोष ढूँढ़नेमें ४० वर्षका भारी समय जिसने लगा दिया; देखो उसकी भूमिका। इधर जिसने वी.ए. एम.ए. भी कर रखी हो, इधर बौद्धोंकी सत्संगति (?) भी कर रखी हो; और बौद्धोंने उसे थपकी देकर, प्रशंसा करके गीताके निन्दनमें प्रोत्साहन भी दे दिया हो;

उसमें तो 'मर्कटस्य सुरापानं तस्य वृश्चिकदंशनम्। तन्मध्ये भूत-संचारो यद्वा तद्वा भविष्यति' यह पद्य भी चरितार्थ होना ही हुआ। इसका यह अर्थ है—वन्दर स्वभावसे वैसे ही चंचल होता है, फिर उसे मद्य पिला दो; उसके साथ ही उसे विच्छूसे डसवा दो, साथ ही उसमें भूत-प्रेतका सञ्चार करा दो; फिर वह बन्दर जो न करे, वह थोड़ा ही है। उसकी उछल-कूद की फिर सीमा ही नहीं हो सकती। फिर वह छोटी-सी ५०-६० पृष्ठकी पोथी जिसे 'दोषसंग्रह' नाम दिया जा सकता है—लिख ले, इसमें क्या वड़ी वात है?

जिसने अपनी वुद्धिको ही अन्तिम कसौटी बना रखा हो, वह अन्ततः उसका कुछ फल भी तो प्राप्त करेगा। दूध देनेवाली गाय कसाईको अपना लोहू भी तो उसे चाहनेवालेको दे दिया करती है। तब वह भी गीताकी लहू बलात् निकाल सकता है।

पहले हम गीताकी तीन आलोचना-पुस्तकों की समीक्षा भी 'आलोक'-पाठकोंके समक्ष रख ही चुके हैं; अब इस चौथी पुस्तककी भी दिग्दर्शन-रूपसे समीक्षा उपस्थित करते हैं। एक आलोचना हम अष्टम पुष्पमें रख ही चुके हैं। पाठकगण इसपर ध्यान देंगे, ऐसी हमें उनसे आशा है। हम लेखकको प्राय: 'वादी' शब्दसे लिखेंगे।

(२) वादीकी इस पुस्तककी भूमिकामें एक 'आचार्य'की 'एक दृष्टि' भी है; ज़रा उसपर भी पाठक दृष्टि डालें। उसमें कहा गया है—'धर्मके अनुकूल बोलनेका नाम सत्य है, समयके अनुकूल बोलनेका नाम असत्य है'। इसके लेखकको जानना होगा कि—'धर्मका स्वरूप' क्या है? इस पर हम कहते हैं कि—शास्त्रोंसे विहित कर्मका नाम धर्म है। शास्त्र न्याय्यपक्षका अनुमोदन करता है, अतएव वह धर्म होता है; पर अन्याय्य-पक्षका वह निर्भर्त्सन करता है; वह शास्त्रानुसार स्वत: अधर्म होगा। नीति भी एक शास्त्र होता है; सो धर्मको वचानेकेलिए नीतिशास्त्रविहित उपायका प्रयोग भी—यदि उसे वेदादिशास्त्र भी—समर्थित करते हों; धर्म

हुआ करता है. अधर्म नहीं । न्यायदर्शनमें कहा है—'अन्योन्य-प्रत्यनीकानि च प्रावादुकानां दर्शनानि, स्वपक्षरागेण च एके न्यायमतिवर्तन्ते । तत्र— (सबको अपने पक्षका राग हुआ करता है; इसपर कई लोग न्यायका अतिक्रमण कर दिया करते हैं, तब न्यायके बचावकेलिए) 'तत्त्वाध्यवसाय-संरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोह-संरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्' (न्याय. ४।२।५०) बीजसे उत्पन्न अङ्कुरके संरक्षणकेलिए जैसे काण्टोंकी बाड़को लगाना पड़ जाता है, वैसे ही न्याय्यपक्षकी रक्षाकेलिए जल्प-वितण्डाके प्रयोगकी भांति मायावीके साथ मायाका व्यवहार भी केवल आत्मरक्षणकेलिए न्यायपक्षवालेको करना ही पड़ता है—

देखिये वेदमें—'मायाभिरिन्द्र ! मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः' (ऋ. १।११।७) यहां मायावी शुष्ण दैत्यका माया द्वारा ही इन्द्रका पार पाना कहा है । 'यद्ध तं मायिनं मृगं तमु त्वं मायया अवधीरर्चन् ननु स्वराज्यम्' (ऋ. १।८०।७) यहां वेदने मायावीको मायासे ही मारना कहा है। इसी प्रकार 'मायाभिर्मायिनं' (५।३०।६) 'त्वं मायाभिरनवद्य ! मायिनं ...वृत्रमर्दयः' (१०।१४७।२) यहां मायावी वृत्रको इन्द्रद्वारा मायासे पीडित करना बताया है ।

इसीके अनुवादमें यह पद्य प्रसिद्ध हैं—'आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः' (नैषध ५।१०३) 'व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं, भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः । प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधान्, असंवृताङ्गान् निशिता इवेषवः' (किरातार्जु. १।३०) इसलिए महाभारतमें भी कहा है—'मायाविन इमां मायां मायया जहि भारत ! मायावी मायया वध्यः सत्य-मेतद् युधिष्ठिर !' (शल्यपर्व ३१।६) 'सर्वोपायैर्निहन्तव्यः पापी निकृति-(छल) जीवनः' (शान्तिपर्व. १०९।२३) महोदय, काण्टेको निकालनेके लिए कांटेका ही तो प्रयोग करना पड़ता है । तब यह असत्य क्या हुआ ? तभी तो वेदने कहा है—'इन्द्र ! जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम् । विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु, मा ते दृशन् सूर्यमुच्चरन्तम्'

(अथर्व. ८।४।२४) (अर्थात् आततायी वा उसके साथीका सिर तलवारसे काटकर धड़से अलग कर दो; जिससे वे दूसरे दिनके उगते सूर्यको न देख सकें ।)

जब न्याय वा लोकहित, लौकिक दृष्टिमें असत्य (परन्तु परमार्थमें सत्य) बोलनेसे बचता हो; तो उस समय लौकिक असत्य भी शास्त्रीय सत्य हो जाता है । जैसे कि कहा है—'न तत्त्व-कथनं सत्यं नाऽतत्त्ववचनं मृषा । यद् भूतहितमत्यन्तं तत् सत्यमिति धारणा' । (तत्त्ववाक्यका नाम सत्य नहीं है, किन्तु भूतहिताधायक वाक्यका नाम सत्य होता है ।

इसी कारण 'शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां यत्रर्तोक्तौ भवेद् वधः । तत्र वक्तव्य-मनृतं तद्धि सत्याद् विशिष्यते' (मनु. ८।१०४) अर्थात् जहां सत्य कहनेपर न्यायपक्षवाले क्षत्रिय ब्राह्मणादिका वध हो जावे; वहां अनृत भी सत्यसे बढ़कर है । इसलिए गोतमने भी कहा है—'नानृतवदने दोषः जीवनं चेत् तदधीनम्, नतु पापीयसो जीवनम्' (गौ.ध.सू. २।४।२४-२५) अर्थात् पापीका वा पापपक्षवालेका जीवन ठीक नहीं ।

जब ऐसा है; तब विचारिये कि—अन्यायी एवं दूसरोंका अधिकार हड़पने वाले, रजस्वला स्त्रीको नंगा करने वा अप्रतिष्ठित करनेपर उतारू दुर्योधनके पक्षका बचाव सत्य था, वा दुःखी, न्यायमार्गपर चलनेवाले पाण्डवोंके पक्षकी रक्षा करना 'सत्य' था ?

'एक दृष्टि' के लेखक महाशय लिखते हैं—'अश्वत्थामा हतः' यह 'प्रतारणभाषा' है । गांधीयुगसे पूर्व ऐसी भाषा बोलनेमें पाप-पुण्यका विचार नहीं था' । जबकि अश्वत्थामा हाथी मारा गया था; तब 'अश्वत्थामा हतः' कहनेमें निर्मूलता वा अनृतता भी क्या थी ? 'एक दृष्टि' के आचार्य लिखते हैं—'गान्धीयुगमें 'नरो वा कुञ्जरो वा' से काम नहीं चल सकता । आज तो स्पष्ट कहना चाहिये कि—'अश्वत्थामा कुञ्जरो हतः' ।

इससे किसका लाभ था; न्यायका, वा अन्यायका ? वा किसीका

नहीं। जब गाय भागी जा रही हो; पीछे कसाई आकर पूछे कि—गायको इधर भागते देखा है ? तब 'एक दृष्टि' के आचार्य यही कहेंगे कि—इधर जा रही है। इससे जब वह कसाई गायको पकड़कर आचार्यके सामने छुरेके घाट उतार दे; तभी क्या आचार्यकी 'एक दृष्टि' चरितार्थ होगी ? और उनको सन्तोष होगा ?

महाशय ! चोर वा गिरहकटके सहायकको भी तो-यदि अपनी शक्ति नहीं-नीतिसे पकड़ा वा दण्डित किया जाता है। गेहूंके साथ घुन भी तो पिस जाता है। स्वयं श्रीगान्धिजीने ही एक तकलीफमें पड़े बछड़ेको ज़हरका इन्जेक्शन देकर उसकी 'हिंसा' करके भी उसकी 'अहिंसा' घोषित करके 'गान्धीयुगका सूत्रपात' कर दिया। जिस नीतिसे यह 'हिंसा' 'अहिंसा' हो सकती है; तो उसी नीतिसे 'असत्य' 'सत्य' क्यों नहीं हो सकता ! तब एक पापीके सहायकका 'नरो वा कुञ्जरो वा' कहलवाकर शस्त्र उससे छुड़वा दिया गया; तब यह आपाततः का 'असत्य' कैसे होगा ? श्री-गान्धिजीने कहा था कि—'पाकिस्तान मेरी लाश पर बनेगा', पर पाकिस्तान बन जाने पर भी वे जीते रहे। क्या यह गान्धियुगका 'सत्ययुग' था ? 'एक दृष्टि' के लेखक-महाशय जब प्राचीन वेदादि-साहित्यके सम्भवी अर्थोंमें तोड़-मोड़कर सामयिक अर्थ करते हैं; तब यह 'गान्धियुगका सत्य' है, या 'प्रतारणकी भाषा' यह 'एक दृष्टि' के लेखक स्वयं बता सकेंगे।

(३) अब इसके आगे हमें एक बौद्ध-महाशयसे भूमिकामें लिखे हुए 'स्वागतम्' को भी 'स्वागत' करना है। भदन्तजी लिखते हैं—'उपनिषदोंका दूध तो 'गीता'को कहा ही गया है। अब प्रश्न यही है कि—आधुनिक ग्वालोंकी तरह गीताकारने उस दूधमें कुछ पानी तो नहीं मिला दिया है ? पानी ही नहीं, उसकी असावधानीसे उसमें कुछ गोबरके कण तो नहीं पड़ गये ? ऐसी मिलावट तो कहीं नहीं मिल गई है, जो मानव-स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हो'।

बौद्ध होकर भी भदन्तजीको हिन्दुधर्मियोंसे सहानुभूति है; अतएव हिन्दुगण उन्हें धन्यवाद दें; पर भदन्तजीके 'आधुनिक' शब्दने स्वयं उन्हें उत्तर दे दिया है, 'दोग्धा गोपालनन्दनः' तो लिखा है, पर वह 'आधुनिक गवाला' नहीं। वह तो सावधान रहनेवाला, लोकहितका तो विशेष ध्यान रखनेवाला, बौद्धजीसे भी अधिक चुस्त एवं सजग सनातन 'गोपालनन्दन' था। वह दूधमें पेशाब वा गोबर गिरनेसे सावधान रहनेवाला था। हां, जब वह दूध भदन्त जी जैसे मन्ददृष्टि और फिर पीलियाके रोगीके सामने आता है; तब वह उन्हें सुफ़ेद न दीख कर पीला एवं विकृत दीखता है।

भदन्तजी आगे फरमाते हैं—'जब बुद्धको हिन्दु ईश्वरका अवतार मानते हैं; तो क्या शंकरने अवतारी पुरुषके मतका खण्डन कर अपनी नास्तिकताका परिचय नहीं दिया ?'

ईश्वरने बुद्धावतार धारण जो किया; उसमें उनकी नीति यह थी कि—प्रच्छन्न-बौद्ध भदन्तजी-जैसे जो इसमें घुले-मिले थे, वे अब प्रकट बौद्ध बना दिये जावें; इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. १९३ से २०६ पृ. तक देखना चाहिये। सो वह बुद्धकी नीति सफल हो गई; उस नीतिकी चरितार्थताकेलिए जो उन्हें वेदनिन्दा वा गलत मत फ़ैलाना पड़ गया था, उसे 'विषवृक्षोपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्' (पञ्चतन्त्र मित्रभेदमें उद्धृत) (विषके वृक्षको स्वयं बढ़ाकर फिर उसका स्वयं काटना ठीक नहीं होता) इस नियमसे बुद्ध-द्वारा स्वयं खण्डन न करके शङ्करके द्वारा स्वामी शङ्कराचार्यका अवतार धारण करवाकर उसका खण्डन करवा दिया गया, इसमें नास्तिकता भला क्या हुई ? यह तो पूर्ण आस्तिकता हुई। पहली बात अयुक्त थी, एक विषको हटवानेकेलिए दूसरे हलके विषका प्रयोग करवाया गया था; अतः वहां नीति थी। उसका लाभ हो जानेपर अब उस विषके पुनः प्रयोगकी आवश्यकता नहीं थी; अतः उस विषको हटवा दिया गया कि—जिससे सर्वसाधारणको भ्रम-

रोग न हो जावे।

(४) आगे 'प्रकाशकीय' में 'नाहटा' महाशयने लिखा है—'किन्तु इसका मूलाधार केवलमात्र बौद्धिक और युक्तिपरक होना चाहिये' इस पर प्रश्न है कि–किसकी बुद्धिका ? क्या केवल आप लोगोंकी बुद्धिका ? आपकी बुद्धिको जो न जँचे; तो क्या वह बात ठीक होती हुई भी 'असत्' हो जावेगी ? महाशय ! एक बुद्धि तामसी भी होती है; जो कि–'अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ ! तामसी' (गी. १८।३२) सो वह आप लोगोंकी 'बुद्धि' भी प्रमाण नहीं हो सकती।

(५) इन भूमिकाओंकी आलोचना समाप्त करके अब हम 'वैज्ञानिक-परीक्षा' के मूललेखकके तर्कोंको शास्त्रीय कसौटीपर कसते हैं।

लेखकने 'गीता' से पहले महाभारत और रामायणपर भी छींटाकशी की है। श्रीगान्धिजीने महाभारतके विषयमें लिखा है—'मैं महाभारतको आधुनिक अर्थमें इतिहास नहीं मानता। पात्रोंकी अमानुषी और अति-मानुषी उत्पत्तिका वर्णन करके व्यास-भगवान्ने इतिहासको मिटा दिया है। गीताके कृष्ण काल्पनिक हैं'।

वादीने श्रीगान्धिजीकी इस बातको स्वतः-प्रमाण और अपना मत मान लिया है। वादी लिखता है—'मैं दर्शनमें एम.ए. करनेके बाद वर्षों दर्शन और धर्मकी खाक छानकर और मगज मारकर जिस निष्कर्ष पर पहुंचा; उसपर गान्धिजी प्राथमिक स्फुरणमें ही पहुँच गये थे'। यह गान्धिजीकी बात मानकर भी, गान्धीजीने जो श्रीकृष्ण-भगवान्को 'मूर्तिमान् शुद्ध सम्पूर्ण ज्ञान' बताया था। अपने गीताके अनुवादमें उनने कोई गीताकी त्रुटि वा परस्परविरोध नहीं बताया; उनकी वह बात वादीने नहीं मानी। उस पर लेखकने मार्क्सके इस कथनसे कि–'किसी भी मनुष्यका ईश्वर या देवता अपने निर्माता (मनुष्य) से अधिक ज्ञानी वा सदाचारी नहीं हो सकता' स्वतः-प्रमाण मान लिया। वस्तुतः मार्क्स

नास्तिक था; जिसने अनर्गल साम्यवादको चलवाकर रक्तकी होली खिलवा दी; फिर भी जिसमें वही 'डिक्टेटरशिप' ही रही। उसके कथन को वादीने विना 'ननु नच' के प्रमाण मान लिया। ऐसे लोगोंका क्या निरूपण किया जावे, जो ईश्वर वा देवताको मनुष्य-द्वारा बनाया जाना मानते हैं। वक्त पर यह लोग कुत्ते को भी बाप बना लेते हैं; और बापको भी कुत्ता बना लिया करते हैं। ऐसे पुरुषोंको गीता-जैसे मूर्धन्य ग्रन्थको स्पर्श करनेका अधिकार ही क्या है ? स्पष्टतया यह अनधिकार-चेष्टा है।

वादी याद रखे कि—जो देवता होगा; उसकी उत्पत्ति वा शक्ति स्वतः अमानुषी वा अतिमानुषी होगी ही; उसपर भला फिर क्या आक्षेप ? देवता और मनुष्य भिन्न-भिन्न योनि हुआ करती है—इस पर देखो 'आलोक' (४)। अथर्ववेदसं.में लिखा है--'राज्ञो विश्वजनीनस्य यो देवो मर्त्यां अति' (२०।१२७।७) (विश्वजनीन राजा देवताकी भांति मनुष्योंसे बढ़कर होता है) जब मनुष्य भी राजामें देवत्वका आरोप करके उसे वेदद्वारा 'अतिमानुष' बताया गया है; तब जो वस्तुतः हो ही देवता वा देवताका अवतार; फिर वह भला 'अतिमानुष' क्यों न हो ? जब ऐसा है; तब देवताकी उत्पत्ति वा कार्य अमानुष वा अतिमानुष क्यों न हो ?

सूर्य देवताकी उत्पत्ति वा शक्ति वा आकार-प्रकार यदि १३ लाख पृथिवी—इतना बताया जावे; तब क्या वादी यहीं कहेगा कि–इसका वर्णन भी मेरी बैट्रीकी तरह करो। उसे भी भोजनकी थाली—इतना ही वर्णित करो; क्योंकि—वह इतना ही तो दीखता है, और यही सत्य है। ऋषि-मुनि-देवताओंके लोकोत्तर अवतार हुआ करते हैं; उनकी शक्ति वादी अपनी शक्तिसे न नापे। स्वा. शङ्कराचार्यने ठीक ही लिखा है—'योगोपि अणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिफलकः स्मर्यमाणो न शक्यते प्रत्याख्यातुम्।...' ऋषीणामपि मन्त्रब्राह्मणदर्शिनां सामर्थ्यं न अस्मदीयेन सामर्थ्येन उपमातुं युक्तम्' (वेदान्त. १।३।३३) (योगसे अणिमा-महिमा आदि सिद्धियां

प्राप्त होती हैं। सो योगसिद्ध देवता वा मुनियोंकी सामर्थ्यको योगशक्ति-विरहित हमको अपनी शक्तिसे तौलनेकी भूल नहीं करनी चाहिये)।

देवता—जिनके अंश वा शक्तिसे पाण्डव हुए; तथा तपः-सिद्ध व्यासमुनि इनकी उत्पत्ति-आदिमें अमानुषत्व वा अतिमानुषत्व रहना स्वतः-सिद्ध है; इसमें आश्चर्य करना अणिमा-ईशित्व आदि सिद्धियोंसे अपना अपरिचय प्रदर्शित करना है। अणिमा आदि सिद्धियोंको वादीके स्वा.द. भी अपने वेदभाष्यमें (यजुः १७।६७) मान गये है। इस विषयमें वादीको हमारी 'आलोक' ग्रन्थमालाका पूरा अध्ययन करना चाहिये। महाभारतका उत्तर हो चुका।

(६) वादी आरम्भमें लिखता है—'हमारे देशमें प्राचीनकालका इतिहास उपलब्ध नहीं। विदेशी पर्यटकोंके लेख, भग्नावशेष, खुदाईसे प्राप्त मुद्राओं तथा प्राचीन साहित्यसन्दर्भोंसे इतिहासका निर्णय नये सिरेसे हो रहा है। रामायण-महाभारतको हम लोग भ्रमयुक्त हो इतिहास समझ रहे थे'।

ठीक है, जब आँख ही अपनी न हो; दूसरोंसे उधार लेकर लगाई गई हो; तब भला वादीको उससे क्या दीखना है। वादी स्वदेशी इतिहास को तो इतिहास नहीं मानता; पर विदेशियोंकी बातको ठीक मानता है। यह क्या ? अपनी वस्तु उसे अच्छी नहीं लगती !!! क्या 'दूरस्थाः पर्वता रम्याः !!! 'दूरके ढोल सुहावने' !!! विदेशियों पर पक्षपात करना तो लार्ड मैकालेका अपनेको 'मानसिक दास' बनाना है। यही तो अंग्रेजी प्रचलित करनेका लाभ लार्ड मैकालेने सोचा था। उससे स्वदेशी कोई वस्तु वा कोई व्यवहार अच्छा नहीं लग सकता। यह तो 'उपस्थितं परित्यज्य अनुपस्थित-कल्पनम् अन्याय्यम्' यह न्याय हुआ।

(७) आगे वादी लिखता है—"महाभारतकी चर्चा भूमिकामें हो चुकी है"। हम भी उसका उत्तर पहले दे चुके। अब आगे वादी रामायण पर कलमकुठार चलाता है। लिखता है—'सीताकी उत्पत्ति और मृत्यु

अतिमानुषी है; अतः वह काल्पनिक पात्र है'। जो अमैथुनयोनिके देवकल्प होते हैं; क्या वादी उन्हें काल्पनिक मानेगा ? फिर वादी सूर्य-चन्द्रादि देवोंको काल्पनिक मान लेगा ? अमैथुन-योनिमें मैथुनयोनि वाले व्यवहार नहीं घट सकते।

जब वादी ईश्वरको नहीं मानता, केवल प्रकृतिको ही मानता है, तब सीताकी उत्पत्ति उसके मतके अनुसार भी असम्भव नहीं रही। वादी अपनी पुस्तकके अन्तमें लिखता है कि—'मुर्गीके अण्डेको देखिये। उसके सफेद और पीले भागमें कहीं मुर्गीका पता नहीं। कहीं चेतनाका भान नहीं; परन्तु मुर्गी सेनेकी क्रिया द्वारा अपने बदनकी गर्मी देकर कालक्रममें चेतनायुक्त-बच्चे को उत्पन्न कर देती है। कहाँ न हिलने-डोलने वाला अचेतन सफेद और सुनहले पदार्थयुक्त अंडा (हिरण्यगर्भ), और कहां वह चञ्चल चैतन्य बच्चा मृत्यु, जीवन और चेतना—ये प्रकृतिके गुणात्मक परिवर्तनके रूप हैं। जीव, चेतन, या आत्माको इससे भिन्न पदार्थ मानना असंगत है' (पृ. ७५)

यह बातें वादीने मुर्गीके बच्चे तथा सृष्टिकी आदिमें हुए हिरण्यगर्भ जो पहले अण्डेके रूपमें थे—फिर ब्रह्मारूपमें हो गये—को लक्ष्य करके लिखा है। जैसा कि—मनुस्मृतिमें कहा गया है—'तद् अण्डमभवद् हैमं... तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः' (१।९) यहां उस सुनहले अण्डेसे हिरण्यगर्भकी उत्पत्ति सूचित की गई है, जैसे कि वेदमें भी इसका संकेत दिया गया है—'हिरण्यगर्भः समवर्ततताग्रे' (यजुः १३।४)।

यहां इतना भेद है कि—इससे पूर्व मनुके पद्यमें परमात्मा-द्वारा पहले जलकी उत्पत्ति फिर उस जलमें बीजनिक्षेप कहा गया है—'तासु बीजमवासृजत्' (१।८) परन्तु वादी तो यहाँ कोई चेतन परमात्मा मानता ही नहीं होगा; केवल प्रकृतिको ही मानता होगा। सो प्रकृति-द्वारा वीर्योत्सर्जन, और उसीके सेनेसे अण्डेमें गर्मी पैदा हुई; और चेतन

हिरण्यगर्भ हुआ। इसी प्रकार पृथ्वीमें पञ्चभूतोंका विशेष सम्मिश्रण होनेसे जो अण्डा बना, उसमें पृथिवीकी ऊष्मा प्राप्त होनेसे चञ्चल चैतन्य सीता भी बन गई; जिससे यज्ञभूमिमें हल चलाते हुए जनकको वह जीवित बच्ची प्राप्त हो गई। हल के अग्रभाग जिसका नाम संस्कृतमें 'सीता' होता है—से उस भूमिस्थलके खुदनेसे उत्पन्न चञ्चल-चैतन्यवाली बच्चीका नाम भी जनकजीने 'सीता' रख दिया। इसलिए रामायणमें सीताको पृथिवीकी लड़की बताया गया है; और अन्तमें भी फिर उसीका पृथ्वीमें लीन होना बताया गया है।

जब इस प्रकार यहां वादीके अनुसार सीताकी प्राकृतिक ही उत्पत्ति हुई; तब यहां उसकी वादी-द्वारा अतिमानुषी उत्पत्ति बताना स्वयं खण्डित हो गया। अर्थात्--इस प्रकारकी अमैथुन-उत्पत्तिमें जैसा कि वादीने हिरण्यगर्भकी सूचित की—अतिमानुष हो जाना स्वाभाविक हो जाता है। इसी अतिमानुष उत्पत्तिवश वह सीता इतनी शीघ्र बढ़ गई कि—छः वर्षमें ही वह विवाहके योग्य हो गई। जैसे कि--गाय आदिकी उत्पत्तिमें भी मनुष्य-व्यवहारसे कुछ भेद होनेसे—क्योंकि मनुष्य और पशु भिन्न-भिन्न योनि होती है—शारीरिक शक्तिका भी भेद होता है; वह गाय इतनी शीघ्र बढ़ जाती है कि--वह दो वा ढाई वर्षमें ही बैलके संयोग-योग्य हो जाती है। तब वादीका स्वयं ही अपने वचनसे सीताकी अतिमानुष-उत्पत्तिका समाधान हो गया।

वह त्रेतायुग था; उस समय ऐसे प्राकृतिक-मिश्रण वैसे वायुमण्डलके प्राप्त हो जानेसे हो जाया करते थे—यह कोई असम्भव बात नहीं रही। जैसे कि आजकल कलियुगके दुर्बल प्राकृतिक वायुमण्डलमें दो सिर वाले बहुतसे बच्चे हो चुके; इस विषयमें समाचार-पत्रोंमें आये-दिन ऐसी घटनाएं छपती हैं, पर वे कलियुगके वायुमण्डलकी दुर्बलतावश न जी सके; पर त्रेतायुगके प्राकृतिक-वायुमण्डलकी सबलता होनेसे उसमें दस-सिरवाला

रावण भी बहुत काल तक जीता-जागता रहा। तब वादीकी तथा बिनोवाभावेकी यह आपत्ति स्वयं प्रकृतिवादी-वादीके वचनों द्वारा समाहित हो गई। और फिर रावणकी राक्षसयोनि जो कही जाती है इसी विशेषता द्वारा चरितार्थ वा व्यक्त हो गई। राक्षस वा दैत्य वा देव-योनि लोकोत्तर होनेसे उनमें भी अतिमानुषता स्वाभाविक सिद्ध हो गई। इस विषयमें इसी पुष्पमें हमने अन्यत्र रावणके दस मुखोंपर विचार व्यक्त किया है—वादी उसे वहीं देखे।

(८) जो कि वादी लिखता है—'रामायण एक हितोपदेश है, जिसमें काल्पनिक देवता और राक्षस, मनुष्य, वन्दर, भालू, गिद्धका संवाद हैं। महाशय, ऐसी बात नहीं। देव, दैत्य, राक्षस भी प्राकृतिक योनि-विशेष हैं, जिनका 'साङ्ख्यदर्शन' जो वादीकी इष्ट प्रकृतिका शास्त्र है-में वर्णन भी है। देखिये—'देवादिप्रभेदा' (३।४६) अर्थात् सृष्टिके देवता आदि अवान्तरभेद हुआ करते हैं। सांख्यदर्शनके भाष्यमें 'अष्टविकल्पो दैवः तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति। मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः' (५३ कारिका) यह सांख्य-तत्त्वकौमुदीकी कारिका दी गई है। इसमें देवादि-सृष्टिको भी भौतिक बताया गया है; उसके आठ भेद बताये गये हैं—ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस, पैशाच'।

'माता-पितृजं स्थूलं प्रायश इतरन्न तथा' (३।७) इस सांख्यदर्शनके सूत्रमें माता-पितासे उत्पन्न शरीरको स्थूल बताया गया है। पर अयोनिज देवादि-शरीरको स्थूल तथा सूक्ष्म बताया गया है। सो रामायणके वन्दर-भालू आदि देवताओंके शरीरसे अवतीर्ण होनेसे—देखो इस विषयमें रामायण तथा 'आलोक' (६) में आरम्भिक दो निबन्ध 'क्या हनुमान् आदि वानर थे, वा नर?' तथा 'पशु-पक्षियोंका भाषण' आदि। तब वादीका यह कथन कि—'तोता और मैनाको मनुष्यकी बोली बोलते सुना गया, पर भालू और बन्दरको तो मनुष्यकी बोली बोलते अब तक नहीं सुना गया' भी समाहित हो जायगा।

वादीको यह याद रख लेना चाहिये कि—ऊपरके कहे हुए देवता जब वन्दर-भालू आदिका रूप धारण कर लेते हैं; तब वे उस आरूढपतित होनेकी दशामें अपवादवश मनुष्यकी भांति भी बोल सकते हैं। आर्यसमाजी आर्यमुसाफिर श्रीलेखरामने भी अपनी पुस्तक 'पुनर्जन्म' में एक हाथीका मनुष्यकी भांति बोलना दिखाया है—इस विषयमें भी 'आलोक' (६) में देखें। गत दिनों समाचार-पत्रोंमें एक पुरुषका कुत्तेसे कुत्तेकी बोलीमें बातचीत करना बताया गया था।

दूसरा वह था त्रेतायुग; उसमें अबकी अपेक्षा शक्ति विशेष थी, यह युगोंकी शक्ति उत्तरोत्तर-ह्रासमें जाती हुई देखकर जान लेना चाहिये। आजकल आधिभौतिक उन्नति तो हो रही है; पर अन्य युगों वाली आध्यात्मिक एवं आधिदैविक शक्तिका ह्रास हो रहा है, जिसमें हमें देवताओंकी उस प्राचीन युगकी शक्ति पर विश्वास नहीं होता। वैसे तो आज भी वन्दर सिनेमाओंमें काम करते हैं। जापानने तो गत महायुद्धमें बन्दरोंकी भी एक सेना बनाई थी—जो हथगोले फेंका करते थे। बन्दरों की भी एक भाषा होती है। इसके जो अभ्यस्त हैं, वे उसे जान ही जाते हैं। एक रूसी वैज्ञानिकने उसका अभ्यास किया था—यह समाचारपत्रोंमें आ चुका है। सो वादी अपनी तंग बुद्धिको जरा विशाल करवा ले; तो फिर यह विषय उसमें अनायास प्रविष्ट हो जाया करेंगे।

(९) फिर वादी कहता है—'कुछ आदर्श रामायणके आज मानने योग्य नहीं। रामने तपस्याके कारण एक शूद्रका सिर काट लिया'। इससे वादीने उस काल (त्रेतायुग) में इसकी युक्तता सिद्ध कर दी। उस समयका यह कानून था—'शूद्राः स्वकर्मनिरताः त्रीन् वर्णान् उपचारिणः' (वाल्मी. १।६।१९) अर्थात् शूद्र तीन वर्णोंकी सेवा किया करें--यही उनका स्वकर्म नियत था। मनुस्मृति भी यही कहती है—'वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत्। तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत्' (८।४१८) शूद्रोंको अपने कर्म प्रयत्नसे करावे। यदि वे अपने कर्मोंसे च्युत हो जावें; तो इस जगत्में हलचल मच जावे। राजाकेलिए कहा है—'नाऽदण्ड्यो नाम राज्ञोस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति' (मनु. ८।३३५) जो अपने कर्ममें स्थित नहीं होता; राजा उसे दण्ड दे सकता है। सो शूद्रादि दण्डविधानसे ही ठीक रहते हैं। जैसे कि--फ्रांस आदिमें यह नियम सुना जाता है कि—जो ब्लैक करेगा, उसे फांसी मिलेगी'। कड़े दण्डसे यह लाभ होता है कि—उस काण्डकी पुनरावृत्ति नहीं हो पाती। श्रीराम मनुके अनुसार चलते थे, जैसेकि--श्रीरामने कहा था—'श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्रवत्सलौ।...तथा तच्चरितं मया' (वाल्मी. ४।१८।३०)। मनुजीने द्विजोंका कर्म करनेवाले शूद्रोंके वधका कानून लिखा था। जैसे कि—'तान् सर्वान् घातयेद् राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः' (मनु. ९।२२४) जब ऐसा उस समयका कानून था; तब श्रीरामका उसका पालन करना राजधर्मकी मर्यादामें आ जाता है; तब उसपर किन्तु-परन्तु क्या? महाभारतमें भी श्रीराम-द्वारा शूद्रके मारनेका वृत्त बताया गया है (शान्ति. १५३।६७) श्रीरामकेलिए कहा है—'हन्त्येष नियमाद् वध्यान् अवध्येषु न कुप्यति' वाल्मी. २।२।४६) वे मारने लायकको मार देते हैं; परन्तु अवध्योंपर क्रोध नहीं करते'। सो इससे सेवाकार्यसे विरुद्ध शूद्रका मार देना ठीक था, नहीं तो शूद्रोंके सेवाकर्म छोड़ देनेसे संसारकी हानि होती। आजकल जो वर्णोंके कर्ममें गड़बडी मच रही है, उसका कारण है कि—कड़ा दण्ड नहीं दिया जाता। आज भी किसी विदेशी द्वारा जासूसी करनेपर कड़े दण्ड दिये जाते हैं। सो यह कोई आक्षेप्य बात नहीं।

(१०) यह जो कहा जाता है कि—'रामने बालीको छिपकर मारा' इसपर दो उत्तर हैं। पहला तो यह कि—राम बालीसे युद्ध नहीं कर रहे थे कि-वैसा करना अयुक्त होता। उन्हें तो एक अपराधीको दण्ड देना था। वह तो छिपकर भी दिया जा सकता है। कई खूंखार अपराधियों को बिजलीकी कनैक्शन लगी कुर्सीपर बैठाकर उन्हें पता न होने पर भी बटन दबा देनेसे भी मार दिया जाता है।

दूसरा उत्तर यह है कि—बालीके पास ब्रह्मासे दी हुई एक माला थी; उसके कारण बाली प्रतिपक्षीका आधा बल खींच लिया करता था। इसी प्रकार अवतार रामके आगे भी यदि हो जाता; तो अवतारत्वकी मर्यादा टूट जाती। यदि ऐसा न होता; तो ब्रह्माके वरकी मर्यादा टूटती। सो यहां 'सांप छछून्दर' वाली बात थी। बालीको इस समय छोड़ा भी नहीं जा सकता था; नहीं तो वह अपनेसे सन्धि किये हुए मित्र रावणके साथ मिलकर रामको हानि पहुंचा सकता था। अथवा यदि राम बाली को मित्र बनाकर उसकी सहायतासे रावणसे सीता ले आते; तो फिर 'रामायण' न बनकर 'बाल्ययन' बनती। सो इस समय 'सांप भी मरे और लाठी भी न टूटे', इस न्यायसे यहां 'छिपकर बालीको मारना' ही उपाय शेष रह गया था। समाधान हो गया, कोई दोष न रहा।

(११) 'आसन्नप्रसवा निरपराधिनी सीताको धोखा देकर लोकापवादसे डरकर निर्वासित किया'। इसपर वादी जाने कि—लोकापवादसे डरकर नहीं; किन्तु प्रजारञ्जनार्थ सीताको बनवास देकर स्वयं भी रामने वनवास लिया; क्योंकि–'गृहं हि गृहिणी-शून्यमरण्यमपरं मतम्'। इसमें श्रीरामकी कुछ भी स्वार्थसिद्धि नहीं थी। क्रूरता भी नहीं थी; क्योंकि उसे वाल्मीकिके आश्रमके पास छुड़वाया; जिससे उसका संरक्षण रहे। इस विषयमें हमने 'रामायण-विषयकाक्षेपपरिहार'में अधिक लिखा है, कभी प्रकाशित होगा। पद्मपुराण पाताल-खंडके अनुसार देवरूपी शुकदम्पतिका सीताको शाप था—जिसने उन दोनोंको बन्धनमें कर दिया था। अनुनय करनेपर भी नहीं छोड़ा था–'कुपिता दुःखिता भार्या शशाप जनकात्मजाम्। यथा त्वं पतिना सार्धं वियोजयसि मामितः। तथा त्वमपि रामेण वियुक्ता भव गर्भिणी' (५७।५७-५८) वह पक्षी भी मरकर रजक बना था; जिसकी शिकायतसे रामको गर्भवती सीताको निर्वासित करना पड़ा (५७।६४-६६)।

(१२) 'रामने पिताका वचन पाला; तो भरतने माता-पिता दोनोंके

वचनका उल्लंघन किया; और माताका अपमान किया'। भरतने इसमें कोई अपनी स्वार्थसिद्धि नहीं की; किन्तु अपनेपर आनेवाले स्वार्थके कलङ्क को दूर किया। जबकि 'गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः। उत्पथप्रतिपन्नस्य न्याय्यं भवति शासनम्' (महाभा. शान्तिपर्व ५७।७,१४०।४८, आदिपर्व १४२।५२-५३) उस स्वार्थसाधिका माताका जिसके नामको आज भी अपनी लड़की वा स्त्री वा वहिनके नाममें भी कोई रखना नहीं चाहता; शासन किया; इससे उसने अपनेको लोकदृष्टिमें ऊंचा उठा दिया। सभी मानते हैं कि—रामायणमें सबने राजनीति खेली; पर भरतने सर्वथा राजनीति नहीं खेली। और फिर जिसका जैसा चरित्र था; रामायणने उसे उसी रूपमें ही आंकना था; वह तो काव्यरूपमें इतिहास ही है, न कि काल्पनिक-उपन्यास कि—उसके पात्र बनावटी हों। 'शत्रुघ्नने मन्थराके साथ कापुरुषका व्यवहार किया' यह कहना भी ठीक नहीं। वह तो अपराधिनीको दण्डविधान करना था।

(१३) 'लक्ष्मणंने शूर्पणखाके नाक-कान काटकर कोई वीरता नहीं दिखाई' इसपर वादी याद रखे कि—शूर्पणखा आततायिनी थी। वह विधवा एवं वृद्धा थी, अपने भाई रावणके वा खर-दूषणके संरक्षणमें रहती थी। रामको देखकर कामुकी होगई। युवतिका रूप बनाकर रामके पास आई; पर श्रीरामने उसे अपनी स्त्रीकी सन्निधि बताकर नकार कर दिया। शूर्पणखाने यह समझ लिया कि–सीताके जीवित रहने तक यह मुझसे प्रीति न करेंगे; अतः वह सीताको खानेकेलिए उसपर आक्रमण करने लगी; देखो इसपर वाल्मीकि--रामायण (३।१८।१६-१७); तब क्या लक्ष्मण उससे पहलवानी करके वीरता दिखाते? आततायिनी राक्षसीका उस समय मार देना भी उचित होसकता था; जैसाकि वेद भी कहता है—'इन्द्र! जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियम्। मायया शाशदानाम्' (अथर्व. ८।४।२४) (मायाविनी राक्षसीको मार डालो); पर लक्ष्मणने भी उसके स्त्रीत्वका विचार करके उसे मारना अच्छा न समझकर

उसको स्मृतिके अनुसार 'कर्णनासादिकर्तनम्' (याज्ञ. व्यवहारा. स्त्री-संग्रहप्र. २४।२८६, कौटलीयअर्थशा ४।१२।४१) दण्ड दिया। तब इसपर आपत्ति करके क्या वादीको उस राक्षसीका भाई-बन्धु बनना वा उसकी झूठी वकालत करके ऐडवोकेटके पदको लजाना ठीक है? रामायण सम्बन्धी वादीके आक्षेप परिहृत होगये।

(१४) युगकालगणनाको वादी प्राचीनोंकी 'बड़ी-बड़ी छलांग मारना' बताता है। 'मुल्लाकी दौड़ मसजिद तक'। वादीकी कालगणना अंग्रेजी कालगणना तक ही सीमित रहती है। या फिर यूनान वा बौद्धोंका इतिहास ही उसकी चरम-सीमा है। उससे पहले वादीके अनुसार कदाचित् कुछ भी नहीं था। सृष्टि भी शायद तभी हुई थी। यही गजनिमीलिका होती है। जब आंखें ही अपनी न रखकर दूसरेकी उधार लें; फिर भला क्या दीखना है?

महाशय, सूर्य और पृथिवीको प्रारम्भ हुए १,९७,२९,४९,०६८ वर्ष बीते हैं। सो वह सृष्टिकी प्रारम्भिकता थी। तब ४, ३२,००० का कलियुग, उससे दुगुना द्वापर, तिगुना त्रेता, चौगुना सत्ययुग हो; तो इसमें क्या असम्भव है? लार्ड मैकालेके मानसिक दासोंको भला इतने लम्बे कालपर आस्था कैसे होसके! तब क्या सभी कुछ पांच सहस्र वर्षके भीतर ही भीतर हुआ? क्या उससे पूर्व कालगणना बन्द हुई-हुई थी? वादी आर्यसमाजपर आस्था रखता है; तब क्या उसके लिखे आर्यसृष्टि-संवत्सर पर उसकी आस्था है, या नहीं?।

(१५) जोकि वादीने कहा है—'त्रेतायुगके परशुरामसे द्वापरके अन्तमें कर्णने धनुर्विद्या सीख ली। तो क्या दो युगों तक मनुष्य जी सकता है?' महाशय; यहां दो युग कहां हुए? परशुराम त्रेताके अन्तमें हुए; कर्ण द्वापरके अन्तमें हुआ, यह तो एक युग हुआ; दो तो नहीं। इधर परशुराम अवतार थे। विशेष व्यक्तिकी विशेष आयु भी हो सकती है। जैसे कि वेदमें भी कहा है—'शतं ते अयुतं हायनान्, द्वे युगे त्रीणि

चत्वारि कृण्मः' (अ. ८।२।२१) यहां १००×१०००० = दस लाख वर्ष की तथा दो युगोंकी आयु प्राप्त करना भी लिखा है। यह मन्त्र 'जीवेम शरदः शतं' (यजुः ३६।२४) इस उत्सर्गका अपवाद है। इस उत्सर्गके अन्तमें भी 'भूयश्च शरदः शतात्' सौ वर्षसे ऊपर फिर भी १०० वर्ष आदिकी आयु बताई गई है। इसलिए चिरायुओंमें परशुरामकी गणना भी होती है।

(ख) इसपर यह कहना कि—'परशुरामके अमर होनेपर 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' (जो पैदा होता है, उसकी मृत्यु भी निश्चित होती है) यह गीता-वचन मिथ्या सिद्ध हो जाता है' इसपर वादी जाने कि—यह सामान्य शास्त्र है, इसके अपवाद भी हो सकते हैं। परशुरामकी उत्पत्ति भी लोकोत्तर वर्णित की गई है; तब उसमें दीर्घजीवनकी भी उपपत्ति है। योग-प्राणायाम आदि द्वारा शरीरकी निर्मलता रखनेपर दीर्घआयुमें असम्भव नहीं रह पाता। इस विषयमें हमने 'आलोक' में पर्याप्त विचार किया है।

(१६) 'व्यासजीने अपने पुत्र शुकको मिथिलामें जनकके पास भेजा था, सो जनकजी भी परशुरामकी आयु वाले हुए। जनकजी रामके ससुर ठहरे—यह मेल कैसे हो सकता है? व्यासजी तो द्वापरके अन्तमें हुए। अतः चतुर्युगीकी कालगणना कल्पनाकी उडान है'।

इसपर वादीको जानना चाहिए कि—कई ऐसे पद होते हैं; जो परम्परासे चले आते हैं। जैसे शङ्कराचार्य। व्यक्ति बदलते रहते हैं; पर मुख्य नाम उनका वही रहता है—'शङ्कराचार्य'। इस प्रकार 'जनक' यह भी उपाधिशब्द है। जनकजीका याज्ञवल्क्यके समयमें भी शतपथब्रा. में वर्णन आता है। जैसे शङ्कराचार्यकी गद्दी सम्हालनेवाले योग्य व्यक्ति निर्वाचित किये जाते हैं, वैसे जनकके स्थानपर भी मिथिलामें योग्य ब्रह्मज्ञानी निर्वाचित किये जाते थे। आजकलके शङ्कराचार्य स्वामी श्री-अभिनव सच्चिदानन्दतीर्थ, स्वा. कृष्णबोधाश्रम, स्वा. अभिनव विद्यातीर्थ

स्वा. निरञ्जनदेव तीर्थ महाराज आदि हैं, यह सब शङ्कराचार्य कहे जाते हैं; इस प्रकार जनकजी की भी एक गद्दी हुआ करती थी। इसी प्रकार व्यास भी उपाधि हुआ करती है, जो प्रत्येक द्वापरमें पुराण-सम्पादन तथा वेदोंका व्यास किया करते हैं। श्रीरामके समयके जनकजीका नाम सीरध्वज था। यह आवश्यक नहीं कि-शुकके समय वाले जनक सीरध्वज ही रहे हों। अतः यदि बुद्धि तंग वा खुश्क होनेके कारण उसमें दीर्घ आयुका विषय न समा सके, तो गद्दीकी समानता तथा व्यक्तिभेद समझकर वादी को अपना समाधान कर लेना चाहिये। इसमें कोई भी अनुपपत्ति नहीं रहेगी।

(१७) वादी कहता है—'हम वेदमें 'जीवेम शरदः शतं' में सौ वर्ष जीवन पाते हैं। छान्दोग्यमें महिदास-ऐतरेयका ११६ वर्ष जीवन कहा है"। जब वादीके अनुसार १०० वर्ष की ही परमायु होती है; तब महिदासकी ११६ वर्ष की आयु कैसे हुई ? जब उसकी आयु १०० से बढ़ सकती है; तो दूसरोंकी उससे बड़ी भी क्यों नहीं हो सकती है ? आजकल सैंकड़ों १०० वर्ष से ऊपरके पुरुष रूस आदि में मिलते हैं। आर्यसमाजी श्रीभगवद्दत्तजी तथा श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक भरद्वाज ऋषिकी आयु एक हजार वर्ष की मानते हैं, देखो उनका 'भारतवर्षका बृहद् इतिहास, तथा 'व्याकरण शास्त्रका इतिहास'। वे भी क्या पौराणिक हैं, जो ऐसा मानते हैं ?

महाशय ! तुम भी आर्यसमाजी--नीति क्यों अपनाते हो, 'जीवेम शरदः शतं, यह अंश तो तुमने वेदका दे दिया; पर उसमें जो 'भूयश्च शरदः शतात्' अन्तिम अंश था; उसे क्यों छिपा लिया ? उसका अर्थ यही था कि--सौ वर्षके बाद फिर १०० वर्ष देखें-सुनें। इस प्रकारकी प्रार्थना उसकी भगवदनुग्रहवश पूरी होती चले; तो उसकी आयु कितने सैंकड़े शतक होसकती है ? कुछ विचार तो करो। तभी तो वेदमें 'सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम्' (अ. १७।१।२७) इस वेदमन्त्रमें सहस्रवर्षकी आयु भी

कही है। पहलेके लिखे वेद-मन्त्रमें युगोंकी आयुप्राप्ति भी कही है।

मनुस्मृतिमें सत्ययुग-आदिमें ४०० वर्ष साधारण आयु मानी गई है, फिर योग-प्राणायामादि द्वारा वह आयु बहुत बढ़ सकती है। सो आयुका कर्मानुसार घटना-बढ़ना माना गया है। स्वा. द. जी तथा उनके दयानन्दी भी वादीकी भांति 'ध्रुवं जन्म मृतस्य च' मरे हुए का तत्काल जन्म मानते हैं, पर फिर वे ही मुक्त जीवका ३६००० वर्ष बाद जन्म मानते हैं। और सनातनधर्मी तो मुक्तका पुनर्जन्म शास्त्रानुसार मानते ही नहीं; तो क्या यह वादी परस्पर-विरोध मानेगा ? नहीं; इसका नाम तो उत्सर्गापवाद-न्याय होता है। सो 'शतायुर्वै पुरुषः' यह उत्सर्ग है, आगे सहस्र वर्ष वा युगोंके वर्षकी आयु वा मुक्तका सदा ही मुक्तिलोकमें रहना अपवाद है। जब मुक्तकी 'अनावृत्तिः शब्दात् अनावृत्तिः शब्दात्' (वेदा. अन्तिमसूत्र) आयुकी इतनी असीमित अवधि है; तब जीवन्मुक्त जनककी दीर्घायुमें सन्देहका अवकाश कहाँ रहा ? अपवाद क्वाचित्क वा कादाचित्क होते हैं; उनपर उत्सर्गका कोई प्रभाव नहीं पड़ता; तब केवलमात्र उत्सर्ग देखकर अपवाद-शास्त्रपर आक्रमण करना क्या वादी की अल्पश्रुतता नहीं ? ब्रह्माकी आयु १०० वर्ष की है, पर अपने मान से। हमारे ४ अर्ब, ३२ करोड़ सालका उसका एक दिन होता है; अब सोच लो कि--उसके १०० वर्षमें हमारे कितने अर्बों वर्ष बीतेंगे। इस विषयमें स्पष्टता 'आलोक' (५) में देखो। जब ऐसा है; तो युगोंकी आयुमें क्या सन्देह रहा ? यहां कल्पनाकी उडान क्या रही ?। यह रामायण-महाभारतके आक्षेपोंका समाधान होगया; अब आगे वादी गीतापर आक्रमण शुरू करता है।

(१८) लिखता है—'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः। पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्' गीता महान् अमृत दूध है, इसपर वादी आपत्ति उठाता है--'आजका दूध कल नहीं ठहरता, बिगड़ जाता है'। इस आक्षेपका इसीसे समाधान हो जाता है कि-यह साधारण दूध नहीं है, किन्तु 'दुग्धं गीतामृतं महत्' यह अमृत-दूध है। 'अमृत' का

अर्थ है—न मरना, न बिगड़ना। वादीकी जीभ वा मस्तिष्कमें ही कुछ विकार है; जो उसे इस दूधका जायका अच्छा मालूम नहीं होता। उसकी आंखोंमें पीलिया है; जो उसे सफेद दूध भी पीला मालूम देता है। वा आंखपर हरा चश्मा है, जो उसे गीता-रूप दूध हरा मालूम पड़ता है। सो गीता तो अब भी लोकप्रिय है। दो-चार ऐरे-गैरे-नत्थूखैरे निन्दक हों; पर उससे गीताका कुछ भी विगड़नेका नहीं। सूर्यपर थूकनेसे वह थूक अपनेपर ही पड़ेगी, सूर्यका उससे क्या बिगड़ेगा? क्या वादियोंकी ऐसी पुस्तकोंके छपनेसे गीताके नये संस्करण बन्द होगये? महाशय, दिल्ली अभी आपसे दूर है?

(ख) फिर लिखता है—'दूधसे गायका अधिक महत्त्व है। इसलिए गोपालन वाञ्छनीय है। सो गौओं--उपनिषदोंका अध्ययन—मनन भी आवश्यक है'। ठीक है–इससे कौन नकार करता है। पर प्रत्येकको गाय पालनेका न तो समय होता है, न स्थान-साधनादि; पर दूध तो सभी चाहते हैं। आप गोरूप उपनिषदोंको पालें। पर आप क्या गोरक्षक भी हैं? आप तो उपनिषदों पर भी आक्रमण करते हैं। आप उन उपनिषद्-गौओंके दोग्धा बन भी नहीं सकते, उन गौओंको दुहनेकेलिए श्रीकृष्ण-जैसा दुहनेवाला चाहिये; जो गायके स्तनोंको तकलीफ भी न दे; और दूध भी ठीक निकाले, कहीं उसका रक्त न निकाल दे। वादीके दुहनेसे यही डर रहता है।

(ग) लिखता है—'परन्तु उपनिषदोंके अध्ययनसे गीतारूपी दूध बिगड़ा हुआ मालूम होता है। छान्दोग्य उपनिषद् सबसे प्राचीन है'।

देखिये-वादी कैसा गवाला है, इसने एक गायको तो पुरानी बनाकर रखा, दूध उसका भी नहीं दुहा। शेष उपनिषद्रूप गौओंको तो समाप्त कर डाला। पर वादीके बन्धु आर्यसमाजी ईशोपनिषद्को ही सबसे प्राचीन कहते हैं--क्योंकि--वह यजुर्वेदकी है; तब किसकी बात मानी जावे? महाशय! उपनिषदें वेदका ब्राह्मणभाग हैं; अतः 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनाम-

धेयम्' इस कथनसे वेद हैं। वे भी वेदके साथ ही होती हैं। इसमें कोई प्राचीनता-अर्वाचीनताकी बात नहीं।

(घ) फिर वादी लिखता है—'छान्दोग्यके उपदेष्टा आरुणि बुद्धसे दो पीढ़ी ऊपर थे। उनने छान्दोग्य (३।१७) में 'देवकी-पुत्र श्रीकृष्णको तीन मन्त्रोंका उपदेश दिया—तू अक्षय है, तू अच्युत (अविनाशी) है, तू अतिसूक्ष्म प्राण है। इससे तो स्पष्ट है कि--सभी उपनिषदोंसे पूर्व ही देवकी-पुत्र कृष्ण होगये थे। इसलिए उपनिषद्रूपी गायोंके दुहनेवाले कृष्ण कभी नहीं होसकते। गीता उपनिषदोंका सार है; अतः गीता कृष्णकी पुस्तक नहीं है'।

यहां वादीकी वाहवाही करनी चाहिये। जब वादीकी मान्य उपनिषद् श्रीकृष्णको अविनाशी, अक्षय, सूक्ष्म-प्राण कहती है; इससे उसने श्रीकृष्ण को परमात्मा बता दिया; तब उन्हीं अविनाशी-अच्युत श्रीकृष्णने सृष्टिकी आदिकालके वेदके ब्राह्मणभागके अन्तर्गत उपनिषदोंको दुहा; तब अच्युत-श्रीकृष्णपर वादी द्वारा उठाई हुई आपत्ति 'उष्ट्रलगुडन्याय' से उसीसे कट गई। ऊंटसे उठाये गये हुए डण्डेसे ऊंटकी ही मरम्मत होगई। श्रीकृष्ण अविनाशी होनेसे छान्दोग्यसे पहले भी थे; छान्दोग्यके समय भी थे, छान्दोग्यके पीछे भी रहे। अब भी वे सूक्ष्म-प्राणरूपसे हैं। उसी अच्युतको ही अर्जुनने गीतामें कहा था—'नष्टो मोहः, स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत! स्थितोस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव' (गी० १८।७३)। इसी गीताका अच्युतने पहले सृष्टिकी आदिमें भी विवस्वान्को उपदेश दिया था (गीता० ४।१)।

(ङ) आगे वादी लिखता है—'गीताकी शैली देखनेसे अनुमान होता है—वह श्वेताश्वतर उपनिषद्की नकल है। श्वेताश्वतर-उपनिषद् शैव उपनिषद् मालूम होती है'। अरे भाई; जब तुम भी मानते हो कि—गीता उपनिषदोंका सार है; तब यदि गीतामें श्वेताश्व. का सार हो, तब तुमने क्या नवीनता की? इससे बिगड़ क्यों रहे हो?, याद रखो मन्त्र-

भागरूप वेदकी ११३१ संहिता होती हैं। 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद-नामधेयम्' इस नियमसे ब्राह्मण-उपनिषद् भी वेद होनेसे उतनी ही संख्याकी होती है कि--११३१ उपनिषदें भी हैं। तभी वेदके भाष्यकार श्रीयास्कने 'यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्' (३।९) इस श्वेताश्वतर-उपनिषद्के वचनको भी 'इत्यपि निगमो भवति' (२।३।१) यह लिखकर 'निगम' माना है; और स्वा. द. जी 'निगम' शब्दसे 'वेद' को लेते हैं--यह हम अन्यत्र लिख चुके हैं। यास्क महाभारतसे कुछ पहलेके हैं; महाभारतने यास्कको स्मरण किया है। सो 'श्वेताश्वतरोपनिषत्' यास्कसे भी प्राचीन होनेसे उस समय के भगवान्कृष्णने गीतामें उस उपनिषद्का भी सार देदिया हो; तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं रहती है।

भगवान्ने कहा है—'अहं सर्वस्य प्रभवः' (१०।८)। वेदको भगवान् ने अपनेसे उत्पन्न बताया है। 'ऋक् साम यजुरेव च' (९।१७) यहां भगवान्ने अपनेको वेदात्मक कहा है, 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः, वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्' (१५।१५) वेदोंसे अपनेको ज्ञेय कहा है। 'वेदानां सामवेदोस्मि' (१०।२२) यहां सामवेदको अपना स्वरूप कहा है। सो वेदमें उपनिषदें भी अन्तर्भूत हो जाती हैं; तब व्यर्थ ही क्यों अपनेसे विरुद्ध बात कह रहे हो ? भगवान् ही उपनिषदोंके प्रकाशक हैं; वे ही उपनिषदोंसे वेद्य हैं; और वे ही लोकोपकारार्थ उपनिषदोंके दुहनेवाले हैं। सूक्ष्मप्राण होनेसे वे सदा ही हैं। उपदेशक भी वे हैं; और लोक-संग्रहार्थ (गीता. ३।२०) आरुणिसे उपदेश सुनते भी वे हैं। वे जगत्के माता-पिता हैं; पर अवतारकालमें देवकी-वसुदेवको, कौशल्या-दशरथको लोकव्यवहारार्थ माता-पिता भी बनाते हैं। लोकव्यवहारार्थ वे सान्दीपनि को गुरु बनाकर स्वयं शिष्य बनते हैं, और वे ही 'पूर्वेषामपि गुरुः' (योग. १ २६) भी हैं। अतः भ्रमकी कोई भी बात नहीं।

(च) आगे राहुलजीका यह कथन कि--'गीताके सामने श्वेताश्वतर-उपनिषद् मौजूद ही नहीं थी; बल्कि इस प्रथम प्रयाससे लाभ उठाया।

रचनाके ढङ्गको लिया; । बेनाम न रखकर वासुदेव-कृष्णके नाम उसे थोपने द्वारा यही चतुराई दिखलाई। जान पड़ता है कि--उसका अभि-प्राय था—शैवोंके मुकाबलेमें वैष्णवोंका भी एक जबर्दस्त ग्रन्थ गीतो-पनिषत् तैयार करना। गीताकार अपने उद्देश्यमें सफल जरूर हुआ; और उत्तरीभारतमें पुराने वैष्णवोंको प्रधानता दिलानेमें सफल हुआ'।

इस वाक्य-योजनामें वादीका कितना परस्पर-विरोध है। कहते हैं कि--'गीताकारके समय श्वेताश्वतर-उपनिषद् मौजूद नहीं थी। फिर कहते हैं--'गीतामें श्वेताश्वतरका सब-कुछ लिया। उसके दो-तीन मन्त्र आ जानेसे क्या सभी कुछ उसका गीताने ले लिया ? । फिर कहते हैं कि—'यह शैव उपनिषद् थी; उसका सभी कुछ लेकर गीताकारने वैष्णवोपनिषद् बना डाली'। यह सब निस्सार और निरुपपत्तिक बातें हैं। श्वेताश्वतरमें शैव-सम्प्रदाय कहां है ? दो-चार मन्त्रोंमें रुद्र नाम आजानेसे वह शैव कैसे बन गई ? क्या इसमें विष्णुकी निन्दा की गई है कि—इसे शैव उपनिषद् माना जावे ?

महाशय ! श्वेताश्वतरमें प्रायः 'ब्रह्म' शब्द आया है, 'देव'--शब्द आया है, रुद्रके सिवाय और कौनसा शब्द शिवका आया है ? इसमें 'प्रभु' शब्द भी है, 'हंस' शब्द भी है। क्षर-अक्षर शब्द आया है, 'अमृत' शब्द आया है, प्रकृति-पुरुष शब्द आये हैं; क्या यह शैव-सम्प्रदायके हैं ?। 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' यह बात सर्वत्र विष्णुकेलिए आती है; तब इसमें शैव-सम्प्रदाय क्या हुआ ! 'विष्णुसहस्र-नाम' में विष्णुकेलिए रुद्र आदि शब्द भी आये हैं; तब इसे वैष्णव उप-निषद् भी कहा जासकता है।

और फिर गीतामें भी कोई शिवका विरोध नहीं है। उसमें 'रुद्राणां शङ्करश्चास्मि' (१०।२३) कहकर शङ्करको भी अपना ही रूप कहा है, 'ब्रह्माणमीशं' (११।१५) में भी ईशको अपनेमें माना है। तब गीता तथा श्वेताश्वतरका विष्णु-शिव सम्प्रदाय बताना वादीका दोनोंमें कलह कराना

ही इष्ट हो सकता है—इसमें वस्तुतत्त्व कुछ भी नहीं। जब दोनोंका कुछ विरोध भी नहीं, 'शैवोपनिषद्के मुकाबलेमें गीता वैष्णवोपनिषद् तैयार की गई'; यह राहुलजीका कहना गलत सिद्ध होगया। इन दोनोंमें किसी मतविशेषकी छाप नहीं। गीतामें तो उल्टा सब मतों वा सम्प्रदायोंका जो परम्परासे चले आते थे; सुन्दर-समन्वय किया गया है।

(१६) अब आगे वादी पैंतरा बदलता हुआ कहता है—'रामायण और गीतामें वर्णित विषय ऐतिहासिक नहीं हैं—'इसमें वादीके पास क्या प्रमाण है? क्या कौरव-पाण्डव नहीं हुए? क्या श्रीकृष्ण नहीं हुए? क्या महाभारत युद्ध नहीं हुआ? क्या उसमें कहे हुए इन्द्रप्रस्थ, कुरुक्षेत्र, यमुना नदी, आदि यह सब काल्पनिक हैं? क्या बढ़े-चढ़े शस्त्रास्त्र जो उस समयके वर्णित हैं—वे काल्पनिक हैं?

आगे लिखता है—'परन्तु बौद्धधर्मके विषयमें ऐसा नहीं कहा जा सकता। बुद्धका जन्म ६२४ ई० पूर्वमें हुआ था। प्रश्न उठता है—'गीताकी रचना बुद्धके पीछे हुई या पहले? बौद्ध-धर्मके चार आर्य सत्य हैं—दुःख है १, दुःखका कारण है २, दुःखका निरोध है ३, दुःखका निषेधगामी मार्ग है ४, इत्यादि। अब हम गीतापर दृष्टिपात करते हैं; उसमें स्थितप्रज्ञ तथा समाधिस्थकी परिभाषा पूछी गई है। पाठक ध्यान-पूर्वक देखें-गीताकारने किस प्रकार प्रज्ञा और समाधिपर जोर दिया है, जो बुद्धके अष्टाङ्गिक मध्यम मार्गमें निर्देशित हैं। गीताको निष्काम कर्म की मान्यता है—यह निष्कामता बुद्धके सम्यक् संकल्पमें निहित है। गीता-कारने बौद्धभिक्षुओंके पलायनवादका विरोध किया है'।

जब श्रीकृष्ण द्वापरके अन्तमें हुए; और बुद्ध कलियुगके शुरू होजाने-पर हुए; तो यह क्यों न कहा जाय कि—यह बातें श्रीबुद्धने गीतासे लीं? पर हमें तो गीतामें और बुद्धकी वादी द्वारा बताई बातोंमें कोई ताल-मेल नहीं दीखता है। जैसे कि--कोई साधारण जादूगर छोटे बच्चेको वर-गलाता जाता है; बच्चा भी वैसे कहता जाता है---यहां वादी भी वैसा

तरीका कर रहा है। समझता है-मैं जैसा कहता जाऊंगा; अनुसन्धान-विरहित जनता भी वैसे मानती जावेगी। महाशय; इसमें कुछ भी सादृश्य नहीं। कहीं कई बातें किन्हीं दो की अतर्कित मिल जावें; कोई कहे कि दो-दो चार हुआ करते हैं, जलका अर्थ पानी है, दूसरा भी अचानक वैसा कह दे; तो क्या वादी दूसरे को पहलेकी नकल करनेवाला कह देगा? क्या यही बुद्धकी नकल बताई! यहां 'टांय टांय फिस' वाली बात होगई।

महाशय; जब श्रीकृष्ण ईश्वरावतार थे; तथा बुद्ध भी; बुद्धने प्रच्छन्न-नास्तिकोंको आस्तिकोंसे अलग करनेकेलिए अवतार लिया था; सो उन्होंने नीतिके विचारसे कई बातें जो पूर्वकी परम्परासे चल रही थीं, उन्हें भी कहना था; कई गलत बातें भी कहनी थीं; पर श्रीकृष्णावतारमें भिन्न वायुमण्डल था। सो समाधि आदि की जो परम्परासे आई बातें थीं, श्रीकृष्णने उनको यदि कहा; तो यह बुद्धकी नकल कैसे होगई, अथवा इससे गीता बौद्धोंसे पीछे की कैसे सिद्ध होगई? यह पलायनवाद तो समयपर सब अवसरोंपर हो सकता है; इसका बौद्धोंके पलायनवादसे भी कुछ मेल नहीं। वादीने यहां 'मक्खीको मलमल कर भैंसा' बनानेका प्रयत्न तो किया है; पर वह उसमें पूरी तरह असफल हुआ है।

(२०) आगे वादी इस विषयको छोड़कर अन्य पैंतरा बदलता हुआ कहता है—'निष्काम कर्म सम्भव है, या नहीं? मनुने साफ कह दिया है—'अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्। यद् यद्धि कुरुते कर्म तत्तत् कामस्य चेष्टितम्'। (२।४) अकाम-द्वारा कोई भी कर्म नहीं देखा जाता। मनुने बौद्धोंकी निष्कामताका विरोध किया, पर गीताकारने उसमें विरोध बेकार समझकर उसमें कर्मको जोड़ दिया'।

महाशय! तुम्हारा कितना परस्पर-विरोध है? जब निष्काम कर्म तुम्हारे अनुसार हो ही नहीं सकता; तो तुम्हारे मान्य बौद्धोंने निष्कामता

कैसे गृहीत की ? गीताकारने ही निष्काम-कर्म की कैसे नकल कर ली ?। महाशय ! तुम क्या कह और क्या लिख रहे हो ? निष्कामता मुश्किल है--यह ठीक है, पर असम्भव तो नहीं। मनुजीका वचन सर्वसाधारण-पुरुषोंकेलिए है। निष्कामता विशिष्टोंकेलिए है, सर्वसाधारणकेलिए नहीं। अर्बोंमें कोई एक ही तो मुक्तिको प्राप्त करता है ! निष्काम कर्म भी थोड़े ही कर सकते हैं। चाहे वे थोड़े भी हों, पर उनका महत्त्व है--'एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति नहि तारासहस्रकम्'।

'गीतामें दो अतियोंका परित्याग करनेवाला बुद्धका मध्यम मार्ग है--'युक्ताहारविहारस्य' इत्यादि बातें वादीने निस्सार लिखी हैं। परम्परासे दुःख हटानेकी प्रवृत्ति रही है, यह बुद्धकी देन नहीं। योगशास्त्र भी परम्परासे है। उसपर केवल बुद्धकी मुहर लगा देनी वादीकी बौद्धोंसे सहानुभूतिके कारण है। वादी कहता है--गीतोपदेश बुद्धके पहले नहीं हुआ था। बुद्ध वेदज्ञ ब्राह्मणोंके विचारसे सुपरिचित थे'। जब ऐसा है, तो बुद्धने ही वे विचार वेदज्ञ ब्राह्मणोंसे पाये; नवीन बात क्या लिखी ? बलात् ही वादीने गीताके पद्योंको बुद्धसे लेना बताया है। वस्तुतः ऐसा नहीं है। 'निर्वाण' शब्द क्या बौद्धोंसे पहले नहीं था ?

'(ख) यह जो वादीने लिखा है—'बुद्धकालमें गीताका जन्म नहीं हुआ था, न उसका कोई पता था' यह बात गलत है। बुद्धावतार कलियुगमें हुआ, श्रीकृष्ण वा गीता उससे पूर्व थे। भागवत-पुराण जो सब पुराणोंसे पीछे बनाया हुआ माना गया है; उसमें भी 'कलौ सम्प्रवृत्ते संमोहाय सुरद्विषाम्। बुद्धो नाम्ना जिनसुतः कीकटेषु भविष्यति' (१।३।२४) यहां बुद्धका वर्णन भविष्यत्में माना गया है। उसी श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णका चरित्र भूत वा वर्तमानकालमें बताया है; तब श्रीकृष्ण तो पहले सिद्ध हो ही गये। उनकी गीता भी स्वतः उनके साथ थी; बल्कि वही गीता भगवान्ने कृष्णचन्द्र-रूपमें अवतरणसे पूर्व भी विवस्वान्को सुनाई थी (४।१); तब वह बुद्धकी नकल कैसे हो सकती

है ? तब श्रीकृष्ण बुद्धकी पुस्तकोंसे उधार कैसे लें ?

'बुद्धने धर्म-चक्र लिखा, गीताने यज्ञचक्र। गीतामें 'मोघ' शब्द है बुद्धने 'मोघ' शब्दका बार-बार प्रयोग किया है" इससे क्या गीता बुद्धकी नक़ल होजावेगी ? बुद्धने ही गीतासे यह शब्द लिये, यह भी कहा जा सकता है; क्योंकि बुद्ध गीता एवं महाभारतसे पीछे हुए। क्या 'मोघ' शब्दकी बुद्धने सृष्टि की ? क्या कोषोंमें 'मोघ' शब्द नहीं है ? वेदमें भी तो 'मोघ'--शब्द है—'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः...केवलाघो भवति केवलादी' (ऋसं. १०।११७।६) उक्त वेदमन्त्र तथा गीताके श्लोककी तुलना भी है। क्या वेदको भी बुद्धके बादका मानोगे ? 'चक्र' शब्द वेदमें अनेक बार आया है; ऋग्वेद सं. की श्रीविश्वेश्वरानन्द-स्वामीसे बनी पदसूची (पृ. १४७) देखो, सो इसमें बुद्धका कुछ भी ऋण नहीं। तब 'गीताका बुद्धके पहले होना असम्भव है', यह कहते हुए वादीकी बात गलत सिद्ध हुई।

(२१) वादी कहता है—'पाणिनिके व्याकरणके बाद लौकिक-संस्कृतका आरम्भ माना जाता है, उसके दोसौ वर्षों बाद वाल्मीकि रामा. की रचना हुई; और वही लौकिक संस्कृत आदि-कविकी रचना है; उसके भी दो सौ वर्षोंके बाद भारत-काव्यकी रचना होने लगी।'

यह वादीकी गलत बातें हैं। वाल्मी. रामा. पाणिनिसे बहुत पूर्वकी रचना है; तभी तो उसमें अपाणिनीय बहुत प्रयोग मिलते हैं। महाभारत भी पाणिनिसे पूर्वकी रचना है, उसमें भी अपाणिनीय प्रयोग मिलते हैं। तब 'गीता का बुद्धसे पहले होना असम्भव है', यह बात गलत सिद्ध हुई। गीतामें भी अपाणिनीय प्रयोग बहुत मिलते हैं। अष्टाध्यायीमें महाभारतके पात्रोंकी सिद्धि है; तो वे पाणिनिसे पीछेके कैसे होसकते हैं ? यदि वादी पाणिनिके समय लौकिक-संस्कृतका आरम्भ मानता है; तो पाणिनिसे पूर्वके स्फोटायन, शाकल्य, शाकटायन, चाक्रवर्मण, गार्ग्य, यास्क आदिके समय क्या लौकिक संस्कृत नहीं थी ?

लौकिक संस्कृतसे बिगड़कर प्राकृत भाषा बनी। तभी तो प्राकृत-व्याकरणके अन्तमें आता है—'शेषं संस्कृतात्'। इससे प्राकृतभाषा पाणिनिके बादकी सिद्ध हुई। बुद्धने अपनी पुस्तकें प्राकृतभाषामें लिखीं, तब वे पाणिनिकालके बादकी सिद्ध हुईं। तब महाभारत एवं गीता—जिसमें 'प्रसविष्यध्वं' (३।१०) 'शक्य अहं नृलोके' (११।४५) आदि अपाणिनीय प्रयोग मिलते हैं—तथा प्राचीन छन्द मिलते हैं; पाणिनिसे पूर्वकी सिद्ध हुई; तब गीता बुद्धके बादकी कैसे हो सकती है? वस्तुतः बुद्धावतार तो कलिके प्रारम्भमें हुआ, उसके बहुत समय बाद अन्य किसी व्यक्तिने अपना नाम गौतमबुद्ध रखकर उस बुद्धावतारके मतको पल्लवित करके चालू किया।

(२२) जोकि वादी लिखता है—'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव' (१३।४) में 'ब्रह्मसूत्र'के नामसे सिद्ध है कि—गीताके पहले 'ब्रह्मसूत्र' बन चुका था। परम्परा भी यही कहती है—बादरायण व्यासने ब्रह्मसूत्र और महाभारत दोनोंकी रचना की है। इस ब्रह्मसूत्रमें इसके पूर्वगामी दर्शनोंके खण्डन हैं। इनमें जैन-बौद्धका खण्डन है।'

महाशय, उक्त गीतावचनमें 'ब्रह्मसूत्र' शब्दसे वेदान्तदर्शन इष्ट नहीं है, किन्तु वहां 'ब्रह्मणः सूचकानि वाक्यानि ब्रह्मसूत्राणि, तेषां पदैः' यह अर्थ है; सो वे ब्रह्मसूचक पद 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृ. उ. १।४।७) इत्यादि उपनिषदोंके वचन इष्ट हैं। स्वा. शङ्कराचार्यने भी इसी प्रकारका अर्थ किया है। इसमें ज्ञापक है—'ऋषिभिर्बहुधा गीतं' (१३।४) यहां ऋषिशब्दमें बहुवचन है; सो यहां उपनिषदोंके ऋषि इष्ट हैं। यदि बादरायणकृत दर्शन इष्ट होता; तो 'ऋषिणा, वा कृष्णद्वैपायनेन' ऐसा कहा जाता। इधर पाणिनिने भी 'भिक्षुसूत्र' ४।३।११०) से ब्रह्मसूत्र लिया है, जो पाणिनिसे भी पूर्वका सिद्ध होता है। उसी ब्रह्मसूत्रमें 'स्मर्यते च' इत्यादि बहुतसे सूत्र आते हैं; जहां गीताके वचन इष्ट हैं; तब भला गीता गौतमबुद्धके पीछेकी कैसे हो सकती है? शेष रहा—ब्रह्मसूत्रमें जैन-बौद्धोंका खण्डन; इसपर यह याद रखना चाहिये कि—मत-मतान्तर तो

परम्परासे चले आते हैं। एक विशेष व्यक्ति जब उनको अपने नामसे जोड़ देता है, पीछेके साधारण लोग समझने लग जाते हैं—यह मत इसने चालू किया है; वास्तविक स्थिति वह नहीं हुआ करती। वेदमें नास्तिक मतका वर्णन भी आता है; पर इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि—वेद चार्वाक मतके बाद बना। स्वा. दयानन्दने अपने मतको वेदके मतके नामसे चालू किया; इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि—वैदिक मत सं. १९३२ से शुरू हुआ। इस विषयमें 'आलोक' (६) में देखो।

गीतामें भगवान्ने कहा है—'वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्' (१५।१५) (वेदान्तका सम्प्रदाय भी मैंने ही चालू किया है) सो उसीको श्रीव्यासने सूत्रबद्ध किया है। बुद्ध और जिनका तथा लोकायतका भगवान्ने ही सम्प्रदाय चलाया था दैत्योंके वञ्चनकेलिए; यह पुराणोंमें स्पष्ट है। पर पीछेके लोगोंने रूपान्तर करके उसपर अपनी मुहर लगा दी। सो ब्रह्मसूत्रमें वह परम्परासे आये हुए दर्शनोंका खण्डन है; वर्तमान जैन-बौद्धोंका नहीं। हां, भाष्यकार लोग अपने समयके जैन-बौद्धोंका नाम उसमें भले ही कह दें, पर वस्तुस्थिति यह नहीं है। इस विषयमें हमने 'आलोक' (६) पृ. ६७८-६९२) में विचार किया है।

(२३) वादी लिखता है—'जब बुद्धको हिन्दु ईश्वरका अवतार मानते हैं; तो क्या शङ्करने अवतारी पुरुषके मतका खण्डन कर अपनी नास्तिकताका परिचय नहीं दिया है' इसपर हम कहते हैं कि—नहीं, किन्तु आस्तिकताका ही। सनातनधर्ममें जो प्रच्छन्न-नास्तिक वा दैत्य घुस आये थे; और उसमें मनमानी कर रहे थे; उसमें ठीक पता नहीं लगता था, कौन आस्तिक है और कौन नास्तिक? क्योंकि—वे अपने अभिमतको छिपाकर रखते थे; तब उनकी छटनीकेलिए; उन्हें निकालनेके लिए उनके वञ्चनार्थ भगवान्ने यह नीति अपनाई कि--वेद एवं ईश्वरका ही खण्डन करके नास्तिकताका ही बोलबाला कर दिया; तब उनका प्रभाव और जमात बढ़ जानेसे वे प्रच्छन्न नास्तिक बुद्धिगम्य बातोंके ही

माननेवाले अब प्रकट-बौद्ध बन गये । वेद वा सनातनधर्म जो इन नास्तिकों से आक्रान्त हो रहे थे; इनके पृथक् हो जानेसे वे शुद्ध हो गये । जैसे सांपके विषसे बचावकेलिए किसीको आक खिला दी जावे; वहां सांपका विष तो हट जावे; अब आकका विष हो जावे; तब उसका निवारण भी अपेक्षित होता है. इसीसे देवताओंने भगवान् शङ्करसे प्रार्थना की कि– चाहे वे लोग इस धर्मसे तो हट गये है और प्रकट-बौद्ध बन गये हैं, तथापि वह भी धर्मकी हानि कर रहे हैं; अब इनको भी निरतेज कीजिये ।

शङ्करदिग्विजयमें इसीको स्पष्ट किया है । देवता कैलासमें स्थित शङ्करको कहने लगे—'विज्ञातमेव भगवन् ! विद्यते यद् हिताय नः । वञ्चयन् सुगतान् बुद्धवपुर्धारी जनार्दनः' (१।३०) 'तत्प्रणीतागमालम्बैर्बौद्धैर्दर्शन (वेदादिशास्त्र) दूषकैः । व्याप्तेदानीं प्रभो ! धात्री रात्रिः सन्तमसैरिव' (३१-३२-३३) श्रुते पिदधति श्रोत्रे क्रतुरित्यक्षरद्वये । क्रियाः कथं प्रवर्तेरन् यतः क्रतुभुजो वयम् (३४) तद् भवान् लोकरक्षार्थमुत्साद्य निखिलान् खलान् । वर्त्म स्थापयतु श्रौतं जगद् येन सुखं व्रजेत् (३६) । 'इत्युक्त्वोपरतान् देवान् उवाच गिरिजा-प्रियः । मनोरथं पूरयिष्ये मानुष्यमवलम्ब्य वः (४०) दुष्टाचार-विनाशाय धर्मसंस्थापनाय च । भाष्यं कुर्वन् ब्रह्मसूत्र-तात्पर्यार्थविनिर्णयम् (४१) यतीन्द्रः शंकरो नाम्ना भविष्यामि महीतले । मद्वत्तथा भवन्तोपि मानुषीं तनुमाश्रिताः (४३) तदा मनोरथः पूर्णो भवतां स्यान्न संशयः' (१।४४) तब भगवान्ने शङ्कराचार्यका रूप धारण करके उनको निस्तेज करके धर्मकी रक्षा की ।

अब यह नास्तिकता कहां रही ! इससे तो आस्तिकता ही हो गई । बुद्धिवादको कमजोर करके वेदादिके प्रमाणवादका प्राबल्य कर दिया गया, उन ईश्वरावतार प्राचीन बुद्धके अनुकरणपर यहां किसी अर्वाचीन व्यक्तिने भी अपना नाम गौतम-बुद्ध कर दिया । फिर इन लोगोंका मटियामेट श्रीशङ्कराचार्यने किया ।

धर्मके लक्षणमें हम 'मार्क्स' की बात क्यों मानें ? क्या वह धर्मात्मा

था ? नहीं वह तो निरा अधर्मी तथा नास्तिक था; उसने लाखोंका खून निकलवाया । तब उसने तो धर्मकी निन्दा करनी ही हुई । हमारा धर्म वेद और स्मृतिपर है । वेद अपौरुषेय वाक्य है । उसमें मन्त्रभाग तथा ब्राह्मणभाग दोनों लिये जाते हैं । मन्त्रभागमें ११३१ संहिता आती हैं, ब्राह्मणभागमें ब्राह्मण. आरण्यक उपनिषद् अन्तर्भूत होती हैं, इस विषयमें 'आलोक' (४, ६, ७, ८, ९, १० पुष्प) देखें । स्मृति वेदका आदेशात्मक व्याख्यान है, लोकव्यवहार उसी धर्मशास्त्रके विधिभागके अधिकारमें है। पुराण उसीके अर्थवाद हैं । अतः 'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं' (मनु. ६।९२) का नाद करनेवाला धर्म 'वेदः स्मृतिः सदाचारः' (मनु. २।१२) कहनेवाला धर्म—भला धोखा कैसे दे सकता है ?

वेदमें भी पुराणोंका नाम आता है, तब पुराण भी वेद-समकालीन हैं;' इस विषयमें 'आलोक' (७) (पृ. ३७७-३८८) में देखें । तब पुराणों में भूतकी भांति प्रतीत होनेवाला वर्णन भी भविष्यद्रूपमें समझना चाहिये । जैसे कि–कहा गया है–'आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम् । अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते । अतीन्द्रियान् असंवेद्यान् पश्यन्ति आर्षेण चक्षुषा । ये, भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते' (वाक्यपदीय १।३७-३८) पूर्व ऋषि-मुनियोंको अतीत और भविष्यत्का ज्ञान प्रत्यक्षकी भांति हुआ करता है । योगदर्शनमें भी 'परिणामत्रय-संयमाद् अतीतानागतज्ञानम्' (विभूति-१६ सू.) में योगी-मुनि आदिको भूत-भविष्यत्का ज्ञान कहा है । कल्किपुराणमें भूतकालकी क्रियाएं हैं; पर कल्की अवतार अभी नहीं हुआ । कलियुगके अन्तमें होगा । सो वहांका भूतकाल भी भविष्यत्-कालार्थक है—'छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति' (महाभाष्य १।४।३) 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (अष्टा. ३।४।६) यह भूतार्थक लकार सब कालोंमें वेदमें हुआ करते हैं; और कवि लोग वेदकी भांति भी क्रियाएँ प्रयुक्त कर दिया करते हैं । तब जहां पुराणमें क्रिया भी भविष्यत्-काल की हो, जैसा कि–'ततः कलौ संप्रवृत्ते संमोहाय सुरद्विषाम् । बुद्धो

नाम्ना जिनसुतः कीकटेषु भविष्यति' (भाग. १।३।२४) सो वह भविष्यत् में क्यों न माना जावे ? तब इसमें दोष देना अज्ञताकी पराकाष्ठा है ।

जब एक पुराणका नाम ही 'भविष्य-पुराण' है; तब उसमें भविष्यत् हो, यह स्वाभाविक है । "पुत्र (शुक) के उपदेशको क्या पिता व्यासने लिखा ?" यह वादी का वाक्य है; व्यासजीने ही तो शुकको पुराण पढ़ाये थे; तब वह पुत्रका उपदेश थोड़े ही हो जावेगा ? वह व्यासजी का भी उपदेश नहीं; क्योंकि-पुराण तो अनादि हैं—'पुरा परम्परां वक्ति पुराणं तेन वै स्मृतम्' (पद्म. १।२।५३) । इसलिए चाहे महाभारत हो, वा रामायण, वा सबसे पुराने वेद; सम्पूर्ण प्राचीन-साहित्यमें 'पुराण' का नाम आता है । व्यास भी पूर्व-पूर्व द्वापरयुगोंमें थे; अगले द्वापरमें भी होंगे । व्यास यह व्यक्तिका नाम न होकर उपाधिनाम है । इस बारके व्यासका नाम कृष्णद्वैपायन है, अगले द्वापरमें 'अश्वत्थामा' नामक व्यास होंगे । देखो श्रीदेवीभागवतपुराण (१।३।१५-२३-३३) । सो व्यास भी पुराण बनाते नहीं; उसका सङ्कलन वा सम्पादन करते हैं । 'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति' (उत्तरराम. १।१०) ऋषियोंकी वाणी वेद-पुराण पहले चलता है, उनमेंके पात्र अपने समयपर हुआ करते हैं । प्रथमाध्यायका उत्तर दे दिया गया ।

अथ द्वितीयाध्याय :

(२४) गीताकेलिए वादी लिखता है— 'दोनों ओरकी सेनाएं आमने-सामने खड़ी थीं । शंख बज चुके थे । योद्धा लोग धनुष चढ़ा चुके थे' ।

इसपर वादी याद रखे कि—यह शंखनाद युद्ध शुरू होनेका बिगुल नहीं था । दुर्योधनको उद्विग्न देखकर उसके उत्साहवर्धनार्थ भीष्मने पहले-पहल शङ्ख बजाया था— 'तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः । सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान्' (१।१२) उस नादको सुनकर पाण्डवों ने भी शख बजाये (१।१४-१९) सो यह युद्ध शुरू करनेका बिगुल नहीं था, किन्तु अपने लोगोंके उत्साहको बढ़ानेवाला तथा

विपक्षियोंके उत्साहको क्षीण करनेवाला था । उसीकेलिए कहा गया था— 'स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्' (१।१९) पाण्डवोंके शंख-नादसे धृतराष्ट्रके पुत्रोंका हृदय फट गया, अर्थात् वे उत्साहहीन होगये ।

यदि यह युद्ध शुरू करनेका 'बिगुल बजाना' होता, तो उस समय दुर्योधनके पक्ष वाले अपना आक्रमण शुरू कर देते; बल्कि उस समय उन आक्रमणकारियोंके आक्रमणको देखकर युद्धके आवेशमें आये हुए अर्जुनको मोह भी सर्वथा नहीं होता, न उस समय गीतापाठकी कोई आवश्यकता होती । वह अर्जुन प्रतिपक्ष द्वारा अपने लोगोंपर आक्रमण देखकर स्वयं भी आवेशमें आकर प्रत्याक्रमण शुरू कर देता । तब उसे दयाका सञ्चार भी न होता । पर ऐसा नहीं था । अभी युद्ध शुरू होनेमें काफी देरी थी । तभी उस खाली समयमें उसमें दयाका सञ्चार होगया, बल्कि उसके बाद भी युधिष्ठिर भीष्म-द्रोण आदिके पास युद्धकी आज्ञा लेने गये । अतः उससे पूर्व गीताके शुरू होनेमें अयुक्तता नहीं ।

बिगुल बजानेका काम, विशेष-अधिकारियोंका होता है, जो तटस्थ होते हैं; यहां वैसा नहीं था । 'धनुरुद्यम्य पाण्डवः' का यह अर्थ नहीं कि—अर्जुनने धनुष चढ़ा दिया । किन्तु यह अर्थ है—'धनुष उठाकर' । जो युद्धकी तैयारीके अवसरमें स्वाभाविक होता है, धनुषकी देख-भाल जांच-पड़ताल करनी ही पड़ती है । यदि 'धनुष चढ़ाकर' अर्थ होता; तब तो सभी ऐसा करने लग जाते; और यह युद्ध करनेका संकेत हो जाता । पर ऐसा नहीं था; तभी तो अर्जुनने 'योत्स्यमानान् अवेक्षेऽहं (१।२३) यह यहां भविष्यत्काल दिया है; इससे स्पष्ट है कि—अभी युद्ध शुरू होनेमें काफी देरी थी । युद्धके पहले दिनमें प्रबन्ध करनेमें सबके लगे होनेसे विलम्ब होजाना स्वाभाविक होता है ।

बल्कि गीताकी समाप्तिके बाद युधिष्ठिर भीष्म-द्रोण-कृप आदिसे युद्धकी आज्ञा भी लेने गये--इतने लम्बे व्यूहमें शीघ्र पहुंच जाना भी सम्भव नहीं होता । उसके बाद युधिष्ठिरने घोषणा की; यदि कोई उधर

का व्यक्ति हमारे पास आना चाहे; तो उसे अभयदान है। उस समय सम्भवतः युयुत्सु आया था। इसके भी काफी देरके बाद युद्ध शुरू हुआ। इससे गीताका सुनना-सुनाना उस समय न तो असम्भव था, और न अप्रासङ्गिक ही। अब भी गीताका पाठ किया जाय; तो डेढ घण्टेमें प्रायः हो जाता है। उस समय तो संस्कृतभाषा सबकी मातृभाषा-सी थी, उस समय आज-सी देरी भी नहीं लगनी थी। और फिर वास्तविक गीताका आरम्भ भी द्वितीयाध्यायके ११ वें पद्यसे हुआ है। अतः उसमें गीता सुनानेमें कुछ भी बाधा नहीं हो सकती थी। इस विषयमें 'आलोक' (५) (पृ. ७२९-७३४) में देखो।

(ख) वादी लिखता है—'उसी समय अर्जुनके मनमें विषाद हुआ, और उसने दोनों सेनाओंके बीच कृष्णको रथ खड़ा करनेको कहा'। यहां वादीने उल्टा लिखा है। विषाद पहले नहीं हुआ, किन्तु दोनों सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा करनेपर विषाद शुरू हुआ। इससे स्पष्ट है कि--युद्ध शुरू होनेमें काफी देरी थी। नहीं तो अर्जुनके बीचमें रथ ठहराने और धनुष चढ़ानेपर प्रतिपक्ष—सेनाकेलिए युद्ध शुरू करनेका संकेत होजाता। यह युद्धका सिग्नल डाऊन हुआ समझा जाता। पर ऐसा नहीं हुआ। तब वादीका यह कहना कि—'दोनों ओरके लोग शस्त्र चलानेकेलिए पूर्ण उद्यत थे, यह कट गया।

(ग) 'ऐसे समय दोनों सेनाओंके बीच अर्जुनका हृदय डूब गया, उसके बुद्धिसारथि कृष्णने अनेक तर्क-वितर्क द्वारा उसका उत्साह बढ़ाया, और युद्धमें प्रवृत्त किया'। यह वादीके शब्द हैं। इनसे गीताकी प्रवृत्तिमें कुछ भी अनुपपत्ति नहीं रहती। पर वादी आगे कहता है—'उस समय ज्ञान, कर्म, भक्ति, योग, श्रद्धा, संशय, आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक, यज्ञ, साकार, निराकार, ईश्वर, वर्ण और वर्णाश्रम धर्म, सृष्टि-प्रलय आदि अनेकों विषयोंपर प्रश्नोत्तर करना अस्वाभाविक है; और प्रकरण-बाह्य भी है।

यह वादीके शब्द व्यर्थके हैं। वादी बतावे कि—उस समय क्योंकि युद्ध शुरू होनेमें काफी देरी थी; तब क्या योद्धा लोग मुंह सी कर बैठे हुए थे? कुछ भी बातचीत नहीं कर रहे थे? मानना पड़ेगा कि—उस समय कुछ-न कुछ बातें तो होती ही रहती हैं। जब ऐसा है; तब गीतोप-देशमें भी कुछ अनुपपत्ति नहीं आती। स्वा.द. ने बाल्यकालमें जब मूर्ति-पूजासे विद्रोह कर दिया; यदि उस समय स्वामीके पिता विद्वान् होते; तो दूसरी गीता बन जाती; इधर उस समय बच्चे दयारामको भी कुछ विशेष ज्ञान न था; पर इस अर्जुनके विद्रोहके समयमें तो दोनों ही विद्वान् थे—एक विद्वान्को दूसरे विद्वान् द्वारा समझाना बड़ा कठिन हो जाता है; क्योंकि—'साक्षरा विपरीताश्चेद् राक्षसा एव केवलम्' उसके-लिए श्रीकृष्ण जैसे उपदेशककी आवश्यकता थी। हम लोगोंकी योग्यता न्यून होनेसे ही इस प्रकारकी आशङ्काएं होती हैं; पर उस समय दोनों योग्यता-सम्पन्न थे, सो उस समय यह साधारण बात थी।

(घ) यहां प्रकरण-बाह्यता भी नहीं थी। एक क्षत्रियके युद्ध-कर्मको छोड़नेका प्रकरण था, पाप-पुण्यकी बात थी, युद्धके फलाफलकी बात थी; तब वर्ण, वर्णकर्म, स्वकर्म—त्यागमें क्या फल है, सकाम कर्म, निष्काम कर्म, उसके साथ ज्ञानका सम्बन्ध, स्वर्ग एवं मुक्तिका तारतम्य यह सभी प्रकरण—प्राप्त थे। यदि भगवान् अपनी भगवत्ता न दिखलाते, पूर्ण अवतारमें गीता सुनानेमें अवतारवाद आदि और अपनी भक्ति आदि यह सभी बातें प्रकरण-प्राप्त हैं।

जब एक विद्वान्को समझाना पड़ता है; तो कई ढंग अपनाने पड़ते हैं। यह तो भगवान्ने 'गागरमें सागर' भर दिया। बातचीतमें प्रसक्तानु-प्रसक्त कई प्रकारके विषय चल पड़ते हैं। क्या वादीने यह पद्य नहीं सुना—'उत्तरादुत्तरं वाक्यं वदतां सम्प्रजायते। सुवृष्टि—गुणसम्पन्नाद् बीजाद् बीजमिवोत्तरम्' (पञ्चतन्त्र मित्रभेद) (आपसमें कथनानुकथनसे बातका बतङ्गड़ बन जाता है; जैसे सुवृष्टिमें एक बीजसे दूसरा बीज हु

हो जाता है।

मैं विद्यालयमें ट्रेनके द्वारा पढ़ानेकेलिए जा रहा होता हूं। कई लोग उस समय किसी खानेमें ताश खेल रहे होते हैं। किसीमें रामायण-आदिके कीर्तन और उपदेश हो रहे होते हैं; और हम-जैसे तटस्थ व्यक्ति उस समय वादीकी पुस्तकका उत्तर चलती ट्रेनमें उस आधे घण्टेमें लिख रहे होते हैं; सो उस अवसरपर अन्य योद्धा अन्य बातें कह रहे होंगे; पर हमारे श्रेष्ठपात्र श्रीकृष्णार्जुन इस आजकलके समयकेलिए, बल्कि सदाके लिए लाभदायक अद्भुत संवाद कर रहे थे; इसमें क्या अस्वाभाविकता है? पर जो वादी-जैसा अडियल-टट्टू बन बैठे, तो उसे विविध प्रकारोंसे समझाना पड़ता है; इसमें अस्वाभाविकता कुछ भी नहीं। हाँ, दोषदृष्टि होनेपर सभी स्थान दोष ही दोष दीखते हैं। फिर परमात्मा वा प्रकृतिके कार्योंमें भी दोषदर्शी व्यक्ति त्रुटि निकालनेकी चेष्टा करता है।

एक दोषदर्शी सुधारक तरबूजकी बेलमें बड़े-बड़े तरबूजोंको लगे देखकर परमात्माकी गल्ती बताने चला कि-यह परमात्माकी कितनी भूल है—एक छोटीसी और कोमल बेलपर इतने बड़े-बड़े फल लगा दिये। फिर ऊंचे खड़े आमके वृक्षको देखकर उस दोषैकदृष्टिने कहा—यह देखो दूसरी गलती परमात्मा की। यह कितना ऊंचा वृक्ष, और उसमें फल लगा दिया आमका छोटा-सा? आममें तरबूज़ लगाना चाहिये था; और तरबूजकी बेलमें आम। इस प्रकार जब वह ऊपर देख-देखकर वह बाबू कह रहा था; उसी समय आमका एक फल टूटकर उसकी नाकपर आ गिरा; वह चिल्ला उठा। कहने लगा कि—यह गलती मेरी थी, परमात्माकी नहीं। यदि वह तरबूजका फल आमपर लगा होता; और वह मेरी नाकपर आ गिरता; अब तो केवल कुछ दर्द हुआ, पर उस समय तो मेरी नाककी कुन्दी हो जाती। इस प्रकार दोषदर्शी वादीका भी यही हाल है।

महाशय! युद्ध शुरू करनेकेलिए रणभेरी बजानी पड़ती है, शंख

नहीं बजाना पड़ता। तब "१८ अक्षौहिणी सेनाके वीर मिट्टीके पुतले हो गये, या युद्धकी बात भूलकर समझने लगे कि—कथा सुनने आये हैं; सो गीता एक काल्पनिक उपदेश है' यह वादीके शब्द स्वतः खण्डित होगये।

(२५) आगे वादी अपनी विद्वत्ता दिखलाता है कि-'अर्जुनने शंका उठाई—'कुलक्षयसे कुलधर्म नष्ट होता है, स्त्रियोंके दूषित होनेसे वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं। उनका दिया पिण्ड-पानी पितरोंको नहीं प्राप्त होनेसे पितरोंका पतन होता है। उनका अनन्तकाल तक नरकमें वास होता है—ऐसा हमने सुना है'।

वादी महाशय इस शङ्काका—जिसे भगवान् कृष्ण भी टाल गये—समाधान बताते हैं, वह यह कि-'पितरोंको अपने गुणकर्मोंसे स्वर्गलोक मिलता है। किसी वर्णसंकर द्वारा पिण्डोदक न मिलनेसे नरकवास क्यों होगा'? महाशय! वेदादिशास्त्र पुत्रकी सार्थकता तभी बताते हैं—'अपत्यं नानेन पतति इति वा' (निरु. ३।१।४) 'पुन्नाम्नो नरकात् त्रायते' इति वा (मनुः ९।१३८ निरु. २।११।१) आदि। और पुत्र माना जाता है—स्ववीर्यंज। जैसेकि—वेदमें कहा है—

'नहि ग्रभाय अरणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ' (ऋ. ७।४।८) 'परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो···न शेषो अग्ने! अन्यजातमस्ति, अचेतानस्य' (ऋ. ७।४।७) अर्थात् दूसरेसे उत्पन्न सन्तान अपनी नहीं होती। इसलिए श्रीयास्क 'अरणः' का अर्थ 'अपार्णो भवति' करते हैं; इसका अर्थ 'अपगतोदक-सम्बन्धः' है, अर्थात्—भिन्न व्यक्तिसे उत्पन्न हुए पुत्रसे मृतकको पिण्ड-पानी नहीं मिलता। 'सन्तान-कर्मणे पिण्डदानाय' (३।४।६,३।५।१) निरुक्तमें भी सन्तान द्वारा पिण्डदान देना कर्म माना है, 'निपरणाद् वा' (२।११।१) में भी पुत्र-द्वारा पिण्डदान कहा गया है। तब श्रीकृष्ण भगवान् वादीवाला उत्तराभास क्यों देते?। वादी तो वेदादि-शास्त्रोंपर आस्था नहीं रखता; अतः ये नये उत्तराभास घड़ रहा

है। परलोकके प्रारम्भमें पुत्रकी सहायतासे ही पितरोंका उद्धार होता है, तभी तो 'ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः। सर्वान् तान् अग्न ! आ वह पितृन् हविषे अत्तवे' (अथर्व. १८।२।३४) यहां मृतक पितरोंको पुत्रका पिण्डदान सूचित किया गया है।

भगवान् तो वेदज्ञ थे (गी. १५।१५); इसलिए अर्जुनकी बातको स्वीकृत किया; और जो अर्जुनने युद्धसे कुलस्त्रियोंका दूषित होना और वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होनी—इस प्रश्नका उत्तर सीधे तौरसे नहीं दिया। क्या वादी स्त्री-दूषण वा वर्णसंकर सन्तानका हामी है? 'सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः' (३।२४) से भगवान् भी सङ्करताको अक्षम्य अपराध घोषित करते हैं; अतएव भगवान्से अपनेको बढ़ानेकी चेष्टा, यह गलत उत्तर दिलवाना—यह वादीका अक्षम्य अपराध है।

'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं' पद्य तो स्वर्गमें स्थिति होजानेपर तब कर्मफल सूचित करता है; परन्तु मरकर स्वर्गलोक पहुँचने तक सहायता पुत्र आदिके पिण्डदानसे पहुँचती है। मान लो कि—एक वृद्ध व्यक्ति स्वयं एक काम कर रहा हो; पर वह उस समय असमर्थ हो; तब उसका पुत्र भी साथमें सहायता दे दे; तो वह कार्य बहुत सुगमतासे हो जाता है; इसी प्रकार मान लीजिये कि--पिताका अपना कर्म भी हुआ; पर स्ववीर्यज पुत्रके कर्मसे पिताको सुविधा एवं शीघ्रतासे फल प्राप्त हो जाता है। यह बात विज्ञानसे भी सिद्ध है। देखिये इस विषयमें 'आलोक' (५) पृ.(६६५-६६८) में, पर वादी भला इन बातोंको क्या जाने? बिच्छूका मन्त्र तक न जाननेवाला वह सांपके बिलमें हाथ डालनेकी चेष्टा करता है। महाशय! दिल्ली अभी दूर है!

(२६) आगे वादी लिखता है—'दूसरे अध्यायमें बार-बार कहा गया है—'आत्मा नित्य है, शरीर नाशवान् हैं'। अर्जुनकी कहीं ऐसी झलक नहीं कि—युद्धमें शरीरके नाश होनेसे आत्माका भी नाश हो जाता है, वह तो उल्टा मृतकोंका पितृलोकसे पतन दिखलाकर आत्माका रहना मानता है; तब यह बेतुका राग क्यों अलापा गया? 'बहिर गुरु आंधर चेरा, मांगे हरे देय बहेरा' की उक्ति चरितार्थ की गई है'।

इससे वादीने सिद्ध किया कि—गीताका श्रोता तथा वक्ता दोनों अन्धे-बहरे थे; और—'वैज्ञानिक-परीक्षा' के कर्ता और उसके अनुमोदक आंखों-कानों वाले हैं। महाशय; उचित तो यही है कि—आप एक 'नई गीता' लिख डालो, डंका बज जावेगा। महाशय! जरा स्वस्थ होकर विचारो-भगवान्ने कहा था—'गतासून् अगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः' (२।११) इस श्लोकको वादीने छिपा ही दिया—यह आर्यसमाजी नीति है। इस श्लोकमें कहा गया है—तुम भीष्म-द्रोणादि गुरुओंकेलिए, ससुर-साले आदिकेलिए जो शोक कर रहे हो,—यह उचित नहीं।

गीता केवल अर्जुनकेलिए थोड़े ही है। 'पार्थो वत्सः' अर्जुनको बछड़ा बताया गया है। तो बछड़ा सारा दूध नहीं पीता। वह तो माताके दूध उतरवानेमें माताको उत्कण्ठित करनेका ही कारण होता है। उस दूधको उतरवाकर और उसको अंशतः पीकर वह दूध दूसरोंकेलिए रखवाता है, इसलिए उक्त पद्यमें कहा है—'पार्थो वत्सः, सुधीर्भोक्ता' उस गीता-दुग्ध को पीने वाले अन्य विद्वान् होते हैं। और फिर जो विद्वान् भी किसी विषयमें विद्रोह कर बैठता है; तो वह भी उस समय नास्तिक-जैसा बन बैठता है; सो गीताके श्रावक वा पाठक सुधी ही हो सकते हैं, तब फिर आत्मवाद लाना भी प्रकरणबाह्य नहीं।

फिर 'अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।' (२।२६) इस भगवान्के पद्यको भी वादीने आर्यसमाजी-नीतिसे छिपा दिया। यहां आत्माको जन्मने-मरने वाला—मानने वालों—वादी—जैसे पुरुषोंका दिमाग ठीक करनेकेलिए यह प्रकरण उपक्षिप्त किया गया है कि—तब भी उसपर शोक करना उचित नहीं। तब इसमें अन्धा चेला, बहरा गुरु 'वैज्ञानिक परीक्षा' के लेखक और प्रकाशक ही सिद्ध हुए। मांगा प्रकाशकने बुद्धिवाद, परन्तु प्रणेताने दे दिया 'नासमझीवाद'। वादीसे दी हुई

लोकोक्तिमें शिष्यको अन्धा बताया गया है, वहिरा नहीं; तब गुरुके हरड़ मांगनेपर वह तो हरड़ ही दे सकता है, बहेड़ा नहीं। क्योंकि--अन्धा टटोलकर सब जान लेता है। अतः यह उक्ति भी वादीकी यहां गलत सिद्ध हुई।

(२७) 'क्षत्रिय यदि युद्धक्षेत्रसे भाग जाता है, उसका धर्म और यश जाता है (गी. २।३३) यह संसारके युद्धक्षेत्रको छोड़कर भागनेवाले बौद्धभिक्षुओंके विरोधमें कहा गया है, चूंकि बौद्ध आदि अनात्मवादी थे, अतः आत्माकी नित्यताका अप्रासंगिक सिद्धान्त बघारा गया है। इन दोनों बातोंका खण्डन कर बौद्धोंके प्रज्ञावाद और निष्कामताका समर्थन किया गया है'

यह वादीके शब्द हैं। इससे वादी यह प्रमाणित करना चाहता है कि-'गीता बौद्धधर्मके प्रकट होनेके बाद बनाई गई है। इसलिए यह वर्णन बौद्धोंके खण्डनकेलिए वलात् लाया गया है'—महाशय, ऐसा नहीं। यह आपने ही अपनी विचारधाराको सिद्ध करनेकेलिए बलात् यह अर्थ लगाया है। श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णका चरित्र भूतकालमें वर्णित है। उसमें कलियुगकेलिए लिखा है-'ततः कलौ संप्रवृत्ते संमोहाय सुरद्विषाम्। वुद्धो नाम्ना जिनसुतः कीकटेषु भविष्यति' (१।३।२४) श्रीमद्भागवत अभिमन्युके लड़के परीक्षित्को सुनाया गया था। परीक्षित् महाभारत-युद्धकी समाप्तिमें हुए, जब कलियुगका आरम्भ हो रहा था। इसी बात को उनकी कथामें सूचित किया गया है कि—कलियुगको सोनेमें निवास करनेकेलिए कहा गया है (१।१७।३९); तब परीक्षित् सोनेके मुकुटमें रहकर कलियुगने उसकी बुद्धिको भ्रान्त कर दिया। उसने समाधिस्थित मुनिके गलेमें मृतक सांप डाल दिया (१।१८।३०), और मुनिके लड़केका शाप पाया। उस समय 'कीकटेषु भविष्यति' से स्पष्ट है कि—बुद्धका आविर्भाव नहीं हुआ था, न बौद्धोंकी सुनगुन थी। तब श्रीकृष्णप्रोक्त गीतामें अर्जुनको युद्धसे हटनेमें श्रीकृष्ण-द्वारा डांटनेसे बौद्धोंका विरोध

बताना वादी महाशय बलात ही लाया है। न अर्जुन बौद्ध था, न उसके बौद्धोंवाले विचार थे। वह सम्बन्धियोंकी ममतासे युद्धसे हट रहा था, बौद्ध तो सम्बन्धियोंसे हट रहे होते हैं, सो वादीने यहां बेमेल तुक कैसे मिला दी ?। हां, भविष्यद्-दृष्टिसे जो आगेके अनात्मवादी हों; वा पूर्वके भी रहे हों—यह सन्देहग्रस्तोंकेलिए स्वाभाविक है—उनका खण्डन प्रसक्तानुप्रसक्त करना ही था।

वादीके इस वाक्यका उसीके प्रिय बौद्धने उसीकी पुस्तकके पृ. 'क्ष' में खण्डन कर दिया है, और लिखा है—'संसार—त्यागी होनेकी बात हिन्दु-संन्यासी करते हैं, बौद्धभिक्षु केवल गृहत्यागी होता है। वह संसार-त्यागी नहीं होता। वह संसारकी सेवा करनेके उद्देश्यसे ही अपने गृहका त्याग करता है'। अब यहां वह बात होगई कि—'ऊंट चले बीस कोस, और ऊंटका बच्चा चले तीस कोस'। गुरु बौद्धजी तो अपना संसार-त्याग बताते नहीं; पर बौद्धजीका बच्चा वा चेला उनका यह गीताखण्डक वैसा सिद्धान्त बताता है। इससे क्या स्पष्ट नहीं कि—गीताको बौद्धोंके बाद बताना बौद्ध भी नहीं स्वीकारते। और यह प्रच्छन्न-बौद्ध इसीको सिद्ध करनेपर तुला हुआ है।

फिर यदि भगवान्ने वादीके शब्दोंमें यह बौद्धोंका खण्डन भी किया है; तब इसमें वादीके शब्दोंमें बौद्धोंका प्रज्ञावाद तथा निष्कामता कैसे समर्थित होगई ? यह बेतुका राग इस नये बौद्धने कैसे बघारा है ?

महाशय ! उल्टे गीताने तो कह दिया कि तुम गृहस्थी अर्थात् घरमें रहकर भी संन्यासी बने रह सकते हो, पर निष्काम कर्म करो। गृह-त्याग करनेवाले बौद्धोंने ऐसा कब कहा है ? अतः वादीने ही यह बेतुका राग अलापा है, गीताने नहीं। गीताके विषयमें वादी पूरे अन्धकारमें है; क्योंकि वह उसे बलात् बौद्ध-धर्मकी नकल सिद्ध करना चाहता है; अतः यह उसका परस्परविरोध है।

'गीताका रचनाकाल ४०० ई० कहना वादीका गलत है—। यह मत-मतान्तरवाद अनादि चले आ रहे हैं। यदि गीतामें वे आये हैं; तो यह अबके वाद थोड़े ही हैं! आजकलके अर्वाचीनमत उन प्राचीन वादोंमें अपनी सुविधा वा इच्छाके अनुसार परिवर्तन करके उन प्राचीन वादोंको नया रूप देकर उन्हें ले लेते हैं; पर गीतामें वह अर्वाचीन वाद भला इष्ट कैसे हो सकता है? जैसे प्राचीन एक यवन जाति थी; जिसका मनुस्मृति, रामायण, महाभारत आदिमें भी वर्णन है; पर आजकलके मुसलमानोंको भी लोग 'यवन' कह देते हैं; जबकि इन्हें 'मौहम्मद' कहना चाहिये; तब क्या मनुस्मृति, रामायण, महाभारत एवं अष्टाध्यायी में 'यवन' शब्द देखकर मनुस्मृतिसे लेकर अष्टाध्यायी तकके साहित्यको १४०० वर्ष तक का मान लिया जायगा?। यदि कोई वैसा कह दे; तो उसकी बुद्धिका जो मूल्य होगा; वही गीताको बौद्धकालके बाद बनी हुई कहनेवाले की बुद्धिका भी मूल्य है। अर्जुनने पिण्डदानादि न होनेसे पितरोंका नरकपात बताया; तब क्या वादी यह कह देगा कि—अर्जुनने यह आर्यसमाजका खण्डन किया है; अतः गीता संवत् १९३२ वि. के बाद स्वा.द.के समय बनाई गई है!!!

महाशय! ऐसे कहनेवाले की बुद्धिकी भांति आप जैसे बुद्धिजीवियों की बुद्धिका भी वही मूल्य है, अर्थात्—अज्ञान। अब आर्यसमाजियोंने जो वेदका लटका लगा रखा है, और अपने नये अर्थ करके जो उनने तथा-कथित 'वैदिक-सिद्धान्त' बना रखे हैं; क्या वेद यही बताते हैं? तब क्या वेद भी स्वा.द. के समय के बादके होगये? महाशय! इस प्रकारकी आपकी युक्तियां वा तर्क थोथे हैं; आप लोगोंकी बुद्धिवादकी अजीर्णताके परिणाम हैं। 'यन्न भारते तन्न भारते' यह बात ठीक है; तभी उसी महा-भारत तथा तदन्तर्गत गीतापर सभी देशी वा विदेशी लोग लट्टू हैं, एक-दो ऐरे-गैरे वादी-जैसे नत्थूखैरोंके सिवाय।

आगे वादी लिखता है—'गीतामें भौतिकवाद-अध्यात्मवाद, स्वर्गवाद-

नरकवाद, साकारवाद-निराकारवाद, मूर्तिपूजावाद, ज्ञानकर्म-भक्तिवाद सभीका समावेश है', तब क्या यह कोई दोषकी बात होगई? उल्टा यह तो उसकी पूर्णताका चिन्ह है। तभी तो वह सर्वप्रिय है।

(२८) आगे वादी गी. ३।१५ के द्वारा वेद वा शास्त्रोंकी प्रमाणता दिखाकर फिर आगे गीता—द्वारा वेदकी निन्दा (२।४२; ४५-४६ आदि द्वारा) सिद्ध करता है। यह उसने नया लटका रखकर अपनी अज्ञता ही सिद्ध कर दी है। इस विषयमें वादी 'आलोक' (८)में 'क्या गीता वेदकी खण्डक है?' यह विषय (पृ. १८८ से २११ पृ. तक) देखे। तथा 'आलोक' (५) में गीताविषयक सभी निबन्ध (पृ. ७२२ से ७६७ पृ. तक) तथा इस पुष्पमें पृ. १२० से १३० पृ. तक देखे। उसकी सभी शङ्काएं समाहित हो जाएंगी। वादी पुनरुक्तिसे डरा करता है; अतः उसे हम उद्धृत नहीं कर रहे।

फिर लिखता है—२ रे अध्यायमें वेद और वैदिक कर्मकाण्डकी निन्दा बौद्धोंकी बराबरीसे की गई है, पीछे यह दृष्टिकोण बदल गया है'। यह लेखकका कितना परस्पर—विरोध है। कभी तो कहता है कि—गीता बौद्धोंका विरोध करती है, कभी कहता है कि—बौद्धोंके अनुकूल चलती है। कभी कहता है कि—बौद्धदृष्टिकोण आगे बदल गया है। महाशय! तुम्हारी दृष्टिमें मोतियाबिन्द है; और दिमागमें बौद्धधर्मके कीटाणु हैं।

(२९) वादी लिखता है—'यज्ञसे स्वर्ग मिलता है, इसमें क्या प्रमाण?' सुने वादी वह प्रमाण—'यैरीजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम्'(अथर्व-१८।४।२) यहां यज्ञ करनेवालेको स्वर्गकी प्राप्ति कही है। निरुक्तने एक ऋ.प. का मन्त्र लिखा है कि—'हविर्भिरेके स्वः—इतः सचन्ते; शचीमंदन्त उत दक्षिणाभिः, नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम' (१।११।१) यहांपर भी यज्ञ तथा दक्षिणाओंसे स्वर्ग की प्राप्ति कही है, तथा कुटिल—आचरणसे नरकलोककी प्राप्ति कही है। इससे स्वर्ग-नरकादि लोकोंकी सिद्धि भी होगई; और यज्ञसे स्वर्गकी प्राप्ति भी सिद्ध होगई। वेदमें यज्ञोंमें दक्षिणा-

दानका बड़ा महात्म्य दिखलाया गया है, देखो—ऋ. १०।१०७।२, ५।४२।८, इत्यादि । ऋ.सं. में यज्ञोंमें दानस्तुतियां बहुत आई हैं; तब क्या वादी वेदोंमें भी 'ठगविद्या'—मानता है ? यदि ऐसा है; तब यदि गीताने उनका खण्डन किया; तब वह गीताको ठगविद्या कैसे कहता है ? स.प्र. ६ बार पढ़कर 'वेदका प्रमाण' तो वादी मानता ही होगा । तब क्या वादी वेदको भी रोटी कमानेकेलिए ब्राह्मणोंकी ठगविद्या मानेगा ? यदि ऐसा है; तो तुमने ऋषि (?) का वा आर्यसमाजके सत्सङ्गमें 'वैदिक साहित्यका घनिष्ठ सम्बन्ध' अपना बड़ा सिद्ध किया ! यह और कुछ नहीं, यह तो गीतापर घृणा होनेसे 'येन केन प्रकारेण कुर्यात् सर्वस्य खण्डनम्' की लत है, या बुद्धिवादी—प्रकाशनके स्वामी सेठसे प्राप्त होनेवाले नये पैसोंका प्रताप है । इनमें कौनसी ठीक बात है, यह तो वादी-महाशय ही बता सकेगा; पर हम कहेंगे कि—बी.ए, एम्.ए. पास होनेसे शास्त्रोंका ज्ञान थोड़े ही हो जाता है ? जब दृष्टिकोण ही अपना भिन्न रख लिया; तो शास्त्रसे सार क्या मिलना है ? 'यज्ञसे ब्राह्मणका पेट भरता है' यह वादीका कहना गलत है । यज्ञसे क्षत्रिय वैश्य शूद्र अन्त्यजोंकी भी वृत्ति हो जाती है । उस हिसाबसे ब्राह्मणको कम मिलता है । इस विषयमें 'आलोक' (८) में—'अष्टग्रहीका संदेश' निबन्ध पृ. ७७७-७८० में पढ़ो ।

(ख) वादी लिखता है—'चतुर याज्ञवल्क्य (६५० ई. पूर्व) ने इसी कर्मकाण्डको ईशोप. में 'अविद्या' (मं. ११) कहा है । यही अविद्या रोटी देकर मरनेसे बचाती है' ।

देखा पाठकगण ! ज्ञान कुछ है नहीं, और चले हैं गीता वा वेदपर कलम चलाने, और ब्राह्मणोंपर डंक मारने । महाशय ! यह कहकर तो आपने सृष्टिकी आदिके अनादि यजुर्वेदको ढाई हजार वर्षका सिद्ध कर दिया । तब गीताको तो स्वयं आधुनिक कह दोगे ही ? क्या आर्यसमाजका यही सत्सङ्ग किया कि—अनादि वेदको भी बौद्धोंके समयका बता दिया !

बौद्धोंने ऐसी कौनसी मिठाई खिलाई है कि—वे प्राचीन बन गये ? और फिर यजुर्वेदके ४० वें अध्यायको याज्ञवल्क्यसे बनाया कह दिया ? क्या यह स.प्र. को ६ बार पढ़नेका परिणाम है ?

महाशय ! 'अविद्या' कर्मकाण्डको इसलिए कहते हैं कि—इसमें शास्त्रके कथनसे बिना सोच-विचारके वैसा कर्म करना पड़ता है; नहीं तो कर्ममें त्रुटि रह जाती है । अविद्याकी निन्दा भी याज्ञवल्क्यको इष्ट नहीं है, किन्तु 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा' (यजुः ४०।१४) उस कर्मकाण्डसे मृत्युका तरण कहा है । सो यह तो प्रशंसाकी बात हुई, निन्दाकी कहां हुई ? १२ वें मन्त्रमें केवल अविद्या तथा उससे भी बढ़कर केवल विद्या की निन्दा की गई है । वादी यदि अविद्याको रोटी देकर मरनेसे बचाने वाली मानता है; तब वादीने जो एम्.ए. को रोटी कमानेकेलिए पास किया; सो चतुर वादीने भी वह 'अविद्या' प्राप्त कर ही ली । 'ऐडवोकेट' बनकर जनता को ठगने वाली विद्या (?) प्राप्त कर ही ली । महाशय, प्रत्येक कार्यमें अविद्या, विद्या दोनोंकी ही आवश्यकता होती है । एम.ए. परीक्षामें रट्टा 'अविद्या' है, और 'समझ' विद्या है । 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा' रट्टेसे मृत्यु (फेल होनेका डर) हटकर 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' समझसे अमृतत्व (फर्स्ट डिवीजन) प्राप्त होता है । युद्धोंमें अविद्या शस्त्र-बल तथा सेनाबल है, उससे मृत्युतरण-पराजयका डर हटकर 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' विद्यासे, नीतिबलसे—पालिसीसे सुन्दर विजय प्राप्त होती है । युद्धोंमें सेना 'अविद्या' होती है, सेनापति 'विद्या' होता है । केवल विद्या (ज्ञान) से कार्य नहीं होता । सारी सेना सेनापति बन जावे; तो पराजय निश्चित हो जावे; अतः युद्धोंमें भी अविद्या (सेना) तथा विद्या (सेनापति) का सामञ्जस्य रखना ही पड़ता है । लोकमें 'जनता' अविद्या होती है, और 'नेता' विद्या । अतः संसारमें भी केवल ज्ञानसे कार्य नहीं होता, वहां अविद्यारूप कर्मकी आवश्यकता भी पड़ती है । जब ऐसा है; तो अविद्यापर व्यङ्ग्य कसना वादीकी अपनी 'अविद्या' है ।

(ग) 'पौरोहित्यकर्म' का जो 'अतिमन्दा' विशेषण गोस्वामीजीने बताया है, वह ज्ञानकाण्डकी दृष्टिसे है। श्रीसीता-रामका विवाह गोस्वामीजीने पुरोहितसे ही तो कराया; तब यदि पुरोहित जी न हों; तो विवाहादि-संस्कार कैसे हों? यह निन्दावचन अर्थवाद होते हैं; उससे अन्यकी प्रशंसा करनेकेलिए दूसरेकी निन्दा करनी पड़ती है—'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः' यहां गाय-घोड़ेसे भिन्नको जो कुत्सित पशु बताकर निन्दा की गई है; जैसे वहांपर भाव है, वैसे यहाँपर भी समझना चाहिये। इसलिए मीमांसादर्शनमें यह न्याय आया है—'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते; किन्तु विधेयं स्तोतुम्' निन्दा निन्द्यकी निन्दाकेलिए नहीं की जाती; किन्तु विधेय (कर्तव्य) की स्तुतिकेलिए आती है।

सो यदि गीतामें ज्ञानयज्ञ ही श्रेष्ठतर हैं; तब गीताकारका 'महाजाल' फ़ैंकना क्या हुआ? न तो वादी द्रव्ययज्ञ चाहता है, और न ज्ञानयज्ञ; तब किसको चाहता है? क्या खण्डनयज्ञ चाहिये, वा वकालत-यज्ञ चाहिये, वा 'पैसा-यज्ञ'? यदि वादी भी यज्ञात्मक, स्वर्गदायक कर्मको निम्न मानता है; और गीताकारने भी यदि उस (कर्मकाण्ड) का खण्डन कर दिया, तो क्या वादी भी फिर 'वेदनिन्दक' हो गया? वेदमें भी अधिक कर्मकाण्ड ही है; तब फिर स.प्र.का ९ वार पाठ क्या व्यर्थका किया? यदि वादी इससे वेदनिन्दा नहीं समझता; तब पौरोहित्यकर्मकी निन्दा करती हुई गीता ही वेदनिन्दक कैसे हुई, यह भी कभी वादीने सोचा? महाशय! गीतापर कलम चलाना कोई 'हंसी-ठट्ठा' नहीं है। यहां तो 'नाकों चने चबाने' पड़ेंगे।

(घ) आगे वादी लिखता है—'गीताने उपनिषदोंके शब्द तथा भावका भी अपहरण किया है—श्वेताश्वतर ईश, कठ आदिका।' जब वादी भी गीताको सब उपनिषदोंका सार मान चुका है; तो यह अपहरण कहनेका अकाण्डताण्डव करके 'व्याघात' दोषग्रस्त होने क्यों जा रहा है? वादी लिखता है—'गीताकारने दूसरोंकी रचना और विचारकी चोरी की

है। अपनी रचनाको श्रीभगवान्के मुखसे निकली वाणी बतलाकर जनता को धोखा दिया है' वादीके पास ऐसा कोई प्रमाण नहीं कि—गीताको श्रीकृष्ण-भगवान्से किसी भिन्नने बताया हो। उसे भगवान्की वाणी कहकर अन्य लेखक अपना वैयक्तिक लाभ क्या कर सकता था? 'विक्रीयन्ते न घण्टाभिर्गावः क्षीरविवर्जिताः' गायमें यदि दूध नहीं हो; तो केवल घण्टी पहनानेसे या यह अमुक गवालेकी हैं—कह देनेसे कोई उन्हें नहीं लेता। जब वादी भी गीताको उपनिषदोंका दूध कहता है; तब क्या गवालेको गायोंका दूध निकालनेसे गायका चोर मानेगा? प्रतिदिन वह क्या चोरीका दूध पीता रहता है?

महाशय! वेद, भगवान्की वाणी मानी जाती है: वेदमें मन्त्र-ब्राह्मण दोनों गृहीत होते हैं। ब्राह्मणोंसे आरण्यक, उपनिषद् भी गृहीत हो जाते हैं—इस विषयमें 'आलोक' के गत पुष्प तथा इस पुष्पको देखो। सो वह भगवान्की वाणी अपौरुषेय वैदिक-शब्दोंमें थी, और उसमें अधिकार-अनधिकारका प्रतिबन्ध था। अपनी उसी वाणीको श्रीकृष्णरूप में अवतीर्ण होकर भगवान्ने स्त्री-शूद्रादि सभीके उपकारार्थ लौकिक-शब्दोंमें कर दिया। तब क्या अपनी वाणीका अनुवाद भी चोरी हो जावेगी? याद रखो कि—भगवान्ने यह गीता भी अर्जुनको नई नहीं सुनाई; किन्तु पहले विष्णुरूपमें विवस्वान्को सुनाई थी; और विवस्वान् ने अपने लड़के मनुको इसे सुनाया था। मनुने इक्ष्वाकुको बताया। परम्परासे उसे राजर्षियोंने पाया (गीता ४।१-२) उन्हीं राजर्षियोंने वह योग कई ब्राह्मणोंको सुनाया। उसी उपदेशको उपनिषदोंने अनूदित किया। सो वह वर्तमान उपनिषदोंकी चोरी कैसे कही जा सकती है? किन्तु वर्तमान उपनिषदोंने भी भगवान्की पूर्व गीतासे लिया। तो वर्तमानकी गीतामें भी भगवान्ने वही औपनिषद ज्ञान रखा; तब वह भावापहरणकी चोरीका दोष गीतापर नहीं आता। गीताके खण्डन पर वादीकी इस पुस्तकसे पूर्व भी पुस्तकें निकल चुकी हैं; तब क्या वादीने

अपनी पुस्तकके यदि कई भाव पूर्वकी पुस्तकोंसे अतर्कित मेल खा जावें; तो उसे भी वह पूर्वोकी चोरी मान लेगा ! महाशय ! बुद्धिवादसे काम बननेका नहीं; पहले प्रमाणवादमें श्रद्धा रखकर उससे ज्ञान प्राप्त कर लो—'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः' (गी. ४।३९) 'श्रद्धावान् अनसूयश्च' (१८।७१) इन्द्रियोंको संयत करो, असूया-दृष्टि छोड़ो; तभी लाभ मिलेगा।

(३०) आगे वादी 'गीताका दार्शनिक-आधार' बतानेकी चेष्टा करता हुआ लिखता है—'कपिलमुनि गङ्गा अवतरणके पूर्व ही वर्तमान थे'।

'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति' (ऋ. १०।७५।५) मन्त्रमें 'गङ्गा' का वर्णन है; तब क्या वादी ऋग्वेदको भी ७वीं शताब्दी पूर्व मानेगा ? वस्तुतः गङ्गा तो अनादि ही है, पर उसका अबका प्राकट्य कपिलमुनिके कारण हुआ। कपिलमुनिने सगरके ६०,००० पुत्रोंको आंखोंके तेजसे जला दिया था। उनके उद्धारार्थ भगीरथ ब्रह्मलोकसे शिवजटाके द्वारा गङ्गाको लाया था। 'श्वेताश्वतर' यद्यपि यास्कसे भी प्राचीन उपनिषद् हैं; क्योंकि-निरुक्तमें उसका 'निगम'-शब्दसे उद्धरण है, (निरु. २।३।१) तथापि उसमेंके 'कपिल' शब्दसे 'हिरण्यगर्भ' (ब्रह्मा) इष्ट हैं। ब्रह्माजीका विष्णु-पादोदक जो कमण्डलुमें भरा था, वही गङ्गा थी; जो शिवके माध्यमसे भगीरथ-द्वारा इस लोकमें लाई गई थी।

(ख) वादी लिखता है—'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते' (३।२७) सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके गुणों द्वारा किये हुए हैं, तो भी अहङ्कारसे मूढ हुआ पुरुष 'मैं कर्ता हूं' ऐसा मान लेता है। गीताने यह सांख्यका ही सिद्धान्त अपनाया है. परन्तु क्या गीताके कृष्ण अर्जुनको युद्ध करनेकेलिए कहकर कर्ता बनाकर मूढ बननेका उपदेश करते हैं ?'

वादी महाशय ! कभी नहीं। श्रीकृष्ण अर्जुनको अहंभाव त्याग कर कर्म करनेको कहते हैं; तब वह कर्तृत्वकी मूढता क्यों होगी ? सारी

गीतामें यही तो भरा पड़ा है कि—'निर्ममो निरहङ्कारः, निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः' (१२।१३, ३।३०) तभी तो वह कर्म करने पर भी 'अकर्ता' और कर्म भी 'अकर्म' हो जाता है; उससे बन्धकत्व प्राप्त नहीं होता।

(३१) 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय !' पर वादी लिखता है—'यदि गीताके कृष्ण इन्हीं तत्त्वोंके बने हैं; तो वह भौतिक हुए'।

संसार भरके रस आदि भगवान्के अंश हैं—यह यहां सूचित किया गया है। यह नहीं कि-वे इन्हींके बने हैं। नहीं तो वे अंश उनसे निकल जानेसे उनमें कुछ कमी हो जाती; पर ऐसा नहीं होता। 'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' पूर्ण भगवान्के पूर्ण अंशको लेनेपर भी वह भगवान् पूर्ण ही बचा रहता है। जैसे अङ्कोंके गणितके विषयमें प्रश्न किया जाता है कि–४५ में ४५ घटाये गये, तो कितने बचे; शून्य बचा—यह नहीं कहा जाता; किन्तु ४५ बचे, यही कहा जाता है। जैसे—

९८७६५४३२१=४५
१२३४५६७८९=४५

८६४१९७५३२=४५

यह १ से लेकर ९ तकके अङ्कोंको यदि जमा किया जावे; तो ४५ बनते हैं, तो इन्हें बड़े-छोटेके क्रमसे ९ से लेकर १ तक लिखें, फिर उन्हींके नीचे १ से लेकर ९ तक अङ्कोंका न्यास कर दें; तो दोनोंका योग ४५ होगा। फिर घटाने पर भी वही १ से लेकर ९ तक ही अङ्क बचते हैं, अङ्क-न्यासमें पाठक स्वयं देख लें। इन्हीं ४५ दो अङ्कोंको जमा करें; तो ९ अङ्क बनते हैं। नौ अङ्क ब्रह्मका प्रतिनिधि है; और ८ अङ्क मायाका। इस विषयमें गोस्वामी तुलसीदासजीने अपनी किसी पुस्तकमें लिखा है। ९ का पहाड़ा आप बोलते जाइये, उसके गुणित अङ्कोंको जमा करते जाइये, तो ९ ही बचेगा। जितने युग हैं उनकी जो संख्या है, उन्हें जमा

कर दें; तव भी 'नौ' ही वचेगा। ८ के अङ्क जो मायाका प्रतिनिधि है; के पहाड़ेके अङ्कोंको जमा करते जावें; तो घटा-बढ़ी होती हुई मिलेगी। इस विषयमें 'ग्रालोक' (५) में 'मालाकी मणियोंके १०८ होनेका रहस्य' पृ. ३९७-४०५ में देखिये। सो वह पूर्ण-ब्रह्म श्रीकृष्णसे ही यह सारा जगत् बना है; इसीका मूल-वचन यह कहा है—'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय' (७।७) 'विष्टभ्याऽहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' (१०।४२) यही बात परमात्माकेलिए यजुर्वेदमें भी कही गई है—'पादोस्य विश्वा भूतानि' (यजुः ३१।३) 'स भूमिं सर्वतस्पृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्' (यजुः ३१।१) इसीसे ब्रह्मको सृष्टिका अभिन्न-निमित्तोपादान-कारण कहते हैं; वनता भी वही है, वनाता भी वही है। व्यापक भी वही है, व्याप्य भी वही है। निमित्तकारण सर्वव्यापक नहीं होता; पर वह दिव्यतावश उपादानकारण भी होनेसे सर्वव्यापक भी है। कोई भौतिक वस्तु दो कारण नहीं हो सकती। उपादानकारण है; तो वह निमित्तकारण नहीं होगी। निमित्तकारण है; तो उपादानकारण न रहेगी। इसमें घड़ेके उपादानकारण मट्टीको तथा निमित्तकारण कुम्हारको देख लीजिये, पर परमात्मा तो दिव्य है। स्थावर भी वही हैं, जङ्गम भी वही है, फलतः लोकोत्तरतावश 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' (गी. ४।९) इस दिव्यतावश वह सभी-कुछ है; केवल भौतिक नहीं है; इसीलिए तो उसका अन्त नहीं पाया जा सकता है। जैसे ४५ से ४५ घटे; तो लोग कह सकते है कि शून्य वचा; सो शून्यरूप 'असत्' (अव्यक्त) भी वही है, अथवा ४५ में ४५ गये; शेष पूर्व रीतिसे बचे ४५, तो 'सत्' भी वहीं है। तव इन वातोंका अनभिज्ञ वादी यदि भगवान्को 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय!' से 'भौतिक' बतानेकी धृष्टता करे; तो वह अल्पश्रुतता होनेसे क्षम्य है। श्रीमद्भागवतमें कृष्ण-भगवान्को 'न तु भूतमयस्य' (५।१४।२ में) अभौतिक बताया गया है।

(ख) आगे वादी एक नई वात कहता है—'शब्दः खे' आकाशमें

शब्द नहीं होता, वायुशून्यपात्रके अन्दर विद्युत्-चालित घंटीने सिद्ध कर दिया है कि—वायुमें शब्द है, न कि आकाशमें।

महाशय; अभी और ज्ञान सञ्चित करो; आजकलके विज्ञानसे पूर्वजोंके विज्ञानके खण्डनकी चेष्टा मत करो। 'प्राचीन विज्ञान कहता है कि—वायु भी सर्वव्यापक है, अग्नि भी सर्वव्यापक है, आकाश भी सर्व-व्यापक है। यह स्पष्टरूपसे प्रतीत न होवे, परन्तु अव्यक्तरूपमें तो सर्वत्र रहते ही हैं। तव पात्रको वायुशून्य कैसे कह सकते हो? आकाश न हो; तो शब्द कैसे होगा? नदीके जलमें डूवकर बोलो; तो क्या शब्द निकलेगा? सूक्ष्म वायु तो वहाँ पर भी होती है, जो मछलीको जीवित रखती है। वादी कहता है—'हमारे पूर्वज-ऋषियोंको इसका ज्ञान नहीं था' वस्तुतः वादीको जानना चाहिये कि—नवीन विज्ञानके सिद्धान्त भी समय-समय पर बदलते रहते हैं। पृथिवी गोल है; अन्ततः फिर भी वे उसी प्राचीन सिद्धान्त पर आ जाते हैं।

(ग) 'अहं क्रतुरहं यज्ञः' पर वादी लिखता है—'गीताके अनुसार सभी भौतिक-तत्त्व ब्रह्म है। जव वे भौतिक-तत्त्व ईश्वरसे निकले; तो उसमें वर्तमान हैं। अतः गीतामें साफ भौतिकवाद है' वलिहारी है वादीके ज्ञान पर। महाशय! यहां अद्वैतवाद है। भौतिककी पृथक् सत्ता कुछ भी नहीं है—यह सूचित किया गया है। वात भी ठीक है। अणु-अणु तक सब वही है; उसमें है। यह वहां इष्ट है। तव यहां नास्तिकवाद क्या हुआ? यहां तो स्पष्ट ब्रह्मवाद वा ईश्वरवाद है।

(घ) वादी कहता हैं—'परमात्मा यदि सर्वव्यापी है, तो स्वर्गलोक वा मर्त्यलोकमें जाना-आना कैसे सम्भव हैं'? वन्धनमें तो ऐसा प्रतीत होता हैं। कोई घड़ा लिये हुए भागा जा रहा हो, मालूम होता है कि घड़ेका आकाश भी भागा जा रहा है, घड़ेमें आकाश वन्द भी मालूम होता है; पर यह व्यवहारवाद है, परमार्थवाद नहीं। वस्तुतः आकाशमें ही घड़ा जा रहा होता है। इसी प्रकार यहां भी वन्धनबद्ध आत्माके

सूक्ष्म शरीरका आना-जाना होता है, देखो—साङ्ख्यकारिका—'महदादि-सूक्ष्मपर्यन्तम्। संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्' (सूक्ष्म-शरीरम्) (४० का.) आत्माका तो प्राकट्यमात्र हो जाता है।

इसी सिद्धान्तसे ईश्वरावतार होता है, वह दिव्य होनेसे बन्धन-बद्ध तो नहीं। वह अयोध्या वा मथुरा-वृन्दावनमें आ-जा रहा हुआ मालूम होता है। जैसे विजुलीकी शृङ्खला जिस नाम वा बोर्डके चारों ओर चक्कर खा रही मालूम देती है; पर वस्तुत: वैसा नहीं होता। वह तो एक स्थान स्थिर होती है; लेकिन यन्त्र ही चल रहा होता है, पर हमें विजली घूमती मालूम होती है। वह भौतिक है, पर अभौतिक दिव्य परमात्मामें तो सर्वशक्तिमत्तावश कुछ भी असम्भव नहीं है; वह बन्धनमें बद्ध नहीं; अत: वहां पर भौतिकता वाले प्रश्न ही बेकार हैं। तभी तो गीतामें कहा है—'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्, आश्चर्यवद् वदति तथैव चान्य:। आश्चर्यवच्चैनमन्य: शृणोति, श्रुत्वाप्येन वेद न चैव कश्चित्' (२।२९) (कोई इस आत्मा वा परमात्माको आश्चर्यसे देख-सुन रहा होता है। कोई आश्चर्यसे उसका वर्णन कर रहा होता है; पर उसको देख-सुन वा वर्णन करके भी जान नहीं सकता) तब अल्पज्ञ वादी ही उसे कैसे जान सकता है?

(ङ) आगे वादी व्यङ्ग्य कसता है—'पुत्रेष्टियज्ञ करनेसे पुत्रकी प्राप्ति होती है। गीतानुसार पुत्रेष्टियज्ञमें पुत्र प्राप्त होता है। परन्तु पुत्रकी कामनासे पुत्रेष्टियज्ञ नहीं करना चाहिये, बल्कि निष्काम यज्ञ करना चाहिये। यज्ञसे ब्राह्मणोंकी आमदनी तो निश्चित है. यजमानको पुत्र हो तो कोई हर्ज नहीं'।

महाशय, शास्त्रानुसार पुत्र अवश्य होना चाहिये, सो यजमानको भी शास्त्रमर्यादास्थापनार्थ पुत्र अपेक्षित होता है। उसे अपना वैयक्तिक स्वार्थ नहीं सोचना चाहिये। जैसे कि—युद्ध-यज्ञ क्षत्रियको शास्त्रानु-सार करना पड़ता है; उसमें लाभालाभ, जयपराजय आदिका विचार

न हो, तो वह निष्काम हो जाता है, वह बन्धनप्रद नहीं होता; जैसेकि--गीतामें कहा है—'सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पाप (बन्धन) मवाप्स्यसि' (२।३८) वैसे यदि पुत्रेष्टियज्ञमें भी शास्त्रका विचार है, पुत्र हो चाहे न हो, वैयक्तिक लाभादि न रखा जावे; तब केवल यज्ञमात्र सकाम नहीं होगा; उसे निष्काम ही कहा जावेगा। शास्त्रदृष्टि होनेसे उसमें अकामतावश बन्धन नहीं होगा।

(३२) आगे वादी लिखता है—'श्रुति कहती है—मुक्ति प्राप्त करनेपर पुनरागमन नहीं होता (वेदा. ४।४।२२) गीताने भी कहा है—'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' परन्तु जिस मुक्तिकी प्राप्ति होती है; उसका वियोग भी निश्चित है। ऋषि दयानन्दने भी यही कहा है कि-मुक्तिका अर्थ है—दु-खोंसे छूटकर सृष्टिमें विचरना; और आनन्द भोगकर-पुन: संसारमें आना"।

यह वादीकी बात गलत है। कोई भी दर्शन वा पुराणादिशास्त्र वा वेद, मुक्तिसे वापिस लौटना नहीं मानता; सभी दर्शन मुक्तिसे अना-वृत्ति मानते हैं। तब इसमें आधुनिक स्वा.द. की जो दार्शनिकोंकी श्रेणीमें नहीं लिये जा सकते; बात क्यों मानी जावे? वे बहुतसी त्रुटियोंके पुञ्ज होनेसे इस विषयमें मान्य नहीं हो सकते। उन्होंने केवल एक वेदमन्त्र इस विषयमें दिया है, पर उसका अर्थ ठीक नहीं किया। उसमें बद्ध अपने छुटकारेकेलिए प्रार्थना कर रहा है; मुक्त अपने बद्ध होनेके लिए प्रार्थना नहीं कर रहा। इस विषयमें हम एक पूरा निबन्ध दे सकते हैं। वादीने पूरी स्पष्टता मुक्ति विषयमें नहीं की। वादी लिखता है—'मुक्तिमें सृष्टिमें विचरता है; और मुक्तिमें संसारमें लौटता है' तब क्या सृष्टि और संसार भिन्न-भिन्न हैं? सृष्टिमें साकाररूपमें विचरता है, वा निराकाररूपमें निराकाररूपमें कौनसा आनन्द भोगता है, जब कि उसकी इन्द्रियां नहीं होतीं।

स्वा.द.जी पहले मुक्तिसे लौटना नहीं मानते थे; फिर एक पादरीसे शास्त्रार्थमें हार गये; और मुक्तिसे पुनरागमन मानने लगे। फिर उन्होंने अपनी पुस्तकोंमें संशोधन कर दिया, कहीं उनसे संशोधन छूट गया। इस प्रकार उस विषयमें उनका परस्पर-विरोध हो गया।

स्वा.द.जीका मुक्तिकी अनित्यतामें तर्क यह है कि--मुक्ति कर्मोंसे होती है; जब पुरुषके कर्म सीमित हैं; तब मुक्ति भी कर्मोंका फल होनेसे सीमित एवं अनित्य होगी; अतः मुक्तजीव संसारमें पुनः लौटेंगे'; परन्तु आप दोनों ही गलत पक्षके हैं। यह बात स्वर्गके विषयमें तो घट सकती है, जो कि सकाम-कर्मोंसे प्राप्त होता है; पर मुक्तिमें यह नहीं घटता। मुक्ति कर्मसे नहीं होती, किन्तु कर्मोंके अभावसे होती है। कर्मोंका अभाव दो प्रकारका है। कर्म सर्वथा न करना और ज्ञानी बनना। दूसरा होता है—निष्काम कर्म करके कर्मका अभाव कर देना; कर्मरूप बीजको निष्कामतासे भून देना। बीज अङ्कुरयोग्य तब होता है; जब उसमें वासना रहे, फलाकाङ्क्षा रहे। सो सुकर्म-कुकर्म तथा सकाम कर्मोंके अभावसे होनेवाली मुक्तिमें पुनरावर्तन कैसे हो सकता है?

कर्मके अभावका पहला तरीका तो ज्ञानयोगियोंका है; पर वह कठिन मार्ग है। क्योंकि—कर्म सर्वथा छूट नहीं सकता' (गीता. ३।५) दूसरा तरीका यह है कि—कर्म तो करना, पर उसमें वासना न करना। यह पहलेसे सुगम प्रकार है; इससे कर्म होनेपर भी कर्मका अभाव हो जाता है। निष्कामतासे कर्म अकर्म (कर्माभाव) हो जाता है—'कर्मण्य-कर्म यः पश्येद् अकर्मणि च कर्म यः' (४।१८) अकर्म होनेपर भी वासना रहनेसे कर्म हो जाता है। इस प्रकार जब कामना हटा देनेसे हुआ कर्म अकर्म-कर्माभाव बन गया, तब कर्म नहीं रहा। यह ज्ञानका पुट होनेसे पिछले सब कर्म भी जल जाते हैं—'ज्ञानाग्निः सर्व-कर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।' (४।३७); इस प्रकार जब संसारापादक कोई कर्म रहा ही नहीं; और अभाव नित्य होता है; तो संसारमें पुनरा-

वर्तन किस हेतु से होगा? क्या कारणके विना भी कार्य हो सकता है? कभी भुने हुए बीजसे भी अंकुर हो सकता है? कभी नहीं। तब आप दोनों (वादी और स्वामी) ही गलतपक्ष वाले होनेसे खण्डित होगये। कोई भी प्राचीन शास्त्रकार मुक्तिसे पुनरावृत्ति नहीं मानता।

क्योंकि-जब जन्मका बीज कर्म ही भुन गया; तब अङ्कुर कैसे हो सकता है; तब संसार भला कैसे हो? जब निमित्त ही नहीं; तब नैमित्तिक कैसे हो? फिर वह भौतिक शरीरमें जो कर्मबन्धनसे मिलता है, कैसे जा सकता है? यह वादीको स्वयं समझने की चेष्टा भी करनी चाहिए।

जब कर्म, भोगसे वा ज्ञानसे वा निष्कामतासे जल जावे; तब तन्नि-मित्तक संसार (जन्म) भी कैसे होगा? स्वा. द. इस बातको नहीं सोच सके; इसलिए उनने मुक्तिको अनित्य लिख दिया। महाशय! स्वा. द. जी की यही भारी-भूल रही कि-उनने कर्मोंसे मुक्ति मान ली। सुकर्मसे मुक्ति नहीं मिलती; किन्तु स्वर्ग मिलता है। कर्मके सान्त होनेसे ही स्वर्ग भी सान्त (क्षयी) होता है; पर मुक्ति तो कर्मोंके अभाव से मिलती है।

कर्मोंका अभाव कैसे हो—यही बात कठिन है। सभी कर्मोंका वा तो एकसाथ ही भोग होजावे; तभी कर्मनाश होगा। तभी मुक्ति भी मिलेगी। जैसे कि-विष्णुपुराणमें एक प्रकरण आता है—जब भगवान् कृष्णने वंशीका निनाद किया, तब सभी गोपियां उस छः वर्षके बालक श्रीकृष्णके पास पहुंचनेकेलिए दौड़ीं; पर एक गोपीको उसके पतिने जाने ही नहीं दिया; उसे उसने खाटके साथ ही बांध दिया। इससे उसको ऐसा मर्मान्तिक, बड़ा भारी दुःखौघ प्राप्त हुआ कि जिससे उसके अब तक के सञ्चित गत पाप-कर्मोंकी गठरी भोगे जानेसे जल गई, पिछला पाप थोड़ासा भी शेष नहीं रहा।

उस समय वह गोपी भगवान्का ध्यान-चिन्तन मनसे बिना फल-

कामनाके कर रही थी; उस समय उसे ऐसा आह्लाद हो रहा था; ऐसा आनन्दौघ, वा आत्यन्तिक सुख-लाभ हो रहा था, जो अनन्त था। इससे उसके अब तकके सञ्चित पुण्यकर्मोंकी गठरी भी भुक्त होकर जल गई, क्योंकि—पुण्यका फल सुख और पापका फल दुःख हुआ करता है। इस प्रकार सुकर्म-कुकर्म तो उसका कुछ बचा नहीं, कर्म भी उसका कोई था नहीं। उस समय वह निष्काम होकर जगत्के उत्पादक परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान कर रही थी। उसकी अब कोई भी ऐहिक वा पारत्रिक आकाङ्क्षाएं नहीं थीं। उस समय उसका कोई भी कर्म न रह जानेसे उसका देहपात हो गया; उस समय उसका कोई भी कुकर्म न बचनेसे उसे नरक नहीं मिल सकता था। कोई भी सुकर्म न बचनेसे उसे स्वर्ग नहीं मिल सकता था। कोई भी कर्म न बचनेसे मनुष्यलोक नहीं मिल सकता था। इसके परिणामस्वरूप उसकी मुक्ति होगई। विष्णु-पुराणका वह पद्ययुगल यह है—'तदप्राप्ति महादुःखविलीनाशेषपातका। तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा। चिन्तयन्ती जगत्सूतिं पर-ब्रह्मस्वरूपिणम्। निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गतान्या गोपकन्यका' (५।१३। २१-२२)। यही पद्य काव्यप्रकाश (४र्थ उल्लास) में भी उद्धृत है।

ऐसा होना स्वाभाविक भी है। एक स्थान एक सुन्दर वेश्याका नृत्य रातके बारह बजे होना था; एक सिपाहीको उस नृत्यके देखनेकी बड़ी लालसा थी; पर एक स्थानपर उसकी कड़ी ड्यूटी थी; वहांसे जरा हटनेसे उसकी सर्विस जा सकती थी; पर उसके एक मित्रने कहा कि—तुम उस नृत्यको देखने चले जाओ; मैं तुम्हारी इस ड्यूटीपर तैनात हो जाता हूँ; जब तुम यहां आजाओगे; तब मैं यहांसे चला जाऊंगा। सिपाहीने मान लिया, वह नृत्य वाले स्थानमें पहुंच गया; नृत्य शुरू होना ही चाहता था; पर उसको चिन्ता शुरू होगई कि—मुझे वहां यदि अधिकारीने न पाया; अथवा यहांपर ठहरे मुझको यदि किसी अधिकारीने देख लिया; तो मेरी नौकरी चली जावेगी। इन्हीं बातोंकी उधेड़-बुनमें

पड़े हुए उस सिपाहीने वह वेश्यानृत्य देखकर भी नहीं देखा। लेकिन उसकी ड्यूटीपर तैनात जो पुरुष था; वह वहीं बैठा-बैठा उस वेश्याके नृत्यका रस मनसे अनुभव कर रहा था कि इस-इस प्रकार वह नाच रही होगी; इस प्रकार वह अठखेलियां कर रही होगी, इस प्रकार वह कटाक्ष-निक्षेप कर रही होगी। अब देखिये—उस सिपाहीने वह नृत्य देखकर भी नहीं देखा; क्योंकि-उसका मन उसके साथ नहीं था; वह तो था उधर कि—कोई अधिकारी मेरी वहां अनुपस्थिति न जान ले; पर उसका स्थानापन्न व्यक्ति वहीं बैठकर मनसे उस वेश्याके नृत्यको देख रहा था; वह वस्तुतः वेश्यानृत्य न देखता हुआ भी उसे देख रहा था। सारी कर्मपरम्परा मनपर हुआ करती है। इसीलिए कहा है—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासङ्गि, मोक्षे निर्विषयं मनः। (पञ्चदशी ११।११७)। इन दृष्टान्तोंसे वादी कर्मपरम्पराका कुछ भान कर सकता है।

अस्तु-यह तो हुआ गोपीका भोगसे कर्मोंका अभाव; दूसरा सुन्दर उपाय बताया है भगवान् कृष्णने गीतामें कि—कामना कोई न रखी जावे, और शास्त्रविहित वह कर्म पूर्ण किया जावे। तो वह निष्काम कर्म भी निष्प्राण होकर कर्मका अभाव हो जाता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि—कर्म की वासना ही कर्म है, कर्म, कर्म नहीं है। जैसे बिच्छू, बिच्छू नहीं होता, किन्तु बिच्छूका दंशकण्टक ही वास्तविक बिच्छू होता है; सांपके विषैले दान्त ही वास्तविक सांप होते हैं; सांप, सांप नहीं होता। यदि बिच्छूका वह कांटा निकाल दिया जावे; तो बिच्छू, बिच्छू नहीं रह जाता। सांपके दान्त निकाल दिये जावें; तब सांप, सांप नहीं रहता। सो भगवान् कृष्ण घरमें रहनेवाले बिच्छू और सांपको आत्म-रक्षाकेलिए मरवाना नहीं चाहते; क्योंकि--वे जानते हैं कि--यह अस्पृश्य प्राणी--सांप बिच्छू आदि हमारे भंगी हैं। वे वायुमण्डलमें व्याप्त विषका

पान करके हमारे वायुमण्डलको शुद्ध रखते हैं। उनको मार दिया जावेगा; तो हमारे घरमें वायुमण्डल दूषित बना रहेगा। पर यदि उनका दान्त वा डंक निकाल दिया जावे; इससे हमारा वायुमण्डल भी शुद्ध रहेगा; और उस बिच्छू तथा सांप से हमें पीड़ा भी नहीं मिलेगी।

इसी प्रकार भगवान् कर्मरूपी बिच्छू वा सांपको मरवाना नहीं चाहते, क्योंकि-वह शास्त्रीय कर्म हमारे शरीर वा मनकी शुद्धि करके, निष्कामता होनेपर, वासनारूपी कांटे वा विषैले दान्तके निकाल देनेपर कर्मका अभावरूप हो जाता है। **अभावके नित्य होनेसे तन्मूलक मुक्ति भी नित्य रहा करती है।** आशा है—वादी अपने स्वा.द. की एतद्विषयक भूल मानकर गीताका खण्डन बन्द कर देगा, और समझ लेगा कि--बुद्धके पूर्वभावी भगवान् कृष्णका यह अपना आविष्कार है; वल्कि बुद्धके भी विष्णु भगवान्के अवतार होनेसे वे भाव उनमें बने रहें; और श्रीबुद्धने भी उनका उपयोग किया हो; तो यह स्वाभाविक है; सो यह बुद्धावतार की देन न होकर श्रीकृष्णावतारकी देन माननी पड़ेगी; वल्कि श्रीकृष्णने भी इस अवतारसे पूर्व ही विष्णुरूपमें विवस्वान्को इस निष्काम कर्मयोग का उपदेश किया था; और विवस्वान्ने अपने लड़के मनुको; और मनुने अपने लड़के वा सृष्ट इक्ष्वाकुको सुनाया था (गी. ४।१-२)। तो यह निष्काम कर्मयोग जो मुक्तिका साधन है—पुरातन (गी. ४।३) है; भगवान्की देन है, बौद्धोंकी देन नहीं।

सो अभावके नित्य होनेसे कर्माभावसे मिलने वाली मुक्ति भी नित्य होनेसे उससे पुनरावर्तन कैसे हो सकता है? सो मुक्तिसे पुनरावृत्ति न माननेवाले सभी दार्शनिक विद्वान् प्रमत्त नहीं थे, स्वा.द. से अधिक दूर-दर्शी थे। जब निष्कामता-मूलक कर्माऽभावसे कोई कर्म वचा ही नहीं रह जाता; और ज्ञानके पुटसे पिछले कर्मोंका वीज भी भुन जाता है (गी. ४।३७); तब मुक्तिसे पुनरागमन किस हेतुसे होगा? क्या कारणके विना भी कार्य हो सकता है? इस प्रकार स्वा.द. तथा वादीका पक्ष

मुक्ति-विषयमें कट गया। इस विषयमें इसी पुष्पके पृ. १४४-१५६ तक देखना चाहिये।

(३३) गीताने बौद्धमत कहीं नहीं लिया। वादीका बौद्धोंसे लेना कहना भ्रममात्र है। शेष है प्रतीकसे ब्रह्मकी उपासना, जिसका वादीने ब्रह्मसूत्र (४।१।५) में तथा गीतामें होना वताया है; यह तो स्वाभाविक है, और शास्त्रीय है, वेदानुगृहीत भी है। यदि गीतामें पत्र-पुष्प-जलको भगवान्के अर्पण करनेसे वादी मूर्तिपूजा मानता है; तव उससे वादीको बधाई हो। उसके ऋषि, स्वा.द. भी 'आर्याभिविनय' में एक वेदमन्त्रमें भगवान्को सोमरसका पानकेलिए अर्पण करके मूर्तिपूजाकी वैदिकताके आगे सिर झुका गये हैं, तब वेदानुकूल गीतामें भी मूर्तिपूजा क्यों न हो? इस विषयमें इस पुष्पमें पृ. ३४९ से ३५४ पृ. तक तथा पृ. ४६४ से ४७१ तक देखें।

(ख) जो कि—वादी कहता है कि—'ब्रह्मसूत्र १।३।३८ में वेदका श्रवण, अध्ययन और अर्थज्ञान शूद्रकेलिए निषिद्ध है, परन्तु गीताके अनुसार स्त्री, वैश्य, शूद्र कोई भी पापयोनिके हों, भगवान् की शरणमें आ सकते हैं' (गी. ९।३२) महाशय! इसमें कोई विरोध नहीं। गीता वा कोई भी शास्त्र भगवान्के शरणमें जानेका निषेध नहीं करता। हां, वेदके शब्दोंमें सबका अधिकार न होनेसे वैदिकयज्ञ वा वैदिक-तपस्या सब नहीं कर सकते। वह गीता वेदमें शूद्र—अन्त्यजोंका प्रवेश नहीं बता रही। गीताने भी ज्ञान-विज्ञान तथा तपस्या आदिमें ब्राह्मणका अधिकार बताया है—(गी. १८।४२) शूद्रका नहीं। शूद्रका गीताने भी सेवामें ही अधिकार बताया है (१८।४४); तब यह ब्रह्मसूत्र और गीताका विरोध सिद्ध न हुआ। हम शम्बूक-शूद्रके राम-द्वारा वध में पृ. ५३२-३३ में लिख चुके। यहां भी प्रकरणवश श्रीसातवलेकर-महोदयके अनुसार आर्थिकदृष्टिसे भी शूद्रोंकी तपस्या करनेकी हानि बताते हैं—

रामराज्यमें आर्थिक-प्रश्नका निर्णय

रामका आदर्श

"राम वैदिककालका आदर्श पुरुष है। वाल्मीकि-ऋषिने नारदकी अनुमतिसे आर्योंके उद्धारकेलिए जिस आदर्श-पुरुषका वर्णन किया, वह राम ही हैं। इसलिए यदि भारतका उत्कर्ष देखना हो, तो घर-घरमें रामचरित्रका पठन एवं मनन होना चाहिए। उसी तरह महाभारतका पठन एवं मनन भी घर-घरमें होना चाहिए। इन दो ग्रंथोंने छत्रपति-शिवाजीका निर्माण किया था। यदि इन दो ग्रंथोंकी उपेक्षा की जाएगी, तो भारतीयसंस्कृति समूल नष्ट हो जाएगी। इतने महत्त्वपूर्ण ये ग्रन्थ हैं। ये दोनों महाकाव्य राष्ट्रका निर्माण करनेवाले हैं; और राष्ट्रीय-विभूति को उत्पन्न करनेका सामर्थ्य इन ग्रंथोंमें आज भी है। जो भारतीयसंस्कृतिके सच्चे स्वरूपको जानना चाहें, वे इन ग्रंथोंका पठन एवं मनन करें।

रामराज्य पर कलङ्क (?)

इस आदर्श रामचरित्र पर आजकलके लेखक कुछ आक्षेप करते हैं। उन आक्षेपोंमें "शम्बूकको रामके द्वारा दिए जानेवाले मृत्युदण्ड" का आक्षेप मुख्य है। उसपर हम यहां विचार करते हैं—

"शम्बूक नामक एक शूद्र-जातिमें उत्पन्न तरुण तपस्या करने लगा। इस कारण रामराज्यमें पाप उत्पन्न हो गए; और उन पापोंके कारण एक ब्राह्मणका लड़का मर गया। उस ब्राह्मणने लड़केका शव लाकर राज-महलके आगे रख दिया, और रामराज्यकी निन्दा करने लगा। रामने जब पता लगाया; तब उन्हें शम्बूकका अपकृत्य ज्ञात हुआ; और उन्होंने शम्बूकको मृत्युदण्ड दिया।" यह संक्षेपमें कथा है।

ब्राह्मण-ब्राह्मणेतरवादके कलहमें ब्राह्मणोंके विरुद्ध जनताको भड़काने के लिए लोग इस कथाका उपयोग करते हैं। आजके बड़े बड़े विचारशील विद्वान् भी इस कथाको रामचरित्रमें एक कलङ्करूप मानते हैं; और राम-राज्यके प्रति भी इसी कारण वे अपनी अरुचि दर्शाते हैं। इसीलिए इस कथा पर यहाँ विचार करना आवश्यक हो गया है।

१ शम्बूक शूद्रजातिका था; और इस जातिके लोगोंने अपने खेती-शिल्पआदि करनेका काम जो राष्ट्रकेलिए उपयोगी था, छोड़ दिया और राष्ट्रकेलिए अनुपयोगी तपस्या करनेका काम शुरू कर दिया।

२ राष्ट्रसंचालक सदा इस बातपर नजर रखें कि राष्ट्रकी प्रजाके पोषणका सारा भार इन उत्पादक धंधोंको करनेवालों पर न आवे।

३ उत्पादक और अनुत्पादक धन्धोंका अनुपात राष्ट्रमें बिगड़ने न पाये। अनुत्पादक धन्धोंमें लोगोंकी संख्या बढ़ने न पावे।

४ अनुत्पादक लोगोंकी संख्या राष्ट्रमें बढ़ जानेपर ऐसे लोगोंके पालनपोषणका भार उत्पादक लोगों पर पड़नेके कारण राष्ट्रकी अर्थ-व्यवस्था बिगड़ जाती है।

५ राष्ट्रकी अर्थव्यवस्था बिगड़नेका मतलब है अपमृत्यु, अकालमृत्यु और बालमृत्युकी संख्यामें वृद्धि।

६ इसलिए शासकोंको इस बातपर ध्यान देना चाहिए कि राष्ट्रकी अर्थव्यवस्था न बिगड़ने पावे; और उत्पादक तथा अनुत्पादक लोगोंका अनुपात दोषपूर्ण न हो।

भारतराष्ट्रकी अर्थव्यवस्था वर्णव्यवस्थासे सम्बन्धित थी। एक वर्णके लोग यदि अपना काम बन्द कर देते, तो उसका प्रभाव सम्पूर्ण राष्ट्रकी अर्थव्यवस्था पर पड़ता था। आज वर्णव्यवस्थाको कोई पानी भी नहीं देता। ब्राह्मण भी चमार और लुहारका धन्धा करते हैं। लुहार और चमार भी उपदेशक बन बैठते हैं। यह आजकी स्थिति है। यह स्थिति ठीक है या गलत, यह बात अलग है। पर प्राचीनकालमें वर्णका धन्धेके साथ सम्बन्ध था। इसलिए यदि कोई एक वर्ण भी अपने कर्म करना बन्द कर देता था, तो उसका प्रभाव सारे राष्ट्र पर पड़ता था। अतः उस समय सभी वर्णोंको अपने अपने कर्तव्य-कर्ममें नियुक्त करनेका काम शासनका होता था।

धन्धोंका राष्ट्रीयकरण

आज धन्धोंका-उद्योगोंका जो राष्ट्रीयकरण हो गया है, या होता जा रहा है, वह व्यक्तिस्वातंत्र्य पर एक प्रकारका नियन्त्रण ही है। रूसमें व्यक्तिस्वातंत्र्य मर्यादित है। जर्मनीमें व्यक्तिस्वातंत्र्य कभी नहीं रहा। इंग्लैंड और अमेरिकामें नियंत्रणके मार्ग खोज निकालनेमें निष्णातजन व्यस्त हैं। तात्पर्य यह कि मनुष्य यदि चाहे जो धन्धा करने लग जाए, चाहे जितना उत्पादन करने लग जाए; अथवा उत्पादनमें विघ्न उत्पन्न करने लग जाए; तो उस पर नियंत्रण करना शासकोंकेलिए आवश्यक हो जाता है। यह तत्त्व आज भी मान्य है।

जातिके अनुसार धंधोंकी व्यवस्था

आर्यशासन-व्यवस्थाने जातियोंके अनुसार धन्धोंका विभाग किया था। एक जातिका धन्धा दूसरी जातिका मनुष्य न करे, इसपर जातियों का ही नियंत्रण था। इसलिए प्रत्येकके धन्धेकी सुरक्षा होती थी। आज यह काम शासनके द्वारा किया जाता है। इन सबका तत्त्व यही है कि राष्ट्रमें उत्पादनकी मात्रा आवश्यकताके अनुसार हो।

पूजापाठ, जपतप, प्रवचन और कीर्तन यह ब्राह्मणोंका धन्धा अनुत्पादक है। क्षत्रियोंका व्यापार दूसरोंकी सुरक्षा करना है, यह भी अनुत्पादक तो है, पर अत्यन्त आवश्यक है। ब्राह्मणका काम प्रजामें मानसिकशान्ति उत्पन्न करके उन्हें आध्यात्मिक आनन्द प्रदान करना था। ब्राह्मणोंके अभावमें प्रजाकी आध्यात्मिक भूख अतृप्त ही रहेगी। पर इसके अभावमें भी यदि इतर व्यवसाय उत्तम रीतिसे चलते रहें, तो समाजकी बहुत बड़ी हानि नहीं होगी। इसलिए ब्राह्मणोंका पेशा करने-वालोंकी संख्या समाजमें बढ़नी नहीं चाहिए। क्योंकि इस जातिके पालन-पोषणका भार दूसरी जातिके लोगों पर पड़ेगा और वह भार किसी एक मर्यादा तक ही समाज वहन कर सकेगा।

जात्यनुसार ब्राह्मणोंका अनुपात चालीस करोड़में दो करोड़ अर्थात्

औसतन २०: १ है। एक ब्राह्मणके पालन-पोषणका भार २० गृहस्थों पर रहता है, और वह भार उनके लिए सुसह्य भी है। पर अनुत्पादक जातिका अनुपात राष्ट्रमें बढ़ जाए तो उसके अनुसार प्रजा पर बोझ भी बढ़ता चला जाएगा। इसलिए ब्राह्मणोंकेलिए शम, दम, ब्रह्मचर्य, तपस्या आदि नियमोंका विधान है। इन नियमोंके कारण ब्राह्मणोंकी संख्या बढ़ नहीं पाती। पूर्वाचार्योंने ब्राह्मणोंकेलिए शम, दम तपस्या ब्रह्मचर्यादि-नियमोंका जो विधान किया था, वह केवल इसीलिए कि इस अनुत्पादक जातिकी जनसंख्या बढ़ने न पावे। इससे यह स्पष्ट होता है कि वे पूर्वाचार्य अर्थशास्त्रके नियमोंसे अच्छी तरह परिचित थे। आजके सुधारक इसी वर्णव्यवस्थाको जातिभेद कहकर उसकी निन्दा करते हैं। पर यह भेद न होकर एक व्यवस्था थी। यह अर्थव्यवस्था थी।

लोग कहते हैं कि आज व्यक्ति पूर्णरूपसे स्वतंत्र है। यह ठीक भी है, पर इसके बावजूद भी हमने धन्धोंका राष्ट्रीयकरण करके राष्ट्रकी आवश्यकताके अनुसार इन धन्धोंको नियंत्रित किया है। यदि ऐसा न किया जाए, तो राष्ट्र पर बड़ा भारी आर्थिक संकट आ पड़ेगा। आजकल के अर्थशास्त्री इतर विभिन्न नियंत्रणोंका संशोधन करके इस संकटको टाल रहे हैं।" (वैदिकधर्म सितम्बर १९६८)

फलतः शूद्रकी तपस्या आदि करना लौकिक-दृष्टिमें अनुचित समझकर राजकीय-कानूनके अनुसार दण्डयोग्य समझा जाता था। इसी कारण श्रीरामका उसे दण्डित करना शास्त्रीय तथा लौकिक दोनों दृष्टियोंसे ठीक ही है। उसपर आक्षेप करनेवाले भूलमें हैं। इस विषयपर पहले पृ. ५३१-५३३ पृष्ठमें तथा ६ठे पुष्पके ८७३-७६ पृष्ठ में भी लिखा जा चुका है।

(३४) अब वादी गीतामें भक्तिवाद बताता हुआ कहता है—'उपनिषदों और दर्शनोंके विषय मुख्यतया कर्म और ज्ञान हैं; तब उनकी अनुसारिणी गीतामें भक्तिका प्रयोग कहां से उमड़ पड़ा'।

वादी केवल खण्डन करना जानता है, पर बहुश्रुत वा दूरदर्शी नहीं

है। वह याद रखे कि—तीन काण्ड होते हैं १ कर्मकाण्ड, २ उपासना-काण्ड ३ और ज्ञानकाण्ड। सो कर्म तथा ज्ञानके बीच उपासना स्वतः आ जाती है। कर्म एवं उपासनासे मानसिक शुद्धि होती है। उपासना ही भक्तिरूपमें परिणत हो जाती है। जब तीन काण्ड शास्त्रीय सिद्धान्त हैं; तब उपासनाकाण्डान्तर्गत भक्ति अनार्योंके मस्तिष्ककी उपज कैसे हो सकती है ? वेदमें ८० प्रतिशत कर्मकाण्ड तथा १६ प्रतिशत उपासना-काण्ड तथा चार प्रतिशत ज्ञानकाण्ड है; तब क्या वेद अनार्योंका है ? उपासनाकाण्ड अनार्योंकी देन है ? ऐसी भारी भूलकेलिए वादीको प्रायश्चित्त करना चाहिये। 'भक्ति द्रविड देशमें उत्पन्न हुई है' का यह तात्पर्य तो नहीं है कि—उन्होंने इसे वेद वा गीता आदिसे न लेकर उसे स्वयं गढ़ा है ?।

(ख) आगे वादी कहता है कि--'सभी प्रकारके धर्मों-कुलधर्म, क्षत्रिय-धर्म आदि छोड़कर भगवान्‌ने अपनी शरणमें आना कहा है (१८।६६) इस प्रकार अपने कर्तव्यकर्मोंको छोड़कर पलायनवादका आश्रय लेने का उपदेश-दिया है'। तब भगवान् की शरणमें आना क्या 'पलायनवाद' है ? इस पद्यका अर्थ वादीको ज्ञात नहीं मालूम होता। इस विषयमें इसी पुष्पमें पृ. १७४ से १८० पृ. तक में देखो।

(ग) आगे लिखता है—'वैदिक धर्ममें या उपनिषदोंमें नवधा भक्तिका; तथा अर्चना (मूर्तिपूजा) का विधान नहीं है' जब वेदमें उपासना है, तो भक्ति स्वतः आगई। शेष रहे भक्तिके भेद। वेदने सूत्र बताया, पुराणोंने उसका व्याख्यान किया; तो नवधा भक्ति कोई नई वस्तु न रही। भक्तिका जो नामकीर्तन एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है, देखो वह वेदमें ठसाठस भरा है। देखिये—'रुद्र यत् ते क्रिवि परं नाम' (यजुः १०।२०)। 'नामानि ते शतक्रतो ! विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे' (अथ. २०।१९।३) 'नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरा उषसः' (अ. १०।७।३१) यहांपर नामकीर्तन सूर्यसे पूर्व कहा है। 'भूरि नाम वन्दमानः'

(ऋ. ५।३।१०) यहां नामवन्दना कही है--इत्यादि। इस प्रकार अर्चन 'अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत' (ऋ. १।५४।२) वेदमें विद्यमान है; सख्य भी वेदमें है—'मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे' (ऋ. १।१०१।६) इसका स्वा.द. के आर्याभिविनयमें वादी अर्थ देखे। शेष अङ्ग भी वेदमें है। वादीने वेद देख ही नहीं रखा है; उसने तो केवल स.प्र. को ६ बार पढ़ा है; तब उसे वेदमें मूर्तिपूजा कहां दीखे ? तभी तो वेदमें कर्म, उपासना, ज्ञान इन तीन काण्डोंके होनेसे हम तीन तारों वाला वेदाधिकारप्रद यज्ञोपवीत पहरते हैं। जब वेदमें वेदके अधिकारप्रद यज्ञोपवीत–सूत्रका संक्षेपरूपसे वर्णन मिलता है, इसी प्रकार भक्तिका भी। उसका पल्लवन वा विकास अन्य पुस्तकोंमें किया है। सम्भव है कि–भक्तिका उद्गम–प्रदेश द्रविड वा कर्णाटक रहे हों; पर वे भी भारत–देशके अन्तर्गत हैं; वे अनार्य नहीं। अनार्यका लटका तो अंग्रेजोंका लगाया है, और ला० मैकालेके मानसिक दास आप लोगोंने उस अंग्रेजी-विचारधाराको अपना लिया।

वेदमें मूर्तिपूजा–विषयमें 'आलोक' (४) पृ. ३८८-३९३ में देखो। यहांपर भी कुछ आदर्श देख लो—'शिला, भूमिः, अश्मा, पांसुः सा भूमिः···पृथिव्यै अकरं नमः' (अथर्व. १२।१।२६) यहांपर भूमिके अंश पत्थर आदिको नमस्कार कही गई है। तो मूर्तिपूजा और क्या होती है ? स्वा.द. जी ने स.प्र. ११ समु. में लिखा है—'क्या यह मूर्तिपूजा नहीं है ? किसी जड़ पदार्थके सामने सिर झुकाना वा उसकी पूजा करना सब मूर्तिपूजा है' (पृ. २३०) यह मूर्तिपूजाकी स्पष्टता होगई--पत्थर–पृथिवी आदिके सामने वेदने नमस्कार (सिर झुकाना) कहा है।

(घ) वादी लिखता है—'जिस कश्मल (अज्ञान) को अनार्यजुष्ट (अनार्यों द्वारा व्यवहृत) कहकर गर्हित किया है, स्वयं उसी अनार्यजुष्ट (२।२) भक्तिको अपनाया है'। वादी आर्यसमाजसे प्रक्षेप करना वा छिपाना सीख गया है। यहां भक्तिको 'अनार्यजुष्ट' कहां कहा गया है—यह वादी बतावे ? यहां तो क्षत्रियको युद्ध छोड़कर मोहसे हटनेको

'अनार्यजुष्ट' कहा है कि--आर्य (श्रेष्ठ) क्षत्रिय ऐसा नहीं करते। क्या उस समय युद्धको छोड़कर अर्जुन भक्ति करने बैठ गया था कि—भगवान्ने उसकी भक्तिको 'अनार्यजुष्ट' कह दिया ? ऐसे गलत व्यवहार-केलिए वादीको प्रायश्चित्त करना चाहिये। मोहको यहां कश्मल कहा है, भक्तिको भगवान्ने कहीं 'कश्मल' नहीं कहा।

(३५) वेदमें भी भक्तिके सूत्र देखो—(अ) 'देव ! संस्फान ! सहस्रा पोषस्य ईशिषे। तस्य नो रास्व, तस्य नो धेहि, तस्य ते भक्तिवांसः स्याम' (अथर्व. ६।७६।३) हे पोषक देव ! तू अनेकों पोषक तेजोंका स्वामी है, उस तेजको हमें दे। उस तेजको हममें स्थापित कर; उस तुझ तेजस्वीकी हम भक्ति करनेवाले बनें। (आ) 'इदा हि व उपस्तुति-मिदा वामस्य भक्तये। उप वो विश्ववेदसो नमस्युरां असृक्षि अन्यामिव' (ऋ. ८।२७।११) सब धनों वा शक्तियोंको देनेवाले देवताओ ! नमस्युः—पूजा करना चाहता हुआ मैं भक्त विवस्वान्का लड़का मनु; क्योंकि—वही यहां ऋषि है—वः—तुम लोगोंके भी वामस्य—वननीय सम्भजनीय भगवान्की भक्तये—भक्तिकेलिए 'अन्यामिव उपस्तुतिं—अभूतपूर्व स्तुतिको उपासृक्षि-करता हूँ।) (इ) 'शर्म न सूनवे भक्तमभक्तमवः' (ऋ. १।१२७।५) जैसे पिता पुत्रको चाहे वह उसका भक्त हो; वा थोड़ा भक्त हो, उसपर अनुग्रह करता है, उसकी रक्षा करता है; वैसे परमात्मा भी; इस प्रकार जब वेदमें भक्तिके सूत्र हैं; तो क्या वेद अनार्योंकी पुस्तक है ? कहीं मन्त्रमें यदि बहुवचन है; तो 'सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु। वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्' (गोपथ ब्रा. १।१।२६) इस श्रुतिके वचनसे वहांपर भी अव्यय-ब्रह्मका अभिप्राय समझ लेना चाहिये।

(ख) फलतः वेदमें उपासनाकाण्ड भी होनेसे भक्तिका वर्णन स्वाभाविक है। नवधा भक्ति १ श्रवण, २ कीर्तन, ३ स्मरण, ४ पादसेवन, ५ अर्चन, ६ वन्दन, ७ दास्य, ८ सख्य, ९ आत्मनिवेदन (श्रीमद्भा. ७।५।२३) के भी सूत्र वेदमें मिलते हैं। वादी देखें—

(१) 'भद्रं श्लोकं श्रूयासम्' (अथर्व. १६।२।४) यह 'श्रवण' है। (२) 'कीर्तेन्यं मघवा नाम बिभ्रति' (ऋ. १।१०३।५) 'विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम्' (ऋ. १।१५४।१) यह 'कीर्तन' है। (३) 'भर्गो देवस्य धीमहि' (ऋ. ३।६,२।१०) 'मनामहे चारु देवस्य नाम' (ऋ. १।२४।१) यह 'स्मरण' है। (४) 'जुषाण इन्द्र ! सप्तभिर्न आगहि' (ऋ. ८।१३।१३) यहां पादसेवन है। (५) 'अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत' (अथ. २०।९२।५) 'अर्चा शक्राय शाकिने' (ऋ. १।५४।२) यह 'अर्चन' है। (६) 'वन्दामहे त्वा' (ऋ. ३।८।९) 'वन्दारुस्ते तन्वं वन्दे' (ऋ. १।१४७।२) यह वन्दन है। (७) 'वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम' (ऋ. १।९८।१) यहां 'दास्य' का सङ्केत है। (८) 'मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे' (ऋ. १।१०१।६) यहांपर 'सख्य' स्पष्ट है। (९) 'तव स्मसि व्रत्याः तस्य विद्धि' (अथर्व. ८।४८।८) 'त्वयेद् इन्द्र ! युजा वयं प्रतिब्रुवीहि स्पृधः। त्वमस्माकं तव स्मसि' (ऋ. ८।९२।३२) हम तेरे हैं; तुम्हें आत्मसमर्पण करते हैं—यह आत्मनिवेदन है। फलतः भक्ति वैदिक देन है, इसे अनार्यजुष्ट भगवान् कृष्णने कहीं नहीं कहा; यह वादीकी अपनी बनावट है।

सम्भव है कि—भक्तिका उद्गमप्रदेश द्रविड या कर्णाटक हो; पर वे देश भी भारतान्तर्गत होनेसे अनार्य नहीं हैं। अनार्यताका लटका तो अंग्रेजोंने डाला है। मैकालेके मानसिक-दास आप लोगोंने उस अंग्रेजी विचार-धाराको अपना लिया है।

(३६) आगे वादी श्रीमद्-भागवतमें पहुंचता है, और लिखता है-'अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मा अवस्थितः। तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्' (३।२९।२१) मैं सब जीवोंमें आत्मा बनकर अवस्थित हूँ, परन्तु मेरी विद्यमानताकी उपेक्षा कर मनुष्य मूर्तिपूजाका ढोंग करता है'।

ऐसे तर्क आर्यसमाजके सत्सङ्ग (?) का फल है। श्रीमद्भागवतमें तो मूर्तिपूजा ठसाठस भरी हुई है। देखो—(८।१६।२८,११।२७।९,४८,

५०-५२,७।१४।३३,४०) इत्यादि। तब उसीसे मूर्तिपूजानिन्दक पद्य पूर्वापरप्रकरण छिपाकर दे देना–यह वादीकी दयानन्दी नीति है। यहां तो यह आशय है कि--जो पुरुष मुझे सर्वव्यापक तो नहीं मानता; मेरी अवज्ञा करता है, यह मूर्तिपूजाकी अवज्ञा है। यहाँ यह भाव है कि–मुझे सर्वव्यापक मानकर मूर्तिपूजा करो; तो वह मेरी अवज्ञा नहीं है। भगवान्‌ने तो स्वयं अपनी पूजा अग्निमें, ब्राह्मणमें तथा मूर्तिमें बताई है–'तथा यजेत मां (भगवन्तं) मर्त्यः श्रद्धया तन्निबोध मे। अर्चायां (मूर्तिमें) स्थण्डिलेऽग्नौ वा, सूर्ये वाऽप्सु हृदि द्विजे' (श्रीमद्भा. ११।२७।८-९) ऐसे स्पष्ट पद्योंके विद्यमान होते हुए भी श्रीमद्भागवतसे मूर्तिपूजाकी निन्दा निकालनी प्रतिपक्षीकी धींगाधींगी है।

(ख) आगे वादी याज्ञवल्क्यका वचन देता है–'अथ योऽन्यां देवताम् उपास्ते, अन्यो ह्यसौ, अन्यो अहमस्मि-इति। न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्' (बृहदा. १।४।१०) (जो अन्य देवताओंकी उपासना करता है, और समझता है–वह देवता दूसरा है; और मैं उससे भिन्न हूँ, वह देवताओंके पशुओंके समान (अज्ञानी) हैं। यहां तो यह तात्पर्य है कि–अन्य-अन्य देवताओंमें भटकते न रहो। एक देवताकी पूजा करो; और भगवान्‌से उनका अभेद मानो। यहां भक्तिपर कोई कुठाराघात भी नहीं; तो कठोर-कुठाराघात भला कैसे होगा ?। इस विषयमें 'आलोक' (८) पृ. २०४-२१० देखो। अथवा यहां अद्वैतवाद है, अद्वैतवादमें भक्त और भजनीयके अभेद होनेसे वहाँ उपासना नहीं हो सकती। मूर्तिपूजा भी तो अन्तिम कोटिमें छोड़ी जाती है। उस समय तो 'सोऽहम्' मन्त्रका जाप होता है।

तृतीय अध्याय।

(१७) अब वादी गीतामें अन्तर्विरोध दिखलाता है, हम इसका प्रत्युत्तर देते हैं। 'आलोक' पाठक ध्यान दें। वादी लिखता है–'गीताके अनुसार जड़-चेतन (७।५) चर-अचर (१३।१५) मृत्यु और अमृत

(९।१९) सब ही भगवान् हैं; तो फिर प्रकृति-पुरुषका मौलिक द्वैतवाद (१३।१९) मानना परस्पर-व्याघातक सिद्धान्त है'।–

वादी नहीं जानता कि–लौकिक वस्तुमें परस्पर-विरोध दोष होता है, पर अलौकिक वस्तुमें परस्पर–विरोध दूषण नहीं होता, किन्तु वह उसकी अलौकिकताका भूषण होता है, रसके विषयमें साहित्य-ग्रन्थोंमें आया है कि -रस प्रत्यक्ष नहीं है, परोक्ष भी नहीं है। कारण भी नहीं है, कार्य भी नहीं है। ज्ञाप्य भी नहीं है, कार्य भी नहीं है। वर्तमान भी नहीं है, भविष्यत् भी नहीं है। सविकल्पक–ज्ञानग्राह्य भी नहीं है, निर्विकल्पकज्ञानग्राह्य भी नहीं है। निर्विकल्पकज्ञानग्राह्य भी है; सविकल्पक ज्ञानग्राह्य भी है।

ऐसी विरुद्ध बातोंपर 'वह फिर क्या है, ऐसा प्रश्न होनेपर साहित्य दर्पणकारने कहा है–'तस्माद् अलौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम्' (३।२६) है। इसपर काव्यप्रकाशकारने भी कहा है–'इति अलौकिकत्वसिद्धेर्भूषणम्, न तु दूषणम्। उभयाभावस्वरूपस्य उभयात्मकत्वमपि पूर्ववद् लोकोत्तरतामेव गमयति, न तु विरोधम्' (४र्थ उल्लास) अर्थात् उभय-अभावस्वरूप रसको उभयात्मक बताना यह उसकी अलौकिकताको बताना है, विरोधको नहीं बताता। तब 'रसो वै सः' (तैत्तिरीयारण्यक ८।२।७) रसस्वरूप परमात्माकेलिए भी कहे जाते हुए विरुद्धधर्म उसकी अलौकिकता ही बताते हैं, विरोध नहीं। यही बात गीतामें भी समझ लेनी चाहिये। अथवा शास्त्रोंमें अद्वैतवाद परमार्थ होता है, और द्वैतवाद, व्यवहारवाद उपासनार्थ होता है। (ख) परमात्माकी इसी अलौकिकता को व्यक्त करनेकेलिए ही वेदमें भी परमात्माके विरुद्ध धर्म कहे गये हैं–जैसेकि–'अजायमानो बहुधा विजायते' (यजुः ३१।१९) यहां अजायमान भी प्रजापतिका जनन बताया है। 'स एव मृत्युः, सोऽमृतम्' (अथर्व. १३।१३।४-३।२५) उसको मृत्युस्वरूप और अमृत कहा गया है। 'तदेजति-तन्नैजति, तद् दूरे—तद्‌ अन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य–तदु

सर्वस्याऽस्य बाह्यतः' (यजुः ४०।५) यहां भी परमात्माके परस्परविरुद्ध धर्म बताये गये हैं। 'नाऽसदासीद्, नो सदासीत्' (ऋ. १०।१२९।१) यहां भी सत् और असत् बताया गया है। 'नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च' (यजुः १६।३२) इसीके अनुवादमें 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' (श्वेता. ३।२०) 'सर्वेन्द्रिय-गुणाभासं सर्वेन्द्रिय—विवर्जितम्' (श्वेताश्वतर ३।१९) 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षुः, स शृणोत्यकर्णः' (श्वेता. ३।१९) 'अकायमव्रणम्' (यजु. ४०।८) में उसे निराकार कहा है, 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' (यजुः ३१।१) उसे साकार भी कहा है। 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्' (यजुः १७।१९)। इस विषयमें स्पष्टता 'आलोक' (४) पृ. ३९४-४०४) देखिये। सो गीतामें भी यह अलौकिकता है।

(ग) शेष रहा द्वैतवाद वा अद्वैतवाद। इसमें द्वैतवाद व्यवहारवाद है, और उपासनाकेलिए है; और अद्वैतवाद परमार्थकेलिए है। जिस समय व्यवहारवाद आता है, उस समय भक्ति, उपासना तथा द्वैत (भेद) भी कहा जाता है; उस समय 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अन्योऽनश्नन् अभिचाकशीति' (अथ. ९।९।२०) यह भेदवाद भी कहा जाता है, पर जिस समय परमार्थवाद आता है; तव 'पुरुष एवेदं सर्वं' (यजुः ३१।२) यह कहा जाता है। उस समय तो उपासनाकी आवश्यकता भी नहीं रह जाती।

यह दो नावोंपर पैर रखना नहीं होता; किन्तु यह स्वाभाविक है। उस समय प्रकृति परमात्मासे भिन्न नहीं मानी जाती, किन्तु उसका विकासमात्र, वा शक्तिमात्र मानी जाती है। प्रकृति और पुरुषका संयोग तो व्यवहारवाद तक रहता है। तत्त्वज्ञान होते ही इनका संयोग नहीं रह जाता। अनादि भी प्रागभाव अन्तमें नहीं रहता।

कुल्हाड़ा आदि-अन्तमें लोहा है, बीचमें व्यवहारकेलिए वह कुल्हारा कहा जाता है। घड़ा आदि-अन्तमें मट्टी है; बीचमें व्यवहारमें उसे घड़ा

कहा जाता है। बर्फ आदि—अन्तमें जल है; केवल बीचमें उसे 'बर्फ' कहा जाता है। इस प्रकार द्वैतवाद उपासनार्थ है कि—चित्तकी शुद्धि हो जावे। उस समय 'तस्याऽहम्' कहना पड़ता है। यहां षष्ठी भेदमें है। 'राहोः शिरः' की भान्ति उपचार होता है। अन्तमें परमार्थवाद अद्वैतवाद ही रहता है--उस समय 'सोऽहम्' कहना पड़ता है, 'राहुरेव' कहना पड़ता है।

वादी कहता है कि—'इनमें एक सत्य है, तो दूसरा मिथ्या होगा' यह बात वादीकी ठीक है। तभी तो कहते हैं—'ब्रह्म सत्यं जगद् मिथ्या'। सो व्यवहारवाद ही मिथ्या होता है। अन्तिम कोटिमें व्यवहारवाद न रहनेसे फिर स्वतः अद्वैतवाद रहता है। उस समय चित्त—शुद्धि आदि होजानेसे फिर भेदभाव भी नहीं रहता। सो एक पुस्तकमें जहां भिन्न-भिन्न स्थलपर दो वाद हों, वहां एक स्थानपर व्यवहारवाद और दूसरे स्थानपर परमार्थवादके भेदवश व्याघात नहीं रहता। कालभेद वा पात्र-भेदमें वह भेद चरितार्थ हो जाता है।

(३८) वादी आत्माके विषयमें शङ्का करता है कि--'गीता आत्माको नित्य, सर्वव्यापक, स्थाणु (स्थिर) अचल और सनातन मानती है, (२।२४); तब आत्मा निश्चय ही अचल होगा। जो सर्वव्यापी है, वह कहां नहीं है, जहां जाएगा? तब जो यह कहा है—'जब आत्मा शरीरको ग्रहण करता है, वा छोड़ता है; तब मन समेत इन्द्रियोंको उसी प्रकार ग्रहण करता व छोड़ता है, जैसे वायु गन्धके स्थानसे गन्धको' (१५।८) तब आत्माका गमनागमन कैसे हो सकता है'?

इसपर पहले हम लिख चुके हैं। आत्माका कहीं भी गमनागमन नहीं होता, पर कोई घड़ेको लेकर भागता जा रहा होता है; वहां घड़ेके आकाशका भी घड़ेसे सम्बन्ध होनेसे भागना वा गमनागमन मालूम होता है, पर वह वास्तवमें नहीं हो रहा होता, वैसे ही सूक्ष्म शरीरका गमनागमन होनेसे उसके सम्बन्धसे आत्माका भी दौड़ना-आना आदि मालूम

देता है, पर यह औपचारिक है। यह सांख्य-सिद्धान्तमें भी प्रसिद्ध है; जिसे हम पहले लिख चुके हैं। भ्रम भी औपचारिक है, तत्त्वज्ञानमें वह भ्रम भी नहीं रहता।

जैसे दीया घड़ेमें बन्द होता है, उसका प्रकाश तथा दहनशक्ति तिरोहित होते हैं; इसी प्रकार कर्मबन्धनमें बद्ध भी आत्माका ऐश्वर्य एवं विभुत्व (व्यापकत्व) छिपा-सा रहता है। परन्तु जब 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन' (४।३७) तत्त्वज्ञानका उदय हो जाता है--, सञ्चित, तथा क्रियमाण कर्मोंकी गठरी जल जाती है; और प्रारब्ध कर्म भोगसे नष्ट हो जाता है; तब पुरुष, देह रहते भी विदेह हो जाता है; और फिर कर्मबीजके भुन जानेसे इस शरीरके अन्तमें मुक्त आत्मा वही ब्रह्म हो जाता है। बीज भी जब भुन गया; तब उससे अंकुर कैसे हो सकता है; तब उसका संसार भला कैसे हो?

(ख) आगे आत्मा वा ईश्वर, कर्ता वा अकर्तापर वादीने व्यर्थका विस्तार कर दिया है। पहले ही कहा जा चुका है कि--शास्त्रमें कहीं व्यवहारवाद हुआ करता है, और कहीं परमार्थवाद। यह वाद भी अधिकारिभेदसे होते हैं। कहीं लिखा हो कि--घी अमृत है, और उसी पुस्तकमें लिखा हो—घी विष है। सो यह विरोध नहीं होता; और न दो नावोंपर यह पैर रखना होता है; किन्तु स्वस्थ और अस्वस्थ इन दो अधिकारियोंके भेदसे, व्यवहारवाद वा पारमार्थिकवादके भेदसे यह विरोध परिहृत हो जाता है। तब भिन्न-विषयता होनेसे परस्पर-विरोध नहीं रहता। वादी स्वयं मानता है कि--गीतामें विविध दार्शनिक भाव हैं। सो दर्शन भी कई प्रकारके होनेसे यथासमय किसी एकका ग्रहण इष्ट हो जाता है।

'युद्ध करो—युद्ध करो' यह झूठा अहङ्कार नहीं भरा जा रहा है। इसमें वासना वा स्वार्थ कामना इष्ट न होनेसे कोई 'अहम्भाव' नहीं; क्योंकि—इसमें स्वार्थ-न होनेसे शरीर ही युद्ध करता है, आत्मा तो

निर्लेप रहता है। उसमें अहम्भाव, लाभालाभ, जय-पराजय, वा अपना युद्धसे सम्बन्ध होनेकी वासना न हो; केवल शास्त्रीय क्षत्रिय-कर्मका अवलम्बन निष्कामतासे हो; तो वह युद्ध भी युद्ध नहीं रहता। तब वह कर्म भी अकर्म हो जाता है; उसके करनेवाला भी 'अकर्ता' हो जाता है; अतः उसे युद्धका सीमित प्रत्यक्षफल स्वर्ग वा पृथिवीभोग (गी. २।३७) न मिलकर मुक्तिफल ही मिलता है।

(३६) आगे वादी कहता है—'यदि ईश्वर ही सब कर्म कराता है, यन्त्रकी तरह घुमाता है (गी. १८।६४), तो जीव किसी कर्मकेलिए दोषी नहीं हो सकता'। इसपर यह जानना चाहिये कि—वास्तविक बात तो यही है। जो तो इसे वास्तविक समझ कर कि—'मैं ईश्वरके हाथकी कठपुतली हूँ', मैं तो कुछ भी नहीं कर रहा', अपने कर्तृत्वका अभिमान सचमुच नहीं करता; उसमें अपनी उसकी मानसिक-भावना कुछ भी नहीं होती; तब वह किसी बन्धनमें बद्ध भी नहीं होता; अतएव दोषी भी नहीं होता। क्योंकि उसको पता भी नहीं है कि—मैं क्या कर रहा हूँ। वह तो कहता है—'केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि' उसका भाव भी बाहर-भीतर सचमुच यही हो; तब वह क्यों कर्मोंसे बद्ध होगा? भगवान्ने भी यही कहा है—'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते' (१०।८)। जो यह सचमुच समझ लेता है, सचमुच ही अपनेको उस सूत्रधारकी कठपुतली समझता है, वह कर्मके बन्धनसे भी बद्ध नहीं होता; पर यदि उसने जरा भी अहम्भाव कर लिया, उस कर्मका अपनेसे सम्बन्ध कर लिया, तब वह बांधा जाता है। इस विषयमें हम वादीको बहुत युक्ति-प्रमाण दे सकते हैं। 'आलोक' के किसी पुष्पमें इस विषयमें हम स्पष्टता करेंगे। यहां उतना अवकाश नहीं।

वादी इससे पूर्व कहता है—'यदि सभी कर्म प्रकृति करती है, तो

फिर यह कहना कि—सब जीवोंके हृदयमें ईश्वर बैठकर यन्त्रकी तरह घुमाता है (१८।६१) व्यर्थ हुआ।' महाशय ! प्रकृति भी तो उसीकी शक्ति है, स्वतन्त्र थोड़े ही है। सो प्रकृति कराती है या भगवान् कराता है, इसमें अभेदवश कोई विरोध नहीं। 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' (९।१०) भगवान्‌की अध्यक्षतामें प्रकृति सब कुछ करती है, स्वतन्त्रतासे नहीं ?।

फलतः गीतामें तो परस्परविरोध कुछ नहीं, यह वादी ही दोषदृष्टिवश गीतामें विरोध समझता है। 'गीतामें वेदका स्थान ऊंचा नहीं है, और फिर गीतामें 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते'' में वेदको ऊंचा रखा है' वादीके इस कथनमें पहले लिखा जा चुका है। यहांपर व्याघात नहीं है। गीता शास्त्र तथा युक्ति दोनों ही रखती है। युक्तिसे शास्त्रके वचनोंकी व्यवस्था लगती है। हां, शास्त्र मुख्य होगा, युक्ति केवल शास्त्रकी सहायक होगी। भगवान्‌में अव्यवस्थितचित्तता नहीं है। 'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ! वहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्' (२।४१) 'प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते' (२।६५) 'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य' (२।६६) ऐसा कहनेवाले भगवान् सावधान रहनेवाले हैं। उसपर यदि हमें विपरीतता दीखे; तो उसमें हमें अपनी अल्पश्रुतता तथा समन्वयवादके प्रकारका अज्ञान ही समझना चाहिये। वादीकी गीतासे विद्वेषभावना ही उसके भ्रमका कारण है। 'दिल्लीके सात सवारोंमें अपना नाम लिखानेकेलिए कि—अमुक-अमुकने गीताके खण्डनकी पुस्तक लिखी है, मेरा नाम भी उसमें शामिल होजावे। केवल इसी बुद्धिसे उसने यह 'अवैज्ञानिक--परीक्षा' लिखी है, पर 'दिल्ली अभी दूर' है। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' पर पहले '(पृ. १७४--१८०) में लिखा जा चुका है।

(४०) 'अवतार' पर लिखता हुआ वादी कहता है—'जब पापियोंके नाश तथा धर्मकी स्थापनाकेलिए युग-युगमें अवतार होता है, तो अधिक

अवतार सत्ययुगमें ही हुएं हैं। सों सत्ययुगमें पापोंकी अतिवृद्धि सिद्ध हुई।' यह कथन भी वादीकी अल्पश्रुतताका नमूना है। प्रत्येक युगकी आदि में आरम्भ-आरम्भमें पिछले युगकी छाया रहा करती है—यह स्वाभाविक है। सो सत्ययुगके आरम्भमें भी गत-कलियुगकी सन्धिका अंश रहनेसे जो एक लाख चवालीस हज़ार वर्षकी होती है—पाप सम्भव हो जाते हैं। आज भी कलियुगके आरम्भमें द्वापरका सन्ध्यंश है, जो ३६००० वर्षका होता है। पूर्ण वा भयंकर कलियुग तो इसके वाद शुरू होगा।

जब शीतकाल प्रारम्भ हो रहा होता है; उसमें पहले उष्णकालकी सन्धि होनेसे वह शीतकाल सह्य हो जाता है। उसके बाद--फिर भयङ्कर शीतकाल जो असह्य होता है— शुरू हो जाता है। जव उष्णकाल शुरू होता है, उसमें शीतकालकी सन्धि होनेसे वह उष्णकाल भी सह्य हो जाता है, उसके बाद भयंकर उष्णकाल शुरू हो जाता है--जो असह्य होता है। भाव यह है कि--पहले पिछले कालकी सन्धि होती है, फिर असली काल शुरू होता है, अन्तमें फिर वह भी ढीला हो जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक युगमें पहले सन्धिकाल होता है, फिर उस युगका वास्तविककाल शुरू होता है, फिर सन्ध्यंशकाल होता है। इसी सन्धि वा सन्ध्यंशकालको सन्ध्या वा सन्ध्यांशकाल भी कहा जाता है।

पर यह याद रखना चाहिये कि सत्ययुग पुण्यका धनी होता है, और पापका गरीव, और कलियुग पापका धनी होता है, और पुण्यका गरीव। सो कलियुगमें कोई थोड़ासा भी पुण्य कर ले; उसका वड़ा महत्त्व होता है; पर सत्ययुगमें थोड़ा भी पाप हो जावे; तो वह वड़ा भारी माना जाता है; अतः उसमें हलचल मच जाती है। कालेमें काला नहीं दीखता, पर थोड़ा सुफ़ेद भी दीख जाता है। सुफ़ेदमें सुफ़ेद नहीं दीखता; पर सुफ़ेदमें थोड़ा काला भी वहुत जल्दी दीख जाता है—'सिते हि जायेत शितिः सुलक्षता' (नैषध १२।२२) यही सत्ययुगमें अवतार--धारणका भाव है।

मत्स्य १, कूर्म २, वराह ३, तो सृष्टिकी आदिके हैं। प्रलयकाल पृथ्वीका उद्धार, तथा पृथिवीका थामना, सत्ययुगके आरम्भमें होनेपर भी उन्हें सत्ययुगका नहीं कह सकते। हां, नृसिंह ४ और वामन ५ इन दो अवतारोंको सत्ययुगका कह सकते हैं। परशुराम ६ राम ७ यह अवतार त्रेतायुगमें हुए। श्रीकृष्ण ८—यह द्वापरमें हुए। बुद्ध ९ कलियुगके आरम्भमें हुए—'ततः कलौ सम्प्रवृत्ते···बुद्धो नाम्ना' (भाग. १।३।२४) कल्की १० कलियुगके अन्तमें होगा। सो सत्ययुगमें अवतार अधिक क्या हुए? वादीको उत्तर मिल गया।

(४१) आगे वादी कहता है—'अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः' (७।२४) मेरी अव्यय (अपरिवर्तनीय) सत्ताको विना जाने मुझ अव्यक्त (निराकार) को मूर्ख मनुष्य व्यक्त (शरीरधारी) मान लेते हैं'। भगवान् स्पष्ट रूपमें कह रहे हैं कि—जो उन्हें निराकारके वदले साकार मानता है, या उनका रूप वदल जाता है—ऐसा मानता है, वह मूर्ख है। अब यह विचारणीय है कि—गीताके भगवान् ईश्वरके अवतार हैं, या गीताकारकी असम्बद्ध कल्पना है?'

हम कहते हैं कि—यह वादीकी ही अज्ञता है। यह कहनेवाले जब भगवान्-कृष्ण हैं; तो इससे यही सिद्ध हो रहा है कि-भगवान्के निर्गुण-निराकार, तथा सगुण-साकार यह दो रूप हैं। जैसाकि उपनिषद्में कहा है—'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे, मूर्तं चाऽमूर्तं च' (बृहदा. २।३।४) तभी तो भगवान्ने 'अजोपि सन्नव्ययात्मा···सम्भवाम्यात्ममायया' (४।६) यह अव्ययका प्रादुर्भाव कहा है। पर 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' (४।९) कहा है; सो दिव्यतावश उसमें विकार नहीं होता—यह सूचित किया जा रहा है। इतना इसमें वताया है कि—मेरा अव्यक्तरूप अनुत्तम तथा अव्यय है। पर मैं जब अव्यक्तसे अवताररूपमें व्यक्त हो जाता हूं, तो साधारण लोग उसका परम रहस्य नहीं जानते। वे समझते हैं, यह भी अन्य साधारण जीवोंकी भांति जन्म-मरण वाला है; पर यह निर्बुद्धिता है।

वे साधारण लोग 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' (४।९) मेरी प्रकटताकी दिव्यता नहीं जानते; अतः मुझे विकारी समझ लेते हैं, पर ऐसा समझ लेना—उनकी बुद्धिकी कमीको सूचित करता है। जब ऐसा है; तो वादीकी अल्प-बुद्धिताको सूचित करनेवाला यह आक्षेप परिहृत होगया। सो उक्त पद्यमें 'अव्यक्त, 'अव्यय' शब्द भगवान्की दिव्यता वता रहे हैं। सो अव्यक्तकी व्यक्ति और व्यक्तकी अव्यक्तता-यह उसकी दिव्यता है।

(ख) आगे वादी गीतासे ईश्वरकी अज्ञेयता दिखलाकर १३।१७ में ज्ञानगम्यता वतानेसे परस्पर-विरोध मानता है, सो ज्ञानगम्यता भी तो उसकी अज्ञेयता है—'यस्याऽमतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानताम्, विज्ञातमविजानताम्' (केनो. २।३।(११) जो कहता है मैं उसे जान गया हूँ, वह भी उसे नहीं जान सका। जो कहता है—मैं उसे नहीं जान सका हूँ, तो ऐसा कहनेवाला उसे जान गया है। जाननेसे भी उसकी अज्ञेयता ही सिद्ध हो रही है। सो उसकी अज्ञेयता भी ज्ञानसे जानी जाती है। विराट्रूप प्रदर्शित करना; फिर चतुर्भुज होना-यह भी परस्परविरोध नहीं; किन्तु उसकी अलौकिकता वताना है।

(ग) इसी प्रकार 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' (९।४) 'न च मत्स्थानि भूतानि' (९।५)। तथा 'सदसच्चाहमर्जुन!' (गी. ९।१९) मैं सत् और असत् हूँ। यहां न सत् और न असत् कहा है। (१३।१२) इत्यादि वादीसे उपक्षिप्त श्लोकोंमें भी भगवान्की अलौकिकता दरशायी है। 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' 'न च मत्स्थानि भूतानि' का भाव यह है—यह सारा जगत् मेरी ही शक्तिसे उत्पन्न है, मैं ही इसका आधार हूँ, इसलिए तो सब भूत मुझमें स्थित हैं; परन्तु ऐसा होते हुए भी मैं इससे अतीत हूँ; और उनकी मुझसे भिन्न सत्ता नहीं है; इसलिए वे मुझमें भिन्नतया स्थित नहीं हैं। सो जबतक मनुष्यकी दृष्टिमें मुझसे भिन्न जगत् है; तब तक सभी कुछ मुझमें है। मेरे विना इस जगत्का अन्य कोई आधार

नहीं, पर जब तत्त्वज्ञान हो जाता है; तब वह भी मैं हो जाता हूं, उस दृष्टिमें मुझसे भिन्न कोई वस्तु नहीं रह जाती। उस समय मुझमें यह जगत् नहीं है। यह कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार सत् और असत् भगवान्की परा-अपरा प्रकृति हैं। वे प्रकृतियां भगवान्से अभिन्न हैं; अतः भगवान्ने सत् और असत्को अपना स्वरूप कहा है। पर भगवान् इनसे भी अतीत हैं; तब भगवान्का न तो विधिमुखसे वर्णन किया जा सकता है, न निषेधमुखसे, अतः वह न सत् है, और न असत् है, यह कहना भी ठीक है, इसमें विरोध नहीं, बल्कि काव्यप्रकाशके अनुसार तदात्मकको तदभावात्मक कहना और तदभावात्मकको तदात्मक कहना—यह उसकी लोकोत्तरता बताता है—दोष नहीं। वेदादिशास्त्रोंमें भी भगवान्को 'अजायमानो बहुधा विजायते' (यजुः ३१।१९) 'अनन्तमन्तवच्च' (अ. १०।८।१२) 'नाऽसदासीत्, नो सदासीत् '(ऋ. १०।१२९।३) 'को अद्धा वेद' (ऋ. ३।५४।५) 'अधः स्विदासीद् उपरिस्विदासीत्' (ऋ. १०। १२९।५) वह दयालु है, वह शासक है—इत्यादि कहा जाता है। सो यह अलौकिकताका भूषण है, दूषण नहीं।

इस विषयमें हम पूर्व स्पष्ट कर चुके हैं। इसलिए उसे 'सर्वेन्द्रिय-गुणाभासं सर्वेन्द्रिय-विवर्जितम्' (श्वेता ३।१७) कहा जाता है। यह परस्परविरोध उसकी अलौकिकताका परिचायक है, दूषण नहीं।

(घ) वादी लिखता है—'२।३२,३७ में युद्धमें मरनेको स्वर्गका खुला द्वार बताया; परन्तु यहां भूल गये कि—२।१५ में सुख-दुःख को समान समझ मोक्ष प्राप्त करना कह चुके थे; जब फलत्याग कर कर्म करना और मोक्ष प्राप्त करना ध्येय है; तब स्वर्गका लोभ देना क्या अर्थ रखता है'।

इसपर वादी जाने कि—युद्धमें मरनेसे स्वर्ग सकामतामें चरितार्थ है, और मुक्ति निष्कामतामें होती है। स्वर्गको भगवान्ने जहां-तहां मुक्तिसे अवर और गमनागमन-कारक कहकर—जहांसे गिरकर फिर माता-पिताके

विष्ठामलाकुल पेटमें आना पड़ता है; और मरणमें बड़ी पीड़ा प्राप्त करनी पड़ती है, जन्ममें भी;—निष्काम कर्म करनेकी प्रेरणा दी। छोटी कलमके साथ बड़ी कलम रख देनेसे वह दूसरी कलम विना काटे ही छोटी सिद्ध कर दी गई; तब इसमें न तो परस्पर—विरोध ही हुआ, और न स्वर्गका लोभ देना ही सिद्ध हुआ। भला जब एक करोड़ रुपया मिल रहा हो; तो कौन एक हजार रुपया प्राप्त करनेकेलिए अभिमुख होगा?

(ङ) 'गीता २।३६ में शत्रु तुम्हारी सामर्थ्यकी निन्दा करेंगे; और फिर १२।१९ में निन्दा-स्तुतिको तुल्य समझनेका उपदेश परस्परविरुद्ध है' यह वादीका कथन भी व्यर्थ है। पहला व्यवहारवाद है, गीताके उपदेशसे पहलेकी बात है। दूसरा परमार्थवाद है। पहले अर्जुनको युद्धके लिए तैयार करना था; इसलिए उसे शत्रुओंकी निन्दासे डराया गया। फिर युद्धकेलिए तैयार होनेपर उसके बाद उसे निष्कामताका मार्ग बताया गया; जिससे वह बन्धनमें न फंसे। इसमें भिन्न--विषयता होनेसे कोई विरोध नहीं।

(४२) 'निष्काम कर्म करनेका ३,४,५,६ अध्यायोंमें उपदेश देकर भी गीताके भगवान् स्मृतिभ्रंश दोषसे कह डालते हैं— 'तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व, हत्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्' (११।३३)"। यह स्मृतिभ्रंश नहीं, किन्तु ऐहलौकिक व्यवहार बताया गया है। उसमें अनासक्तिसे विदेह-जनककी भांति राज्य करना इष्ट है। इसमें अनासक्तियोगका श्राद्ध कहां है? जब वह गीताका मुख्य विषय है; तो वहां जो बात कही जावेगी; वहाँ 'तस्माद् असक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर' (३।१९) यह बात साथ ही रहेगी कि—जो भी करने योग्य कर्म तू कर; उसमें अनासक्ति साथ रख। अब यहां स्मृतिभ्रंश कहां हुआ? शत्रुओंका जीतना तथा राज्य करना—यह सब लौकिक कर्म हैं। भगवान् इन्हें नहीं छुड़ाते; किन्तु केवल वासना छुड़ाते हैं'।

(ख) 'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योस्ति न प्रियः' (९।२९) यह

सामान्यशास्त्र भक्तिरहित सर्वसाधारण प्राणियोंकेलिए है; तभी इसके उत्तरार्धमें—जिसे वादीने छिपा लिया है—'ये भजन्ति तु मां भक्तया मयि ते तेषु चाप्यहम्' (६।२९) इस अपवाद-वचनमें भक्तोंकेलिए विशेषता कही है। जब ऐसा है, तब १२ वें अध्यायमें भक्तको प्रिय वा अतिप्रिय बताना—यह कोई विरुद्ध बात सिद्ध न हुई। अपवाद-वचनको छोड़कर उत्सर्ग (सामान्य-वचन) की व्यवस्थिति हुआ करती है। सो वादीसे लिखित पूर्वार्ध उत्सर्ग है, सर्वसाधारणकेलिए है; और उत्तरार्ध अपवाद। और १२ वें अध्यायके अन्तिम पद्य जो भक्तोंमें स्वाभाविकतया घटते हैं-और दूसरोंसे भी अनुकर्तव्य हैं – पूर्वके अपवाद ही हैं। १२।१३-१४ आदिमें 'मे प्रियः' से यह भी सिद्ध होता है कि—यह भक्तोंके लक्षण हैं।

(ग) वादी लिखता है--'गीताके अनुसार जो दूसरे देवताओंको भजते हैं; वे भी विधिरहित भगवान्को ही भजते हैं (९।२३) फिर ९।२५ में यह क्यों कह दिया कि—'देवता पूजनेवाले देवलोकमें, पितृ-पूजक पितृलोकमें, भूत-प्रेत-पूजक भूत-प्रेतलोकमें और भगवान्को पूजनेवाले भगवान्को प्राप्त करते हैं – यह तो स्पष्ट भेदभाव है, उदारता चली गई'।

यहाँ भेदभावमें विशेष कारण है। देवता भगवान्के अङ्ग हैं। जो उनको भगवान्से भिन्न समझकर पूजें; उनको भगवद्-भक्तिवाला फल कैसे हो सकता है? एक स्वामीको पूजे; एक स्वामीके अङ्गभूत उसके किसी नौकरको पूजे; तो उस सेवामें फलभेद अवश्य होगा। इसलिए देवपूजनको भगवान्ने अपना वैध पूजन न मानकर--अपना अवैध (परम्परा-सम्बन्धसे) पूजन माना है। भेदभाव माननेवाले गलत हरकत भी कर सकते हैं। दो शिष्य गुरुजीकी लातें दबा रहे थे; करवट बदलनेसे लातें बदल गईं। दोनों शिष्योंने अपनी लातसे भिन्न लातपर डंडा दे मारा। तब क्या गुरु उनको अपनी पूजावाला फल दे सकते हैं?—यह

स्वाभाविक है।

भगवान्ने स्वयं भी कहा है—'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्' (७।२१) स तया श्रद्धया युक्तः तस्याराधनमीहते' (७।२२) जो भक्त मेरी जिस तनु-देवमूर्ति आदिकी पूजा करता है, मैं उसकी उसीमें श्रद्धा सम्पन्न कराता हूँ; वह फिर उस देवकी पूजामें लग जाता है। उसका फल तो भक्तको मुझसे मिलता है, पर भक्त समझता है कि—मेरे देवताने यह फल दिया है, तब वह उस देवताके पास ही तो जाना चाहेगा; तब यदि भगवान् उसकी इच्छानुसार उसे देवलोकमें भेजते हैं; 'देवान् देवयजो यान्ति' (७।२३) तो इसमें भेदभाव क्या हुआ?। नहीं तो वे भगवान्को ही भजते, यदि भगवान्के पास जाना चाहते। यह तो स्वाभाविक बात है।

(घ) आगे वादी लिखता है—'गीताकार वा उसके भगवान्को इतना भी ज्ञान नहीं था कि--न भूत-प्रेत हैं, न उनका कोई लोक है'

यह वादीकी बात ठीक नहीं। अथर्ववेदमें भूत-प्रेतोंका वर्णन है दृष्टशास्त्र--आयुर्वेदमें भी उनका वर्णन है। देखिये—सुश्रुतसंहिता (उत्तर-तन्त्र) ६० वां अध्याय) और चरकसंहिता (चिकित्सित ९।१४-२४)। यह भ्रान्त मनुष्यकी कोरी कल्पना भी नहीं। ऐसी बहुतसी घटनाएं हुआ करती हैं। भूत आदिके न दीखनेमें कारण बताते हुए श्रीधन्वन्तरिने बताया है—'ऐश्वर्यस्थास्ते न शक्या विशन्तो देहं, द्रष्टुं मानुषैर्विश्वरूपाः। आप्तं वाक्यं तत्समीक्ष्याभिधास्ये लिङ्गान्येषां यानि देहे भवन्ति' (सुश्रुत. उत्तर. २७।७) पर जब तुम (वादी) ईश्वरको ही नहीं मानते, आत्माकी विविध-योनियोंमें प्राप्ति नहीं मानते; तब भूत-प्रेतको क्या मानोगे? अन्धेके आगे आँसू बहानेसे क्या लाभ होगा? इस विषयमें विशेष विवेचन हम किसी अन्य पुष्पमें करेंगे। याद रखो कि--इस संसारमें केवल प्रत्यक्षसे काम नहीं चल सकता, अप्रत्यक्ष पदार्थ बहुतसे हैं--जिनका

आगम, अनुमान, युक्ति आदिसे ज्ञान हो सकता है। पहले हम देवयोनिके भेद बता चुके हैं; उनमें इन योनियोंका अन्तर्भाव होता है।

(४) वादी लिखता है—'गीताने स्त्री, वैश्य, और शूद्रको पापयोनि; अथवा अन्त्यजको पापयोनि कहा है (९।२२) और ब्राह्मण-क्षत्रियको पुण्यवान् (९।२३) कहा है; तथा ४।१३ में चारों वर्णोंको भगवान्-द्वारा निर्मित बताकर जातिवादका समर्थन किया है, पर महाभारत (वनपर्व) में कहा है—'एक-वर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर ! क्रिया-कर्मविशेषेण चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम्' पूर्वकालमें एक ही वर्ण था, कर्मोंकी विशेषतासे चार वर्ण होगये'।

वादीने इस वचनका पता नहीं दिया। उससे प्रष्टव्य है कि-वेद पहले थे, या महाभारत ? और इन दोनोंमें कौन अधिक प्रमाण है ? यदि वेद, तो उसमें तो 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्...पद्भ्यां शूद्रो अजायत' (यजु:३१।११) चार वर्ण बताये गये हैं; तब वादीकी बात कहां ठीक हुई ? महाभारतमें भी चारों वर्णोंकी उत्पत्ति बताई गई है—'ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च द्विजसत्तम ! ये चान्ये भूतसंघानां वर्णास्तांश्चापि निर्ममे' (शान्तिपर्व. १८८।४)। 'चातुर्वर्ण्यं भगवता पूर्वं सृष्टं स्वयम्भुवा' (महा. अनुशा. १४३।२) जहां एक वर्ण कहा है, वहाँ 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति' इस न्यायसे ब्राह्मणकी प्रधानतावश एक-वर्णता कही गई है। क्योंकि ब्राह्मण अग्रज था। अब भी गर्भसे पहले मुख ही निकलता है—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् (यजु: ३१।११) फिर उनके भिन्न-भिन्न कर्म होते गये; तो दूसरे जन्मोंमें तदनुसार चार वर्णोंकी प्रतिष्ठा हो गई। सृष्टि-समय तो उनके कर्म हो नहीं सकते थे। अतः वहां गतजन्मके कर्म मानना स्वतः सिद्ध हो जाता है। इस विषयमें—'आलोक' (६) पृ. ८६०-८६३) देखना चाहिये।

यदि आप लोग जातिवादको हटवा दोगे; तब फिर मुसलमान वा ईसाई बन जाओगे। इस भारतको भी पूरा पाकिस्तान वा नागालेंड

बनाकर ही दम लोगे। जबसे आप लोगोंने यह व्यवस्था हटानी शुरू की है; तबसे हो रही हुई अव्यवस्थाएँ भारतका नाकोंदम कर रही हैं। आगे देखना—इनका क्या कुपरिणाम होता है ?

यदि गुणकर्मसे वर्णव्यवस्था होती, तो अश्वत्थामा जिसने सोते हुए द्रौपदीके पुत्रों तथा धृष्टद्युम्न आदिको मारा—उत्तराके गर्भपर भी बाण छोड़ा; वह अश्वत्थामा; तथा युद्ध करते हुए द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि ब्राह्मण न कहलाकर क्षत्रिय कहलाते। युधिष्ठिर, श्रीकृष्ण, भीष्म, आदि क्षत्रिय, ब्राह्मणोंको उपदेश देनेवाले धर्मव्याध जैसे शूद्र, और उपनिषदोंके अजातशत्रु आदि क्षत्रिय, ब्राह्मण कहलाते। पर नहीं कहे गये।

गुणकर्मसे वर्णव्यवस्था होनेपर कर्मोंकी स्वतन्त्रता होजानेसे युद्धको छोड़ रहे हुए अर्जुनको ब्राह्मण कहा जाता। आजकलके डाक्टर, वकील, इञ्जीनीयर तथा स्त्रियोंको कौन-सा वर्ण दोगे ? यदि वर्णव्यवस्था तोड़ते हो, सो इसीसे सुरक्षित भारतका यह तोड़ना होगा। आपको फिर वर्गवाद अपनाना पड़ेगा। फिर हज़ारों वर्गोंमें बट जाओगे; आपसमें लड़ोगे, झगड़ोगे। वर्णविभागमें वर्ण तो जन्मना हो, और सम्मान गुणकर्मणा हो, और प्रथम, द्वितीय, तृतीय श्रेणी बना दी जावे; तो कुछ भी अव्यवस्था नहीं रहेगी। अनपढ़ ब्राह्मणोंको दान मत दो, युद्धमें भाग न लेनेवाले क्षत्रियोंको राजकाजमें सर्विस मत दो। शूद्रको वेद पढ़नेकेलिए यदि उत्साहित करोगे, तो वह सेवा वा शिल्प वा वैज्ञानिकयन्त्रकी सेवा छोड़कर देशकी बड़ी भारी हानि करेगा।

(ख) स्त्रीको पापयोनि कहनेका कारण यह है कि—पुरुष कोई पाप करे, स्त्रीको तंग करे; तो दूसरे जन्ममें इस पापसे स्त्री बनता है। वैश्यको 'सत्यानृतं च वाणिज्यम्' (यजु. ४।६) अनृतव्यवहार भी करना पड़ता है, शूद्र तो पापयोनि हुए ही। ब्राह्मण--क्षत्रियादिको प्रशस्त योनि होना, चाण्डालादिको कुत्सित योनि होना--वादीकी मान्य छान्दोग्यो-

पनिषद् भी मानती है (५।१०।७) गीतामें भी गुणकर्मविभाग-द्वारा ब्राह्मणादिकी सृष्टि जो कही है; उसमें गतजन्मके ही गुणकर्मोसे इस जन्ममें सृष्टि (उत्पत्ति) कही है।

(४४) 'अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः। ज्ञान-यज्ञेन तेनाहमिष्टः स्याम्' यह गीताका माहात्म्य भगवान्ने कहा है। इसमें यह कैसे सिद्ध हुआ कि-यह अन्य किसीने अन्यको सुनाई? युद्ध—क्षेत्र ही क्या, किसी अन्य भी क्षेत्रमें कोई बातचीत हो; जबकि उसके सुनाने वाला दिव्यनेत्र वा दिव्यश्रोत्र वाला सञ्जय था; तो उसे राजपुरुषोंने लिपिबद्ध कर लिया हो; यह स्वाभाविक है। और जबकि दिव्यज्ञानवाले श्रीव्यासजीने पूरा महाभारत बनाना था; उसमें उन्होंने महाभारतसे सम्बद्ध सभी कुछ देना था; तब इसमें लिपिबद्धताका प्रश्न ही क्या?

(ख) 'कच्चिदेतत् श्रुतं पार्थ! त्वयैकाग्रेण चेतसा' (१८।७२) अर्जुनको दृढ़ करनेकेलिए यह पूछना स्वाभाविक है। हम छात्रको कुछ समझा रहे हों; वह सुन भी रहा हो; तो भी पूछना पड़ता है कि—तुम सुन रहे हो न? इसमें सर्वज्ञताका हास्य कुछ नहीं है। साधारण बातोंके लिए सर्वज्ञताका प्रयोग भगवान् क्यों करें? इस अर्जुनकी स्वीकृतिसे ही तो दूसरोंपर उस उपदेशका प्रभाव पड़ना हुआ। इससे भगवान्ने अन्य पुरुषोंको भी सूचित किया कि—इस उपदेशको एकाग्रचित्त होकर पढ़ना-सुनना।

दूसरा ऐसा कहना-सुनना आत्मीयता (अपनीयत) को भी सिद्ध करता है कि—मैं तुम्हारा हितैषी हूँ। साहित्यग्रन्थमें एक प्रसिद्ध पद्य है—'त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति। आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत्' (काव्यप्र. ४र्थ) कोई आत्मीय अपने शिष्य वा सम्बन्धीको कह रहा है कि—मैं तुम्हें कह रहा हूँ—ध्यानपूर्वक सुनना'। साहित्यकारोंने यहां अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि बताई है कि--मैं तुम्हारा हितैषी हूँ। इसी न्यायसे यहांपर भी समझ लेना चाहिये।

फिर अर्जुन-यह भी न समझे कि-भगवान् उसे युद्धादिकेलिए बाधित कर रहे हैं, अतः उसको यह भी कहा कि—'विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु' (१८।६३) इन बातोंको सोच लो; अब जैसे तुम्हारी इच्छा हो, वैसा करो।

(ग) आगे वादी लिखता है—'गीताका रचयिता भगवान् नहीं; एक मनुष्य था, अतः गीतामें भी गुण-दोष हैं'। वे थे भगवान् ही, जैसे कि--महाभारतमें स्पष्ट है; पर मनुष्यरूपमें थे। एक पुरुष नाटकमें स्त्री बना हो; तब यह नहीं कि--उसका पुरुषों वाला बल भी नष्ट हो जावे; वा उसके स्वाभाविक कुच निकल पड़ें, या उसे प्रसव भी होने लग जावे। तब गीतामें वादी-द्वारा दोष बताना उसे शीशा सिद्ध कर रहा है। 'पश्यति पित्तोपहतः शशिशुभ्रं शंखमपि पीतम्' अपने दोष वादीको शीशेके दीख रहे हैं। अपने गन्दे रूपको वह शीशेकी खराबी बता रहा है। पित्तसे उपहत पुरुषको शंख भी पीला दीखा करता है।

(घ) भगवान्के वाक्यको 'व्यामिश्र-वाक्य' कहना अर्जुनकी समझका फेर था। समझ आ जानेपर फिर उसने ऐसा शब्द कभी नहीं कहा।

(ङ) वादी लिखता है—'गीताके भगवान् दोष निकालनेवालोंसे क्यों चिढ़ते हैं? क्यों उनको 'सर्वज्ञान-विमूढान् तान् विद्धि नष्टान् अचेतसः' (३।३२) गाली दे रहे हैं' यह गाली नहीं है, सत्यवाद है। ऐसे व्यक्ति अल्पश्रुत होते हैं; उनको दूरदर्शिता नहीं होती। उनके चित्त दोषोंसे भरे होते हैं; उनमें विवेकका अभाव होता है। उनकी बुद्धि विपरीत हो जाती है—'अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ! तामसी' (१८।३२) तब वे लौकिक और पारलौकिक सब प्रकारके साधनोंसे विपरीत ही समझते हैं; तब आचरण भी विपरीत करते हैं। तब उनका इस लोक तथा परलोकमें पतन हो जाना हुआ। यदि वादी यह न मानता हो; तो इसे अपनेपर घटाकर देख ले।

वेदमें भी यह तरीका देखा गया है। देखो—'नीहारेण प्रावृत्ता

(अज्ञानी) जल्प्या (बकवादी) चासुतृपः (पेट भरने वाले) उक्थशासः (सूक्तोंके बोलनेवाले) चरन्ति' (ऋ. १०।८२।७) 'अन्धेनेव नीयमाना यथान्धाः' (मुण्डकोप. १।८) 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयोऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं पुनरेवापि यन्ति' (मुण्डक. १।२) यह कर्मकाण्डकी निन्दा है। वादी भगवान् तो नहीं है कि--जो उसके मतको न माने; वह महामूर्ख होवे। जिसका न तो संस्कृतपर पूर्ण अधिकार है; और न सब शास्त्रोंपर, यदि वह धृष्टतासे ऐसा कहेगा; तो स्वयम् उपहासास्पद होगा।

गीताका जो विरोध वादीने दिखलाया था, वह समाहित होगया।

चतुर्थ अध्याय।

(४५) गीताकी त्रिदोषग्रस्तता एवं अप्रमाणता वादी न्यायसूत्रानुसार अनृत (झूठ) व्याघात (परस्परविरोध) और पुनरुक्त (बार-बार कथन) के कारण बताता है। लिखता है—'छान्दोग्य-उपनिषद्में वर्णित देवकी-पुत्र कृष्णका जिक्र हो चुका है" तो गीता भी उसी 'देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण' ने कही थी। महाभारत आदि सभी यही बताते हैं; पर यह वादी एक बौद्धकी पुस्तकसे इक्ष्वाकुकी दिशा नामकी दासीसे कृष्णकी उत्पत्ति बताकर श्रीकृष्णको दासीपुत्र-अनार्य बताता है, और कहता है कि--आर्य गोरे होते थे, और अनार्य काले; अतः कृष्णके अनार्य होनेकी सम्भावना ही अधिक है'।

इक्ष्वाकु दाशरथि-रामके वंशके पूर्वज थे; (गी. ४।१) उससे पैदा होनेवाले कृष्ण को क्या वादी श्रीरामसे भी पूर्वका मानता है? बौद्धकी पुस्तकमें 'कह्न' है, 'कृष्ण' नहीं। इक्ष्वाकुका वंश जहां वर्णित किया गया है, वहां उसकी दिशा नामकी दासी वा स्त्री नहीं कही गई। इक्ष्वाकुका लड़का भी कोई कृष्ण नामक नहीं आया। कोई आया भी हो; तो नाम बहुतोंके बराबर मिल जाते हैं; तब गीता-वक्ता श्रीकृष्ण वे ही थे; इसमें प्राच्य-पुस्तकोंका क्या प्रमाण है; इससे उल्टा यह सिद्ध होगा कि--श्रीकृष्ण

बौद्धोंसे पहले होचुके थे; क्या यह मानते हो? यदि ऐसा है; तो श्रीकृष्णकी गीता भी बौद्धोंसे पूर्वकी सिद्ध होगई?। 'घट्टकुटयां प्रभातापितम्' वाली कहावत बन गई। देवकी वसुदेवकी स्त्री थी, श्रीकृष्ण भी वासुदेव कहे जाते हैं। तब वादीने इक्ष्वाकुसे कृष्णका सम्बन्ध कैसे कर दिया? शायद वादी भी बौद्ध ही हो, और बौद्धके कथनको निर्भ्रान्त मानता हो; पर वे लोग विरोधी होनेसे गलत कथाएं लिख ही देंगे; तब उसमें माननीयता कैसे हो सकती है? इक्ष्वाकु धार्मिक-क्षत्रिय एवं शिष्ट थे। वे अशिष्ट-व्यवहार (दासी-सम्भोग) नहीं कर सकते थे?।

जिस प्रकार वादीका बौद्धमतपर विश्वास है, इस प्रकार जैनमतपर भी होगा। एक जियालाल जैनीने जो डिप्टी कमिश्नर थे, वादीके ऋषि, दयानन्दको कापड़ीका लड़का सिद्ध कर दिया है, देखो उसका 'दयानन्द चरितदर्पण' क्या वादी उसे ठीक मानता है? एक प. देवरत्नने एक ब्राह्मण-द्वारा कापड़ी जातिकी अपने घरमें डाली हुई स्त्रीसे स्वा.द. का होना माना है। क्या वादी यह ठीक मानता है? तब वह अपने आर्यसमाजियोंको भी समझा दे कि—वे उससे क्यों चिढ़ते हैं? फिर उस दासीपुत्र-कृष्णका वादीने अर्जुनसे सम्बन्ध तथा गीतासे सम्बन्ध क्यों नहीं सिद्ध किया? इक्ष्वाकुका लड़का क्या मधुदैत्यको मारनेवाला (मधुसूदन) था? क्या गीता-प्रोक्त श्रीकृष्णके अच्युत आदि नामोंका सम्बन्ध उस बौद्धकी पुस्तकसे कर सकते हो?। इससे स्पष्ट है कि--वह दासीपुत्र-कृष्ण यदि कोई था भी सही; तो वह अन्य था? वादीके नाम वाले कई चमार, भंगी, वा पारसी भी मिल सकते हैं; तब क्या वे ही 'गीताकी वैज्ञानिक परीक्षा,के लेखक माने जा सकते हैं?'

गीताको तो 'इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः। संवादमिममश्रौषं' (१८।७४) वासुदेव (वसुदेवके लड़के) का संवाद लिखा है। तब क्या वसुदेव इक्ष्वाकु थे? इक्ष्वाकु राजा थे; पर वसुदेव राजा नहीं थे; न उनका किसी दासीसे कोई सम्बन्ध हुआ।

(४६) 'आर्य गोरे थे और अनार्य काले-यह बात तो वादीके पुरखा डा. मैकालेके बुजुर्गोंकी देन है। महाभारतमें जो श्वेताः, रक्ताः, पीताः, कृष्णाः यह वर्णोंकेलिए लिखा है; वहां बाहरी रङ्ग-रूपकेलिए नहीं लिखा गया है, किन्तु सत्त्व, रज, रजः-तम, तम इन गुणोंकेलिए लिखा गया है। चाहे ब्राह्मण काले रङ्गका भी हो, जैसे चाणक्य, पर सत्त्वगुणवश उसे 'शुक्ल' कहा जाता था। क्षत्रियोंके सुफेद रङ्गके होनेपर भी उन्हें रजोगुणके कारण 'रक्त' कहा जाता था। वैश्य चाहे सुफेद वा लाल रंगका भी हो; उसे रजस्तमके कारण 'पीत' कहा जाता था। शूद्र चाहे गोरा भी हो; उसे तमोगुणके कारण काला कहा जाता था। तब क्या वादी गोरे अंग्रेजोंको आर्य और काले अपने लोगोंको अनार्य मान लेगा? इस विषयमें 'आलोक' (८) पृ. ३६३-३६५) देखो।

श्रीकृष्ण काले क्यों?

(ख) अब श्रीकृष्णके काले रंगपर भी वादी विवेचना सुने। श्रीकृष्ण श्रीविष्णुके अवतार हैं; विष्णु भी श्याम हैं, विष्णुके प्रतिनिधि शालग्राम भी श्याम हैं; अतः उनके अवतार राम-कृष्ण भी श्याम हैं। इसपर यह भी जानना चाहिये कि—सृष्टिकी पहली अवस्था भी कृष्ण होती है—'आसीदिदं तमोभूतं' (मनु. १।५) जिसका हमें कुछ ज्ञान न हो सके, वह कृष्ण और जो हमारी समझमें आ जावे; वह शुक्ल कहलाता है। इसलिए तै. सं. आदिमें मन्त्र और ब्राह्मणकी दुर्विज्ञेयता होनेसे उसे कृष्णयजुर्वेद कहा जाता है; और माध्यन्दिन सं. आदिमें सुविज्ञेयता होनेसे उसे शुक्लयजुर्वेद कहा जाता है।

निगूढको कृष्ण और प्रकाशितको शुक्ल कहते हैं। सब जगत् जहां निगूढ है, जहां आज दीखनेवाले जगत्का कोई ज्ञान नहीं; उस सब जगत् की कारणावस्था-पूर्वावस्था दृश्यमान जगत्की अपेक्षा कृष्ण ही है, यह स्पष्ट है; तब उसी जगत्के कारण भगवान् विष्णु वा आद्या शक्ति (काली) कृष्ण कहे जाते हैं।

जिसका वर्णन न किया जा सके; उसे भी कृष्ण कहते हैं, जैसे आकाश। चन्द्रमा, पृथिवी और सूर्य यह तीनों जगत्के आधार कृष्ण हैं—यह वेदादिमें स्पष्ट है। जैसे कि—'आ कृष्णेन रजसा' (यजुः ३३।४३) यह सूर्यका वर्णन है। 'यददः चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयं श्रितम्' (मं. ब्रा. १।५।१३) इस मन्त्रको वादी अपने स्वा.द.की 'संस्कारविधि' (पृ. ६९) में देख सकता है। इसमें चन्द्रमामें पृथिवीका कृष्ण हृदय बताया गया है। चन्द्रमा तो काला दीख रहा भी होता है शुक्लपक्षकी द्वितीयामें—'चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः' (शत. १३।२।१।७) वैज्ञानिक भी सूर्य, चन्द्र आदिको कृष्ण ही मानते हैं; इनमें तेज होनेसे यह शुक्ल प्रतीत होते हैं; वैसे तो वे कृष्ण ही हैं। तलवार कृष्ण होती हुई भी शानपर चढ़ी हुई होनेसे शुक्ल दीखती है।

इन तीनों पृथिवी, चन्द्रमा, सूर्यसे परे जो 'परमेष्ठिमण्डल' है, वह भी कृष्ण है। परमेष्ठीकी किरणों-द्वारा वह कृष्णता आकाशदेशमें व्याप्त है; अतः आकाश कृष्ण दीखता है। सूर्यप्रकाशकी प्रतिमा-प्रतिनिधि 'राधा' है। कृष्ण श्याम तेज हैं, और राधा गौर-तेज। कृष्ण (श्यामतेजोमय) की गोदमें राधा विराजमान है। वह उसीकी अपनी शक्ति वा तेज है। विना प्रकाशकी सहायताके नेत्र-रश्मि अन्धकारका प्रत्यक्ष भी नहीं कर सकती। इसलिए प्रत्यक्षकी सहायक इन्द्रियमें आंखकी पुतली कृष्ण है, शेष भाग उसके साथ सुफेद है। इससे सिद्ध हुआ कि – गौर-तेज और श्याम-तेज राधा और कृष्ण अन्यान्य-आलिङ्गितरूपमें ही रहते है। इसीसे दोनों एकरूप माने जाते हैं। फलतः एक ही ज्योतिके दो विकास हैं।

इस विष्णुरूप परमेष्ठिमण्डलका अवतार होनेके कारण भगवान्-श्रीकृष्ण एवं श्रीरामका श्यामरूप था, और गौरवर्ण श्रीराधा वा सीतासे उनका सम्बन्ध था। अतिशयित प्रेम वा साहचर्य था। परमेष्ठिमण्डलको वेदमें 'गोसव' और पुराणोंमें 'गोलोक' कहा गया है; क्योंकि—गौओं-

किरणोंकी उत्पत्ति परमेष्ठिमण्डलसे ही होती है। यह गौएं प्राणविशेष हैं, हमारी 'गौ' में भी इस प्राणकी प्रधानता रहती है; इसलिए वह गाय भी हमारी पूज्य है। 'गौ' का उत्पादक और पालक होनेसे परमेष्ठी 'गोपाल' है। प्रथमतः गौ उसे प्राप्त हुई; इसलिए वह गोविन्द है; अतएव श्रीकृष्ण परमेष्ठीका अवतार होनेसे गौओंके सहचारी बने, और गोपाल वा गोविन्द कहलाये। परमेष्ठीका इन्द्रसे साहचर्य है, इसलिए श्रीकृष्ण भी इन्द्रके अंश अर्जुनके सखा बने।

चन्द्रमण्डलके अवतारमें भी कृष्णकी गणना है। चन्द्रमण्डलके प्राणों का प्रतिबिम्ब भी कृष्णचरित्रमें वर्णित हुआ दीखता है; इसलिए भाद्रपद-की कृष्ण-अष्टमीके चन्द्रके उदय होनेके समय श्रीकृष्णका अवतार जन्माष्टमी की अर्धरात्रिको माना जाता है। चन्द्रमा आपोमयमण्डल (समुद्र) में रहता है। 'चन्द्रमा अप्स्वन्तरा' (ऋ. १।१०५।१); इसलिए श्रीकृष्ण भी समुद्रके बीचमें द्वारका बनाकर रहे। रासलीलाका भी चन्द्रमासे बहुत सम्बन्ध है। चन्द्रमा राशिचक्रमें नक्षत्रों (तारों) से रासलीला करता है। नक्षत्रोंकी गणना कृत्तिकासे होती रही है। तदनुसार विशाखा (नक्षत्र) सब २८ नक्षत्रोंके मध्यवर्ती होनेसे रासेश्वरी रासमध्यवर्तिनी राधा है। अतएव उसके अग्रिम नक्षत्रका नाम 'अनुराधा' (राधासे अनुगत) है। विशाखापर जिस पूर्णिमामें चन्द्र रहता है; उस दिन सूर्य कृत्तिका पर रहता है। तब कार्तिकी पूर्णिमा रासका मुख्य दिन होता है। इस प्रकार श्रीकृष्णकी श्यामलतामें वैज्ञानिकता है; उसमें अनार्यताका कारण नहीं होता। इसलिए वेदमें राम और कृष्णका अर्थ भी कृष्णवर्णका होता है-(ऋ. १०।३।३, निरुक्त. १२।१३।२) (ऋ. ४।७।९) तत्र कृष्णवर्ण वाले राम-कृष्णके अवतारका संकेत भी वेदमें मिल गया। (वै.वि.सं.)

(ग) आगे वादी लिखता है—'जातककथामें लिखा है—वासुदेव कृष्णने जाम्बवती चाण्डाली एक तरुणीको अपनी पटरानी बनाया, वहाँ द्वारकाका भी ज़िक्र है। महाभारतकारने इस कहानीको तो रखा, पर

चाण्डालीको भालूकी बेटी कर दिया।

अब वादी बतावे कि—एक बौद्धने कृष्णको इक्ष्वाकु तथा दिशा दासीका पुत्र कह दिया, दूसरे बौद्धने कृष्णको वासुदेव (वसुदेवका लड़का) बताया; तब किसकी बात ठीक हुई? जब पहले बौद्धकी बात असत्य सिद्ध हुई, तब श्रीकृष्णको अनार्य सिद्ध करनेकेलिए एक झूठेकी हामी भरता हुआ वादी भी अनृत (झूठा) होनेसे अपने ही शब्दोंमें अप्रमाण सिद्ध हुआ, और प्रच्छन्न-बौद्ध सिद्ध हुआ।

यह तो वह बतावे कि—क्या कृष्ण जी बौद्ध थे; जोकि-बौद्धग्रन्थ उनका वर्णन करने बैठे? स्पष्ट है कि—कृष्णजी भगवान्‌के अवतार थे। उनका प्रभाव खूब बढ़ा-चढ़ा था। कहीं बौद्ध लोग उधर न बह जावें; अतः श्रीकृष्णको तथा श्रीराम-हनुमान् आदिको गिरानेकेलिए उन्होंने कई प्रकारके हथकण्डे अपनाये। महाभारतको द्वापरके अन्तमें व्यासजीने बनाया था; उस समय बौद्ध वा उनके जातक कहां थे? फिर उन्होंने भारतीय कथाओंका रूप विगाड़ दिया।

वादीके मान्य स्वा.द.जीने भी लिखा है—'वाल्मीकीय और महा-भारतादियोंमें जैनियों [और बौद्धों] का नाममात्र भी नहीं लिखा; और जैनियोंके ग्रन्थोंमें वाल्मी. और भारतमें कथित राम-कृष्णादिकी गाथा बड़े विस्तारपूर्वक लिखी है। इससे सिद्ध होता है कि—यह [जैन-बौद्ध] मत इनके पीछे चला...कोई कहे कि-जैनियोंके ग्रन्थोंमें से कथाओंको लेकर वाल्मीकि आदि ग्रन्थ बने होंगे; तो उनसे पूछना चाहिये कि-वाल्मीकीय आदिमें तुम्हारे ग्रन्थोंका नामलेख क्यों नहीं? और तुम्हारे ग्रन्थोंमें क्यों है? क्या पिताके जन्मका दर्शन पुत्र कर सकता है? कभी नहीं, इससे सिद्ध होता है कि—जैन, बौद्धमत शैव शाक्तादि-मतोंके पीछे चला है' (स.प्र. अनुभूमिका (२) पृ. (२५५) आशा है कि-वादीने इसका भी नौ वार पाठ किया होगा।

इससे स्पष्ट हो गया कि—पीछेके इन अनार्यमतोंने श्रीकृष्ण आदिको

निन्दित करनेकेलिए राम-कृष्ण आदि की निन्दा की। कृष्णका नरकमें गमन बताया। इसी प्रकार महाभारतकी कथामें जो ऋक्षकन्या लिखा था; उसीको उन्होंने बदलकर चाण्डाली लिख दिया। देवताओंने वानर और ऋक्षोंका रूप धारण किया था—यह वाल्मीकिरामायणमें स्पष्ट है। महाभारतमें उसी दिव्य-ऋक्ष जाम्बवान्की लड़की जाम्बवतीसे श्रीकृष्ण का विवाह आया है। वे कामरूप होनेसे मनुष्याकृति भी धारण करते थे। कोई मनुष्य भालूकी आकृति होलियोंमें बना ले; तब क्या वह सचमुच रीछ ही हो जावेगा? पुरुष स्त्रीका वेष धारण कर ले; क्या वह सचमुच स्त्री हो जावेगा? वस्तुतः जाम्बवान् देवताका अवतार था, सो जाम्बवती भी देवकन्या थी। पटरानी तो श्रीकृष्णकी रुक्मिणी थी। जाम्बवती रानी थी।

शेष रहा त्रेतायुगके अन्तके जाम्बवान्का द्वापरयुगके अन्त तक रहना; सो देवयोनि वालोंकी बड़ी आयु होती है। सूर्यदेवकी ही आयु देख लो, उनकी १, ९७, २९, ४९, ०९८ वर्षकी आयु है; पर हमें डर है कि कहीं वादी कह न दे कि—सूर्य भी बुद्धके बाद ही हुआ। हनुमान्का भी महाभारतमें भीमसेनसे मिलना कहा है। रामायणके द्विविद वानरका भी श्रीकृष्ण-द्वारा द्वापरमें मारना आया है। फलतः ऋक्षकन्याको चाण्डाली बताना, यह बौद्धका असम्बद्धप्रलाप है। या उसे 'ऋक्षकन्या' समझ नहीं आ सका; इसलिए उसे 'चाण्डालकन्या' कह दिया। जाम्बवान्को कहीं भी 'चाण्डाल' नहीं कहा गया। इसी निन्दाकेलिए इनके साहित्यमें कहीं सीताको रामकी बहिन लिखा है। निन्दा उसमें उनका लक्ष्य होनेसे इनका साहित्य माननीय नहीं।

(४७) जो कि वादी लिखता है—'कृष्णने लड़कपनमें गोपालनका काम किया, जो उनकी अपनी परिभाषाके अनुसार वैश्यका कर्म था। काल्पनिक महाभारतमें सारथि (शूद्र) का काम किया, जवानीमें राधाका प्रेम प्रसिद्ध है, जो दूसरे (आपन घोष) की स्त्री थी'।

गायका संरक्षण तो वेदानुकूल है। 'सा नो भूमिर्गोषु अपि अन्ने दधातु' (अथर्व. १२।१।४) यहां वेदने हम सभीको गौओंमें रहनेको कहा है; तब क्या वेद इसमें सबको वैश्य बना रहा है? कभी नहीं। हां, गायसे वृत्ति प्राप्त करना वैश्यका कार्य है। नन्द अवश्य वैश्य थे; जिनके घरमें श्रीकृष्णने बाल्यावस्था बिताई। तब उनकी गौओंको चरा लानेसे श्रीकृष्ण वैश्य कैसे हो सकते हैं, उस गोरक्षासे उन्होंने कोई वृत्ति नहीं ली। श्रीकृष्ण तो जन्मसे क्षत्रिय थे। इसलिए उनका क्षत्रियवर्णके अनुसार उपनयन भी ११ वर्षमें हुआ; नहीं तो १२ वें वर्षमें होता; देखो श्रीमद्भागवत। वर्ण जन्मवाला ही माना जाता है। फिर गीतोपदेशसे वादीने उन्हें ब्राह्मण क्यों नहीं बताया? क्या यह द्वेष नहीं? बुद्धिवादी-प्रकाशनसे चेक मिलते हैं, तब प्राचीन वस्तुकी निन्दा क्यों न की जाय? १८ दिनकेलिए रथ चलानेसे श्रीकृष्ण शूद्र कैसे हो जाएंगे; जबकि वे जन्मना क्षत्रियवर्ण थे। क्षत्रियको भी ६४ कलाएं सीखनेकेलिए रथ चलाना सीखना पड़ता है। कर्णका रथ शल्यने चलाया था; तब क्या महाभारतने शल्यको कहीं शूद्र लिखा है? प्रातः पुरुष सन्ध्यावन्दनादि करता है; तब वह क्या ब्राह्मण हो जायगा? दोपहरको रोटीके समय स्त्री वा बच्चोंसे लड़े, तो क्या क्षत्रिय हो जायगा? रातको स्त्रीसे विषय-क्रीड़ा करे, तो क्या शूद्र हो जायगा? महाशय, यह आपकी निस्सार वा तुच्छ बातें हैं—इनसे श्रीकृष्णकी निन्दा नहीं हो सकती।

(ख) राधाके विषयमें वादी अन्धेरेमें है, वे ११ वर्षसे पूर्वतक व्रजमें रहे थे, फिर कभी वहां गये नहीं; तो जवानीमें राधासे प्रेम कैसे किया? क्या वादीके पास इस विषयका कोई प्रमाण है? जिस पुराणसे वादी राधाका प्रेम दिखलाता है, वहीं लिखा है कि—हरिकी नित्यशक्ति राधा तो श्रीकृष्ण के पास रहती थी; ब्रह्माने उनका विवाह-संस्कार भी कर दिया था; पर उसकी छायारूपा राधा रायाणके घर रहती थी—'स्वयं राधा हरेः क्रोड़े छाया रायाणमन्दिरे' (ब्रह्मवै. २।४८।५३-५५, २।४९।

४३) । नाम-साम्य हो जाया करता है । यदि वादी उसी पुराणसे रायाण की पत्नी राधासे श्रीकृष्णका अनुचित सम्बन्ध सिद्ध कर दे; तव हम उसे पारितोषिक देंगे; नहीं तो उसे इस अनृत-भाषण पर प्रायश्चित करना चाहिये ।

(ग) 'युद्धमें भीष्म-द्रोण जैसे निष्पाप वीरोंका छल-कपटसे कृष्णने वध कराया, जो निन्दनीय है' । यह वादीकी बात गलत है । श्रीकृष्णने गीतामें अर्जुनको पहलेसे ही कह रखा था कि—'द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान् । मया हतांस्त्वं जहि' (गीता ११।३४) कि--द्रोण-भीष्म आदिको मैंने पहलेसे मार रखा है । 'मयैवैते निहताः पूर्वमेव. निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्' (११।३३) तू निमित्तमात्र वन जा । सो यह उनके कर्मानुसार था । अर्जुनने यह स्वयं देख भी लिया था—'भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः । वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति' (११।२६-२७); जब वे पहले ही मरे पड़े थे; तव इसमें छल-कपट कैसा ? युद्धोंमें नीतिका प्रयोग बुरा नहीं होता—अन्यायीके साथियोंको रास्तेसे दूर करनेकेलिए नीतिका प्रयोग करना कोई भी नीति-शास्त्र वा युद्धशास्त्र निषिद्ध नहीं करता । कृष्णके पीछे अशोभनीय कहानियां कोई नहीं हैं । इसमें पुराण-इतिहास साक्षी हैं । जिस समयकेलिए श्रीकृष्ण की कहानियां द्वेषियों द्वारा वताई जाती हैं, वे कृष्णकी ६-७ वर्षकी हैं । इसपर समाध न 'आलोक' (६-७) 'श्रीकृष्णका सुदर्शनचक्र' आदिमें देखो ।

(घ) फिर वादी एक विरोधी धर्मानन्द वौद्धका वचन देता है कि-'वालादित्यके समय किसी अज्ञातनाम ब्राह्मण-पण्डितने गीताकी रचना की है' । पर यह निरुपपत्तिक वा निष्प्रमाण होनेसे अनादरणीय है । यदि गीता धर्मानन्दके समय वा उससे कुछ पूर्व होती; तो धर्मानन्दको उसके कर्ताका नाम अवश्य ज्ञात होता । इससे स्पष्ट है कि-- वह वहुत पूर्वकी है । इसकी योजनाकर्ता ब्राह्मण व्यास थे—उन्होंने वही श्रीकृष्ण-प्रोक्त गीता

महाभारतके इतिहासके अन्तर्गत होनेसे उसे साथ ही महाभारतमें नथी किया । उनकी यह अपनी रचना नहीं थी । वे तो उस इतिहासके लेखक-मात्र थे । तव वादीकी निर्मूल वात स्वयं ही कट गई । ब्राह्मण भला क्षत्रियके नामसे पुस्तक क्यों लिखता, जिससे क्षत्रियोंका मान वढ़े, इससे इस ब्राह्मणको क्या लाभ था !

(ङ) जोकि वादी लिखता है—'गीताकी प्रामाणिकता वढ़ानेकेलिए भगवान्की दुहाई दी गई है; उसे काल्पनिक भगवान्के माथे थोपा गया है' । यह वादीकी ही कपोलकल्पना है । वेदकेलिए भी प्रसिद्ध है कि—वे भगवान्की वाणी हैं; वादीके मान्य स्वा.द. भी मान गये हैं; तव क्या वादी अपने ऋषि की वात मान लेगा या नहीं ? यदि हां, तो यहां वह क्यों नहीं मानता है ? कहनेवाले वेदोंको भी ठगनेकेलिए ब्राह्मण ऋषियों द्वारा वनाया जाना' कह देते हैं । करोड़ों हिन्दु जिस भगवान्को मानते हैं, उन्हें ही 'काल्पनिक' कह देना यह वादीका दुःसाहसमात्र है । वैसे काल्पनिक तो कुछ समयके वाद नानक-गुरुगोविन्दसिंह आदिको, तथा स्वा.द. आदिको भी वादी-जैसे दिमाग-फिरे कल्पित कह सकते हैं, उनका जो मूल्य होगा; वही वादीके विकृत हुए मस्तिष्कका भी है ।

(च) 'श्रद्धासे वुद्धिकी प्रखरता आँधी हो जाती है' यह वात वादीने अपने ऋषिके मान्य 'श्रद्धया सत्यमाप्यते' (यजुर्वेद सं. १९।३०) के विरुद्ध लिखी है । वादीकी यदि स्वा.द. पर श्रद्धा रही; तभी तो उसने स.प्र. को ९ वार पढ़ा; तो उसकी वुद्धि क्या आँधी हो गई ? यदि हो गई; तो फिर यह कैसे लिखा कि—इससे मुझे अपने पैरोंपर खड़ा होकर सोचनेकी शक्ति वढ़ी' ?

(छ) 'गीतामें वुद्धि-विरुद्ध वातें हैं' ऐसा गीतासे घृणा रखनेवाला ही कहता है, श्रद्धा रखनेवाला भला ऐसे कैसे कहेगा ? कोई भी अच्छीसे भी अच्छी वस्तु हो, और उससे कुसङ्गतिवश घृणा हो जावे; तो उसमें फिर दोषोंका वाहुल्य दीखने लगेगा—यह स्वाभाविक है । वादीकी

श्रद्धा बौद्ध-साहित्यपर है, अतः उसे वहाँ गुण-बाहुल्य दीखता है; उनकी गलत बातें भी वादीको सत्य दीखती हैं। परन्तु गीतासे जब अपने श्रद्धेय स्वा.द. के साहित्यकी वा बौद्धसाहित्यकी कुसङ्गतिसे घृणा हुई, फिर उसमें दोष-बाहुल्य तो दीखना ही हुआ। तभी तो अब वादीको गीताके उपदेष्टा श्रीकृष्ण भी अनार्य तथा कुत्सित-चरित्र वा दासीपुत्र दीखने लगे। 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणान्तरेण' ?

(४८) वादी लिखता है—'गीताने ईश्वरके होनेका क्या प्रमाण दिया है? केवल सत्-व्यक्त, असत्-अव्यक्त, चर-अचर ईश्वर है—यही कहना शुरू किया। अथवा सत्-सत्य, सदा रहनेवाला और असत्-झूठ या विकारी या माया। जब सत्य और असत्य दोनों ईश्वर हुए; सब धान २२ पंसेरी हो गया; तब न सत्यके प्रति श्रद्धा, न असत्यके प्रति घृणा हो सकती है'।

वादीने सिद्ध कर दिया कि—श्रद्धासे सत्यका पता लगता है, और घृणासे असत्यताकी प्रतीति होने लग जाती है। महाशय! आपने सत्से व्यक्त, तथा असत्से अव्यक्त लिया, यह तो ठीक है, क्योंकि--यह पारिभाषिक शब्द हैं; 'सत्' को सदा रहनेवाला और असत्को माया बताया, यह भी कुछ ठीक है, तभी तो कहा जाता है—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'। पर सत्-असत्का सच्चा--झूठा अर्थ आपने जनताको भ्रममें डालनेकेलिए किया है। यह ठीक नहीं। 'सदसच्चाहमर्जुन' का यह अर्थ है—'सत्--अविनाशी, असत्—विनाशी। इन्हींको अक्षर और क्षर भी (१५।१६) भी कहा जाता है। क्षर-सर्वभूत, अक्षरका अर्थ कूटस्थ है। यह दोनों ही भगवान्की परा और अपरा प्रकृति हैं। सो यहां यह भाव है कि—ये भगवान्की प्रकृतियां भगवान्से अभिन्न हैं। इसलिए भगवान्ने सत् और असत्को अपना स्वरूप कहा है, यह व्यवहार लोकदृष्टिसे कहा है।

फिर उसी भगवान्का स्वरूप 'न सत् तद् नाऽसदुच्यते' (१३।१२) भी कहा है। जो वस्तु प्रमाणों--द्वारा सिद्ध की जाती है, वह 'सत्' कही

जाती है, परन्तु परमात्माको किसी प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि—परमात्मासे सबकी सिद्धि होती है। परमात्मा तक किसी भी प्रमाणकी पहुंच नहीं है। बुद्धि भी नहीं पहुंचती। तभी तो कहा है—'यो बुद्धेः परतस्तु सः' (३।४२) उपनिषद् भी कहती हैं—'अविज्ञातं विजानताम्' (केन. २।३।(११) अतः प्रमाणों--द्वारा ज्ञानमें आनेवाली वस्तुओंसे अत्यन्त-विलक्षण होनेसे वह परमात्मा 'असत्' है—ऐसा कहा जाता है।

जिस वस्तुका अस्तित्व नहीं होता; वह असत् है, किन्तु परमात्माका अस्तित्व नहीं है—यह भी नहीं कहा जा सकता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि—परमात्मा अलौकिक है, अतः सत्—असत् दोनोंसे परे है। इन दोनों वाक्योंका परस्पर-विरोध भी हो; तथापि पूर्व कहे प्रकारसे परमात्माकी लोकोत्तरता ही सिद्ध होती है। जहां परमात्माका विधिमुखसे वर्णन होता है, वहां कहा जाता है—सब कुछ ब्रह्म ही है। सत् भी वही है, असत् भी वही है। परन्तु जब निषेधमुखसे वर्णन किया जाता है; वहां यही कहा जाता है कि—वह सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है—वेद उस समय उसे कहता है—'नाऽसदासीत्; नो सदासीत्' (ऋ. १०।१२९।१) उपनिषदात्मक वेद भी उसकेलिए कहता है—'अन्यदेव तद् विदिताद् अथो अविदितादधि' (केन. १।३) इससे उसकी सत्ता अवश्य सिद्ध होती है, पर अज्ञेयता सिद्ध हो रही है। सो यह तात्पर्य निकला कि—उस परमात्माका स्वरूप वाणी द्वारा न तो विधिमुखसे वर्णित किया जा सकता है; और न निषेधमुखसे ही। इसलिए श्रुति कहती है—वाणी उसका वर्णन नहीं कर सकती—'न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाक्' (केनो. १।३) 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तैत्ति.उ. ५।९)

सो भगवान्का वर्णन तो शाखा—चन्द्र न्यायसे थोड़ा-बहुत वर्णित किया जा सकता है कि—उस शाखाके पास चन्द्रमा है। क्या चन्द्रमा उस शाखाके पास होता है? नहीं, किन्तु समझानेकेलिए वैसे कहना पड़ता है। इससे

चन्द्रमाका कुछ पता लग जाता है। अतः यह सब भगवान्के तटस्थ लक्षण ही हैं। पर वादीने इन शास्त्रीय-शब्दोंको लौकिक सच-झूठमें लगा दिया; केवल गीताकी निन्दाकेलिए। झूठ भी यहां शास्त्रीय मानो-संसार, अर्थात्-संसाररूपमें भी वही है, सच-रूपमें ब्रह्म भी वही है। फिर यह लिखना कि-'इससे सत्यके प्रति श्रद्धा न होगी, असत्यके प्रति घृणा न होगी—यह ठीक नहीं। इन बातोंका परमात्माके स्वरूपसे क्या मतलब ? उसीको 'स एव मृत्युः, सोऽमृतम्' (अथर्व. १३।४-३।२५) कहा है, तो इसका क्या यह तात्पर्य लोगे कि-सबको मार डालनेमें इसमें प्रोत्साहन दिया गया है ? भगवान् वह है, भगवान् वह नहीं है; यह सब उसकी अलौकिकताके साधक हैं। यही ईश्वरका प्रमाण गीताने नहीं दिया है; अन्यत्र भी बहुत वर्णन किया है।

(४९) 'साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते' (६।९), 'ब्राह्मणं गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' (५।१८) इत्यादि बातें उस समयकी हैं; जब 'समलोष्टाश्मकाञ्चनः' (६।८) (सोना-ढेला जब बराबर दीखें), 'तुल्यनिन्दास्तुतिः' (१२।१९) (स्तुति-निन्दा एक मालूम हो) यह बातें सर्वसाधारण व्यवहारकी नहीं हैं, किन्तु अन्तिम परमार्थ-कोटिकी हैं। 'समदर्शिनः' का भाव भी यह है कि-सबके 'सुख-दुःख समान समझे—'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ! सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः (६।३२) सो वहां 'समदर्शिनः' का—यही भाव है; 'समवर्तिनः' अर्थ नहीं है। इस विषयमें 'आलोक' (९) के अन्तमें निबन्ध देखो। वादीको इससे साधारण जनतामें बुद्धिभेद नहीं करना चाहिये 'न बुद्धिभेदं जनयेद् अज्ञानां कर्मसंगिनाम्' (३।२६) अतः फिर पाप-पुण्यका भेद मिट जायगा, नास्तिक-आस्तिकका भेद नहीं रहेगा। यह सब वादीकी व्यर्थकी बातें हैं। इन लौकिक-व्यवहारोंका परमेश्वरके स्वरूपसे कोई सम्बन्ध नहीं है। हम इसे लोकमर्यादा कहते हैं; पर वह परमात्मा लोकोत्तर है; सो परस्पर—साम्य करना-यह वादीके

मस्तिष्ककी खराबी है, अतः यह कहना गलत है कि—सत् और असत् दोनोंको ईश्वर माननेवाला आस्तिकवाद सदाचार-दुराचारका भेद नहीं मानता' यह कहना पागलपन है; जबकि गीता यह कहती है—'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याऽकार्यव्यवस्थितौ' (१६।२४)

(ख) वादीका यह कहना भी गलत ही है कि—कृष्णचरित्रमें भी सदाचार-दुराचारका भेद नहीं रखा गया है, इस विषयमें 'आलोक' (६-७ पुष्प) देखो। जो दोष कृष्णके बताये जाते हैं, वे लौकिक-दृष्टिमें ६-७ वर्षकी आयुके हैं। उनमें दोष बताना पागलपन है।

(ग) वादी लिखता है—'कर्ता जब क्रिया करता है; तो उसका संघर्षण विषयसे होता है; और स्वयं घिसना आरम्भ होता है; उसकी शक्तिका व्यय होता है, अतः कर्ता क्रिया करनेसे अव्यय नहीं रह सकता। यदि परमेश्वर सृष्टि पैदा वा संहृत करता है, तो वह अविनाशी या अव्यय कभी नहीं रह सकता; उसका विनाश निश्चित है।'

पूर्वोक्त बात लौकिक और भौतिक शरीरवाले कर्तामें तो कथञ्चित् हो सके; पर लोकोत्तर-अलौकिक एवं अभौतिक कर्तामें कभी नहीं हो सकती। लौकिक-कारण उपादान होगा वा निमित्त; परन्तु वह तो उपादान तथा निमित्त दोनों कारण हैं। दोनों कारणोंका एकमें इकट्ठा होना—इसमें वही अलौकिकता ही कारण है। यदि वादी दोनों कारण परमात्मामें असम्भव माने, उसे नैयायिक--आदियोंकी भान्ति केवल निमित्तकारण माने; पर निमित्तकारण कभी सर्वव्यापक नहीं हो सकता; भूषणमें निमित्तकारण सुनार सर्वव्यापक नहीं होता; किन्तु उपादानकारण सुवर्ण ही सर्वव्यापक रहेगा। यदि फिर भी वादी भगवान्को निमित्त-कारणमें भी सर्वव्यापक माने; तो उसमें लोकविरुद्धता माननी पड़ेगी। यदि नास्तिक बनकर ईश्वरको न माने, केवल प्रकृतिको माने; तो जड़ वस्तु जब तक चेतनाधिष्ठित न हो; तब तक चेष्टा नहीं कर सकती। यदि प्रकृतिको चेतन मान लो; तब तो परमात्मा और प्रकृति यह नामभेदमात्र

रहेगा; १०० पैसे और एक रुपये वाला फर्क रहेगा। सो लौकिक बातों को कि—कर्ता घिसना शुरू हो जाता है—इनको अलौकिक कर्ता परमात्मामें घटानेका प्रयत्न करना वादी-द्वारा उसकी बुद्धिकी अजीर्णताका परिचायित करना है। इसमें वादी-द्वारा साल-वृक्षका दृष्टान्त देना व्यर्थ है, क्योंकि—वह लौकिक एवं भौतिक वस्तु है; अलौकिकता वा दिव्यतामें नहीं घट सकता; तब 'अविनाशी परमेश्वरके होनेमें कोई प्रमाण नहीं' यह वादीका कथन नास्तिकता-मूलक अल्पश्रुतताका फल है। अतः उसी का कथन 'अनृत' है। 'कर्ता' होनेपर भी भगवान्ने अपने आपको 'अकर्ता' भी कहा है—'तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्' (गी. ४।१३) यही अलौकिकता है।

'विनश्यत्सु-अविनश्यन्तं' (१३।२७) गीताका यह कथन 'अनृत' नहीं, किन्तु ठीक ही है-। विनाशशील बादलोंमें आकाशतत्त्वकी भांति निर्विकार चेतनतत्त्व परमेश्वर अविनाशी ही है; विनाशी शरीरोंके सङ्गसे जन्म-मरणशील वा सुखी-दुःखी नहीं। पर इससे विरुद्ध कहनेवाला वादी 'पश्यद् अक्षण्वान् न विचेतद् अन्धः' 'आंखोंवाला सुजाखा भी यदि समझ न रहा हो, वह अन्धा ही है। (अथर्व. ९।१०।१५) का उदाहरण है। 'यः पश्यति स पश्यति' (गी. १३।२७) का उदाहरण नहीं है। अतः गीताको 'अनृत' कहनेवाला वादी स्वयं 'अनृत' सिद्ध होगया।

(५०) अब आगे वादी अप्रमाणता करनेवाले दूसरे 'व्याघात' दोषकी जो वह गीतामें स्थिति अपनी पुस्तकके तृतीयाध्यायमें बताता है, हम भी उसका निराकरण वहीं कर चुके हैं। तब गीताको अप्रमाणित-करता हुआ वह अन्तमें उसके गुण दिखलाता हुआ स्वयं व्याघातदोषग्रस्त सिद्ध हुआ। कबीरदासका जो वचन वादीने उपस्थित किया है कि—'गीता पढ़कर योगी लबार हो गया है' यह व्याघातके कारण नहीं, किन्तु ज्ञान बढ़ जानेसे बहुत बोलनेवाला हो गया है—' इस अभिप्रायको रखता है—।

(ख) अब आगे वादी अप्रामाण्य करनेवाले न्यायदर्शनप्रोक्त तीसरे दोष 'पुनरुक्त' को गीतामें बताता है; पर इसका समाधान न्यायदर्शन-कारने स्वयं कर दिया है—'अनुवादोपपत्तेश्च' (२।१।६०) अर्थात् निरर्थक पुनरुक्ति तो पुनरुक्त-दोष होता है; पर सार्थक पुनरुक्ति जिससे अपना विषय दृढ हो जावे; 'अनुवाद' कहा जाता है, उसमें दोष नहीं होता। फलासक्ति-रहित कर्म करना, बल्कि उसको समझना भी कोई सुगम काम नहीं। जनता उसमें कठिनता देखती है; अतएव उसपर आचरण करनेमें झिझकती है; उसका जब तक बहुतवार अनुवाद न किया जावे; तब तक साधारण पुरुषोंके हृदयमें वह नहीं उतरता। इसलिए मीमांसकोंके अनुसार तात्पर्यनिर्णायक—लिङ्गोंमें एक 'अभ्यास' पदार्थ भी हुआ करता है। 'अभ्यास' का अर्थ है—उसे बहुत वार आवृत्त करना। सो वह वेदमें भी हैं; यदि वादी चाहे; तो हम आवृत्त वेद-मन्त्र दे सकते हैं। ऋ.सं. में ही ऐसे ४०० मन्त्र हैं; जो कई बार आवृत्त किये गये हैं। सो यह दोष तो व्यर्थ है। अत्यन्त दार्ढ्यकेलिए वह अनुवाद है।

(ग) 'सोपि मुक्तः शुभान् लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम्' (१८।७१) यहां फलासक्ति—त्याग उपदेशकी मिट्टीपलीद नहीं है, जैसाकि वादीने कहा है, किन्तु यह केवल गीताके श्रवणका फल दिखलाया है, 'मुक्तः' का अर्थ 'पापोंसे छूटा हुआ' है। अर्थात् जो वैसा आचरण न कर सके; केवल सुन भी ले, वह भी शुभ लोकोंमें प्राप्त होगा। पर जो उसे पढ़ता-पढ़ाता है, मेरे भक्तोंमें उसका उपदेश देता है, वह भी मुक्त होता है (गी. १८।६८)। जो उसपर आचरण करेगा; उसका तो कहना ही क्या? इससे यह भी सिद्ध हुआ कि—जो गीतोपदेशको असूया (दोषदृष्टि) से वा घृणासे, वा अश्रद्धा रखकर सुने-सुनावेगा, वह तो कूकर-शूकर बनेगा। यदि सन्देहमें लटका रहेगा, और अश्रद्धालु बना रहा; 'अज्ञश्चा-श्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति' (४।४०) तो उसका नाश हो जाता है—यह तात्पर्य यहां सिद्ध हो रहा है। अब वादी स्वयं समझ ले कि—वह

क्या बनेगा ! इस प्रकार अप्रामाण्यापादक अनृत, व्याघात, पुनरुक्त दोष गीतामें सिद्ध न होनेसे गीता तो शुद्ध सुवर्ण सिद्ध हो गया; पर वादी अनृत आदि-त्रिदोष-ग्रस्त सिद्ध हो गया ।

किसी कविने ठीक ही कहा है—'हे हेमकार ! परदुःखविचार-मूढ ! किं मां मुहुः क्षिपसि वारशतानि वह्नौ । सन्दीप्यते मयि सुवर्ण-गुणातिरेको लाभः, परं तव मुखे खलु भस्मपातः' (सोना सुनारको कह रहा है—ऐ सुनार, मुझे क्यों तू फूक दे-देकर आगमें वार-बार डाल रहा है । इससे मैं तो चमककर कुन्दन वनता चला जा रहा हूँ; पर तेरे मुख पर तो राख गिर रही है ।

उपसंहार ।

(५१) आगे वादी उपसंहारमें 'गीताके गुण' दिखलाता है । पहले वह गीताको 'त्रिदोषग्रस्त' वताता है; अव उसमें गुण बताता है । यह क्या 'व्याघात' नहीं ? यह क्या उपक्रम-उपसंहारकी एकता है ? 'अनृत'-ग्रस्त तो था ही वादी; 'व्याघात'-ग्रस्त भी वह हो गया । पुनरुक्त तो उसमें प्रत्यक्ष ही है; तब उस वादीकी 'गीताकी वैज्ञानिक परीक्षा' ही त्रिदोषग्रस्त सिद्ध हो गई ।

(ख) वादी लिखता है—'गीता ब्राह्मण और चाण्डालके महाभेदको अमान्य करती है (५।१८) यह प्रशंसनीय है' इसपर वादी 'आलोक' (६) पृ. ६२५-६६४ देखे । यह 'समलोष्टाश्मकाञ्चन' (१४।२४) के समयकी वात है; और सुख-दुःखको समान देखनेकी बात है, इसपर हम पहले संकेत दे भी चुके हैं ।

(ग) देव-असुरका अर्थ करता हुआ वह लिखता है—'देवताका अर्थ है दिव्यगुणयुक्त, अच्छा मनुष्य; और असुरका अर्थ है—पापी वा बुरा मनुष्य' । पर वह याद रखे कि—देव और असुर मनुष्यसे भिन्न योनि होती है, इसपर देखो 'आलोक' (४) (पृ. ४०५-४३७)

यह जो वादीने लिखा है—'कृष्णचन्द्र देव और उसके मामा कंस

असुर माने जाते हैं; पर थे दोनों मनुष्य ही' यह वादीका कथन ठीक नहीं । श्रीकृष्ण विष्णुदेवके अवतार होनेसे 'देव' कहे जा सकते हैं; पर वे इस समय थे मनुष्यरूपमें । कंस कालनेमि-दैत्यसे उग्रसेनकी स्त्रीमें वलात्कारद्वारा पैदा हुआ था—यह पुराणोंमें स्पष्ट है । अतः 'दैत्य' कहा जाता है । हाँ, किसीको कहीं स्तुतिसे देव वा ऋषि और निन्दासे दैत्य या राक्षस कहा गया हो—यह अन्य बात है । हाँ, देव-दैत्योंके गुण गीतामें बताये हैं, मनुष्यमें भी वे हो सकते हैं; पर यह नहीं कि—वे इनसे सच-मुच देव वा असुर हो जाएं । पहले वह श्रीकृष्णको 'अनार्य' और अव 'देव' कहता है—यह व्याघात है ।

(घ) यह वादीका कथन कि—'न तो वास्तवमें ईश्वर है और न आजतक उसे किसीने देखा है, न जाना है, परन्तु प्रकृतिको हम देखते हैं और जानते हैं । यही प्रकृति अपने नियमोंसे फल देती रहती है' ।

महाशय; आपने प्रकृतिको सांख्यसे सीखा है; पर सांख्य प्रकृतिको अप्रत्यक्ष वताता है; तव आप उसे प्रत्यक्ष कैसे कहते हो ? सांख्यतत्त्व-कौमुदीमें स्पष्ट लिखा है—'सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिर्नाऽभावात्, कार्यतस्त-दुपलब्धेः' (८ का.) अर्थात् प्रकृति जोकि हमें उपलब्ध नहीं हो रही; उसका कारण उसका अभाव नहीं, किन्तु सूक्ष्म होना है; पर वह प्रकृति अपने कार्योंसे हमें उपलब्ध होती है । जव ऐसा है; तो अप्रत्यक्ष भी प्रकृतिको जब तुम उसके कार्य-देखकर उसे उपलब्ध मानते हो; तव इस प्रकार सूक्ष्मतर भगवान्के भी कार्योंको देखकर भगवान्को क्यों नहीं मानते हो ?। इतनी मोटी वात भी नहीं जानते हो कि—प्रकृति परमात्मा की शक्तिका ही नाम है । शक्ति जड़ हुआ करती है । जड़ वस्तु जव तक चेतनाधिष्ठित न हो; तब तक उसमें चलनादि-क्रिया नहीं हो सकती, इससे स्वतः परमात्माकी सिद्धि होगई । क्या कुम्हारके न होनेपर दण्ड, चक्र, चीवर, मट्टी आदि पड़े होनेपर भी घड़ा अपने आप बन जावेगा ? तूलिकाएं तथा रङ्गोंकी पुड़ियाएँ पड़े होनेपर भी चित्रकार-देवदत्तके विना

ही, रङ्गोंके परमाणु स्वयं इकट्ठे हो-होकर चित्र बन जावेंगे ?

महाशय ! बौद्धोंका सत्सङ्ग (?) छोड़ो; अश्रद्धाका दामन तोड़ो! तब जाकर बुद्धिकी शुद्धि होने पर यह ज्ञान प्राप्त होगा। चरकसंहितामें लिखा है कि—इस संसारमें अप्रत्यक्ष बहुत है, प्रत्यक्ष थोड़ा, जो आगम, अनुमान तथा युक्ति आदिसे सिद्ध होता है। यह चरकसंहिताने अप्रत्यक्ष परलोककी सिद्धि करते हुए लिखा है। वहां यह शब्द हैं, जो वादी जैसे नास्तिकोंकी गालपर चपत जड़ते हुए लिखे गये हैं। पुनर्वसु आत्रेय लिखते हैं—

'तत्र बुद्धिमान् नास्तिक्य-बुद्धिं जह्याद् विचिकित्सां च' [बुद्धिमान्को नास्तिकता तथा संशय छोड़ देना चाहिए, क्योंकि—] कस्मात् ? प्रत्यक्षं हि अल्पम्, अनल्पमप्रत्यक्षमस्ति यद् आगमानुमानयुक्तिभिरुपलभ्यते' (प्रत्यक्ष संसारमें थोड़ा है, अप्रत्यक्षता बहुत अधिक है) जोकि आप्तवचन, अनुमान तथा युक्तिसे उपलब्ध हो जाता है, इसको आत्रेय फिर स्पष्ट करते हैं-) यैरेव तावदिन्द्रियैः प्रत्यक्षमुपलभ्यते; तान्येव सन्ति च अप्रत्यक्षाणि, (जिन इन्द्रियोंसे हम प्रत्यक्ष करते हैं; वे इन्द्रियां ही अप्रत्यक्ष हैं; उनको किसीने देख नहीं रखा है) (चरक. सूत्र. ११।७)

'सतां च रूपाणाम् अतिसन्निकर्षाद्, आवरणात्, करणदौर्बल्यात्, मनोनवस्थानात्, समानाभिहाराद्, अभिभवाद्, अतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः। तस्माद् अपरीक्षितमेतद् उच्यते-प्रत्यक्षमेव अस्ति, नान्यदस्तीति, (११।८) (होता हुआ भी रूप बहुत दूरी वा बहुत निकटतासे, किसी आवरणसे, इन्द्रियकी दुर्बलतासे, मनके अन्यत्र होनेसे किसी वस्तुमें घुल-मिल जानेसे, दब जानेसे और अतिसूक्ष्मतासे नहीं उपलब्ध होते। तब केवल प्रत्यक्ष ही है, उससे भिन्न कुछ नहीं; अप्रत्यक्ष होने पर वस्तु होती ही नहीं; ऐसा कहना गलत है)।

इसी प्रकार सांख्यतत्त्वकौमुदीमें श्रीईश्वरकृष्णने भी कहा है—१ अतिदूरात्, २ सामीप्याद्, ३ इन्द्रियघातात्, ४ मनोनवस्थानात्,

५ सौक्ष्म्याद्, ६ व्यवधानाद्, ७ अभिभवात्, ८ समानाभिहाराच्च, (७ कारिका)

१ होती हुई वस्तु बहुत दूरीसे नहीं दीखती। २ आंखका सुर्मा बहुत निकटता के कारण नहीं दीखता। ३ अन्धतामें रूप बहरेपनमें गीत नहीं दीख-सुन पड़ रहे होते। ४ हमारा मन अन्य ओर हो, दूसरे से दी हुई आवाज़को हम नहीं सुन पाते। ५ बहुत सूक्ष्मतासे ईश्वर परमाणु, प्रकृति नहीं दीखते। ६ दीवारके व्यवधानमें ठहरी राजाकी स्त्रीको हम नहीं देख पाते। ७ दिनमें तारे सूर्यके प्रकाशसे दबे हुए होनेसे नहीं दीखते। ८ वर्षा का पानी कूंएके पानीमें मिश्रित हो जानेसे अलग नहीं मिलता। ९ दूधमें अप्रकट दही भी हमें नहीं दीखती; तब इससे क्या यह मान लिया जावे कि—यह वस्तुएं हैं ही नहीं ? जब अप्रत्यक्ष प्रकृतिको मानते हो; तब अप्रत्यक्ष ईश्वरका भी अनुमान क्यों नहीं कर लेते हो; क्यों नास्तिक वा बौद्ध (बुद्धिगम्य बात मानने वाले) बनते हो ? यदि प्रकृति को तुम चेतन मानते हो; तब तुमने परमात्मा मान लिया; केवल नामका भेद रहा।

(ङ) गीताके लिए तुम साधु शान्तिनाथकी बात तो मान लेते हो कि—गीताकारने आत्मा, ईश्वर, प्रकृति, मुक्ति आदि विषयोंको प्रमाण द्वारा सिद्ध न करके उनकी घोषणामात्र कर दी है। उनको सिद्धान्त न कहकर केवल कल्पनामात्र कहना होगा' पर भगवान् कृष्णकी तथा लाखों-करोड़ों विद्वानोंकी बात तुम नहीं मानते ? यह क्यों ? साधु शान्तिनाथ पर ही मान्यताकी की सीमा—इयत्ता क्यों ? प्रमाणवाद तो परमात्माकी सिद्धिमें ग्रन्थोंमें ठसाठस भरा पड़ा है; पर क्या तुम प्रमाणको मानते हो ? पर तुमने क्या प्रमाण दिया है कि— ईश्वर नहीं है। क्या लोकायत (चार्वाक) का प्रमाण मानोगे ? यदि साधु शान्तिनाथको देवता वा भगवान्का दर्शन नहीं हुआ, तो उसकी समाधिमें त्रुटि होगी—यह क्यों नहीं

समझते ?

(च) पृ. ६६ में वादीने 'नरक' का अर्थ 'महादुःख' गलत किया है, यह एक लोकविशेष है, जिसका वेदादि प्राचीन साहित्यमें वर्णन आता है। नरकमें दुःख तो होता है; पर 'नरक' दुःखका पर्यायवाचक नहीं।

(छ) 'मृत्युके बाद तो सभीको मोक्ष या निर्वाण प्राप्त होता है' यह वादीका कथन गलत है। यदि ऐसा होता; तो मोक्षको परमपुरुषार्थ और सुदुर्लभ न माना जाता। उसकेलिए बड़ी तपस्या तथा योग-समाधि आदि अनुष्ठान व्यर्थ होते। सरकार अपराधियोंको प्रतिदिन जो फांसी दे रही है; तब यह मुक्ति तो कुकर्म से मिल गई। फिर सुकर्मोंका क्या लाभ हुआ ? क्या कोई किसीको मार दे, तो वह मरने वाले को कह देगा कि—मैं तुम्हारी मुक्ति कर रहा हूं। फिर सरकार उसे फांसी क्यों देती है ? फिर तो हिंसक लोग अपने द्वेष्यकी मुक्ति कर डाला करेंगे; तब तो कानून भी उन्हें नहीं रोक सकेगा। फिर उन मुक्तोंका पुनर्जन्म मानते हो, वा नहीं; उनकी कैसी व्यवस्था करोगे ? कर्म वा कर्मफल मानते हो वा नहीं ? नास्तिकोंकेलिए चरकसंहिताने ठीक ही लिखा है - 'न परीक्ष्या न च पारीक्ष्यं न कर्ता कारणं न च। न देवा नर्षयः, सिद्धाः, कर्म, कर्मफलं न च। नास्तिकस्यास्ति नैवात्मा यदृच्छोपनतात्मनः। पातकेभ्यः परं चैतत् पातकं नास्तिकग्रहः। तस्मान्मतिं विमुच्यैताम् (नास्तिक्य-बुद्धि) अमार्ग-प्रसृतां बुधः। सतां बुद्धिप्रदीपेन पश्येत् सर्वं यथातथम् (सूत्रस्थान ११। १४-१६)—(नास्तिक न तो कर्म मानता है, न कर्मफल। नास्तिक सत्यको भी नहीं मानता। नास्तिकता एक पाप है। सो नास्तिकता-बुद्धि छोड़कर सत्पुरुषोंके बुद्धिदीपकसे देखे।)

आगे वादी गीताकी अच्छी बातें बता कर लिखता है—'गीतामें और भी अच्छी बातें मिल सकती हैं, परन्तु दोषोंकी तुलनामें वे दालमें नमकके बराबर हैं'। यह केवल दोषैक-दृष्टिका फल है। 'निजदोषावृतमनसामतिसुन्दरमेव भाति विपरीतम्। पश्यति पित्तोपहतः शशिशुभ्रं

शङ्खमपि पीतम्'। तब क्या दालमें नमक भर दिया जाता है ?

(५२) आगे वादी लिखता है—'जन-धन सम्पन्नताकी जननी कामना या इच्छा है। हमारा संकल्प ही कल्पवृक्ष है, जो मांगिये--देगा, अतः मनुजीने कहा है—निष्कामतासे क्या क्रिया होगी ? निष्काम बननेसे कर्म नपुंसक हो जाता है। जो फल नहीं चाहता, उसे फल भी नहीं मिल सकता। तब गीताका निष्काम कर्म तो एक अहितकर उपदेश प्रतीत होता है'।

यह व्यर्थकी बात है। गीता सकाम कर्मका फल तो मानती ही है; पर वह इसमें बन्धन मानती है। उससे या स्वर्ग मिलेगा, या नरक या मनुष्यलोक। उसमें बार-बार विष्ठामलाकुल माताके पेटमें आना पड़ता है।

इस विषयमें शुकदेवकी एक दन्तकथा प्रसिद्ध है। शुकदेव जब घरको छोड़ भाग खड़े हुए; तो व्यासजीने पकड़ लिया, और पूछा—क्यों घरको छोड़े जा रहे हो ? उसने कहा कि—पहले मेरी एक कहानी सुन लीजिए, फिर आप जैसा कहेंगे, वैसा करूंगा। व्यासजीने कहा—सुनाओ। शुक बोला—एक राजा शामको घरके ऊपर ठहरा था; उसे एक दूसरे घरके ऊपर एक सुन्दर स्त्री ठहरी दीखी। राजाने देखा कि—वह मुझे हाथसे बुला रही है। राजा तो कामी होते ही हैं; नीचे उतर गया; और अनुमानसे उस स्त्री वाले दर्वाजेको खटखटाया। उसने दरवाजा खोलकर राजाको अन्दर करके फिर बन्द कर दिया। राजा उससे प्रेम की बातें कहने ही लगा कि—इतनेमें किंवाड़ खटखटाने की आवाज़ आई। उस स्त्रीने यह कहा—मेरा पति आया है। राजाने कहा कि—मुझे कहीं छिपा लो। कहीं वह मेरी बेइज्जती न कर दे।

स्त्रीने कहा कि—घर बहुत तंग है; आप सामने जा छिपिये। किंवाड़ बड़े ज़ोरसे खटखटाया जा रहा था। पति कहता था—जल्दी किंवाड़ खोल। दरवाज़ा खोला गया। पति कहने लगा --मेरे पेटमें दर्द है; मुझे

टट्टीका दबाव हो रहा है। आते ही वह सामने अन्धेरेमें ठहरे शौचालयमें घुस गया। उसे दस्त आया। इस तरह कई बार उसने दस्त किये। राजा जहां छिपा था; वही टट्टी थी। दस्त राजा पर पड़ते गये। वह बेइज्ज़तीके डरसे चुप रहा। बड़े सवेरे भङ्गिन आई; गैर पुरुषको देखकर चिल्लाना चाहती थी। राजाने इशारा दिया – चुप रहो। मैं तुम्हें इनाम दूंगा; मुझे साफ कर दो। राजा उस कुछ अन्धेरेके समय उस घरसे निकल गया।

तीन-चार दिनके बाद फिर राजा अपने घरके ऊपर ठहरा था; और वही स्त्री उसे फिर हाथके इशारेसे बुला रही थी। शुक बोला कि—पिता जी; वह राजा फिर उस स्त्रीके घर जावे; वा न जावे? व्यासजी बोले कि—वह बड़ा मूर्ख होगा कि—फिर वह उसी टट्टीखानेका मेहमान बने। तब शुक बोले कि—आप भी क्या मुझे बार-बार विष्ठामलसे मिले हुए उस माताके पेटमें भेजना चाहते हैं? अब व्यासजीके पास इसका कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं था। शुकने कहा कि– मैं इसी जन्म-मरणके बन्धनसे छूटनेकेलिए मुक्तिपथका पथिक बनने जा रहा हूं। शुकदेव व्यासजीके देखते ही देखते वहांसे चले गये।

फलतः विष्ठामलाकुल पेटमें बार-बार उलटे टंगनेके अतिरिक्त जन्मने-मरनेमें भी बड़ी-बड़ी पीड़ाएं मिलती हैं। परमपुरुषार्थ मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। पर निष्कामकर्मसे तो कर्मका अभाव हो जाता है। निष्काम-सुकर्मसे स्वर्ग नहीं मिलेगा। निष्काम-कुकर्मसे यदि वह कथञ्चित् हो भी जावे; कामनासे न किया गया हो, जान-बूझ कर न किया गया हो, तो नरक नहीं मिलेगा। निष्काम कर्मसे मनुष्यलोक भी नहीं मिलेगा, किन्तु कर्माऽभाववश मुक्ति मिलेगी। मुक्तिका मिलना 'कुछ' मिलना नहीं, किन्तु 'सभी कुछ' मिलना है। 'बिन मांगे मोती मिले, मांगे मिले न भीख" पर फलकी दृष्टि न हो, राग न हो, आसक्ति न हो; तो सब ठीक होगा, यह

युक्तियुक्तता है। तब गीतापर आक्षेप करना वादीकी अल्पश्रुतताका फल है।

(ख) आगे वह कहता है—'समाजका चार वर्णोंमें विभाग पर्याप्त नहीं है, अब विकसित-समाजमें बहुतसे धन्धे होगये हैं, जिनको चार वर्णोंके कर्मोंमें ठूंसना युक्तिविरुद्ध है। डाक्टर, वकील और इंजिनीयर-चार वर्णोंमें किसीमें भी ठीक-ठीक नहीं पड़ते' यह उलहना वादी आर्यसमाजको दे, जो गुण-कर्मसे वर्णव्यवस्था मानता है। जन्मना वर्णव्यवस्थामें चार वर्ण, पांचवां अवर्ण यह हैं। इनमें लड़केका पिता वाला वर्ण होता है। इनमें जो कोई वृत्ति ले, पर अपना वर्णकर्म आवश्यक है। वृत्ति भी निषिद्ध न हो। उससे किसीका गला काटना, धोका देना, किसीकी आंखों-में धूल झोंककर वा असत्य पक्ष लेकर दूसरेसे रुपया झटकना आदि ठीक नहीं होता।

(ग) अन्यायके दूर करनेकेलिए यदि कोई महात्मा समय पर उत्पन्न होता है, वह भगवान् की विभूति कही जाती है, अवतार नहीं। अवतार छः कलाओंसे उच्च होता है।

(घ) 'शरीरके अन्दर आत्मा है, जो बार-बार जन्म लेता है, इस कोई प्रमाण दिये विना गीताने मान लिया है, और उसे दोहराया है'।

महाशय, यह कोई शास्त्रार्थ (वाद की)-पुस्तक थोड़े ही थी कि—उसमें प्रमाण दिया जाता। वह तो स्वयं प्रमाण है—'मूले मूलाभावाद् अमूलं मूलम्' (सांख्यदर्शन १।६७) मूलका मूल नहीं हुआ करता। यदि गीताकार प्रमाण देते, तब तुम लोग कहते कि– अजी-इसमें युक्ति नहीं दी गई, यह कहकर कहते —'युक्तिहीनं वचस्त्याज्यं वृद्धादपि शुकादपि' युक्तिहीन वचन हम शुकदेवका भी क्यों मानें? अतः यह उलहना व्यर्थ है।

(५३) आगे वादी लिखता है—'चतुर याज्ञवल्क्यने भी ईमानदारीके आवेगमें स्वीकार कर लिया था कि—'प्रज्ञानघन एव एतेभ्यो भूतेभ्यः

समुत्थाय तानि एव अनुविनश्यति। न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' (बृ. ४।५।१३) अर्थात् आत्मा इन्हीं भूतोंसे उत्पन्न होकर उनके नष्ट होनेपर नष्ट हो जाता है; और मरे को चेतना नहीं रहती'।

यहां वादीने स.प्र. के ६ बार पढ़नेका फल दिया है; अर्थ भी गलत दिया है, और पूर्वापरको छिपाया भी है, यह दयानन्दी-आर्यसमाजी नीति है। भला बृहदारण्यक-जैसी आस्तिक उपनिषद् तथा उसके उपदेश करने वाले आस्तिक वैदिक-ऋषि याज्ञवल्क्य आत्माको मरनेवाला कैसे बतावें? क्या वे लोकायतिक थे?

इसका अर्थ तो यह है कि-बड़े ज्ञानवाला आत्मा इन भूतोंसे (समुत्थाय) प्रकट होकर (क्योंकि-भूतोंके बिना वह व्यक्त नहीं होता) (तानि एव अनुविनश्यति) उन पांच भूतोंके पृथक्-पृथक् होजानेपर तिरोहित हो जाता है; फिर अप्रकट हो जाता है, छिप जाता है। 'विनश्यति' में 'णश अदर्शने' धातु है, जिसका अर्थ अदर्शन है; उस समय वह ज्ञात नहीं होता, अन्यलोकमें चला जाता है। 'नश्' धातुका 'मरना'-अर्थ नहीं है, किन्तु 'न दीखना, अनुभवमें न आना-यह अर्थ है। नहीं तो यहां 'म्रियते' होता। (प्रेत्य) अन्य लोकमें चले जानेपर उसके (संज्ञा) लौकिक नाम आदि जो पहलेके प्रसिद्ध थे—नहीं रहते। यहां याज्ञवल्क्य की ईमानदारी सिद्ध होगई, पर वादीकी ईमानदारी रही; या बे—ईमानी; यह वह ही कह सकता है।

इस अर्थमें किसीको भ्रम न रहे; अतः मैत्रेयीके द्वारा पूर्वपक्ष उठवाकर फिर पूरा स्पष्टीकरण कर दिया गया है। वे शब्द यह हैं—'सा होवाच मैत्रेयी— अत्रैव मा भगवान् मोहान्तमापीपिपत्। न वा अहमिमं विजानामीति (अर्थात्-भूतोंके पृथक् होनेपर आत्माकी संज्ञा नहीं रहती—इसकी मुझे समझ नहीं आई, मैं मोहमें पड़ गई हूँ, इसे स्पष्ट कर दें; तब याज्ञवल्क्य बोले—(न वा अरे अहं मोहं ब्रवीमि) मैं मोह वाली बात नहीं कह रहा (अविनाशी वा अरे अयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा) यह

आत्मा विनाशी न होकर अविनाशी है, इसका उच्छेद नहीं होता।' (४।५।१४) यह याज्ञवल्क्यका वचन वादीने छिपा दिया था।

इसपर वादी शाङ्करभाष्य भी देखे—'सलिल-फेन-बुद्बुदादिवत् तेषु [भूतेषु] विनश्यत्सु अन्वेव एष विशेषात्म—खिल्यभावो विनश्यति। यथा—उदकऽलक्तकादि-हेत्वपनये सूर्यचन्द्रस्फटिकादि—प्रतिबिम्बो विनश्यति। चन्द्रादिस्वरूपमेव परमार्थतो व्यवतिष्ठते। तद्वत्-प्रज्ञानघनम् अनन्तपारं स्वच्छं व्यवतिष्ठते' (२।४।१२) (जैसे पानी आदि आश्रयके हट जानेपर सूर्य-चन्द्र आदिका प्रतिबिम्ब हट जाता है, चन्द्रमा आदि अपने स्वरूपमें ही बने रहते हैं; वैसे ही पञ्च भूतोंके होनेपर जो उनपर आत्माका प्रतिबिम्ब पड़ता है; उन पञ्चभूतोंके हट जानेपर आत्माका उनपर पड़ने वाला प्रतिबिम्ब भी हट जाता है; तब आत्मा अपने स्वरूपमें ही स्वच्छ होकर ठहरता है)

याज्ञवल्क्यने मैत्रेयीको कहा था—'न मया इदमेकस्मिन् धर्मिणि अभिहितम्, त्वयैव इदं विरुद्धधर्मत्वेन एकं वस्तु परिगृहीतं भ्रान्त्या; न तु मया उक्तम्। मया तु इदमुक्तम्—यस्तु अविद्याप्रत्युपस्थापितः कार्यकारणसम्बन्धी आत्मनः खिल्यभावः, तस्मिन् खिल्यभावे विद्यया नाशिते तन्निमित्ता या विशेष-संज्ञा शरीरादि-सम्बन्धिनी अन्यत्वदर्शन-लक्षणा, सा कार्यकारणसंघातोपाधौ प्रविलायिते नश्यति। हेत्वभावाद् उदकाद्याधारनाशादिव चन्द्रादि-प्रतिबिम्बः तन्निमित्तश्च प्रकाशादिः [नश्यति]। न पुनः परमार्थचन्द्रादित्यस्वरूपनाशवद् असंसारि-ब्रह्मस्वरूपस्य विज्ञानघनस्य नाशः; स आत्मा सर्वस्य जगतः परमार्थतो भूतनाशान्न विनाशी। विनाशी इति तु अविद्यागतखिल्यभावः विकारो नामधेयम्। अयं तु पारमार्थिकोऽविनाशी वा अरे अयमात्मा' (३।४।१३)

अर्थात्—हे मैत्रेयि! तूने ही इसे विरुद्ध धर्म मानकर भ्रान्तिसे यह समझ लिया, मैंने तो ऐसा नहीं कहा। मैंने तो यह कहा था कि-अविद्या से प्राप्त कार्यकारणसम्बन्धी-आत्माका जो खिल्यभाव था, वह खिल्यभाव

जब विद्यासे नष्ट हो जाता है, उसके निमित्तसे होनेवाली शरीरादि-सम्बन्धिनी विशेष संज्ञा देखना—सुनना आदि, वह उपाधिके नष्ट होनेपर नष्ट हो जाती है। जैसे जल आदि आधारके नष्ट होनेपर उसपर पड़ने वाला चन्द्रमा आदिका प्रतिबिम्ब तथा तन्निमित्तक चमक भी नष्ट हो जाती है, पर वास्तविक चन्द्रमा नष्ट नहीं हो जाता, किन्तु वह और अधिक स्वच्छ हो जाता है; इस प्रकार आधाररूप शरीरके नष्ट होजाने पर उसपर पड़नेवाला आत्माका प्रतिबिम्ब नष्ट होजाता है, आत्मा तो नष्ट नहीं होता; क्योंकि—वह अविनाशी है, उल्टा वह अपने स्वरूपमें आकर और अधिक स्वच्छ होजाता है—याज्ञवल्क्य मैत्रेयीको कहते हैं कि—मेरा तो पूर्वोक्त वाक्यका यह तात्पर्य था; पर तुमने उसे उल्टे रूपसे समझा। यह तुम्हारी भूल रही; इसमें मेरी भूल नहीं रही।

यहां 'संज्ञा' का 'मरे हुए को चेतना नहीं रहती' यह वादीका किया हुआ अर्थ नहीं है, किन्तु 'संज्ञा' का अर्थ 'नाम-रूपादि उपाधि नहीं रहती' यह अर्थ है। 'प्रेत्य' का अर्थ भी यहां 'आत्माका मरना' नहीं है, किन्तु पाञ्चभौतिक शरीरसे हटकर 'आत्माका परलोकमें जाना' अर्थ है। मरण शरीरका होता है, आत्माका मरण नहीं होता।

'आलोक'-पाठकोंने देख लिया होगा कि—वादीने कैसी आर्यसमाजी नीति अपनाई थी। पूर्वापरको छिपा लिया और फिर अर्थ गलत कर दिया। हम इनके ऐसे अर्थोंसे साधारण जनताकी भांति घबड़ा नहीं जाते; समझ लेते हैं कि—इन्होंने पूर्वापरको छिपाया होगा और अर्थ गलत किया होगा। उस मूल पुस्तकको उठाकर जब हम देखते और विचारते हैं; तो वही बात पाते हैं; तब फिर हम उसे जनताके सामने रख देते हैं। याज्ञवल्क्य-जैसा आत्मवादी आस्तिक भला आत्माका नाश कैसे कहे?

(५४) 'मैं लोक और वेदमें पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ' (१५।१८) मैं जो गीतामें कहा है, पर वेदमें कहीं भी परमात्माको 'पुरुषोत्तम'

नहीं कहा गया है। गीताकारके सर्वज्ञ भगवान्को मालूम नहीं था कि—वेदोंमें कहीं भी 'पुरुषोत्तम' शब्द नहीं'।

इस एक बौद्धके वाक्यको उद्धृत करके वादीने 'उष्ट्राणां च विवाहेषु गीतं गायन्ति गर्दभाः। परस्परं प्रशंसन्ति अहो रूपमहो ध्वनिः' (ऊंटोंके विवाहमें गधे गाना गाते हैं, और एक-दूसरेकी प्रशंसा करते हैं। गधा महाशय कहते हैं कि—वाह! ऊंट महाशयका कैसा सुन्दर रूप है? और ऊंट-साहब कहते हैं कि—गधे महाशयकी कैसी सुरीली आवाज है?) इस लोकोक्तिको चरितार्थ किया है। बौद्ध-कौसल्यायनजी लिखते हैं कि-'गीताकी वैज्ञानिक परीक्षा' के लेखकने अपनी बड़ी विद्वत्ता दिखलाई है, और 'वैज्ञानिक-परीक्षा' के लेखकजी कहते हैं—भदन्तजी वेदादिशास्त्रोंके बड़े विद्वान् हैं'!

आइये पाठक-अब बौद्धजीके वाक्यकी भी परीक्षा करें कि—मैं (भगवान्) वेदमें तथा लोकमें पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ। यह 'पुरुषोत्तम' शब्द वेदमें परमात्माकेलिए कहीं नहीं आया'। सो लोकमें तो 'पुरुषोत्तम' शब्द भगवान्केलिए भदन्तजीने मान लिया; अब रहा वेद। सो क्या भदन्तजीकी वेदमें भी गति है? मेरा विचार है कि—भदन्तजीको वेदका कुछ भी ज्ञान नहीं कि—वेदका परिमाण कितना है। वे वेदके विरोधी होनेसे वेद-विषयको नहीं जानते। हम उन्हें प्रेरणा करते हैं कि—वे 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालामें ४र्थ, ६ठे, ७ म, ८ म तथा १० म पुष्पको देखें; तब उन्हें वेदके स्वरूपका कुछ पता लग सकेगा।

(ख) बौद्ध जी याद रखें कि—मन्त्र और ब्राह्मण मिलकर वेद बनता है। (आपस्तम्बश्रौ. २४।१।३१) मन्त्रमें मन्त्रभागकी ११३१ संहिताएं आ जाती हैं, और ब्राह्मणमें उतने ही ब्राह्मणग्रन्थ, उतनी ही उपनिषदें तथा उतने ही आरण्यक आ जाते हैं। तब क्या भदन्तजी इतने वैदिक साहित्यको देख चुके हैं?। यदि वे कहें कि—यह पूरा वैदिक साहित्य आजकल नहीं मिलता; हम उसे कैसे देख सकते थे? यदि ऐसा है; तब

वे किस मुखसे फतवा देते हैं कि—वैदिक--साहित्यमें 'पुरुषोत्तम' शब्द नहीं मिलता।

(ग) यदि वे कहें कि--आजकलके वेद-साहित्यमें 'पुरुषोत्तम' शब्द दिखलावें; तब वे इसपर याद रखें कि--'भगवान् श्रीकृष्ण' का केवल 'पुरुषोत्तम' शब्दपर आग्रह नहीं है, किन्तु वहां भगवान्को 'उत्तमः पुरुषः' यह अर्थ इष्ट है। अर्थात्-वे इस शब्द का अर्थ इष्ट करते हैं; केवल शब्द नहीं; तभी तो भगवान् कृष्णने 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' (१५।१७) यहां 'पुरुषोत्तम' शब्द न कहकर 'उत्तम पुरुष' कहा है, और फिर 'परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः' (१३।२२) यहां परमात्माको 'परः पुरुषः' कहा है। इसलिए स्पष्ट है कि—'श्रीकृष्ण' का 'पुरुषोत्तम'-शब्दमात्रपर आग्रह नहीं है।

(घ) भदन्तजी जानते होंगे कि—निरुक्तकार श्रीयास्क 'निगम'-कहकर वेदप्रमाणको उपन्यस्त किया करते हैं। उनका वेदप्रमाण देखिये—'यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्, यस्मान्नाणीयो न ज्यायोस्ति किञ्चित्।'···तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' इत्यपि निगमो भवति' (निरु. २।३।१) यह श्वेताश्वतर-उपनिषद् (३।९) अथवा तैत्तिरीयारण्यक (प्र. १०) का मन्त्र है। इसको निरुक्तकार निगम (वेद-वचन) कहते हैं। उपनिषद् वा आरण्यक ब्राह्मणभागमें माने जाते हैं—'मन्त्र-ब्राह्मण-योर्वेदनामधेयम्' इस नियमसे ब्राह्मणभाग भी वेद होता है। सो इस वेदवचनमें परमात्माको 'पुरुषोत्तम' कहा है; इसका अर्थ है-जिस पुरुषसे कोई दूसरा 'पर' नहीं है, बड़ा नहीं है, यस्मात् किञ्चिद् ज्यायो नास्ति-जिस पुरुषसे कोई श्रेष्ठ-उत्तम नहीं है; तब भदन्तजी बतावें कि—यहां परमात्मा को 'पुरुषोत्तम' कहा गया है वा नहीं? 'पुरुषोत्तम' का अर्थ है—'उत्तम-पुरुष, 'पर-पुरुष' जिससे बढ़कर और कोई बड़ा नहीं; तब यहां 'गीता' की बात तो सिद्ध होगई कि—वेदमें मैं (भगवान्) 'उत्तम पुरुष' प्रसिद्ध हूं। तब भदन्तजीका आक्षेप परिहृत होगया।

(ङ) यदि भदन्तजी कहें कि—संहिताभागरूप वेदमें भगवान्को उत्तम पुरुष नहीं कहा गया; तब वे उसे भी सुनें—यजुर्वेद-माध्यन्दिन-संहितामें प्रसिद्ध पुरुषसूक्तको ही देख लीजिये। उसका पहला मन्त्र देखिये—'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं सर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्' (३१।१) यहां परमात्माको 'पुरुष' कहा गया है। केवल 'साधारण-पुरुष' उसे नहीं कहा गया है किन्तु 'सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष, सहस्रपात् पुरुष' बताया गया है, सो वह 'उत्तम पुरुष' हुआ वा नहीं? यह भदन्तजी अपने हृदयपर हाथ रखकर कहें। आगे उसी पुरुषसे वेदों की उत्पत्ति, ब्राह्मणादिकी उत्पत्ति तथा देवोंकी सृष्टि बताई गई है। अब भदन्तजी बतावें कि-वेदका यह पुरुष साधारण हुआ, या उत्तम?

यदि भन्तेजी कहें कि—यहां व्यङ्ग्यार्थसे तो 'उत्तम-पुरुष' कहा गया है, पर वाच्यार्थसे तो 'उत्तम पुरुष' नहीं कहा? इसपर यह प्रष्टव्य है कि—भदन्तजी क्या सबसे निकृष्ट अभिधावृत्तिके उपासक हैं, उत्तम वृत्ति व्यञ्जना-तथा उसके व्यङ्ग्यमें क्या उनकी आस्था नहीं? यदि ऐसा है; तो इस साहित्यपर उनकी आलोचनाका अधिकार ही क्या है?।

(च) 'वादितोष' न्यायसे हम उनकी यह इच्छा भी पूरी करते हैं। वे देखें—'पुरुष एवेदँ सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्' (३१।२) यहां भूत-भविष्य सभीको पुरुषरूप बताया है। वा पुरुषमें ही बताया है, सो यह साधारण पुरुषमें होता है, वा उत्तम पुरुषमें? अब भदन्तजी स्पष्ट शब्दोंमें भी देखें—'एतावान् अस्य महिमा, अतो ज्यायांश्च पूरुषः' (३१।३) यह पुरुषकी महिमा है; इस कारण वह 'ज्यायान्' पुरुष' पुरुषोत्तम अर्थात्—उत्तम पुरुष है। 'ततो विराड् अजायत विराजो अधिपूरुष.' (३१।५) उस पुरुषसे विराट् जगत् हुआ; परन्तु पुरुष विराट्से अधि-(अधिक उत्तम) है, अब इन मन्त्रोंमें पुरुषोत्तमताकी अन्य अधिक स्पष्टता क्या हो? अब भी यदि बौद्धजी अपने घोड़ेकी तीन टांगें माननेके दुराग्रहमें पड़े रहें; तब तो उसपर कुछ कहना व्यर्थ है।

(५५) 'सांख्यके नामसे १८।१३ में 'पांच कारण' बताये गये हैं, पर यह 'सांख्यदर्शन' में नहीं, यह गीताकारके 'स्मृतिभ्रंश'का नमूना है' यह वादीका कथन है' वस्तुतः यह वादीके 'ज्ञानभ्रंश'का नमूना है—जिसे पता ही नहीं कि-गीतामें 'सांख्य' शब्द किस अर्थमें है? वहां 'कृतान्ते सांख्ये प्रोक्तानि' इस शब्दके साहचर्यसे 'सांख्य' शब्द यहां 'यौगिक' है, रूढ 'सांख्यदर्शन'-वाचक नहीं। 'कृत'का अर्थ 'कर्म' है, जिसमें 'कर्मोंके अन्त' होनेका उपाय बताया गया हो; उसका नाम 'कृतान्त' है। ऐसे सांख्य-शब्दका—'चर्चा संख्या विचारणा' (अमरकोष १।५।२)—विचारशास्त्र, अथवा 'सम्यक् ख्यायते-ज्ञायते परमात्मा अनेन-इति सांख्यम्=तत्त्वज्ञान-शास्त्रम्'। शाङ्करभाष्यमें भी 'सांख्ये' का 'परमार्थवस्तुविवेक—विषये' अर्थ किया है (२।३९)। सो ज्ञानयोगके प्रतिपादक शास्त्र वेदान्तदर्शनका यहाँ अभिप्राय है।

(ख) स्वा. शङ्कराचार्यने 'सांख्ये-ज्ञातव्याः पदार्थाः संख्यायन्ते यस्मिन् शास्त्रे, तत् सांख्यम्--वेदान्तः' (१८।१३) यहां 'सांख्य' शब्दका अर्थ 'वेदान्त किया है। अब कहां गया वादीका यहां 'सांख्यदर्शन' का अर्थ। उसके गुरु डा० राधाकृष्णन् भी जब वादीके शब्दोंमें यहां 'सांख्य' का अर्थ 'वेदान्त' बताते हैं; तब वादीका अर्थ कट गया।

गीताकी शैली भी यही बताती है, उसमें सांख्यका अर्थ 'सांख्यदर्शन' नहीं है। देखिये—'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' (२।३९) वहां भी 'साँख्य' का अर्थ 'सांख्यदर्शन' नहीं, किन्तु 'ज्ञानयोग' है; तथा 'योगे'से योगदर्शन इष्ट न होकर 'कर्मयोग' इष्ट है। इसी प्रकार 'ज्ञानयोगेन सांख्यानां' (३।३) 'सांख्य-योगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः' (५।४)। यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते। एकं सांख्यं, च योगं च यः पश्यति स पश्यति' (५।५) इन पद्योंमें सर्वत्र 'सांख्ययोग' का 'ज्ञानयोग' अर्थ इष्ट रखा गया है, सांख्यदर्शन नहीं।

(ग) वादी गीताका अपना ४० वर्ष तक अध्ययन बताता है, और

दर्शनका एम.ए. करना बताता है; परन्तु उसको इतना ज्ञान नहीं कि—यह गीताका 'सांख्य' शब्द कापिल-दर्शनकेलिए नहीं हैं। गीताकी 'प्रकृति' तथा सांख्यकी प्रकृतिमें बड़ा भेद है (गी. १४।५)। गीताने प्रकृतिको अनादि तो माना है, पर नित्य नहीं माना। गीताके पुरुष तथा सांख्यके पुरुषमें बड़ा भारी अन्तर है। सांख्यदर्शन पुरुषको 'नाना' मानता है, (सां.का. १८) किन्तु गीताका सांख्य पुरुषको एक ही मानता है (१३।२२, ३०, १८।२०) इत्यादि। आशा है—वादी अपना अज्ञान समझ गया होगा। भगवान्का 'स्मृतिभ्रंशका नमूना' यहां न मानकर अपने ही 'ज्ञानभ्रंश' का नमूना समझ गया होगा।

(५६) आगे वादी अपना वेदमें भी अधिकार बताता हुआ गीताकार की 'वेदानभिज्ञता' वा 'स्मृतिभ्रंश' दिखलाता हुआ लिखता है—'ऋग्वेदमें जलदेवतापर एक मन्त्र है, जिसमें कहा हैं—'वैश्वानरो यासु अग्निः प्रविष्टः, ता आपो देवीरिह माऽवन्तु' (७।४९) (जिन जलोंमें वैश्वानर अग्नि घुसी हुई है, वह जलदेवता मेरी रक्षा करें') यहां जलमें वैश्वानर-अग्निका वास माना गया है, परन्तु गीताकार 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।...पचाम्यन्नं चतुर्विधम्' (१५।१४) में वैश्वानर अग्नि होकर चार प्रकारके अन्न (भक्ष्य, पेय, लेह्य, चोष्य) को पचाता हूं' कह गये। वैदिककालमें जलमें रहनेवाले वैश्वानरको गीताकारने प्राणी-शरीरमें अन्न पचानेका काम सौंप दिया—यह स्मृतिभ्रंश है।...'

यहां वादीने अपनेको 'वेदका बड़ा पण्डित' बतला दिया, पर उसे इतना ज्ञान नहीं कि—अग्नि सर्वव्यापक होती है। वह सूक्ष्मरूपसे जलमें भी है—यह ठीक है, किन्तु अन्यत्र भी सर्वत्र रहती है। 'वैश्वानर' का अर्थ भी यही है कि—सब नरों (प्राणियों) में व्यापक। कौशी. उपनिषद् में कहा है—'यो वै प्राणः, सा प्रज्ञा। या वा प्रज्ञा स प्राणः। सह हि एतौ शरीरे वसतः, सह उत्क्रामतः' (३।३) (प्राण और मन यह दोनों शरीरमें रहते हैं। सो मन, प्राण, वाक् तीनोंके सम्मेलनसे नई शक्ति

प्रकट हो जाती है, उसे ही वैश्वानर कहते हैं। 'अथ यः पुरुषः (आत्मा) सोऽग्निर्वैश्वानरः' (मै. उ. २।६) यही ऊष्माके रूपमें पहलेका अव्यक्त आत्मा मुर्गीके अण्डे आदिमें भी व्यक्त हुआ करता है। सो इन तीनों (मन, प्राण, वाक्)के मिलनेसे ही जीवनकी अभिव्यक्ति होती है। इसीसे वैदिक-परिभाषामें सारे जगत्को ही 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' कहा जाता है। अग्नि उसी भगवान्की शक्ति है। सो यह भी सर्वव्यापक होती है, केवल जलमें ही नहीं रहती।

उसी वैश्वानर अग्निको वेद ब्राह्मणमें भी रहनेवाला बताता हैं। देखिये—'वैश्वानरः प्रविशति अतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्' (कठो. १।१।७) अथर्वगोपथब्रा. में भी कहा है—'ब्राह्मणो ह वा इममग्निं वैश्वानरं बभार' (१।२।१०)। अथर्ववेदसं. में भी कहा है— अग्निः...ब्राह्मणान् आविवेश' (१६।५६।२) जब वैश्वानर अग्निको ब्राह्मणोंमें प्रविष्ट भी बताया है—जिसमें श्राद्धका कव्य हुत किया जाता है, 'दीप्यमानेऽग्नौ जुहोति, यो ब्राह्मणमुखे जुहोति' (महाभारत शान्ति. ३४२।६) 'वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निं' (अथर्व. १२।१।६) इस वेदमन्त्रमें पृथिवीमें भी वैश्वानर अग्निको घुसा हुआ बताता है। तब वैश्वानरको केवल जलमें रहनेवाला बताना वादीका कहां तक ठीक हो सकता है—यह वही विचारे।

निरुक्तमें जो वेदका भाष्य माना जाता है, वैश्वानर अग्निकेलिए कहा गया है—'अग्निकर्मणा च एतं (वैश्वानरं) स्तौति-वहसीति, पचसीति, दहसीति' (७।२३।१४) अर्थात्—हे वैश्वानर! तुम अपनेमें डाली हुई हविको धारण करते हो; तुम ही हमारे अन्नको पेटमें पचाते हो, और तुम ही जलाते हो'। यहां 'पचसि' से अन्नका पचाना तथा पकाना दोनों इष्ट हो जाते हैं; तब गीतामें यदि वैश्वानरका अन्न पचाना कहा है, वहां भला क्या वेदविरुद्धता हुई?

'वैश्वानरो महिम्ना विश्वकृष्टिः' (ऋ. १।५९।७) (वैश्वानर-अग्नि अपनी महिमासे सारे जगत्को अपनाये हुए है) 'वैश्वानरः...राजा हि कं

भुवनानाम्' (१।९८।१) (वैश्वानर-अग्नि सारे भूतजातका राजा अर्थात् आश्रय है। 'विश्वा ओषधीरा विवेश वैश्वानरः' (ऋ. १।९८।२) वैश्वानर अग्नि सब जड़ी-बूटियोंमें भी उनके पाककेलिए प्रविष्ट होता है। 'अग्निर्भूम्यामोषधीषु अग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु। अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेषु अग्नयः' (अथर्व. १२।१।१९) यहां पर अग्निको पृथिवी, ओषधि, जल, पत्थर, पुरुष, गाय, घोड़ा आदि सबमें व्यापक बताया गया है। इतने तथा इनसे भिन्न अन्य अनेकों वेदमन्त्रोंके होते हुए भी क्या वादीकी शक्ति है कि—वैश्वानर अग्निको वेदकालमें केवल जलमें बतावे? वस्तुतः वादीका अपना अज्ञान है कि—जो वह अल्पश्रुत होकर भी ज्ञानगम्य गीतापर कलमकुठार चलाता है।

(ख) वादी एक अन्य हास्यास्पद वार्ता कहता है कि—कोई गीताभक्त फलाहार ही पर निर्भर करते हों; तो वे कभी न बोलें कि—मैं अन्न नहीं खाता हूँ; क्योंकि—गीतानुसार फल भी अन्न है'।

महाशय! वैसे तो 'सर्वाणि नामानि आख्यातजानि' इस सिद्धान्तवश 'यदद्यते, तदन्नम्' इस व्युत्पत्तिसे सभी अन्न होते हैं; पर सभी शब्द केवल व्युत्पत्तिनिमित्तक नहीं होते, किन्तु 'प्रवृत्तिनिमित्तक' भी रहते हैं, वे लोकरूढ लिये जाते हैं। जैसे निरुक्तनुसार 'परिव्राजक' शब्दसे परिव्रजनक्रिया करने वाले सभी गृहीत हो सकते हैं; पर यह लोकरूढ नाम संन्यासीका है, चाहे वह एक स्थानपर बैठा हुआ भी हो। पर प्रतिदिन ट्रेन वा बसमें वा पैदल आ-जा रहे हुए भी हम लोग 'परिव्राजक' नहीं कहलाते। सो 'अन्न' शब्द चावल वा गेहूं आदि कई अन्नोंमें रूढ है। वे एकादशीके व्रतीको 'एकादश्यामन्ने पापानि वसन्ति' इस निषेधसे वर्जित होते हैं; पर उसमें फल, कूटू, सांवक (श्यामाक) आदि, रूढ 'अन्न' से भिन्न माने जाकर वे व्रतमें वर्जित नहीं हुआ करते। न वह उक्त निषेधक-वाक्य उसमें प्रवृत्त होता ही है; तब 'अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तम्, अन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्' इस न्यायसे 'गौः' शब्दकी 'गच्छति' इस व्युत्पत्ति

होनेपर भी, 'अश्व;' की 'अश्नुते अध्वानम्' वह व्युत्पत्ति होनेपर भी वुद्धि-प्रकाशनसंस्थामें जा रहे हुए भी अपने आप (वादी) को स्वयं वादी भी 'गौ;' और 'अश्व' शब्द-वाच्य नहीं मानेगा। आशा है—यह उदाहरण 'अन्न' शब्दपर भी वह घट गया हुआ समझ गया होगा। फिर हम इस-पर अधिक क्या लिखें ?

(५७) आगे वादी लिखता है—'अन्तिम सत्ता एक ब्रह्म नहीं, बल्कि ६३ तत्त्व हैं'। जवकि वादी इसके आगे कहता है कि—'अभी इतने ही तत्त्वोंका पता लगा है, वे संख्यामें अधिक भी हो सकते हैं'। इन सबके समाहारको वह 'प्रकृति' मानता है, तब वह इतना नहीं समझता कि—६३ तत्त्व हैं—यह वात उसने स्वयं तो नहीं जानी है, केवल वर्तमान-वैज्ञानिकोंपर विश्वास कर लिया है। जब इससे आगे अन्य संख्या बढ़ सकती है, तब यहां तक इयत्ता कैसे हो सकती है ? अब तो १०१ तत्त्वों-का पता चल चुका है। यह तो हुई प्रकृति; प्रकृतिसे अतिशायी तत्त्व हुआ परमात्मा-जिसकेलिए 'नेति-नेति' (वृहदा. ४(६)।४।२२) कहा जाता है, यदि वर्तमान वैज्ञानिकोंको को पता न लगा सके; क्योंकि—वह भौतिक-वादियोंकी पकड़में नहीं आ सकता; तव क्या उसका अस्तित्त्व नहीं माना जा सकेगा ? यदि उल्लूको दिन न दिखाई पड़ सके; तो क्या दिन होगा ही नहीं ?

महाशय, याद रख लो कि-प्रकृति जड है; वह स्वयं प्रवृत्त नहीं हो सकती; उसकेलिए प्रवर्तक चितिशक्ति भी चाहिये; वही परमात्मा है। जब तक चेतन ड्राइवर न हो; केवल इञ्जनके कल-पुर्जे स्वयं नहीं चल सकते। चित्रकार जव तक रंग-विरंगे ब्रुशोंका प्रयोग न करे; तब तक स्वयं चित्र नहीं वन जाता है। सो वैज्ञानिक नास्तिक हैं, धीरे-धीरे जब उन्हें उस परमात्माका पता चल जावेगा; तव वे स्वयं भी आस्तिक बन-जावेंगे; पर क्या वादी भी दीख रहे हुए चन्द्रमाको मानेगा ? बादलोंके आवरणमें दीख रहे द्वितीयाके चन्द्रमाका उदय नहीं मानेगा ? महाशय ! देर है, पर अन्धेर नहीं'। कभी तो समझ जाओगे !

(ख) आगे फिर वह हास्यास्पद वात कहता है—'मुर्गीके अण्डेमें सफेद और पीले भागमें कहीं मुर्गीका पता नहीं; कहीं चेतनाका भान नहीं, परन्तु सेनेकी क्रिया द्वारा मुर्गी अपने बदनकी गर्मी देकर कालक्रमसे चेतनायुक्त बच्चा उत्पन्न कर देती है। कहां वह न हिलने-जुलने वाला अचेतन, सफेद और सुनहले पदार्थयुक्त अंडा (हिरण्यगर्भ), और कहां वह चंचलचेतन बच्चा' ?।

यहां वादी निरात्मवादी बनकर अपनी कितनी अल्पश्रुतता दिखा रहा है ! उसे इतना भी ज्ञान नहीं कि-आत्मा उस समय भी उसके अन्दर पहले अव्यक्त होता है, फिर सेनेसे वा बिजलीके प्रयोगसे वह व्यक्त हो जाता है। यदि आत्मा पहले नहीं था; तो पीछे आत्मा कहांसे आगया ? क्या वादी अभावसे भावकी उत्पत्ति मानता है ? क्या वह अपना माना हुआ सिद्धान्त भी भूल गया है कि-'नासतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सत:' (गी. २।१६) ?

जब ऐसा है; तब 'मृत्यु, जीवन, और चेतना—ये प्रकृतिके गुणात्मक परिवर्तनके रूप हैं, जीव, चेतन या आत्माको इनसे भिन्न पदार्थ मानना असंगत है' वह वादीका अन्तिम वाक्य कितना असंगत सिद्ध होगया—इसमें 'आलोक'-पाठक ही प्रतिभू हों। जब वादीका अभिमत सांख्य भी प्रकृतिसे भिन्न पुरुष (आत्मा) को मानता है; तब आश्चर्य है कि—वादी उसे क्यों नहीं मानता ? इस विषयमें वह 'न्यायदर्शन' आदिको पढ़े।

इस प्रकार एक एम. ए. बी. एल. ऐडवोकेटकी 'गीताकी वैज्ञानिक-परीक्षा' सत्यं, शिवं, सुन्दरम्, न होकर 'असत्य, अशिव, और असुन्दर' सिद्ध हुई। थोड़ेसे पैसे मिलनेकी वा नास्तिकों एवं बौद्धोंमें थोड़ी सी वाह-वाह मिलनेकी प्रसन्नताकेलिए प्रकाशित की गई इस पोथीका प्रचार वादी स्वयं रोक ले; तो अच्छा हो। नहीं तो युग उससे नाक घसीटवा

कर गीताको स्वयं एक ज्ञानग्रन्थ माननेको उसे बाधित करेगा।

सम्भव है कि—इस आलोचनामें कहीं हमारी भूल भी रह गई हो; सो सुझानेपर उसे ठीक कर लिया जावेगा। हमारा आक्षेप्तासे कोई वैयक्तिक रागद्वेष नहीं; पर उसके किये हुए गलत आक्षेप हमें अनुचित मालूम हुए; अतः हमने उनका यहां परिहार कर दिया है, आशा है—'आलोक'-पाठकोंको यह विवेचन रुचिकर प्रतीत हुआ होगा। शम्।

साम्प्रदायिक-सिद्धान्त चर्चा

१० दयानन्दीय-नियोगका निरीक्षण

इस निवन्धकेलिए हमने 'आलोक' के ८ म पुष्पमें प्रतिज्ञा की थी; पर ८-६ पुष्पोंमें स्थान न निकलनेसे हम इसे १० म पुष्पमें उपस्थित करते हैं।—

(१) स्वा.द.जीने स.प्र. आदि अपने ग्रन्थोंमें जैसा 'नियोग' लिखा है, वह उनके मस्तिष्कसे निकला हुआ नया आविष्कार है, शास्त्रोंमें उसका गन्ध भी नहीं। जोकि उनने शास्त्रोंमें उसका आभास दिखलाया है; उसका समाधान हमने 'आलोक' ८म पुष्पमें दिखला दिया है। अब उनके नियोगका निरीक्षण किया जाता है।

(१) (प्रश्न) नियोग मरे पीछे ही होता है वा जीते पतिके भी? (उत्तर) जीते भी होता है—'अन्यमिच्छस्व सुभगे! पतिं मत्' (ऋ. १०।१०) जब पति सन्तानोत्पत्तिमें असमर्थ होवे; तब अपनी स्त्रीको आज्ञा देवे कि—हे सुभगे! सौभाग्यकी इच्छा करनेवाली स्त्री! (?) तू मुझसे दूसरे पतिकी इच्छा कर, क्योंकि—अब मुझसे सन्तानोत्पत्ति न हो सकेगी।

[यह बात मन्त्रमें नहीं कही गई है; अतः स्वामीने यह मन्त्रार्थमें प्रक्षेप किया है]।

तब स्त्री दूसरेसे नियोग [मैथुन] करके सन्तानोत्पत्ति करे।...वैसे ही स्त्री भी...पतिको आज्ञा (?) देवे कि—हे स्वामी! आप सन्तानोत्पत्तिकी इच्छा मुझसे छोड़के किसी दूसरी विधवा स्त्रीसे [जब वह सधवा है, तो पतिको भी अन्य सधवाकेलिए क्यों नहीं कहा, जिसका पति भी सन्तानोत्पत्तिमें असमर्थ हो?] नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कीजिये [यह भी उक्त-मन्त्रमें कहीं नहीं कहा; यह स्वा.द.जीका प्रक्षेप है]।

जैसाकि-पाण्डु राजाकी स्त्री कुन्ती और माद्री आदिने किया [वहां शापका कारण था, असामर्थ्य नहीं; और फिर वहां मैथुन भी नहीं हुआ; इसकेलिए ८म पुष्पमें 'नियोग-और मैथुन (१) देखिये] और जैसा व्यासजीने चित्राङ्गद और विचित्र-वीर्यके मर जानेके पश्चात् उन अपने भाइयोंकी स्त्रियोंसे नियोग-करके अम्बिकामें धृतराष्ट्र और अम्बालिकामें पाण्डु और दासीमें विदुरकी उत्पत्ति की [यह स्वामीका ऐतिहासिक असत्य अथवा अज्ञान है। चित्राङ्गद तो विवाहसे पूर्व ही मर चुका था, दोनों स्त्रियाँ विचित्रवीर्यकी थीं—इस विषयमें ८म पुष्प देखिये। और फिर दासीका पति भी क्या नपुंसक था; क्या उसके पतिने उसे नियोग करने की आज्ञा दी थी?] इत्यादि इतिहास भी इस बातमें प्रमाण हैं' (स. प्र. ४ पृ. ७२-७३)

(यम--यमीसूक्त)

इस इतिहासके विषयमें तो हम ८ म तथा ६म पुष्पमें पूरा समाधान कर ही चुके हैं; शेष अंशोंपर कुछ विचार करते हैं।

इसमें स्वामीने 'अन्यमिच्छस्व सुभगे! पतिं मत्' (ऋ. १०।१०।१०) इस मन्त्रमें पतिकी असामर्थ्यमें अन्य पुरुषसे नियोग (मैथुन) करना रूप पतिकी आज्ञा दिखलाई है; वह तो छलमात्र है; या अज्ञान। उस समय तक स्वामीजीने पूर्णवेद देख नहीं रखे थे; क्योंकि वह इस मन्त्रमें विवक्षित नहीं है। अमरोहा (मुरादावाद) के शास्त्रार्थमें १६,२,२२ तिथिको दयानन्दी श्रीआर्यमुनिजीने 'अन्यमिच्छस्व' यह मन्त्र नियोगके

लिए नहीं माना था; किन्तु व्यभिचारिणी स्त्रीके तलाक देनेकेलिए माना था। अब दोनों गुरु-चेलोंमें कौन ठीक है ?।

(२) स्वामीजीने जो यह मन्त्र रखा है, यह यमयमीसूक्तका है। यम-यमी आपसमें भाई-वहिन थे, पति-पत्नी नहीं—यह इतिहास-प्रसिद्ध है। इसमें एक दयानन्दीने आपत्ति खड़ी की थी—"आपके मान्य पुराणोंके अनुसार तो यमकी वहिन 'यमी' नहीं थी, वरन् यमुना थी—'सुताः कन्यास्तयोर्जाता मनुर्वैवस्वतस्तथा। यमश्च यमुना चैव' (भविष्य पु. प्रति. ४।१८।२९) यमकी बहिन यमुना है, यमी नहीं (टंकारा पत्रिका अक्टू. १९६२ पृ. २१) इसमें उस दयानन्दीकी अनभिज्ञता है। यमुना भी यमीका ही दूसरा नाम है। देखिये त्रिकाण्डशेष—कोष 'तापी तु यमुना यमी' (१।१०।२८) इस विषयमें 'आलोक' ९ म पुष्प पृ. ८०८ देखें)।

(३) स्वा.द.से प्रकाशित 'वैदिक-यन्त्रालय' अजमेरमें मुद्रित मूल-ऋ.सं.में इस सूक्तके ऋषि-देवता 'वैवस्वती-यमी और वैवस्वत यम', अर्थात्—विवस्वान् (सूर्य) की पुत्री यमी, और विवस्वान्का पुत्र यम बताये गये हैं। तब क्या पति-पत्नी एक पिताकी सन्तान (भाई-बहन) होते हैं ? यदि नहीं; तब समान पितावाले होनेसे यम-यमी भाई-बहन स्पष्ट हैं। यम भी विवस्वान्का लड़का है, यमी भी विवस्वान्की लड़की है—यह अपत्य (सन्तान) अर्थ वाले अण्-प्रत्ययान्त 'वैवस्वत'-'वैवस्वती' शब्दसे स्फुट हो रहा है। इतिहासमें तो यह विषय प्रसिद्ध ही है।

केवल इतना ही नहीं, वल्कि मन्त्रके पद भी इसमें यही बताते हैं। जैसे कि—(क) 'न ते भ्राता सुभगे ! वष्टि एतत्' (ऋ. १०।१०।१२, अ. १८।१।१३) यहां यम यमीको अपना भ्राता होना बता रहा है कि-'हे बहन; तेरा भाई यह कुकृत्य नहीं चाहता'। (ख) 'पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्' (ऋ. १०।१०।१२, अ. १८।१।१४) यहां भगिनीगमनको पाप कहकर यम यमीको अपनी बहिन सिद्ध कर रहा है। 'स्वसा'

बहिनको कहते हैं। जो भगिनीगमन करता है, उसे धर्मशास्त्री विद्वान् पापी कहते हैं।

(ग) इस प्रकार 'असंयदेतन्मनसो हृदो मे भ्राता स्वसुः शयने यच्छयीय' (अ. १८।१।१४) यहां परस्पर संवाद कर रहे हुए यम-यमी का इस मन्त्रसे भाई-बहन होना स्पष्ट है कि-मैं भाई, बहनकी शय्यामें सोऊं, यह मेरे मनसे विरुद्ध है'। (घ) इस प्रकार ही 'अन्यमिच्छस्व सुभगे ! पतिं मत्' (ऋ. १०।१०।१०) इस मन्त्रमें भी वहिन-भाई यमी-यम ही वक्ता-श्रोता हैं, इसलिए वे ही इस मन्त्रमें ऋषि—देवता माने गये हैं। 'ऋषि' वक्ताको कहते हैं; 'देवता' वाच्यको। यहां 'सुभगे !' यह सम्बोधन यमीको पतिने नहीं दिया है, किन्तु उसके भ्राताने दिया है। इसी कारण इससे अगले मन्त्रमें 'न ते भ्राता सुभगे ! वष्टि एतत्' (ऋ. १०।१०।१२) यहां भ्राताका ही वहिनको 'सुभगे' यह सम्बोधन प्रत्यक्ष हैं। इस प्रकार पूर्वमन्त्र (ऋ. १०।१०।१०) में भी भ्राता ही बहिनको 'सुभगे' ! कह रहा है। समान ही प्रकरण हैं। 'सुभगे' में वही 'भग' शब्द है, जो 'भगिनी' में है। किसी भी इतिहासमें यमको यमीका पति नहीं दिखलाया गया है। तब यह भाई-बहिनका संवाद सिद्ध हुआ; और स्वा.द.से अभिमत पति-पत्नीसंवाद तथा तन्मूलक नियोग खण्डित हो गया। यहांपर यमको पति तथा मैथुनमें असमर्थ नहीं कहा गया; बल्कि-समर्थ होनेपर भी भ्राता होनेसे भगिनी-गमन अधर्म होनेसे उसे निषिद्ध किया गया है। इससे स्पष्ट दोनों भाई-बहिन सिद्ध हुए, पति--पत्नी नहीं।

(४) कई व्यक्ति 'यमस्य स्त्री यमी' ऐसा विग्रह करके 'पुंयोगा-दाख्यायाम्' (पा. ४।१।४८) इस सूत्रसे पुंयोगलक्षण ङीष् मानकर यहां पर पति-पत्नी संवाद कहते हैं, यह ठीक नहीं है। ऐसा होनेपर 'भ्राता' (अ. १८।१।१३) 'स्वसा' (अ. १८।१।१४) इत्यादि पहले कहे गये मन्त्रोंके पदोंकी विरुद्धता होती है।

'पुंयोगाद्' (४।१।४८) इस सूत्रमें पुंयोग केवल दाम्पत्यरूप नहीं है; क्योंकि-सङ्कोचमें कोई प्रमाण नहीं, किन्तु जन्यजनकभाव आदि भी पुंयोग ही होता है; तब 'भर्तृकृतान् वध-बन्धादीन्' यहां 'भर्तृ' पद उपलक्षणपरक वा यौगिक समझना चाहिये। क्योंकि सूत्रमें 'पुंयोग' कहा है, 'पतियोग' नहीं कहा है, उसके अर्थमें भी 'स्त्री' कहा है, 'पत्नी' नहीं। इसीलिए इसी सूत्रसे 'केकयकी लड़की भी 'केकयी' सिद्ध होती है। देवककी लड़की भी देवकी, श्यालकी बहिन भी श्याली, कृपकी बहिन भी कृपी, यमकी भगिनी भी यमी-इत्यादिक ऐतिहासिक प्रयोगोंका भी विरोध नहीं पड़ता। इसीलिए ४।१।४८ सूत्रके महाभाष्यके उद्योतमें 'गोपस्य स्त्री गोपी' इस अर्थमें 'अतएव 'गोपस्य भगिनी गोपी' इत्यपि भवति; जन्य-जनकभाव इव ईदृश-पुंयोगस्यापि ग्रहीतुं युक्तत्वात्' यहां पिता-पुत्री तथा भाई-बहिन अर्थ भी पुंयोग माना है। वादियोंके अनुसार तो कुमार-कुमारी भी क्या आपसमें पति-पत्नी हो जावेंगे ?।

(५) इस हमारे पक्षमें वेदका भी अनुग्रह है। देखिये—'पुंयोगादाख्यायाम्' इसी सूत्रका ही एक वार्तिक है—'सूर्याद् देवतायां चाप्' इसका उदाहरण है 'सूर्यस्य स्त्री'। 'सूर्या' वेदमें इसी सूत्रके वार्तिकसे सिद्ध सूर्या 'सूर्यकी लड़की' है, सूर्यकी पत्नी नहीं। देखिये—

'ता वां रथं वयमद्य हुवेम···अश्विनौ! यः सूर्या वहति' (अथर्व. २०।१४३।१) (हे अश्वियो! हम तुम्हारे उस रथको बुलाते हैं, जिसमें 'सूर्या' बैठी थी) यहांपर अश्वियोंके रथमें वेदने 'सूर्याका बैठना' कहा है। अब वेद अन्य मन्त्रमें उसी सूर्याको 'सूर्यकी लड़की' कहता है। देखिये - 'युवो (अश्विनोः) रथं दुहिता सूर्यस्य' (ऋ. १।११७।१३) हे अश्वियो! तुम्हारे रथमें सूर्यकी लड़की [सूर्या] बैठी थी'। केवल इसी मन्त्रमें नहीं, अन्य मन्त्रोंमें भी यही कहा है—'आ वां (अश्विनोः) रथं दुहिता सूर्यस्य' (ऋ. १।११६।१७) यहां भी वही अर्थ है। यह ठीक भी है। क्योंकि-वेदको यही अर्थ विवक्षित है। देखिये सूर्याके

सूक्तमें अपनी लड़की सूर्याका दान सूर्याके पिता सूर्यने किया था—यह स्पष्ट है। वह मन्त्र यह है—'सूर्यां पत् पत्ये···सविताऽददात्' (ऋ. १०।८५।९) 'सविता -सूर्य' दोनों पर्यायवाचक हैं; दोनों एक धातु 'पू प्रेरणे' से सिद्ध होते हैं-यह व्याकरण कृदन्त—प्रकरणमें स्पष्ट है। इस विषयमें 'गायत्री मन्त्रकी महत्ता' में हम ५ म पुष्पमें कह चुके हैं।

निरुक्तमें यद्यपि 'सूर्या'का अर्थ 'सूर्यस्य पत्नी' किया—है, तथापि वहां 'पत्नी' शब्द यौगिक होनेसे दुहितृ-वाचक है, क्योंकि वहीं निरुक्तकारने एक ब्राह्मण-वचन दिया है—'सविता सूर्यां प्रायच्छत् सोमाय राज्ञे प्रजापतये वा' (१२।८) सो कोई अपनी स्त्रीको दूसरेको नहीं देता, किन्तु लड़कीको देता है—इसपर आर्यसमाजी श्रीब्रह्ममुनिजी 'निरुक्त-सम्मर्श' (पृ. ८३९-४०) में लिखते हैं—'सविता मध्यमो देवो यदा; तदा प्रजापतये सूर्याय सूर्या दत्ता; तदा सूर्यस्य पत्नी सूर्या। यदा सविता सूर्यस्तदा सोमाय—चन्द्रमसे सूर्या दत्ता, तदा सा सूर्यस्य पत्नी—पालयितव्या, रक्षितव्या दुहितृरूपेण' 'पा रक्षणे धातोः कत्निच्प्रत्ययः (उणा. ४।२) पुनः 'कृदिकाराद्' इति ङीष्'। इससे हमारा पक्ष सिद्ध हो गया।

तब उक्त वेदमन्त्रोंकी साक्षीसे भी हमारा पक्ष सिद्ध हुआ; नहीं तो 'पुंयोगाद् आख्यायाम्' इसी सूत्रके अर्थवाले 'सूर्या' के प्रयोगमें जिसका विग्रह 'सूर्यस्य स्त्री सूर्या' ही है, 'सूर्यकी धर्मपत्नी' अर्थ करनेपर उक्त वेदमन्त्रोंका व्याकोप उपस्थित हो जाता है। सूर्या-सूक्तमें सूर्याका विवाह तथा उसका सूर्य-द्वारा पतिको दान आया है; तब क्या सूर्यने अपनी पत्नीका विवाह रचाया; और उसे क्या अन्य पतिको दिया; क्या प्रतिपक्षियोंको इतनी समझ भी नहीं ?। 'यं (गन्धं) संजभ्रुः सूर्याया विवाहे अमर्त्याः' (अथर्व. १२।१।२४) (सूर्याके विवाहमें देवताओंने यह गन्ध तैयार की थी) यहांपर सूर्याका विवाह कहा गया है; तब यदि 'सूर्या' 'सूर्यकी लड़की' नहीं, किन्तु सूर्यकी पत्नी है; तब क्या सूर्यकी पत्नीका भी विवाह किया गया है? किसीकी लड़कीका तो विवाह हुआ ही करता

है, पर यह किसीकी पत्नीका विवाह तो कभी नहीं हुआ करता !

इससे स्पष्ट है कि—'यम-यमी भाई-बहन हैं—तभी पूर्व मन्त्रोंकी सङ्गति होती है। यम-यमी इकट्ठे पैदा हुए थे जैसे कि—यम-यमी सूक्तमें स्पष्ट है; आज भी जुडवें भाई-बहनोंको 'यमज' कहा करते हैं। इसीलिए 'सर्वानुक्रमणी' में भी कहा गया है—'वैवस्वतयोर्यमयम्योः संवादः षड्युग्भिः यमी मिथुनार्थं यमं प्रोवाच। स[यमः] तां नवमीयुग्भिरनिच्छन् प्रत्याचष्टे' (१०।१०) यहीं वेदार्थदीपिकामें षड्गुरुशिष्यने कहा है—'विवस्वत्-सुतयोः यमयम्योः परस्परं संवादः। वैवस्वती यमी वैवस्वतं भ्रातरं मिथुनार्थं-मैथुनार्थं प्रोवाच—प्रणयेन उक्तवती। ततः स यमः तां यमीं स्वसारम् अनिच्छन्-मनसैव अकार्यमिति रतिस्पृहारहितः प्रत्याचष्टे-मास्म मां बाधिष्ठाः, अन्यं भजस्वेति'। इसमें हमारे पक्षको अत्यन्त स्पष्ट कर दिया गया है। इन वाक्योंका अर्थ वा तात्पर्य वही है, जिसे हम कह चुके हैं कि—बहिन यमीने भाई यमको मैथुनके लिए कहा; पर भाई यमने अकार्य समझकर निषेध कर दिया। ऐसे अर्थवादोंका-तात्पर्य केवल इतना है कि—अकेले घरमें रह-रहे हुए भाई-बहिन कहीं कुकृत्य-करने न लग पड़ें। इसी वेदके निषेधसे भाई-बहिनोंमें अब भी मर्यादा बनी हुई है। यह वैदिक-सूक्त यदि न होता; तो हिन्दुके यहां भी मुसलमानोंकी तरह भाई-बहिनका विवाह होजाता। बल्कि-मुसलमानोंपर भी इसीका प्रभाव पड़ा कि-वे भी सगी बहिनको विवाहकेलिए नहीं लेते; पर हिन्दुओंने बहिनकी सीमा अधिक रखी।

यह भी तो सोचना चाहिए कि—यदि यम-यमी पति-पत्नी होते; तो गौरी-शङ्कर, सीतारामकी तरह इन्हें भी यमी-यम कहा जाता; पर यम-यमी सूक्त कहा जाता है, यमी-यमसूक्त नहीं।

निरुक्तकारने भी यम-यमी दोनोंकी उत्पत्ति एक सूर्यसे ही कही है, देखिए—'त्वाष्ट्री सरण्यूः विवस्वत आदित्यात् यमौ मिथुनौ (यम-यम्यौ) जनयाञ्चकार' (१२।१०।२) 'सवर्णाम् अददुर्विवस्वते···द्वौ मिथुनौ

सरण्यूः···यमं च यमीं च' (१२।१०।१); तब वे भाई-बहिन हुए। उसी बहिनकी कामुकताको निरुक्तकारने भाई यम-द्वारा निन्द्य कहा है—'यमी यमं चकमे, (कामयामास), तां प्रत्याचचक्षे' (नि. ११।३४।१) श्रीदुर्गाचार्यने भी भाष्यमें लिखा है - 'यमी किल यमं चकमे (कामयामास) भ्रातरम्। तां किल यमोऽनया ऋचा प्रत्याचचक्षे'।

उसमें यमी भोले-भालेपनसे, वा स्त्रियोंके शास्त्रोंके अपरिचयवश अशिक्षितत्वके सिद्धान्तवश, अथवा 'स्त्रीणां कामश्चाष्टगुणः स्मृतः' इस कारणसे, अथवा भाई-बहिनका सम्बन्ध कभी होवे ही नहीं-इस प्रचारके निमित्त (ऐसे भूतार्थवाद शास्त्रोंमें आया करते हैं।) यमी यमको कहती है कि—

'गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर् देवः त्वष्टा सविता विश्वरूपः' (ऋ.-१०।१०।५) सविता (सूर्य) ने हम दोनोंको एक गर्भमें इकट्ठा रखा, अतः हमें उसने पति-पत्नी बनाया है; इसलिए तू मेरा भ्राता न होकर 'भर्ता बन'। 'जायेव पत्ये' (ऋ. १०।१०।७) इस उपमासे भी यम-यमीका पति-पत्नीभाव खण्डित होता है; क्यों कि—उपमान उपमेयसे भिन्न हुआ करता है। इसीलिए 'यमीर्यमस्य विवृहाद् अजामि' (ऋ. १०।१०।९) यहां जामि (बहन) यमीने अजामि (न बहन) वाला व्यवहार प्रार्थित किया है। पहले ही पति-पत्नी होनेपर बहिन वाले व्यवहारका निषेध अप्रासङ्गिक होता। क्योंकि-वहां जामि (बहिन) वाला व्यवहार असम्भव होनेसे उसका निषेध अप्रसक्त होता 'प्राप्तौ सत्यां हि निषेधो भवति' प्राप्त होनेपर ही निषेध हुआ करता है। भाई-बहिन होनेपर भोली बहनका शास्त्रविषयक अज्ञान होनेसे अजामि-व्यवहारकी प्रार्थना, तथा ज्ञानी-यमका उसे निषेध करना सङ्गत होजाता है।

यम कहता है - 'अन्येन मद् आहनः ! याहि, तूयं तेन विवृह (ऋ.-१०।१०।८) (तू मुझ भाईसे भिन्नसे सम्बन्ध कर)। आगे वह स्पष्ट कहता है—'आ घा तानि आगच्छान् उत्तराणि युगानि, यत्र जामयः कृण-

वत् प्रजामि । उप वर्वृहि वृषभाय बाहुम् अन्यम् इच्छस्व सुभगे' ! पति मत्' (ऋ. १०।१०।१०) यह वह मन्त्र है, जिसके पूर्वके तीन पाद छिपाकर स्वा.द. जीने केवल चतुर्थपादको जनदृष्टिमें रखा; और उसका मनमाना जीवित-नियोगपरक अर्थ किया । इसका यह वास्तविक तात्पर्यार्थ है—। यम बहिन यमीको कहता है—जब (जामयः) बहिनें भाइयोंके साथ क्योंकि पूर्वापर-प्रकरण ही यही है (अजामि) न बहनों (स्त्री) वाला व्यवहार करेंगी; वे [निकृष्ट] युग (उत्तरा आगच्छन्) आगे (कलियुगके अन्तिम समयमें आवेंगे; यह युग इस योग्य नहीं है (यह आशय है) । इसलिए हे (सुभगे !) भगिनि-बहिन ! (मत् अन्यं पतिम् इच्छस्व,) मुझसे अन्य पतिको अर्थात् जोकि मुझ भ्राताको तू पति बनाना चाहती हैं, उसे छोड़कर दूसरे भ्रातृत्वसम्बन्धसे रहित किसी पतिकी इच्छा कर; उसी तुम्हारे मनोरथोंकी वर्षा करने वाले अन्यके आगे अपनी बाहें फैला ।

इससे उन प्रतिपक्षियोंका यह आक्षेप कट गया जो कहते हैं कि—'जब भ्राता स्वयं प्रथम पति नहीं है, तब अन्यको दूसरा पति 'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' कहना बन ही नहीं सकता, जबकि हम पूर्वापर-प्रकरणके अनुग्रहसे सिद्ध कर चुके हैं कि—यमी गर्भमें दोनोंके इकठ्ठा रहनेसे दोनोंको दम्पति-पतिपत्नी माननेकी भूल कर रही है (ऋ. १०।१०।५) सो जब वह भ्राताको पति बनाना चाहती हैं; तब यमका यह कहना कि—'मत् अन्यं पतिम् इच्छ' मुझसे अन्य पतिको चाह—मुझे पतिरूपमें न चाह—यह संगत ही है ।

यहांपर 'अन्य' के योगमें 'मत्' को 'अन्याराद्' (पा. २।३।२९) इस सूत्रसे अथवा 'ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च' इस वार्तिकसे पञ्चमी हुई है, जिसका अर्थ है—'मां परित्यज्य' अब यह अर्थ हुआ कि—मुझे जो तू पति बनाना चाहती है; मुझे छोड़कर दूसरेको पति बना—यह 'दूसरा' कहना सँगत' होजाता है । चाहे वह भ्राता है, पति नहीं; पर यमी तो उस भ्राताको ही पति बना रही है; तब भ्राताका अपना पतित्व छुड़ाकर

दूसरेको पति बनानेकेलिए कहना सङ्गत ही होजाता है—इस प्रकार वादियोंका आक्षेप गर्भमें ही मर जाता है ।

यह सूक्त प्रसिद्ध यम-यमी—जो देवता थे—का नित्य इतिहास दिखाकर भाई-बहिनका विवाह निषिद्ध कर रहा है कि वह भोगयोनि देवताओंमें भी नहीं होना चाहिए, कर्मयोनि मनुष्योंमें तो भला क्यों हो? यहां यम न तो नपुंसक होनेसे असमर्थ था; न ही वानप्रस्थी वा सँन्यासी था; जैसे कि वादी लोग बहाने बनाया करते हैं, किन्तु शास्त्रज्ञ पुरुष होनेसे अधर्मसे डरता था । वह भर्ता नहीं था; किन्तु भ्राता था । यह ऋसं. १०।१०।२, ४, ६, ८, १० के मन्त्रोंमें स्पष्ट है । यदि सँन्यासी होनेसे 'यम' नाम है, तो 'यमी' भी तो फिर सँन्यासिनी माननी पड़ेगी; पर यह बहाने केवल स्वा.द. के अशुद्ध अर्थके बचावकेलिए गलत हथकंडे-मात्र हैं। यदि वे लोग स्पष्ट यहां स्वा.द.को वेदानभिज्ञ बतावें; तो दयानन्दके नामसे बनी उनकी बड़ी भारी दुकानदारी नष्ट होती है; तब निर्वाह कैसे हो ? इसलिए वे बहुत बहानेबाज़ी करते रहते हैं ।

उक्त ऋ. १०।१०।१० मन्त्रमें तथा 'अन्येन मत् प्रमुदः कल्पयस्व, न ते भ्राता सुभगे ! (भगिनि !) वष्टि एतत् । (अ. १८।१।१३) 'न वा उ ते (तुझ स्वसा--बहिन यमीके) तनूं [स्व-] तन्वा संम्पपृच्यां) [शरीरको अपने शरीरसे संयुक्त नहीं करूँगा] पापम् आहुः यः स्वसारं निगच्छात्' (जो स्वसृगमन-भगिनीगमन करता है; उसे पापी कहते हैं) असंयद्-(प्रतिकूल है) एतद् मनसो हृदो मे (यह मेरे हृदयके) भ्राता स्वसुः शयने यत् शयीय (कि—मैं भाई तुझ बहिनकी शय्यामें मैथुनार्थ सोऊं) (अ. १८।१।१४) इन दो मन्त्रोंमें अत्यन्त स्पष्टता है ।

यदि यम वृद्धत्ववश वा वानप्रस्थी वा सँन्यासी होजानेसे पतित्वमें असमर्थ होता; तब यमी उसे यह न कहती कि —मैं तेरे हृदयको न जान सकी, फिर अन्य ही स्त्री तुझसे आलिङ्गन करेगी (अ. १०।१।।१५)। यदि यह पूर्वोक्त-कारणोंमे उसे रतिदान देनेमें असमर्थ होता; तब यमी

उसका अन्य स्त्रीसे मैथुन न दिखलाती। जो उसकी वृद्धत्वादिवश वा संन्यासी आदि होनेसे कामपूर्ति नहीं कर सकता; यह अन्य भी स्त्रीकी कामपूर्ति क्या कर सकेगा—यह तो यमीके आगे सर्वथा स्पष्ट है; तब प्रतिपक्षियोंका उक्त बहाना लचर है। तब यहां दयानन्दोक्त नियोग पीसा गया। उसका गन्ध भी यहां नहीं निकला। (५) तब दयानन्दी भाष्यकार श्रीजयदेवके उक्त मन्त्रोंके अर्थ अन्धपरम्परावश—'बाबा-वाक्यं प्रमाणम्' न्यायसे किये गये है। वे यह हैं; हम बीच-बीचमें उनपर टिप्पणी करते चलेंगे।—

अथर्ववेद—आ घा ता, (१८।१।११) वे उत्तरा—हमसे आगे आनेवाले भविष्यके* युगानि—पतिपत्नियों और वर-वधुएंके जोड़े [यहां पति-पत्नी वा वर-वधूके जोड़ेकी कल्पना निर्मूल की गई है; यहां तो भविष्य अर्थ इष्ट होनेसे 'युग'-शब्द कालवाचक हैं, जोड़े-वाचक नहीं; क्या वैसे जोड़े पहले कभी नहीं आये थे ?] घ—भी आगच्छान्—आने सम्भव हैं, यत्र—जिनमेंसे [यहां सप्तमीका 'से' अर्थ कैसे किया गया] जामयः—सन्तान उत्पन्न करनेमें समर्थ कन्याएं या पुत्रवधुएं, अजामि—दोषरहित सन्तान उत्पन्न कृणवन्—करेंगी [यहां जामि-अजामि यह दो प्रतिद्वन्द्वी पद हैं, जिनका अर्थ बराबरका होगा; यहां अजामिका 'दोषरहित सन्तान' अर्थ कर देना निर्मूल है, उनकी कोई तुक भी नहीं। तब क्या मन्त्रके समयमें कन्याएं सदोष सन्तान उत्पन्न किया करती थीं ? यह कितनी बड़ी असङ्गति है !!!]

इसलिए हे सुभगे—उत्तम भाग्यशालिनी स्त्रि ! तू वीर्य-सेचनमें समर्थ वीर्यवान् पुरुषकेलिए अपनी बाहुको सिरहानेके समान लगा, उसको सुखी कर [नियोगमें काम वर्जित होता है; तब दूसरेको सुखी करना क्या व्यभिचार न होगा ? और वह भाग्यशालिनी क्या होगी; जोकि दूसरेके पास जाती है, वह तो दुर्भगा होगी !] और मुझ सन्तान उत्पन्न

* इससे यम-यमीका इतिहास सिद्ध है।

करनेमें असमर्थ [यह किन पदोंका अर्थ है ?] पुरुषसे अन्य—दूसरे पुरुषको अपना पति चाह [नियोगी कभी पति नहीं होता; अतः यह अर्थ असंगत है] यह मेरी आज्ञा है [यह किन शब्दोंका अर्थ है ?[

'आलोक' पाठकोंने देख लिया कि—यह कितना निर्मूल अर्थ है; इसकी कुछ भी संगति नहीं]

अब अग्रिम मन्त्र देखिये-'किं भ्राताऽसद् यद् अनाथं भवाति, किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्। काममूता बह्वे एतद् रपामि, तन्वा मे तन्वं संपिपृग्धि (१२) इसका भाव यह है यमी कहती है कि—वह भ्राता क्या हुआ, जिसके होनेपर भी बहिन अनाथ रहे, यहां लिङ्गका व्यत्यय है, वह बहिन क्या हुई कि—जिसके होते हुए भाईको दुःख रहे। मैं कामसे बन्धी हुई यह तुम्हें बलसे कहती हूं कि-मेरे शरीरसे अपने शरीरको मिला'।

इससे वेदने सूचित किया है कि—भाई-बहन अकेले घरमें रहने वाले हों; और दोनों युवा हों; तो उनमें कुत्सित भावना हो सकती है, जैसे कि—इसीके अनुवादमें वेदज्ञ मनुजीने सूचित किया है—'मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्। बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति' (२।२१५) (बहिन आदिके साथ भ्राता आदि एकान्तमें न बैठें; क्यों कि—बलवान् इन्द्रियां विद्वान्को भी खींच लिया करती हैं) वेदने यमीके द्वारा यह प्रबल भावना दिखलाई है; पर वेदको यह भावना न्याय्य इष्ट नहीं; अतः उसने यमके द्वारा उसका प्रबल निषेध कराया है; पर प्रतिपक्षी लोग अपने स्वामीके अशुद्ध अर्थकी लकीर पीटते हुए कि कहीं उनके नामकी चलाई दुकानदारी चौपट न हो जावे, अशुद्ध अर्थ करते हैं—

'किं भ्राता, हे प्रियतम ! किं भ्राता असत्—क्या आप भाई हैं ? [कितना विरुद्ध अर्थ है; कि—पतिको प्रियतम बताती हुई स्त्री फिर उसे भाई कहे !] यत् अनाथं भवाति—जिससे आप नाथके समान नहीं आचरण करते]यहां आचरण अर्थ किस पदका है ?; जो पति पतिके

समान आचरण न करे; तब क्या वह उस स्त्रीका भाई हो जाता है ?] किमु स्वसा—क्या मैं भी आपकी भगिनी हूं कि—परस्पर पुत्र उत्पन्न करनेमें निर्ऋतिः निगच्छात्—पाप लगे [यहाँ 'मैं आपकी' यह किन पदोंका अर्थ है ? 'परस्पर पुत्र उत्पन्न करनेमें' यह वेदके किन पदोंका अर्थ है ? स्पष्ट है कि—यह अर्थकर्ता द्वारा वेदार्थमें प्रक्षेप कर दिया गया है]

यद्यपि मैं आपकी वर्तमानमें पुत्र उत्पन्न करनेमें असमर्थता, नपुंसकता एवं कुछ आधि-व्याधिके विषयमें जानती हूं [यह सब जयदेवजीने स्वयं कृत्रिमतासे गढ़ा है; उक्त सूक्तके वेदमन्त्रोंमें न तो कहीं ऐसे शब्द हैं; और न कहीं ऐसा आशय वा गन्ध है।) तो भी मैं काममूता—आपके प्रति अति अभिलाषासे आविष्ट होकर यह सब कुछ कह रही हूं। (यह अर्थ भी गलत है; जब वह भी वादियोंके अनुसार उसकी नपुंसकता जानती है; तब वह 'मेरे शरीरसे शरीरको मिलाओ, अन्य स्त्री तुमसे आलिङ्गन करेगी—आदि' कैसे कह सकती है ?।)

मेरी इच्छा यह है कि—अपने देहसे मेरे शरीरको संपिपृग्धि—आप भली प्रकार आलिङ्गन करो (यह परस्पर-विरुद्ध अर्थ है, पतिकी नपुंसकताको जानती हुई स्त्री पतिको ऐसा कभी नहीं कह सकती; क्योंकि—'तन्वा मे तन्वं संपिपृग्धि' से वह स्पष्ट उसे मैथुनकेलिए कह रही है; वादी जब नपुंसककी स्त्रीको उसकी वहिन मानते हैं; तब वह उसे मैथुनकेलिए क्यों कह रही हैं; तब फिर वादी यम-यमीको सीधा जन्मसे भाई-बहन क्यों नहीं मान लेते ? क्यों गलत हेरफेर कर रहे हैं) (१२)

'न ते नाथं' (१३) ते नाथं अहं नास्मि—तेरे पुत्र—लाभके प्रयोजन को मैं पूर्ण करनेमें समर्थ नहीं हूँ।

(यह बनावटी अर्थ है, किसी भी पक्षका अर्थ नहीं है। यहां तो भाई बहनको कह रहा है कि—मैं तुम्हारा पति नहीं हूं कि तुमसे मैथुन करूं।) इसी कारण ते तनूं तन्वा न संपपृच्याम्—तेरे शरीरसे मैं अपने

शरीरका सम्पर्क नहीं करता हूं (इस सूक्तमें नपुंसकता वा असामर्थ्य यमकी कहीं भी नहीं बताई है, किन्तु मैथुनकी सामर्थ्यमें भी भाई-बहन का सम्बन्ध पाप बताया है—'पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्'।)

अत एव मद् अन्येन प्रमुदः कल्पयस्व—मेरेसे दूसरे पुरुषके साथ अपने हृदयके कामहर्षोंको प्राप्त कर [नियोगमें कामहर्षोंका निषेध है; क्योंकि-वह नियोगी उसका पति नहीं होता; 'लोभान्नास्ति—नियोगः' (वसिष्ठ. १७।५७) इसका अर्थ एक आर्यसमाजीने 'स.ध.में नियोग व्यवस्था' (पृ. ८ पं.१३-१४) में लिखा है—'कामभोगादिके लालचसे नियोग नहीं है (५७) मनुस्मृतिमें भी कामका निषेध है 'नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः। तौ उभौ पतितौ स्यातां स्नुषाग-गुरुतल्पगौ' (मनु, ९।६३) नियोगमें जो कामहर्षोंको करें; वे पतित होते हैं, वे स्नुषा वा गुरु—पत्नीमें गमन करनेवाले होते हैं। अतः यह अर्थ भ्रातृ-भगिनीपक्षमें तो घटता है, भ्राता भगिनीको अपनेसे अन्यको पति बनानेमें तो कह सकता है; अन्यथा नहीं)

हे सौभाग्यवति ! तेरे आक्षेपके अनुसार यह असमर्थ पति ते भ्राता—तेरा भ्राता ही सही (यहाँपर 'यह असमर्थ पति' 'भ्राता ही यही' यह किन पदोंका अर्थ-है ? स्पष्ट है कि--यह वेदमन्त्रोंके गले पर छुरी फेरी जा रही है)। वह 'एतत् न वष्टि' यह शरीर-सम्पर्क आदि कार्यको नहीं चाहता (जब असमर्थतावश उसकी शरीर-सम्पर्कमें शक्ति ही नहीं; तब उसका वैसी इच्छा न करनेकी बात कहना 'यावज्जीवमहं मौनी ब्रह्मचारी तु मे पिता। माता तु मम वन्ध्यासीद् अपुत्रश्च पितामहः' वाले व्याघात-दोषको निमन्त्रण देना है)।

'न वा उ ते तनूं' (१०) जब असमर्थ पति अपनी स्त्रीको अपनी बहिनके समान समझ लेता है; तब वह उसी बुद्धिसे कहता है। हे प्रियतमे ! (क्या बहिनको ऐसा सम्बोधन संस्कृत वा हिन्दीमें कभी आता है ?) ते तनूं तन्वा न सम्पिपृच्याम्—तेरे शरीरसे अपने शरीरको

अब इस पूर्वकथित वितर्कके कारणसे भी नहीं सम्पर्क कराऊं; क्योंकि-विद्वान् इसको पापमाहुः, यः स्वसारं निगच्छात्–पाप कहते हैं कि-जो वह अपनी बहिनका भोग करे (यह तो व्याघात है। जो नपुंसक भोग कर ही नहीं सकता; उसके भोगके निषेधका क्या अर्थ है?। यदि पति असमर्थतावश भोग नहीं कर सकता; तब उसकी पत्नी उसकी बहिन कैसे हो जावेगी? क्या दयानन्दी लोग विवाहका विच्छेद भी मानते हैं?। फिर पातिव्रत्य धर्म वह स्त्री क्या खाक करेगी? वह पति तो उसका रहा नहीं; वह तो भ्राता हो गया; तब वह उसे पातिव्रत्यकी आज्ञा कैसे कर सकता है?)

क्योंकि--यदि मैं भ्राता स्वसुः शयने शयीय—तेरा भाई होकर अपनी बहिनकी सेजपर सो जाऊं; तो मेरे हृदय और चित्तका यह असंयत्—संयमका भङ्ग है। (तब तो दयानन्दियोंके अनुसार भी यह भाई-बहिनका संवाद हुआ, पति-पत्नीका नहीं। यदि पति नपुंसक है; और दयानन्दियों के अनुसार भ्राता बन गया है; तब नपुंसकका मैथुन असम्भव होनेसे उसकी प्राप्ति ही नहीं; तब उसका निषेध कैसा? क्या यह अभित्तिचित्र नहीं?। पापकी बातका तो कहना ही व्यर्थ है, आश्चर्य है कि–दयानन्दी इस भाष्यके व्याघातको नहीं समझ पाते; क्योंकि दयानन्दी-रेतीली दीवारको कुछ देर तो खड़ी रखना ही है!)

अर्थात्-संयम या तपस्याके कारण जो पति-पत्नीमें भाई-बहनकी भावना हो; तो भी स्त्री पुनः संयोग करे, नष्टे मृते प्रव्रजिते' इस पराशरके विधानमें 'प्रव्रजिते' इसका यही मन्त्र आधार है।

(यह दयानन्दियोंकी कृत्रिमताका नमूना है। यहां संन्यासकी तो कुछ बात भी नहीं। न यहां कोई पुनर्विवाहका विधान है। यहां तो भाई-बहनका वर्णन है; विवाहितोंका वर्णन नहीं। मन्त्र पति-पत्नीको भाई-बहन नहीं कर रहा है, किन्तु दोनों विवस्वान्के पुत्र-पुत्री थे; अतएव वस्तुतः ही भाई–बहिन थे। बहिन अज्ञानवश उससे संभोग चाहती थी; पर भ्राता यमने उसे समझा दिया कि–यह उचित नहीं है। किसी बहिनको पता न हो कि–यह मेरा भाई है; और वह उससे विवाह वा सम्भोगकी इच्छा प्रकट करे; और भ्राताको उसका बहिन होना पता हो; तब यह उसे समझाता है कि–भाई–बहिनका मैथुन ठीक नहीं। यही इस सूक्तका आशय है। पर दयानन्दी अपने स्वामीकी बात सिद्ध करनेमें वेदके मन्त्रोंके गलेपर छुरी फेरकर उसके अर्दन-विमर्दनमें भी कुण्ठित नहीं होते। इसका हमें बड़ा खेद होता है)

बहुतसे विद्वान् यम-यमीको भाई-बहिन मानकर उनका संवाद (यहां) कराते हैं, महर्षि दयानन्दने इसको पुत्रोत्पादनमें असमर्थ पति और उसकी पत्नीके बीचका संवाद स्वीकार किया है। यही अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है; उसीको यहां दर्शाया है"।

(पर इस सूक्तमें 'पुत्रोत्पादनमें असमर्थ पति' किसी भी पदका अर्थ नहीं; अतः दयानन्दियोंका यह वेदपर पूरा अत्याचार है। स्पष्ट है कि—वे वैदिकधर्मी नहीं हैं, किन्तु दयानन्दधर्मी हैं;—यह विद्वान् पाठकोंने पूर्णतया समझ लिया होगा। इस विषयमें पाठक अधिक स्पष्टता 'आलोक' के ८-९ पुष्पोंमें 'यम-यमी' सूक्त विषयमें देखें।

इस प्रकार स्वा.द.जीसे कहा हुआ नियोग पीसा गया; क्योंकि-उक्त सूक्तमें उसका गन्ध भी नहीं। जब ऐसा है; तब जोकि स्वा.द.जीने 'आ घा ता' इस मन्त्रके तीन पाद छिपाकर उसके ४र्थ पादसे नियोगका आविष्कार निकाला है, इससे प्रतीत होता है कि–वे असत्य-व्यवहारसे भी नियोगको प्रचलित करना चाहते थे। इससे उनके आचारका भी सहजमें अनुमान हो जाता है। दयानन्दी टीकाकार श्रीजयदेवजीने भी उक्त-सूक्तमें भगवती श्रुतिपर अत्याचार तथा बलात्कार करके जो उससे गलत-बयानी दिलवाई है; इससे यमराज उन्हें कभी क्षमा नहीं करेगा; असामयिक मृत्यु देगा; वरुणके पाश श्री ज.दे.को अवश्य बांधेंगे। बल्कि

श्री ज.दे.जीका अपना आत्मा भी उन्हें धिक्कार देता रहा होगा।

(६) कई इनसे भी भयानक कट्टर-दयानन्दी श्रीचमूपति-शेरसिंह आदि हुए हैं; जिन्होंने वेदमें यौगिकतामात्रका बहाना करके 'भ्राता' का अर्थ 'भर्ता' तथा 'स्वसा' का 'पत्नी' अर्थ किया है; उन्हें जानना चाहिये कि—वेदमें केवल 'यौगिक' शब्द ही नहीं होते, किन्तु योगरूढ तथा रूढ भी होते हैं, इस विषयमें 'आलोक' ८ म पुष्प देखें। 'भ्राता, स्वसा' शब्द योगरूढ हैं; प्रकरणविरोध होनेसे इनका पति-पत्नी अर्थ यहां असम्भव है। यौगिकताकी भी सीमा हुआ करती है। अतियौगिकतामें भी भ्राता भगिनीका पति-पत्नी अर्थ एक प्रकरणमें कभी नहीं हो सकता; न ही कभी किसी प्राचीनने वैसा किया है। श्रीपाददामोदर सातवलेकर, श्रीचन्द्र-मणिपालीरत्न, श्रीराजाराम आदि बहुतसे आर्यसमाजी विद्वान् भी यहां भाई-बहिन अर्थ ही मानते हैं। इस विषयमें 'वैदिकधर्म' पत्रमें १९८२-८३ संवत्में प्रकाशित संख्याएं देखनी चाहियें। इस प्रकार सं. १९९७ ज्येष्ठ-आषाढमें प्रकाशित 'वैदिकधर्म' की संख्याएं भी देख लेनी चाहियें। तब स्वा.द.जीका अर्थ निर्मूल वा निराधार सिद्ध हुआ।

(७) आर्यसमाजी स्वा. ब्रह्ममुनिजीने अपने 'निरुक्तसम्मर्श' में यहां पर लिखा है—'सूक्तेस्मिन्. यमो-यमी च परस्पर संवदेते, तावृषी, तावेव च देवते पर्यायेण स्तः। अथ च तौ उभौ वैवस्वतौ। विवस्वान् सूर्यः तत्प्रभवौ स्त्री-पुरुषौ रात्रिदिवसौ कालात्मकौ स्तः। (जब यम-यमी दोनों ही सूर्यके लड़के हैं; तब वे भाई-बहिन ही हुए, पति-पत्नी क्या एक पिताके पुत्र होते हैं?।) तयोः संवादः परस्परं गार्हस्थ्य-संयोगवत् आलङ्कारिकोस्ति। यथा चोक्तं यास्केन—'यमी यमं चकमे, तां प्रत्याच-चक्षे'—(तब यह भाई-बहिनका संवाद ही सिद्ध हुआ।) परन्तु मध्ये पृथिवीगोलस्य वर्तमानत्वात् संयोगस्तयोरसम्भवः (जब दोनोंके मध्यमें पृथ्वी-गोलका व्यवधान है, इस कारण उनका योग ही असम्भव है; तब उन दोनोंका संवाद भी असम्भव है। यह कृत्रिमताका फल है; अतः

इनका भी पक्ष खण्डित हो गया। इस विषयमें इसी पुष्पके २१६-२१८ पृष्ठोंमें देखना चाहिये।

(८) शेष जो अन्य वेदमन्त्रोंसे स्वा.द.जीने नियोग सिद्ध करनेकी चेष्टा की है, उनपर सर्वाङ्गीण आलोचना हम 'आलोक'के ८ म पुष्पमें कर चुके हैं। पाठक उसे मंगा लें। अब स्मार्त पद्योंसे जोकि स्वामी नियोग सिद्ध करना चाहते हैं–उनपर विचार किया जाता है।—

'प्रोषितो धर्मकामार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः। विद्यार्थं षड् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् (मनु० ९।७६) विवाहित स्त्री जो विवाहित-पति धर्मके अर्थ परदेश गया हो, तो ८ वर्ष, विद्या और कीर्तिकेलिए छः, धनादि कामनाकेलिए गया हो; तो तीन वर्ष तक बाट देखके पश्चात् **नियोग करके** सन्तानोत्पत्ति कर ले। जब विवाहित पति आवे; तब नियुक्त पति छूट जावे' (स.प्र. ४ पृ. ७३)

'पश्चात् नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लें' यह शब्द स्वा.द.जीने मनुके पद्यमें न होनेपर भी बढ़ा दिये हैं। यह कैसे? इसमें किसी प्राचीन टीकाकारकी सम्मति भी नहीं है; और किसी अन्य स्मृतिकारकी भी नहीं। नियोगका भाव किसीकी आज्ञासे मैथुन करवा लेना है; सो जब पति यहां नहीं है; तब वह आज्ञा किससे ले? यदि पतिको यह पसन्द न हो; तब क्या वह घर आकर उस स्त्रीको निकाल नहीं देगा? स्त्री पतिके पीछे मैथुन चाहती है, या सन्तानोत्पत्ति? सन्तानोत्पत्ति तो वह पतिसे चाहेगी, पर-पुरुषसे क्यों चाहेगी? यदि न रह सकने से मैथुन चाहेगी; तब वह पर-पुरुषसे मिले, किसकी आज्ञासे? तब 'लूप' लगवा ले, या नहीं?। स्वा.द.जी नियोग तो कराते हैं स्त्री-पुरुषका उनके न रह सकनेसे; न रह सकनेमें तो दोनों मैथुन चाहेंगे; वहां सन्तानका क्या प्रश्न?। और फिर वहां कोई मन्त्र-संस्कार तो नहीं; वह परपुरुष उस स्त्रीमें मैथुनकेलिए अधिकृत कैसे होगा? क्या यह व्यभिचार नहीं?

पति तो उस स्त्रीका हुआ नहीं; तब क्या परपुरुषसे मैथुनकी आज्ञा

सास-ससुरसे ले ? क्या ससुर नहीं कहेगा कि---मुझसे नियोग कर ले ? क्या स्वामीजी इसे स्वीकार कर लेंगे ? या अवश्य परपुरुष ही हो ? यदि घरके किसी पुरुषसे वह मैथुन करा ले, यदि यह व्यभिचार माना जावे; तो क्या परपुरुषसे संयोग सदाचार मान लिया जावेगा ? क्या व्यभिचारका नाम ही 'वैदिक-धर्म' है ? इस मनुपद्यके विषयमें पाठक आलोक (८) पृ. ७४७ से देखें।

उक्त मनुपद्यमें नियोगका प्रकरण भी नहीं है। नियोगका प्रकरण मनु. ९।६८ तक समाप्त हो चुका है। अतः स्वामीके कलुषित मस्तिष्कका यह आविष्कार है। इस आज्ञा (नियोग) की ट्रेन, वायुयान, जहाज, डाक, तार आदि वैज्ञानिक आविष्कारोंके समय-जिनका होना स्वामीजी वेदमें भी मानते हैं— आवश्यकता नहीं थी। तब मनुजीके समय जोकि-वेदके समयके कुछ पीछे था—आवश्यकता क्या थी ?।

यहां ८,६,३ वर्षोंका अन्तर क्यों किया गया ? क्या इस समयसे पूर्व स्त्रीको कामवासना जागृत नहीं होगी ?। यदि जागृत हो जावे; तब वह दयानन्दिन-स्त्री संयम कैसे कर सकेगी—यह दयानन्दजीने क्यों न सोचा ? तब क्या वह व्यभिचार कर ले ? इससे स्पष्ट है कि-यहां नियोगका आशय नहीं। यदि कहा जावे कि-वह इतने समय तक संयम कर लेगी; तब आगे भी कर लेगी; फिर नियोगकी कल्पना कैसी ?

स्वामी विद्यासमाप्तिके बाद विवाह कहते हैं; तब अब विवाहके बाद विद्याका आदेश देते हुए स्वामी क्या छोटी आयुमें लड़का-लड़कीका विवाह मानते हैं ? यदि ऐसा है; तो १७-२४ वर्षकी लड़कीका उनका विवाह-सिद्धान्त खण्डित हो गया। यदि विदेशोंमें विद्याप्राप्तिकेलिए पुरुष जावे; तो नियत समयके बाद उसकी पत्नी तो स्वदेशमें किसीसे नियोग कर लेगी; परन्तु उसका पति विदेशमें क्या करे, यह स्वामीजीने नहीं लिखा— यह बड़ी त्रुटि रही। क्या वह अंग्रेजी-मेमोंसे नियोग कर ले, यह स्वामीजी मानेंगे ?। यदि वे मेमें न मानें; तो यह दयानन्दी—वैदिकधर्म कैसे पूरा होगा ?

दयानन्दी लोग कई विद्याओंकेलिए विलायत वा रूस वा अमेरिका आदिमें जाते हैं; यदि वे छठे वर्षमें उन परीक्षाओंमें पास न हों; सातवें वर्षमें पास हों; और सर्टिफिकेट लेकर घर आ जावें; तब इधरसे उनकी पत्नी भी नियोगका सर्टिफिकेट प्राप्त कर चुकी होगी। तब दयानन्दी समाज धन्य हो जायगा। वह सन्तान नियोगीकी होगी या विवाहित-पतिकी, यह स्वामीजीने लिखनेकी कृपा नहीं की। बिना मन्त्रसंस्कारके होनेवाला नियोग-नामक व्यभिचार भी यदि वैदिकधर्म है; तो ऐसे वैदिकधर्मको नमस्कार हो। वस्तुतः उक्त मनुपद्यकी पूर्ति वसिष्ठ-धर्मसूत्रके सूत्रसे होती है, इस विषयमें 'आलोक' ८ म पुष्पमें पाठक देखें। (पृ. ७४७-७५१)

यदि ७-८ वर्ष पति—वियोगके बाद स्त्रीका पुनर्विवाह वा नियोग वैध होता; तो सौदास-राजा वसिष्ठजीके शापसे १२ वर्ष राक्षस बना रहा; तब उसकी रानीने द्वितीय—विवाह क्यों नहीं किया ? लक्ष्मणके १४ वर्षके वियोगमें ऊर्मिलाने द्वितीय विवाह क्यों न किया ? श्रीरामके वियोगमें श्रीसीताने लङ्कामें नियोग क्यों नहीं किया ? अतः यह स्वा. द.जीका निर्मूल पक्ष है।

(९) स्वामीजी अन्य नियोग बताते हैं —'वन्ध्याऽष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा। एकादशे स्त्री-जननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी' (मनु. ९। ८१) वैसे ही पुरुषकेलिये भी नियम है कि—वन्ध्या हो तो आठवें (विवाहसे ८ वर्ष तक स्त्रीको गर्भ न रहे); सन्तान होकर मर जावे तो १० वें, जब-जब हो, तब-तब कन्या ही होवे, पुत्र न हो तो ११ वें वर्ष तक, और जो अप्रिय बोलने वाली हो; तो सद्यः उस स्त्रीको छोड़कर दूसरी स्त्रीसे नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लेवे, (स.प्र. ४ पृ. ७३)।

यह अर्थ भी स्वामीका ठीक नहीं। मनुजी इस पद्यसे ऐसी स्त्री होनेपर उस पतिका पुनर्विवाह कहते हैं; नियोग नहीं। 'अधिवेद्या' का अर्थ है —'तत्स्त्र्युपरि अन्यो विवाहः कार्यः'। देखिये इसपर टीका-

कारोंकी सम्मति—आलोक (८) पृ. ७५२ में । याज्ञवल्क्य-स्मृतिकी मिताक्षरामें कहा है—'यस्या उपरि विवाहः सा अधिविन्ना' व्यवहाराध्याय (८।१४८) । 'अधिवेदनम्—भार्यान्तरपरिग्रहः' (आचाराध्याय ३।७३) । 'अधिवेत्तव्या—तदुपरि स्त्र्यन्तरं कर्तव्यमित्यर्थः' (पारस्करगृह्यसूत्रके गदाधरभाष्य १।८ में) । आर्यसमाजी श्रीतुलसीरामने अपनी मनु० टीकामें (९।८०) भी लिखा है—'ऐसी स्त्री हो तो, उसके रहते उसे दूसरी स्त्री करनी उचित है' । ९।८२ में लिखा है—'दूसरी स्त्री करे' । यही अर्थ स्वा.द.जीने प्रथम स.प्र. (१८७५) के पृ. १४६ पं. ६ में किया है । इस प्रकार आर्यसमाजी आर्यमुनिजी तथा श्रीराजाराम शास्त्री ने भी अपनी मनु० टीकामें किया है । तब यहां नियोगके आविष्कारकी कल्पना यह स्वा.द.जीके सुथरे दिमागसे निकला हुआ आविष्कार है ।

स्वामीसे प्रष्टव्य है कि—विवाहसे ८ वर्ष तक सन्तान न होनेपर आपने उसे 'वन्ध्या' कैसे जान लिया ? विवाहके १०-१२ साल बाद भी सन्तानें होती देखी गई हैं । और यह भी पूछना है कि—आप नियोग पुत्रोत्पत्तिकेलिए कराते हैं, या कामपूर्तिकेलिए ? यदि कामपूर्तिकेलिए; तो वह कामपूर्ति तो दोनों की हो रही है; तब बिना विवाहके दूसरी स्त्रीके साथ नियोगरूप व्यभिचार व्यर्थ है । यदि सन्तानकेलिए नियोग है, तो यह क्यों ? यदि सन्तान न हो; तो आपकी क्या हानि ?। सनातनधर्मी तो 'पुत्' नामक नरकसे (निरुक्त २।११) बचावकेलिए पुत्र मानें; पर आप लोग तो उक्त नरकको मानते नहीं; तब पुत्रकेलिए प्रयत्न क्यों ?' वेदने अन्यसे उत्पन्न पुत्रको वर्जनीय माना है, देखो (३।३) निरुक्तमें—'न शेषो अग्ने ! अन्यजातमस्ति, अचेतानस्य' (ऋसं. ७।४।७) 'नहि ग्रभायाऽरणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ' (७।४।८) । तब स्वामीका यह नियोग वेदविरुद्ध भी सिद्ध हुआ । 'वन्ध्या' भी कहेगी कि—मुझे इस पतिके शुक्र अशुद्ध होनेसे सन्तान नहीं हो रही है; मेरा अन्यसे नियोग कराइये; तो सन्तान हो जायगी; तब क्या स्वामी उसका

अन्यसे स्वादरूप नियोग मान लेंगे ? यदि हाँ, तो स्वामीने वन्ध्याका नियोग क्यों नहीं लिखा ?।

'जब-जब हो; तब कन्या ही हो; पुत्र न हो' यहांपर नियोगका आदेश देते हुए स्वामी अपने सम्प्रदायके सिद्धान्तको काट रहे हैं। जब उनके सम्प्रदायमें स्त्री-पुरुषोंकी समानता तथा समान अधिकार हैं; तब वे पुत्रोत्पत्तिमें क्यों आग्रह करते हैं ? सनातनधर्मी तो पुत्-नामक नरकसे बचावकेलिए अथवा मृतकश्राद्धकेलिए पुत्रके सिद्धान्तको मानें: पर स्वामी न तो नरकोंको मानते हैं, न मृतकश्राद्धको; तब उन्हें पुत्रकी आवश्यकता ही क्या ?। तब क्यों अन्यकी स्त्रीसे अन्यका व्यभिचार कराते हैं ?। यदि पितृऋणकी पूर्तिकेलिए पुत्र मानें; वह तो उनके मतमें कन्यासे भी हो सकता है । तब पुत्रमें पक्षपात क्यों ?। पुत्रसे ही पिताके पारलौकिक कर्ममें शक्तता माननेपर मृतकश्राद्ध-सिद्धि हो जावेगी । इससे उनके पक्षकी ही हानि होगी । कामपूर्ति दोनोंकी हो रही है, कन्या-सन्तान भी है; तब स्त्रियोंके वकील स्वा.द.जीका पुत्रमें पक्षपात क्यों ?' तब स्त्री-पुरुषोंमें समान अधिकार न माननेवाले सनातनधर्मियोंपर उपहास क्यों ?।

अप्रियवादिनी और नियोगका क्या सम्बन्ध ?। क्या अप्रियवादिनीकी सन्तान नहीं होती ?। अथवा होकर क्या मर जाती है ?। सनातनधर्मी तो स्त्रीके अधिकारकी विषमतासे अप्रियवादिनीको दण्ड देनेकेलिए अपना पुनर्विवाह कर लें; पर समानाधिकार माननेवाले आप लोगोंका इसमें नियोगका क्या अर्थ ?। 'जो अप्रिय बोलने वाली हो, तो सद्यः उस स्त्रीको छोड़कर दूसरी स्त्रीसे नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लेवें' यहां नियोग का प्रयोजन सन्तानोत्पत्ति बताया है; तो सन्तानोत्पत्ति तो अप्रियवादिनीसे भी हो सकती है; तब नियोगमें आदर क्यों ? क्या नवीनाका आस्वाद मिलेगा—यही प्रयोजन है ? और फिर दूसरी वा दूसरेसे नियोगकी व्यवस्था ही कौन करेगा ? क्या वे अप्रियवादसे घबराये हुए स्त्री-पुरुष

ढंढोरी पिटावेंगे कि—हम प्रियवादी वा प्रियवादिनीसे नियोग करना चाहते हैं; वा इश्तिहार दीवारों पर चिपकावेंगे ? अथवा विधवाके सास-ससुर वा माता-पिताको दरख्वस्त देनी पड़ेगी कि—क्या आपकी बहू वा लड़की मेरे साथ नियोग करेगी ? अथवा नियोगेच्छुक स्त्री-पुरुष परस्पर गुप्त बातचीतका संकेत कर लें ? खेद ! निर्लज्जताकी कितनी पराकाष्ठा है ? क्या व्यभिचार कोई अन्य होता है ?'

(१०) स्वामी आगे कहते हैं—'वैसे ही पुरुष अत्यन्त दुःखदायक हो; तो स्त्रीको उचित है कि—उसको छोड़के दूसरे पुरुषसे नियोग कर सन्तानोत्पत्ति करके उसी विवाहित पतिके दायभागी सन्तान कर लेवे ?' (पृ. ७३) यह सन्दर्भ स्वामीजीका निजी कल्पित है, मनुके किसी पद्यके अर्थमें नहीं दिया गया है। बल्कि यह तो मनुसे विरुद्ध भी है। देखिये इसका खण्डक मनुका पद्य—

'विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः। उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत् पतिः' (५।१५४) (पतिव्रता स्त्री प्रियवादिता आदि गुणोंसे हीन भी पतिको देवताकी तरह पूजे)। आजकल ७५ प्रतिशत पति अपनी स्त्रियोंको दुःखी करते हैं। तब क्या सभी स्त्रियां नियोग शुरू कर दें ? क्या यह वैदिक आज्ञा है ? नियोग यदि सन्तानार्थ हैं; तब पति-द्वारा दुःखित की जाती हुई स्त्रियोंकी क्या सन्तान नहीं होती ? यदि दुःखदायक पतिको सजाकेलिए यह नियोग है; तो नियोगद्वारा उत्पन्न पुत्रको उस दुःखदाता पतिका दायभागी क्यों किया जाता है ? उस पतिसे उस स्त्रीकी सहानुभूति क्यों ? क्या वह दुःखदायक पति दूसरेसे सन्तान पैदा करानेकी आज्ञा दे देगा ? यदि नहीं; तो नियोग कैसा ?। यदि स्त्री उससे नहीं पूछेगी; तो क्या वह परपुरुषको अपने घर अपनी स्त्रीके साथ सोनेकी अनुमति दे देगा ? क्या वह इससे स्त्रीको पीटेगा नहीं ? वा स्त्री उस परपुरुषके घर जाकर उससे मैथुन करा आवे ? तब क्या वह पति उसकी परपुरुषोत्पन्न सन्तानको मान लेगा ?। अपनी जायदाद पर अपनी विद्वेषिणी स्त्रीके परपुरुषोत्पन्न पुत्रको क्या कब्जा करने देगा ?। उस समय क्या नियोग करनेसे पति दुःख देना छोड़ देगा ? बल्कि ऐसी अवस्थामें नियोग करनेसे तो उल्टा गाली-गलौज एवं मार-पीटका बाज़ार और गर्म होगा ? ऐसी अवस्थामें किया नियोग क्या पतिकी आज्ञानुसार होगा, या पुत्रोत्पत्तिकेलिए होगा ? क्या दुःखदायक पति वैसी आज्ञा दे देगा ?। वा नियोगोत्पन्न उस पुत्रको अपना दायभागी स्वीकार कर लेगा ?। बल्कि विना आज्ञाके अपनेको छोड़कर दूसरेके पास सम्भोगकेलिए गई हुई उस स्त्री और उसके वैसे पुत्रको अपने घरसे ही निकाल देगा। यह है दयानन्दी नियोगका सुपरिणाम ?

(११) 'इस अमूल्य पदार्थ (वीर्य और रज) को परस्त्री, वेश्या वा दुष्ट पुरुषोंके सङ्गमें जो खोते हैं; वे महामूर्ख होते हैं; क्योंकि—किसान व माली मूर्ख होकर भी अपने खेत वा वाटिकाके विना अन्यत्र बीज नहीं बोते' (स. प्र. पृ. ७३) स्वा. द. जीके अपने इस कथनसे भी नियोगका खण्डन हो जाता है; क्योंकि—उसमें परस्त्रीमें बीजनिक्षेप करना पड़ता है, और वह भी दूसरेकेलिए। दशसंख्या वाले भिन्न-भिन्न पुरुषोंसे भोग करने वाली भी स्त्री यदि वेश्याका नवीन संस्करण वा व्यभिचारिणी नहीं; तब वेश्या वा व्यभिचारिणी और कौन होगी !!! प्रसिद्धता में कहकर कि—मैं अमुक पुरुषके साथ सोऊंगी; और मैं अमुक स्त्रीके साथ सोऊंगा, यह भी एक प्रसिद्ध व्यभिचार है। इसमें स्वा. द. जीका विवाहका दृष्टान्त देना व्यर्थ है। विवाहमें मन्त्र-संस्कार करके अन्यकी कन्याको पत्नी बनाकर तब उससे संभोग होता है; पर नियोगमें मन्त्र-संस्कार सर्वथा नहीं होता; तब उसमें पत्नीत्व वा पतित्व न होनेसे परस्त्री वा परपुरुषके साथ मैथुन व्यभिचार ही कहावेगा। महाभारतादिके नियोगमें तो विना ही मैथुनके संयोग हुआ है—अतः उसमें दोष नहीं आता; इस विषयमें 'आलोक' (८) में 'नियोग और मैथुन,(१) देखिये।

(१२) आगे स्वा. द. जीको अन्य लीला देखिये। वे लिखते हैं—

(प्र.) जब एक विवाह होगा, एक पुरुषको एक स्त्री और एक स्त्रीको एक पुरुष रहेगा। तब स्त्री गर्भवती, स्थिररोगिणी अथवा पुरुष दीर्घरोगी हो; और दोनोंकी युवावस्था हो, रहा न जाय, तो फिर क्या करें (उ.) इसका प्रत्युत्तर नियोग-विषयमें दे चुके हैं। और गर्भवती स्त्रीसे एक वर्ष समागम न करनेके समयमें पुरुषसे वा दीर्घरोगी पुरुषकी-स्त्रीसे न रहा जाय; तो किसीसे नियोग करके उसकेलिए पुत्रोत्पत्ति कर दें' (स. प्र. पृ. ७४) यहाँ पर संन्यासीजीने नियोगका प्रयोजन कामेच्छापूर्ति बताया है; क्योंकि प्रश्न ही ऐसा है—'दोनोंकी युवावस्था हो, रहा न जाय,' तो फिर क्या करें' ?

यदि ऐसा है; तब उसके उत्तरमें 'पुत्रोत्पत्ति कर दें', यह कैसे कहा ? क्या 'आम्रान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे' यह न्याय यहां चरितार्थ नहीं किया गया ? यदि सन्तानकी इच्छासे नियोग है; और उसकी स्त्रीको गर्भ है; तब सन्तानकी इच्छा क्यों ? क्या उस पत्नीके गर्भसे सन्तान नहीं होगी ? अथवा यदि गर्भ ही उस पुरुषका विघ्नस्वरूप है; तब क्या नियोगिन स्त्रीको गर्भ नहीं होगा ! खेदः, क्या यहां स्वामीने कामकेलिए नियोग नहीं दिखलाया, जिसका शास्त्र निषेध करता है। देखिये—

'या नियुक्ताऽन्यतः पुत्रं देवराद् वाप्यवाप्नुयात्। तं कामजमरिक्थीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते, (मनु. ९।१४७) (जो नियोगिन बनकर दूसरेसे वा देवरसे पुत्र पैदा करा ले, वह कामोत्पन्न होनेसे दायभागी नहीं हो सकता; वह तो व्यर्थका होता है) यहां नियोगिनके पुत्रको व्यर्थ कहा है। 'नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः। तौ उभौ पतितौ स्यातां स्नुषाग-गुरुतल्पगौ' (मनु. ९।६३) (जो नियोगी स्त्री-पुरुष विधि छोड़कर कामेच्छासे वर्तें; वे दोनों अपनी स्नुषा वा गुरुपत्नीमें गमन करने वाले हैं।) 'भ्रातुर्मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामतः। धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषूपतिः' (३।१७३) (जो धर्मसे नियुक्त भी भाईकी विधवामें कामसे अनुरागयुक्त हो जावे; वह दिधिषूपति कहलाता है। नारदने भी कहा है—'सन्तानार्थं न कामतः' (१२।८६) वसिष्ठने भी कहा है—'लोभान्नास्ति नियोगः' (१७।५७) (काम वा लोभसे नियोग नहीं होता)। इस प्रकार शास्त्रद्वारा नियोगमें काम निषिद्ध होनेपर भी जो कि स्वा. द. जीने लिखा है—'हे स्त्री, मुझसे दूसरे पतिकी इच्छा कर' (पृ. ७३) 'पुरुषसे···वा स्त्रीसे न रहा जाय, तो किसीसे नियोग करके' (पृ. ७४) 'जो ब्रह्मचर्य न रख सकें, तो नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लें' (पृ. ६९) इससे स्वामीके नियोगका खण्डन होगया, क्योंकि—उनके नियोगमें 'न रहा जाय' इत्यादिमें कामुकता स्पष्ट है। इसलिए तो कलियुगमें बिना कामके नियोगके असम्भव होनेसे नियोग निषिद्ध किया गया है। मनु. ५। १५७ पद्यमें मेधातिथिने लिखा है—'नियोगस्तु गुर्विच्छया विहितो नात्मतन्त्रतया पुत्रार्थिन्याः' ! तब आर्यसामाजसम्मत नियोग अथवा विधवा-विवाह काममूलक होनेसे धर्मशास्त्रसे विरुद्ध सिद्ध हुआ।

'रतिपुत्रफला नारी' (महा. उद्योग. ३९।६६) इस विदुरनीतिके वचनमें नारीके दो फल माने गये हैं—रति और पुत्र। उसमें मनुस्मृतिने रतिकेलिए नियोगका तो निषेध किया है (९।६३)। पुत्रकेलिए भी मनुजीने नियोग निषिद्ध किया है। जैसेकि—'अपत्यलोभाद् या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते। सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते (५।१६१) (सन्तानके लोभसे जो विधवा स्त्री भर्ताका उल्लंघन करके दूसरे पुरुषको ले लेती है; वह निन्दित एवं पतिलोकसे गिर जाती है)। इस प्रकार दोनों दृष्टियोंसे नियोगका खण्डन होगया।

बल्कि दूसरेसे उत्पन्न हुएको वेदज्ञ मनुजी 'पुत्र' ही नहीं मानते। देखिए—'नान्योत्पन्ना प्रजाऽस्तीह नचाप्यन्यपरिग्रहे' (४।१६२) (दूसरेसे उत्पन्न सन्तान, सन्तान नहीं होती) यही वेदने कहा है—'न शेषोऽग्ने ! अन्यजातमस्ति' (ऋ. ७।४।७) 'नहि ग्रभायाऽरणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ' (८)। यही निरुक्तकारने कहा है--'यथा जनयितुः प्रजा एवमर्थीये ऋचा उदाहरिष्यामः' (३।१।१) सन्तान, पैदा करने वाले की होती

है, अन्यकी नहीं, यह हम वेदमन्त्रमें बताते हैं।

इस प्रकार 'पुन्नाम्नो नरकाद् यस्तु त्रायते पितरं यतः' (मनु. ९।१३८) इस पुत्नामक नरकसे बचानेकेलिए जो पुत्र उत्पन्न किया जाता है, वह भी नियोगसे सिद्ध नहीं होता; नियोगसे उत्पन्न हुआ पुत्र ही नहीं कहाता, तब उससे दिया हुआ जल वा पिण्ड मृत-पिताको प्राप्त नहीं हो-सकता। इसलिए वेदानुसार उस अन्य लड़केको 'अरण' (ऋ. ७।४।८) तथा निरुक्तानुसार (३।२।१) उसे 'अपार्ण' जिसका अर्थ है-'अपगतोदक-सम्बन्धः' कहा जाता है; अर्थात् उस नियोग (अन्य)-ज पुत्रसे पितरोंका जलसम्बन्ध नहीं होता। कारण यह है कि—नियोगसे उत्पन्न वर्णसङ्कर माना जाता है; जैसाकि मनुस्मृतिमें कहा है-'वर्णानां संकरं चक्रे कामो-पहतचेतनः' (९।६७) उसका पिण्ड, जल आदि पितरोंको न पहुंच सकनेसे वह सपिण्ड नहीं होता, उनका पितृलोकसे पतन हो जाता है; जैसाकि—भगवद्गीतामें कहा है-'सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च। पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः' (१।४२)। इसलिए मनुजीने भी कहा है-'क्षेत्रजादीन् सुतान् एतान् एकादश यथोदितान्। पुत्रप्रतिनिधीन् आहुः (न वास्तविकपुत्रान्) क्रियालोपान्मनीषिणः, (९।१८०) (नियोगज आदि पुत्र वास्तविक पुत्र नहीं होते, क्योंकि—इससे पिण्डदानादिक्रियाका लोप होजाता है) मनुजी नियोगजके वास्तविक पुत्र न होनेका कारण बताते हैं—

'य एतेऽभिहिताः पुत्राः प्रसंगाद् अन्यबीजजाः। यस्य ते बीजतो जाताः तस्य ते नेतरस्य तु' (१८१) (नियोगमें जो दूसरेके वीर्यसे पुत्र उत्पन्न होते हैं; वे अपने पिताके पुत्र नहीं माने जाते; वे तो जिसके वीर्यसे उत्पन्न हैं, इसीके पुत्र हैं, अन्यके नहीं। यही बात वेद भी कहता है-'न शेषो... अन्यजातमस्ति अचेतानस्य' (ऋ. ७।४।७) (दूसरेसे उत्पन्न लड़का अपना नहीं होता; जो उसे अपना मानता है; वह अचेतान (पागल) है। तब वैदिकताकी डींग हांकनेवाले, नियोगी-पुत्रको अपना मानने वाले दयानन्दी,

वेदके अनुसार पागल सिद्ध हुए। दयानन्दी श्रीब्रह्ममुनिजीने उक्त मन्त्रका यही अर्थ किया है-'अन्यजातं शेषः—अपत्यम् अचेतनस्य—प्रमत्तस्य मूढस्य अज्ञस्य भवति, नहि ज्ञानी तथाभूतम् [अन्योत्पादितम्] अपत्यम् इच्छति'।

इससे सद्गत्यर्थ पुत्रोत्पादनकेलिए नियोग चाहने वालोंका खण्डन होगया। तब यह प्रश्न है कि—पुत्र न होनेपर श्राद्ध आदि क्रियाओंका लोप हो जावेगा; इसलिए इस अवसरपर नियोगज पुत्रको स्वीकार कर लेना चाहिये—इसपर मनुजी अन्य उपाय कहते हैं-'भ्रातृणामेकजातानाम् एक-श्चेत् पुत्रवान् भवेत्। सर्वान् तान् तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत्' (९।१८२) (एकसे उत्पन्न भ्राताओंमें यदि एक भाईका भी पुत्र है; तब उससे सब भाई पुत्रवाले समझे जाते हैं; जैसाकि मनुजीने कहा है-'भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः' (उसीसे श्राद्धादिका कार्य लेना चाहिए)। मनुजीने यहां कैसा सुन्दर उपाय बताया है। यहां उन्होंने नियोगको अपनेसे अनभीष्ट बता दिया है। 'मनुरब्रवीत्' कहनेसे इस पद्यको प्रक्षिप्त नहीं माना जा सकता है; क्योंकि मनुस्मृतिको मनुजीके लड़के भृगुने सुनाया था; तब यह कहना उपपन्न होजाता है; तभी निरुक्तमें मनुस्मृतिके एक पद्यमें—(विस-र्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्) (३।४।२) कहा है।

इस प्रकार मनुजीने आगे भी स्पष्ट किया है—'सर्वासामेकपत्नीनाम् एका चेत् पुत्रिणी भवेत्। सर्वास्तास्तेन पुत्रेण प्राह पुत्रवतीर्मनुः' (१८३) (सौतोंमें यदि एक भी पुत्र वाली है; तो उससे सभी सौतें पुत्रवाली मानी जावेगी। 'श्रेयसः श्रेयसोऽलाभे पापीयान् रिक्थमर्हति' (१८४) इसमें नियोगज पुत्रको पापी भी बताया गया है; क्योंकि—वह पापसे उत्पन्न होता है; इससे मनुजी नियोगको पाप सिद्धान्तित करते हैं, यह स्पष्ट है। उन पापज-पुत्रोंसे क्या गति होती है, इसपर मनुजी बताते हैं-'यादृशं फलमाप्नोति कुप्लवैः सन्तरन् जलम्। तादृशं फलमाप्नोति कुपुत्रैः (क्षेत्र-जादिभिः) सन्तरन् तमः' (९।१६१) इस प्रकार क्षेत्रज (नियोगज)

आदि पुत्र पिताके सद्गतिजनक न होनेसे उसके डुवाने वाले तथा नरकमें गिराने वाले सिद्ध होगये। इससे मनुजीने नियोगका जनाज़ा निकाल दिया है, क्योंकि--नियोग उनका उत्तरपक्ष (सिद्धान्त) नहीं। तभी गीतामें भी कहा है 'सङ्करो नरकायैव, पतन्ति पितरो ह्येषां' (१।४२) सङ्करता अन्य-पतिके ग्रहण तथा उससे गर्भग्रहणसे इष्ट है। मनुस्मृति मुख्य स्मृति होनेसे अन्यस्मृतियोंकी व्यवस्था भी यही मानी जावेगी, मनुस्मृतिसे विरुद्ध नहीं। तभी प्रसिद्ध है—'वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्। मन्वर्थविपरीता या सा स्मृतिर्नैव शस्यते'। इस वृहस्पतिके वचनको श्रीकुल्लूकने मनु. (१।१) की टीकामें उद्धृत किया है।

गर्भवतीका नियोग

(१३) एक अन्य बात विचारणीय है कि—नियोगमें स्वा.द.जीने **स्त्री-पुरुषोंको समान अधिकार** दिया है। यदि उनके पूर्वके कहे अनुसार स्त्रीके गर्भवती होनेके समय उससे समागम न करनेसे उसका पति न रह सके; इसलिए वह नियोग करता है; इस प्रकार गर्भिणी अवस्थामें पतिके मैथुन न कर रहे होनेसे वा उसके निषेध होनेसे गर्भिणी भी यदि न रह सके' क्योंकि—गर्भिणियोंकी भी मैथुनेच्छा अन्तपर्यन्त रहती ही है; जैसे कि—'काममाविजनितोः सम्भवाम' (कृ.य. तैसं. २।५।१।५) अब उस पर प्रश्न है कि—वह स्त्री क्या करे? पति उसके साथ स्वा.द.के अनुसार निषेध-वश मैथुनमें अनधिकृत है; तव जैसे उसका पति संयम न रख सकनेके कारण स्वा.द.जीकी कृपासे अन्य स्त्रीके साथ मैथुनका अधिकारी हो जाता है; तब उसकी गर्भवती स्त्रीको पतिमैथुन निषिद्ध होनेसे वह न रह सके; तव वह भी अन्य पुरुषसे स्वा.द.जीकी कृपासे मैथुनमें अधिकृत हो सकेगी; तभी स्त्री-पुरुषका समानाधिकार पूरा होगा। नहीं तो पतिका पक्षपात करते हुए स्वामीजी गर्भवती स्त्रीकी कामवासनाकी उपेक्षा करते हुए पुरुषसमाजके पक्षपाती सिद्ध हो जावेंगे।

पर दयालु स्वा.द.जीने स्त्रीकी यह करुण मूक-पुकार सुनी; और

स.प्र. की द्वितीयावृत्ति (१८८४) पृ. १२० पं. २५ में आदेश दिया—'और गर्भवती स्त्रीसे एक वर्ष समागम न करनेके समयमें पुरुष वा स्त्रीसे न रहा जाय, तो किसीसे नियोग करके उसकेलिए पुत्रोत्पत्ति कर दें'। यही द्वितीयसंस्करणका पाठ तृतीयसंस्करण तथा चतुर्थसंस्करणमें भी स.प्र.में छपा। जव आर्यसमाजी महाभारतकी उतथ्यकी गर्भवती स्त्री ममतासे बृहस्पतिका गमन आलोचित करने लगे; तव उन्हें कहा गया कि—स्वामीजीने भी ऐसा ही गर्भवतीसे नियोग माना है; वह शायद इसी इतिहासके कारण माना होगा। जैसे कि—स्वा.द.जीने महाभारतीय अम्बा-अम्बालिकाके **इतिहासके प्रमाणसे ही नियोग सिद्ध** किया है; वैसे ही उक्त (बृहस्पति-ममताके) **इतिहाससे ही गर्भवतीका** नियोग लिखा हो; तव 'छाज तो वोले-वोले; पर चलनी क्यों वोले, जिसमें नौ सौ छेद हैं; वादी लोग बृहस्पति-ममताकी कथाकी आलोचनाके अधिकारी कैसे हों? तव लज्जित होकर दयानन्दियोंने स्वामीके उक्त वाक्यमें कुछ प्रक्षेप करके स.प्र.के पञ्चम संस्करणमें यह परिवर्तन कर दिया—'गर्भवती स्त्रीसे एक वर्ष समागम न कर सकनेके समयमें पुरुषसे वा दीर्घ-रोगी पुरुषकी स्त्रीसे न रहा जाय; तो किसीसे नियोग करके उसकेलिए पुत्रोत्पत्ति कर दें'।

भास्करप्रकाशके कर्ता श्रीतुलसीरामने पूर्वपाठमें छापनेवालोंकी गलती मानी हैं; परन्तु उन्होंने यह नहीं सोचा कि--स्वामीजीकी लेखशैलीकी दृष्टिसे; तथा स्त्री-पुरुषोंके समान अधिकारके सिद्धान्तके दृष्टिकोणसे स.प्र. की द्वितीयावृत्तिके यह शब्द स्वामीजीको सर्वथा इष्ट थे। यह शब्द स्वा.द.जीकी दृष्टिमे **गर्भिणीमें पतिका समागय निषिद्ध होनेसे** पतिका अन्य स्त्रीसे, और उसी पत्नीका अन्य पतिसे नियोग कहते हुए दोनोंके समानाधिकार रूप स्वामीके सिद्धान्तकी पुष्टि करते हैं। गर्भिणीसे पतिका समागम तो वे निषिद्ध करते हैं; पर नियोग उनका परमप्रिय सिद्धान्त है; उसका निषेध नहीं करते, बल्कि उसका अनुमोदन करते है।

आजकलके जो कई दयानन्दी उक्त द्वितीयावृत्तिके पाठमें 'गर्भवती स्त्रीसे एक वर्ष समागम न करनेके समयमें पुरुषसे वा दीर्घ-रोगी पुरुषकी स्त्रीसे न रहा जाय; तो किसीसे नियोग करके उसकेलिए पुत्रोत्पत्ति कर दे, इस प्रकार 'दीर्घरोगी पुरुषकी' इन शब्दोंका बीचमें प्रक्षेप करके इस पाठको '(प्र०) जब एक विवाह होगा, एक पुरुषको एक स्त्री, और एक स्त्रीको एक पुरुष रहेगा, तब स्त्री गर्भवती, स्थिररोगिणी अथवा पुरुष दीर्घरोगी और दोनोंकी युवावस्था हो; रहा न जाय, तो फिर क्या करें?' इस प्रश्नके उत्तररूपमें मानते हैं, यह ठीक नहीं। क्योंकि—इस प्रश्नके उत्तरमें तो स्वामीजीने लिख दिया है कि—'इसका प्रत्युत्तर नियोग-विषयमें दे चुके हैं। जब स्वामीजीने स्वय यह कहा है; तब हमसे दिखलाया हुआ द्वितीयावृत्तिवाला पाठ उस प्रश्नका तो उत्तररूप सिद्ध न हुआ; क्योंकि—वह प्रश्न तो पूर्व उत्तरित हो चुका, अतएव अन्य उत्तरकी अपेक्षा रखने वाला सिद्ध न हुआ; किन्तु स्वतन्त्र ही सिद्ध हुआ; तभी तो हमसे दिखलाये हुए द्वितीयावृत्तिके पाठकें आदिमें 'और' शब्दका प्रयोग इस वाक्यको पहलेके प्रश्न-उत्तरसे स्वतन्त्र बता रहा है; नहीं तो 'और' शब्दकी उक्त वाक्यके आदिमें लिखनेकी आवश्यकता नहीं थी। इस प्रकार यहां स्वामीने गर्भ प८ गर्भ दिखलाया। इस प्रकार होनेपर भी जो दयानन्दी महाभारतीय उतथ्य-वृहस्पतिके काण्डपर आक्षेप करते हैं; उन्हें पहले अपने घरपर दृष्टि डालनी चाहिये।

और फिर 'दोनोंकी युवावस्था हो, न रहा जावे' इस प्रश्नके उत्तर-रूपमें जोकि स्वामी उच्छृङ्खलोंकी कामपूर्तिकेलिए नियोग बतलाते हैं; यह तो स्वामीजीकी दुर्बलतामात्र है; क्योंकि-ऐसा जब-तब होनेपर नियोग अपवाद वा असाधारणधर्म वा आपद्धर्म न होकर एक साधारण-क्रिया हो जाती है। मनुष्योंकी तामसिक वृत्तियों वा नीच कामनाओंको जानकर भी दूरदर्शी धर्मोपदेशक संसारके नर-नारियोंकी उच्छृङ्खलता, या निर्मर्यादता, या धर्मभ्रष्टता, या व्यसनासक्तिके डरसे धर्म वा सदाचारके

नियमोंकी दृढता वा स्थिरता तोड़नेकेलिए उद्यत नहीं होते; क्योंकि वे जानते हैं कि—चोरी, जारी, असत्य वा अत्याचारको रोकनेकेलिए बहुत निषेधों, अनेक दण्डों और प्रचुर उपदेशोंके होनेपर भी संसार नहीं दीखता है। यदि उनकी खुशामदकेलिए, या उनके डरके मारे धार्मिक नियमोंमें थोड़ी भी अपनी इच्छासे कल्पित ढील कर दी जायगी; तब फिर मर्यादाओंकी शृंखलाओंके टूटनेसे पृथिवीमें चोरी-जारीकी निस्सी-मता हो जावेगी। तब वे कभी सीमामें नहीं लाये जा सकेंगे। 'खरबूजे को देखकर खबूंजा रंग पकड़ता है, इस नियमसे अन्य भले आदमी भी बिगड़ जाएंगे। 'जारं न कन्या'-जैसे मन्त्र वेदमें बहुत दीखते हैं; पर इससे जारोंका कन्याओंसे सम्बन्ध विधिशास्त्र नहीं मान लिया जाता।

विद्वान् पाठकगण! आप निष्पक्ष होकर विचारिये तो, कामाग्निकी पूर्तिके प्रयोजनवाले इस नियोगको द्वारीकृत करके भारतीय—संसारमें कितनी भ्रष्टता, कितनी कामातुरता, और कितनी लम्पटता एवं अप-वित्रता फैल जावेगी। थोड़ी कठिनताकेलिए या थोड़ी असुविधाकेलिए निम्न मनोवृत्तिवालोंके आवेश वा विभीषिकाका दृढ विरोध न करके वैसे स्त्री-पुरुषोंकी क्षणिक बुद्धि वा क्षणिक क्रोधके समय धार्मिक-मर्यादा संयम आदिको तोड़कर अपने मनमाने नियोगके प्रसारको ईश्वरकी आज्ञा सिद्ध करना धार्मिक संयम-नियमोंका पवित्रता तथा दृढता, स्त्री-पुरुषोंकी पारस्परिक सहनशीलता, कर्तव्यपरायणता, गम्भीर दूरदर्शिता आदिका जड़-मूलसे उखाड़नेका प्रयत्न है। देखिये इसका आदर्श—

(१४ क) स्वामी कहते हैं—'जो (पति) रोगी पड़ा हो, वा लड़ाई हो गई-इत्यादि आपत्काल [में स्त्री नियोग कर लेवे]' (स.प्र. ४ पृ. ७५) खेद! कैसा यह अनर्थ है। पति है रोगी; और स्त्री नियोगका आस्वाद ले! क्या स्वामी इसी प्रकारके पातिव्रत्यका प्रचार करना चाहते हैं? क्या इसीलिए स्वामी 'पूज्यो देववत् पतिः' इस वचनको

(स.प्र. ११ पृ. २०० में) उद्धृत करते हैं ? खेद !!! पतिके रोगकी तो चिन्ता नहीं; पर श्रीमती जी स्वामीजीके कथनसे अपने ही स्वादमें लगे ! धन्य हैं स्वामीजी महाराज !!! कोई दुर्बुद्धि भी गृहस्थाश्रममें ऐसा उपदेश नहीं देगा, तब संन्यासीजीके चरित्रका अनुमान कर लीजिये । गर्भाधानमें स्वामी कहते हैं—'दोनों···अत्यन्त प्रसन्नचित्त रहें' (स.प्र. ४ पृ. ५६) तब यदि रोगी-पतिकी स्त्री परपुरुषके पास सोई हुई प्रसन्न-चित्त रहेगी; तब पतिके रोगकी उसे क्या चिन्ता ? यदि चिन्ता रहेगी; तब प्रसन्नचित्तता कहां रहेगी-क्या यह बात दूरदर्शी माने जाते हुए स्वामीने नहीं सोची थी ?।

(ख) 'लड़ाई होजानेपर नियोग कर लेवे' में स्वामी दोनोंका नियोग कराते हैं । खेद ! इन शब्दोंकी निरङ्कुशता तो देखिये । इसके परिणाम विचारनेपर हृदय कांप जाता है । पति—पत्नीके जब-तब कलह हो जाया ही करते हैं । थोड़े समयके बाद फिर मेल भी हो जाता है । इसमें यह बताना चाहिये कि—पारस्परिक झगड़े वा नियोगमें क्या सम्बन्ध है ? इन साधारण अवसरोंपर भी यदि स्वामीजी स्त्रीको नियोगकी शिक्षा देते हैं; तब गृहस्थाश्रमका भङ्ग तो निकट ही समझना चाहिये । पति—पत्नी, बहिन-भाई, पिता-पुत्र आदिकी जब-तब झड़पें हो ही जाती हैं । 'प्रेम्णः कुटिलगामित्वात्' । (साहित्यदर्पण ३।···) साहित्यिक उसे स्त्रीका 'मान' कहते हैं । इसमें कोई विशेष बात नहीं; जोकि स्वामी इसे आपत्काल मानते हैं !

यदि कलहमें स्त्री परपुरुषसे नियोग करेगी; तो पतिकी आज्ञा लेगी, या नहीं ? यदि नहीं; तब यह नियोग (आज्ञाग्रहण) कहां रहा ? यदि नहीं लेगी; तब यदि वह परपुरुषको घरमें बुला लेगी; तब पति क्या दोनोंकी हड्डी-पसली चूर-चूर नहीं कर देगा ? अथवा यदि वह पर-पुरुषके घरमें चली जावेगी; तब क्या पति उसे फिर अपने घरमें घुसने देगा ? जोकि स्वामीको इसी पृष्ठमें 'नष्टे मृते प्रव्रजिते' इस पराशरके

पद्यमें नियोगका गन्ध आगया है; यह तो उनकी भ्रान्त धारणा है । इस विषयमें 'आलोक' (८) देखिये ।

वास्तवमें स्वा.द.जीने जिस नियोगको चलाया है; वह व्यभिचारसे भिन्न नहीं । तभी तो उनने वार-वार प्रश्नकर्ताके मुखसे कहलवाया है— '(प्र.) यह नियोगकी वात व्यभिचारके समान दीखती है' (पृ. ७०) । (प्र.) है तो ठीक, परन्तु यह वेश्याके सदृश कर्म दीखता है' । (पृ.७०)। (प्र.) 'हमको नियोगकी बातमें पाप मालूम पड़ता है' (पृ. ७०) । वास्तवमें यह बात है भी सत्य ही । क्योंकि—जैसा नियोग स्वा. दयानन्द-जीने लिखा है; उसका गन्धमात्र भी वेद-स्मृति आदिमें नहीं है । अतः वह स्पष्ट व्यभिचार है, तभी तो स्वा.द.के नियोगको 'वैदिक' कहनेपर भी कोई भी वैदिकम्मन्य आर्यसमाजी उसे अनुकृत नहीं करता ।

स्वामीसे प्रष्टव्य है कि—स्त्रीका नियोग सन्तानकेलिए है, या मैथुने-च्छापूर्तिकेलिए ?। यदि सन्तानकेलिए; तो जो स्त्री वन्ध्या होगी; वह सन्तान कैसे प्राप्त कर सकेगी ? तब यदि वह मैथुनेच्छा वाली हो जाय; तब स्वामी उसका नियोग करावेंगे, या नहीं ? यदि नहीं । तब आप लोग वैसे निषेधक सनातनियोंकी निन्दा क्यों करते हैं ? विधवाकी सन्तानके निषेधार्थ मनुजी यह वचन कहते हैं—'अनेकानि सहस्राणि कुमार-ब्रह्मचारिणाम् । दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम्' (५। १५९) (अनेक पुरुष ब्रह्मचारी रहकर सन्तान पैदा न करके भी स्वर्गमें गये) । 'मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता । स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः' (५।१६०) (विधवा स्त्री, विना भी पुत्रके, उन ब्रह्मचारियोंकी भान्ति स्वर्गमें जाती है) । 'अपत्यलोभाद् या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते । सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते' (१६१) (जो स्त्री सन्तानके लोभसे पतिका वल्लङ्घन कर जाती है; वह पति-लोकसे गिर जाती है) ।

उस वन्ध्याकी मैथुनेच्छा जैसे आप पूर्ण नहीं करेंगे; वैसे सनातन-

धर्मी भी। फिर समता होजानेसे सनातनधर्मियोंको—आप लोगोंका उलाहना क्यों ?। यदि सन्तानकेलिए स्वामीका नियोग है; जैसाकि उन्होंने बार-बार वैसा लिखा है; तब तो वह विधवा दत्तकपुत्र लेकर भी कार्यनिर्वाह कर सकेगी; इस प्रकार व्यभिचार भी नहीं होगा। जैसेकि स्वामीजीने भी लिखा है—'जो स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्यसे स्थित रहना चाहें; तो कोई भी उपद्रव नहीं होगा; और जो कुलकी परम्परा रखनेकेलिए किसी अपने स्वजातिका लड़का गोद ले लेंगे; उससे कुल चलेगा; और व्यभिचार भी न होगा' (पृ. ६९)

जोकि आगे स्वामीने लिखा है—'जो-ब्रह्मचर्य न रख सकें; तो नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लें! (पृ. ६९) यहां स्वामीसे प्रष्टव्य है—यहां आपने नियोग पुत्रेच्छाकेलिए रखा है, या मैथुनार्थ ? यदि पुत्र-केलिए; तो दत्तक पुत्र लेना रूप उपाय ही अच्छा है, जिसे आपने भी स्वीकृत किया है। आप मृतकश्राद्धके पक्षी तो नहीं कि—उसमें पिण्डदानार्थ उस पुरुषके वीर्योत्पन्न ही बालककी आवश्यकता हो। तब आपने प्रथम संस्कारविधिमें फिर कैसे लिखा है—'प्रजावती स्त्री भी होय, तो भी नियोग हो सकता है' (पृ. १०८)

यदि सन्तानोत्पत्तिकेलिए नियोग नहीं; किन्तु स्त्री-पुरुषकी मैथुनेच्छापूर्तिकेलिए है, तब स्वामीने 'नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर ले' यह कैसे लिखा है ? वहाँ सन्तानोत्पत्तिका बहाना क्यों लिखा ? क्योंकि—परपुरुषसे मैथुनेच्छाका नाम व्यभिचार है। संसारमें व्यभिचार आदि कुकर्म कुल—परम्पराके स्थापनार्थ अथवा पुत्रकामनाकेलिए नहीं होते। यदि ऐसा है; तब व्यभिचाररूप नियोगमें पुत्रोत्पादनका नाम क्यों लिखा ? सन्तान हो वा न हो; मैथुनेच्छा तो नियोगसे पूरी हुई ही। पर मैथुनेच्छाकी पूर्तिकेलिए नियोग करनेपर तो मनु आदि स्मृतियोंका विरोध आता है; और स्वामीजीके 'जब स्त्री-पुरुषका नियोग होना हो; तब अपने कुटुम्बमें पुरुष-स्त्रियोंके सामने प्रकट करें कि—हम दोनों नियोग

सन्तानोत्पत्तिकेलिए करते हैं। जब नियोगका नियम पूराहोगा, तब हम संयोग न करेंगे। जो अन्यथा करें; तो पापी और जाति वा राज्यके दण्डनीय हों' (४ पृ. ७०) 'विवाह वा नियोग सन्तानोंके ही अर्थ किये जाते हैं; पशुवत् कामक्रीडाकेलिए नहीं' (स.प्र. ४ पृ. ७२) इन अपने वचनोंका विरोध आता है; तब मैथुनेच्छापूर्त्यर्थ नियोग सर्वथा खण्डित हो गया। पर स्वामीका तो मैथुनेच्छापूर्तिकेलिए ही अधिक अभिनिवेश है—यह हम जहां-तहां दिखला चुके हैं। पाठकोंकी सुगमताकेलिए फिर हम उनका संग्रह करते हैं—

'जो ब्रह्मचर्य न रख सकें; तो नियोग करके सन्तानोत्पत्ति (?) कर लें' (स.प्र. पृ. ६९) 'पाप तो नियोगके रोकनेमें है; क्योंकि-ईश्वरके सृष्टिक्रमानुकूल स्त्री-पुरुषका स्वाभाविक-व्यवहार (कामेच्छा) रुक ही नहीं सकता···क्या गर्भपातनरूप भ्रूणहत्या और विधवा स्त्री और उन स्त्री-पुरुषोंके महासन्ताप (कामेच्छा) को पाप नहीं गिनते हो ? क्योंकि-जब तक वे युवावस्थामें है, मनमें सन्तानोत्पत्ति (?) और विषयकी चाहना होनेवालोंको, किसी राज्य व्यवहार वा जातिव्यवहारसे रुकावट होनेसे गुप्त-गुप्त कुकर्म बुरी चालसे होते रहते हैं···उनका नियोग अवश्य होना चाहिये' (पृ. ७०) 'देवरकी कामना करनेवाली' (पृ. ७२) 'तू मुझसे दूसरे पतिकी इच्छा कर' (पृ. ७३) 'दोनोंकी युवावस्था हो, रहा न जाय···स्त्रीसे न रहा जाय; तो किसीसे नियोग करके उसकेलिए पुत्रोत्पत्ति (?) कर दे' (पृ. ७४) इत्यादि। यहांपर सन्तानोत्पत्तिका बाहरी दृष्टिमें कहना स्वामीजीका सामान्य जनताकी आंखोंमें धूल झोंकना ही है। इन वाक्योंसे कही हुई कामवासना स्मृतियोंमें निषिद्ध की गई है—यह हम पहले कह चुके हैं।

(१५) जोकि नियोगके महत्त्व कहनेकेलिए स्वामीने कहा है—'इससे व्यभिचारका न्यून होना, प्रेमसे उत्तम सन्तान होकर मनुष्योंकी वृद्धि होना सम्भव है, और गर्भहत्या सर्वथा छूट जाती है' (स.प्र.) पृ. ७०)

यह तो मोहका दुर्विलास ही है। जबकि स्वामी नियोगको सिद्धान्तरूपसे मैथुनेच्छापूर्तिकेलिए ही नहीं मानते; किन्तु पुत्रोत्पत्तिकेलिए ही मानते हैं; तब इससे व्यभिचारका अभाव ही कैसे सिद्ध होगा ?

स्वामीने जब पुत्रकेलिए नियोग कहा है; उसके बाद भी मैथुनेच्छा हो सकती है। उसका स्वामीने क्या उपाय सोचा है ? 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते' (मनु. २।९४) (काम कामभोगसे शान्त कभी नहीं हो सकता; वह तो उल्टा और बढ़ता है, हविसे अग्निकी तरह)। तब 'नियोग व्यभिचारापसारक है' यह कथन तो 'आकाशके फूल' के समान असम्भव है। बल्कि—नियोगी पतिके कभी-कभी प्राप्त होनेसे स्त्रीकी मैथुनेच्छा और बढ़ेगी। नियोगसे प्रेमका क्या सम्बन्ध ? उससे तो वासना बढ़ेगी। स्वार्थ-सम्बन्धमें प्रेम कभी नहीं हुआ करता। नियोगसे व्यभिचार दूर होना तो दूर रहा; बल्कि नियोग ही व्यभिचार-प्रचारका साधन हो जावेगा। पहले तो यही जानना भी असम्भव है कि—कौन किस भावसे नियोग चाहता है ?। वह अपनी मैथुनेच्छाकी पूर्तिकेलिए ही भिन्न--भिन्न स्त्रीके आस्वाद पानेकेलिए नियोग करना चाहता हो—यह कौन जान सकता है ?। बाहरी बहाने तो सब कर सकते हैं कि—हम सन्तानकेलिए नियोग करना चाहते हैं। सन्तान होजानेपर वह उसे लेनेका भी निषेध कर सकता है। इस प्रकार जहां जारपना बढ़ेगा, वहां चोरी भी बढ़ेगा। वह नियोगी घरमें रोज तो रहेगा ही नहीं; केवल कभी-कभी मैथुन करने आया करेगा। जब कोई चोर किसीके घर आवेगा; और पुलिस वाले पूछेंगे कि—तू इस घरमें क्यों आया था, वह कहेगा कि--मैं नियोगकेलिए आया था। क्योंकि नियोग रातको होगा; और नियोगी पुरुषका आना कभी-कभी होगा; तब पुलिस वालोंको नियोगको धर्म मानकर चुप हो जाना पड़ेगा।

स्त्रीके सास-ससुर घरमें हैं, देवर घरमें है, कोई परपुरुष वहां आकर

उस घरकी स्त्रीसे मैथुन करके मूछोंको मरोड़ता हुआ स्वतन्त्रतासे चला जावे; क्या यहां स्त्रीकी लज्जा स्वाहा नहीं होगी ? १०-११ पुरुषों तक मैथुन प्राप्त कर चुकी क्या वह फिर मैथुन नहीं चाहेगी ? (मनु. २।९४) इस प्रकार नियोग काम-शान्तिका साधन न होकर कामवृद्धिका ही साधन होगा। नियत आज्ञासे आगे उसे कामेच्छा हो; तब वह क्या करे ? क्या स्वा.द. के नाममन्त्रकी माला जपा करे ?

और फिर नियोगसे सन्तानोंमें विशेषता क्या होगी ? पुरुष नियोगिन स्त्रीकी सन्तानोंको पालनेकेलिए क्या अनाथालयोंमें भेजेंगे ? यदि यहां "परन्तु वही नियुक्त स्त्री दो-तीन वर्ष पर्यन्त उन लड़कोंका पालन करके नियुक्त पुरुषको दे देवे' (स.प्र. ४ पृ. ६९) यह स्वामीका वचन उत्तररूपमें दिया जाय, तब इसमें यह जानना चाहिये, कि कोई विधवा या सधवा किसी प्रकार दो-तीन वर्ष पालकर नियोगी—महाशयको दे भी दे; तब उस दो-तीन वर्षके बालकको नियोगी महाशय गोदमें डालकर द्वार-द्वारमें भिक्षा माँगनेकेलिए जायगा; या बाजारमें उस बच्चेको बेचकर धन इकट्ठा करेगा ? अथवा उसे अनाथालयमें भेज देगा ? अथवा युद्ध-सम्बन्धी कार्यालयमें जमा करा देगा, जैसाकि-आजकल विदेशोंमें अवैध सन्तानोंको सेनामें भर्ती करा दिया जाता है।

यह भी एक अद्भुत बात है कि--नियोगी महाशयको तो उस स्त्रीके पतिकी विद्यमानतामें भी स्वतन्त्रतासे उस घरमें आनेकी आज्ञा है, इधर स्त्रीके दूसरे गृहकार्योंके करनेमें, उसके सुख-दुःख, आधि-व्याधिकी भी उपेक्षा--जिसमें नियोगी महाशयको सहायतामात्रकी भी आज्ञा नहीं दी गई; और इधर दो-तीन वर्ष तक सैंकड़ों आफतों और कष्टोंको सहकर अपने पल्लेका खर्च करके वह स्त्री उस शिशुको--जिससे अब उसका स्नेह भी बढ़ने लगा है—पालकर सदाकेलिए नियोगी—महाशयके चरणोंमें सौंप दे, इत्यादि आज्ञा निर्दयता, क्रूरता, निष्ठुरता एवं अन्यायकी पराकाष्ठाका निदर्शन नहीं होगी ?

खेद ! स्वामीजी ! एतदादिक कृत्रिम कल्पनाएं करते हुए आप शोचनीय हैं। संन्यासी होकर भी आप इस विषय-विलासके गढ़ेमें आ पड़े ! क्या यहां कोई रहस्य था ? आपके इस नियोगके संदर्भसे आपके निम्न अभिप्राय निकलते हैं —

१ नियोग ऋषि, देवता वा आदर्श स्त्री—पुरुषोंकेलिए नहीं है; किन्तु अत्यन्त-विषयासक्त जनोंकेलिए है। २ नियोग किसी विशेष आदर्श—समयकेलिए नहीं हैं, किन्तु आजकलके समयकेलिए है। ३ नियोग मैथुनेच्छाकी पूर्तिकेलिए भी होता है। ४ क्षतयोनि स्त्री और क्षतवीर्य पुरुषका पुनर्विवाह स्वा.द.जीके मतमें वेद, शास्त्र, युक्ति, धर्म और न्यायसे विरुद्ध है—यह नियोगके विषयमें स्वामीने स्पष्ट सिद्ध कर दिया है। तब जो दयानन्दी लोग विधवाओं वा विधुरोंका विवाह करते-कराते हैं, वे स्वा.द.के अनुसार वेद--शास्त्रोंके विरोधी, एवं धर्म वा न्यायसे विरुद्ध सिद्ध होते हैं।

५ वां स्वामीका अभिप्राय यह है कि – नियोगका विरोध पाप है; तब वे आर्यसमाजी पापी सिद्ध होते हैं; जो विधवाओंका नियोग न कर--कराके उसका निरोधरूप विरोध कर रहे हैं। ६ एक पुरुष दस-दस भिन्न स्त्रियोंका, और एक स्त्री दस-दस भिन्न-भिन्न पुरुषोंका आस्वाद-रूप नियोग प्राप्त कर सकते हैं—ऐसा 'वैदिक वेश्यापन' वा व्यभिचार धन्य है ! ७ पति पत्नीसे वा पत्नी पतिसे क्रुद्ध होकर बिना एक दूसरेकी आज्ञाके भी नियोग कर सकते हैं। ८ अथवा बिना एक-दूसरेकी आज्ञा लेकर यदि बिरादरीकी अनुमति प्राप्त कर लें; तो पति-पत्नीका आपसमें मन-मुटाव वा फूट भी हो सकती है, इसका परिणाम हररोजके लड़ाई-झगड़ेके सिवाय कुछ नहीं। ९ अपनी स्त्रीके गर्भवती होनेपर भी पुरुष अन्य स्त्रीसे नियोग भी कर सकता है। द्वितीयावृत्तिवाले स.प्र. के अनुसार तो गर्भवती स्त्री भी नियोग कर सकती है। १० लगातार कन्याएं पैदा होनेपर पति वा पत्नी अन्य स्त्री-पुरुषसे नियोग-द्वारा पुत्र

पैदा कर-करा सकते हैं। यदि तब भी कन्या उत्पन्न हो; तब १० भिन्न-भिन्न पुरुषोंसे नियोग कर सकती (ते) हैं।

(१६) पाठकोंने स्वामीके अभिप्राय देख लिये। यदि वे स्वयं देखना चाहें; तो स.प्र. के ४र्थ समुल्लासमें नियोग-प्रकरण स्वयं देख लें। इस प्रकार नियोग व्यभिचारसे भिन्न नहीं रहता। जोकि—स्वामी-जीने प्रश्नोत्तर-द्वारा कहा है—'(प्र.) यह नियोगकी बात व्यभिचारके समान दीखती है (उ.) जैसे बिना विवाहितोंका व्यभिचार होता है, वैसे बिना नियुक्तोंका व्यभिचार कहाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि—जैसा नियमसे विवाह होनेसे व्यभिचार नहीं कहाता; तो नियमपूर्वक नियोग होनेसे व्यभिचार न कहावेगा। जैसे दूसरेकी कन्याका दूसरे कुमारके साथ शास्त्रोक्त विधि (मन्त्र-संस्कार) पूर्वक विवाह होनेपर समागममें व्यभिचार वा पाप लज्जा नहीं होती; वैसे ही वेदशास्त्रोक्त नियोगमें व्यभिचार, पाप, लज्जा न मानना चाहिये' (पृ. ७०)।

इसपर हम कहते हैं कि-यहां दृष्टान्तमें विषमता है। नियोग और व्यभिचारमें सादृश्य स्पष्ट ही है। जबकि स्वामीजीने नियोग और विवाह में आकाश—पातालके समान अन्तर स्वयं दिखलाया है; तब यहां विवाह का दृष्टान्त ठीक नहीं; क्योंकि—दोनोंमें समानधर्मता नहीं। विवाहमें तो अन्य कन्या और पुरुष वेदमन्त्रोंसे परस्पर पति—पत्नी बनाये जाते हैं; पर नियोगमें कुछ भी मन्त्रसंस्कार नहीं होता; और फिर नियोगमें कोई मन्त्र उनकी स्वकीयता (अपनापन) नहीं बतलाता। वे दोनों परस्त्री-और परपुरुष ही रहते हैं; अत एव 'पति-पत्नी' नहीं कहलाते। तभी तो स्वामीने नियोग-और विवाहमें पहला भेद यह लिखा है—'विवाह करनेसे कन्या अपने पिताका घर छोड़ पतिके घरको प्राप्त होती है···और विधवा स्त्री उसी विवाहित पतिके घरमें रहती है' (पृ. ६९) जब ऐसा है; परस्त्रीके साथ परपुरुष नियोग (मैथुन) स्पष्ट व्यभिचार सिद्ध हुआ; नहीं तो उस विधवाको विवाहकी भांति नियुक्त पुरुषके घर ही पहुंचना

चाहिये था; पर ऐसा नहीं होता।

इसलिए न वह परस्त्री उस परपुरुषकी पत्नी कहला सकती है; और न वह परपुरुष उस परस्त्रीका पति कहला सकता है। तब 'अन्यमिच्छस्व सुभगे! पतिं मत्' (ऋ. १०।१०।१०) मन्त्र भ्राता-भगिनीके संवादमें तो उपपन्न हो सकता है; क्योंकि—वहां अन्य पति (विवाह-संस्कृत पुरुष) लेनेकेलिए कहा है—पति-पत्नी संवादमें नहीं; क्योंकि—परपुरुषका उससे मन्त्रसंस्कार न होनेसे वह उसका पति नहीं हो सकता। मैथुनसे पति-पत्नीभाव नहीं हुआ करता; किन्तु विवाहसे ही पति-पत्नीभाव हुआ करता है।

महाभाष्यकारने कहा है—'कन्या—शब्दोऽयं पुंसा अभिसम्बन्ध—(विवाह) पूर्वके संप्रयोगे (मैथुने) निवर्तते। (पुरुषसे विवाहपूर्वक मैथुन होनेपर तो कन्यापन हट जाता है)। या चेदानीं प्राग् अभिसम्बन्धात् (विवाहात्) पुंसा सह संप्रयोगं (मैथुन) गच्छति, तस्यां कन्या—शब्दो वर्तत एव' (पर जो स्त्री बिना विवाहके पुरुषसे मैथुन कर लेती है; उसमें 'कन्या' शब्द नहीं हटता; बना रहता है।) (४।१।११६) इसलिए वह कन्यासे मैथुन व्यभिचार कहाता है; पर जहां किसी देवता योगीसे **बिना-मैथुनके** उस कन्याको पुत्र—प्राप्त हो जावे; तब वह व्यभिचार नहीं कहाता। जैसे—व्यास और कर्ण एक तपस्वी तथा दूसरे देवता द्वारा दिव्यविधिसे बिना मैथुनके पैदा हुए; उसमें अवैधता नहीं मानी जाती।

जैसे देखिये - पेशाब अशुद्ध माना जाता है। उसको मुखसे पीना भी अनुचित होता है; पर आजकल विशेष-व्याधि दूर करनेकेलिए उस पेशाबको इन्जैक्शन—द्वारा अन्दर पहुँचाना अयुक्त नहीं समझा जाता। जैसे लहू मुखसे पीनेवाला राक्षस माना जाता है; पर उस लहूको इन-जैक्शन द्वारा अन्दर डाला जावे; तो वह लहूका पीना भी नहीं माना जाता; और उससे राक्षसत्व भी नहीं होता। इस प्रकार प्रकृत विषयमें भी समझें। इस विषयमें 'आलोक'के ८म पुष्पमें 'नियोग और मैथुन (१)

तथा ७ म पुष्पमें 'श्रीपराशर—मत्स्यगन्धा समागम' देखें।

जब ऐसा है; तब स्वा.द.जीके कहे नियोगमें पुरुषसे मन्त्रसंस्कार-पूर्वक विवाह नहीं किया जाता; तब वह परपुरुष उसका 'पति' नहीं कहला सकता। और फिर 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (४।१।३३) इस पाणि-निसूत्रके अनुसार उसमें वैवाहिक यज्ञ-संयोग होनेपर लड़की 'पत्नी' बनती है; पर नियोगमें विवाह-सम्बन्धी यज्ञ आदिष्ट न होनेसे—वह पत्नी भी नहीं कहला सकती। जब वे पति-पत्नी नहीं; तब उनका मैथुन अवैध कहावेगा, वैध नहीं; तब नियोगमें पति-पत्नीत्व न होनेसे मैथुनकी अवैधतावश नियोग व्यभिचार ही हुआ। महाभारतमें जो नियोग बताया है; वहां मैथुन न होनेसे (इस विषयमें 'आलोक' (८) में 'नियोग और मैथुन (१) देखिये) स्वा. दयानन्दीय-नियोग व्यभिचार सिद्ध हुआ।

इस प्रकार स्वा.द.जीका नियोग एवं विवाहका दूसरा भेद देखिये—'उसी विवाहिता-स्त्रीके लड़के उसी विवाहित—पतिके दायभागी होते हैं, और विधवा—स्त्रीके लड़के वीर्यदाताके न पुत्र कहलाते, न उसका गोत्र होता, न उसका स्वत्व उन लड़कोंपर रहता, किन्तु वे मृतपतिके पुत्र बनते, उसीका गोत्र रहता, और उसीके पदार्थोंके दायभागी होकर उसी घरमें रहते हैं' (पृ. ६९)।

यह वचन ऋ. ७।४।७-८ से विरुद्ध होनेसे नियोग वेदविरुद्ध होनेसे व्यभिचार सिद्ध हुआ। व्यभिचारसे उत्पन्न लड़केका भी अपने उत्पादक पिताके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता; न वह उसकी सम्पत्तिका अधिकारी होता है; इस प्रकार नियोग और व्यभिचारकी समानधर्मता सिद्ध हुई।

दोनोंका तृतीय भेद स्वामी बताते हैं—'विवाहित स्त्री—पुरुषको परस्पर सेवा और पालन करना अवश्य है; और नियुक्त स्त्री-पुरुषका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता'। (पृ. ६९) इस प्रकार व्यभिचारमें भी नियोगकी समानता सिद्ध हुई; क्योंकि—उसमें स्त्री-पुरुषोंका कोई स्थायी

सम्बन्ध नहीं होता। व्यभिचार होनेके कारण स्वा.द.जीका नियोग इस कलियुगमें भी लज्जास्पद सिद्ध होनेसे चालू नहीं हो सका।

अब विवाह एवं नियोगका स्वामीजीके शब्दोंमें ४र्थ भेद देखिये—'विवाहित स्त्री—पुरुषका सम्बन्ध मरणपर्यन्त रहता है, और नियुक्त स्त्री-पुरुषका कार्यके पश्चात् छूट जाता है' (पृ. ६९) पर इससे विरुद्ध ही स्वा.द.जीने ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिकामें 'उदीर्ष्व' इस मन्त्रकी हिन्दी व्याख्यामें कहा है—'जो नियोगधर्ममें स्थित हो, तो जब तक मरण न हो, तब तक···जोकि तेरा हस्तग्रहण करनेवाला दूसरा पति है, उसकी सेवा किया कर' (पृ. २४४) परस्पर विरुद्ध कहनेसे ही वे पराजित होगये।

अब नियोग तथा विवाहका ५ म भेद स्वामी बताते हैं—'विवाहित स्त्री—पुरुष आपसमें गृह-कार्योंकी सिद्धिमें यत्न किया करते हैं; और नियुक्त स्त्री-पुरुष अपने २ घरके काम किया करते हैं' (पृ. ६९) इस प्रकार व्यभिचारमें भी परस्त्रीगमन तथा परपुरुषगमनमें भी हुआ करता है। इस प्रकार जब विवाह और नियोगमें इतना भारी अन्तर है; तब नियोगकी सिद्धिकेलिए विवाहका दृष्टान्त विषम ही सिद्ध हुआ। विवाह-संस्कारकी पवित्रता, मर्यादा, पारस्परिक प्रेम, पारस्परिक उत्तरदायित्व, परस्परकी सहायता, परस्परके सुख-दुःखमें सहानुभूति, गृहधर्मव्रतका पालन, परस्पर-सन्तानको पालना, पातिव्रत्यकी दृढता कहां ?, और नियोगमें आज़ादी, उच्छृंखलता, पापिष्ठता, दूसरेके सुख-दुःखकी उपेक्षा, सन्तानके पालनेकी चिन्ता न होना कहां ? इस प्रकार होनेपर भी "जो नियोगकी बातमें पाप मानते हो, तो विवाहमें पाप क्यों नहीं मानते' (स.प्र. ४ पृ. ७०) यह स्वा.द.जीका वचन दुःसाहसमात्र है, और यह विवाह-संस्कारका अपमान करना है।

(१७) जोकि स्वामीजीने (प्रश्न) परन्तु यह (नियोग) वेश्याके सदृश कर्म दीखता है (उत्तर) नहीं; क्योंकि--'वेश्याके समागममें किसी निश्चित पुरुष वा कोई नियम नहीं है' (पृ. ७०) यह प्रश्नोत्तर कहा है,

यह भी नियोगकी वेश्यासमागमकी सदृशता सिद्ध करता है। क्योंकि—कुछ नियम तो वेश्यागमनमें भी रखने पड़ते ही हैं। नियोगमें दश स्त्री और ११ तक पुरुषोंकी आज्ञा देना वेश्याकर्मसे भिन्न नहीं होता। यदि कोई वेश्या वा कुलटा अपने जीवनकालमें दश-ग्यारह पुरुषोंके साथ नियमपूर्वक सम्बन्ध स्थापित करती है; तब क्या वह व्यभिचारिणी वा पापिन सिद्ध न होगी ? इस प्रकार जब नियोगमें भी दीखता है; तब नियोग स्पष्ट व्यभिचार सिद्ध होता है। इसलिए 'नियोगमें विवाहके समान नियम हैं' (पृ. ७०) यह कहते हुए स्वामीका परस्पर—विरोध सिद्ध हुआ। विवाहमें एक पतिसे भिन्न पुरुषका सम्बन्ध कहीं भी आदिष्ट नहीं। तब नियोग व्यभिचारसे अभिन्न ही सिद्ध हुआ।

आगे विधवा—विवाहके विषयमें स्वामीजीका अभिप्राय देखिये—'हम पहले लिख आये हैं—'द्विजोंमें स्त्री और पुरुषका **एक ही बार विवाह होना वेदादि-शास्त्रोंमें लिखा है, द्वितीय बार नहीं'** (स.प्र. पृ. ७१) तब विधवा-विवाहके आग्रही आर्यसमाजी वेदशास्त्रादि-विरुद्धतावश पराजित हो गये; इधर आर्यसमाजमें नियोग चालू न किये जानेसे स्वा.द.जी भी आर्यसमाजसे पराजित हो गये। यदि आर्यसमाजको स्वा.द.जी के अनुसार वेदादिशास्त्रोंका नियोग अर्थ माननीय होता; तब वे करते-कराते; इसलिए स्पष्ट है कि—आर्यसमाज स्वा.द.जीके वेदशास्त्रादिमें किये नियोग-अर्थको अशुद्ध मानता है। इस प्रकार विधवाविवाह और नियोग दोनों ही खण्डित हो गये; क्योंकि—शास्त्रोंमें विधवाविवाहका तो गन्धमात्र भी नहीं है, और स्वा.द.जीसे माने हुए नियोगका भी गन्ध नहीं है।

जोकि-दयानन्दी कहते हैं कि—आजकल नियोग चलाया नहीं जा सकता; इसलिए हम विधवाविवाह चालू किये हुए हैं, तब क्या स्वा.द. जीको इतना भी ज्ञान नहीं था, कि—नियोग इस युगमें चलाया नहीं जा सकेगा। यदि नहीं था; तब वे आपके अनुसार भी अतीन्द्रियदर्शी न

होनेसे 'ऋषि' कहां रहे ?। इस प्रकार तो आपके मतमें भी विधवाविवाह अप्रमाण ही सिद्ध हुआ; क्योंकि—आपके स्वामी उसे द्विजोंकेलिए अप्रमाण एवं वेदादिविरुद्ध मानते हैं; तब विधवाविवाह आपके मतमें भी सामयिक होनेसे उसकी प्राचीनता तथा कर्तव्यता खण्डित होगई। नियोग आपके अनुसार चालू होनेके योग्य न होनेसे खण्डित होगया। (मर्वा.)

११ नियोग एवं विधवाविवाह शास्त्रकी कसौटीपर

(१) जोकि कई लोग 'देवराद् वा सपिण्डाद् वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया। प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या संतानस्य परिक्षये' (९।५९-६३) इत्यादि मनुस्मृतिके पद्योंको देकर नियोगको मनुसम्मत बताते हैं; यह ठीक नहीं। नियोग मनुसम्मत नहीं है, यह हम गत-निबन्धमें बता चुके हैं। यह श्लोक मनुजीने पूर्वपक्षरूपमें दिये हैं; और आगे उनका (९।६४-६८) खण्डन किया है; तब नियोग मनुसम्मत कैसे होगया ?। क्या किसीका पूर्वपक्ष भी सिद्धान्त हुआ करता है ? तब जोकि स्वा.द.जीने नियोगके व्यभिचार होनेका पूर्वपक्ष स.प्र.में दिखलाया है, वादी उसे भी स्वीकार करके नियोगको व्यभिचार मान लें !

फिर तो 'तदप्रामाण्यम् अनृतव्याघात-पुनरुक्तेभ्यः' (२।१।५७) यह न्यायदर्शनमें पूर्वपक्षका सूत्र भी गोतममुनिका सिद्धान्तपक्ष मान लिया जावे ! फिर तो स.प्र. १२ वें समुल्लासमें कहा हुआ—'वेदके बनाने हारे भांड, धूर्त और निशाचर अर्थात् राक्षस ये तीन हैं, जर्भरी, तुर्फरी इत्यादि पण्डितोंके धूर्ततायुक्त वचन हैं' (पृ. २५८) यह स्वा.द.का पूर्वपक्ष-वचन भी स्वा.द.जीका सिद्धान्तपक्ष मान लो !

पर जैसे इसके आगे कहे हुए स्वा.द.के उत्तरपक्षकी विद्यमानतामें पूर्व-वचन पूर्वपक्ष माना जाता है; वैसे ही मनुस्मृतिमें 'देवराद् वा सपिण्डाद् वा' इत्यादि नियोगके पूर्वपक्ष—पद्योंके आगे उसके खण्डक उत्तरपक्षके निम्न पद्य मिलते हैं—

'नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः। अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम्' (९।६४) द्विज लोग विधवा स्त्रीको अन्य-देवर वा सपिण्डके साथ नियुक्त न करें। यदि वे द्विज विधवा-स्त्रीका किसी दूसरेसे नियोग करेंगे; तो सनातनधर्मका हनन करनेवाले सिद्ध होंगे। इससे यह सिद्ध किया गया है कि—द्विजोंसे भिन्न शूद्र भले ही नियोग वा, विधवाविवाह करें। क्योंकि-'न शयानः पतत्यधः' इस नियमके अनुसार वे शूद्रादि नियोग वा विधवाविवाहसे पापके भागी नहीं बनते; क्योंकि वे पहलेसे ही मलिन-वस्त्र वाले हैं, उससे चाहे जहां चाहें, वहां बैठ जाएं ('यथाहि मलिनैर्वस्त्रैर्यत्र—तत्रो पविश्यते। एवं चलितवृत्तस्तु वृत्तशेषं न रक्षति') पर द्विज लोग नियोग वा विधवाविवाह कराते हुए पतित वा पापी हुआ ही करते हैं। यहां 'अन्यस्मिन्' से 'देवराद् वा सपिण्डाद् वा' (९।५९) में कहे हुए देवर-एवं सपिण्ड इष्ट हैं; क्योंकि—'अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा' यह न्याय है। विधि भी साथ वालेकी होती है, निषेध भी साथ वालेका होता है। यहां 'वर्ण' शब्द साथ नहीं है; कि—अन्य वर्णसे नियोगका निषेध हो; और अपने वर्णमें नियोगका निषेध न हो। तब दयानन्दी श्रीतुलसीराम—स्वामीका अन्य वर्णमें अर्थ करना गलत है। यह कहकर मनुजी इसका कारण बताते हैं—

'नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्। न विवाहविधौ उक्तं विधवावेदनं पुनः' (९।६५) (वैवाहिक मन्त्रोंमें कहीं नियोगका नाम-मात्र भी नहीं आता है; और न ही विवाहविधिमें कहीं विधवा लेनेका वर्णन आता है। यह बड़ी भारी मनुजीकी युक्ति है। तब दयानन्दी श्रीतुलसीरामका यह कहना कि—वैवाहिक-मन्त्रोंसे भिन्न वेदमन्त्रोंमें नियोग वा विधवा-विवाहका वर्णन आता है' यह गलत है। जो उनद्वारा इस विषयमें वेदमन्त्र दिये जाते हैं, हम 'आलोक' ८ म पुष्पमें उनका वास्तविक अर्थ बता चुके हैं। पाठक ८ म पुष्प मंगा लें)।

'अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः। मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति' (९।६६ (विद्वान् ब्राह्मणोंने इस नियोगको पशुधर्म

कहकर निन्दित किया है, पर राजा वेनके राज्यमें इस पशुधर्म नियोगको मनुष्योंका भी धर्म बना दिया गया) । 'स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा । वर्णानां सङ्करं चक्रे कामोपहतचेतनः'—(९।६७) (चूंकि राजा वेनकी बुद्धि कामसे मारी गई थी; उसने नियोग चलाकर वर्णसङ्करता फैला दी । यहां नियोगके चलानेसे ही राजा वेनको वर्णसङ्करता करनेवाला कहा गया है; भिन्न वर्णोंमें नियोग करनेसे नहीं । क्योंकि पतिसे भिन्न पुरुषसे वा अवेद्या-स्त्रीसे संयोगमें ही वर्णसङ्करता मानी गई है । देखिये मनुस्मृति (१०।२४) । यही भगवद्गीतामें भी कहा गया है (१।४१) 'ततः प्रभृति यो मोहात् प्रमीतपतिकां स्त्रियम् । नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः' (९।६८) उस समयसे लेकर जो लोग मृतपतिका स्त्रीको परपुरुषसे सन्तान करानेकेलिए नियुक्त करते हैं; उनकी सत्पुरुष तो निन्दा किया करते हैं, अर्थात् असत्पुरुष जो व्यभिचारको विनोदमात्र समझते हैं; वे परपुरुषसे इस अपत्योत्पादनार्थ नियोगकी हिमायत किया करते हैं) ।

यह उत्तरपक्षके पद्य हैं । इससे नियोग मनुजीको इष्ट नहीं, यह स्पष्ट सिद्ध हो रहा है । उत्तरपक्ष पूर्वपक्षको बांध दिया करता है—यह नियम है । इसलिए आपस्तम्बधर्मसूत्रमें नियोगका खण्डन करते हुए कहा गया है—'तद् इन्द्रियदौर्बल्याद् विप्रतिपन्नम्' (२।२७।४) (नियोगमें इन्द्रियोंकी दुर्बलता होती है; अतः वह ठीक नहीं ।) यहांपर हरदत्तने लिखा है—'तमिमं नियोगं दूषयति—'तदिति' यद्यप्येवं पूर्वे [वेनसमकालिका जनाः] कृतवन्तः, तथापि अद्यत्वे विप्रतिपन्नम्—विप्रतिषिद्धम् । कुतः ? इन्द्रियदौर्बल्यात्—दुर्बलेन्द्रिया हि अद्यत्वे मनुष्याः । ततश्च शास्त्र-व्याजेनापि भर्तृव्यतिक्रमे अतिप्रसङ्गः स्यादिति' । 'तद्-व्यतिक्रमे खलु पुनरुभयोर्नरकः' (६) यहांपर हरदत्तने लिखा है—'तस्य-पाणेर्व्यतिक्रमे उभयोर्नरको भवति । अतः पत्यापि स न पाणिस्त्याज्यः; यः पूर्वं गृहीतः । भार्ययापि न स पाणिः त्याज्यः, येन पूर्वमात्मनः पाणिर्गृहीतः' । इससे स्पष्ट है कि—कई तपस्वियोंमें यह शक्ति पूर्वमें होती थी, कि-विना कामके सन्तान उत्पन्न कर सकते थे ।

'न नियोक्तव्या द्विजातिभिः' इस मनुजीके उत्तरपक्षके कथनसे पूर्वपक्षमें स्थित नियोगकी शूद्रविषयकता सिद्ध होती है । क्योंकि शूद्रकेलिए कहा है—'नास्याधिकारो धर्मेस्ति' (मनु. १०।१२६) इस प्रकार नियोग अधर्म सिद्ध हुआ ।

'नान्यस्मिन् विधवा नारी' उक्त मनुपद्यकी व्याख्या करते हुए श्रीमेधातिथिने लिखा है—'वंशक्षये समुपस्थिते विधवायां प्रजोत्पादनाय देवरादीनां यो नियोग उपदिश्यते, नाऽसौ वैवाहिकेषु मन्त्रेषु क्वचिदपि शाखायां कीर्त्यते । तथा विवाहविधायकेषु मन्त्रेषु विधवायाः पुनर्वेदनं—पुनर्विवाहोपि न कीर्त्यते-इत्यर्थः । वैवाहिकमन्त्रास्तु—'अर्यमणं नु देवं कन्या अग्निमयक्षत । स इमां देवो अर्यमा प्र-इतो मुञ्चतु, नाऽमुतः' (आश्व.गृ. १।७।१३) इत्यादयः । एभिर्मन्त्रैर्वराऽन्वारब्धा कन्या लाजान् विवाहाग्नौ जुहोति' । अत्र सर्वत्र 'कन्या' पदं श्रूयते । नहि मृतभर्तृका स्त्री 'कन्या' शब्दवाच्या भवति' । बहुत स्पष्ट है कि—जब वैवाहिकमन्त्रोंमें 'कन्या' शब्द है; और 'कन्या' का अर्थ अविवाहिता है; तब विधवाका विवाह कैसा ?

'नान्यस्मिन् विधवा नारी' आदि मनुके पद्य नियोगका खण्डन करते हैं; यह बृहस्पति, कुल्लूक, गोविन्दराज आदि सभी टीकाकार मानते हैं । यदि यह सन्देह हो कि मनुजीने अपने कहे हुए ही नियोगका स्वयं खण्डन कैसे कर दिया, इसपर यह जानना चाहिये कि—स्वयं उसे लिखकर उसके निन्दित होनेपर मनु उसे निन्दित भी बताते हैं । जैसेकि-'दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्' (१।८८) इस पद्यमें मनुजीने प्रतिग्रह स्वयं ब्राह्मणका कर्म लिखा है; पर फिर 'प्रतिग्रहसमर्थोपि प्रसङ्गं तत्र वर्जयेत्' (४।१८६) 'प्रतिग्रहः प्रत्यवरः' (१०।१०९) यहां उसे निन्दित

कर दिया है।

'एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः। कन्याप्रदानं विधिवद् आर्षो धर्मः स उच्यते' (३।२९) यहां मनुजीने आर्षमें बैल-गायका जोड़ा लेना कहकर भी स्वयं ही 'आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत्'। अल्पोऽप्येवं महान् वापि विक्रयस्तावदेव सः' (३।५३) इस प्रकार शुल्करूपमें उसके लेनेका खण्डन कर दिया है। वस्तुतः नियोगका 'नान्यस्मिन् विधवा नारी' में द्विजोंकेलिए खण्डन करके मनुजीने नियोगके पूर्वपद्योंको पूर्वपक्ष सिद्ध कर दिया है, जैसेकि—न्यायदर्शनमें 'तदप्रामाण्यमनृत-व्याघात' (२।१।५७) 'न कर्मकर्तृसाधन' (२।१।५८) ५८ सूत्रमें 'न' कहकर इससे पूर्वके 'तदप्रामाण्यं' सूत्रको पूर्वपक्षसूत्र सिद्ध कर दिया है। और फिर 'अपवादविषय-परिहारेण उत्सर्गस्य व्यवस्थितेः' इस न्यायसे 'नान्यस्मिन् विधवा नारी' पद्यमें मनुजीने नियोगका द्विजोंकेलिए निषेध करके पूर्वपक्षोक्त पद्योंसे नियोगको अद्विजों (शूद्रादि) केलिए एकदेशी सिद्ध कर दिया है।

(२) जोकि दयानन्दी श्रीतुलसीराम—स्वामीने 'भास्कर-प्रकाश' में अथवा अपनी मनुस्मृतिकी टीकामें 'यद्यपि ये श्लोक मनुजीके बनाये नहीं; क्योंकि—मनु (स्वायम्भुव) सृष्टिके प्रारम्भमें हुए, और वेन राजा वह था, जिससे पृथु हुआ; तो पृथुके वैवस्वत-मन्वन्तर्गत जन्मको मनु यह कैसे कह सकते हैं कि भूतकालमें राजा वेनके राज्यमें यह रीति नियोगकी चल गई, इसलिए यह श्लोक निश्चय प्रक्षिप्त हैं" यह कहकर नियोगके खण्डनात्मक पद्योंको प्रक्षिप्त माना है; यह तो ठीक नहीं है।

मनुस्मृतिमें 'पृथोरपीमां पृथिवीं भार्यां पूर्वविदो विदुः' (९।४४) इस पद्यमें वेनपुत्र पृथुका नाम स्पष्ट कहा गया है, क्योंकि—पर्वतप्राया भूमि को उसी पृथुराजाने सम कर दिया था; इस कारण उस नामसे ही भूमिका नाम 'पृथिवी' हो गया। 'वेनो विनष्टोऽविनयात्' (७।४१) 'पृथुस्तु विनयाद् राज्यं प्राप्तवान् मनुरेव च' (७।४२) यहां पृथु तथा वेन

दोनोंका तथा मनुका नाम आया है। जब इस प्रकार मनुस्मृतिमें पृथुका नाम आया है; तब उसी स्मृतिमें पृथुके पिता वेनका नाम यदि आया है; तो इसमें क्या आश्चर्य है। यह आश्चर्य है कि—अपने अनुकूल श्लोकोंको श्रीतुलसीराम सृष्टिकी आदिमें मनुसे बनाया मानते हैं; पर अपने पक्षके खण्डक पद्योंको प्रक्षिप्त मानते हैं; यह एक आंख रखनेका अपराध हो सकता है। अपनी मनुस्मृतिमें इन्होंने 'नान्यस्मिन् विधवा नारी' इस नियोगखण्डक पद्यको प्रक्षिप्त नहीं माना। जहां मनुका नाम आया है; उन पद्योंको श्रीतुलसीरामने प्रक्षिप्त माना है; परन्तु अपनी इच्छासे कहीं मनुका नाम उनने प्रक्षिप्त नहीं भी माना है। जैसा कि—'तन्मनोरनुशासनम्' (९।२३९) 'सर्वांन् तान् तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत्' (९।१८२) 'सर्वान् तान् तेन पुत्रेण प्राह पुत्रवतीर्मनुः' (९।१८३) इत्यादि स्थानोंमें; वहां मनुका अर्थ 'मुझ मनु' कर दिया है। इन लोगोंकी लीला विचित्र है। मनुजी पूर्वकल्पके वेन तथा पृथुका वर्णन कर सकते हैं। मनुजी तो दूर; देखिये वेदमें भी वेन तथा उसके लड़के पृथु जिसका नाम वैदिक कालमें 'पृथी' था—तथा वैवस्वत मनुका वर्णन आता है। देखिये—'तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत्।...तां पृथी वैन्योऽधोक्; तां कृषिं च सस्यं चाधोक्' (अथर्व. ८।१३ (१०+४)। ९-१०-११-१२) इसीका अनुवाद श्रीमद्भागवतपुराणमें कहा है —'यां दुदोह पृथुस्तत्र को वत्सो दोहनं च किम्' (४।१७।३) 'वक्तुमर्हसि योऽदुह्यद् वैन्यरूपेण गामिमाम्' (४।१७।७)। वत्सं कृत्वा मनुं पाणौ अदुहत् सकलौषधीः (पृथुः)' (४।१८।१२)।

वेदमें वेनके लड़केका नाम 'पृथी' आया है, परन्तु पुराणमें पृथु। यह नामभेद समय—समयपर हो जाते हैं, जैसे—पुराणमें 'प्रह्लाद' नाम आया है, पीछे उसका नाम 'प्रह्लाद' प्रसिद्ध हो गया। इसलिए 'पृथ्या उवस्तयसे वैन्यस्य' (ऋ. १०।१४८।५) इस मन्त्रमें वेन तथा उसके लड़केका नाम पृथी कहा है; इस मन्त्रके ऋषिका नाम 'वैन्यः पृथुः' यह अजमेरकी

ऋ.सं.में भी लिखा है। ब्राह्मणभागमें भी 'पृथु' नाम आया है। जैसेकि—पृथुर्ह वै मनुष्याणां प्रथमोऽभिषिषिचे' (शत. ५।३।५।४) जब मन्त्रभाग तथा ब्राह्मणभागमें वेनके लड़के पृथुका नाम आया है; तब मनुस्मृतिमें उस नामके आनेसे वहां प्रक्षिप्तता कैसे हो सकती है? अतः श्रीतुलसीराम-स्वामीका वेनके नाम आनेसे नियोगखण्डक पद्यको मनुस्मृतिमें प्रक्षिप्त बताना यह व्याजमात्र हैं।

(३) जो कि—'नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः' आदि नियोगखण्डक पद्योंका श्रीतुलसीरामने अर्थ बदलनेकी चेष्टा की है, वह भी उनका मनुस्मृतिपर बलात्कार है। यह सिद्ध करता है कि—वे भी उक्त मनुपद्योंका प्रक्षिप्त मानना जबर्दस्ती समझते हैं। हम उसपर विचार करते हैं।—

श्रीतु.रा.जीने लिखा है—'द्विजातिभिः—द्विजोंने विधवा नारी—द्विज विधवा स्त्री, अन्यस्मिन्—द्विजोंसे अन्यमें न नियोक्तव्या—नहीं नियोजित करनी। अन्यस्मिन् नियुञ्जाना हि - क्योंकि द्विज स्त्री अपने सवर्णसे अन्य किसीमें नियोगकी हुई, सनातनं धर्मं हन्युः—सनातनधर्मका नाश करती हैं'

परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं। यहांपर 'अन्यस्मिन्' का अर्थ है—'भर्तुरन्यस्मिन् देवरे सपिण्डे वा न नियोक्तव्या' अर्थात् द्विज विधवा स्त्री को अन्य अर्थात् देवर वा सपिण्डमें नियुक्त न करें; नहीं तो स.ध.का नाश होता है; क्योंकि स्त्रियोंका एक पति होना अनादि-सिद्ध धर्म है। इस अर्थका कारण यह है कि—यह (९।६४) पद्य 'देवराद् वा सपिण्डाद् वा' (९।५९) इस पूर्वपक्षके पद्यका खण्डक है। खण्डक पद्य खण्डनीय पद्यके पदोंको ही अनुवृत्त करता है। यही अर्थ अन्य सात टीकाकारोंने भी किया है। आर्यसमाजी टीकाकार श्रीराजाराम शास्त्रीने भी यही किया है। सो यहां 'देवराद् वा सपिण्डाद् वा इस पूर्वपक्ष पद्यके प्रकृत होनेसे उत्तरपक्षके 'अन्य' शब्दसे उसी देवर, सपिण्डका ग्रहण है, सो उसीका

यहां निषेध है। यह नहीं कि—द्विजका द्विजासे तो नियोग निषिद्ध न हो, और द्विजका अन्यसे नियोग निषिद्ध हो। 'द्विज' यह वर्णका नाम नहीं है; जोकि तुलसीरामजीने 'अपने सवर्णसे अन्य' में यह अर्थ उसमें प्रक्षिप्त कर दिया है। यह अर्थ है कि—द्विज स्त्री तो अन्य देवर वा सपिण्डसे नियोग न करे; हाँ; शूद्र स्त्री तो अन्य देवर वा सपिण्डसे भले ही नियोग करे। सो 'अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा' इस न्यायसे निकटके देव-रादिका निषेध है; उसमें न सुनाई दे रहे 'असवर्ण' का उक्त पद्यमें कुछ भी अर्थ वा गन्ध नहीं। 'देवदत्त' 'देवदिण्ण' शब्दको निषिद्ध करता है, गावी, गोणी आदिको निषिद्ध नहीं करता। सो उसी देवरादिसे नियोगका द्विजको सर्वथा निषेध कर दिया गया है; यहां द्विजकी द्विजसे नियोगकी विधि कहीं नहीं है। क्योंकि—आगे 'नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्' (९।६५) इस पद्यमें मनुजीने वेदके वैवाहिक-मन्त्रोंमें नियोगका सर्वथा न होना ही सूचित किया है।

श्रीतुलसीरामके अर्थके अशुद्धताका कारण स्वयं स्वा. दयानन्दसे विरुद्धता भी है। क्योंकि—'अपने वर्ण वा अपनेसे उत्तम वर्णस्थ पुरुषके साथ...नियोग कर सकती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि—वीर्य सम वा उत्तम वर्णका चाहिये, अपनेसे नीच वर्णका नहीं। (स.प्र.पृ. ७०) यहां स्वा.द.जी अपनेसे भिन्न चाहे वह उत्तम वर्ण भी क्यों न हो—उससे नियोग की आज्ञा देते हैं; तब क्या यह असवर्णतामें नियोग नहीं है? तब 'अन्य-स्मिन्' का श्रीतु.रा.के अनुसार 'अन्यवर्णका निषेध' अर्थ करनेपर उनने अपने आचार्य दयानन्द पर भी आक्रमण कर दिया। अब असवर्णमें नियोग बताते हुए स्वा. द. झूठे, वा तुलसीराम स्वामी—यह वे ही बतावेंगे?

तुलसीरामजीके मतसंचालक स्वा.द.जीने व्यासजीका दासी (शूद्रा) के साथ भी नियोग महाभारतमें बताया है। तब श्रीतुलसीरामजीका पक्ष बिल्कुल कट जाता है—यह नियोगके पक्षी श्रीतुलसीरामजीने नहीं विचारा,

क्योंकि—यहां स्पष्ट द्विजसे भिन्न असवर्णा बल्कि नीच वर्णवाली स्त्रीके साथ स्वामीने नियोग बताया है।

उन्हीं श्रीतुलसीरामजीने सं. १९५९-६० के अपने 'वेदप्रकाश' पत्रके अङ्कोंमें ब्राह्मणोंसे निम्नवर्ण क्षत्रिय—स्त्रियोंका नियोग सनातन बताया है। तब उनका 'अन्यस्मिन्' का 'अन्यवर्णमें' अर्थ करना स्ववचन-विरोधसे भी खण्डित हो गया; तब मरे हुए को क्या मारें?। क्योंकि—मनुके पद्यमें 'अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम्' (९।६४) यह लिखा है इस प्रकार उनके अनुसार 'द्विज अपने—अपने वर्णमें नियोग करें; अन्य वर्णोंमें नहीं; नहीं तो असनातनता होगी, पर उन्हीं तु.रा. जीने ब्राह्मणोंके साथ उनसे निम्नवर्णकी क्षत्रियाओंके नियोगको सनातन बताया है। इस प्रकार उनका स्वयं व्याघात सिद्ध होनेसे उनका पक्ष खण्डित हो गया।

यह भी प्रष्टव्य है कि—श्रीतुलसीरामके अनुसार यदि द्विज-विधवा अन्यवर्णमें नियोगकी अधिकारिणी नहीं; तब क्या द्विज अपनी सधवा स्त्रीको अन्य वर्णमें नियुक्त कर सकेगा? अथवा द्विजोंसे भिन्न शूद्र क्या अपनी सधवाको अन्य वर्ण वैश्य आदि वा चाण्डाल आदिमें नियुक्त कर सकेंगे? उक्त पद्यमें 'शूद्र' का नाम नहीं कहा गया है; तब क्या शूद्रकी विधवा वा सधवाका सर्वथा ही नियोगका निषेध है, जो कि द्विज-विधवाओंको द्विजोंके साथ तुलसीरामजी नियोगकी आज्ञा देते हैं? तब स्पष्ट है कि—श्रीतुलसीराम-स्वामीके अर्थमें बनावट है, जिसमें बहुतसे दोष पड़ते हैं।

यदि कोई श्रीतुलसीरामजीका अनुयायी कहे कि—क्षत्रियाणियोंका ब्राह्मणोंसे नियोग द्विजसे द्विजाका नियोग है, यह भी ठीक नहीं; क्योंकि तु.रा.जीने लिखा है—'द्विज स्त्री अपने सवर्णसे अन्य किसीमें नियोगकी हुई स० ध० का नाश करती है' तब ब्राह्मणोंके साथ क्षत्रियाणिओंका असवर्णविवाह धर्मका नाशक सिद्ध हुआ। नियोगके प्रवर्तक राजा वेनके

लिए मनुस्मृतिमें कहा है—'वर्णानां सङ्करं चक्रे कामोपहतचेतनः (९।६७) इसमें वर्णसङ्करताकारक होनेसे जो नियोगकी निन्दा की गई है, इससे तो सिद्ध होता है कि-इसमें सङ्करतामात्रका निषेध इष्ट है; न कि द्विजकी शूद्रके साथ सङ्करताका; क्योंकि यहां विशेषता कुछ भी नहीं कही गई है। तब तु.रा.जीके मतमें भी सब वर्णोंका सङ्कर यहां इष्ट नहीं है। इसलिए श्रीतु.रा.जीने अपनी मनुस्मृतिकी टीकाके ३१३-३१४ पृष्ठमें कहा है—'इनसे नियोगकी बुराई वा पूर्वमनुप्रोक्त नियोगसे परस्पर विरोध नहीं आता, किन्तु यह आशय निकलता है कि वेन राजाने कामवश-नियोगकी स्ववर्णानुसारिणी परिपाटीको तोड़कर [यह गलत है—इसमें कामवशता क्या है? नियोग चाहे अपने वर्णमें हो; वा भिन्न वर्णमें, दोनों स्थानमें काममें कोई विशेषता नहीं रहती, वस्तुतः नियोगके चालू करनेमें ही कामवशता है। इतिहासका कोई प्रमाण ऐसा नहीं मिलता, जिसमें वेनका भिन्न-वर्णोंमें नियोग चालू करना लिखा हो।] एक वर्णका दूसरे वर्णमें नियोग प्रचलित करके वर्णसंकर कर दिया" [यह तु.रा.जीकी बात ठीक नहीं। नियोग चालू करनेसे ही वर्णसङ्करता वहां बताई गई हैं, भिन्न वर्णमें नियोगसे नहीं। मनुजीने कहा है—'व्यभिचारेण वर्णानाम् अवेद्यावेदनेन च। जायन्ते वर्णसङ्कराः' (मनु. १०।२४) यहांपर अवेद्या-वेदनसे भी वर्णसङ्करता बताई है; सो यह अन्य स्त्रीसे नियोग भी अवेद्या-वेदन ही है। 'परदाराभिमर्शेषु···जायते वर्णसङ्करः' (मनु. ८।३५२-५३) सो नियोगमें परदारासे ही तो सम्भोग होता है; तो यह वर्णसङ्कर-कारक ही हुआ। इसलिए गीतामें भी इसी अनौचित्यके कारण वर्णसंकरता बताई गई है—'स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय! जायते वर्णसङ्करः' (१।४१) यहां स्त्रीकी दुष्टतामात्रसे अर्थात् परपुरुषके ग्रहणमात्रसे वर्णसंकरता बताई गई है। 'उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्। सङ्करस्य च कर्ता स्याम् उपहन्याम् इमाः प्रजाः' (३।२४) इस गीताके पद्यमें कर्मत्याग-मात्रसे वर्णसंकरता बताई गई है। इस प्रकार वेनके नियोगमें स्त्रियोंकी दुष्टता वा परपुरुषके ग्रहणसे अपने कामके त्यागसे वर्णसङ्करता बताई गई

है। न कि भिन्न-वर्णोंमें नियोगसे ।] तवसे नियोग साधुओंमें निन्दित समझा जाने लगा । [यहां भिन्न-भिन्न वर्णोंसे नियोगकी निन्दितता नहीं बताई गई है, बल्कि मृतपतिका स्त्रीका सन्तानकेलिए परपुरुषसे संभोग करनेसे नियोग सत्पुरुषोंमें निन्दित समझा जाने लगा । जैसे कि उक्त-पद्योंके उपसंहारमें कहा गया है—

'ततः प्रभृति यो मोहात् प्रमीतपतिकां स्त्रियम् । नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः' (९।६८) (उस समयसे शुरू करके जो मृतपतिका स्त्रीको सन्तानकेलिए नियोग कराता है; सत्पुरुष उसकी निन्दा करते हैं) यहां पर अन्य वर्णसे नियोग करनेमें निन्दितता नहीं बताई गई; किन्तु विधवाका किसी भी परपुरुषसे सन्तानकेलिए नियोग करानेकी निन्दितता बताई गई है । वर्णसङ्करता तो विवाहमें भी निन्दित है, उसकी नियोगमें कोई विशेषता नहीं हो जाती कि—उसकी विशेष निन्दा की जाय; और अपने वर्णमें नियोगकी आज्ञा दी जावे !

तव उक्त मनुपद्यका यही स्वारस्य है कि–द्विज स्त्रीका तो अन्य पुरुषसे नियोग नहीं होता, हां, शूद्र-स्त्री जैसा चाहे, वैसा करे । उसमें कुछ भी विधि-निषेध नहीं । 'नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात् प्रतिषेधनम्' (मनु. १०।१२६) ।

जो कि—'नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु' (९।६५) इस पद्यकी टीकामें श्रीतुलसीरामस्वामीने यह बहाना किया है कि—नियोग वैवाहिक-मन्त्रोंमें तो नहीं है, किन्तु भिन्न प्रकरणमें है, जैसेकि उनके शब्द हैं–'६५ का आशय नियोगके निषेधमें नहीं है; किन्तु यह है कि—विवाह और नियोग भिन्न-भिन्न हैं, एक बात नहीं है, क्योंकि—विवाहके मन्त्रोंमें नियोग नहीं कहा है, किन्तु विवाहसे भिन्न प्रकरणके मन्त्रों (अथर्व. ९।५।२७-२८, ५।१७।८, १८।३।१, ऋ. १०।१८।८) इत्यादिमें तो नियोगविधान है । विधवाका पुनर्विवाह विहित नहीं है, इससे नियोगका निषेध नहीं आता, किन्तु पुनर्विवाहका निषेध है' यह तुलसीरामजीका बहाना उनके स्वामीजीकी

उक्तिसे विरुद्ध है, क्योंकि उनके स्वामीजीने 'वीरसूर्देवृकामा' (ऋ. १०।८५।४४ (संस्कारविधि पृ. १४४) 'प्रजावती वीरसूर्देवृकामा' (अ. १४।२।१८) (स. प्र. पृ. ७१) 'सोमः प्रथमो विविदे' (ऋ. १०।८५।४०) (स. प्र. पृ. ७२) 'दशास्यां पुत्रान् आधेहि पतिमेकादशं कृधि' (ऋ. १०।८५।४५) (सं. वि. पृ. १७३-१७४) इत्यादि पारस्करगृह्यसूत्रादिसे कहे हुए विवाहके सूक्तके मन्त्रोंमें भी नियोग माना है; तव श्रीतुलसीरामजीने यह मनुके पद्यका अर्थ करके जहाँ अपने स्वामीका खण्डन किया है, वहाँ अपना भी खण्डन किया है । क्योंकि–तुलसीराम भी 'देवृकामा' पदके विवरणमें कहते हैं कि—'विवाहके मन्त्रको नियोगमें लगाना उस दशामें बुरा नहीं है, जवकि मूलमन्त्रमें द्वितीय वरका भी वर्णन हो; क्योंकि नियोग भी तो एक प्रकारसे विवाह है" यदि ऐसा है; तो नियोगकी विधि भी वैवाहिक मन्त्रोंमें होनी चाहिये थी । परन्तु मनुजी नियोगका सर्वथा खण्डन करते हैं; तव वेदमें नियोगका सर्वथा अभाव ही सिद्ध है; और तुलसीरामजीका कहा मनुश्लोकका आशय असङ्गत ही है ।

शेष रहा श्रीतुलसीरामजीका वेदके विवाहसे भिन्न प्रकरणमें नियोगके मन्त्रोंका होना—सो उसका हम 'आलोक' के ८म पुष्प (१७ वें निवन्ध) में सर्वाङ्गीण समाधान कर चुके हैं। पाठक वहीं देखें । (४) आगे मनुजीने पूर्वपक्षमें कहे नियोग (९।५९-६३) को ९।६६ पद्यमें 'पशु-धर्म' और 'विगर्हित' कहा है । इससे नियोगका सङ्करता अथवा असङ्करता सव अवस्थाओंमे खण्डन हो गया । इस पद्यमें 'विद्वद्भिः' पाठ हो, चाहे 'अविद्वद्भिः' उससे नियोगकी निन्दा ही इष्ट है, इस विषयमें 'आलोक' (९) पृ. ३७६-३७९ में देखिये । यह पद्य सव टीकाकारोंकी सम्मतिसे तथा बृहस्पतिके वचनसे नियोगमात्रके खण्डक हैं; तव श्रीतुलसीरामजीका बहाना कट गया ।

जो कि—'स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा । वर्णानां सङ्करं चक्रे कामोपहतचेतनः' (मनु. ९।६७) यहां श्रीतुलसीरामजीने वेन-द्वारा

वर्णसङ्करता करनेसे नियोगमें दोष दिखलाया है, असङ्करतामें नहीं, जैसे कि उनकी मनुकी टीकामें—"६६ का तात्पर्य भी यही है कि—पहले द्विजों का सवर्णोंमें, ५९ के अनुसार नियोग चला आता था; परन्तु जब राजा वेनने एक वर्णका दूसरे वर्णसे भी प्रचरित कर दिया; तबसे यह निन्दित और पशुधर्म कहाने लगा।...६७ वें में उसका कारण भी स्पष्ट बताया है कि—क्यों यह कर्म निन्दित माना जाने लगा कि--उसने वर्णों का संकर (घोलमेल) कर दिया। ६८ वें में स्पष्ट कथन है कि—तब से नियोग करनेवालोंकी निन्दा होने लगी है; अर्थात् वेनसे पूर्व द्विजोंका द्विजोंमें सवर्ण स्त्री-पुरुषोंका नियोग निन्दित न था"।

इसका हम पूर्व खण्डन कर चुके हैं। इसमें शास्त्रज्ञाता पाठकोंने जान लिया होगा कि—यह तुलसीरामजीका व्याजमात्र है; नहीं तो वर्ण-संकरतामें नियोगकी निन्दा कैसे होती? वर्णसंकरतामें तो पहले विवाह भी होता था, पर इसमें किसीने कहीं विवाहकी निन्दा नहीं कर डाली कि—उससे विवाह ही को कोई पशुधर्म बता देता। तब तुलसीरामजीका व्याज कट गया।

वस्तुतः नियोगसे ही वेनने वर्णसङ्करता कर दी। द्विजसे द्विजाका नियोग हो—इस तुलसीरामजीके अर्थमें भी क्षत्रियाओंका ब्राह्मणोंसे नियोग होनेपर यद्यपि यह द्विजसे द्विजाका नियोग है; तथापि असवर्णतावश वर्ण-सङ्करता यहां भी है। यह भी वादीके पक्षमें दोष रहेगा, इसपर वादी महाभारतीय नियोग देखे। यदि वादी ब्राह्मणोंका ब्राह्मणियोंसे और क्षत्रियाओंका क्षत्रियोंसे इत्यादि रूपमें सवर्णोंका नियोग चाहता है, पहले तो उसे महाभारत आदिमें ऐसा कोई इतिहास नहीं मिलेगा; तब तो विवाहमें भी पहलेसे ही असवर्णताका निषेध होनेसे नियोगमें उसकी विशेषता न रही। वस्तुतः परस्त्रीसे मैथुनके कारण ही वर्णसंकरता होती है, वह नियोगमें स्वतः होनेसे वहां उसको वर्णसङ्करताकारक कहा है। इसलिए पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें कहा है—

'पर-बीजे नरो जातः स च स्याद् वर्णसङ्करः' (५४।२६)। मनुजीने भी कहा है—'परदाराभिमर्शेषु...तत्समुत्थो हि लोकस्य जायते वर्णसंकरः। येन मूलहरोऽधर्मः, सर्वनाशाय कल्पते' (८।३५२-३५३)। तब नियोगमें स्त्रीका परपुरुष लेनेसे ही वहां वर्णसङ्करता सिद्ध हुई। तब यहां नियोग ही दुष्ट सिद्ध हुआ, नियोगमें वर्णसंकरता दुष्ट सिद्ध न हुई।

तभी उक्त मनुपद्यका श्रीकुल्लूकभट्टने यही अर्थ किया है—'कामोपहत-बुद्धिर्भ्रातृभार्यागमनरूपं वर्णसंकरं प्रावर्तयत्'। (भाईके भार्या-गमनरूप वर्णसङ्कर को वेनने चालू किया।) यही अर्थ मनुजीको भी इष्ट है; क्योंकि—मनुजीके मतमें 'व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च। स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसङ्कराः' (१०।२०) यहांपर अवेद्याके वेदनसे (जिसे नहीं लेना चाहिये, उस स्त्रीके लेनेसे) वर्णसङ्करता मानी गई है। अवेद्यात्व वहां पर यह है कि—'भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्नी अनुजस्य सा (बड़े भाईकी स्त्री छोटेकी गुरुपत्नी है)। यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता' (छोटे भाईकी स्त्री बड़ेकी पुत्रवधू है)। ज्येष्ठो ययीयसो भार्यां यवीयान् वाऽग्रजस्त्रियम्। पतितौ भवतो गत्वा नियुक्ता-वप्यनापदि' (मनु. ९।५७-५८) (बड़ा भाई छोटेकी स्त्रीसे और छोटा भाई बड़ेकी स्त्रीसे नियोगमें भी गमन करनेसे पतित हो जाते हैं।) तब श्रीतुलसीरामजीका बहाना कट गया; तभी इस पद्यके अर्थमें (सन्तान रहते, किन्तु) इन शब्दोंका उन्हें अर्थमें प्रक्षेप करना पड़ा; जो अमान्य है।

इसके अतिरिक्त उक्त मनुपद्योंसे यह सिद्ध होता है कि—नियोगका आरम्भ ही राजा वेनसे हुआ। इसलिए श्रीकुल्लूकने लिखा है—'अतो वेनाद् आरभ्य प्रवृत्तोऽयम् आदिमान्-इति निन्द्यते'। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि—नियोग वेनसे पहले नहीं था। इसी नियोगरूप पापके चालू करनेके कारण ही ब्राह्मणोंने राजा वेनको मार डाला था। मनुजी तथा अन्य स्मृतिकारों द्वारा नियोगका निरूपण पूर्वकल्पके ज्ञानके कारण लिखा

गया है कि—पूर्वकल्पमें वेनने उसे चालू किया था। अथवा भविष्यद्-दृष्टि से भी हो सकता है। भविष्यत्-ज्ञान भी प्राचीन-शैलीमें भूतकालकी भांति दिखाया जाता है। 'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति' (उत्तर. १।१०) (ऋषियोंकी वाणी पहले चलती है, वह पदार्थ पीछे होता है) जैसेकि वेदमें-'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ. १०।१९०।३) यहां वेदमें सूर्य और चन्द्रकी रचनासे पहले ही वेदमें उन्हें भूतकालकी भांति वर्णित किया है। सूर्य-चन्द्र आदि सृष्टिके निर्माणसे पीछे यह मन्त्र नहीं बनाया गया; किन्तु पहले ही; नहीं तो वेदकी अनादितापर आघात हो जाय। फिर भी उनका वर्णन भविष्यत्में न करके भूतकालकी भाँति किया गया है। इस प्रकार भविष्यत् राम तथा उनके पिता दशरथ आदि तथा लड़कों लवकुश आदिका वर्णन भी सृष्टिकी आदिमें हुए प्रचेताके लड़के श्रीवाल्मीकिमुनिने अपनी रामायणमें पूर्व भूतकालमें कर दिया है। इस प्रकार पृथु अवतारके पिता राजा वेनका भी वर्णन भविष्यद्द्रष्टा मनुजीने भूतकालकी भांति कर दिया हो; और उससे चालू किये जाने वाले नियोगका भी पूर्वसे वर्णन कर दिया हो; जैसे कि—ज्योतिषी लोग १०० या १००० वर्षमें आगे होनेवाले सूर्य-चन्द्रमाके ग्रहणोंको भी पहलेसे लिख डालते हैं; और मनुजीने उनकी बुराई दिखा दी हो, जिससे लोग उससे बचे रहें; इसमें ऋषिका भविष्यद्द्रष्टृत्व सूचित होता है; न कि कोई असङ्गति।

और फिर 'ततः प्रभृति यो मोहात् प्रमीतपतिकां स्त्रियम्। नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः' (९।६८) (उस समयसे लेकर जो लोग मृतपतिवाली स्त्रीके सन्तानार्थ उसका किसीसे नियोग कराता है, सत्पुरुष उसकी निन्दा करते हैं) इस उपसंहारके पद्यसे भी पुरुषमात्रसे नियोगमात्रकी दुष्टता सिद्ध होती है; क्योंकि यहांपर अन्य वर्णमें नियोग करनेकी निन्दा नहीं बताई गई, किन्तु अन्य पुरुष द्वारा विधवाके मैथुनसे सन्तान पैदा (नियोग) करानेकी सदाकेलिए निन्दा की गई है। तब श्रीतुलसीराम-

स्वामीका इस पद्यके अर्थमें ब्रेकेट लगाकर यह लिखना कि—'किन्तु वेनसे पूर्व इसकी निन्दा न थी' यह तात्पर्य गलत है; किन्तु यह तात्पर्य निकलता है कि—नियोगको राजा वेनने ही चलाया था; उससे पूर्व नियोग था ही नहीं। कुल्लूकभट्टने भी ९।६६ में यह लिखा है—'अतो वेनाद् आरम्य प्रवृत्तोऽयम् (नियोगः) आदिमान् इति निन्द्यते'। इसलिए नियोग दूषित सिद्ध हुआ।

जो कि—श्रीतुलसीराम आदि दयानन्दी वेदसे बलात् कई मन्त्र देकर वा महाभारत-द्वारा नियोग सिद्ध किया करते हैं; इन सबका समाधान हम 'आलोक' के ८म पुष्पमें भली-भान्ति कर चुके हैं; पाठकोंको उसे मंगा लेना चाहिये। महाभारतमें मैथुनिक नियोग नहीं; इस विषयमें भी ८म पुष्पमें 'नियोग और मैथुन' (१) विषय देखना चाहिये।

(१३) विधवाविवाह वा नियोगविधायक वचनोंपर विचार

स्वा.द.जीके नियोगपर विचार हो चुका। स्वामीजीने द्विजोंकेलिए विधवाविवाहका तो खण्डन किया है; और उसे शूद्रोंका धर्म बताया है। हम दयानन्दियों—द्वारा विधवाविवाहके दिये जाते हुए कतिपय—वचनोंपर विचार करते हैं।—

(१) कृष्णयजुर्वेद-तैत्तिरीयसंहितामें कहा गया है—'एकस्मिन् यूपे द्वे रशने परिव्ययति, तस्माद् एको द्वे जाये विन्दते। यद् नैकां रशनां द्वयोर्यूपयोः परिव्ययति, तस्माद् नैका द्वौ पती विन्दते' (६।६।४।२।७) (एक यूपमें तो दो रशनाएं (रस्सियां) बांधी जाती हैं; अतः एक पुरुष तो दो स्त्रियाँ कर सकता है। परन्तु एक रशनाको दो यूपोंमें नहीं बांधा जाता; इस कारण एक स्त्री दो पति नहीं कर सकती)

इससे पुरुषको तो बहुत विवाह कर सकनेका आदेश है; पर स्त्रीको बहुत पति करनेका आदेश नहीं; तब विधवाका पुनर्विवाह इससे निषिद्ध है। कई दयानन्दी व्यक्तियोंका यह कथन है कि-स्त्री एक-कालमें तो इस श्रुति के बलसे बहुत पति नहीं कर सकती, पर भिन्न-भिन्न कालमें कर सकती

है; भिन्न कालमें उसका दो पति करना निषिद्ध नहीं, इससे विधवाका पुनर्विवाह सिद्ध-सा हो जाता है; इसपर यह जानना चाहिये कि उक्त श्रुतिमें 'एक-काल' पद नहीं है; जिससे उसका एक-कालमें तो दो पति करना निषिद्ध हो जावे; और भिन्न-भिन्न कालमें दो पति करनेका विधान हो जावे; अतः इससे सब कालोंमें चाहे एक-काल हो; चाहे भिन्न-भिन्न काल-उसका अन्य पति करना इस श्रुतिके द्वारा निषिद्ध है।

यहांके दिये रशना और यूपके दृष्टान्तसे यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है। यज्ञमें एक यूपमें बांधी हुई रशना भिन्न कालमें किये जाते हुए अन्य यज्ञमें फिर अन्य यूपमें नहीं बांधी जाती; क्योंकि-वह रशना पहले यज्ञमें एक यूपमें बांधी जा चुकी होनेसे उच्छिष्ट एवं अपवित्र हो जाती है; अतः अन्य यज्ञमें उसका फिर उपयोग, अन्य यूपमें बन्धन नहीं हुआ करता। दृष्टान्तमें यहां स्त्री रशना है और पति यूप (स्तम्भ) है; और यज्ञ विवाह है। एक पतिरूप-यूपमें बहुत-सी रशनारूप स्त्रियां बांधी जा सकती हैं; पर स्त्रीरूपा--रशना विवाहयज्ञमें उच्छिष्ट होकर 'फिर अन्य पतिरूप-स्तम्भ (यूप) में नहीं बांधी जा सकती। यज्ञ पूर्ण होजानेपर जैसे प्रयुक्त हो जा चुकी वह रशना अन्य यज्ञमें प्रयुक्त नहीं होती, इस प्रकार स्त्री भी एक विवाह-यज्ञमें बद्ध होकर फिर अन्य विवाहमें प्रयुक्त नहीं हो सकती'।

बोधायनीय-पितृमेधसूत्रमें भी कहा है—'मृतपत्नीकः ऋतून् आहरिष्यन् जायामुपयम्य अग्नीन् आदध्यात्। विज्ञायते च—तस्माद् एको द्वे जाये विन्दते; तस्माद् एको बह्वीर्जाया विन्दते—इति च' (२।४।२) यहां पर अग्न्याधानकेलिए पुरुषका पुनर्विवाह कहा है। फिर प्रश्न होता है कि—स्त्रीका पति मरनेपर भी वह भी अग्न्याधानकेलिए पुनर्विवाह क्यों न करे? इसपर उक्त पितृमेधसूत्रमें कहा है—'नह्यस्या अपतित्वात् पुनरग्न्याधेयं विद्यते, विज्ञायते च-तस्माद् नैका द्वौ पती विन्दते' (२।४।४) अर्थात्-उस स्त्रीका पतिके साथ तो यज्ञमें बैठनेका अधिकार है; पर

उसका बिना पतिके स्वतन्त्र यज्ञ करनेमें अधिकार न होनेसे फिर वह अन्य पति लेनेमें अधिकृत नहीं होती।

परन्तु पुरुष अग्न्याधान फिर लेना चाहे; तो उसे फिर विवाह करना पड़ता है। कारण यह है कि—वह अग्नि उस पत्नीके पिताके घरसे लाई जाती है; पतिके घरसे नहीं। तब उसे अन्य पत्नी लेनी पड़ती है; परन्तु स्त्री अन्य पति नहीं कर सकती, क्योंकि—पतिके घरसे अग्नि लाना कहीं अनुशिष्ट नहीं। हाँ, पुरुष यदि दो-बारा अग्न्याधान न लेना चाहे तो बिना आश्रमके तो वह रह नहीं सकता; पिछले आश्रममें भी नहीं जा सकता; क्योंकि—वह कै खाना-सा होता है; तब उसे अनग्नि-आश्रम संन्यासाश्रममें जाना पड़ता है। इस प्रकार विधवा-स्त्री भी अनग्निक-संन्यासीकी भान्ति होती है। जैसे संन्यासीको विवाह वर्जित होता है; वैसे संन्यासीकी दूसरा रूप विधवाको भी विवाह नहीं करना पड़ता। अतः विधवाविवाह शास्त्रीय नहीं।

(२) 'नैकस्यै बहवः सह पतयः' (ऐतरेयब्रा) गोपथ ब्रा. २।३।२०, काठकसं. २६।८, कृ.य. तैत्तिरीय सं. ६।४।३) यह भी श्रुतिवचन है, इसका अर्थ है कि—एक स्त्रीके बहुत पति न हों। इससे भी विधवा-विवाहका निषेध सिद्ध होता है। पर कई लोग इसका यह अर्थ करते हैं कि--'एक स्त्रीके इकट्ठे बहुत पति न हों; पर पहले-पहले पतिके मर जानेपर फिर उसके आगे अन्य पति भले ही हों; पर रहे एक ही पति। इससे विधवाविवाहका बाध नहीं होता'। परन्तु ऐसा अर्थ करनेवाले वेदस्मृति आदियोंसे अपरिचित प्रतीत होते हैं।

विवाह होजानेपर चतुर्थीकर्ममें स्थालीपाक खिलानेके समय वर अपनी भार्याको कहता है—'प्राणैस्ते प्राणान् संदधामि, अस्थिभिरस्थीनि, मांसैर्मांसानि, त्वचा त्वचम्' (पारस्करगृ. १।११।५) (मैं तेरे प्राणोंको अपने प्राणोंसे, तेरी हड्डियोंको अपनी हड्डियोंसे; तेरे मांसोंको अपने मांसोंसे, तेरी त्वचासे अपनी त्वचाको जोड़ता हूं) इस मन्त्रसे दोनोंको

इकट्ठा कर देना कहा है। इससे सिद्ध हुआ कि--जबतक दोनोंकी हड्डियां आदि विद्यमान हैं; तबतकके लिए दोनोंका सम्बन्ध दृढ हो जाता है। इसका भाव यह है कि--वह सम्बन्ध दोनोंके जीवन तक नहीं टूटना चाहिये। इससे स्त्रीमें जो पतित्व पूर्वोक्तमन्त्रके द्वारा संहित था; वह पतिके मरजानेपर भी नहीं जाता, क्योंकि 'जीवन् वापि मृतो वापि पतिरेव प्रभुः स्त्रियाम्' (वृहत्परा. ४।४५) तभी तो उसका पति उसके पिताके गोत्रका भी परिवर्तन करवाकर अपना गोत्र करवा दिया करता है, पर फिर पतिके गोत्रका परिवर्तन कहीं नहीं आया। 'इतो मुक्षीय माऽमुतः' (यजुः ३।६०) इस मन्त्रका यही अर्थ है कि--मैं पिताके घरसे तो छूटूं; पर पतिके घरसे न छूटूं। इस प्रकार जब विधवा होजानेपर भी उससे उसके पतिका पतित्व नहीं छूटता। यदि वह अन्य पति करेगी; तो बहुत से सहपति होजानेसे 'नैकस्यै वहवः सह पतयः' इस पूर्वोक्त श्रुतिवचनसे विरोध आवेगा। क्योंकि मृतपति का पतित्व उसकी अस्थिमज्जामें पहलेसे सम्पृक्त है। तभी तो वृहत्पराशरस्मृतिमें भी कहा गया है—'जीवन् वापि मृतो वापि पतिरेव प्रभुः स्त्रियाम्' (४।४८)। इसलिए कृ.य. काठकसंहितामें भी लिखा है—'तस्माद् उ ह एको वह्वीर्जाया विन्दते, नैका वहून् पतीन्' (२६।८।२२)।

वृहस्पतिका वचन भी प्रसिद्ध है—'आम्नाये स्मृतितन्त्रे च लोकाचारे च सूरिभिः। शरीरार्धं स्मृता जाया पुण्या पुण्यफलप्रदा'। इसलिए कहा गया है—'यस्य नोपरता भार्या देहार्धं तस्य जीवति। जीवत्यर्धशरीरे तु कथमन्यः समाप्नुयात्' (जीमूतवाहनदायभाग ११३ श्लो.) (जिस मृतक पुरुषकी भार्या जीती है; तब उसका आधा देह जीता है। उस आधे शरीरके जीते रहनेपर उसे दूसरा पुरुष कैसे ले सकता है ?)।

यह ठीक भी है। मन्त्र-ब्राह्मणमें लिखा है—'ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम्' (१।६।६, गोभिलगृ. २।३।११) (यह स्त्री पतिकुलमें स्थिर है) यह मन्त्र स्वा.द.जीकी सं.वि. (१६५ पृ.) में है। 'ध्रुवाऽहं पतिकुले

भूयासम्' (गोभिलगृ. २।३।८) यह भी वहीं है। 'यदेतद् हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम। यदिदं हृदयं मम, तदस्तु हृदयं तव' (मं.ब्रा. १।३।६) (जो यह तेरा हृदय है, वह मेरा हो। जो यह मेरा हृदय है, वह तेरा हो) यह मन्त्र स्वा.द.की संस्का.वि. (पृ. १६७-१६८) में है। इस प्रकारके मन्त्रोंको स्वा.द.जीके अनुसार उच्चारण करनेवाली भी स्त्रीको यदि स्वामी वा उसके अनुयायी अन्य पति कराते हैं; तो क्या यही स्त्री की दृढता है ?

अन्य भी इस प्रकारके मन्त्र देखिये—'अश्मेव त्वं स्थिरा भव' (पारस्करगृ. १।७।१) (सं.वि.पृ. १५७) (हे पत्नी, तू पत्थरकी भांति स्थिर रहना, अन्य पुरुषकी ओर न जाना)। बोधायनगृह्यसूत्रमें तो इससे भी स्पष्ट मन्त्र है—'स्पृशामि तेऽहमङ्गानि वायुरापश्च मा परः। मां चैव पश्य सूर्यं च मा चाऽन्येषु मनः कृथाः' (१।४।६) (पति अपनी पत्नीको कहता है कि—मैं तेरे अङ्गोंको छूता हूं; या वायु वा जल तुझे छुएं; अन्य तुम्हें कोई न छूवे। तू मुझे वा सूर्यको देख; दूसरेमें मन मत लगाना) 'सामाऽहमस्मि ऋक् त्वं, द्यौरहं पृथिवी त्वम्, तावेव विवहावहै, सह रेतो दधावहै, पुत्रान् विन्दावहै बहून्' (पार. १।६।३, संस्कार-वि.पृ. १५६) (हे स्त्री, तू ऋचा है, मैं साम हूं; मैं द्युलोक हूं, तू पृथिवीलोक है; आओ, हम दोनों विवाह करें, शुक्र इकट्ठा धारण करें)। 'स नो अर्यमा देवः प्र-इतो मुञ्चतु मा पतेः' (पार. १।६, सं.वि. पृ. १५८) (वह देव मुझे पितृकुलसे तो छुड़ावे, पतिके कुल (घर) से न छुड़ावे।) स्वा.द.जी सं.वि.के पृ. १५४ की टिप्पणीमें वधू—द्वारा कहलाते हैं—'हे भद्रवीर! परमेश्वरकी कृपासे आप मुझे प्राप्त हुए हो, मेरे लिए आपके बिना इस जगत्में दूसरा पति अर्थात् स्वामी पालन करने हारा देव कोई नहीं है, न मैं अब दूसरे किसीको मानूंगी'।

इस प्रकार जब स्त्री अन्य पति का मजबूतीसे निषेध कर रही है;

तब यदि वह पुनर्विवाह करती है; तो यह असत्य-प्रतिज्ञा वाली सिद्ध होती है। यदि वह नहीं करती है; तब विधवाविवाहका खण्डन होगया।

'कथमेका बहूनां स्याद् धर्मपत्नी न सङ्करः' (महा. आदिपर्व १९८।५) यहां बहुतोंकी धर्मपत्नी होना सङ्करकारक बताया है। कई अन्य पद्योंकी व्यवस्था भी हम लिख रहे हैं।—

(३) 'वरयित्वा तु यः कश्चित् प्रणश्येत् पुरुषो यदा। ऋत्वागमान् त्रीन् अतीत्य कन्याऽन्यं वरयेद् वरम्' (कात्यायनस्मृति)। 'स तु यद्यन्यजातीयः पतितः क्लीब एव वा।...ऊढापि देया साऽन्यस्मै सहाभरणभूषिता' (कात्यायन) इस वचनको कई लोग विधवाविवाहकेलिए उपस्थित करते हैं कि—कोई पुरुष स्त्रीसे विवाह करके मर जावे; तो कन्या अन्यसे विवाह कर ले'।

इसपर हमारा यह कथन है कि—'वरयित्वा' वाला वचन किसी भी स्मृतिमें नहीं है। तथापि इसकी व्यवस्था यह है—'वरयित्वा' का अर्थ है—'वरण करके'। 'वरण' का अर्थ 'विवाह' नहीं होता; वरण तो विवाहसे पूर्व वाग्दानादिमें हुआ करता है। आपस्तम्बगृह्यसूत्रमें कहा है—'सुहृदः समवेतान् मन्त्रवतो वरान् प्रहिणुयात्' (२।४।१) यहां 'वरान्' का अर्थ है—'कन्यावरणकेलिए अपने मित्रों वा सम्बन्धियोंको भेजे। तब क्या मित्रोंको वा पुरोहित आदिको उस लड़कीसे विवाहके लिए भेजा जाता है? कभी नहीं। 'वरण' का अर्थ है—'देख-भाल, पसन्दगी'। पीछे विवाह हुआ करता है।

यही बात अब अथर्ववेद सं. में देखिये—'सूर्याया अश्विना वरा अग्निरासीत् पुरोगवः' (१४।१।८) 'सोमो वधूयुरभवद् अश्विना आस्तामुभा वरा। सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सवितादददात्' (९) यहांपर लड़की 'सूर्या' कही गई है, और वरणकर्ता दो अश्विनोंको बताया गया है, पुरोहित 'अग्नि' को कहा गया है। और वधूयु (पति) सोमको बताया गया है, लड़कीका पिता सविता (सूर्य) को बताया गया है। यह सब

विवाहसे पूर्वकी सामग्री बताई गई है; उस समय पिताने मनसे वा वाणीसे लड़कीका दान किया। यदि वादी यह न माने; तो क्या दो अश्वियोंके साथ वादी एक लड़कीका अपने सिद्धान्तसे विरुद्ध विवाह मानेंगे?

स्पष्ट है कि—मन वा वाणीसे दानसे पूर्व सम्बन्धिगण जोकि लड़की को देख-भाल करने जाते हैं, यही लड़कीका वरण होता है। यह विवाह नहीं होता। इसकेलिए अन्य प्रमाण देखिये—

भीष्मजी विचित्रवीर्यकेलिए स्वयंवरसे कन्याओंका वरण करके लाये, उसमें यह पद्य है—'क्षत्रियाणां वचः श्रुत्वा भीष्मः चुक्रोध भारत! भीष्मस्तदा स्वयं कन्या वरयामास ताः प्रभुः' (महाभारत १।१०२।११) तब क्या वादी विवाह न करनेकी भीष्म-प्रतिज्ञावाले भीष्मका जो अपने भाईकेलिए उन लड़कियोंका वरण करके लाये थे, विवाह मान लेंगे?

'तं भीष्मः प्रत्युवाचेदं मद्रराजं कुरूद्वहः। आगतं मां विजानीहि कन्यार्थिनमरिन्दम!' (११३।५) श्रूयते भवतः साध्वी स्वसा माद्री यशस्विनी। तामहं वरयिष्यामि पाण्डोरर्थे यशस्विनीम्' (६) क्या यहां 'वरयिष्यामि' शब्द को देखकर वादी भीष्मका ही माद्रीसे विवाह मान लेंगे? उसके बाद 'जग्राह विधिवत् पाणिं माद्रयाः पाण्डुर्नराधिपः' (११३।१८) फिर उसका पाण्डुसे विवाह मानेंगे? यदि नहीं; तब स्पष्ट है कि—'वरण' शब्द 'विवाह'का पर्यायवाचक नहीं; नहीं तो पाण्डुके विवाह-प्रतिपादक पद्यमें भी 'वरण' शब्द होता।

(ख) इसी प्रकार 'तां त्वां संवरणस्यार्थे वरयामि विभावसो!' (महा. १।१७५।२२) यहां वसिष्ठ द्वारा एक लड़कीका संवरणकेलिए वरण करना कहा है; तो क्या वहां वसिष्ठजीका उस लड़कीसे विवाह मान लिया जायगा? (ग) 'अथ पारसवीं कन्यां देवकस्य महीपतेः।...शुश्रावाऽऽपगासुतः' (११४।१३) ततस्तु वरयित्वा तामानीय भरतर्षभः (भीष्मः)। विवाहं कारयामास विदुरस्य महामतेः'

(११४।१४) क्या यहांपर भी अविवाहकेलिए प्रतिज्ञा किये हुए भीष्मका ही पारसी कन्यासे वरण विवाह मान लिया जायगा ? 'भीष्मो वरयित्वा, विदुरस्य विवाहं कारयामास' इन भिन्न-भिन्न वाक्योंसे सिद्ध होता है कि—'वरण'का अर्थ विवाह नहीं होता। इसलिए श्रीआर्यमुनिजीने भी 'वरयित्वा' का अर्थ 'सगाई ग्रहण कर' यह अर्थ किया है।

(घ) 'तं निशम्य वृतं पाण्डुं कुन्त्या सर्वे नराधिपाः।···ततस्तस्याः पिता राजन्! विवाहमकरोत् प्रभुः' (११३।१०) यहां भी 'वृत' और 'विवाह' के पृथक्-पृथक् उल्लेखसे दोनोंका भेद स्पष्ट है।

(ङ) इस प्रकार रामायणमें भी 'भूतलाद् उत्थितां तां तु वर्धमानां ममात्मजाम्। वरयामासुरागत्य राजानो मुनिपुङ्गव!' (वाल्मी. १। ६६।१५) यह जनककी उक्ति श्रीविश्वामित्रके प्रति है कि—सीता पृथिवीसे निकलते ही बढ़ गई। उस समयसे राजा लोग उसे वरण करने आने लगे। क्या इसका अर्थ वादी यही करेंगे कि—राजाओंने उस समय सीतासे विवाह किया ? तब क्या राजाओंसे विवाहित सीताका ही श्रीरामसे पुनर्विवाह हुआ ?। नहीं; यहां वरणका अर्थ है कि—कन्याके पिताके पास जाकर राजा कहने लगा कि--इस लड़कीका मुझसे वा मेरे पुत्रसे विवाह करनेका वचन दीजिये। सो यह विवाहसे पूर्व ही होता है।

इस प्रकार 'वरयित्वा तु यः कश्चित्' इस आक्षिप्त पद्यके 'वरयित्वा' का भी अर्थ यही है, विवाह नहीं। अतः यहां 'विधवाविवाह' का प्रश्न ही नहीं उठता।

शेष वचनोंका विचार 'आलोक' ८ म पुष्पमें पाठकगण देखें।

"नियोगव्यवस्था।"

(४) हमारे सामने एक दयानन्दीका 'सनातनधर्ममें नियोगव्यवस्था' एक ट्रैक्ट पड़ा है। उसमें नवीनता तो कुछ भी नहीं है, पर उसमें जो-जो प्रमाण दिये गये हैं; उनका हमने जहाँ-जहाँ प्रत्युत्तर दिया है'

उसका पृष्ठ भी लिख डालेंगे वादीकी नई बातका यदि वह होगी; तो उत्तर यहां देते चलेंगे।

(१) वादी लिखता है—'जो स्त्री-पुरुष परस्परके लंबे विछोहवश संयममें न रह सकें; तो ऋषिवर (स्वा.द.) ने आदेश दिया है कि—'वे छिप २ कर व्यभिचार वा गर्भपात आदि दुष्कर्म न करके अन्य पुरुष-स्त्रीसे प्रसिद्धिविधिसे सम्बन्ध करके सन्तान उत्पन्न कर लेवें'। जब संयम-असंयमकी बात है; तब उसमें स्वा.द.का सन्तानका बहाना कैसा ?

इससे वादीने भी परपुरुषसे स्त्रीके, तथा परस्त्रीसे परपुरुषके सम्बन्ध को व्यभिचार मान लिया। हां, वह छिप-छिपकर व्यभिचार अच्छा न समझकर, प्रसिद्धिसे व्यभिचार कर-करा लेना जायज मानता है; पर उसके समाजने उसे चालू नहीं किया; अतएव 'नियोग' दयानन्दी-समाजके मतमें भी व्यभिचार सिद्ध हो गया। आप लोग नियोग अपने समाजमें शुरू करते-कराते तो नहीं; किन्तु उसका प्रचार करनेकेलिए ट्रैक्ट छपवाते रहते हैं; इससे सती-साध्वी रहना चाहती हुई विधवाओंमें उत्तेजना फैलाकर कोई दोष उनमें उपस्थित होनेपर अपना दोष उन्हीं स्त्रियोंके सिरपर मढ़ते हैं; इस प्रकार समाजमें आप लोग भारी अव्यवस्था पैदा कर-करा रहे हैं। यह खेदकी बात है।

(२) 'मनुने औरस, क्षेत्रज, नियोगज, दत्तक इन चारों प्रकारकी सन्तानोंको अ. ९ में वैध माना है"

क्षेत्रज और नियोगज भिन्न-भिन्न नहीं होते। वादी उनको भिन्न-भिन्न कहता हुआ अज्ञानी है। क्षेत्रज आदियोंको मनुजीने वैध कहीं नहीं माना। तभी तो मनुजीने कहा है—'यस्य ते बीजतो जाताः तस्य ते नेतरस्य तु' (९।१८१) अर्थात्-क्षेत्रज आदि पुत्र जिसके वीर्यसे उत्पन्न हैं; वे उसीके हैं, क्षेत्रवालेके नहीं। तब स्पष्ट उनकी अवैधता हो गई। मनुजीने स्पष्ट लिखा है 'यादृशं फलमाप्नोति कुप्लवैः सन्तरन् जलम्। तादृशं फलमाप्नोति कुपुत्रैः संतरन् तमः' (९।१६१) अर्थात् क्षेत्रज

आदि पुत्रोंको मनुजीने कुपुत्र माना है; और इससे मृतककी अपगति मानी है। तब इससे बढ़कर क्षेत्रज आदिकी अवैधता अन्य क्या हो ?

मनुजीने अन्य भी इसमें स्पष्टता की है, कहा है—'नान्योत्पन्ना प्रजाऽस्तीह' (५।१६२) यह कहकर मनुजीने तथा मनुके मूल 'न शेषो अग्ने ! अन्य-जातमस्ति–अचेतानस्य' (ऋ. ७।४।७ (अन्यसे पैदा हुई सन्तानको जो अपना समझता है, वह पागल है) 'नहि ग्रभाय अरणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ' (ऋ. ७।४।८।२) (अन्यसे पैदा हुए को मनसे भी अपना पुत्र मत मानो) यह कहकर वेदने भी नियोगज सन्तानोंको अवैध बता दिया है। मनुजीने नियोगका द्विजोंमें सर्वथा निषेध किया है (९।६४)।

(३) वादी कहता है—'सन्तान-प्राप्तिकेलिए नियोगका विधान है' पर स्वा.द.जी कहते हैं —'पुरुषसे···वा स्त्रीसे न रहा जाय, तो किसीसे नियोग करके' (स.प्र.पृ. ७४) 'जो ब्रह्मचर्य न रख सकें, तो नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लें' (पृ. ६९) 'परन्तु जो जितेन्द्रिय नहीं हैं, उनका···नियोग अवश्य होना चाहिये' (पृ. ७०) तब स्वा.द.के अनुसार नियोग तो कामपूर्तिकेलिए मुख्य हुआ; सन्तानोत्पत्तिकी बात मुख्य कहां रही ?। उसका तो व्याजमात्र हुआ।

(४) 'गर्भपातोंकी कुप्रथा देखी जाती है"

गर्भपात तो सधवा स्त्रियां भी कर रही होती हैं। यदि असंयमी स्त्री-पुरुषोंको सन्तानकी इच्छा होती; तो वे गर्भपात क्यों करते-कराते ?। अतएव स्पष्ट है, कि—स्वा.द.का नियोग कामपूर्त्यर्थ है, सन्तानका तो उसमें बहानामात्र हैं; तब स्पष्ट वह व्यभिचार ही हुआ।

(५) "मनुस्मृति (९।५९-६२) में नियोगका विधान है"

पर मनुजीने द्विजोंकेलिए नियोगका उत्तरपक्षमें खण्डन कर दिया है, देखो मनुस्मृति (९।६४-६८)। इस विषयमें 'आलोक' (८-९ पुष्प देखो।

(६) 'याज्ञवल्क्यस्मृति (६८-६९) में नियोगका प्रमाण"।

सब स्मृतियोंकी व्यवस्था मुख्य-स्मृति मनुस्मृतिके अनुसार हुआ करती है। स्वा.द. भी मनुस्मृतिके अतिरिक्त अन्य स्मृतिको प्रमाणित नहीं करते। सो मनुस्मृति द्विजोंमें नियोगका निषेध करती है; तब अन्य स्मृतियोंमें भी वही व्यवस्था होती है। फलतः अन्य स्मृतियोंके वे वचन शूद्रपरक हैं।

(७) "गरुडपुराण (आचारकाण्ड ९५) में नियोगका विधान है"

व्यासस्मृतिमें लिखा है—'श्रुतिस्मृति–पुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते। तत्र श्रौतं प्रमाणं तु द्वयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा' (१।४) वेद, स्मृति तथा पुराण इनमें विरोध हो; तो वेदकी बात मानो। स्मृति और पुराणमें विरोध हो, तो स्मृतिकी बात मानो। सो पुराणकी व्यवस्था भी वादि–प्रतिवादि-मान्य मनुस्मृतिके अनुसार होगी, अर्थात् द्विजोंमें नियोगका निषेध है, शूद्र भले ही करें।

(८) 'देवीभा. (१।२०।६०) में कहा हुआ द्वापरका नियोग कलियें वर्जित है। इस विषयमें 'आलोक' (८)में 'नियोग और मैथुन (१) देखो।

(९) 'कौटल्य–अर्थशास्त्र (१।१७।५२) में नियोग"

यह धर्मशास्त्र नहीं है। अर्थशास्त्रका कथन यदि धर्मशास्त्रसे विरुद्ध है; तो उससे बाधित हो जाता है। जैसे कि कहा है—'अर्थशास्त्रात्तु बलवद् धर्मशास्त्रमिति स्थितिः' (व्यवहाराध्या. २१) यह याज्ञवल्क्य-स्मृतिमें कहा गया है। नारदस्मृतिमें भी यही कहा है—'यत्र विप्रति-पत्तिः स्याद् धर्मशास्त्रार्थ–शास्त्रयोः। अर्थशास्त्रोक्तमुत्सृज्य धर्मशास्त्रोक्त-माचरेत्' (व्यवहारा. ३३)। यही बात स्वयं कौटलीय–अर्थशास्त्र भी कहता है —'संस्थया धर्मशास्त्रेण शास्त्रं वा व्यावहारिकम्। यस्मिन्नर्थे विरुध्येत धर्मेणार्थं विनिर्णयेत्' (३।१।५६) सो वहां भी मुख्य धर्मशास्त्र मनुस्मृतिने जब द्विजोंकेलिए नियोगका निषेध कर दिया है; तब अर्थ-शास्त्रके वचनका कुछ भी मूल्य नहीं।

(१०) "गौतमस्मृतिमें नियोगका विधान' (१८।१)"

यहां भी वही मनुस्मृति वाली व्यवस्था होगी; क्योंकि मनुस्मृति 'वादि-प्रतिवादिमान्य' है। स्वा.द. भी मनुस्मृतिसे भिन्न स्मृतियोंको श्रद्धेय नहीं मान गये। यह प्रसिद्ध है—'या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः। सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥ उत्पद्यन्ते च च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्। तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च' (मनु० १२।९५-९६) (जो वेदबाह्य स्मृतियां हैं, वे तमोमूलक हैं; अतः निष्फल हैं; जो-धर्मशास्त्र वेदमूलकतासे नहीं बने हैं; वे अर्वाचीनकालके होनेसे अनृत माने जाते हैं। हम नियोगकी वेद-विरुद्धता दिखला चुके हैं। सो वह वेदके अनधिकारी शूद्रोंकेलिए हैं। इससे मनुस्मृतिकी वेदमूलकता सिद्ध हुई। जैसे कि कहा है—

'यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना सम्प्रकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः' (मनु० २।७) (मनुस्मृतिप्रवक्ता भृगुजी कहते हैं कि—मनुने जो-कोई जिसका धर्म कहा है, वह सब वेदमें कहा है; क्योंकि मनु वेदका पूरा ज्ञान रखते थे)। इसलिए बृहस्पतिने भी कहा है—

'वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्। मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते। तावत् शास्त्राणि शोभन्ते तर्कव्याकरणानि च। धर्मार्थमोक्षोपदेष्टा मनुर्यावन्न दृश्यते' (मन्वर्थमुक्तावली १।१ में उद्धृत) (वेदके अर्थको उपनिबन्धन करनेवाली होनेसे मनुस्मृति सब स्मृतियोंमें प्रधान है। मनुस्मृतिके अर्थसे विपरीत जो स्मृतियाँ हैं; वह प्रशंसित नहीं होतीं।)

महाभारतमें भी कहा है—'पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्। आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः' (मन्वर्थमुक्तावली १।१ में उद्धृत) (मनुप्रोक्त—धर्म, साङ्ग—वेद, आयुर्वेद, पुराण-यह आज्ञासिद्ध हैं, इनको तर्कसे नहीं काटना चाहिये)। छान्दोग्य-ब्राह्मणमें भी कहा है—

'मनुर्वै यत् किञ्चिदवदत् तद् भेषजं भेषजतायाः' (ताण्ड्यब्रा. २३।१६

(७), कृ.य. तैसं. २।२।१०।२, कृ.य.का.सं. ११।५। (९), कृ.यमै.सं. १।१५) (सत्यार्थप्रकाश-प्रथम संस्करणमें छान्दोग्यनामसे उद्धृत) (मनुने जो कहा है, वह दवाईकी भी दवाई है)।

जब ऐसा है, और मनुस्मृति (९।६४-६८) ने द्विजोंकेलिए नियोग निषिद्ध किया है; सो अद्विज (शूद्र, और महाभारतानुसार ब्राह्मणेतर) ही नियोगके विषय रहे। वेदने भी अन्य-वीर्यजको पुत्र नहीं माना (ऋ. ७।४।७-८) देखो इस विषयमें निरुक्त (३।२।१, ३।३।१) में। इसलिए श्रीदुर्गाचार्यने भी उक्त-वेदमन्त्रोंका सार यह लिखा है—

'एवम् अस्याम् ऋचि 'न शेषो अग्ने! अन्यजातमस्ति' इत्यनेन विशेषलिङ्गेन उपपन्नमेतद् भवति, जनयितुरेव प्रजा भवति [बुधश्चन्द्रस्येव-टिप्पणी], न क्षेत्रिणः [बृहस्पतेरिव-टिप्पणी], नापि क्रेतुरन्यस्य वा कस्यचिदिति। एवं च एष शब्दार्थ उपपद्यते-यस्मादेव अपेत्य ततं भवति, तस्यैव अपत्यमिति' (३।२।१) (इस वेदके निर्देशसे सिद्ध हुआ कि—पैदा करनेवालेकी ही सन्तान होती है; न क्षेत्र वालेकी होती है; न खरीदने वाले वा अन्य किसी की। बुध चन्द्रमाका ही लड़का माना गया, बृहस्पतिका नहीं।

जब ऐसा है, तब नियोगसे क्षेत्र वाले मृतकका कोई लाभ न हुआ। 'भक्षितेपि लशुने न शान्तो व्याधिः' (लहसुन खाया भी; फिर भी व्याधि शान्त न हुई); तब गौतमस्मृति आदिमें भी कहा हुआ नियोग वेदके अनधिकारी, द्विजसे भिन्नोंकेलिए होनेसे, महाभारतमें भी उसे 'क्षात्र धर्म' राजाका धर्म (आदिपर्व १०४।२६) कहा होनेसे नियोग सर्वदेशी सिद्ध न हुआ; तब गौतमस्मृतिमें भी वह एकदेशी सिद्ध हुआ।

'देवराच्च सुतोत्पत्ति कलौ पञ्च विवर्जयेत्' इस प्रसिद्ध बृहन्नारदीयके वचनसे नियोग अन्य युगोंमें कुछ ग्राह्य माने जानेपर भी कलियुगमें यह कर्तव्य नहीं. इस बातकी सत्यताका प्रमाण यह है कि—स्वा.द.जीने ईश्वरचन्द्रविद्यासागरसे प्रचालित विधवाविवाहका घोर खण्डन करके उसे

शूद्रोंकेलिए नियत करके, नियोगको बड़े जोर-शोरसे द्विजोंकेलिए लिखा है। आर्यसमाजी पण्डितोंने इसकेलिए बड़े जोर-शोरसे शास्त्रार्थ उसके प्रचालनकेलिए किये; पर वह नियोग जारी न हो सका; यह इस कलि-वर्ज्यताका प्रमाण है। तब इस वादीका गड़े मुर्दे उखाड़ना व्यर्थ ही सिद्ध हुआ।

(११) 'वसिष्ठस्मृति'में नियोग कहा है (४६-५७) इसमें भी वही 'मनुस्मृति' वाली व्यवस्था है। वसिष्ठजीने लिखा है—'लोभान्नास्ति नियोगः' (१७।५७) इसका अर्थ वादी लिखता है 'काम-भोगादिके लालच से नियोग नहीं है'। तब इससे स्वा.द.का नियोग कट गया, जहां—'न रह सके; तो नियोग कर ले' इत्यादि स्थलोंपर कामभोगको प्रोत्साहन दिया गया है।

(१२) अर्वाचीन कोषों ('संस्कृत शब्द कौस्तुभ' पृ. ४३०, 'शब्द-कल्पद्रुम कोष' पु. ३६६) में 'नियोग' की व्याख्या लिखी होनेसे द्विजोंमें उसका विधान सिद्ध नहीं हो जाता। कोषोंमें तो 'कुण्ड, गोलक, चाण्डाल तथा तस्करकी व्याख्या भी आती है; पर तस्करता आदि वैध नहीं हो जाते।

(१३) "महाभारत (आदिपर्व १२४) में नियोगका विधान आता है" इसपर जानना चाहिये कि—ऐतिहासिक आचरण आवश्यक नहीं कि-विधिसम्मत हो आवे। इसपर 'आलोक' (८) में 'नियोग और मैथुन' (१) देखो। महाभारतमें तपःसिद्ध श्रीव्यासमुनिके दृष्टिसंयोगसे सन्तति उत्पन्न करना कहा है। यदि दृष्टिप्रभावको जानना हो; तो उसका एक छोटा-सा नमूना नवभारत टाइम्सपत्र (१८-३-६८) में देखो। वहांपर 'नजरका जादू' बताते हुए एक रूसी महिला 'माई खेलोवा' का वृत्त बताया गया है—'वह अपनी नजरसे घड़ीको रोक सकती है, तेज चला सकती है, मेज पर रखे खानेको इधर-उधर कर सकती है, कम्पासकी सुईको नजरके साथ घुमा सकती है। इसमें वैज्ञानिकोंने बताया है—इसमें

मस्तिष्ककी विद्युत् गुरुत्वाकर्षणता तथा इलेक्ट्रोमैग्नेटिक शक्तिकी विद्यमानता है'। जब एक साधारण-व्यक्तिकी दृष्टिमें कलियुगमें यह विशेषता पाई गई हैं; तब तपः-सिद्ध व्यासजीमें दृष्टिसंयोगसे सन्तान उत्पन्न करना द्वापरयुगमें असम्भव नहीं ठहर सकता।

(१४) "राजा बलिने अपनी स्त्री सुदेष्णाको दीर्घतमा ऋषिद्वारा नियोग कराया"।

इसपर भी वादी 'आलोक' (८) पृ. ४६६-४७०) देखे।

(१५) "कल्माषपादकी स्त्री दमयन्तीके साथ वसिष्ठ ऋषिने नियोग किया था"।

इसका प्रत्युत्तर भी 'आलोक' (८) पूर्वोक्त स्थलमें देखो।

(१६) "ब्रह्मपुराण (१३।५०) में गर्गकी पत्नी मनुपीसे शिवजीने नियोग किया"।

यहां 'नियोग' का अर्थ 'वरदान' है, जैसा कि—व्यासजीके नियोगसे धृतराष्ट्र-पाण्डुकी उत्पत्तिमें महाभारतमें 'कृष्णद्वैपायनाच्चैव प्रसूतिर्वरदानजा। धृतराष्ट्रस्य पाण्डोश्च पाण्डवानां च सम्भवः' (आदि. २।१०१) यहां 'वरदान' शब्द आया है। महादेवका अन्यस्त्रीसे 'नियोग' (मैथुन) करना कहीं भी नहीं दिखलाया गया है। महादेवके मैथुनको गिरिजासे भिन्न स्त्री सह भी नहीं सकती थी।

(१७) "दीर्घतमा-सुदेष्णाका नियोग"।

इसपर 'आलोक' (८) पृ. ४६६) में देखो। वादीने यहां संख्या बढ़ानेकेलिए पुनरुक्ति कर दी है।

(१८) "ब्राह्मणोंसे क्षत्रियाओंका नियोग" (महा. आदि. १२३।२१-२२)।

इसपर 'आलोक' (८) पृ. ४४४-४८, ४५४-४५६) देखो।

(१९) "वायु ऋषिने केसरीकी पत्नी अञ्जनीसे नियोग किया, जिससे हनुमान् पैदा हुए" (वाल्मी. किष्कि. ६६)।

वायु किसी ऋषिका नाम नहीं है, यह दयानन्दियोंकी गलत-बयानी है। हां, वायु एक देवता थे। यहां मैथुन भी नहीं था। इसपर 'आलोक' (८) (पृ. ४५९-६०) तथा 'आलोक' (९) पृ. ७६-८१) देखो।

(२०) वादी कहता है—'ऋषि दयानन्दजीने स.प्र.में नियोगकी व्यवस्था ही दी है [इसका भाव यह है कि-उसका अनुसरण करनेकेलिए स्वामीने नहीं लिखा। ऐसा कैसे हो सकता है? तब सारा स,प्र. केवल व्यवस्थाकेलिए हुआ अनुसरणार्थ नहीं; यह क्या दयानन्दी मानते हैं?], पर पौराणिकधर्ममें तो नियोग उनके पुरखा हमेशासे करते आये हैं"।

तब क्या स्वा.द.जीने नियोग अपनेलिए लिखा था कि—आर्यसमाजी उसे नहीं करते। क्या क्षतयोनि विधवाके विवाहका जो खण्डन स्वामीने द्विजोंकेलिए किया था; फिर आर्यसमाजी उसे क्यों करते हैं; और क्यों उसका प्रचार करते हैं? क्या विधवाविवाहकर्ता दयानन्दी स्वा.द.के अनुसार शूद्र हैं? वस्तुतः बात यह है कि—आर्यसमाजी भी नियोगको 'व्यभिचार' समझते हैं, तभी तो उसे अनुसृत नहीं करते, क्योंकि-इसमें कोई मन्त्रसंस्कार नहीं। पुराणमें नियोग जो कि ऋषिमुनियों-द्वारा हुआ है, उसमें मैथुन वा काम नहीं होता था; वह तपोमूलक होनेसे कलियुगमें सम्भव न होनेसे उसे कलिवर्जित कर दिया गया है। इसपर 'आलोक'-(८) में 'नियोग और मैथुन' (१) देखो।

(२१) अब वादी वेदसे 'नियोगका विधान' (?) बताता है—'उत् यत् पतयो दश स्त्रियाः' (५।१७।८) (यदि ये ११ नियुक्त पति राजस-तामस गुणोंसे युक्त हों, कोई सात्त्विक-प्रकृतिका ब्राह्मण पति न मिले, तो अन्तिम नियुक्त पति सात्त्विक-पतिका ब्राह्मण होना आवश्यक है')। यह कितना गलत वा अनुपपन्न अर्थ लिखा गया है। पहले वह स्त्री खराब पतियोंसे खराब हो बैठे; फिर अन्तिम-पति सात्त्विक ब्राह्मण ले। यह क्या तुक हुई? पहले ही अच्छा ब्राह्मण क्यों न लिया जाय? तब सांसारिक-स्त्रियोंके तामसिक-राजसिक यदि पति हों; तो क्या वे उन

पतियोंको छोड़कर फिर सात्त्विक ब्राह्मण लें? क्या पूर्वके पतिको तलाक दिया जावे? यहां सन्तानकी बात तो कोई लिखी नहीं। न ही नियोगकी बात लिखी है। न उस स्त्रीका विधवा होना लिखा है। 'अब्राह्मण' का अर्थ 'राजसिक-तामसिक' कैसे है?

यहां वादीने ब्राह्मण दो प्रकारके माने हैं, एक सात्त्विक-ब्राह्मण, दूसरा रजोगुणी-तमोगुणी ब्राह्मण। इससे वर्णव्यवस्था जन्मसे सिद्ध हुई। यदि वादीको ऐसा इष्ट नहीं; तब उसने 'सात्त्विक-ब्राह्मण' अर्थ कैसे किया? गुणकर्मसे वर्ण-व्यवस्थामें असात्त्विक-ब्राह्मण कभी न होनेसे 'सात्त्विक-ब्राह्मण' विशेषण कहना असाभिप्राय होनेसे व्यर्थ हो जाता है; अव्यभिचारमें विशेषण कभी नहीं होता। 'सम्भव-व्यभिचाराभ्यां स्याद् विशेषणमर्थवत्'। जब नियोगी 'पति' नहीं होता; तब यहां १० पति कैसे कहा गया? इस मन्त्रपर पूरा विचार 'आलोक' (८) (पृ. ५८९-५९४) में देखो।

(२२) "सोमः प्रथमो विविदे' (ऋ. १०।८५।४०) इसका वादी स्वा.द.का किया अर्थ लिखता है—प्रथम नियुक्त पति सोम, दूसरा गन्धर्व, तीसरा अग्नि कहा है। उनसे आगे पति मनुष्य कहलाते हैं।" यहां 'तुरीयः' और 'मनुष्यजाः' यह दोनों एकवचन हैं। इसका यह अर्थ है—चौथा पति मनुष्य होता है; तब यहां वादीने बहुवचनका अर्थ कैसे किया? इससे यह भी सिद्ध हुआ कि पहलेके तीन पति देवता हैं, मनुष्य नहीं; तब वादीने पहलेके तीन पति मनुष्य कैसे बताये? स्वा.द.जीने इन पतियोंका नाम गन्धर्व और अग्नि क्यों है, इसपर कारण स.प्र.में बताया है; पर वादीने शर्मके मारे उसे छिपा लिया है। इस मन्त्रपर पूरा विचार 'आलोक' (८) (पृ. ५८०-५८९) में देखो।

(२३) 'पतिमेकादशं कृधि' (ऋ. १०।८५।४५) में ११ पतियोंका नियोग इसपर प्रत्युत्तर 'आलोक' (८) (पृ. ५४६-५५४) में देखो।

(२४) जो कि नियोगको अव्यभिचार बतानेकी स्वा.द.की युक्ति

वादीने दी है, इसपर विचार इसी पुष्प (पृ. ६४२-७०१ में देखो।

(२५) 'विष्णुके वरदानसे मारिषाके १० पति' (विष्णु. पु. १। १५।३३, ६८) यहां पता गलत लिखा है। यहाँ नियोगसे १० पति लिखना गलत है। इसपर 'आलोक' (७) (पृ. ८८५-८८६) 'आलोक' (९) पृ. ३८५-३८६) देखो। मारिषाको जब पति दिये गये हैं; वह इस जन्ममें विधवा भी नहीं थी। लोग व्यापारमें ब्लैक-मार्कीट करते हैं; वादी पुस्तकोंमें ब्लैक-मार्कीट करता है। एक तो पता गलत लिखा है; और फिर ६८ से पूर्वके पद्य वादीने छिपा दिये।

(२६) "वार्क्षीके दस पति" (महा. आदि. १९५-१५) इसपर 'आलोक' (७) (पृ. ८८५-८८६); तथा 'आलोक' (९) (पृ. ३८६-३८७) देखो। वार्क्षी और मारिषा एक ही स्त्री थी, भिन्न-भिन्न नहीं। वादीने संख्या बढ़ानेकेलिए अथवा अज्ञानसे उन्हें भिन्न-भिन्न लिख दिया।

(२७) 'गौतमकी पुत्रीके ७ पति' (महा. आदि. १९४।१४) यह क्या नियोगसे हुए? जब नहीं, तब वादी असत्यवादी सिद्ध हो गया। जैसे द्रौपदीके ५ पति विशेष कारणसे हुए, वैसे यहांपर भी समझ लो। इसपर 'आलोक' (७) (पृ. ७११-७४६) देखो।

(२८) "दिव्या देवीके २१ पति हुए" (पद्म. भूमि. अ. ८५) इस पर 'आलोक' (७) (पृ. ८८९-८९१) तथा 'आलोक' (९) (पृ. ९८७-३९७) देखो। उसका विवाहलग्नसे पूर्व ही पति मर जाता था; सो अन्ततक उसका एक भी पति नहीं बन सका, २१ पतियोंका तो कहना ही व्यर्थ है। वैसे तो उसके वरनेकेलिए वहां १०० पुरुषोंका आना भी कहा है; पर वे परस्पर लड़कर मर गये; अतः यहां न तो विधवाविवाह ही है; और न नियोग ही। वादीके आक्षेपोंका वा उससे दिये हुए वचनों का समाधान हो गया।

(२९) अब आगे वादी 'मुखाधान व नासिकाधान' बताता है। (भविष्य. प्रति. ४।१८,७९।५५-५६। इसपर वह 'आलोक' (९) पृ. ६९९-७११ तथा पृ. ७३२-७३४) देखे। अश्वियोंको वादीने देवताओंके गुरु लिखा है; वे देवताओंके वैद्य तो अवश्य थे, पर गुरु नहीं।

(३०) आगे वह अश्वाधान (वाल्मी० १।१४।३४-३५) दिखलाता है; इसका समाधान वादी 'आलोक' (५) (पृ. ७७९-७८०) तथा 'आलोक' (७) (पृ. ४३९-४४२) में देखे।

(३१) महीधरभाष्य यजुः (२३-२०) के विषयमें वादी 'आलोक' (५) (पृ. ७७१-८०६) तथा छठे पुष्प (पृ. ४०६-४१३) तथा नवम पुष्प (पृ. ४८९-४९३) में देखे।

(३२) 'ब्रह्माधान' (भाग. ३।२०-२६)। इसपर वादी 'आलोक' (७) (पृ. ९२६), तथा 'आलोक' (९) (पृ. ५२९-५३०) में देखे।

(३३) "मुर्देसे भोग करके गर्भाधान" (महा० आदि० १२०।३४-३६) इसपर वादी 'आलोक' (७) (पृ. ३०३-३०६) तथा 'आलोक' (९) (पृ. ७८३-७८७) देखे।

(३४) 'उत्तरतः प्रेतस्य पत्नीं संवेशयन्ति' (आश्व. गृ.) इसमें तो सती होनेकेलिए मृतककी पत्नीको मृतक पतिके साथ लिटाना कहा है, यहां मृतकसे गर्भकी बातका कहीं गन्ध भी नहीं है। व्युषिताश्व-जैसे दिव्योंके अतिरिक्त अन्य मृतकोंमें वैसी शक्ति नहीं हुआ करती।

(३५) "सन्तान पैदा करनेकी विचित्र विधि" (भाग. ४।१४।४३) यहांपर राजा वेनकी जांघके मथनसे निषादकी तथा बाहुके मथनसे अर्चि आदिकी उत्पत्ति वादीने आक्षिप्त की है। इसपर वादी इसी पुष्पके ४४ पृष्ठमें प्रत्युत्तर देख ले।

(३६) "मर्दके पेटसे लड़का पैदा हुआ" (विष्णु. २.४) यज्ञके कलशके अभिमन्त्रित जलके पीनेसे राजा युवनाश्वको मान्धाता लड़का पैदा हुआ, जहांपर मैथुनसे तो उत्पत्ति बताई नहीं गई; किन्तु मन्त्रशक्ति का प्रभाव बताया गया है'। इसके प्रमाणस्वरूपमें 'शतपथब्रा. १२।७।१।१) देखो; जहां इन्द्र द्वारा अभिमन्त्रित जलके पीनेसे उसके भिन्न-भिन्न अङ्गोंसे

विविध उत्पत्तियाँ बताई गई हैं। यहां नियोगका कोई प्रसङ्ग नहीं।

वादीकी बुद्धि संकुचित है; अतः उसमें एतदादिक गम्भीर विषय प्रविष्ट नहीं हो सकते। शास्त्रोंके गहन अध्ययनसे वह अपनी बुद्धिको विशाल करवा ले; तब उपस्थित यह विषय उसमें ठीक-ठीक प्रविष्ट हो जायगा; तब उसे आनन्द भी आयेगा; और प्रबोधकी उत्पत्ति भी हो जावेगी। इसपर 'आलोक' (८) (पृ. ४७१-७२; तथा 'मर्द के पेटसे लड़का' 'आलोक' (९) (पृ. ७८५-८६, ९८५-८६) में देखे।

सो जब तक वादीकी समाज 'नियोग' शुरू नहीं करती; तब तक उसकी जबानी जमाखर्च बातोंको कोई भी नहीं मानेगा। सरकार भारी जनसंख्यावृद्धिकी आशङ्कासे लूप, वूमनफ्रेंड आदिका प्रचार करके सन्तानों की बाढ़ रुकवाती है, पर वादी बलात् निर्योगसे सन्तानोत्पत्ति बढ़वानेमें उत्साह देकर भावी सन्ततियोंको भूखा मारना चाहता है। साधु !

सो अब वादी महाशय—आशा है—दयानन्दिन-विधवाओंमें यह नियोग जारी करवाकर इहलोक-परलोकमें यश प्राप्त कर लेगा। यदि नियोग जारी नहीं करावेगा; परन्तु उसका केवल प्रचार करेगा; तब सती-साध्वी स्त्रियोंमें उत्तेजना बढ़वाकर व्यभिचारको प्रोत्साहन देकर वादी भारतका मुख कलङ्कित करेगा। नियोग—विषयमें स्पष्टता वादी 'आलोक' (८) में देखे, जिससे फिर इस विषयमें उसे बार-बारकी कमजोरीकी लघुशङ्काएँ न होवें। शम्।

——

सुधारकदर्पदलन

भारतीय नारी
(आक्षेप-परिहार)

(१) 'सरिता' में एक सुधारकके 'युगों-युगोंसे शोषित भारतीय नारी' निबन्धमें कई वैयक्तिक-इतिहास दिखाकर सम्पूर्ण भारतीय नारी-समाजपर अत्याचार सिद्ध किया गया था। कदाचित् उक्त लेखक यह

नहीं जानता कि—केवल वैयक्तिक-इतिहाससे सार्वत्रिक-व्यवहार या धर्माधर्मका निर्णय नहीं हुआ करता। इतिहासमें तो व्यक्तिगत—चरित्र ही दिखलाये जाते हैं; पर इतने—मात्रसे, किसी इतिहासके क्वाचित्क (एकदेशी) व्यवहारसे न तो वैसा व्यवहार सार्वदेशिक या सार्वकालिक बन जाता है; और न उसकी कर्तव्यता ही सिद्ध हो जाती है। द्रौपदीके पांच पति देखकर यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि—महाभारतकालमें सभी नारियाँ बहुत पति किया करती थीं। इससे भानुमती दुर्योधनकी स्त्री भी सौ कौरवोंकी पत्नी नहीं मान ली जाती।

कर्तव्यता या सार्वदेशिकता जाननी हो; तो उसकेलिए भारतीय-धर्मशास्त्रों (स्मृतियों) को देखना पड़ेगा, जोकि लोकवृत्तके व्यवस्थापक हैं। पुराण-इतिहास तो मुख्यतया वैयक्तिक-लोकवृत्तके प्रतिपादनमें ही विश्रान्त हुआ करते हैं; लोकव्यवहारके व्यवस्थापनमें मुख्यतया नहीं। श्री-गान्धिजीने आत्मकथामें अपने कई दोष दिखलाये हैं; पर इससे उन दोषोंकी न तो उनके अनुयायिओंकेलिए कर्तव्यता हो जाती है; और न इससे समस्त भारतीय उन दोषोंसे ग्रस्त माने जा सकते हैं।

(२) न्यायदर्शनके ४।१।६२ सूत्रके भाष्यमें कहा गया है—'अप्रामाण्ये च धर्मशास्त्रस्य, प्राणभृतां व्यवहारलोपाद् लोकोच्छेद-प्रसङ्गः। द्रष्टृ-प्रवक्तृसामान्याच्च अप्रामाण्यानुपपत्तिः। (धर्मशास्त्रको यदि प्रमाण न माना जायगा; तो प्राणियोंका व्यवहार लुप्त होनेसे लोकोंका उच्छेद हो सकता है)

य एव मन्त्र-ब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च, ते खलु इतिहास-पुराणस्य धर्मशास्त्रस्य च। विषय—व्यवस्थानाच्च यथाविषयं प्रामाण्यम्। अन्यो मन्त्र—ब्राह्मणस्य (वेदस्य) विषयः, अन्यश्च इतिहास-पुराणधर्म-शास्त्राणाम्। यज्ञो मन्त्र-ब्राह्मणस्य (वेदस्य), लोकवृत्तम् इतिहास-पुराणस्य, लोकव्यवहार-व्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः। (वेद, पुराण-

इतिहास एवं धर्मशास्त्रके द्रष्टा—प्रवक्ता समान हैं; अत एव इनमें कोई अप्रमाण भी नहीं हो सकता। जो ऋषि—मुनि मन्त्र एवं ब्राह्मण (वेद) के द्रष्टा-प्रवक्ता हैं; वे ही इतिहास-पुराण एवं धर्मशास्त्रोंके द्रष्टा-प्रवक्ता हैं। विषयकी व्यवस्थासे भी यह सभी अपने-अपने विषयमें विशेष-प्रमाण हैं। मन्त्र-ब्राह्मण (वेद) का विषय अन्य है, और पुराण-इतिहास तथा धर्मशास्त्रका विषय अन्य है)

तत्र एकेन न सर्वं व्यवस्थाप्यते—इति यथाविषयम् एतानि प्रमाणानि इन्द्रियादिवद्-इति (मन्त्र-ब्राह्मण (वेद) का विषय मुख्यतया यज्ञ है, इतिहास-पुराणका मुख्य-विषय है—लोकचरित्रका प्रतिपादन, परन्तु लोकव्यवहारकी व्यवस्था करना धर्मशास्त्रोंका ही मुख्य-विषय हुआ करता है। इनमें एकसे सभी व्यवस्थाएं नहीं हो सकतीं; अतः यह अपने-अपने विषयमें अधिक प्रमाण हैं। जैसे आंख अपने विषय (रूपदर्शन) में प्रमाण तथा कान आदि इन्द्रियां अपने विषय (शब्द सुनने आदि) में अधिक प्रमाण होती हैं।)

(३) इससे पुराण-इतिहासपर किये जाते हुए सभी आक्षेपोंका समाधान हो जाता है। इतिहासमें तो अधार्मिक दुर्योधन-दुःशासन आदि का जिन्होंने द्रौपदीसे अशिष्टव्यवहार करनेमें कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी थी—का चरित्र भी आया है, पूर्ण-धर्मात्मा सच्चरित्र युधिष्ठिरका भी। पितृभक्त श्रीरामका वर्णन भी आया है, पिताको कारागारमें डालनेवाले कंसका भी। कुम्भकर्ण-जैसे मांस-भक्षियोंका भी वर्णन आया है, वाताम्बु-पर्णाशी ऋषिमुनिओं का भी। ध्रुवसदृश भक्त बालककी भी कथा आई है, असमञ्जस-सदृश बच्चोंको पानीमें डालनेवाले बालककी भी। सावित्री-सदृश सती स्त्रियों का वर्णन भी आया है, शूर्पणखा आदि-सदृश असतियों वा आततायिनी स्त्रियोंका भी। जहाँपर इतिहासमें नल-युधिष्ठिरादि की धार्मिकता तथा वीरता बताई गई है, वहाँ उनका स्वदौर्बल्य-प्रयुक्त द्यूत-क्रीड़ाका व्यसन भी बताया गया है। जिस इति-

हासमें ब्राह्मण ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया है, उसी इतिहासमें चारों वेदों के ज्ञाता, कुकर्मी-ब्राह्मण रावणका क्षत्रिय राम-द्वारा वध भी तो बताया गया है। वहीं परशुराम ब्राह्मण द्वारा उद्धत क्षत्रिय राजाओं का वध भी बताया गया है। फलतः जिसके जैसे गुण-दोष थे, वे वैसे ही इति-हासमें दिखला दिये गये हैं। ऐसे उदाहरणोंसे विधि भी नहीं बन सकती, तब उनका उद्धरण समूची जातिकेलिए कैसे दिया जा सकता है? उनसे दोषोंकी ग्राह्यता अथवा अनुकर्तव्यता कैसे हो सकती है?

यह भी आवश्यक नहीं कि दोष केवल निकृष्टोंमें ही होते हों। स्वदौर्बल्य-प्रयुक्त दोष ऋषि-मुनियों में भी हो सकते हैं, देवों में भी। यह बात 'नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः' (६।२।१९) इस अथर्वके मन्त्र में स्पष्ट है। 'गौतमधर्म-सूत्र' में कहा गया है 'वेदो धर्ममूलम्' (१।१।१) 'तद्विदां च स्मृतिशीले' (१।१।२) यहाँ पर वेद, स्मृति आदियों को धर्म का मूल कहकर फिर कहा है 'दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च महताम्' (१।१।३) इसमें बड़े लोगोंका धर्मोल्लङ्घन भी दिखलाया गया है; पर उनकी 'लीपापोती' नहीं की गई। अपने यहां यह सिद्धान्त रहा है कि 'शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि' पर उस दोषको ग्राह्य नहीं माना गया है। आगे कहा गया है 'नतु दृष्टोर्थो वरो दौर्बल्यात्' (१।१।४) अर्थात् वह देखा गया सभी अर्थ अच्छा नहीं हुआ करता, क्योंकि वह मानुषसुलभ दुर्बलतावश हुआ करता है।

यही बात (श्रीमद्भागवत) पुराण में भी कही गई है 'धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्' (१०।३३।३०) 'आपस्तम्बधर्मसूत्रमें भी कहा है– 'दृष्टो धर्म-व्यतिक्रम: साहसं च पूर्वेषाम्।' (२।१३।७) - इस पर फिर प्रश्न होता है कि—वे भी महापुरुष फिर दुष्ट हुए। इस पर आगे कहा गया है कि—'तेषां तेजो-विशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते।' (आ० ध० २।१३।८) अर्थात् उनकी तेजस्वितासे उन्हें उसका दुष्कृत नहीं होता। इसीको श्रीमद्भागवतमें उदाहरण-द्वारा स्पष्ट किया गया

है—'तेजीयसां न दोषाय वन्हेः सर्वभुजो यथा।' (१०।३३।३०) अर्थात् वन्हि विष्ठा पड़ने पर भी, सूर्य विष्ठा का रस खींचने पर भी उससे दूषित नहीं हो जाते; यही तेजस्वी पुरुषोंके धर्म-व्यतिक्रममें भी समझना चाहिए।

फिर प्रश्न उठता है कि हम भी वैसा क्यों नहीं कर सकते।' इस पर वहाँ कहा गया है--'तद् अन्त्रीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्यवरः।' (२।१३।६) यही बात उदाहरण-द्वारा श्रीमद्भागवतमें भी व्यक्त की गई है कि—'नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः। विनश्यत्याचरन्मौर्ख्याद् यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्।' (१०।३३।३१) अर्थात् हालाहल-विष पान करने पर भी रुद्रकी कोई हानि नहीं हुई, पर हम वैसा अनुकरण करने पर हानि प्राप्त कर सकते हैं। इन इतिहासों को देखकर कोई कह सकता है कि—'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्-प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।" (३।२१) इस गीताके वचनानुसार पुरुष उसका भी आचरण करेंगे, इस पर यह याद रखना चाहिए कि—'तथा आचरति' तो वहां कहा है, पर 'तथा आचरेत्' इस प्रकार विधि गीताकार ने नहीं दी, प्रत्युत 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते।' (१६।२४) इससे शास्त्रीय-कर्तव्य की ही आज्ञा बताई गई है।

(वादीके आक्षेप)

(४) अब शेष प्रश्न यह किये जाते हैं कि 'प्राचीन इतिहास में नारी पर अत्याचार सूचित होता है, उसे उसकी इच्छाके विरुद्ध शोषित किया गया है। विधवा होने पर उसे विवाहकी आज्ञा नहीं, बल्कि उसे जीते जलनेकेलिए बाध्य किया जाता है, उन्हें पर्दे में, घर में, बंधन में बांधे रखा जाता है, उनकी विशिष्ट रक्षा की जाती हैं, उन पर विश्वास नहीं किया जाता, उन्हें स्वतन्त्रता नहीं दी जाती, उन्हें शिक्षा प्राप्त करनेका आदेश नहीं, जिससे अपने पर होने वाले अत्याचारों को मूकभाव से सहती रहे, उसका विरोध न कर सके। बच्चे के पालन आदि का कष्ट उन्हें

दिया जाता है। नारी-समाजको यदि उन्नति के लिए, पुरुषोंके समान अधिकार देनेकेलिए कभी रंच मात्र भी प्रयत्न किया जाता है, तभी रूढ़िवादी समाजकी ओरसे उसका घोर विरोध प्रारम्भ हो जाता है। नारीको पिता वा पतिकी एक चल-सम्पत्ति बना दिया जाता है। प्रगति और विज्ञानके इस युगमें ऐसी मानवता-विरोधी अतीतसे प्रचलित इन मान्यताओं को मानते रहना अनुचित है।' इत्यादि।

इन आक्षेपों पर आज हमने विचार करना है। पहले इसमें यह विचारणीय है कि—इन उदाहरणों से जो कि लेखक स्त्रियों पर अत्याचार सिद्ध कर रहा है—इससे नारीकी संरक्षणीयता तो उसके मत में भी सिद्ध हो रही है, पर वह नारीका संरक्षण उसकी अपनी स्वतन्त्रतासे चाहता है, पर हम उसका संरक्षण उसके माता-पिता एवं पति आदि द्वारा चाहते हैं—यह विशेषता है। वह स्वतन्त्र होकर अपना संरक्षण नहीं कर सकती। इसका संरक्षण अन्ततः नर ही कर सकता है, वह स्वयं स्वातन्त्र्यसे नहीं। वादीका अभिमत 'नारी' शब्द भी यह स्पष्ट सिद्ध कर रहा है कि—नारी "नर" के लिए है, अपने लिए नहीं। अतः उसका संरक्षण भी "नर" कर सकता है, वह स्वयं नहीं। जब उसका उत्पादक पिता है, तब संरक्षण भी उसीके अधिकारमें स्वतः सिद्ध है। यदि वह इस जगत्में नहीं, तब उसका लड़का, उस लड़कीका 'भ्राता' नर ही उसका संरक्षक स्वतः सिद्ध है। पिताका स्वामित्व उसमें होनेसे उसके योगक्षेमके विचारका अधिकारी भी वही है। हां, उसमें उसका निजी स्वार्थ न होना चाहिये। जिससे लड़कीका भविष्य सुन्दर बने, उसपर सोचना-विचारना भी उसी पिताका कर्तव्य हो जाता है। फिर जब वह एक नियत 'नर' को दे दी जाती है, तब उससे पिताका स्वामित्व भी हट जाता है। फिर उसका संरक्षण उसके पति पर आ पड़ता है।

इसी अस्वतन्त्रताको देखकर आजका नारी-भक्त सुधारक-समाज जो अन्य नारीको भी हथियाना चाहता है, अपनाना चाहता है, उसकी उस

अस्वतन्त्रता पर खीझता है, बड़ी-बड़ी स्पीचें देकर चिल्लाता है, कलम-कुठार चलाता है। नारीसे सहानुभूतिके नाते इतिहाससे खोद-खोदकर नारीको उत्तेजित करनेवाले इतिहासोंका संग्रह करता है। वादी ऋग्वेद का काल नारीके लिए उत्तम मानता है। हम भी नारीके लिए उसके इष्ट ऋग्वेदका मत भी देंगे।

नारीके विषयमें प्रथम स्मर्तव्य यह है कि—उसके अस्वातन्त्र्यको जो हमारे ऋषि-मुनियोंने नियत किया है, उसमें कोई उनका निजी स्वार्थ न था। इसमें उन्होंने देश की, जाति की, कुल की, पत्नीके पति की, तथा उसकी अपनी उन्नतिको ही लक्ष्यमें रखा था। कारण यह है कि स्त्री-जातिकी पवित्रतामें ही देशका उद्धार तथा स्त्री-जातिके पतनमें देशका पतन अनिवार्य है। इसीलिए ही हिन्दु-जातिके साहित्यमें पुरुषकी अपेक्षा कन्या या स्त्रियोंकी रक्षा पर अधिक ध्यान रखा गया है, क्योंकि 'स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च। स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति' (मनु० ९।७) अर्थात् यदि अपने धर्मकी तथा अपने चरित्र वा कुल वा अपनी रक्षा करनी इष्ट है, तो अपनी स्त्रीका संरक्षण आवश्यक है। इसलिए ऋग्वेदने भी नारीको बाहरका क्षेत्र जो वादियोंको पसन्द है—उसे न देकर घरका ही क्षेत्र दिया है। जैसे कि—"जाया इद् अस्तं (गृहं) मघवन्! सा इदु योनिः, (३।५३।४) यहांपर स्त्रीको ही घर बताया है, जैसे कि प्रसिद्ध हैं—'न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते' यह प्रसिद्ध वाक्य उक्त वेदमन्त्रका ही अनुवाद है। उक्त मन्त्रमें स्त्रीको योनि (उत्पत्तिस्थान) बताया गया है, जिसका भाव 'मनुस्मृति' में आया है—'जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः' (९।८)। ऋग्वेद सं० के ३।३१।२ मन्त्र में उसे 'गर्भनिधानी' कहा गया है। केवल घर के क्षेत्र-में ही अधिकृत होने से नारीको ऋग्वेदमें 'गृहपत्नी' (१०।८५।२६) कहा गया है। कपड़ोंका बुनना (अ० १४।२।५१) घड़ा भरना (अथर्व० ३।१२।८) पुत्र उत्पन्न करना (अ० ३।२३।५) भात बनाने के लिए पानी

लाना (अ० ११।१।१३) घड़ा उठाना (अ० ११।१।१४) भात तैयार करना, (अ० ११।१।२३) उसकी गृहक्षेत्रमें नियुक्ति (ऋ० सं० १०।८५।२०,३६ अथर्व० १४,२,१३) नारीमें बीजनिर्वपण (अ० १४,२,१४) नारीकी पतिके लिए शोभा (अ० १४,१,५५) इत्यादि वेद-प्रोक्त कार्य नारीको घरका क्षेत्र प्राप्त होनेसे ही कहे गये हैं।

'अग्निर्वीरं (पुत्रं) श्रुत्यं (श्रुत्यध्येतारं) कर्मनिष्ठाम्। अग्निर्नारीं वीरकुक्षिं पुरन्धिम् (१०,८०,१) यह वादीके शब्दोंमें नारीके उत्तमकाल ऋग्वेदका मन्त्र पुत्रको वेदोंका अध्येता और नारीको पुत्रोंकी उत्पादिका और सयानी बनाना चाहता है। इसीके भाष्य-स्वरूप शतपथमें आया है—'पुत्रो मे पण्डितः, सर्वान् वेदाननुब्रुवीत (१४,९,४,१४) दुहिता मे पण्डिता (सयानी) जायेत (१४,९,४,१६) 'ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः (अथर्व० ३,३०,४) यहां वेदात्मक ज्ञान पुरुषोंके लिए वेदने कहा है।

फलतः स्त्री-जातिको बाहरका क्षेत्र देनेसे उनकी अरक्षा रहती है, अतः उसे बाहरका क्षेत्र न देकर घरका ही क्षेत्र दिया गया है। सन्तानमें पिताकी अपेक्षा माताका प्रभाव अधिक पड़ता है। स्त्री-जातिकी अप-वित्रतासे सम्पूर्ण जाति वा सम्पूर्ण राष्ट्र अपवित्र हो सकता है। चाकू भोग्यवस्तु-खरबूजे पर गिरे, अथवा खरबूजा चाकू पर गिरे, दोनों ही प्रकारसे हानि भोग्य-वस्तु खरबूजेकी ही है; इसी प्रकार स्त्री विकारको प्राप्त होकर परपुरुष पर आसक्त होजावे; अथवा परपुरुष ही विकारको प्राप्त होकर परस्त्रीपर आसक्त हो जावे, दोनों ही प्रकारसे पतन स्त्रीका ही होगा। स्त्रीके पतनसे सन्तान-वर्णसंकर होगी। इसलिए श्रीमद्भगवद्-गीतामें भी कहा है—'अधर्माभिभवात् कृष्ण! प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः। स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय! जायते वर्णसंकरः॥ संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च। पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥ दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः। उत्साद्यन्ते जाति-धर्माः कुल-धर्माश्च

शाश्वताः ॥ उत्सन्न-कुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन !। नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम' (१।४१-४४) । मनुने भी कहा है —अवेद्यावेदनेन च।—जायन्ते वर्णसंकराः, (१०।२४) इससे स्पष्ट है कि-स्त्रीकी दुष्टता-से सम्पूर्ण जातिका पतन उपस्थित हो जाता है। इसलिए कहा जाता है—'कुले च कामिनी-मूले'।

इसी कारण हमारे सुदक्ष प्राचीन शास्त्रकारोंने स्त्रियोंके लिए आपा-ततः कठोर नियम बनाये हैं। इस प्रकार उन्होंने स्त्री-जातिको सुरक्षित कर दिया है। स्त्री--जातिकी सुरक्षासे ही व्यभिचार असम्भव हो जाता है। नारीका जीवन तपोमय है। ऐसी दशामें शास्त्रकारों पर आक्षेप व्यर्थ है। फिर शास्त्रकारोंने ही स्त्रीको कष्ट दिया हो—यह बात भी नहीं। नारीको कष्ट स्वयं प्रकृति भी देती है। प्रतिमास अस्पृश्यता वे ही धारण करती हैं, दस मास गर्भ-धारणका कष्ट वे ही पाती हैं, प्रसव-कष्ट जिसमें धायके प्रमादसे प्राण भी संशयमें पड़ जाते हैं—वे ही सहती हैं। बच्चेको दूध पिलाकर पालन-पोषण करना, शीतकालमें बच्चेके मूत्रसे शीत तथा उष्णकालमें बच्चेको साथ सुलानेसे गर्मी, तथा नींद उचटना आदि की प्राप्ति उन्हें ही करनी पड़ती है। उष्णकालमें भी इन्हें बहुत वस्त्र आदि पहनने पड़ते हैं; जिससे छातीमें वायु नहीं लग पाती, फिर प्रकृतिने कंचुकीसे आच्छन्न चमड़ेकी दो थैलियोंका भार भी वहीं डाल दिया है। पाक-क्रिया भी नारीके अधिकृत होनेसे उष्णकालमें विशेषकर अग्निका संताप, धुएं आदि का कष्ट इन्हें ही प्राप्त होता है। स्वाभाविक दुर्बलतासे रोग भी इन्हें घेरे रहते हैं। इन सबका कारण क्या है ?

कारण हैं पूर्वजन्मके कर्म। हिन्दु-संस्कृति पूर्वजन्मकी कर्म-व्यवस्था मानती है। पूर्वजन्मके कर्म-विशेष से जिनका 'अदुष्टां पतितां भार्यां यौवनेयः परित्यजेत्। सप्त जन्म भवेत् स्त्रीत्वं' (पराशरस्मृति ४।१६)। शास्त्रोंने इस प्रकार का संकेत दिया है—पुरुषयोनिसे पतित होकर जीव स्त्रीयोनिमें आता है। स्वा० द० जीने भी पुरुष और नारी-जन्मके भेदका

कारण कर्मविशेष माने हैं, जैसे कि—सत्यार्थ-प्रकाश में—'जो स्त्रीके शरीर-धारण योग्य कर्म हों; तो स्त्री और पुरुषके शरीर-धारण करने योग्य कर्म हों, तो पुरुषके शरीरमें (जीव) प्रवेश करता है' (९ समुल्लास १५६ पृष्ठ)। उन पूर्वजन्म-प्रयुक्त कर्मोंसे ही कष्ट स्त्री-जातिको मिलते हैं। कर्मोंका भोगसे ही क्षय हुआ करता है। तपस्या कष्ट-प्राप्त्यर्थ हुआ करती है, उस कष्टसे प्राक्तन जन्मोंके दुष्कर्मोंका क्षय हो जाता है, उसके फल-स्वरूप अन्य जन्मोंमें अधिक सुखकी प्राप्ति होती है, वैसे ही स्त्रीका जीवन भी तपस्या-रूप है। उसमें भी अनिवार्य कष्टोंके मिलनेसे पूर्वजन्मोंके कर्मों का क्षय हो जाता है। अग्रिम-जन्म उनका सुखजनक होता है।

हिन्दु-संस्कृति दूर-दृष्टि वाली है, उसकी दृष्टि भविष्यत् पर रहती है। अदूरदर्शी व्यक्ति इस संस्कृतिको व्यर्थ ही कलंकित करते हैं। वे लोग वर्तमानको देखते हैं, न पूर्वजन्मका विचार करते हैं. न भविष्यत् जन्म-का। वे उन्हें नितान्त सुख देकर, उनका अवशिष्ट पूर्वजन्मका पुण्य भी क्षीण करके, इस जन्ममें भी पातिव्रत्यसे छुट्टी दिलाकर—जिससे कि उनकी सद्गति हो सकती है—उन्हें अग्रिम जन्ममें सीधा पशु-योनिमें भेजना चाहते हैं।

जो रोग कड़वी ओषधिसे दूर होने योग्य हो, वहांपर कड़वी दवाईको छुड़ाकर यदि रोगीके हितैषी बननेवाले बन्धु उसे मिठाइयाँ खानेको देते हैं, तो स्पष्ट है कि—वे लोग रोगीका अवशिष्ट बल भी समाप्त कर उसे राजयक्ष्माका शिकार बनाना चाहते हैं। वे नारीके बन्धु हैं या शत्रु—यह सोचना पाठकोंका काम है। वे लोग 'यत् तदग्रेऽमृतोपमम्। परिणामे विषमिव' (गीता १८।३८) तथा 'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्' (१८।३७) इन सुखोंके तारतम्यको नहीं सोचते।

फलतः सन्तान शुद्ध हो, धर्मात्मा हो, वर्णसंकर न हो, एतदर्थं विधवा-विवाहादि अथवा पर-पुरुषसंगका निषेध किया गया है। इसी कारण स्त्रियों का कार्यक्षेत्र 'घर' बताया गया है, 'बाहर' नहीं। वेद उसे

'गृहपत्नी' (ऋ० सं० १०।८५।२६) 'गार्हपत्याय जागृहि' (अथर्व १४।१।२१) 'गृहा वै गार्हपत्यः' (शत० १।७।४।१८) कह कर घरके क्षेत्रमें ही रहने को कहता है; और घरेलू काम देता है, जैसे कि पहले कहा जा चुका है।

स्त्री को विद्याके कार्यमें प्रवृत्त न करने तथा बच्चोंके पालन आदि-कार्यमें नियुक्त करनेका रहस्य यह है कि प्रकृतिने स्त्री को 'अवला' बनाया है। उसका कारण यह है कि—पिता के थोड़े शुक्र तथा माता के अधिक रजसे कन्याका शरीर बनता है। शुक्र सप्तम धातु अतः सारवान् होता है, रज तृतीय धातु एवं निर्बल होता है। अतः रज शुक्रकी अपेक्षा निर्बल होता है। शुक्रसे अस्थि आदि कठोर तथा शरीर को सबल करनेवाली वस्तुएं बनती हैं। कन्याके शरीरमें अस्थि आदि वस्तुओंकी निर्बलता होती है, रजो-मूलक कोमल वस्तुओंकी अधिकता होती है। अतएव नारी, पुरुष की अपेक्षा स्वभावसे ही निर्बल है। परन्तु कन्याओंको यदि वार्तमानिक विद्याध्ययन में लगाया जाय, तो परीक्षा देने के लिए अत्यन्त परिश्रम करना पड़ता है, हर समय अपनी या अपनी छात्राओं की उत्तीर्णता आदि की चिन्ता रखनी पड़ती है, तो अब सोचने की बात है कि उन अवलाओं का घोर मास्तिष्किक परिश्रम, रजस्वलात्वके समयमें भी जिस समय एकान्तमें शान्तिसे रहना लिखा हैं—पढ़ने- पढ़ाने जाना, वेतन कटनेके डरसे अवकाश न लेना, परीक्षाएं देते रहना आदि कार्य क्या नारी को निर्बल न कर देंगे? क्या वे उनकी भीतरी हानि न करेंगे? क्या उस परिश्रम तथा मस्तिष्क-शक्तिके ह्रासका प्रभाव गर्भाधान अथवा प्रसव पर एवं संतानके शरीर या मस्तिष्क पर न पड़ेगा? फिर स्तनन्धयों की पुष्टि कैसे होगी?

पढ़ने-पढ़ाने जानेके समय उन नारियोंके वच्चोंका पालन नौकरों के अधीन हो जाता है। वेतनग्राही नौकर उस बच्चेकी सेवा क्या करेगा, वह माता वाला हृदय कहां से लाएगा? थकी हुई माताका स्तन्य भी

उस बच्चे की पुष्टि क्या करेगा? इधर खाद्य पदार्थ निस्सार मिल रहे हैं, तब बालकों की आयु बढ़ेगी या घटेगी? अध्यापिकाएं बनकर, धन इकट्ठा करके पतिसे विरहित देशमें रहकर 'ममेयमस्तु पोष्या' (अथर्व १४,१,५२) 'मा वियौष्टं' (ऋ.सं. १०,८५,४२) इन वैदिक नियमोंके विरुद्ध वे 'पोष्या' न वनकर 'पोषक' और 'संयुक्त' न रहकर 'वियुक्त' बन रही हैं। जहां वे 'गृहस्वामिनी' बनती थीं, वहां अब वे क्लर्क आदि बनकर पर-पुरुषोंकी 'किंकर' तथा 'विनोद-पात्र' बनती हैं। पति-पत्नी दोनोंमें समानता आ जानेसे स्वस्वामिभाव हट रहा है, और विवाद बढ़ रहे हैं। अब वादियोंकी ओरसे नारीकी अस्वतन्त्रतासे जो उस पर 'अत्याचार' माना जाता है, उस पर भी विचार करना चाहिए।

(५) वादी 'पिता रक्षति कौमारे—न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' (९।५) इस मनुपद्यपर आक्षेप करते हैं, पर वे यह भूल जाते हैं कि—नारीको रक्षा की कितनी आवश्यकता है। वह शरीरसे निर्बल है, उसके लिए रक्षक चाहिए, जो उसको आपत्तियोंसे बचाता रहे। आजकल जिन सभ्य-देशों की दुहाई दी जाती है, वहां भी स्त्रियोंकी रक्षाके विशेष सामाजिक नियम हैं, क्योंकि उनको दुष्टोंसे अधिक भय है। मनुजीने यदि नारी-के कल्याणाकेलिए उसकी रक्षाका भार उसके पुरुष-सम्बन्धियों को सौंप दिया, तो बुराई क्या की? वह उसकेलिए बन्धन नहीं। इसलिए तो मनुजीने स्त्रियोंके सम्बन्धियोंको रक्षा न करने पर अपराधी ठहराया है (९।४) इससे यह सिद्ध तो नहीं होता कि—नारीको वेड़ियों से जकड़ दिया गया। स्त्रियोंमें सौन्दर्य अधिक है; इस सौन्दर्यके कारण उनके लुट जानेकी वा ठगे जाने की अधिक सम्भावना होती है; और सम्भव होता है कि बदमाश लोग उनका अपहरण वा उन पर अत्याचार कर लें, इन आपत्तियोंसे बचानेकेलिए समाजकी ओरसे उनकी रक्षाका भार यदि किसी को सौंप दिया जाता है, तो इससे व्यवस्थापकोंकी निन्दा वा 'विवेकहीनता' वा 'अत्याचारिता' सिद्ध नहीं होती।

कहा जा सकता है कि पिता-पति तथा पुत्र ने अपनी इस कर्तव्यपराय-णताके बहाने उसको कैद कर दिया; उसको परदेमें जकड़ दिया, परन्तु कल्पना कीजिए कि स्त्रीको सर्वथा इतना स्वतन्त्र कर दिया जाय कि पिता-पति या पुत्र आदि उसकी रक्षाके भारसे मुक्त हो जायें; तो क्या दशा होगी ? वादी कह सकता है कि अच्छा तो है—उनको छोड़ दो, वे सब-कुछ कर लेंगी, परन्तु उन्हें जानना चाहिए कि ऐसा कहने वाले सुधारकों तथा वैसी नारियों को नारी तथा पुरुषोंकी प्रकृतिका पूरा ज्ञान नहीं। सभी चमकनेवाली वस्तुएं सोना नहीं होतीं ? आजकल सभ्य तथा असभ्य सभी देशोंमें स्त्रियोंको ठगनेकेलिए वा उसे काबू करनेकेलिए क्या-क्या जाल नहीं रचे जाते ? भेद केवल इतना है कि कहीं उनको फंसानेकेलिए लोहेके पिंजरे बनाये जाते हैं; और कहीं सोनेके, तो कहीं वाग्-वागुरा में उन्हें फँसाया जाता है। सोनेके पिंजरोंको देखकर युवतियां प्रसन्न हो जाती हैं, परन्तु उनको शीघ्र ही पता चल जाता है कि वे सोनेके पिंजरे लोहेके पिंजरेसे अधिक कड़े है, और लुभाने वाली वाग्-वागुराका तो उन्हें अन्त तक पता नहीं चल पाता। तभी जाकर लगता है, जब 'क्रिया-निवृ त्ति' हो जाती है, और वह सँभल भी नहीं पाती। बात यह है कि जब तक पुरुषोंमें और स्त्रियोंमें विलासिता रहेगी, तब तक स्त्रियोंके स्वतन्त्र होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। चाहे उस विलासिताका आरम्भ पुरुषसे स्त्रीके साथ हो, चाहे स्त्रीका पुरुषके साथ रहे, उसका प्रभाव स्त्रीपर ही पड़ता है, अतः परतन्त्रता भी नारीकी ही की जाती है।

'कुमारावस्थामें उसकी रक्षा पिता करता है, युवावस्थामें उसका पति, (सरिता पृ. २९) इत्यादि वादीसे दिये गये मनुके उद्धरणमें 'रक्षति' तीन वार आया है—इसलिए कि स्त्रीकी रक्षाका भार किसी को तो सौंपा ही जावेगा। नारी संसारके गुण्डोंसे स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकती। पिता, पति और पुत्रसे अधिक कौन ऐसा उचित पुरुष था, जिसे यह भार सौंपा जाता। स्त्रीकी मृदुता, कोमलता, सौन्दर्य, निर्बलता आदि

ही उसके स्वातंत्र्यमें बाधक हैं। किसी उर्दू के कविने ठीक ही लिखा है—

'हुस्न की एक अजीब इल्लत है।
जिसने डाली नजर बुरी डाली।'

गुलावकी रक्षाकेलिए ईश्वर कांटे उत्पन्न करता है, क्योंकि कोई गुलाब 'नहि स्वातन्त्र्यमर्हति'। मनुजीने लिखा है—जो समयपर अपनी पुत्रीका विवाह नहीं करता, अपनी स्त्रीको सन्तुष्ट नहीं करता, या पतिके मरनेपर पुत्र अपनी माताकी रक्षा नहीं करता, इन तीनोंको निन्दनीय वा दण्डनीय समझना चाहिये (९।४) विशेष कर सूक्ष्म प्रसंगोंसे तो स्त्रियोंकी रक्षा करनी ही चाहिये। इधर-उधर पैर फिसल जाने पर दोनों कुलोंको शोक होता है (मनु. ९।५) अपनी सन्तान, अपना चरित्र, अपना कुल, अपना धर्म और अपना आप इन सबकी वही रक्षा करता है; जो अपनी पत्नीकी प्रयत्नपूर्वक रक्षा करता है (मनु० ९।७)।

इन पद्योंसे पता चलता है कि—मनुजी मानवी प्रकृतिका कितना सूक्ष्म ज्ञान रखते थे। वे नारीकेलिए 'अत्याचारी' नहीं थे; 'हितैषी' थे। जो स्त्री और पुरुष क्षणिक आवेशमें आकर झूठी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए मनुजी पर दोष लगाते हैं, वे कितना अनर्थ करते हैं, और स्वयं अपनी मानसिक वृत्तियोंसे वे कितने अनभिज्ञ हैं; यह वे अनुभव न होनेसे जान नहीं पाते। अपनी अदूरदर्शिता वे कैसे जानें ? नारी स्वभावसे हीं कोमल मन वाली है-'पुरन्ध्रीणां चित्तं कुसुम-सुकुमारं हि भवति' (उत्तर रामचरित ४।२२) तथा कोमल-शरीरकी होती है। चतुरसे चतुर भी नारी धूर्तों पर विश्वास कर लेती है, या भयभीत हो जाती है। गुण्डोंके विशेष कर शरीफ-बदमाशों, भद्र-तस्करों, पवित्र-पापियों एवं साक्षर-राक्षसोंके जालोंसे बचना शिक्षितसे शिक्षित भी नारियोंकेलिए अत्यन्त कठिन है; अतः उनका संरक्षण आवश्यक है। पुरुष ही पुरुषका भाव मांप सकता हैं—स्त्री नहीं।

आजकल सुधारकोंके मोहक वाग्-जालोंमें फँसी हुई नई रोशनीकी युवतियाँ स्वतन्त्रता चाहती हैं, परन्तु समाजकी वास्तविक दशाको परखने वाले बता सकते हैं कि–यह स्वतन्त्रता उन्हें कितनी मँहगी पड़ती हैं, और कभी-कभी तो असाध्य रोग हो जाती है। स्त्रीकी आंख उस समय खुलती है, जब उसके पास बचनेका कोई उपाय नहीं रहता, और वह न केवल वर्तमान, अपितु अपना भविष्य भी खो बैठती हैं। जो स्त्रियाँ पिता, पति और पुत्रके संरक्षणको 'दासता' के नामसे पुकारती हैं; उन्हें अपने स्वजनों के संरक्षणको खोकर अन्तर्दुष्ट, दुराचारी, क्रूर और निर्दयी लोगोंकी दासियां बनना पड़ता है। गुलाबको कांटे कितने ही बुरे क्यों न लगें, परन्तु गुलाबके जीवनकी रक्षाकेलिए वे बहुत आवश्यक हैं, उनको 'कांटा' न कहकर 'रक्षक' कहना चाहिए।

नारी शारीरिक बलमें कम होनेके कारण बलसे वा चाटु-संलापसे दूषित की जा सकती है। उसके दो आन्तरिक शत्रु हैं—शारीरिक निर्बलता और–सौन्दर्य। इन दोनों शत्रुओंसे बचानेकेलिए धर्मव्यवस्थापकों के नियमोंकी आवश्यकता पड़ती ही है, जिससे उसे कोई दूषित न कर सके। फिर उस पर खीझना क्या ?

सुधारकवाग्-जालपतिता कई नारियाँ कदाचित् यह कहें कि 'हमें निर्बल बताकर हमारा अपमान किया जाता है। हम वे सब काम कर सकती हैं, जो पुरुष किया करते हैं। हम लक्ष्मीबाईके समान युद्ध कर सकती हैं। हम अन्य भीषणसे भीषण कार्य कर सकती हैं'—परन्तु याद रखना चाहिये कि ये सब मनके लड्डू हैं। इसमें वास्तविकता नहीं है। एक-दो लक्ष्मीबाइयां भी अपवादरूपमें हो सकती हैं, परन्तु उसी समय तक, जब तक कि पुरुषों की सतर्कता और सामाजिक संगठनके कारण समाजका ढांचा बना हुआ है। जब कभी विद्रोह फैलते हैं, तो क्या कारण है कि पुरुष गुण्डे तो स्त्रियोंको उठा ले जाते हैं, और स्त्रियां कभी पुरुषोंको उठा नहीं ले जातीं, भूत और वर्तमान इतिहास पर पानी

कैसे फिर सकता है ? इसलिए यही कहना पड़ता है कि नारीको नरके संरक्षणकी आवश्यकता है। स्वतन्त्रताकी इच्छा अच्छी है, परन्तु स्वतन्त्रताकी रक्षा सुगम नहीं है। इसीलिए श्रीमनुने कहा है कि–स्त्रीको चाहिए कि–पिता, पति या पुत्रसे अलग रहने की इच्छा न करे। ऐसा करनेसे दोनों कुलोंको दोष लगनेका डर है—'पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद् विरहमात्मनः। एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले' (५।१४९)। इसके उदाहरण समाचार-पत्रोंमें प्रतिदिन मिलते ही हैं।

विलायतमें स्त्रियोंको स्वतन्त्रता है, उसका परिणाम वादी जानता है कि तत्फलस्वरूप वहां कितने तलाक, कितने व्यभिचार कितनी भ्रूण-हत्याएं, कितने अवैध लड़के प्रतिवर्ष पैदा होते रहते हैं। क्या वादी भारतीय-नारियोंको विलायतसे भी अधिक स्वतन्त्रता दे सकेगा ? यदि नहीं, तब उनका नारीकी अस्वतन्त्रता कहनेवाले धर्म-व्यवस्थापकोंको 'विचारहीन' कहना, क्या अर्थ रखता है ? यहां भी अब जो स्वतन्त्रता दी जा रही है, उसका परिणाम ही आँखें खोलकर देख लीजिये। उसीमें राजन्शर्मा-सिकन्दर कांड, अरुणा-आसफअली, श्यामकुमारी नेहरू-जमीलखां, इन्दिरा-फीरोजगांधी, विजयलक्ष्मी आदि कांड हुए हैं। क्या इन्हीं काण्डोंसे वादी हिन्दु-जाति की तथा भारतवर्षकी उन्नति देखता है ?।

'ऋग्वेद' में जिसे वादी नारीके उत्तमकालका ग्रन्थ बताता है, भ्राता वा पति आदि संरक्षकोंसे विरहित वा पति-द्वेषिणी स्त्रियोंकी क्या दशा होती है--यह सूचित करते हुए कहा है 'अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः। पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्' (४।५।५)। यदि हम इस मन्त्रका अर्थ अपना करें, तो वादी कदाचित् माननेको उद्यत न हो। हम दो प्रसिद्ध आर्यसमाजी-विद्वानोंका अर्थ इसपर देते हैं, वे ध्यान देकर देखें। श्री सातवलेकर-सम्पादित 'वेदामृत' (प्र.सं.)के ३५४ पृष्ठमें श्रीशिवशंकर काव्यतीर्थजीने इसका आशय यह

लिखा है 'जिस हेतु स्त्रियोंको बहकाने वाले वहुत पुरुष होते हैं, इस हेतु उन्हें कभी स्वतन्त्र छोड़ना उचित नहीं' । अब यहां श्रीजयदेवजी विद्यालंकार जो आर्यसमाजी चतुर्वेद-भाष्यकार हैं उनका किया अर्थ भी वादी देखे । 'पालक पोषक भाई वा पतिसे रहित स्त्रियें दुःखदायी गति पाकर गहरे संकट-स्थल पैदा कर देती हैं । पालक पतिकी भूमि-स्वरूप होकर भी पति-द्वेषिणी स्त्रियें दुष्टाचारिणी होकर पापयुक्त, असत्यभाषिणी और सत्याचरणसे रहित होकर गहरा संकट या नरक पैदा कर लेती हैं" ।

इसी प्रकार 'ऋग्वेद-संहिता' में नारियोंका स्वभाव वर्णित करते हुए कहा गया है 'स्त्रिया अशास्यं मनः, उतो अह क्रतुं रघुम्" (८।३३।१७) यहांपर भी हम प्रसिद्ध श्रीपाददामोदर सातवलेकर-महोदयका अर्थ देते हैं "स्त्रियोंके मनपर काबू करना अशक्य है । स्त्रियोंके कर्म छोटे होते हैं, उनका सामर्थ्य कम होता है, उनकी बुद्धि छोटी होती है" (मेधातिथिका दर्शन) । इसी कारण 'महाभारत' में भी कहा है 'स्त्रियो हि मूलं दोषाणां लघुचित्ता हि ताः स्मृताः' (अनुशासन ३८।१) । ऋग्वेदमें यह भी लिखा है 'न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति, सालावृकाणां हृदयान्येता' (१०।९५। १५) इसीका अर्थ शतपथ-ब्राह्मणमें आया है 'मा एतद् आदृथाः, न वै स्त्रैणं सख्यमस्ति' (११।५।१।९) इसीका अनुवाद पुराणमें है 'क्वापि सख्यं न वै स्त्रीणां वृकाणां हृदयं यथा' (श्रीमद्भागवत ९।३४।३६)

अब इसपर प्रसिद्ध सुधारक स्वा० द० जी के शब्द भी सुनें 'स्त्री स्वतन्त्र न होवे, क्योंकि स्त्रीका स्वभाव चंचल होता है, इससे कुमार्गमें चलेगी; और धनादिकोंका नाश भी करेगी । इससे स्त्रीको स्वतन्त्र न रखना चाहिए' (प्रथमावृत्ति सत्यार्थ प्र० ४ समु० १०५ पृष्ठ) 'स्त्री-पुरुष की काम-चेष्टा तुल्य अथवा पुरुष से स्त्री की (काम-चेष्टा) अधिक होती है (२५ वां संस्करण ११ समु० २३६ पृष्ठ) एतदादिक स्वाभाविक दोषोंके कारण ही स्त्रियोंकी रक्षा की जाती है । स्वाभाविकतामें निन्दा भी नहीं हुआ करती । इसके अतिरिक्त शुक्राल्पता (थोड़े शुक्र) से

उत्पन्न होनेसे पुरुष की अपेक्षा स्त्री निर्बल है, तब उसका स्वातन्त्र्य हो भी नहीं सकता, क्योंकि वह अपना संरक्षण स्वयं नहीं कर सकती । यह उसका अपमान भी नहीं ।

यहाँ तक हमने वादीके स्त्री-सम्बन्धी मुख्य आक्षेपों पर विचार कर लिया । अब आगे वादीके शब्द पर भी विचार होगा । पाठकगण सावधानतासे देखते चलें ।

वादीके तर्क ।

(१) वादी आरम्भमें लिखता है—'उपरोक्त तर्कमें नारीके प्रति घोर भक्ति-भावना प्रदर्शित की जाती है और फिर ऊपर संस्कृतके दो-चार बहु-प्रचलित श्लोक भी उसके प्रमाणमें उपस्थित कर दिये जाते हैं, वादीको यहाँ 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' इत्यादि श्लोक इष्ट हैं । यहां कोई नारीके प्रति "घोर भक्ति-भावना" नहीं बताई गई है, किन्तु नारीसे उचित व्यवहार बताया गया है । नारीमें 'घोर भक्ति-भावना' तो आजके सुधारक-समाज की है; जो उसी नातेसे प्राचीन धार्मिक-साहित्य पर भी आक्रमण किया करता है । इन पद्योंमें स्त्रियोंका सत्कार—उत्सवादिके समय विशिष्ट खाना-पीना भूषणादि देना-यही विवक्षित है । यह उचित भी है । इसमें "घोर" शब्द वादीने उपहासके लिए ही डाला है ।

'ऋग्वेद-कालमें नर-नारी की समान स्थिति ?'

(२) वादी लिखता है कि 'नारीकी अधोगति ऋग्वेदके अन्तिम-कालसे ही प्रारम्भ हो जाती है, इससे पूर्व नारीकी स्थिति पुरुषोंके समान ही रही होगी, ऐसा जान पड़ता है' इस वाक्यसे वादी सन्देहके झूलेमें लटक रहा है—यह स्पष्ट हो रहा है । वह बताये कि-ऋग्वेदका काल कौनसे सन्-संवत् में रहा । जबकि चारों वेदोंमें चारों-वेदोंका नाम है; तो उनका भिन्न-भिन्न समय कैसे माना जा सकता है ? वादीने कोई

प्रमाण तो ऋग्वेदका प्रस्तुत किया नहीं कि—ऋग्वेदके आरम्भकालमें नारीकी स्थिति पुरुषोंके समान ही रही। खैर, उसकी इस बातसे यह स्पष्ट हो गया कि—वह ऋग्वेद-कालको नारियोंके लिए उत्तम काल मानता है। लिखता है—'घोषा, अपाला, लोपामुद्रा, शची, पौलोमी, वाग् आम्भृणी—इत्यादि नारी द्रष्टाओंके मन्त्र ऋग्वेदमें सुरक्षित हैं।

इससे वादी उस समयकी नारीको सुशिक्षिता सिद्ध करना चाहता है, पर मालूम होता है कि--उसको 'ऋषि' पदार्थका बोध ही नहीं है। यह शुक्र है कि—उसने इन नारियोंको 'द्रष्टा' लिखा है, इन मन्त्रोंकी 'निर्मात्री' नहीं। जब निर्मात्री नहीं, तो उसके अनुसार वे शिक्षिता भी सिद्ध न हुईं। शेष है ऋषिकाओंका दर्शिकात्व, सो वादी याद रखे कि—ऋषि मनुष्यसे एक, भिन्न विशेष-योनि होती है। ऋषि-ऋषिकाएं भी नियत हुआ करती हैं, सर्व-साधारण नहीं। तो जिन ऋषिकाओंको परमात्माकी कृपासे, लुप्त मन्त्र अतर्कित ही अपने-आप प्रतिभात हो गये, उनके मुखसे बिना अध्ययन वा शिक्षणके ही अपने-आप निकल पड़े, यही ऋषिकाओंका ऋषित्व है। ज्ञानेश्वर सन्त-द्वारा सिर पर हाथ रखनेसे ही एक भैंसा वेदमन्त्र बोल उठता है—इससे वह पढ़-लिखकर बोला—ऐसा कोई भी नहीं मानता। इस प्रकार यहाँ भी ऋषिकाओंके पढ़ने-लिखने की कोई बात ही नहीं है। बल्कि आर्यसमाजी विद्वान् श्रीप्रियरत्न आर्ष तो इनको नित्य पदार्थ ही मानते हैं, कोई मनुष्य-व्यक्ति नहीं। 'वेदमें इतिहास नहीं' पुस्तकमें वे लिखते हैं—

'मन्त्रोंके ऋषि क्वचित् नदी (ऋ. ३।३३।४) पर्वत (८।२२।३) सूर्यकी चक्षु (१०।१५८।४) कूर्म (यजुः ३३।५१) मत्स्य (ऋ. ८।६७।६) शंख (१०।१५।७) कपोत (१०।१६५।८) श्येन (१०।१८८।६), ऋषभ (३।१।४) हैं—क्या ये पदार्थ भी कभी मन्त्रोंके कर्ता हो सकते हैं?' (पृष्ठ ६) 'उपर्युक्त हेतुओंसे यह समझमें आ सकता है कि—सम्बन्धोंके कारण वैदिक ऋषि-नामोंको मनुष्योंका वाचक बनाना सर्वथा

अनुचित है' (पृ० २६)। 'इस अवस्थामें ऋषि कोई मन्त्रोंके बनानेवाला मनुष्य नहीं, न किसी की उपाधि हैं' (पृ.४२) जैसे शब्द, अर्थ, और सम्बन्ध पदात्मक व्यक्तिमें नित्य हैं, एवं मन्त्रमें छन्द, देवता, ऋषि भी नित्य (पदार्थ) हैं' (पृ० ४२)। 'ऋषियोंका आदि-सृष्टिमें निर्धारित होना ठीक है (पृ० ४३) 'जैसे देवता पृथिवी, अन्तरिक्ष, और द्युलोकके पदार्थ हैं (मनुष्य नहीं) एवं ऋषि भी पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोकके पदार्थ हैं (मनुष्य नहीं); (पृ० ४५)। 'उपर्युक्त मन्त्र और निरुक्तके प्रमाणोंसे यह बात स्पष्ट हो गई कि ऋषिसे पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यो स्थानोंके पदार्थों का ग्रहण किया जा सकता है (कोई मनुष्यका नहीं)' (पृ० ४६) 'इस मन्त्र की ऋषि सूर्या है। इस सूर्याको निरुक्तकारने सूर्यकी पत्नी उषा बताया है, जो मनुष्य-व्यक्ति नहीं' (पृ० ४८) 'उपर्युक्त उदाहरणोंसे स्पष्ट समझ में आ जाता है कि ऋषि मन्त्रोंके कर्त्ता नहीं हैं, प्रत्युत वे भी देवताओं सदृश विश्वके भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ हैं। ऐसी अवस्थामें ऋषि शब्द का वाच्य मन्त्रों या वेदोंके रचयिता मनुष्य-व्यक्ति कैसे हो सकता है?' (पृ० ६१)।

तब वादीका यह मत ठीक न हुआ, इससे उसका पक्ष सिद्ध नहीं हो सकता। नारीके काम तो ऋग्वेदमें आये हैं—पानी भरना, भात पकाना आदि, जैसाकि हम पूर्व लिख चुके हैं तब वादीका इससे क्या सिद्ध हुआ?

(बहुपत्नीप्रथा)

(३) आगे वादी लिखता है—'किन्तु इसी ऋग्वेदके युगमें बहु-पत्नी-प्रथा रहने का प्रमाण भी, मिलता है। शची-पौलोमी दृप्त वाक्यावलीमें कहती है-'मेरी सपत्नियां धूलि-धूसरित हैं, इत्यादि (यहां वादीको ऋ० का १०।१५९ सूक्त इष्ट है) इसपर वह लिखता है-'उपरोक्त मन्त्रों में मेरी सपत्नियां धूलिघूसरित हैं' जैसे वाक्य प्रमाणित करते हैं कि बहु-पत्नी-प्रथा प्रचलित हो चुकी थी; और नारी-समाज इस प्रथाका विरोधी था। आशय यह है कि दाम्पत्य-जीवनमें नारीकी इच्छाका कोई मूल्य

नहीं रह गया था।"

जब वादी ऋग्वेदके कालको 'भारतीय नारी-समाजके लिए सर्वोत्तम काल' मानता है, तब वह 'उस समय दाम्पत्य-जीवनमें नारीकी इच्छाका कोई मूल्य नहीं रह गया था' यह कहकर परस्पर-व्याघात क्यों कर रहा है? यह ऋग्वेदका ही काल है, उसके बादका नहीं। ऋग्वेदसे पहलेका कोई काल तो वादी बता सकता नहीं; तब वह कौनसा काल प्रमाणित करता है; जबकि-'नारी की स्थिति नर के समान होती थी।'

'स्त्री भी पुरुष की भांति बहुत पति करे' क्या वादी ऐसा ही काल सर्वोत्तम मानता है? 'नारी की स्थिति पुरुषोंके समान' वादी वही मानता है? तभी वह 'नारी की इच्छाका मूल्य मानेगा? ऋग्वेदका यह एक ही मन्त्र क्या, आपको बहुतसे मन्त्र इस विषयके दिखलाए जा सकते हैं, जिनमें पति एक तथा स्त्रियाँ बहुत बताई गई हैं। दिङ्मात्र देखिये—

'उशतीरुशन्तं पतिं न नित्यं जनयः' (ऋ. सं. १।७१।१) यहांपर पति एक बताया गया है और स्त्रियां बहुत। 'तस्माद् एकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति, नैकस्या बहवः सहपतयः' (ऐतरेय ब्रा० ३।२३) उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात् पतिं यतीः' (ऋ. १४।२।५२) 'जनीरिव पतिरेकः समानः' (ऋ.सं. ७।२६।३) 'अदान्मे पौरुकुत्स्यः पञ्चाशतं त्रसदस्युर्वधूनाम्' (ऋ० ८।१९।३६) 'कल्याणीभिर्युवतिभिर्नं मर्यः' (ऋ० १०, ३०, ५)। अन्य भी बहुतसे मन्त्र उद्धृत किये जा सकते हैं, 'स्थालीपुलाकन्याय' से यहां थोड़े लिखे गये हैं। इतिहासमें बताया गया यह विषय ऋग्वेदानुकूल ही है। आशा है—अब वादी नारी-समाजकेलिए सर्वोत्तम कालको निकृष्ट मानकर व्याघात न करेगा।

यह अवश्य है कि—बहुस्त्री करना कोई प्रथा नहीं, किन्तु पुत्रादि न होनेके कारण अथवा एक स्त्री की मृत्यु होनेसे अग्निग्रहणार्थ अन्य विवाह किया जाता है। वैसे तो वेदमें पतिके लिए भी एक-वचन तथा स्त्रीके

लिए भी एकवचन ही आता है; और यह बहुस्त्री-विवाह भी प्रायः राजाओंमें आता है, सर्व-साधारणमें नहीं। राजा की भला कौन नारी स्त्री बनना नहीं चाहती, जिसमें कि सभी सुख-भोग की सामग्रियां उपलब्ध होती हैं। तब यह नारीका 'शोषण' वा उसकी 'इच्छाका मूल्य न होना—' कहा ही कैसे जा सकता है? जब वादी ऋग्वेद-कालको नारीके लिए 'सर्वोत्तम काल' बताता है, और ऋग्वेद-काल सृष्टिके आरम्भका काल है, तो इससे सिद्ध हो गया कि—नारी अपने संरक्षणार्थ सृष्टिके आरम्भसे ही पुरुषके परतन्त्र है, और रही है, आगे भी रहेगी। उसे स्वतन्त्रता देकर आप उसीके पावोंमें कुल्हारी मारना चाहते हैं, उसके आप बाह्य मित्र बनकर वास्तवमें उसके अन्तः-शत्रु बनकर उसे ठगना चाहते हैं, दूसरे रूपमें अपने अधीन करना चाहते हैं कि—वह जो चाहे सो करे, पर प्रकृति भी स्त्रीको स्वतन्त्र नहीं करना चाहती। जैसे प्रकृति अपने नियन्ताके अधीन है, वैसे उसने स्त्रीको भी परतन्त्र किया है। तभी तो प्रकृतिने स्त्रीको पुरुष की अपेक्षा निर्बल बनाया है। शुक्रकी अल्पता और रजकी अधिकतासे ही स्त्रीकी उत्पत्ति हुआ करती है—यह बात सर्वसम्मत है।

रज तीसरी धातु है और निर्बल है। पुरुष शुक्रकी अधिकता और रजकी अल्पतासे बनता है। शुक्र सप्तम धातु है, और प्रबल होता है, तब निर्बल व्यक्तिको प्रबल व्यक्तिके अधीन रहना ही पड़ता है—यह बात प्राकृतिक है। तभी तो स्त्रीका पति उसकी अपेक्षा आयु, बल, योग्यतामें अधिक ढूँढा जाता है। स्वाभाविकतामें दोष नहीं हुआ करता। इसके अतिरिक्त स्त्री सन्तानके उत्पादनार्थ ली जाती है—'प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः' (मनु. ९।९६) नारी एक वर्षमें बहुत पुरुषोंका संयोग प्राप्त करके भी एक ही सन्तान उत्पन्न करती है, परन्तु पुरुष एक वर्षमें बहुत-सी स्त्रियोंको गर्भवती कर सकता है। अब वादी प्रकृति के भी विरुद्ध दावा कर दे कि—उसने नारीको क्यों निर्बल एवं परतन्त्र

बनाया ? क्यों स्त्री तो बहुतोंसे मिलकर वर्षमें एक ही सन्तान उत्पन्न कर सके और पुरुष बहुत स्त्रियोंसे मिलकर बहुत सन्तान उत्पन्न कर सके; पर आप प्रकृतिके विरोधमें चीख चिल्लाकर भी कुछ नहीं कर सकते, तब प्रकृतिके अनुकूल इतिहासों को बतानेवाले पुराणों पर भी वादीका आक्षेप व्यर्थ है, केवल उसका उनसे द्वेषमात्र प्रतीत होता है, अन्य कुछ नहीं।

ऋग्वेद भी जब 'पत्नी' का 'पति' मानता है, और 'पति' संरक्षकको कहते हैं, जब वेद भी कन्याका 'पिता' मानता है और 'पिता' रक्षकको कहा जाता है, जब ऋग्वेद भी भगिनीका 'भ्राता' मानता है, और 'भ्राता' भरण-पालन करनेसे होता है, जब वेद स्त्रीको 'नर' की 'नारी' मानता है, तब 'नारी' 'नर' के, पत्नी पतिके, पुत्री पिताके, भगिनी भ्राताके परतन्त्र सिद्ध हो गई। 'पुत्र' भी तो माताकेलिए 'पुत्-नाम नरकं ततस्त्रायते' (निरुक्त २।११।१) नरकसे त्राणकर्ता माना गया है, तब नारी किसी प्रकार भी स्वतन्त्र न हो सकी। फिर वादीका पुराण-इतिहास पर आक्षेप किस प्रकार हो सकता है।

आगे वादीकी यह बात स्वयं ही कट गई कि -'इसके पश्चात् धर्मके नाम पर पुरुषोंके अधिकार धीरे-धीरे बढ़ते जाते हैं; और नारी पूरी तरह पराधीन हो जाती है।' वादी सिद्ध करे कि—नारी ऋग्वेदकालमें कब स्वतन्त्र थी ? कब उसने पुरुषकी अपेक्षा नहीं की ? कब इन्द्राणीने 'पत्यौ मे श्लोक उत्तमः' (ऋसं. १०।१५९।३) इन्द्रको पति नहीं माना ? कब वह पतिसे स्वतन्त्र रही ? इन्द्राणी तो वादीसे उद्धृत अपने उसी सूक्तमें इन्द्रको बड़े गौरवसे 'पति' शब्दसे पुकारे; और वादी उसे पतिसे स्वतन्त्र माने ? वादी यह भी याद रखे कि—इन्द्राणी भी कोई मानुषी नहीं, वह देवता है, उसमें भी परतन्त्रता है, वह स्त्री-स्वातन्त्र्य कहांसे लाएगा ? क्या वह कोई ऐसा भारतीय उदाहरण लाएगा, जहां स्त्री बारात बनाकर घोड़ी पर चढ़कर किसी वरसे विवाह करने गई हो ?

उसने वरको अपने घर रखा हो, उसकी 'पति' बनी हो, उस पतिको उसने अपनी 'पत्नी' बनाया हो। (४) वेद तो वादीके विरुद्ध फतवा देता है। वेद पत्नीको पतिके द्वारा 'पोष्या' कहता है, 'ममेयमस्तु पोष्या' (अ० १४।१। ५२) 'मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः' इस द्वितीय पादसे पत्नी पतिको दीयमान बताई गई है, पत्नीको पति 'दीयमान' नहीं बताया गया। यहां धर्मके नामपर नारीका पारतंत्र्य नहीं बताया गया, किन्तु वह स्वाभाविक है। 'पोष्या भार्या' अपने आप परतन्त्र होती ही है 'न जामये तान्वो रिक्थमारैक् चकार गर्भं सनितुर्निधानम्' (२।३१।२) यहां वादीके सम्मत ऋग्वेदमें बहिनको भाईके द्वारा धन देना नहीं बताया। तब निर्धन होनेसे वह नारी स्वयं परतन्त्र होगी ही। आगे उसे पतिकी 'गर्भनिधानी' बताया गया है, इसीलिए ही तो पति उसे लेता है।

'अन्यः कर्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन्' इस अन्तिम पादमें ऋग्वेदने कन्याको 'अन्यतरोऽर्धयित्वा जामिः प्रदीयते परस्मै' इन 'निरुक्त' (३।६।१) के शब्दों में दूसरेके अधीन करवा दिया है। जब वादीसे सम्मत ऋग्वेद ऐसी बात कह रहा है, तब वादीके पुराणेतिहास पर किये गये सब आक्षेप निरस्त हो गये, क्योंकि— वे वेदके ही भाष्य हैं, जब उसे ऋग्वेद पाणिग्रहीताकी 'गर्भनिधानी' बना रहा है, तब वादी 'केवलमात्र भोग एवं पुत्रकेलिए ही उसकी उपयोगिता है' यह आक्षेप पुराण-इतिहास पर कैसे करता है ? वेदानुसार भी गर्भमें भोग और पुत्रोत्पत्तिकी स्वतः-सिद्धता है ही। इसमें 'केवल' शब्द वादीने ही जड़ डाला। भोग भी केवल ऋतुकालमें ही होता है। ऋतुकाल जब प्रकृतिके इंगितके अनुसार 'पुष्प' है; तो 'पुष्प' फलकेलिए ही होता है, विद्यादिपठन-पाठनार्थ नहीं। केवल वासनार्थ भी नहीं। वासना तो ऋतुसे भिन्नकालमें भी हो जाती है।

'मया पत्या प्रजावती' (अथर्व. १४।१।५२) 'गर्भं धेहि सिनीवालि!' (ऋ. १०।१८४।२) 'तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे' (३) इत्यादि मन्त्र यही सूचित कर रहे हैं कि—स्त्री पुत्रकेलिए है। ऋग्वेदसं० (१०।

८५।४५) में दस पुत्र लिखे हैं, भोग उसमें एक साधन है। 'मया पत्या प्रजावती' (ऋ. १४-१।५२) से अपने उस पतिसे अतिरिक्त पुरुषसे प्रजा निषिद्ध कर दी गई है। यहाँ भी स्पष्ट नारीका पारतंत्र्य है। वह मन-चाहे अन्य पुरुष-द्वारा भी गर्भ नहीं ले सकती। फलतः वादीका एक-एक अक्षर ऋग्वेदके मन्त्रोंसे स्वयं खण्डित हो जाता है। पाणिग्रहण पति पत्नीका करता है, पत्नी किसी पुरुषका पाणिग्रहण नहीं करती, अतः नारीकी उस हाथ पकड़ने वालेकी परतन्त्रता स्पष्ट है।

ममता और बृहस्पति।

(५) अब वादी इतिहासपर चलता है। लिखता है कि—'ऐसे अनेकानेक प्रमाण मिलते हैं कि बलात्कार पुरुषोंका, ऐसे पुरुषोंका भी, जो समाजमें अपनी विद्वत्ता, आध्यात्मिकता एवं जप-तपकेलिए आदरणीय माने जाते थे, जो समाजके नेता थे, एक स्वभाव-सा पड़ गया था। महाभारत आदिपर्व १०४ अध्यायमें इसका बीभत्स प्रमाण मिलता है' यह कहकर वादी उतथ्यकी पत्नी ममता तथा उसके देवर बृहस्पतिका उससे बलात्कार बताता है।'

पर वादी क्या बता सकता है कि क्वाचित्क इतिहास क्या धर्मकी कसौटी कभी बन सकता है? क्या वह किसी धर्मशास्त्रकी आज्ञा बता सकता है—जहां किसीकी स्त्रीपर बलात्कारकी आज्ञा लिखी हो। जब नहीं, तब वादीने यह कैसे लिख डाला कि—'बलात्कार पुरुषोंका स्वभाव-सा बन गया था।' लेकिन यही इतिहास इस बातको सिद्ध कर रहा है कि—स्त्री संरक्षणीय है, उसे एक क्षणकेलिए भी स्वतन्त्र न करो, उसे अपनी देख-रेखमें रखो, स्वयं उसका पूरा ध्यान रखो। 'अप्रमत्ता रक्षत तन्तुमेतं मा वः क्षेत्रे परे बीजान्यवाप्सुः' (आपस्तम्बधर्मसूत्र २।६।१३।६)। तभी तो मनुजीने कहा है—'मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नैकशय्यासनो भवेत्। बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति, (२।२१५)। यही बात महाभारतमें भी प्रकृतस्थलमें कही है—'एवमुक्तस्तया सम्यग् बृहस्पतिरुदारधीः।

कामात्मानं तदात्मानं न शशाक नियच्छितुम्' (१।१०४।१४)। इसी बातका उक्त इतिहास अर्थवाद है कि—स्त्री निर्बल है, परन्तु रूपादिसे पुरुषको अभिभूत करके अवश (अपने आपको काबूमें न रखने योग्य) कर दिया करती है—'तेन पुंसोऽभिभवासि सर्वान् अवशान् वशिनी असि राज्ञी' (स्वा.द.जीकी संस्कारविधि-विवाह प्र. पृ. १३५)। उसे कहीं एक क्षणके लिए भी स्वतन्त्र न छोड़ो; वह हर पुरुषसे अपना बचाव न कर सकेगी। अतः उसका पूरा ध्यान रखो। वादी जबकि स्त्रीको स्वतन्त्र रखना चाहता है; तो बोले कि—ममता अपना संरक्षण क्यों नहीं कर सकी, वह तो उस समय स्वतन्त्र थी। अन्ततः वादीके इसी इतिहाससे ही सिद्ध हो रहा है कि स्त्रीसे पति कुछ क्षणोंकेलिए भी निश्चिन्त न हो जाय। पति अपने विद्वान्-भ्राता पर भी अपनी स्त्रीको सौंपनेका विश्वास न कर ले, कदाचित् वही 'देवृकामा' न हो जाय, वा देवर ही उसे न फुसला ले। क्या आपने नहीं सुना कि—लेखनी पुस्तिका भार्या परहस्ते गता गता। यदि चेत् पुनरायाति नष्टा भ्रष्टा च खण्डिता।' फिर केवल बृहस्पतिके इतिहाससे वादीने सब विद्वानोंका 'आसन्नप्रसवा' पर बलात्कार कैसे बता दिया?

वादीने यहां दो बातें लिखी हैं। उसमें एक यह कि—'ममता आसन्न-प्रसवा है, किन्तु बृहस्पति उसपर बलात्कार करता है, दूसरी यह है कि—यहां बृहस्पतिके प्रति क्षोभ वा रोषका एक भी शब्द तो दूर, उसे निरन्तर बुद्धिमान् तेजस्वी, विद्वान् कहा गया है।' वादीने यहां पर 'आसन्न-प्रसवा' शब्द स्वयं गढ़ दिया है, मूल इतिहासमें नहीं है। 'काममाविजनितोः सम्भवाम' (कृष्णयजुर्वेद तै.सं. २।५।१।५) प्रसवसे पूर्वतक स्त्रीका पुरुष-संयोग स्त्रीकी इच्छाके प्रतिकूल भी नहीं है। पर यहां तो यह कहा गया है कि—'तुम भी अमोघरेता हो। अतः गर्भाशयमें दो बच्चोंका स्थान नहीं है।' और फिर वहां बृहस्पतिको 'कामात्मा' शब्दसे निन्दित भी किया गया है।

शेष है बृहस्पतिको विद्वान् आदि कहना, यह तो 'बलवान् इन्द्रिय-

ग्रामो विद्वांसमपि कर्षति' का अर्थवाद है। इस मनुवचनमें भी तो 'विद्वांसमपि कर्षति' कहा है, महाभारतके वचनमें भी। तब आक्षेप कैसा? इसके अतिरिक्त वहां यह 'कर्तव्य' भी नहीं बताया गया। 'विद्वान्' कहनेसे यही तो सिद्ध होता है कि—स्त्रीको स्वतन्त्र न करो, और स्वतन्त्र-स्त्री के सम्बन्धमें विद्वान् पुरुष वा देवता पर भी विश्वास न कर लो। क्या वादीने नहीं सुना कि—'विश्वामित्रपराशर-प्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशिनः, तेपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः। शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं ये भुञ्जते मानवास्तेषामिन्द्रिय-निग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत् सागरम्।' इन्हीं कारणोंसे तो स्त्रीकी स्वतन्त्रता शास्त्रोंने निषिद्ध कर दी है। बल्कि यहां तक कहा है कि—'नास्ति त्रिलोके काचित् स्त्री या वै स्वातंत्र्यमर्हति' (महाभारत अनुशासनपर्व २०।२०) यह स्वातन्त्र्यापहरण स्त्री-संरक्षणार्थ है, पर वादी इसे अत्याचार वा पुरुषोंका नारी-शोषण कहता है—यह वादीकी अपनी भारी भूल है। शास्त्रोंकी यह भूल नहीं। शास्त्रोंकी तो यहां दूरदर्शिता स्पष्ट हो रही है।

इसीसे तो यह सिद्ध हो रहा है कि पति अपनी पत्नीको अपनी देख-रेखसे एक क्षण भी विमुक्त न करे। राजघरानेमें साथ मिलती हुई दासियां भी पतिकी अनुपस्थितिमें उसके संरक्षणार्थ होती थीं। वादीके शब्दोंमें नारीका उत्तमकाल-व्यवस्थापक 'ऋग्वेद' कहता है—'इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीलन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे' (१०।८५।४२)। (ऐ दम्पतिओ! तुम परस्पर-वियुक्त न रहो।)

देवता कामसे छूट जाएँ—यह भी आवश्यक नहीं। वेदमें संकेतसे कहा है—'कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः' (अ. ६।२।१६)। वेदने भी उक्त कथाको संकेतित कर दिया है—'दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान् दशमे युगे' (ऋग्वेदसं. १।१५८।६) यहाँ ममताके लड़केके दीर्घतमा होनेका कारण महाभारतने स्पष्ट कर दिया है। इसीलिए वेदने नारीको अपने घरका ही क्षेत्र दिया है। इसीसे पर्देका

जन्म हुआ है, अपने घरका ही क्षेत्र देना--इसीको आप लोग नारी-शोषण' समझकर उसका विरोध करते हैं, तो क्या अघटित घटनाएँ नहीं घटेंगी। इस कथाके विषयमें 'आलोक' (७) पृ. ८३४-३९ देखो।

फलतः उक्त घटनाको महाभारतमें कहीं भी अनुकरणीय नहीं बताया गया। यह ऐकदेशिक वर्णन है। अन्य बात यह है कि--देवयोनि भोग-योनि है, मनुष्य-योनि कर्मयोनि है। दोनोंके समान धर्म या समान व्यवस्थाएँ नहीं हो सकतीं। अन्य यह भी बात है कि—ऐसी कथाओंके आध्यात्मिक भाव भी होते हैं। परोक्षता-प्रिय मुनि उसे इतिहासका रूप भी दे देते थे कि—कई लौकिक शिक्षाएँ भी उनसे मिल जाएँ। उक्त कथाका यह तात्पर्य भी निकलता है कि--'जीवात्मा-रूप उतथ्यकी स्त्री ममता (ममत्व) के गर्भमें मोहरूप दीर्घतमा थे। बृहस्पति रूप-मन ने इस ममत्व-वृत्तिमें अपना वीर्य—सामर्थ्य-संचार करना चाहा, परन्तु ममताके गर्भमें पहलेसे ही मोह होनेसे मानसी शक्ति अपना प्रभाव न डाल सकी। पर बृहस्पति-मन ममतामें भी अपने सामर्थ्यको डाल देता है, तो उससे आत्मज्ञान रूप-भरद्वाज उत्पन्न हो जाता है'। इस प्रकार किसी भी शैलीसे घटाया जाय; इस इतिहाससे वादीकी इष्टसिद्धि नहीं। इससे तो पूर्वोक्त शिक्षा मिल रही है कि अपनी स्त्री संरक्षणीय वस्तु है, अपने भ्राता पर भी उसको न सौंपकर क्योंकि 'घृत-कुम्भसमा नारी तप्तांगारसमः पुमान्। तस्माद् घृतं च वन्हिं च नैकत्र स्थापयेद् बुधः' स्वयं उसका संरक्षण करो--यदि उसकी शारीरिक तथा मानसिक शुद्धता चाहते हो। पर इससे वादीकी बात सिद्ध न हो सकी; कि पहले सब स्त्रियोंसे सब पुरुष ऐसा व्यवहार करते थे। ममता-दीर्घतमाकी कथाको ऋ. १।१४७।३ सायणभाष्यमें भी देखो।

(६) आगे वादीने दीर्घतमा ऋषि की कथा लिखी है कि दीर्घतमा अपनी पत्नी एवं अन्य नारियोंके साथ सार्वजनिक मार्गों पर दिन-दहाड़े पशु-आसनसे मैथुन करता है'।

यहां अपनी पत्नी प्रद्वेषीके साथ तो उसका 'गोधर्म' दिखलाया गया है, अन्य नारियोंके साथ नहीं। वादीने इस कथाको गन्दा करनेकेलिए "अन्य नारियोंके साथ" यह शब्द महाभारत-प्रदर्शित इतिहासमें स्वयं घुसेड़कर अपनी वीभत्सवृत्तिका परिचय दे दिया है। प्रकृत-इतिहासमें तो 'ऋषेरुतथ्यस्य तदा सन्तान-फलवृद्धये। गोधर्मं सौरभेयाच्च अधीत्य निखिलं मुनिः। प्रावर्तत तदा कर्तुं श्रद्धावान् तमशंकया।' (१।१०४। २५-२६) 'पुत्रकामा च सा पत्नी न तुतोष पतिं प्रति (२९) अपनी पत्नीसे ही दीर्घतमा का 'गोधर्म' बतलाया गया है। 'गोधर्म' का आशय है 'अनावरणमें मैथुन,' सबके सामने खुलाखुली मैथुन। पर इस 'प्रकाश-मैथुन' को वहां युक्त नहीं माना गया। प्रत्युत 'ततो वितथमर्यादं तं दृष्ट्वा मुनिसत्तमाः। क्रुद्धा मोहाभिभूतास्ते सर्वे तत्राश्रमौकसः' (१।१०४।२७) अहोऽयं भिन्नमर्यादो नाश्रमे वस्तुमर्हति। तस्मादेनं वयं सर्वे पापात्मानं त्यजामहे' (२८) इस प्रकारका व्यवहार भी उसकी 'भिन्नमर्यादता' माना गया है; और उसे आश्रममें रहने योग्य नहीं माना गया।

आशय यह है कि अन्धे होनेसे बूढ़े दीर्घतमा अपनी स्त्रीसे संयोगमें अन्य पुरुषों की विद्यमानतामें भी बैलकी तरह लज्जा नहीं करते थे, पर मुनियोंने बूढ़ेका यह कांड उचित न समझकर उन्हें वहां से हटवा दिया। प्रद्वेषी भी उनके अपने साथ इस गोधर्म (खुलाखुली मैथुन) से प्रसन्न नहीं थी, क्योंकि उससे उसे लज्जित होना पड़ता था; और फिर बूढ़ा ऐसे कांड करे, अर्थात् अनावरणमें अपनी पत्नीसे सबके सामने मैथुन करने लग पड़े; तो स्त्रीको तो लज्जाके मारे डूब जाना पड़ता है। उसके पुत्र भी इस कांडसे प्रसन्न नहीं थे, अतः दीर्घतमाको वहाँसे हटा दिया गया।

शेष जो वादी दीर्घतमाकी 'एक एव पतिर्नार्या यावज्जीवं परायणम्। मृते जीवति वा तस्मिन् नापरं प्राप्नुयान्नरम्। अभिगम्य परं नारी पतिष्यति न संशयः। अपतीनां तु नारीणामद्य प्रभृति पातकम्। यद्यस्ति चेद् धनं सर्वं वृथाभोगा भवन्तु ताः। अकीर्तिः परिवादश्च नित्यं तासां भवन्तु वै' (१।१०४।३५-३६-३७) (जीवन तक स्त्रीका एक-ही पति रहे। चाहे वह जीता रहे, या मर जावे, स्त्री दूसरेको न ले। दूसरे पुरुष के पास जानेसे स्त्री पतित हो जावेगी; पतिरहिता स्त्रियोंको आजसे पाप लगेगा। यदि उनके पास धन हो; तो उनका भोग व्यर्थ होवे, उन्हें बद-नामी प्राप्त हो) इस व्यवस्था पर खीझा है; यह व्यवस्था तो ठीक ही है, इसमें कोई अनौचित्य नहीं। इस व्यवस्थासे बहुत लाभ हैं, पर वादी को इससे क्या? उसने तो इसे 'नारकीय-वासना' नाम दे डाला है। तो क्या अपनी स्त्रीके साथ विलास भी वादीके मतमें 'नारकीय-वासना' है, जोकि वह स्त्रियोंको अपने विलासी पतिको छोड़कर अन्य पतिसे सम्बन्ध जोड़ना पसन्द करता है। क्या वह अन्य उस स्त्रीसे विलास, वादीके शब्दोंमें 'नारकीय वासना' न करेगा? क्या वह उसे रामभजनके लिए ही लेगा?

शेष है वादीका आक्षेप पशु-आसन पर, तो उसके सुधारक भाई आर्यसमाजी तो 'जैसे बैल गाय को गाभिन करके पशुओंको बढ़ाता है, वैसे गृहस्थ लोग स्त्रियोंको गर्भवती कर प्रजाको बढ़ावें' (यजु० २८।३२) इसमें एक आसन-विशेष मानकर उसे 'वैदिक' बताते हैं। काम-शास्त्रोंमें भी उन आसनोंका निरूपण आता है। इन आसनोंसे तो स्त्रीको क्षोभ नहीं होता। हां, निरावरणमें सबके समक्ष मैथुन अवश्य ही ठीक नहीं होता। इससे स्त्रीका मरना हो जाया करता है—प्रद्वेषी इसीसे चिढ़ी थी। तभी तो वहांके मुनियोंने दीर्घतमाको वहांसे हटवा दिया। यहां अन्य नारियोंसे दीर्घतमाका प्रकाश्य वा अप्रकाश्य मैथुन कहीं नहीं दिखाया गया। यह वादीके अपने ही मस्तिष्कको उपज है।

उद्दालक-श्वेतकेतु की कथा

(७) आगे वादी 'महाभारत' (आदि पर्व १२२ अ०) से श्वेतकेतु-की कथा देता है। लिखता है कि—उसमें उद्दालक-ऋषिकी पत्नीको

उसके पति एवं पुत्रके सम्मुख ही एक ब्राह्मण मैथुनके हेतु बलात् खींच ले जाता है। पुत्र श्वेतकेतु जब अपने नेत्रोंके सम्मुख अपनी माता पर हो रहे इस बलात्कारके प्रति रोष प्रकट करता है, तो धर्मध्वजी उद्दालक कह उठते हैं कि —कोप न करो— यह तो सनातन धर्म है।'

वादी जब कोई इतिहास देता है, तो उसमें कुछ शब्द अपनी ओरसे भी ठूंस देता है, जिससे साधारण जनता उस इतिहाससे भड़क उठे। इतिहासमें लिखा है—'श्वेतकेतोः किल पुरा समक्षं मातरं पितुः। जग्राह ब्राह्मणः पाणौ गच्छाव इति चाब्रवीत्।' (१२) यहाँपर 'बलात्कार' का कोई शब्द भी नहीं है। वादीने उसे बलात् ही ठूंस दिया है। शेष बातके लिए जानना चाहिये कि यह सृष्टिके आदि का प्रकरण है, जिसे 'पुरा' (१,१२२,४) शब्दसे व्यक्त किया गया है।

यहाँ यह प्रकट किया गया है कि विवाह-प्रथा नियम-बद्ध कब जारी हुई? उस समय अपने वर्णमें स्त्री-पुरुष स्वतन्त्र होते थे। उस समय कौमारावस्थामें ही विवाह न होकर जो जिसको चाहता था, ले लेता था। उस समय की प्रकृति-परतन्त्र प्रजाओंका चित्र खींचा गया है—'कामक्रोधविवर्जिताः' (१,१२२,६)। उस समय काम-क्रोध नहीं था। केवल प्रकृतिका गाय-बैल की भाँति अनुवर्तन था। इसीको उस समय धर्म समझा जाता था। इसमें उस समय अधर्म नहीं समझा जाता था, जैसे कि —'नाऽधर्मोऽभूद् वरारोहे! स हि धर्मः पुराऽभवत्' (१,१२२,५) इसको लक्ष्य करके श्रीमनुने कहा है—'प्रवृत्तिरेषा भूतानां' (५,५६)। इसी उद्देश्यसे उद्दालकने भी कहा था—'मा तात! कोपं कार्षीस्त्वम् एष धर्मः सनातनः (१२२,१४) यह 'सदाका धर्म है'—का भाव है 'प्राकृतिक धर्म।'

वादी समझ सकता है कि—धर्म कई प्रकारके होते हैं—ऐकदेशिक धर्म, सार्वदेशिक धर्म, देशधर्म, कालधर्म, ग्रामधर्म, जातिधर्म, कुलधर्म। वे अपने-अपने देश-कालमें अधर्म नहीं समझे जाते। यूरोपमें बालनृत्यमें

पर-पुरुष दूसरेकी स्त्रीके साथ नृत्य करता है, उसके सौंदर्यकी प्रशंसा करता है, एक-दूसरेका हाथ पकड़ा जाता है। मुखका भी चुम्बन किया जाता है। इसे वहां तो धर्म वा सभ्यता समझा जाता है, पर हमारे यहां ऐसा करना असभ्यता वा अधर्म माना जाता है। इसीलिए इसी कथामें संकेत दिया गया है—'उत्तरेषु च रम्भोरु! कुरुष्वद्यापि पूज्यते (७) उत्तर-कुरुसे कई लोग रूसका काकेशिया भाग लेते हैं, कई यूरोप। यह है देश-धर्म। मुसलमान लोग चाचा की लड़कीसे विवाह कर लेते हैं, यह उनमें अधर्म नहीं समझा जाता—यह है जाति-धर्म। वादी व्यापक-दृष्टि करके स्वयं विचार करे।

वादी-जैसे सुधारकगण भी तो ऐसा स्वातन्त्र्य-युग चाहते हैं, यह उसका निबन्ध चुगली खा रहा है। जिसे वह इस इतिहासमें 'स्त्री पर बलात्कार' सिद्ध कर रहा है, वही यहां 'स्त्रीणामनुग्रहकरः स हि धर्मः सनातनः' (८) कहा है। सुधारक स्त्रियां भी तो आज यही चाहती हैं। 'हिन्दू कोड' इसीलिए ही तो मांगा जा रहा था। यह 'तलाक' आदि क्या है? क्या यह 'अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन् वरानने! कामाचार-विहारिण्यः स्वतन्त्राश्चारुहासिनि' (१२२,४) तासां व्युच्चरमाणानां कौमारात् सुभगे! पतीन् (५) का अनुसरण नहीं? फिर वादी इस स्वातन्त्र्यके इतिहासका विरोध क्यों करता है? वादी उस समयके इस स्वातन्त्र्य पर कोप कर रहे हुए श्वेतकेतुको कोप न करनेकेलिए कहनेवाले उद्दालकको 'धर्मध्वजी' क्यों कहता है? इससे मालूम होता है कि-वादी भीतरसे यह चाहते हुए भी केवल बाहरी झूठ-मूठ दिखावेकेलिए, उसकी स्वाभाविकता कह रहे हुए उद्दालकका 'धर्मध्वजी' शब्दसे तिरस्कार करता है, पर उस समय इसपर कोप कर रहे हुए श्वेतकेतुका अनुमोदन करता है—यह क्या बात है?

वस्तुतः यहां रहस्य यह है कि—सृष्टिकी आदिमें वेदप्रोक्त-व्यवस्थाएं प्रचलित नहीं थीं। उसमें पशुओंकी भान्ति प्रकृतिका अनुवर्तन था, अतएव

उस समय काम-क्रोध आदि भी नहीं थे। देखिये—सृष्टिकी आदिमें जो संयोग हुए, वे क्या आपसमें भाई-बहन नहीं थे ? वहां व्यवस्था कहां थी ? किसके वहाँ नियमबद्ध संस्कार हुए ? क्या उस समय स्वा० द० जी की 'संस्कार-विधि' थी ? या पारस्कर आदि गृह्यसूत्र थे ? तब स्पष्ट है कि—उस मानस-सृष्टिमें प्रकृतिका अनुवर्तन था, जैसे आज भी पशुओंमें है। पर वादीको जानना चाहिये कि—'नैव देवा अतिक्रामन्ति, न पितरः, न पशवः, मनुष्या एव एके अतिक्रामन्ति' (शतपथ० २।४।२।६) अर्थात् मनुष्य ही, बनाये हुए नियमोंको तोड़ देता है।

पहले ही यह कहा गया है कि--उस समय काम-क्रोध नहीं थे, अतः वह स्वातन्त्र्य--वह प्रकृतिका अनुवर्तन भी कुछ सीमा तक क्षम्य था; उस समय सह्य था, पर मनुष्य यहाँ तक नहीं ठहरता, आगे चलता है। आगे चलनेसे फिर काम--क्रोध प्रारम्भ होते हैं। काम-क्रोध हुए, तो विशृं-खलता प्रारम्भ हुई। उसी समय मारकाट आदि प्रारम्भ हो जाते हैं। उस समय व्यवस्था-स्थापन की आवश्यकता आ पड़ा करती है। वही बात यहां पर भी हुई।

उद्दालककी पत्नीका उसके पुत्रके समक्ष ही एक ब्राह्मण-व्यक्ति हाथ लेकर कहने लगा कि—चलो, चलें। यहां वादीके अनुसार 'बलात्कार' तो नहीं था। दो पुरुषों के सामने अकेला व्यक्ति बलात्कारका साहस ही कैसे कर सकता था ? अतः यह बलात्कार नहीं था। यह था 'काम'; क्योंकि—इस प्रकारकी स्वतन्त्रता होनेसे पुरुष विषयोंमें आसक्त होने लग जाता है। फिर काम प्रारम्भ हो जाता है। कामसे क्रोध भी स्वाभाविक हुआ करता है। जैसेकि--'ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते। संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोभिजायते' (गीता २।६२]। उस समय यही स्वतन्त्रता जो पहले धर्म थी, अब अधर्म हो जाती है--पहले स्त्रियोंके लिए लिखा है--'अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन् वरानने' (१२२।४) स्त्रियां उस समय अनावृत अर्थात् नंगी रहती थीं। नंगी रहना अकामता का चिन्ह है। छोटे लड़के-लड़कियाँ अब भी नंगे रहते हैं। इस प्रकार पहले सभी नंगे रहते थे, आदम-हव्वा की कथा भी तो यही सूचित करती है। जब कामसंचार होता है, तब फिर व्यवस्था बनानी पड़ती है, कपड़े पहनने पड़ते हैं, एक-पतित्व का नियम रखना पड़ता है। क्योंकि—'काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्' (गीता ३।३७)। अकाम होने पर तो 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम्' (४।२१) 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' (५।७) कर्मण्यभिप्रवृत्तोपि नैव किंचित् करोति सः' (४।२०) 'लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा' (५।१०) 'मनःकृतं कृतं राम ! न शरीरकृतं कृतम्। येनैवालिंगिता कान्ता तेनैवालिंगिता सुता' (श्रीयोग-वासिष्ठ) कोई दोष नहीं माना जाता।

जब उस ब्राह्मणने पिता-पुत्रके सामने उस स्त्रीको कहा कि—चलो चलें; तो यह 'काम' था। इस 'काम' से श्वेतकेतुको क्रोध हुआ जो कि--स्वाभाविक था। तब उसने स्त्री-समाजके कल्याणके हेतु व्यव-स्था की कि--'व्युच्चरन्त्याः पतिं नार्या अद्य-प्रभृति पातकम्। भ्रूणहत्यासमं घोरं भविष्यत्यसुखावहम्। भार्यां तथा व्युच्चरतः कौमार-ब्रह्मचारिणीम्। पतिव्रतामेतदेव भविता पातकं भुवि' (१२२।१७।१८) अर्थात् पति का उल्लंघन करने पर नारीको और सच्चरित्रा-भार्याका अतिक्रमण करने पर पति को पाप लगेगा।

अब वादीने भी इन व्यवस्थाओंको स्त्री-समाजके संरक्षण का हेतु मान लिया है, तो वह इससे उस नारीको 'शोषिता' कैसे कहता है ? जब इसके पूर्व भी स्त्रियाँ स्वतन्त्र थीं, तब भी वादीके मतानुसार 'शोषित' कैसे थीं ?

वस्तुतः इस कथा को लिखकर वादीने अपने पक्षको स्वयं ही काट दिया है। यदि वह स्त्री-स्वातन्त्र्य चाहता है, तो स्त्री स्वतन्त्र होने पर

दूसरोंसे इस प्रकार खींच ली जाया करेगी, यह इस कथासे स्पष्टतया सिद्ध हो रहा है। अब वादी कहे कि—क्या स्त्री-स्वातन्त्र्य स्त्रीके लिए परिणाम-हित-प्रद हुआ ? कभी नहीं। इस स्वातन्त्र्य होनेके कारण उद्दालक भी उस ब्राह्मणको कुछ नहीं कह सकते थे। अतः श्वेतकेतुको नारीके संरक्षणार्थ उसका स्वातन्त्र्य छीनना पड़ा। कई मर्यादाओं में नारीको बान्धा गया। आप लोग भी जो कि—स्त्रीको स्वतन्त्र करना चाहते हैं, उसके दुष्परिणाम भी ऐसे ही होंगे। पुष्पकलिका पर कई भौरे मण्डराते रहेंगे। कभी तो उस कलिका को ही वे काट लेंगे। फिर इन्हीं वादियोंको स्त्रीके 'संरक्षणार्थ' श्वेतकेतु बनकर उन स्त्रियों को नियममें बांधना पड़ेगा। वह नारीका 'शोषण' नहीं होगा, किन्तु 'संरक्षण' होगा।

मैथुन पुत्र के लिए वा वासना के लिए ?

(८) आगे जो श्वेतकेतु ने व्यवस्था दी कि--'पत्या नियुक्ता वा चैव पत्नी पुत्रार्थमेव च। न करिष्यति, तस्याश्च भविष्यति तदेव हि' [१२२, १६] इसका वादी अर्थ बताता है कि—पुत्र उत्पन्न करने के लिए पति-द्वारा मैथुनके लिए प्रेरित की हुई स्त्री यदि पतिकी आज्ञा नहीं मानेगी, तो उसको भ्रूणहत्याका पाप लगेगा'।

इस पर वादीको क्या बुराई विदित हुई है, जो कि—वह श्वेतकेतुके लिए कहता है कि—'श्वेतकेतु भी आखिर था तो उद्दालकका पुत्र ही।' वादीका भी सम्मत, नारियोंका उत्तम समय ऋग्वेद भी तो विवाह पुत्र के लिए ही मानता है, जैसे कि—'यथेयमिन्द्र ! सुपुत्रा सुभगाऽसति' [१०,८०,१५] 'आ नः प्रजां जनयतु' [१०।८५,४३] 'वीरसूर्देवकामा' [४४] 'दशास्यां पुत्रानाधेहि' [ऋ० सं० १०,८५,४३] इस प्रकार वेद ने स्त्री का सम्पूर्ण यौवन अर्थात् पच्चीस वर्ष दस लड़के पैदा करने और पोषण के लिए बना दिया। जब विवाह का मुख्य लक्ष्य पुत्रोत्पादन ही था, तो पुत्रोत्पादनमें मैथुन स्वाभाविक ही है। उस समय स्त्री यदि पति की आज्ञा नहीं मानती, तो 'उसे भ्रूणहत्याका पाप लगेगा' यदि यह मर्यादा श्वेतकेतुने रखी; तो इससे क्या बुरा किया, इसमें बलात्कारकी

क्या बात है ?

इसके साथ ही वादीकी "उपरोक्त प्रमाण बताते हैं कि हमारे उस गौरवमय युगमें नारी केवल भोग्या थी, केवल-मात्र वासना-पूर्तिका साधन" यह बात भी खण्डित हो गई। जब वादी स्वयं भी "पुत्र उत्पन्न करनेकेलिए मैथुनकी आज्ञा न मानने पर स्त्रीको पाप" यह श्वेतकेतुकी व्यवस्था बताता है, तो स्त्री यहां केवल 'भोग्या' वा "केवल मात्र वासना का साधन" कहां रही ? क्या वादी "यावज्जीवमहं मौनी ब्रह्मचारी तु मे पिता। माता तु मम वन्ध्यासीद् अपुत्रश्च पितामहः' की तरह यह व्याघात केवल पुराण-इतिहासको घृणित करनेकी खुशीमें तो नहीं कर रहा है ? क्या वादी पुत्रोद्देश्यमें स्त्रीके उपयोगको वासनाका साधन मानता है ?

बेटी वा बहिनसे विवाह (?)

(९) आगे वादी लिखता है—"एक युगमें हमारे यहां बेटी और बहिनको भी "भोग्या' मान लिया गया था। ब्रह्मा जी द्वारा अपनी पुत्री के पीछे कामान्ध होकर भागने की कथा सभी जानते हैं" जब यहां वादी-ने एक व्यक्ति विशेषकी कामान्धताका कारण बताया है और 'ब्रह्मा जी की उस चेष्टाको' 'निन्दनीय' भी बता दिया गया, मानता हैं, तो फिर वह बेटीको 'सामान्यतया भोग्या" कैसे कहता है। क्या सामान्यतया भोग्याके पीछे भागनेकी भी आवश्यकता पड़ती है ? अपनी लड़कीको ब्रह्माने अपनी स्त्री बनाकर कब रखा था ?

वस्तुतः यह कथा तो इस बातका अर्थवाद है कि—'मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्। बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति' (मनु० २।२१५) वादी जिस ऋग्वेदकालको स्त्रियोंकेलिए उत्तमकाल कहता है, वहां भी तो यह सूचित किया है—'पिता (प्रजा-पतिः) स्वां दुहितरमधिष्कन् (१०,६१,७)। तो फिर उस उत्तमकालको वादी आक्षेप्य क्यों मानता है ? और फिर ऐसी चेष्टामात्र करनेमें ही

जब पुराणेतिहासमें ब्रह्माका दण्ड-विधान आता है, तब वादीने उसे क्यों छिपा लिया ? यदि वेदमें वादी इस उपाख्यानको रूपक माने, तो क्या पुराणेतिहासमें भी तदनुकूल रूपक नहीं समझ सकता ? जब श्रीकुमारिल-भट्ट आदिने (तन्त्रवार्तिक १,३,७-में) इसे सूर्य और उषाका रूपक माना है, तब आप पुराण-इतिहास पर बलात् आक्षेप कैसे करते हैं ? क्या आप इससे अपना द्वेष बता रहे हैं या अनभिज्ञता ? इसपर 'आलोक (९ पृ. ६६८-६६९) देखें।

(१०) आगे स्वयं खोज न करके वादी दूसरे की खोजको भी प्रमाणित करते हुए लिखता है कि—'वेदकालके विद्वान् अन्वेषक श्री भगवत-शरण उपाध्यायने लिखा है—१ 'वेणके पिता अग ने अपनी पितृ-कन्या सुनीतासे विवाह किया, २ विवस्वान्के दूसरे पुत्र मनुने श्रद्धासे विवाह किया और श्रद्धा महाभारतमें विवस्वान्की कन्या कही गई है। ३ अंगिरसकुलीय भरतने अपनी तीनों बहनोंसे विवाह किया।'

क्या यह वेदकालके उद्धरण हैं, जो वादीने वेदकालके विद्वान्की शरण ली ? वेदमें तो भगिनीसे सम्बन्ध करनेका निषेध लिखा है—'पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्' (ऋ० सं० १०,१०,१२)। 'असंयदेतन्मनसो हृदो मे भ्राता स्वसुः शयने यच्छयीय' (अथर्व० १८,१,१४) 'यस्त्वा भ्राता पति-र्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते। तमितो नाशयामसि' (ऋ० १०,१६२,५) तब यह वेदकालके उद्धरण कैसे हो सकते हैं ? पुराण भी वेदके अनुवादक हैं; उनमें भी ऐसा वर्णन कैसे आ सकता है ?

यदि ये विवाह बहिनोंसे होते, तो सीधा 'भगिनी' शब्द होता, 'पितृ-कन्या' शब्द न होता, प्रत्युत 'पितृकन्या' शब्दसे तो 'भूतयेऽस्तु भवानीशः' की तरह 'विरुद्धमतिकारिता' दोष उपस्थित होता है। जैसे 'भवानीशः' शब्दमें 'पार्वतीके पति महादेव' न कहकर 'महादेवकी स्त्रीके पति' कहनेसे पार्वतीके अन्य पतिका बोध होनेसे दोष माना जाता है, वैसे यहांपर भी 'भगिनी' (बहिन) न कहकर 'पितृकन्या' (पिताकी लड़की) कहनेसे

अभगिनीत्व सिद्ध हो जायगा, क्योंकि—बहिनका बोध करानेकेलिए साहित्य-में 'पितृकन्या' शब्दका प्रयोग नहीं किया वा देखा जाता, और इसके अतिरिक्त आदिम अमैथुनी वा मानसिक सृष्टिके उदाहरण भी मैथुनिक प्रजाकेलिए देना अन्याय है। अतः स्पष्ट है कि—उक्त उदाहरणोंमें 'पितृ-कन्या' शब्दमें 'पितृणां कन्या' ऐसा विग्रह है। वहाँ पितर एक देवयोनि विशेष हैं, जिनकेलिए 'त्रिकाण्डशेष' में 'अथ पूर्वजाः। पितरश्चन्द्र-गोलस्था न्यस्तशस्त्राः, स्वधाभुजः' (१।१।६) आया है, मनुस्मृतिमें जिनके लिए 'पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः' (१२।४९) 'एते ·· असृजन् पितॄणां च पृथग्गणान्' (४।३७) 'ऋषिभ्यः (मरीच्यादिभ्यः) पितरो जाताः' (३।२०१) ऐसा वर्णन आया है।

'त्रयोदशादाद् धर्माय···पितृभ्य एकां युक्तेभ्यः' (श्रीमद्भागवत ४।१।४८) यहांपर दक्ष द्वारा स्वधा नामक कन्याका पितरोंको देना कहा है। क्या वादी भी यहां यही अर्थ लेगा कि—दक्षने अपने पितासे अपनी लड़कीका विवाह किया ? नहीं। यहां पितर एक योनिविशेष हैं जैसे कि—श्रीमद्भागवतने स्पष्ट कर दिया है—'अग्निष्वात्ता बर्हिषदः सौम्याः पितर आज्यपाः। साग्नयोऽनग्नयस्तेषां पत्नी दाक्षायणी स्वधा' (६३)। 'मनुस्मृति' में स्पष्ट किया गया है—'मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः। तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः' (३।१९४) 'न्यस्त-शस्त्रा महाभागाः पितरः पूर्वदेवताः। (३।१९२) 'विराट्-सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः। अग्निष्वात्ताश्च देवानाम्' (३।१९५) 'सोम-पास्तु कवेः पुत्राः' (३।१९८) इत्यादि। इससे स्पष्ट हो रहा है कि—पितृनामक एक योनि-विशेष है—पिता यहां इष्ट नहीं।

'आश्वलायन-श्रौतसूत्र' में कहा है—'वीरं मे दत्त पितरः!' इति-पिण्डानां मध्यमं पत्नी प्राशयेत्' (२।७) यहां क्या वादी पुत्र देनेकेलिए यह पुत्रकी प्रार्थना उसके पितासे ही मानेगा ? 'आधत्त पितरो गर्भं' (यजु० सं० २,३३) यह अपने घरमें गर्भ करनेकी प्रार्थना अपने पितासे

मानेगा ? वस्तुत: वादीको यहां जानना चाहिये कि—उसके दिये उदाहरणोंमें 'पितृ' एक योनि-विशेष इष्ट है। अब वह उपाध्याय-महाशयके दिये हुए बहिनसे विवाह बतानेवाले उपाख्यानोंका निरीक्षण वा परीक्षण करे।

(१) वेनके पिता अग का अपनी पितृ-कन्या सुनीतासे वादी विवाह दिखाता है। वह 'अग' नहीं, किन्तु अङ्ग है, उसने मृत्युकी लड़की सुनीता से विवाह किया— और वेनको उत्पन्न किया। देखिये मत्स्यपुराण—'वंशे स्वायम्भुवस्यासीद् अंगो नाम प्रजापतिः। मृत्योस्तु दुहिता तेन परिणीता सुदुर्मुखा। सुनीथा नाम तस्यास्तु वेनो नाम सुतः पुरा' (१०।१-४)। मनोरजायन्त दश नड्वलाया महौजसः। कन्यायामभवन् श्रेष्ठा वैराजस्य प्रजापतेः। ऊरुः पुरुः शतद्युम्नः सुद्युम्नश्चेति ते नव। अभिमन्युश्च दशमो नड्वलायां सुताः स्मृताः। ऊरोरजनयत् पुत्रान् षडाग्नेयो महाप्रभान्। अंगं, सुमनसं, वापि क्रतुमङ्गिरसं गयम्। अंगात् सुनीथापत्यं वै वेनमेकमजायत' (हरिवंश १।१७।२०) इसकी टीकामें श्रीनीलकण्ठने लिखा है कि—'सुनीथा अंगभार्या मृत्योः पुत्री, इन उद्धरणोंमें अंगको ऊरुका लड़का बताया गया हैं, और अंगकी स्त्रीको ऊरुकी कन्या न कहकर मृत्यु की कन्या बताया गया हैं। अब वादी बतावे कि—क्या अगके ऊरु और मृत्यु दो पिता थे ? दूसरोंके उद्धरण बिना पूर्वापर देखे उद्धृत कर देनेका यही फल होता हैं, जो यहां वादीको मिला।

(२) अब आगे वादी विवस्वान्के दूसरे पुत्र मनुका अपने पिता विवस्वान्की कन्या श्रद्धासे विवाह बताता है—इसपर भी वह देखे। इसमें श्रद्धा मनुकी पत्नी है, यह तो ठीक है, पर महाभारतमें जो श्रद्धा वादीने बताई है, वह कोई व्यक्ति नहीं, वह तो एक निराकार मानसवृत्ति-विशेष है। उसका निरूपण शान्तिपर्वके २६४ अध्यायमें हैं—'श्रद्धां निहन्ति वै ब्रह्मन्! सा (श्रद्धा) प्रत्ता हन्ति तं नरम्' (६) वाग्-वृद्धं त्रायते श्रद्धा मनोवृद्धं च भारत!' (९) 'श्रद्धां कुरु महाप्राज्ञ! ततः प्राप्स्यसि

यत्परम्' (१९) तो क्या वादी इसमें कहीं श्रद्धाको कोई स्त्री-व्यक्ति मान सकता है ? नहीं, यह तो वही श्रद्धा है, जिसकेलिए वेदमें कहा है—'श्रद्धया विन्दते वसु' (ऋ.सं. १०।१५१।४) 'श्रद्धया सत्यमाप्यते' (यजु. सं. १९। ३०)।

इसी श्रद्धाकेलिए महाभारतके उक्त स्थलमें कहा है—'श्रद्धा वैवस्वती सेयं सूर्यस्य दुहिता द्विज! साऽवित्री प्रसवित्री च बहिर्वा मानसी प्रजा' (२६४।८) इसकी टीकामें श्रीनीलकण्ठने स्पष्ट किया है—'विवस्वान् प्रकाशरूपश्चिदात्मा तत्सम्वन्धिनी वैवस्वती, ब्रह्मविषयिणी इति यावत्। सा इयं सूर्यस्य—सूर्यवत् प्रकाशधर्मिणः सत्त्वस्य, दुहितेव दुहिता सात्त्विकी इत्यर्थः। सैव च श्रद्धा अवित्री-पालयित्री, प्रसवित्री-विशुद्धजन्मप्रदा। जपध्यान-धर्मापेक्षया श्रद्धैव श्रेष्ठा-इत्यर्थः। यहां पर उक्त पद्यसे ब्रह्म-सम्वन्धिनी सात्त्विक श्रद्धा महाभारतको इष्ट है—यह स्पष्ट है। यदि वादी श्रीनीलकण्ठसे घवड़ाए, तो आर्यसमाजके वैदिक विद्वान् श्रीपाद-दामोदर सातवलेकरका किया उक्त अर्थ देखे—। वे लिखते हैं—'हे द्विज! ब्रह्म-विषयिणी श्रद्धाको सूर्यके समान प्रकाशमान सत्त्वकी पुत्री अर्थात् सात्त्विकी कहा जाता है। वह श्रद्धा पालन करती है, इससे ही वह अवित्री और शुद्ध जन्म प्रदान करती है—इससे प्रसवित्री कही जाती है।' अब वादी महाभारतके प्रकृतस्थलके पूर्वापर पद्य देखकर क्या सिद्ध कर सकता है कि—यहां 'श्रद्धा' कोई स्त्री-पात्र विवक्षित है ? यदि नहीं, तो मनुकी स्त्री श्रद्धाका इस इस श्रद्धासे सम्बन्ध ही क्या ? वह मनुकी श्रद्धा तो 'कामायनी' कही जाती है, वैवस्वती नहीं। देखिये ऋग्वेद-संहिताके १०। १५१ सूक्त की ऋषिका श्रद्धा को। चाहे वैदिक प्रेस अजमेर की ऋ.सं.को उठाइये, चाहे श्रीसातवलेकर की, चाहे श्री सायणकी। चाहे सर्वानुक्रमणिका-को देखिये। सभीने 'श्रद्धा' को कामायनी कहा है। अब वादी बतावे कि—श्रद्धा मनुकी बहिन कैसे है ?

(३) अब अंगिरस-कुलीय भरतका तीनों बहनोंसे विवाह-वृत्त भी

वादी देखे। जहाँका वृत्त श्रीभगवतशरण उपाध्यायको इष्ट है, वह स्थल महाभारतके वनपर्वका यह है—'पौर्णमास्येषु सर्वेषु हविषाज्यं स्रुवोद्यतम्। भरतो नामतः सोऽग्निर्द्वितीयः संयुतः। तिस्रः कन्या भवन्त्यन्या यासां स भरतः पतिः। भरतस्तु सुतस्तस्य भरत्येका च पुत्रिका' (२१९।६-७) यहाँ पर शंयुकी स्त्रीका दूसरा लड़का भरत और उससे छोटी तीन लड़कियां बताई गई हैं। यहां पर आप लोग 'यासां भरतः पतिः' इस पदसे भ्रममें पड़ गये हैं। यहां 'पति' शब्द यौगिक है यहां 'पति' का अर्थ 'बड़ा' है, जैसे—सभापति, सेनापति। यहां पर 'पति' जैसे 'विवाहित पुरुष' वाचक नहीं माना जाता, वैसे उक्त महाभारतीय पद्यमें भी अर्थ इष्ट है। इसलिए यहां श्रीनीलकण्ठने भी लिखा है—'यासां स भरतः पतिः'। पतिः—ज्येष्ठः, अत्र कन्यानां नामधेयानि सन्ततिश्च अनुक्ता अपि अत्रैव अंगप्रत्यंग-देवतात्वेन ता बोध्याः।'

श्रीरामशास्त्री तैलंगने भी यहां 'शंयुके, दूसरी स्त्रीसे भरत नामके द्वितीय पुत्रका जन्म हुआ। इस स्त्रीसे तीन कन्याएं हुईं, भरत इन तीनोंसे 'बड़े' थे।' यही अर्थ किया है। अब वादी श्रीपाददामोदर सातवलेकरका भी इसमें अर्थ देखे। वे लिखते हैं—जो सब पूर्णमास यज्ञोंमें स्रुवासे आहुति पाता है, उस अग्निका नाम भरत है, वह शंयुका दूसरा बेटा है, उसकी और भी तीन कन्या हैं, उन तीनोंसे भरत ज्येष्ठ है।' यहां यह भी सिद्ध हो रहा है कि यह किसी मनुष्यका वर्णन नहीं, किन्तु अग्नियोंका आलंकारिक निरूपण है। तब वादी मनुष्य भाई-बहिनका विवाह-वर्णन इससे किस प्रकार कर सकता है?

जब वादीके सभी उदाहरण गलत सिद्ध हो गये, तब उनका यह कहना कि—'हमारे पूर्वजोंने तो सगी बहिनोंको भी पत्नीत्वकी सीमासे मुक्त नहीं किया था—पर आजकल 'सगोत्र-विवाह' पर धर्मका नाम लेकर शोरगुल मचाया जाता है' सर्वथा खण्डित हो गया। जब वेद 'अन्यमिच्छस्व सुभगे! पतिं मत्' (ऋसं. १०।१०।१०) से भाई-बहिनके

विवाहका निषेध कह रहा है, तो पुराण उसके विरुद्ध सम्मति भला कैसे दे सकता है?

आगे वादीके 'सन्तानके नाम पर, पांडव पांडुके पुत्र नहीं, नारी एक चल सम्पत्ति, जीवित जलानेकी प्रथा, अशिक्षा और परदा' इन शीर्षकों पर क्रमसे विचार किया जायगा। पाठकगण ऐसे विषयों पर अपनी रुचि उत्पन्न करें, और देखें कि—आज आपकी उदासीनतासे हमारे हिन्दु-साहित्यकी आजके सुधारकों-द्वारा क्या छीछालेदर की जा रही है।

आगे 'सन्तानके नाम पर' शीर्षक लेखसे वादी लिखता है—

नियोगकी आलोचना

१—'श्वेतकेतुकी दी हुई व्यवस्थामें एक यह भी थी कि पत्नी पति द्वारा पुत्र-प्राप्तिकेलिए मैथुनके हेतु प्रेरित किये जानेपर इनकार नहीं कर सकती थी। म० दयानन्द सरस्वतीने भी नियोगको आर्षप्रथा ठहराया है। नियोग एक निकृष्टतम प्रथा थी। महाभारत आदि पर्व १०४ अ० के अनुसार राजा बलिने अपनी पत्नी सुदेष्णाको भेजा। दीर्घतमा अन्धा था, अतः सुदेष्णाको उसके पास जानेकी रुचि नहीं हुई, पर राजाने उसे दीर्घतमासे पुत्र उत्पन्न करानेकेलिए विवश किया।'

वादी बिच्छूका भी मन्त्र बिना जाने साँपके बिलमें हाथ डालनेकी चेष्टा करता है। उसे मालूम होना चाहिए कि नियोगको निकृष्टतम प्रथा बनानेमें कारण स्वा० द० जी हैं, जिन्होंने नियोगमें काम वा मैथुनके लिए नर-नारीको प्रोत्साहित कर दिया है. अतः नियोगकी निकृष्टतमताका उपालम्भ तो वादी उनके समाजको ही दे। अपने यहाँ तो नियोगकी भी विशेष विधि होती है। उस विधिका व्यतिक्रम होनेपर पातित्य हुआ करता है, देखिये मनुस्मृति—'नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः। तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषाग-गुरुतल्पगौ' (९-६३) नियोगमें काम वा लोभ आदि नहीं हुआ करता। इसलिए 'मनुस्मृतिमें कहा है—'तं कामजमरिक्थीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते' (९-१४७) इसमें नियोगमें कामो-

त्पन्न पुत्रको निषिद्ध ठहराया गया है। उक्त मनु-पद्यकी व्याख्यामें श्री-कुल्लूकभट्टने नारदका—'मुखान्मुखं परिहरन् गात्रैर्गात्राण्यसंस्पृशन्। कुले तदवशेषे च सन्तानार्थं न कामतः' (१२।८२-८६) यह वचन उद्धृत किया है। इसमें यह बतलाया गया है कि अंगोंसे अंगोंका स्पर्श न हो, काम सर्वथा न हो, और सन्तान उत्पन्न की जाय। इसी अभिप्रायसे वशिष्ठ ने भी अपने सूत्रमें लिखा है—'लोभान्नास्ति नियोगः' (१७-५७) इस प्रकार नियोगमें काम, लोभ तथा अंग-स्पर्श निषिद्ध है। इससे स्वा०द०-सम्मत नियोग तो खण्डित हो गया, जिसमें उन्होंने स्पष्ट काम-वासना रखी है, जैसे कि—'पुरुषसे वा स्त्रीसे न रहा जाय, तो किसीसे नियोग करके, (सत्यार्थ प्र० पृ० ७४) 'जो ब्रह्मचर्य न रख सकें; तो नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लें' (पृ० ६६) 'परन्तु जो जितेन्द्रिय नहीं हैं, उनका विवाह और आपत्कालमें नियोग अवश्य होना चाहिए। (पृ० ७०) इसी स्वामीजीके लेखके कारण नियोग निकृष्टतम प्रथा ठहरती है। यदि नियोग कामवासनाकेलिए हो; तो उसकेलिए इष्ट युवक ढूंढ़ना पड़ेगा। परन्तु नियोग सन्तानकेलिए होता था, कामकेलिए नहीं। पर बिना कामके तथा बिना अंग-संगके मैथुन नहीं हो सकता, और बिना मैथुनके सन्तान नहीं हो सकती। तब नियोगमें सन्तान कैसे उत्पन्न की जाय? यह एक समस्या थी; जिसे उस समयके अनुभवी वृद्ध-ऋषिमुनियों ने हल कर लिया था। इस कारण जिस राजघरानेकी सन्तान नहीं होती थी, उसकी सन्तान उत्पन्न करनेकेलिए किसी युवक वा बलवान् क्षत्रिय वा ऐरेगैरेको—जैसा कि वादीने लिखा है—न बुलाकर अनुभवी वृद्ध ऋषि-मुनियोंको उस समय बुलाया जाता था। वहां वे लोग अपनी तपः-शक्ति से दृष्टि अथवा हस्तस्पर्श-द्वारा सन्तान उत्पन्न कर देते थे। अतः वादीका 'पुत्रेच्छाके नाम पर चाहे जिसके पास संभोगके हेतु भेज देते थे' यह बात खण्डित हो गई।

यहांपर बलिराजा बूढ़े थे; उन्होंने दीर्घतमा ऋषिको पुत्र देनेकेलिए

प्रार्थना की। श्री सायणने उसे कलिंग-देशका राजा लिखा है—'राज्ञा कलिंगेन स्वयं वृद्धत्वाद् अपत्योत्पादनाय सामर्थ्यमलभमानेन तदुत्पादनाय याचितो दीर्घतमा ऋषिः' (ऋ० १,१२५,१) पर यह भी यहां याद रख लेना चाहिये कि—दीर्घतमा ऋषि भी उस समय बहुत बूढ़े थे। यह बात 'कस्माद् अन्धश्च वृद्धश्च (१,१०४,४०) 'अन्धं वृद्धं च मत्वा तं न सा देवी जगाम ह' (१०४,४१) यहाँ स्पष्ट है। यही बात श्रीसायणने भी 'अतिजरठेन महर्षिणा' इन शब्दोंमें लिखी है। जब राजा भी बूढ़ा था, अपनी रानीसे सन्तान उत्पन्न न कर सकता था, दीर्घतमा ऋषि भी बहुत बूढ़े थे, तो उसने अपनी स्त्रीको सन्तानार्थ बहुत बूढ़ेके पास क्यों भेजा था? क्यों किसी नवयुवक सुन्दर क्षत्रियको नहीं बुलाया? इसमें रहस्य यह था कि—ऐसी शक्ति उस समयके वृद्ध, अनुभवी ब्राह्मण-तपस्वियोंमें थी। वे बिना भी मैथुनके सन्तान उत्पन्न कर सकते थे। तभी तो वहां कहा है—'तां स दीर्घतमाऽङ्गेषु स्पृष्ट्वा देवीमथाब्रवीत्। भविष्यन्ति कुमारास्ते तेजसादित्यवर्चसः (१०४,५२) भला एक बार के मैथुनसे बूढ़ा यह कैसे कह सकता था कि—ऐ राजा तुम्हारे बलवान् बहुत से लड़के होंगे? वास्तवमें यहां बात यह है कि—यहां तेजःसम्पन्न तपस्वी की आंख न होनेसे दृष्टि-संयोग तो न हो सकता था, अतः ऋषि का वह तेज हाथोंमें केन्द्रित था। तब उन्होंने केवल हाथका स्पर्श कर कह दिया कि—तेरे लड़के होंगे।)

यहां अत्यन्त स्पष्ट हुआ है कि—दीर्घतमाने नियोगमें मैथुन नहीं किया। यहां मैथुन उपपन्न हो भी नहीं सकता, क्योंकि 'वृद्धाय प्राहिणोत् तदा' (१०४।४६) यहाँ दीर्घतमाको बूढ़ा कहा गया है। बूढ़ेमें मैथुन तथा एक बारमें ही बहुतसे पुत्रोंका उत्पादन संगत नहीं हो सकता। नहीं तो बूढ़ा राजा स्वयं सन्तान क्यों न उत्पन्न कर सकता? क्यों अन्य बूढ़ेको बुलाता? बूढ़े होनेसे सन्तानमें असमर्थकेलिए तो स्वा.द.जीने 'अन्य-मिच्छस्व सुभगे! पतिं मत्' अन्यसे स्त्रीका नियोग करनेका आदेश दिया

है। स्पष्ट है कि—यहां मुनिकेलिए कहे हुए 'तेजस्वी, ऋषि' (१०४।४५) शब्द उसके तपोबल वा मनोबलके परिचायक है। तभी उसके हस्तस्पर्शमात्रसे सन्तान उत्पन्न हो गई। इसीलिए 'ब्रह्मवैवर्तपुराण'में भी—'मुनेः करस्पर्शमात्रात् सद्यो गर्भो बभूव ह' (२।४६।६२) यहां पर भी हस्तस्पर्शमात्रसे गर्भ हो जाना कहनेसे तपःशक्ति समूल हो जाती है।

पुराणोंमें इस प्रकारके स्पष्ट वर्णन हैं—जहां अभिमन्त्रित हवि खिलानेसे, या यज्ञ करानेसे, या अभिमंत्रित जल पिलानेसे तपस्वियों-द्वारा दूसरोंकी सन्तान उत्पन्न कर दी जाती थी। प्रसिद्ध है कि—एक बार अभिमन्त्रित जलको भूलसे पीनेसे एक पुरुषकी कोख फाड़कर लड़का हो गया था। वह उपाख्यान, बिना भी मैथुनके तप आदिकी शक्तिसे पुत्रोत्पादनको बता रहा है। यहां पर भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिये। आजकल तो बिना स्त्रीके टयूबोंमें लड़के हो रहे हैं। पढ़िये समाचार-पत्र।

जबकि वादी पुराण-इतिहाससे अपनी बात सिद्ध कर रहा है, तब उसकी व्यवस्था भी उन्हींकी माननी पड़ेगी। रानी सुदेष्णा इस बातके ज्ञान न होनेसे शर्मके मारे उसके पास न गई कि—बूढ़ा मुझसे भोग करेगा। पर राजा यह जानते थे, अतः पुत्रार्थ उन्होंने रानीको भेजना ही था। इसमें विवश करनेकी कोई बात नहीं। कई लोगोंको अपना हित ज्ञात नहीं होता, उन्हें यदि हितकेलिए प्रेरित किया जावे, तो वे उसकी विवशता भले ही मान लें, पर वास्तविक वैसा नहीं होता। पुत्रका उत्पादन लोक, वेद सभीको सम्मत है। गुरु लोग पढ़ाईके सम्बन्धमें कई प्रेरणाएं करते हैं; वे शिष्योंको पसन्द न भी हों, पर वह अनिवार्य होनेसे कर्तव्य ही हुआ करता है। निरंकुश लोग उसे भले ही 'विवशता' का नाम दे दें। फलतः जिस-किसी भी दृष्टिसे हो, वादीका यह आरोप भी निराकृत हो गया। इस विषयमें 'आलोक' (८) में पृ. ४३८-४७३ में देखो।

(२) 'पाण्डव पाण्डुके पुत्र नहीं' इस शीर्षकसे वादी लिखता है—'महाभारत आदि पर्व १२१ अध्यायमें जब पाण्डु कुन्तीको किसी अन्य पुरुषसे पुत्र उत्पन्न करानेकी आज्ञा देते हैं; तो कुन्ती गिड़गिड़ाती हुई कहती है—सन्तान उत्पन्न करनेकेलिए तो तुम्हें ही मेरे साथ सम्भोग करना चाहिये। मैं तुम्हारे सिवा अन्य किसीका चिन्तन मनसे भी नहीं कर सकती हूँ'। किन्तु क्या इतना गिड़गिड़ाने पर भी अपने वैभवके हेतु एक उत्तराधिकारी की लालसासे उन्मत्त पाण्डु कुन्तीकी प्रार्थना स्वीकार कर सके ?'

आश्चर्य की बात यह है कि—वादी इसका उत्तर जानता हुआ भी उसे छिपाता है। पाण्डुको मृगमुनिका शाप था, अतः यदि वे अपनी पत्नीसे सम्भोग करते, तो उनकी मृत्यु हो जाती। जैसा कि दूसरी स्त्री माद्रीसे वैसा करने पर उनकी मृत्यु हो गई थी। तब क्या वादी पाण्डुकी मृत्यु चाहता है; जो वादीने ऐसा लिखा ? तब वे वादीकी इच्छा किस प्रकार पूरी करते ? यह बात कुन्ती भी जानती थी। अतः फिर उसने कहा था—'तथा त्वमपि मय्येवं मनसा भरतर्षभ ! शक्तो जनयितुं पुत्रांस्तपोयोग-समन्वितः' (१।१२१।२८) अर्थात् तुम मुझसे तपोबल, मनोबल, योगबल से पुत्रोंको उत्पन्न करो। पर पाण्डु यह बल भी अपनेमें नहीं देखता था। अतः उसने तपोबल-समन्वित ब्राह्मणसे पुत्र-प्राप्तिकेलिए उसे आदेश दिया—'मन्नियोगात् सुकेशान्ते द्विजातेस्तपसोऽधिकात्। पुत्रान् गुणसमायुक्तान् उत्पादयितुमर्हसि' (१।१२२।३०)।

पर इससे भी उत्तम उपाय स्वयं कुन्तीने बताया कि—मुझे देवताओंके मन्त्र दुर्वासा-मुनिने बताये थे, उनके बलसे देवता मुझे सन्तान दे सकेंगे। देवताओंके बुलानेमें भी कुन्तीका यही लक्ष्य था कि वे भी मुझे बिना मैथुनके सन्तान दे सकेंगे। इससे मेरा धर्म नष्ट न होगा। जैसाकि—कौमार्यमें उसे सूर्यदेवसे सन्तान मिली थी, उसमें मैथुन न होनेसे उसका कौमार्य नष्ट नहीं हुआ था। इसी कारण महाभारतमें कहा है—'देवाश्चैवस्वयं-

त्पन्न पुत्रको निषिद्ध ठहराया गया है। उक्त मनु-पद्यकी व्याख्यामें श्री-कुल्लूकभट्टने नारदका—'मुखान्मुखं परिहरन् गात्रैर्गात्राण्यसंस्पृशन्। कुले तदवशेषे च सन्तानार्थं न कामतः' (१२।८२-८६) यह वचन उद्धृत किया है। इसमें यह बतलाया गया है कि अंगोंसे अंगोंका स्पर्श न हो, काम सर्वथा न हो, और सन्तान उत्पन्न की जाय। इसी अभिप्रायसे वशिष्ठने भी अपने सूत्रमें लिखा है—'लोभान्नास्ति नियोगः' (१७-५७) इस प्रकार नियोगमें काम, लोभ तथा अंग-स्पर्श निषिद्ध है। इससे स्वा०द०-सम्मत नियोग तो खण्डित हो गया, जिसमें उन्होंने स्पष्ट काम-वासना रखी है, जैसे कि—'पुरुषसे वा स्त्रीसे न रहा जाय, तो किसीसे नियोग करके, (सत्यार्थ प्र० पृ० ७४) 'जो ब्रह्मचर्य न रख सकें; तो नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लें' (पृ० ६९) 'परन्तु जो जितेन्द्रिय नहीं हैं, उनका विवाह और आपत्कालमें नियोग अवश्य होना चाहिए। (पृ० ७०) इसी स्वामीजीके लेखके कारण नियोग निकृष्टतम प्रथा ठहरती है। यदि नियोग कामवासनाकेलिए हो; तो उसकेलिए इष्ट युवक ढूंढ़ना पड़ेगा। परन्तु नियोग सन्तानकेलिए होता था, कामकेलिए नहीं। पर बिना कामके तथा बिना अंग-संगके मैथुन नहीं हो सकता, और बिना मैथुनके सन्तान नहीं हो सकती। तब नियोगमें सन्तान कैसे उत्पन्न की जाय? यह एक समस्या थी; जिसे उस समयके अनुभवी वृद्ध-ऋषिमुनियों ने हल कर लिया था। इस कारण जिस राजघरानेकी सन्तान नहीं होती थी, उसकी सन्तान उत्पन्न करनेकेलिए किसी युवक वा बलवान् क्षत्रिय वा ऐरेगैरेको-जैसा कि वादीने लिखा है—न बुलाकर अनुभवी वृद्ध ऋषि-मुनियोंको उस समय बुलाया जाता था। वहां वे लोग अपनी तपः-शक्ति से दृष्टि अथवा हस्तस्पर्श-द्वारा सन्तान उत्पन्न कर देते थे। अतः वादीका 'पुत्रेच्छाके नाम पर चाहे जिसके पास संभोगके हेतु भेज देते थे' यह बात खण्डित हो गई।

यहांपर बलिराजा बूढ़े थे; उन्होंने दीर्घतमा ऋषिको पुत्र देनेकेलिए

प्रार्थना की। श्री सायणने उसे कलिंग-देशका राजा लिखा है—'राज्ञा कलिंगेन स्वयं वृद्धत्वाद् अपत्योत्पादनाय सामर्थ्यमलभमानेन तदुत्पादनाय याचितो दीर्घतमा ऋषिः' (ऋ० १,१२५,१) पर यह भी यहां याद रख लेना चाहिये कि— दीर्घतमा ऋषि भी उस समय बहुत बूढ़े थे। यह बात 'कस्माद् अन्धश्च वृद्धश्च (१,१०४,४०) 'अन्धं वृद्धं च मत्वा तं न सा देवी जगाम ह' (१०४,४१) यहाँ स्पष्ट है। यही बात श्रीसायणने भी 'अतिजरठेन महर्षिणा' इन शब्दोंमें लिखी है। जब राजा भी बूढ़ा था, अपनी रानीसे सन्तान उत्पन्न न कर सकता था, दीर्घतमा ऋषि भी बहुत बूढ़े थे, तो उसने अपनी स्त्रीको सन्तानार्थ बहुत बूढ़ेके पास क्यों भेजा था? क्यों किसी नवयुवक सुन्दर क्षत्रियको नहीं बुलाया? इसमें रहस्य यह था कि—ऐसी शक्ति उस समयके वृद्ध, अनुभवी ब्राह्मण-तपस्वियोंमें थी। वे बिना भी मैथुनके सन्तान उत्पन्न कर सकते थे। तभी तो वहां कहा है—'तां स दीर्घतमाऽङ्गेषु स्पृष्ट्वा देवीमथाब्रवीत्। भविष्यन्ति कुमारास्ते तेजसादित्यवर्चसः (१०४,५२) भला एक बार के मैथुनसे बूढ़ा यह कैसे कह सकता था कि—ऐ राजा तुम्हारे बलवान् बहुत से लड़के होंगे? वास्तवमें यहां बात यह है कि—यहां तेजः-सम्पन्न तपस्वी की आंख न होनेसे दृष्टि-संयोग तो न हो सकता था, अतः ऋषि का वह तेज हाथोंमें केन्द्रित था। तब उन्होंने केवल हाथका स्पर्श कर कह दिया कि—तेरे लड़के होंगे।)

यहां अत्यन्त स्पष्ट हुआ है कि—दीर्घतमाने नियोगमें मैथुन नहीं किया। यहां मैथुन उपपन्न हो भी नहीं सकता, क्योंकि 'वृद्धाय प्राहिणोत् तदा' (१०४।४६) यहाँ दीर्घतमाको बूढ़ा कहा गया है। बूढ़ेमें मैथुन तथा एक बारमें ही बहुतसे पुत्रोंका उत्पादन संगत नहीं हो सकता। नहीं तो बूढ़ा राजा स्वयं सन्तान क्यों न उत्पन्न कर सकता? क्यों अन्य बूढ़ेको बुलाता? बूढ़े होनेसे सन्तानमें असमर्थकेलिए तो स्वा.द.जीने 'अन्य-मिच्छस्व सुभगे! पतिं मत्' अन्यसे स्त्रीका नियोग करनेका आदेश दिया

है। स्पष्ट है कि—यहां मुनिकेलिए कहे हुए 'तेजस्वी, ऋषि' (१०४।४५) शब्द उसके तपोबल वा मनोबलके परिचायक है। तभी उसके हस्तस्पर्श-मात्रसे सन्तान उत्पन्न हो गई। इसीलिए 'ब्रह्मवैवर्तपुराण'में भी—'मुनेः करस्पर्शमात्रात् सद्यो गर्भो बभूव ह' (२।४६।६२) यहां पर भी हस्त-स्पर्शमात्रसे गर्भ हो जाना कहनेसे तपःशक्ति समूल हो जाती है।

पुराणोंमें इस प्रकारके स्पष्ट वर्णन हैं—जहां अभिमन्त्रित हवि खिलानेसे, या यज्ञ करानेसे, या अभिमंत्रित जल पिलानेसे तपस्वियों-द्वारा दूसरोंकी सन्तान उत्पन्न कर दी जाती थी। प्रसिद्ध है कि—एक वार अभिमन्त्रित जलको भूलसे पीनेसे एक पुरुषकी कोख फाड़कर लड़का हो गया था। वह उपाख्यान, बिना भी मैथुनके तप आदिकी शक्तिसे पुत्रोत्पादनको वता रहा है। यहां पर भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिये। आजकल तो बिना स्त्रीके टयूबोंमें लड़के हो रहे हैं। पढ़िये समाचार-पत्र।

जबकि वादी पुराण-इतिहाससे अपनी बात सिद्ध कर रहा है, तब उसकी व्यवस्था भी उन्हींकी माननी पड़ेगी। रानी सुदेष्णा इस बातके ज्ञान न होनेसे शर्मके मारे उसके पास न गई कि—बूढ़ा मुझसे भोग करेगा। पर राजा यह जानते थे, अतः पुत्रार्थ उन्होंने रानीको भेजना ही था। इसमें विवश करनेकी कोई बात नहीं। कई लोगोंको अपना हित ज्ञात नहीं होता, उन्हें यदि हितकेलिए प्रेरित किया जावे, तो वे उसकी विवशता भले ही मान लें, पर वास्तविक वैसा नहीं होता। पुत्रका उत्पादन लोक, वेद सभीको सम्मत है। गुरु लोग पढ़ाईके सम्बन्धमें कई प्रेरणाएं करते हैं; वे शिष्योंको पसन्द न भी हों, पर वह अनिवार्य होनेसे कर्तव्य ही हुआ करता है। निरंकुश लोग उसे भले ही 'विवशता' का नाम दे दें। फलतः जिस-किसी भी दृष्टिसे हो, वादीका यह आरोप भी निराकृत हो गया। इस विषयमें 'आलोक' (८) में पृ. ४३८-४७३ में देखो।

(२) 'पाण्डव पाण्डुके पुत्र नहीं' इस शीर्षकसे वादी लिखता है—'महाभारत आदि पर्व १२१ अध्यायमें जब पाण्डु कुन्तीको किसी अन्य पुरुषसे पुत्र उत्पन्न करानेकी आज्ञा देते हैं; तो कुन्ती गिड़गिड़ाती हुई कहती है—सन्तान उत्पन्न करनेकेलिए तो तुम्हें ही मेरे साथ सम्भोग करना चाहिये। मैं तुम्हारे सिवा अन्य किसीका चिन्तन मनसे भी नहीं कर सकती हूँ'। किन्तु क्या इतना गिड़गिड़ाने पर भी अपने वैभवके हेतु एक उत्तराधिकारी की लालसासे उन्मत्त पाण्डु कुन्तीकी प्रार्थना स्वीकार कर सके ?'

आश्चर्य की बात यह है कि—वादी इसका उत्तर जानता हुआ भी उसे छिपाता है। पाण्डुको मृगमुनिका शाप था, अतः यदि वे अपनी पत्नीसे सम्भोग करते, तो उनकी मृत्यु हो जाती। जैसा कि दूसरी स्त्री माद्रीसे वैसा करने पर उनकी मृत्यु हो गई थी। तब क्या वादी पाण्डुकी मृत्यु चाहता है; जो वादीने ऐसा लिखा ? तब वे वादीकी इच्छा किस प्रकार पूरी करते ? यह बात कुन्ती भी जानती थी। अतः फिर उसने कहा था—'तथा त्वमपि मय्येवं मनसा भरतर्षभ ! शक्तो जनयितुं पुत्रां-स्तपोयोग-समन्वितः' (१।१२१।२८) अर्थात् तुम मुझसे तपोबल, मनोबल, योगबल से पुत्रोंको उत्पन्न करो। पर पाण्डु यह बल भी अपनेमें नहीं देखता था। अतः उसने तपोबल-समन्वित ब्राह्मणसे पुत्र-प्राप्तिकेलिए उसे आदेश दिया—'मन्नियोगात् सुकेशान्ते द्विजातेस्तपसोऽधिकात्। पुत्रान् गुणसमायुक्तान् उत्पादयितुमर्हसि' (१।१२२।३०)।

पर इससे भी उत्तम उपाय स्वयं कुन्तीने बताया कि—मुझे देवताओं-के मन्त्र दुर्वासा-मुनिने बताये थे, उनके बलसे देवता मुझे सन्तान दे सकेंगे। देवताओंके बुलानेमें भी कुन्तीका यही लक्ष्य था कि वे भी मुझे बिना मैथुनके सन्तान दे सकेंगे। इससे मेरा धर्म नष्ट न होगा। जैसाकि—कौमार्यमें उसे सूर्यदेवसे सन्तान मिली थी, उसमें मैथुन न होनेसे उसका कौमार्य नष्ट नहीं हुआ था। इसी कारण महाभारतमें कहा है—'देवाश्चैश्वर्य-

वन्तो वै शरीराण्याविशन्ति च' (१५।३०।२१)। सन्ति देवनिकायाश्च संकल्पाज्जनयन्ति ये। वाचा दृष्ट्या तथा स्पर्शात् संघर्षेणेति पञ्चधा' (३०।२२) मनुष्यधर्मो दैवेन धर्मेण हि न दुष्यति' (३०।२३)। यहां पर बताया गया है कि—देवताओंमें ऐसा ऐश्वर्य हुआ करता है कि—वे मनो-बलसे, वा वरदान, वा दृष्टि आदिसे भी पुत्र दे सकते हैं—इससे मनुष्य-धर्म नष्ट नहीं होता।

इसी कारण ही कुन्तीने देवताओंको बुलाया था। देवता आकाशीय पदार्थ थे, मनुष्य नहीं। जो शक्ति ऋषि-मुनियोंमें तपोबलसे आती है, वही शक्ति देवताओंमें स्वतः-सिद्ध होती है। वहाँ पर तो कुन्तीकी इच्छानुसार ही देवता बुलाये गये, कुन्ती पर कोई बलात्कार नहीं किया गया। तब इस दृष्टान्तसे वादीने नारीको 'शोषित' कैसे सिद्ध किया, यह तो वह ही जाने। 'येन योग-बलाज्जातः कुरुराजो युधिष्ठिरः। धर्म इत्येव नृपते! प्राज्ञेनामितबुद्धिना' (१५।२८।१८) यं यं देवं त्वमेतेन मंत्रेणा-वाहयिष्यसि। तस्य तस्य प्रसादात् ते राज्ञि! पुत्रो भविष्यति' (१।१२२। ३६-३७) इत्यादि श्लोकोंमें विना मैथुनके वरदानसे कुन्तीको पुत्र मिले—यह बताया गया है। इसीलिए 'महाभारत'में अन्यत्र स्पष्ट कहा गया है—'कृष्णद्वैपायनाच्चैव प्रसूतिर्वरदानजा। धृतराष्ट्रस्य पाण्डोश्च पाण्डवानां च सम्भवः' (आदिपर्व २।१०१) इसीलिए 'भारतसार' के उद्योगपर्वमें यह वचन आया है—'न च मैथुन-सम्भूता निष्पापाः पाण्डवा मताः' (५५।३१) तब वादीका आक्षेप निर्मूल है। केवल आजके नवशिक्षित नारी-समाजको निरर्थक उत्तेजित करनेकेलिए यह वादीका प्रयास है। इस विषयमें भी 'आलोक' (८) पूर्वोक्त पृष्ठोंमें देखो।

(३) फिर वादी लिखता है—'महाभारत आदिपर्व १०५ अ० में श्रीव्याससे अम्बिका आदिके नियोग करनेकी कथा भी यही सिद्ध करती है कि—ये रानियां भारी दबाव डाले जाने पर ही इस पापकर्मके लिए तत्पर हुई थीं। लिखता है—व्यासने माताका प्रिय साधनेकेलिए

अम्बिकाके साथ संगम किया; किन्तु काशीराज-पुत्री अम्बिका मारे भयसे उनकी ओर न देख सकी।

दूसरी रानी अम्बालिका तो व्यासको देखते ही काली-पीली पड़ गई, किन्तु व्यासने फिर भी उसे मुक्ति नहीं दी, उल्टा यह शाप दे दिया—मुझ कुरूपको देखकर तू जो पीली पड़ गई है, तो तेरा पुत्र भी पाण्डु ही होगा'।

वादी इतिहासकी घटनामें कुछ अपनी कपोल-कल्पनाका मिश्रण भी कर दिया करता है, जिससे उसका निबन्ध कुछ तीव्र आक्षेपक बन जावे। पर यह अत्यन्त अनुचित है। शापकी वहां कोई बात ही नहीं। वादीकी यह मनघडन्त बात है। यहाँ भी कोई मैथुनकी बात नहीं। पूर्वप्रोक्त महाभारतीय (१५।३०-३२) पद्यानुसार जैसे देवता लोगोंकी वाणी, दृष्टि, स्पर्श आदिसे पुत्र उत्पन्न कर देना बताया गया है, वैसे ही देवताओंके समान अलौकिक बलशाली, अणिमा आदि योगसिद्धियोंसे युक्त ऋषि-मुनियोंके भी दिव्य विधिसे हुए संसर्गको स्थूल मैथुन-रूप नहीं, किन्तु सूक्ष्म-मिथुनीभाव ही जानना चाहिये। श्रीव्यासका कौशल्या अम्बालिकासे हुआ मिथुनीभाव भी इसीका विषय है, वहां भी मैथुन नहीं हुआ। अतः एतदादिक उत्पत्तियोंको वरदानके ही कारण माना गया है, इसमें 'महाभारत' (१।२।१०१) की साक्षी पूर्व दी जा चुकी है, इसमें धृतराष्ट्र एवं पाण्डु की उत्पत्ति वरदानसे ही बताई गई है। जहाँ मैथुनसे भिन्न जिस भी दृष्टि आदि प्रकारसे संयोग हुआ हो, उसे 'वरदान' कहा जाता है। श्रीव्यासके वरदानसे धृतराष्ट्रकी स्त्री गान्धारीके भी सौ लड़कोंकी उत्पत्ति बताई गई है (१।११५।७-८) तब यहां क्या श्री-व्यास आदिका मैथुन मान लिया जायगा?

स्पष्ट है कि—अम्बालिका आदिके नियोगकी विधि दृष्टिके संयोगसे पूरी की गई। यहां महातेजस्वी (महा० १।१०५।४८) महा-तपस्वी (१।१०५।१९) मुनि व्यासकी सम्पूर्ण शक्ति आंखोंमें केन्द्रित थी। उन

विधिमें विगुणता आनेसे-क्योंकि कौशल्याने आंख बन्द कर ली थी, इस प्रकार मुनिकी इष्ट विधि पूरी न करनेसे—काशीराजकी लड़कीका लड़का अन्धा हुआ। नहीं तो मैथुनमें स्त्री आनन्द-मग्न होकर यदि आंखें बन्द कर लिया करती है, तो क्या उसके लड़के अन्धे पैदा होते हैं ? यदि नहीं, तो स्पष्ट है कि यहां मैथुनका सम्बन्ध नहीं, किन्तु दृष्टियोगका सम्बन्ध है। उसके व्यतिक्रम होनेसे सन्तानमें भी त्रुटि हुई।

दूसरी अम्बालिकाके पास श्रीव्यास गये, वहां भी दृष्टियोगकी विधि पूर्ण करनी थी। उसने मुनिकी आंख देखकर अपनी आंख तो बन्द नहीं की, पर वह पीली पड़ गई। यह भी विधिमें कुछ व्यतिक्रम था, इसके फल-स्वरूप उसका लड़का भी पीला हुआ। मुनिने उस विधिमें त्रुटिका यह परिणाम बताया था, यह शाप नहीं दिया था, जैसे कि-वादीने लिखा है।

फलतः यहां मैथुनकी कोई बात ही नहीं। यदि ऐसा होता, तो राजरानियोंकेलिए कोई सुन्दर क्षत्रिय युवक चुना जाता, वहां ब्राह्मण, तिसपर भी तपस्वी, बूढ़े, कुरूपको वा आकाशीय देवताओंको बुलानेकी क्या आवश्यकता थी ? केवल इसलिए कि—ऐसे देव वा वृद्ध तपस्वी ही बिना मैथुनके पुत्रोत्पादनके प्रकारसे परिचित थे। इस विषयमें 'आलोक' (८) में पूर्वोक्त पृष्ठोंमें 'नियोग और मैथुन' (१) यह निबन्ध देखो।

(४) आगे वादी लिखता है कि—"जिस पुत्रकेलिए स्त्रियोंको इतना घोर कष्ट दिया जाता था, उनपर ऐसा अत्याचार किया जाता था, वे उस पुत्र पर भी अपना अधिकार नहीं रख सकती थीं, माता तो चर्म की पिटारी है, पुत्र तो पिताका ही होता है।" वादीने 'घोर कष्ट, अत्याचार' यह शब्द केवल साधारण लोगों पर अपना प्रभाव डालनेकेलिए स्वयं गढ़े हैं। इन घटनाओंमें इनका आभास भी नहीं—यह विद्वान् पाठकोंने स्वयं भी जांच लिया होगा। प्रकृति नारीको प्रसवादिका कष्ट अवश्य देती है, परन्तु 'पूर्वजोंने नारी पर अत्याचार किया' यह बात असिद्ध ही है, सिद्ध

नहीं हो सकी।

'माता तो चर्मकी पिटारी है' इत्यादि वाक्य किस ऋषि-मुनिका है या किस ग्रन्थका है—यह वादीने नहीं बताया। तब इसपर क्या विचार हो सकता है ? जब दोनोंके शुक्र-शोणितके संयोगसे पुत्र होता है, तो अधिकार भी पुत्र पर दोनोंका ही होता है। हां, मुख्यता अवश्य पिता की होती है, क्योंकि—शुक्र की प्रबलता एवं मुख्यतासे ही पुत्र होता है और फिर वह पुत्र पिताका ही वंश बढ़ाता है, अपनी माताके वंश माता-मह आदिसे उसका कुल-सम्बन्ध नहीं रहता। और उस लड़कीको अपना वंश बढ़ानेकेलिए उसके घरसे लाता भी वही पुरुष ही है, और उस पुत्र को संसारी व्यवहारमें लाना, पढ़ाना, अपने उत्तराधिकार-योग्य बनाना—यह काम भी पिताका ही होता है। बल्कि—इससे यह भी सिद्ध हो रहा है कि—माता किसीके बहकावेमें आकर पतिसे पृथक् हो जाय, तो पुत्र पर अधिकार पिताका ही रहता है, माताका नहीं। आजकल भी दोनोंके पुत्र होनेपर भी **Son of** (सन आफ) लिखकर 'पिता' का ही नाम लिखा जाता है, दोनोंका नहीं। तब वहीं 'पत्नियोंसे उत्पन्न सन्तान पति की ही होती है' यदि यह कहा है, तो इसमें क्या आश्चर्य है ? पति ही तो स्त्रीको विवाहनार्थ उसके घर जाता है कि—मैं तुम्हें पुत्रार्थ लेने आया हूँ, तभी तो वादीके भी मान्य 'ऋग्वेद' ने 'पति' के लिए कहलवाया है—'रयिं च पुत्रांश्चादाद् अग्निर्मह्यमथो इमाम्' (१०।८५।४१)। तब क्या वादी अब ऋग्वेद-कालको स्त्रियोंकेलिए उत्तम नहीं मानता ? क्या यह उसका व्याघात नहीं होगा ?

(५) वादी आगे लिखता है—"इस प्रकार नारीको पशुओंके समकक्ष माने जाने की हमारी परम्परा काफी पुरानी है' यह भी वादीका आक्षेप मनघड़न्त है। क्या वादी 'जिस प्रकार गाय, घोड़ी, ऊंटनी आदिकी सन्तानें इन पशुओंकी नहीं, बल्कि उनका पालन करनेवाले स्वामीकी

होती हैं' इस वाक्यको लेकर स्त्रियोंको पशुओंके समकक्ष बना रहा है ? महाशय ! पशुके दृष्टान्तमें किसीको पशु नहीं बनाया जा सकता। दृष्टान्तका एकदेश ही लिया जाता है। नहीं तो यदि स्त्रियां, गाय आदि पशुके समकक्ष हैं, तो पति भी बैल आदि पशुओंके समकक्ष हुए। फिर उन्हें भी सन्तान क्यों दी जाती है ? यह आक्षेप वादीका वृथा ही है।

(६) आगे वादी फर्माता हैं—'तुलसीदासने ही 'ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी' लिखकर कोई विशेष अपराध नहीं किया। इसपर वह यह जाने कि—जैसे गुरु-द्वारा शिष्योंको ताड़नाका अधिकार सब शास्त्रोंमें आया है, इस प्रकार गुरु-रूप नर-द्वारा शिष्य-रूप नारीका ताड़नाधिकार भी शास्त्रीय आचरण है। तो क्या आप उन शिष्योंको भी पशुओंके समकक्ष मान लोगे ? महोदय ! यही बात आपका माननीय 'ऋग्वेद' भी कहता है—'इन्द्र ! जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियम्। मायया शाशदानाम्' (७,१०४,२४) 'जाया पत्या नुत्तेव' (ऋ० १०,१,२)। यहां पर स्त्रियोंकी ताड़ना भी आई है, तब आप 'नानापुराणनिगमागम-सम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि।' (१,७) लिखनेवाले गो० तुलसीदास जी पर छिपे-छिपे क्यों आवाजा कस रहे हैं ? स्त्रीका दण्ड 'स्त्री-दण्डश्च पृथक् शय्या' प्रसिद्ध है। इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ० २७३-३१० देखो।

वादीके यह शब्द कि—"हमारे प्राचीन शास्त्रकारोंने एक ओर पुरुषको नारी पर बलात्कार करने, उसे अन्य पुरुषोंसे व्यभिचार करानेकेलिए विवश करने और उसकी सन्तान छीन लेनेका अधिकार दिया है" यह सर्वथा असत्य हैं—यह सिद्ध किया जा चुका है। व्यभिचारके शत्रु हमारे प्राच्य-शास्त्रकार भला व्यभिचारकी आज्ञा कैसे दे सकते हैं ? नियोगमें मैथुन नहीं होता—यह सिद्ध किया जा चुका है ? इस विषयमें 'आलोक' (८) देखो। और फिर अपना पति स्त्रीसे बलात्कार क्यों करेगा ? बलात्कार अन्यसे तो सम्भव है, पर वह विहित नहीं, अपनी

पत्नीसे बलात्कार कैसा ?

(७) वादी फिर लिखता है—'याज्ञवल्क्य-स्मृति और नारद-स्मृतिमें विधवाको अपनी पतिकी सम्पत्तिमें किंचित् भी अधिकार देनेका निषेध है' पर वादीने उनका कोई भी वचन नहीं दिया। पति-व्रत धर्ममें निरत विधवाका पोषण पुत्र ही करता है, तब विधवाको अन्य क्या चाहिए। यदि उसे सारी सम्पत्ति दी जाय, तो छली लोग उस मुग्धाको बहका कर उससे छीन लें। क्या सम्पत्तिशालीके लिए वादीने नहीं सुना 'यथामिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि। आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान्' इसी कारण सम्पत्तिशालीको निद्रा भी सुलभ नहीं होती। फिर वेचारी अनाथा-अबला को वह भार देना उससे शत्रुता करना होता। अतः उसे कलहास्पद सम्पत्ति न देकर उस पर अनुग्रह किया गया है, सम्पत्ति वालेको ही सभी भय रहते हैं, विधवाको उन भयों से बचवाया गया है। और फिर वह सम्पत्ति विधवाको बुरे मार्ग पर भी पैर रखवा सकती है। हमारे पूर्वज संसारके पूर्ण अनुभव न रखने वाले वादीकी अपेक्षा एतदादि-विषयोंमें सम्यक्तया सप्रतिभ तथा सतर्क थे, अतः वादीका उन्हें उलाहना देना अपना अज्ञान प्रकट करना है। यदि विधवाको धनका अधिकार दे दिया जाय, और उसे स्वतन्त्र कर दिया जाय, तो उसे कोई इन्हीं कारणोंसे भगा कर उस कुलको उससे तथा उस धनसे वंचित करके उस कुलको बड़ी हानि पहुंचा सकता है।

(८) आगे वादी लिखता है—'नारदने विधवा-विवाहकी अनुमति फिर भी दी है, किन्तु मनुने उसका निषेध कर दिया है, यह वादीकी बात ठीक नहीं। नारद-स्मृति भी मनुस्मृति है, यह भी मनुस्मृति है, केवल वहाँ वक्ता नारद हैं, और इसमें भृगु वक्ता है। ब्रह्माने अपनी एक-लक्षात्मक स्मृति अपने दशों लड़कोंको पढ़ाई थी, किसीने उसका कोई भाग ले लिया, किसीने दूसरा। परन्तु मनुस्मृतियोंमें परस्पर-विरोध नहीं हो सकता, जो कि नारदकी विधवा-विवाहार्थ अनुमति वादीको

मालूम हुई है, वहां पर वाग्दत्ताविधवाके लिए वैसा कहा गया है; विवाहिता-विधवाके लिए नहीं।

बात यह कि—'प्रदानं स्वाम्य-कारणम् (५।१५०) के अनुसार कन्याका वाग्दान पतित्वका कारण माना गया है। जैसेकि—श्रीकुल्लूकभट्टने यहाँ पर लिखा है—'यत् पुनः प्रथमं वाग्दानात्मकं प्रदानम्, तदेव भर्तुः स्वाम्यजनकम्' इस कारण वाग्दत्ताके स्वामीको भी 'पति' कहा जाता है। तभी वाग्दत्ता की मृत्युमें पतिकुलमें तीन दिन तक अशुद्धि मानी जाती है; जैसे कि--'स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहात् शुध्यन्ति बांधवाः' (मनु० ५।७२) यहाँ पर श्रीकुल्लूकने लिखा है--'स्त्रीणामकृतविवाहानां वाग्दत्तानां मरणे बांधवा भर्त्रादयस्त्र्यहेण शुध्यन्ति।' उसी वाग्दत्ताके वाग्दानकालिक पतिके मरने पर नारदने अन्य पतिका विधान अपनी मनुसंहितामें अभ्यनुज्ञात किया है, उसीको भृगुने भी अपनी मनुस्मृतिमें स्मृत किया है। वह पद्य यह है--'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः। तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः' (९।६९) इस पर श्रीकुल्लूकने लिखा है—'यस्याः कन्याया वाग्दाने कृते सति भर्ता म्रियते, तामनेन वक्ष्यमाणेन अनुष्ठानेन भर्तुः सोदर-भ्राता परिणयेत्'। फलतः नारदको उसी वाग्दत्ता-विधवाका विवाह इष्ट है, विवाहिता-विधवाका विवाह नहीं, क्योंकि विवाहिताके विवाहका कोई भी शास्त्र विधान नहीं करता।

(९) आगे वादी लिखता है—'मनुने तो ऐसी पत्नीको पति-द्वारा त्याग दिये जानेकी व्यवस्था भी दे दी है, जिसने केवल कन्याएं उत्पन्न की हों।'

आश्चर्य है कि वादी धर्मशास्त्रका पूर्ण ज्ञान न होते हुए भी अपनी इच्छानुसार उसमें हस्तक्षेप कर रहा होता है। वहां तो 'अधिवेद्या' (मनु० ९।८१) शब्द आया है। 'अधिवेद्या' का अर्थ कन्या उत्पन्न करनेवालीको 'त्याग देना' कहीं भी नहीं कहा, किन्तु 'तस्यां स्त्रियां सत्याम् अन्यया सह विवाहः' यह उसका अर्थ हुआ करता है। देखिये कुल्लूकभट्ट लिखते हैं—'अधिवेत्तव्या – तस्यां सत्यामन्यो विवाहः कार्यः' (९।८०)। मेधातिथि ने भी कहा है–'तस्या उपरि अन्य–विवाहः'। राघवाचार्यने लिखा है—'सत्यामपि तस्यां तस्या उपरि स्त्र्यन्तरस्य परिग्रहः'। रामचन्द्र-टीकाकार ने कहा है—'आसामुपरि अन्या विवाहयितुं योग्या'। इसी प्रकार नन्दन, नारायण आदि टीकाकार भी लिखते हैं। इससे पूर्व-स्त्रीका त्याग नहीं आया, किन्तु पूर्व-स्त्रीके होते हुए पुत्रोत्पादनार्थ अन्य-स्त्रीसे विवाह कहा गया है। यहां पूर्व-स्त्रीके छोड़नेकी कल्पना तो आपके श्रद्धेय स्वा० द० जीने निर्मूलतासे की है। वादीको उन्हें ही उलाहना देना चाहिये। मनुको वैसा इष्ट नहीं; तब स्पष्ट है कि त्यागनेका अर्थ वादीकी खोपड़ी की ही उपज है, जो कि धर्मशास्त्रोंसे घृणा करानेकेलिए ही प्रयुक्त किया गया है।

आगे वादी मनु पर कृपा करता है कि 'मनु सोच ही नहीं सके, कि केवल कन्याओंके जन्मके कारण पत्नी ही नहीं, पतिका भी कोई दोष हो सकता है। ऐसे विचारहीन व्यवस्थापकोंके बनाये हुए नियमोंकी रक्षाके लिए आज हमारे देशके धर्मध्वजी खड्गहस्त हो उठे हैं।"

वादी यहां भी अपना अज्ञान न जानकर वादि-प्रतिवादि-मान्य मनुजीको तथा उनके माननेवाले सनातनधर्मी एवं आर्यसमाजियोंको गालियां दे रहा है। अपनी विचारहीनता वादी नहीं मानता, सच है—'...सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति। आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति।' वादीको इतना ज्ञान नहीं कि कन्याकी उत्पत्ति रजकी प्रबलतासे ही होती है। जब एक स्त्री निरन्तर लड़कियां ही उत्पन्न करती चली जा रही हो; तो इसका अर्थ यह हुआ कि इस स्त्रीका रज प्रबल है; पुरुष नपुंसक नहीं, तब बोलिए कि—कन्याओंके उत्पादनका कारण पत्नी हुई या नहीं? 'पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे, स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः' (मनु० ३,४९) 'शुक्रबाहुल्यात् पुमान्, आर्त्तव-बाहुल्यात् स्त्री'

(सुश्रुतसंहिता शारीर ३,५) 'रक्तेन कन्यामधिकेन, पुत्रं शुक्रेण' (चरक-संहिता शारी० २,१२) इत्यादि आयुर्वेदादिके प्रमाणोंसे कन्याओंके उत्पादनमें प्रधान कारण पत्नीका रज ही है—यह वादी भी जानता ही होगा। पतिकी इतनी त्रुटि है कि–उसका शुक्र अपनी पत्नीके रज की अपेक्षा प्रबल नहीं; अतएव कन्याओंका कारण वही पत्नी हुई। अब पुत्रोत्पादनमें दो उपाय हैं; या तो वह पति किसी अन्य पुरुषसे अपनी पत्नीमें पुत्र उत्पन्न करावे, या स्वयं अन्य स्त्रीसे विवाह करे। उसमें पहला प्रकार वादीके भी विरुद्ध है, सनातनधर्मियोंसे भी विरुद्ध है। तब शेष दूसरा उपाय ही रह जाता है।

अब वादी बतावे कि—मनु विचारहीन हुए या स्वयं वादी ? पतिमें तब दोष सिद्ध हो सकता है, जब सन्तान ही उत्पन्न न हो, यद्यपि उसमें पत्नीका वन्ध्यात्व भी कारण हो सकता है। तब पुत्रोत्पत्तिकेलिए अपनी अपेक्षा हीनवीर्या-स्त्रीसे विवाह करनेपर वैसी बात पूरी हो सकती है। आजकलके सुधारक स्वा० द० ने भी मनु पर कोई हाथ नहीं उठाया, पर स्वामी जी भ्रमसे इस पद्यको भी नियोगमें ले गये। परन्तु यह पुरुषके अन्य विवाहका है, नियोगका नहीं। इस विषयमें 'आलोक' (८) देखिये। यदि ऐसे दीर्घदर्शी-विचारवाले वादीको व्यवस्थापक बना दिया जावे, तो वह तो कुलोंके कुल नष्ट कर दे।

(१०) आगे वादी तत्कालीन नारीके अधिकारोंके सम्बन्धमें महा-भारतसे शर्मिष्ठाका वचन उद्धृत करता है–हे राजन् ! भार्या, दास और सुत तीनों धनके स्वामी नहीं हैं, जिस पति, वा स्वामी या पिताके अधि-कारमें रहकर वे धन उपार्जित करते हैं, वह धन उनका ही होता है' (१।८२।२२) यह लिखकर वादी उसपर टिप्पणी चढ़ाता है—'आशय यह है कि स्त्री मेहनत—मजदूरी करके भी अपना पालन—पोषण नहीं कर सकती थीं, उसका स्वयं उपार्जित धन भी छीन लिया जाता था।"

वादीने स्त्री, दास, पुत्रका धनका स्वामी न होना यह नई बात क्या लिखी। यही बात 'मनुस्मृति' (८।४१६) तथा शुक्रनीति (४।८०६) तथा अन्य स्थलोंमें भी मिलती है। ऐसी बात स्वाभाविक भी है। शेष रही स्त्रीको अपने पालन-पोषणकेलिए मेहनत-मजदूरी करनेकी वादीकी बात, तो जब वेद उसे पतिकी 'पोष्या' (अ० १४।१।३२) बताता है, इसी कारण पत्नीका भरण—पोषण पुरुषके अधीन होनेसे ही उसे 'भार्या' तथा पतिको 'भर्ता' वा 'पति' कहा जाता है, तब वादीका आक्षेप तो 'वालूकी भित्ति' हो गया। इसमें केवल स्त्रीकेलिए ही निर्धनता क्यों, दास पुरुषकेलिए भी वैसा कहा गया है, अपने पुत्रकेलिए भी। तो वादी इस समय दास वा पुत्रका भी वकील क्यों नहीं बना ? केवल 'भार्या' का वकील ही क्यों बना ?

यदि वह भार्या है, पोष्या है, तो उसे अपने पोषणार्थ मेहनत-मजदूरी की आवश्यकता ही क्या है ? मेहनत–मजूरी तो पतिको ही करनी पड़ती है, स्त्रीको तो घरका क्षेत्र देकर एक रिटायर-जीवन जैसी पैनशिन ही मिलती है। घरका काम—काज भी उसके स्वास्थ्यार्थ हुआ करता है। पैनशन ही नारीको क्या, पति जो भी कमाता है, वह सारा धन सुवर्णादि-रूपमें तथा कोषाध्यक्ष-रूपमें स्त्रीको ही सौंप देता है, देखिये–मनुस्मृति (९।११)। ऐसी बात किसी यूरोपियन-लेडीको भी नसीब नहीं होती। तभी उनको अपने पोषणार्थ मेहनत-मजदूरी भी करनी पड़ती है, सुवर्ण-भूषण पहरना भी नसीब नहीं होता। वे पतिकी 'भार्या' न बनकर 'मित्र' रूपमें पृथक् रहती हैं, उन्हें वह भारतीय-अर्धांगिनीपन या अभिन्नता प्राप्त नहीं होती।

अब वादी बताए कि—स्त्रीके मित्र मनु हुए, या तुम ? जो उससे बच्चे भी पैदा करवाते हो, अपनी सेवा भी कराते हो, और मेहनत-मजदूरी अलग करवाते हो। आपका न्याय वस्तुतः स्तुत्य है (?) मेहनत-मजूरी होती है यौवनमें। नारीके यौवनके २५ वर्ष हैं--उसकी सन्तानकी उत्पत्ति तथा

पालन-पोषणके, क्योंकि—वादीके शब्दोंमें नारीके सर्वोत्तमकालका वर्णन ऋग्वेदमें है, सो ऋग्वेदमें स्त्रीको दस पुत्र पैदा करनेकेलिए कहा है 'दशास्यां पुत्रानाधेहि' (१०।८५।४५)। ढाई-ढाई साल पुत्रादिकी उत्पत्ति तथा पालनादिमें लगाया जाय, तो दस ढैया पच्चीस, उसके पच्चीस साल तो इसी सन्तानके काममें लगेंगे, तो वह मेहनत—मजदूरी भी क्या गर्भिणी अवस्थामें वा प्रसव आदिके समय वा बच्चेको उठाकर करे? या बुढापेमें करे? धन्य है वादीका यह नव्य-भाव। इस अवसरमें प्राचीन-व्यवहार ही स्त्री-जातिका मित्र है। आप तो प्रसवमें भी उसे पुरुषके समान अधिकार देंगे कि जा कमा, और खा। धन्य, वादी धन्य!!!

नारी एक चल सम्पत्ति (?)

(११) इस शीर्षकमें वादी 'पिता रक्षति कौमारे.....न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' इस मनु-पद्यका अनुवाद देकर लिखता है कि—स्त्री सम्पत्ति थी, उसकी रक्षा की जानी आवश्यक ही थी। यदि उसे स्वरक्षाका अधिकार दिया जाता, तो पुरुषोंका उसपर ऐसा अबाध-बलात्कार किस प्रकार चल सकता था?'

बिल्लीको सपने भी चूहोंके आया करते हैं। जब नारीको वेदानुसार पतिसे 'पोष्या' तथा लोकानुसार 'भार्या' माना जाता है, तो उसका संरक्षण भी पति-द्वारा आवश्यक ही है। इस अस्वातन्त्र्यके बारेमें अपने आरम्भिक लेखमें हमने पर्याप्त प्रकाश कर दिया है। इसपर वादीने युधिष्ठिर-जैसे धर्मराज द्वारा पत्नीको जुएके दांव पर लगा देना—इसका प्रमाण दिखलाया है—यह व्यर्थ है। यह दृष्टान्त ही ग्राह्य नहीं। क्या इससे जुआ खेलना भी धर्मराजका कर्तव्य माना जायगा? और फिर युधिष्ठिरने चारों भ्राताओं वा अपने आपको भी दांवमें लगा दिया, तो क्या इससे पुरुषोंको भी और अपने-आपको भी अपनी सम्पत्ति माना जावेगा? यदि ऐसा ही है, तो केवल स्त्रीकी ही वकालत क्यों? वस्तुतः

इससे द्यूतमें क्या दुर्विलसित हो जाते हैं, कैसी उसमें निर्विवेकिता हो जाती है, उसका क्या दुष्परिणाम हुआ—यह बात द्यूतसे घृणा दिलवाने के लिए सूचित की गई है।

सुभद्राका इतिहास—

(१२) आगे वादी श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनको सुभद्रा-हरणकी प्रेरणाका इतिहास उपक्षिप्त करके न मालूम क्या बताना चाहता है। 'स्वयंवरः क्षत्रियाणां विवाहः पुरुषर्षभ! स च संशयितः पार्थ! स्वभावस्यानिमित्ततः' (२२१।२१) यह बात स्वयंवरके विषयमें ठीक कही गई है। इसमें स्वयंवरकी निंदा झलकती है। बात यह है कि 'कन्या वरयते रूपम्।' कन्या रूपको ही देखती है। शेष बातें भी जो आवश्यक हैं, उनको कैसे जान सकती है, जिनकी भविष्यत्में आवश्यकता होती है। 'प्रसह्य हरणं चापि क्षत्रियाणां प्रशस्यते। विवाहहेतुः शूराणामिति धर्मविदो विदुः' (२२) यह हरण क्षत्रियोंकी शूरवीरताकी परीक्षा के लिए किया जाता है, नहीं तो स्वयंवरमें ही उससे कोई उस लड़कीको छीन ले। सो यह बहनके अपहरणका जो परामर्श श्रीकृष्णने अर्जुनको दिया, उसमें कई कारण हैं। एक तो यह कि—अर्जुन-जैसा योग्य व्यक्ति सुभद्राके अत्यन्त अनुरूप है, इसको जितना श्रीकृष्ण जान सकते थे, उतना सुभद्रा कैसे जान पाती? दूसरा—श्रीबलरामका दुर्योधनको देनेका सूक्ष्म संकल्प था—'दुर्योधनाय रामस्तां दास्यतीति (श्रीमद्भागवत १०।८६।२) अतः उससे बचावकेलिए श्रीकृष्णने 'उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च। अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद् यथाविधि' (मनु० ९।८८) यह ,विचारकर 'हर स्वयंवरे, ह्यस्याः को वै वेद चिकीर्षितम्(२३)यह सुभद्रा पर अनुग्रह करके अर्जुनको सम्मति दी। इस बातमें वादी क्या अनौचित्य समझता है? इतना कन्ट्रोल भी न किया जाय, तो कई लड़कियां ?राजनशर्मा' बनकर 'सिकन्दर-बख्त' को ही वरण करने लग जाएं; तो नो ानीम जाहित कीस हक लाहौरके एक प्रतिष्ठित सम्पादक जो

नव-शिक्षितोंमें प्रचलित एक सम्प्रदायके नेता थे—जो स्वयंवरके प्रेमी भी थे—उनकी शिक्षिता लड़की नाईको ही वरण करना चाहती थी, पर कई हानियां विचारकर उन्होंने यह सम्बन्ध न होने दिया—इसमें प्रतिबन्ध अनुचित भी नहीं, बल्कि 'प्रदानमपि कन्यायाः पशुवत् कोनुमन्यते। विक्रयं चाप्यपत्यस्य कः कुर्यात् पुरुषो भुवि (२२३।४) यह कहकर भगवान्‌ने कन्याका बिना सोचे विचारे किसीको दे देना—उसे पशु-व्यवहार माना है, इससे स्पष्ट है कि लड़की वा बहिनका जिसमें भावी मंगल हो, यही कर्तव्य सूचित होता है। इससे नारीके 'शोषण' की बात नहीं; किंतु भावी पोषणकी बात है।

वादी लिखता है—'स्त्रियोंको बलात् हर ले जानेकी प्रथा—जिसके लिए रावणको इतना धिक्कारा जाता है कितनी धर्म-सम्मत मान ली गई थी—उपरोक्त कथा इसका ज्वलन्त प्रमाण है'।

आश्चर्य है कि—वादी सुभद्राहरण तथा सीताहरणको एक कोटिमें रखता है? सीता एक की स्त्री थी; उसे अब अन्य पुरुष अपेक्षित नहीं था। रावणने उसे स्वयंवरमें भी हरण नहीं किया था; किन्तु वह चोरी थी, पर सुभद्रा अभी कुमारी थी, उसे पति अपेक्षित था, उसका स्वयंवर हो रहा था, कितना भेद है? सीताको बिना किसीका इच्छासे चुराया गया था। यह उसपर अत्याचार अवश्य था, इस कारण उसको धिक्कार मिलनी ही थी, पर सुभद्राको तो उसके अत्यन्त-हितैषी भ्राताके संकेत से लिया गया था—इसमें आकाश-पातालका भेद है।

'हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्। प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते' (३।३३) इस विवाहको वादी 'जायज' माना जाना लिखता है। 'एक भी शास्त्रकार और स्मृतिकारने ऐसे विवाहको अवैध घोषित नहीं किया'—यह वादी लिखता है, पर वह उसके 'नाजायजपन' को लिखनेवाले श्लोकोंको छिपाता है। देखिये—

'ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः। ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः' (३।३९) इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः। जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः' (३।४१) 'अनिन्दितैः स्त्री-विवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा। निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान् विवर्जयेत्' (३।४२) इसमें रोती-चिल्लाती कन्याके प्रसह्य-हरणात्मक विवाहको निन्दित तथा त्याज्य बतलाया गया है। केवल क्षत्रियोंमें कादाचित्कतासे सीमित करके उसे ऐकदेशिक कर दिया गया है। वादीने यह बात क्यों छिपा ली? क्या वह ग्रन्थोंके पूर्वापर पद्य न देखकर यों ही लिख दिया करता है?

—कन्यादान—

(१३) वादी आगे 'कन्यादान' को आलोचित करता है, पर यह तो वेदानुमोदित है। देखिये ऋग्वेद—'सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सविताऽददात्' (१०।८५।९) यहांपर सविता-नामक पिताका सूर्या-नामक अपनी कन्याका दान कहा है। इसी प्रकार अथर्ववेदसंहितामें—'एषा ते कुलपा राजन्! तामु ते परिदद्मसि' (अ० १।१४।३) 'पिता भ्राता वा दद्यात्' (मानवगृह्यसूत्र १।८।६) महाशय! पिता कन्याका उत्पादक है, अतः आधिपत्यके कारण कन्याका दाता भी वही हो सकता है। सम्पत्ति होनेकी बात नहीं। शुनःशेपको बलिकेलिए बेचना लोभमूलक है, लोभी क्या नहीं करता? मोरध्वजका अपने पुत्र पर आरा चलाना पुत्रकी परोपकार-प्रकृति होनेसे उसकी रजामन्दीसे हुआ। उसपर जोर-जबर्दस्ती नहीं की गई थी। वह स्वयं परोपकार-प्रिय था। श्रीकृष्णके द्वारा अपनी मांग देखकर वह फौरनसे पेश्तर तैयार हो गया, और माता-पिताको इसके लिए बाधित किया। आगे वादी सहस्रों नवजात-शिशुओं को मनौतीके नाम पर नदियोंमें बहा देना कहता है, पर इसमें प्रमाण नहीं देता। लड़कियां मन्दिरोंमें भेंट करना, अबोध—बालकोंको साधुओंको भेंट कर देना--यह सब काम क्वचित् होते हों, यह सम्भव है। न तो यह सर्वत्र होते हैं, न इसमें वादीका कहा कारण है। इसमें उत्तम उद्देश्य वा सन्तानकी सद्गति लक्ष्यमें रखे जाते हैं, पर यदि उसका दुरुपयोग होता

है, तो इसमें विधिशास्त्रका कोई दोष नहीं।

'जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः (मनु० ९,७ ऐतरेय-ब्राह्मण ७,३) इत्यादिके अनुसार सन्तान पिताका अंशावतार है, पिताका उसपर पूरा आधिपत्य है, क्योंकि—वह स्वयं वही है। अपने अंश पर आधिपत्य हो भी क्यों नहीं ? शेष जो कोई अशास्त्रीय वा अनुचित व्यवहार उनसे करता है, वह अपने साथ करता है, शास्त्रका इसमें क्या दोष ? कन्या जब देय वस्तु है, तो कन्यादान पिता-द्वारा होगा ही। कन्या, दान-क्रियाका कर्म है, अतः परतन्त्र है, पर यदि पिता—उससे कोई स्वार्थ सिद्ध करता है तो वह पामर निन्दनीय है, इसमें शास्त्रका कोई दोष नहीं ? फलतः पिताकी पुत्री आदि चल-सम्पत्ति नहीं, किन्तु अवयव है, अतः उनपर पिताका इसी कारण आधिपत्य है, वादि-प्रोक्त कारण से नहीं।

(१४) आगे वादी दामादोंको कन्याएं दान दी गई बताता है। यह बात भी उनकी ठीक नहीं। वे लड़कियां (दासियां) दामादोंको नहीं, किन्तु उस दामादसे विवाही हुई राजकुमारीको दी जाती हैं। यौतक (दहेज) पतिका नहीं होता, किन्तु स्त्रीका होता है। ऐसा व्यवहार राजघरानेमें होता है। उस राजकुमारीकी सेवाकेलिए तथा पतिसे अलग रहने की अवस्थामें राजकन्याके संरक्षणकेलिए वे लड़कियां (दासियां)दी जाती हैं। उन लड़कियोंके पति भी उस राजाके यहां काम करते थे, इसीलिए सुभद्राके दहेजमें भी उन लड़कियोंको 'परिचर्यास्तु लक्षाणां प्रददौ पुष्करेक्षणाः' (२२३,४६) सेवार्थ ही कहा है। जैसे कि—'शतं दासान् अतिस्रजः' (८,५६,३) ऋग्वेदके इस मन्त्रमें दासोंको भी देना कहा है केवल सेवाकेलिए। 'दासान्' से दास और दासी दोनों गृहीत हो जाते हैं 'पुमान् स्त्रिया' (१.२,६७) इस अष्टाध्यायीके सूत्रसे दास और दासीमें पुरुष ही शेष रह जाता है।

श्रीकृष्णके द्वारा जो दासियां दी गई, वे केवल सुभद्राकी सेवार्थ ही

थीं, यह कहा ही जा चुका है। अन्य उपयोग उनका जो वादीको इष्ट है वह व्यवहार वैध नहीं। 'दास्या संयच्छते कामुकः' यह अशिष्ट-व्यवहार माना जाता है जैसे कि 'अशिष्ट-व्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया' (कारक-प्रकरणका वार्तिक)। अतः वादीसे इष्ट उद्देश्य भी वहां नहीं। अतः "मोहक विवरणसे इनका क्या उपयोग हुआ होगा" ऐसी आशंका बताना वादीका अपने हृदयको कलुषित सिद्ध करना है। सुन्दरी राजकुमारीकी सेवाकेलिए असुन्दर दासियां देना कैसे शोभित हो सकता है और फिर वह राजघराना कैसा ? अतः वादीकी आशंका निर्मूल ही है।

वादी-द्वारा किये हुए अनेक आक्षेपोंका परिहार पहले किया जा चुका है, अब उसके अवशिष्ट-आक्षेपोंका परिहार करके यह विषय समाप्त किया जाता है।

माधवीका इतिहास

(१) वादी—"माता-पिता द्वारा अपनी पुत्रीके साथ भी कैसा भीषण व्यवहार किया जाता था इस विषयमें महाभारतके उद्योग-पर्वके गालव-ऋषिकी कथा लिखता है कि—गालवको गुरुदक्षिणार्थ ८०० कृष्णकर्ण घोड़े चाहियें थे; वह राजा ययातिके यहां जाता है, किन्तु राजा अपनी कन्या माधवीको भेंट कर अपना पीछा छुड़ा लेता है, और कहता है आप इसी कन्याको किसी भी राजाको वेचकर सहज ही गुरुदक्षिणा जुटा सकते हैं। न यहां ययातिको लज्जा आई; न गालव को'।

लज्जा उसमें होती है, तथा होनी चाहिए, जिसमें स्वार्थ वा पाप वा निजी वासनाका उद्देश्य हो। प्राचीन धार्मिक-राजाओंकी तो घोषणा थी—'राज्यं च वसु देहश्च भार्या, भ्राता, सुताश्च ये। यच्च किञ्चिन्ममायत्तं तद् धर्माय सदोद्यतम्'। श्रीराजारामचन्द्रकी यह घोषणा तो बहुत ही प्रसिद्ध है 'स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि। आराधनाय लोकानां मुंचतो नास्ति मे व्यथा। (उत्तररामचरित) न तो कन्याको देकर ययातिने कोई धनकी थैली प्राप्त की,न ही गालवने उस लड़कीसे अपनी

निजी वासनाकी पूर्ति की, या सविस-प्राप्त की। तब यह बेचना क्या, वा लज्जा क्या ? महाशय ! यह बहुत सूक्ष्म-धर्म हुआ करते हैं, जिन्हें 'अतिरमणीये वपुषि व्रणमेव मक्षिकानिकरः 'अन्वेक्षते केलिवनं प्रविष्टः क्रमेलकः कण्टक-जालमेव' 'जोंक स्तनमें लगाई गई हुई, स्तनका दूध छोड़कर गन्दी लहू ही पीती है' इस नीतिके अपनानेवाले नहीं जान सकते। आजकलके सुधारकोंको इस प्रकारकी सुन्दरी कन्या मिल जाती, तो क्या वादी बता सकता है कि उनमें क्या यह शक्ति होती कि—उससे स्वयं काम न ले, गुरुकी दक्षिणा जुटाते ? महाशय ! सूक्ष्म-धर्मकी व्यवस्था बहुत ही कठिन होती है। उसके लिए चाहिए भी वैसा ही मस्तिष्क। आपाततोदर्शी तथा स्थूल बुद्धिवालोंके दोषैकदृक्-मस्तिष्कमें ऐसे विषय नहीं समा सकते। दोषका निकालना भी क्या कठिन होता है ? मकानके गिरानेमें भी भला कोई देर लगा करती है ! महाशय ? याद रखिये इसपर महाभारतके श्लोक 'श्रुतिप्रमाणो धर्मोयमिति वृद्धानुशासनम्। सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य बहु-शाखा ह्यनन्तिका। अनृतेन भवेत् सत्यं सत्येनैवानृतं भवेत्। यद् भूतहितमत्यंतं तत् सत्यमिति धारणा। विपर्ययकृतोऽधर्मः पश्य धर्मस्य सूक्ष्मताम्, (वनपर्व २०६। २-३-४)। (धर्म वह होता है, जिसे श्रुति बतावे। धर्मकी गति अतिसूक्ष्म हुआ करती है। असत्यसे भी सत्य होता है; और सत्यसे भी असत्य हो जाता है। वास्तविक सत्य वह है, जिससे प्राणियोंका हित हो)

यहांपर 'बेचना' शब्द वादीने स्वयं गढ़ दिया है। यहाँ तो 'अस्याः शुल्कं प्रदास्यन्ति नृपा राज्यमपि ध्रुवम्। किं पुनः श्याम-कर्णानां हयानां द्वे चतुः शते, (उद्यो० ११५।१३) यह वैवाहिक शुल्ककी बात है; जो वास्तवमें शुल्क नहीं होता, किन्तु 'अर्हणं तत् कुमारीणां, (मनु ३,५४) वह कुमारीका सम्मान-स्थानीय होता है। 'ययाति अपनी लड़की देकर अपना पीछा छुड़ा लेते हैं' वह वादीके शब्द केवल आक्षेपार्थ हैं। उसके पास श्यामकर्ण घोड़े होते, वह उन्हें न देकर अपनी लड़की को दे देता; तो

कदाचित् यह पीछा छुड़ाना होता भी। अब भी वह घोड़ोंके न होनेसे केवल निषेध कर देता, यह भी कुछ अपना पीछा छुड़ाना होता, पर अब पीछा छुड़ाना कैसे है; यह वादी ही बतावे।

आगे वादी लिखता है—'गालवने तीन राजाओंके पास माधवीको किराये पर उठा दिया।' वादी साधारणजनों पर दुष्प्रभाव डालनेकेलिए शब्द चुन-चुनकर रखता है, पर इसका उत्तर मनुके शब्दोंमें पहले दिया जा चुका है। आर्ष-विवाहमें वरसे दो जोड़े गाय-बैलके लिये जाते हैं (मनु० ३-२९)। इसे कई लोग शुल्क भी कहते हैं, पर मनुने उसे शुल्क-रूप नहीं माना, क्योंकि वहां किराया लेना वा बेचना इष्ट नहीं, किंतु वहां धर्मार्थ ही निमित्त माना है। यहाँपर भी वरसे श्यामकर्ण घोड़े लेनेमें गालवका न तो 'किराया जमा करना' लक्ष्य था; न कोई स्वार्थ-सिद्धि लक्ष्य थी, किन्तु गुरु-दक्षिणारूप धर्म उद्दिष्ट था, अतः 'किराये पर उठा देना' कहना वादीका अपने कलुषित-हृदयका उद्गार है।

फिर वह लिखता है—'गालव जिस रसिकताके साथ राजाओंके दरबारमें माधवीके रूप-यौवनकी प्रशंसा करता है, उसे पढ़कर ही मन खराब होने लगता है, बिल्कुल ऐसा प्रतीत होता है कि बुर्दाफरोशोंमें या उनके दलालोंमें वार्तालाप हो रहा हो।'

मन पहलेसे ही कलुषित हो, तो खराब होना भी सम्भव है, पर गालवने ऐसा वर्णन कहीं भी किया ही नहीं—यह हमारी घोषणा है। वादीको गालवके वे शब्द दिखलाने चाहिएं। यहां बुर्दाफरोशोंकी वादीकी कही बात घट ही नहीं सकती। यहाँ तो गालवने 'कन्येयं मम राजेन्द्र' (११६-१०) माधवीको सर्वत्र 'अपनी कन्या' ही बताया है। हां, गालव कहीं उस कन्याका वैसा वर्णन करता; तो वादीका दिखाया दोष सम्भव था। वह तो केवल गुरुदक्षिणार्थी ही था। वह कन्या ययाति ने उसे सौंपी, जिसकेलिए उसने एक मुनिसे सुना था कि वह चार-वंशोंकी स्थापना करनेवाली होगी (११६-११) इसीके अनुसार वह चार राज-

षियोंके पास गया ।

जो वर्णन वादीने कन्याका लिखा है; वह कन्याको देखकर राजा हर्यश्वने किया था । यह बाह्य-वर्णन कन्याके रूपको देखकर कामशास्त्रके पण्डित-द्वारा स्वभावत: (सहज) ही कर दिया जा सकता है । वादीने जो लिखा है—'उपरोक्त विवरण प्रमाणित करता है कि—वेचारी माधवीको उसके विक्रेताओं द्वारा राजदरबारमें नंगा करके दिखाया गया' ।

यहांपर वादीने अपने कामातुर-मस्तिष्कका परिचय स्वयं दे दिया है। अपनी लेखनीको उसने यहाँ वे-लगाम कर दिया है । पहले 'विक्रेता' शब्द उसने स्वयं गढ़ा, फिर उसमें बहुवचन स्वयं गढ़ा । मूल-इतिहासमें माधवीको नंगा करनेका कहीं संकेत तक भी नहीं । स्त्रीको नंगा करने पर वह उल्टा सुन्दरी नहीं लगती, वीभत्स लगती है । उस समय मनमें घृणा आ सकती है, तब यह हर्कत वहां करनेका अवकाश ही क्या था ? हाथ, पाँव, कुच, नितम्ब, चक्षु, स्कन्ध, नेत्र-प्रांत, तालु, जिह्वा, अधरोष्ठ, केश, दांत, त्वचा, हाथ-पांवकी उंगलियां आदिका तो वस्त्रावृतत्व-अवस्थामें भी पता लग जाता है । वह कुमारी थी, कुमारीका पर्दा नहीं हुआ करता । तब वस्त्रावृतत्वमें भी इन अंगोंका पता लग जाता है, पर जिस बातने वादी पर गहरा प्रभाव डाला है वह है—'गम्भीरा त्रिषु गम्भीरेषु' (१११-२) इसपर वादी लिखता है—'जिन स्थानोंसे आशय है, उनका नाम कैसे लिखा जाये ?'

वादी जब नितम्ब-आदिका नाम लेते नहीं घबराया, तो यहाँपर क्यों रुक गया ? इससे यह स्पष्ट है कि—'वे बाहरी वस्तुएं थीं । वे वस्त्रावृतत्वमें भी सहज ज्ञात हो सकती थीं, पर यह भीतरी वस्तु वर्णित की गई है; अतः रहस्य होनेसे उसे कैसे जाना जा सकता है–इस कारण उसे नंगा किया गया था' यह वादीका आशय है । वस्तुतः यह वादीके मस्तिष्ककी क़ामातुरताको परिचायित करता है । जब नितम्ब बड़े हों; तो

गर्भाशय आदि भी गंभीर हैं; यह अनुमान स्वाभाविक है । इसमें नंगा करनेकी कोई बात ही नहीं । नंगेपनमें भी जो अंग वादीको इष्ट है; उसकी गम्भीरताका नंगा करनेसे भी पता नहीं लग सकता । तब 'भक्षितेपि लशुने न शान्तो व्याधिः, यह न्याय वादी पर चरितार्थ हुआ ।

इसीके आगे कहा है—'बहुप्रसवधारिणी' तो क्या हर्यश्व-राजाके सामने गालवने उस लड़कीके बहुत प्रसव भी करवा दिखाये थे ? यदि वादी कहे कि– इसका अनुमान हो जाना है, तो क्या वादीसे अभिमत पूर्व बातोंका अनुमान नहीं हो सकता ? फिर वहां नंगा करनेकी बात ही क्या थी, जिसे वादीने जबर्दस्ती निकाला । केवल प्राचीन-इतिहासको लोकदृष्टिमें गन्दा करनेके विचारके अतिरिक्त इसका उद्देश्य भी क्या हो सकता है ?

वस्तुतः 'गम्भीरा त्रिषु गम्भीरेषु' इस पद्यका वादीसे इष्ट अश्लील अर्थ ही नहीं है, यहाँ कोई गुप्त अंगोंका वर्णन नहीं । पं० श्री पाददामोदर-सातवलेकर जो एक वैदिक-विद्वान् माने जाते हैं; उन्होंने इसका अर्थ इस प्रकार किया है 'नाभि, बुद्धि और वचन यह तीनों गम्भीर होनेवाले पदार्थ गम्भीर भी हैं ।"

अब वादी बतावे कि—इस अर्थमें लज्जाकी बात भी क्या है ? श्रीरामशास्त्री तैलंगने अपने महाभारतके अनुवादमें इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'स्वर' नाभि और स्वभाव गम्भीर हैं' । यहां भी अश्लील कोई बात नहीं । यही अर्थ प्राचीन-टीकाकार श्रीनीलकंठने 'भारतभावदीप' में यहां पर कहा है—'त्रिषु स्वर-सत्त्व-नाभिषु-गम्भीरा ।' इनमें किसीने भी वादीका इष्ट अर्थ नहीं किया । इससे स्पष्ट है कि—दूरदर्शी वादीकी तेज दृष्टि इन्हीं गुप्त-स्थानोंमें भी पहुँच जाया करती है, जिनपर ग्रन्थकार भी नहीं पहुँच सका । इससे वादीका चरित्र भी सहज ही अनुमित किया जा सकता है कि –वह इसी प्रकारकी बातोंमें लगे रहने वाला है ।

पृ. ७७७ के मध्य में 'समाजकी कितनी हानि हो ?' पढ़ें ।

स० ब० ५०

यह अर्थ केवल प्राचीन-इतिहासको घृणित करनेकेलिए ही गढ़ा गया है। और फिर यहां माधवी पर वलात्कार भी नहीं बताया गया है, जैसाकि—वादीको इष्ट है। वल्कि जब हर्यश्वने उसे मांगा, तो माधवी गालवसे स्वयं बोल उठी 'मम दत्तो वरः कश्चित् केनचिद् ब्रह्मवादिना। प्रसूत्यन्ते-प्रसूत्यन्ते कन्येव त्वं भविष्यसि। स त्वं ददस्व मां राज्ञे प्रतिगृह्य हयोत्तमान्' ११६।६-११) यहां माधवीकी भी अनुमति थी। यहां एक रहस्यकी बात भी बताई गई है कि—'प्रसवके पश्चात् तुम फिर कन्या हो जायगी।' यही "माधवी च पुनर्दीप्तां परित्यज्य नृपश्रियम्। कुमारी कामतो भूत्वा गालवं पृष्ठतोऽन्वयात्' (११६।२१) 'तथैव तां श्रियं त्यक्त्वा कन्या भूत्वा यशस्विनी। माधवी गालवं विप्रमभ्ययात् सत्यसङ्गरा' (११८, ७) यहांपर भी सूचित किया गया है कि उसके कुमारीत्वका आवरणच्छद फिर हो जाता था।

यहाँ कन्याका 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव' (तैत्तिरीयोपनिषत् १।११।२) यह पिताकी आज्ञाका पालन करनेका अत्यन्त-उच्च सूक्ष्म-धर्म दिखलाया गया है। यहां यह भी सूचित किया गया है कि—पुत्र तो पिताकी सेवा सकाम होकर करता है, पर कन्या निःस्वार्थ होकर। 'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया' (रघुवंश १४।४६)। फिर उस लड़कीने पितासे प्रयुक्त स्वयं-वरमें अपनी इच्छानुसार वन को वरण किया। वहां वह तपस्या करने लगी। फलतः यहाँ कोई गालवका माधवीके प्रति जुगुप्सित-व्यवहार वा वलात्कार सिद्ध न हुआ। यह सब माधवीको अनुमत था। यदि गालव चाहते, तो उस प्राप्त कन्यासे सुधारकताके कञ्चुकमें होकर उसे राजी करके उससे मन-चाहा व्यवहार कर लेते। पर वे पूर्ण-धर्मात्मा थे। अतः उनका व्यवहार भी निःस्वार्थ तथा पापभावनासे रहित था। शेष है उस कथाकी घटनासे धर्माधर्म की बात; तो इस पर जानना चाहिए कि—'धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः।' इस पर वादी-जैसे स्थूल-दृष्टि वाले कुछ विचार कर भी नहीं सकते—'श्रुतिप्रमाणो धर्मोऽयमिति

वृद्धानुशासनम्। सूक्ष्मा-गतिर्हि धर्मस्य बहुशाखा ह्यनन्तिका' (महा-भारत ३।२०६।२) 'भवत्यधर्मो-धर्मो हि धर्माऽधर्मावुभावपि। कारणाद् देश-कालस्य देशकालः स तादृशः। मैत्राः क्रूराणि कुर्वन्तो जयन्ति स्वर्गमुत्तमम्। धर्म्याः पापानि कुर्वाणा गच्छन्ति परमां गतिम् (शान्तिपर्व ७८।३३) विरोधिषु महीपाल! निश्चित्य गुरुलाघवम्। न वाधा विद्यते यत्र तं धर्मं समुपाचरेत्। गुरुलाघवमादाय धर्माऽधर्म-विनिश्चये। यतो भूयस्ततो राजन्! कुरुष्व धर्म-निश्चयम्' (वनपर्व १३१।१२-१३)।

(धर्मकी गति सूक्ष्म हुआ करती है। देश-काल के कारण कभी धर्म भी अधर्म हो जाता है; और अधर्म भी धर्म। विरोधी-धर्मोंमें गौरव-लाघव सोचकर जिसमें वाधा न हो, उस धर्मका निश्चय करके उस धर्मको करे।)

सतीत्व-धर्म

(२) आगे वादी 'जीवित जलाने की प्रथा' शीर्षक देकर लिखता है—'हमारे देशमें धर्मके नाम पर शताब्दियों तक सहमरण, नारी-हत्या, नारियोंकी जीवित जला देनेकी नारकीय-प्रथा, प्रचलित रही है। जब राम-मोहनराय आदिके प्रयत्नोंसे इस घोर-प्रथाके निषेधके लिए कानून बना, तो उस समय धर्मध्वजियोंकी ओरसे घोर-शोर मचाया गया कि—सम्पूर्ण देशमें व्यभिचार फैल जाएगा, तथा महान् हिन्दु-धर्म-की जड़ ही हिल जाएगी'।

वादी को जानना चाहिए कि—यह सती-प्रथा वेदकी वैकल्पिक प्रथा है। यहाँ जोर-जुल्मकी कोई बात ही नहीं। 'इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य! प्रेतम्। धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि' (अथर्ववेद-सं० १८।३।१) यह सती-प्रथाको बतलाने वाला मन्त्र है। पर यदि कोई स्त्री ब्रह्मचारिणी होकर रहना चाहती है, वा वाल-वच्चोंका पोषण करनेकेलिए उसके लिए रहना चाहती है, तो उसको 'उदीर्ष्व नारि! अभिजीवलोकं गतासुमेतमुपशेष-

एहि' (अ० १८।३।२) इस मन्त्र-द्वारा चितासे मृतकके पाससे उठाया जाता है। इस विषयमें 'आलोक' (८) देखो।

जिसे अपने ब्रह्मचारिणी रहनेका विश्वास नहीं होता, वा पतिलोक जानेकी इच्छा प्रकट करती है, तो वह अपनी इच्छासे सती हो जाती है। निषेध करने पर भी नहीं रुकती। इसी सती-धर्मने भारतवर्षका सुख उज्ज्वल किया था। उस सती--प्रथाका गौरव मानने वालेको 'मूर्ख' बताना यह वादीका दुःसाहस है। जैसे पुरुष लोग अपनी मातृभूमिकी रक्षाकेलिए अपना बलिदान कर दिया करते हैं, इन्हीं बलिदानोंसे देशने स्वतन्त्रता पाई है, उस बलिदानको मूर्खता न मानकर गौरवास्पद ही माना जाता हैं। वैदेशिक भी उनके मृतक-स्थान पर आकर अपना शिरोनमन करते हैं, वैसे ही सतीत्वमें भी, जोर-जबर्दस्तीके सतीत्वमें नहीं—किन्तु पति-श्रद्धा, पतिव्रत एवं पति-लोककामनाके कारण हुए सतीत्वमें भी देशका गौरव ही है। उसको मूर्खता बताने वाला वादी अपने मस्तिष्क को मिस-मेयोका दास, वैदेशिकोंके विचारोंसे खरीदा गया, यूरोपियनोंका मानसिक दास 'विषकुम्भं पयोमुखम्' सिद्ध करता है।

वादीने सतीत्वमें जो धतूरा आदिका प्रयोग आदि बातें लिखी हैं, यह उसका मिस मेयो वा उन-जैसी अंग्रेज-अमेरिकन स्त्रियों आदिके सहवासका फल है, उनकी 'मदर इण्डिया' 'देवताओंके गुलाम' आदि पुस्तकों पर विश्वास कर लिया जाता है। जिन देशोंकी स्त्रियां पतिकी कब्रको इसलिए पंखा कर रही होती हैं कि जल्दीसे जल्दी कब्र सूखे कि—हम दूसरा पति चुनें, वहांकी स्त्रियां वा पुरुष इस सतीत्व-धर्मकी महत्ता क्या जानें। वादी-जैसे मिस-मेयोके क्रीतदास—जिन्होंने परोपकारार्थ कभी एक काँटे पर भी पांव नहीं रखा, सतीत्व-धर्मको कैसे परख सकते हैं? वह तो उसे 'जीवित जलाना' ही कहेगा। वह तो यह चाहता ही है कि—भारत भी यूरोप-अमेरिका बने। इसमें भी प्रतिवर्ष तलाकोंके, नाजायज बच्चोंके आंकड़े प्रकाशित हुआ करें, तो इस देशका 'गौरव' (?) हो।

धन्य वादि-महाशय!!!

वादी भी भारतीय सैनिकों की संख्या ऐसे लड़कोंसे बढ़ाना चाहता है। व्यवहार वादीने भी वही किया। विधवा अपनी इच्छासे ही सती होती थी, इसपर जोर-जुल्म नहीं किया जाता था। विरोधी-कानून बन जानेपर भी अपनी इच्छासे सती हो जाने वाली गौरवास्पद नारियों की अब भी कमी नहीं है। इस सतीत्वधर्मके हटनेसे व्यभिचारकी वृद्धि तथा हिन्दु-धर्मकी जड़ खोखली हो गई है, इसमें कोई सन्देह नहीं, तभी तो आजके राज्य भी अपने आपको 'धर्मनिरपेक्ष' कहते हुए गौरव अनुभूत करते हैं; और हिन्दुधर्मके कोढ़रूप 'हिन्दुकोड' को पास करवाने पर जनता के विरोध करनेपर भी तुले हुए हैं, और चालाकीसे पास करवा चुके हैं।

(३) 'छोटी बच्चियोंको मारना' यह कोई भारतीय-प्रथा नहीं, बल्कि यहां तो 'आ भक्षत् कन्यासु नः' (ऋसं. ६।६७।१०-११) कन्याएं भी माँगी जाती थीं। 'दश-पुत्रसमा कन्या' का नाद यहीं तो कहा जाता है। वादीने यह बात मिस-मेयोके सहवाससे वा उसके साहित्यकी सेवासे सीखी। उस मिसने बहुत घातक साहित्य बना रखा है; जिसका अंग्रेजी-शिक्षितों, धर्मसे अनभिज्ञ वा विमुख भारतीय-सुधारकों पर दुष्प्रभाव पड़ता है। हां, कहीं निर्धनता आदि कारणविशेषसे कन्या-वध भी हो जाया करता हो; तो उन कारणों को ढूंढ़ निकालना होगा। उसमें एक कारण वादीका प्रिय "हिन्दुकोड" भी बन सकता है। जब इसके द्वारा स्त्रियोंको पिता वा भाई की जायदाद मिलनेका कानून बन गया, तो भाई-बहनोंके झगड़े बढ़ेंगे। जब वे लड़कियां भाईकी सम्पत्ति धीरे-धीरे करके हड़प कर जायंगी; और भाइयोंको अपनी सन्तानके रहनेकेलिए अपने घर भी न मिल सकेंगे; तो इस अवसरमें वे अपनी लड़कियों वा बहिनोंको शिशु-अवस्थामें ही मार डाला करेंगे।

(४) लडकियों को शिक्षा देनेका विरोधी तो कोई प्राचीन न होगा। हां, उनकी स्कूली पाठ्य-प्रणाली, परीक्षा-प्रथा, अक्षर-शिक्षा, युवक-युवतों-

से पढ़ना—इसके विरोधी प्राचीन सज्जन अवश्य थे, जिनके परिणाम भी आज निकल रहे हैं। उन नवशिक्षित-कुमारियोंमें आज जो उच्छृङ्खलताएं आ चुकी हैं, जो गन्दे-विचार वा बन-ठनकर निकलना, पुरुषोंसे उपहास करना, उनसे ठठाकर हँसना; पिताओंका बहुत खर्च करवाना, पिताओंका बहुत-सा यौतक (दहेज) का खर्च करवाना, अन्य बुरे व्यवहार—कहाँ तक लिखें जाएं—सर्वजनवेद्य हैं। उन्हीं शिक्षिताओंकी हितैषिताकेलिए 'लूमन-फ्रैंड-लूप आदि गर्भ-निरोधक ओषधियाँ तथा अन्य अश्लील-साधन वा साहित्य बनाये जा रहे हैं। सुधारक लोग भी इसीमें गौरव समझते हैं। यह सब उसी कुशिक्षाका फल है।

आगे वादी लिखता है—'हमारे देशमें ईसाई-मिशनरियोंने कन्या-विद्यालय स्थापित किये, अतः उनका कोई प्रत्यक्ष विरोध इस देशके धर्म-ध्वजियोंने नहीं किया'।

इस विषयमें वादी याद रखे कि—अपने ही लड़के वा शिष्य वा बन्धु वा घर वाले को बुरे रास्तेमें चलने पर डाँटा वा पीटा जाता है, दूसरेके लड़केको कौन क्या कुछ कहे! वे तो थे ही विदेशी, उनका सामाजिक-बहिष्कार ही पर्याप्त था। और फिर थे वे अपने समयके राजा। उन्होंने अपने प्रभुत्वके मदमें मानना ही क्या था? पर फिर अपने ही देशके, लार्ड मैकालेके मानसिक-दास भी इन मार्ग पर चल पड़े, उसके दुरुदर्क (दुष्परिणाम) प्रत्यक्ष ही हैं, पर धार्मिक-लोगोंने सोचा कि—वहाँ घरके भेदी अपनी लंकाका ही दाह करेंगे, तब आपत्कालिक नीतिके अनुसार उन्हें भी कुछ धार्मिक रूपमें उसे अपनाना पड़ा, पर उसका फल प्राचीनोंके अनुसार ही रहा। वही कन्या-शिक्षणालय राजन शर्मा, श्यामकुमारी-नेहरू, लक्ष्मी, विजय, अरुणा, इन्दिरा-काण्डोंको उपस्थित करनेमें सहायता कर रहे हैं—उसी परिणाममें कई सुभद्रा-जोशियाँ भी उत्पन्न हो गईं, पर वादीकेलिए तो यह गौरवकी बात है न!

(५) चलते-चलाते गोहत्या पर भी वादी बोल उठा। गोहत्या-विरोध-

में अंग्रेजी-राज्यमें दंगे होते ही थे। विरोधी प्रस्ताव भी पास होते थे। लोगोंके हस्ताक्षर भी तन्निवारणार्थ जाते ही थे, पर विदेशी सरकार होनेसे वह सुनती ही न थी। जब आजकल की देशी सरकारके कान पर बहुत चिल्लपों मचाने पर भी इस विषयमें जूँ नहीं रेंगती; तो विदेशी-सरकार पर इसका क्या प्रभाव पड़ना था। पर हमारे ही देशके जनोंने उस सरकारका सामाजिक-बहिष्कार करके उसे फिर समुद्रके पार पहुँचा दिया। वर्तमान शासन भी यदि गोहत्या-निवारण पर ध्याम नहीं देगा, तो इसे भी हटना ही पड़ेगा, देर है अन्धेर नहीं।

(६) अन्तमें वादी 'अशिक्षा और परदा', शीर्षक लेकर लिखता है—'परदा-प्रथाके विरुद्ध किए गए आन्दोलनका धर्मके नाम पर जैसा विरोध किया जाता है, वह भी प्रत्यक्ष है।'

जब वेदादि-शास्त्रोंमें पर्दा-प्रथाका वर्णन आया है, घरमें ही रहना, घर की स्वामिनी होना पर्दा-प्रथा ही है, तब उसके विरुद्ध प्रचारोंमें यदि विरोध किया जाता है, तो इसमें दोष क्या? 'यो वाँ यज्ञैभिरावृतोऽधिवस्त्रा वधूरिव' (ऋग्वेद ८।२८।१३) इत्यादि मन्त्र पर्दे को स्पष्ट बता रहे हैं। यह विषय यहां स्थान न होनेसे नहीं दिया जा रहा। सम्भवतः इस पुष्पके अन्तमें दिया जा सकेगा। इसीलिए ही वेदमें स्त्रीको गृहक्षेत्र ही दिया है, बाहरका क्षेत्र नहीं। गृहक्षेत्रमें ही रहना स्त्रीका पहला पर्दा है। रामायण-महाभारतमें भी पर्देकी प्रथा स्पष्ट है। पर आप लोगोंको क्यों रुचे? उस पर्दा-प्रथाको छोड़नेके परिणाम भी तो प्रतिदिन निकला ही करते हैं। पढ़िये दैनिक-पत्रोंमें।

आगे वादी फिर लिखता है—'इसके पश्चात् शारदा-बिल धर्मध्वजियोंके कोपका निशाना बना। आज हिन्दुकोड बिलके लिए भी ठीक यही शब्द दोहराये जा रहे हैं कि—हिन्दुधर्म अपने सम्पूर्ण प्राचीन गौरवको खो देगा', इत्यादि। हिन्दु-धर्मके प्रेमी स्त्रीकी सुरक्षा चाहते हैं, वे नहीं चाहते कि—स्त्रियाँ आज आफिसों की क्लर्क बनें, वहांके पुरुषों

वा अफसरोंकी विनोदपात्र वा अंकशायिनी बनें। वे नहीं चाहते कि—हमारी कन्याएं पतिकी अनन्य-भक्ता न बन कर अन्य-भक्ता भी बनें। वे नहीं चाहते कि—नारी गर्भधारण आदि कठिन काम भी करे, साथ ही मेहनत-मजदूरी भी अपने पेटके लिए करे, नहीं तो उसे रोटी न मिलेगी। यदि हम इन 'कोड़ों' की हानियां वादी को बताने बैठें, तो उसका सिर चक्कर खा जाय। पर यह सुधारक इसीमें अपना गौरव समझते हैं। समझें, पूरा विदेशोंका अनुकरण करें। प्रतिवर्ष तलाकों तथा अवैध लड़कों की संख्याएं, पति पत्नियोंके विवादों को बढ़ा कर अपने वर्तमान भारतीय-राज्यका मुख उज्ज्वल (?) करें, पर हमने आपको इनके परिणामोंसे भी सूचित करना है, आप न मानें—यह आपकी इच्छा।

'आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः। तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्।' 'हिन्दुकोड' आपका प्रिय है तो क्या हुआ। इसको जारी होने दीजिए, आपको भी आटे-दालका भाव मालूम हो जाएगा। सतीत्वका प्रचार सुधारकोंने रुकवाया, उसीके परिणामसे विधवा-विवाह सधवा-विवाह तलाक, व्यभिचार आदि बढ़ चुके हैं, इस पर वादी पर्दा नहीं डाल सकता। पूर्वके सुधारोंसे जो उच्छृंखलताएं बढ़ी हैं, वर्तमान सुधारोंसे उन उच्छृंखलताओंमें एक और कड़ी जुड़ जाएगी, पर आप लोग उन हानियों पर जान बूझ कर दृष्टि नहीं डालना चाहते। आप उसी में अपना राष्ट्रिय-गौरव समझते हैं। अपना नाक काट कर दूसरोंका नाक भी कटवाना चाहते हैं। वादी लिखता है—'उपरोक्त प्रमाणों-कथाओंको पढ़ कर यह प्रश्न उठ सकता है—यदि नारियोंके प्रति हमारे समाजके प्राचीन व्यवस्थापक ऐसी दुष्ट बुद्धि रखते थे, तो वे 'जहाँ नारियोंकी पूजा होती है', जैसे उदार-वाक्य कैसे लिख सके?

यहाँ नारियों का सम्मान यह नहीं बताया गया है कि 'राजन' को सिकन्दरके पास जाने दो, अरुणा को आसफअलीके पास जाने दो, श्याम-कुमारीको जमीलखांके पास जाने दो। जिसे आप चाहते हैं, वही दुष्ट-बुद्धि' है। यहाँ तो यही कहा गया है कि नारीको भूषण, आच्छादन, अशन से सम्मानित करो। इससे स्त्री जानेगी कि मैं गृहपत्नी हूँ, घर की मालिक हूँ, क्योंकि जब सारा घरका सोना उसीके शरीर पर आ गया, तो यह उसका गृहपतित्वका सम्मान है। पर यह उसकी वेषभूषासे शोभा केवल पतिके लिए है 'तेनेमां नारीं पत्ये संशोभयामसि' (अथर्व० १४।१।५५) न कि बाजारमें अपना बनाव-ठनाव दिखानेके लिए, न दफ़तर के अफसरों वा क्लर्कों को रिझानेके लिए, न क्लबके मैम्बरों को प्रसन्न करनेके लिए; जैसा कि आजकी नवशिक्षिता नारी चाहती है।

(७) आगे वादी फर्माता है—'हमारे धर्मशास्त्रोंमें नारीके सम्मान-सूचक ऐसे वाक्य दो-चार ही मिलते हैं, किन्तु 'नारी नरकका द्वार' है, आदि नारीकी निन्दा करने वाले कई वाक्य भरे पड़े हैं।'

यह वाक्य स्वा० शंकराचार्यजीका है। वे थे संन्यासी। संन्यासी के लिए नारी अवश्य ही, नरकका द्वार है। 'नारदपरिव्राजकोपनिषद्' में संन्यास-धर्मकी व्याख्याके अवसरमें लिखा है—'माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा च माद्यति। तस्माद् दृष्टिविषां नारीं दूरतः परिवर्जयेत्। संभाषणं सह स्त्रीभिरालापं प्रेक्षणं तथा। नृत्यं गानं सहासं च परिवादांश्च वर्जयेत्, (६।३१-३२) फिर वहीं कहा है—'न संभाषेत् स्त्रियं कांचित् पूर्वं-दृष्टां च न स्मरेत्। कथां च वर्जयेत् तासां न पश्येल्लिखितामपि। एतच्चतुष्टयं मोहात् स्त्रीणामाचरतो यतेः। चित्तं विक्रियतेऽवश्यं तद्विचारात् प्रणश्यति (४।३।४) एतदादिक कारणोंसे श्रीशंकरस्वामीने इसके अनुवादरूपमें 'द्वारं किमेकं नरकस्य? नारी' यह लिखा है। यह ठीक भी है—'श्रीमद्भागवत-पुराण' में भी कहा है—'पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद् दारवीमपि। स्पृशन् करीव बध्येत करिण्या अंग-संगतः' (११।८।१३)।

तभी संन्यासी-दयानन्द जीके पांव पर एक स्त्रीने ध्यान-दशामें जब सिर रख दिया, तब वे वहांसे उठकर गोवर्धनकी ओर जा निर्जन एकान्त-स्थानमें स्थित एक टूटे-फूटे मन्दिरमें तीन दिन और तीन रात

निराहार ध्यान-चिन्तनमें लगे रहे।—स्वशिष्यकी व्रत-वार्ता सुनकर श्रीविरजानन्दजी को रोमांच हो गया।' (श्रीमद्दयानन्दप्रकाश—वैराग्य-काण्ड नवमसर्ग पृ० ५६ पं. २६)

यहां संन्यासीने घृणासे तो ऐसा नहीं किया, किन्तु धर्मपालन किया, क्योंकि संन्यासीके लिए 'एषा कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारां निधौ' (काव्यप्र. ४र्थ उल्लास) (यह स्त्री संसार-सागरमें स्नानकेलिए गये हुए पुरुषके गलेमें पहरी हुई भारी पत्थरकी शिला (उसे डुबानेवाली) है) तब इन वाक्योंके निन्दनकी क्या आवश्यकता है? यदि स्वा० शंकराचार्यके वचन पर निष्पक्ष दृष्टिसे विचारा जाय, तो यहां अयुक्तता नहीं दीखेगी। तभी तो गो. तुलसीदास जी जब तक स्त्रीसक्त रहे; तब तक वे नरक ही उपार्जित कर रहे थे। उस मोहके हटजानेसे ही उनका उद्धार हुआ। यह बात सभी वादी-प्रतिवादी स्वीकार करते हैं।

'हमारे यहां की नारी-पूजा भी बलिपशुकी पूजाकी तरह थी' यह वादीका कहना निरर्थक है। 'मातृदेवो भव' (तैत्तिरीय उप० १।११।२) इसी धर्ममें सबसे पूर्व आता है। 'सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते' (मनु० २।१४५) इसी धर्मका यह दावा है। गौरीशंकर, राधाकृष्ण, लक्ष्मीनारायण, सीताराम आदि नाम भी मातृत्वके सम्मान बतानेवाले हैं, पर जैसे गुरु-पूजा तो पुस्तकोंमें वर्णित है, पर शिष्य-पूजा नहीं, वैसे वहां पतिपूजा तो आती है, पति—द्वारा नारी-पूजा नहीं आती। कन्या—पूजा, भ्रातृ-द्वितीया आदि में कन्या वा बहिन आदिका सत्कार तो प्रसिद्ध ही है, पर यह पूजा बलिपशु की पूजा है—यह वादीका आक्षेप निराधार है। यहां तो 'शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि' जब पूज्य-गुरुके भी दोष बताये जाते हैं, तो स्त्रीके भी स्वाभाविक दोष यदि बताये जाते हैं, तो यह उनकी हिंसा नहीं। इसमें उनका हित ध्यान में रखा जाता है।

'धर्म-याजक पुरोहित स्त्रियोंके सबसे बड़े शत्रु,' यह वादीसे उद्धृत

वचन किसी प्राच्य-विद्वान्का नहीं हो सकता। वे आजकलके सुधारकोंकी तरह बाहरसे स्त्रियोंके मित्र एवं अन्त-शत्रु नहीं थे। वे बाहरसे नारियोंके लिए कठोर मालूम हों-यह सम्भव है। पर वे भीतरसे नारी-जातिके मित्र हैं, हितैषी हैं। शासन वा ताड़न करनेवाला गुरु, शिष्यका शत्रु न होकर उसका हितैषी ही होता है। वादी याद रखे—'सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः। लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः।'

यह कथन भी वादीका झूठ ही है कि—'नारीको शिक्षासे वंचित कर देनेका आशय ही यह था कि—वह इन अत्याचारोंको मूकभावसे सहन करती रहे, इसीमें गौरव-सुखका भी अनुभव रहे।' फिर तो वादी उनके गर्भ या प्रसव भी बन्द करावे, रजस्वलात्व आदि प्रकृतिकी ओरसे दिये गये दुःखोंका भी विरोध करे। नारीकी प्राचीन-शिक्षा तो इस प्रकारकी थी कि—वह अपने मन, वचन और कर्मको शुद्ध रखे। सो भारतीय-नारीने उसे पूरा किया। पर आप आज अपनी शिक्षिता-नारीको 'मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद्' का गम्भीर पाठ पढ़ाने जा रहे हैं, जिससे उसके मन वा कर्म कलुषित रहें। फिर भी उसे कोई रोक-टोक न कर सके, यदि कोई रोक-टोक करें, तो उसे वह कोई दोष लगाकर उससे अपना विच्छेद कर ले। अपने मित्रोंके पास विना रोक-टोकके जा सके। वह आपकी आजकी शिक्षा है। वादी भारतीय-नारीको वह आपात-मनोहर पाठ पढ़ाना चाहता है कि—वह भी अब यूरोपीय-स्त्रीकी तरह अपनी सौन्दर्य-प्रशंसासे फूल उठे, मित्रसे मिलनेकी उसे स्वतन्त्रता हो, तितली बनकर वह प्रत्येक फूलकी गन्ध लेती रहे, गायकी भांति नये-नये तृणका उपयोग लेती रहे, वह एककी होकर न रहे, प्रतिक्षण विषयोंमें आसक्त रहे। वह थोड़ी-थोड़ी बातसे अपने पतिसे विच्छिन्न होकर नये-नये पुरुषोंकी परीक्षा करती रहे।

वादी-जैसे सुधारक जाने-अनजाने में राजन्-शर्मा आदि स्त्रियोंकी

तरह नारीको गर्तमें ढकेलना चाहते हैं, सोनेकी जंजीरोंसे तथा विलासिताकी शृंखलाओंसे उन्हें जकड़ना चाहते हैं। वे स्वैरी पुरुषों-द्वारा नारीको स्वैरिणी बनाकर उसे विविध नाच नचवाना चाहते हैं। इसी प्रकार नारीको पतिसे स्वच्छन्द कराकर परपुरुषोंको भी विलासिताके गढ़ेमें फेंकना चाहते हैं, एक ही जीवनमें एक ही नारीके अनेक पति कराकर उसे राजयक्ष्मा और विविध गुप्त-रोगोंके शिकार बनाना चाहते हैं, और चाहते हैं कि—अब नारीके प्रति अपने पतिका भी ऐसा अविश्वास हो जावे कि—वह 'तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः' (मनु० ३।५९) इन नारीके सम्मानोंको भुलाकर गहने देने का भी उनसे विश्वास हटाकर अंग्रेज-मेमोंकी भान्ति उन्हें भूषण-रहित रखें; और अपनी एक कानी कौड़ी भी न देकर उन्हें ही उनका पेट-पालनार्थ अपना मजदूरी-मेहनत करनेका आर्डर दे दे। इस प्रकार नारीको अरक्षित कर दें कि—इसको वहकाकर सुधारक-नर जो चाहें, इससे करें-करावें। वस्तुतः वादीके दिये हुए स्वतन्त्रता जीवनसे नर और नारी दोनों ही एक-दूसरे से शीघ्र ही अविश्वस्त तथा विरक्त एवं एक-दूसरेके जानके ग्राहक हो जायेंगे। जिसे वादी स्वच्छ निर्मल-जल समझते हैं—वह शीघ्र मरुमरीचिका सिद्ध होगी। उनका अपना वह उपवन आदिसे अन्तपर्यन्त कण्टकाकीर्ण सिद्ध होगा।

इस वादीसे इष्ट जीवनमें नारीके न हृदयको शान्ति मिलेगी, न आत्माको आनन्द। यह एक अनन्त अशान्तिमय, स्वार्थपूर्ण, विलासयुक्त जीवन होगा। इसमें न नीति होगी, न धर्म। न सहानुभूति होगी, न सहृदयता। इस जीवनमें वेषभूषाडम्बर बढ़ेगा, स्त्री मद्यादि-व्यसनिनी होकर विलासगर्तमें पड़ेगी। विलासिता और स्वेच्छाचारिता स्त्रियोंके मृदु-हृदयको बहुत सुकरतासे ही अधिकृत कर लिया करते हैं। स्त्रियोंका हृदय आधिक्यप्रिय हुआ करता है। वादी उन्हें जिस रास्ते पर पटकना चाहता है, जब वे उस मार्गपर आएंगी, तो वादीको 'शतचन्द्रं नभस्तलम्' दीखेगा। बेहयाई ही इस अर्वाचीन जीवनका प्रधान-तत्त्व हुआ करती है। इसमें धन ही मान होता है, इन्द्रिय-विषय-लिप्सा ही सभ्यता होती है, भ्रष्टता ही विचार-स्वातन्त्र्य हुआ करती है। इस जीवनमें वास्तविक सुख तथा यथार्थ-शान्ति कभी नहीं मिल सकती। वह तो 'यत् तदग्रेऽमृतोपमम्। परिणामे विषमिव' (गीता १८।३८) सुख है। इस विषयमें वादी सुधारक-प्रेमचन्दजीकी 'शान्ति' कहानी भी पढ़ ले, जिससे उसकी आँखें कदाचित् खुल जायें। वादीने इस निवन्धमें नारीको पुरुषसे विद्रोह-भावना तो सिखलाई है, पर कोई उसको सुमार्ग नहीं दिखलाया। तब नारीका उसके निवन्धसे पतन तो हो सकता है, अभ्युदय सर्वथा नहीं। यदि नारी उसके कथन पर चली; तो उसका पतन वा विनाश निश्चित है।

अब प्रश्न यह है कि—अभी धार्मिक जन-बहुलताके युगमें भी ऐदंयुगीन-भावनाओंको क्या इसीलिए मान लिया जाय कि—उन्हें वादी—जैसे सुधारक-पुंगव चाहते हैं? तो क्या हमें भी वादीकी सभी बातें बिना ननु-नच किये आंख-मुंह बन्द करके मान लेनी चाहियें—हम सभी को आज उसीका उत्तर देना है।

१५ एक भदन्तके दान्त गोस्वामीजीपर।

'नया पथ'—लखनऊमें प्रकाशित 'रामचरित-मानसमें ब्राह्मण-शाही' यह एक बौद्धका निवन्ध हमें देखनेको मिला। आरम्भमें उसने 'मानस' का प्रयोजन तुलसीके 'स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ-गाथा—भाषा निवन्ध-मतिमञ्जुलमातनोति' इन शब्दोंमें दिया, पर वह भदन्तजीको जंचा नहीं। उन्हें जंचा यह कि—'बादहिं शूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्हते कछु घाटि। जानइ ब्रह्म सो विप्रवर आंखि देखावहि डांटि' अपने इस ब्राह्मण-शाहीके ढहते हुए किलेको गिरनेसे बचानेके लिए गोसाइंजीने अपने मानस-द्वारा गारा-चूना लगानेका प्रयास किया है।' अतः भदन्तजीके शब्दोंमें 'संतशिरोमणि गोसाईं तुलसीदासके 'मानस' की रचनामें ब्राह्मण-

शाहीके निहित स्वार्थोंका काफी हाथ है।'

पर 'मानस' की वर्णित बातें गोस्वामीजीने कहांसे लीं, इसपर अपना भाव गोस्वामीजीने उक्त पद्यके 'नानापुराण-निगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि' इस पूर्वार्धमें जो व्यक्त किया था, भदन्तजीने उस पूर्वार्धको लिखा तक नहीं, उसे छिपा दिया। हम इस निबन्धमें सिद्ध करेंगे कि—'मानस' 'नानापुराणनिगमागम-सम्मत बातोंका भाष्य है; उसमें गोस्वामीजीका अपना कोई विशेष उद्देश्य 'ब्राह्मणशाहीके किलेको मजबूत करना' नहीं—जैसाकि श्रीभदन्तजीने बतानेका सरतोड़-प्रयत्न किया है। मुख्य-उद्देय प्रणेताका उससे उपक्षिप्त मुख्य-कथासे मालूम हो जाता है, पर उस मुख्य-कथामें गोस्वामीजीने कोई ऐसी बात रखी नहीं; तब वह मुख्य उद्देश्य हो भी नहीं सकता। प्रासङ्गिक विषयोंमें यदि कहीं ब्राह्मण-की प्रशंसा आई है; तो निगमागमके भाष्य होनेसे उसका भी रखना अपेक्षित था ही। वर्णाश्रमधर्मका नायक जब ब्राह्मण है, यह सब पुराण एवं निगमागम ज़ोरदार-शब्दोंमें कह रहे हैं; तब गोस्वामीजीके निगमागमोंके भाष्य-स्वरूप 'मानस' में भी उसका वर्णन प्रासंगिक होनेसे स्वाभाविक ही था; तब यह बात अखरनेकी नहीं रही। क्योंकि प्रासंगिक बात मुख्य उद्देश्य नहीं हो जाती; यह बताकर हम श्रीभदन्तजीके आक्षेपोंका समा-धान भी साथ लिखेंगे कि—गोस्वामीजीने एतद्विषयक कोई बात निराधार नहीं लिखी। यदि गोस्वामीजी वहां-वहां 'बौद्धों' का नाम रख देते; तभी क्या 'निगमागमसम्मतता' होती ?

पुराण तो आशा है—श्रीभदन्तजीने सब देख ही डाले होंगे; वेद और अन्य शास्त्र भी। क्या उनमें ब्राह्मणकी प्रशंसा नहीं है ? यदि है; तब 'नानापुराण—निगमागमसम्मत' लिखनेवाले गोस्वामीजी पर ही प्रहार क्यों ? तब तो 'पुराणों और वेदों एवं सभी शास्त्रोंमें ब्राह्मणशाही' यह लेख भी भदन्तजीको लिखना चाहिए था ! केवल गोस्वामीजी ही पर छींटा क्यों ?

पहले अन्य शास्त्रोंको छोड़ भी दें; व्याकरण-शास्त्रको ही, उसमें भी सर्वमान्य महाभाष्यको ही देखें। उसमें उदाहरणोंमें ब्राह्मणका नाम दीखेगा। ५।१।१।७१ सूत्रमें भाष्यकारने लिखा है—'ऋत्विक्कर्म अर्हति इति आर्त्विजीनं ब्राह्मणकुलम्' यहां ऋत्विक्कर्मकेलिए ब्राह्मणको—ब्रा-ह्मणको ही नहीं ब्राह्मणोंके कुल (सारे वंश) को लिख डाला है। केवल इसीमें नहीं, 'मीमांसा-दर्शनमें श्री जैमिनि-मुनिने भी लिखा है 'ब्राह्म-णानां वा इतरयोरार्त्विज्याभावात्' (६।६।१८) इसमें भी ऋत्विक्कर्मका ब्राह्मणोंसे भिन्नको अधिकार नहीं दिया गया है। तब 'करिहहिं विप्र होम मख-सेवा' पर गोस्वामीजीकी चुटकी लेते हुए आक्षेप्ता महाशयका शास्त्रोंमें अज्ञान मानें, वा ब्राह्मण-द्वेष मानें, वा लोक-प्रसिद्ध 'मानस'-को लोकदृष्टिमें गिरानेका कोई षड्यन्त्र मानें; इसका निर्णय श्रीभदन्तजी ही कर सकते हैं। हम स्वयं इस निर्णयके अधिकारी नहीं।

'कुब्राह्मण:' (२।२।१।१८) इस उदाहरणमें भाष्यकारने खराब-ब्राह्मणको भी ब्राह्मण मान लिया है। 'तपः-श्रुताभ्यां यो हीनो जाति-ब्राह्मण एव स:' (२।२।१।६) यहांपर तपस्या तथा विद्यासे हीन ब्राह्मण-को भी ब्राह्मण मान रखा है। श्रीपाणिनिने भी 'ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' (५।१।१२४) इस सूत्रमें कई शब्दोंको ष्यञ्प्रत्यय करते हुए सर्वादिमें ब्रा-ह्मणका नाम रखा था, और 'ब्राह्मोऽजातौ' (६।४।१७१) इस सूत्रमें ब्रह्माके पुत्रका नाम जातिवाचकतामें 'ब्राह्मण कह दिया, जिसकेलिए 'कहहु न कहां चरन कंह माथा' में 'हां, ब्राह्मणोंने ब्रह्माके औरस-पुत्रके रूपमें आत्मविज्ञापन किया है' कहकर गोस्वामीजी पर भदन्तजीने फबती कसी है। इससे 'ब्राह्मण' 'गुणशब्द' न सिद्ध होकर 'जातिशब्द' सिद्ध होता है। वार्तिककारने भी 'वर्णानामानुपूर्व्येण' (२।२।३४) में 'ब्राह्मण' को वर्णोंमें सर्वप्रथम रख दिया, जिसकेलिए भदन्तजी-द्वारा गोस्वामीजी पर स्थान-स्थान चोट मारी गई है। अब भदन्तजी-द्वारा 'व्याकरणमें ब्राह्मण-शाही' लेख भी पत्रोंमें प्रकाशनार्थ भेजनेका प्रयत्न अपेक्षित है।

अब सब शास्त्रोंके शिखामणि वेदको भी भदन्तजी देखें—'ब्राह्मणो-ऽस्य मुखमासीद्' यह मन्त्र तीन वेद-संहिताओं (ऋ० सं० १०।९०।१२, यजुः वा० सं० ३१।११, अथर्व० १९।६।६) में आया है। इसमें ब्राह्मण-को जो कि वेदांगके अनुसार जातिवाचक है—परमात्माका मुख, सब वर्णोंका मुखिया—शाह बताया है। 'न ब्राह्मणो हिंसितव्यः' (अथर्व० ५। १८।६. ५।१९।८) वेदके इस वचनमें ब्राह्मणकी हिंसा निषिद्ध मानी है। 'यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति, न स पितृयाणमप्येति लोकम्' (अथर्व० ५।१९।१३) [जो देवताओंके बन्धु ब्राह्मणको हिंसा करता है, वह पितृ-लोकको भी प्राप्त नहीं होता] जब यहां आगम-शिखामणि निगम-वेद ब्राह्मणोंको देवताओंका बन्धु—वशकर्ता बता रहा है। तब—"सु:सेवाका माध्यम ब्राह्मण-सेवा ही रहा है। 'करिहहिं विप्र होम मख-सेवा। तेहि प्रसंग सहजहिं बस देवा' पर अपने शब्दोंमें 'नानापुराण-निगमागमसम्मत' लिखनेवाले गोस्वामीजीका उपहास उडाना अपना निगमागम-विषयक अज्ञान प्रकट करना है, क्योंकि धर्मशास्त्रोंके अनुसार यज्ञ कराना ब्राह्मणों का कर्म है, और सारी प्रजा देवताओंके अधीन हुआ करती है, और देवता यज्ञके अधीन होने हैं। विष्णुधर्मोत्तर-पुराणमें कहा है— 'देवा-धीनाः प्रजाः सर्वा यज्ञाधीनाश्च देवताः। ते यज्ञा ब्राह्मणाधीनाः तस्माद् ब्राह्मणदैवतम्' (१६२।१) 'यजनं याजनं तथा। ब्राह्मणानामकल्पयत्' (१।८८) यह सकलधर्मशास्त्र मूर्धन्य मनुस्मृतिका उद्घोष है।

'ब्राह्मणेभ्यो वशां दत्त्वा सर्वान् लोकान् समश्नुते' (अथर्व० १०।१०। १३) [ब्राह्मणोंको गोदान करके सारे शुभ-लोकोंको प्राप्त कर लेता है] जब यहां भी वेद ब्राह्मणोंकेलिए गोदान कह रहा है, तब 'गोसेवाका भी प्रचलित अर्थ ब्राह्मणको गोदान देना ही रह गया है' यह भदन्तजीका कहा आक्षेप कैसे सगत हो सकता है? अब क्या 'वेदोंमें ब्राह्मणशाही' लेख भी पत्रोंमें प्रकाशित करवानेकी भदन्तजी-द्वारा कृपा होगी? यदि नहीं, तब 'नानापुराणनिगमागमसम्मत' लिखनेवाले 'रामचरितमानस'-

पर ही 'ब्राह्मणशाही' का आरोप लगाना क्या भदन्तजीका ब्राह्मणद्वेष व्यक्त कर रहा है, अथवा 'नानापुराणनिगमागम' विषयक-अज्ञान, इसका निर्णय हम 'आलोक'-पाठकोंपर ही छोड़ते हैं। तब भदन्तजीके 'सन्तशिरोमणि गोसाईं तुलसीदासके 'रामचरितमानसकी रचनामें ब्राह्मण-शाहीके निहित स्वार्थोंका हाथ है' इस अपने वाक्यका उत्तरदायित्व उनका अपनेपर ही है, गोस्वामीजी पर नहीं।

यह भी याद रखना चाहिये कि गोस्वामीजीने क्षत्रिय-श्रीराम द्वारा वेदज्ञ परन्तु कुकर्मी ब्राह्मण-रावणको मरवाया है, जिससे प्रतिवर्ष उस बेचारेकी दशहरामें मट्टी पीटी जाती है। वीर-ब्राह्मण परशुरामको हराया तथा निस्तेज एवं नतमस्तक कराया है। वाल्मीकि-रामायणसे भी अधिक उस ब्राह्मणकी मट्टी पीटी है। क्षत्रिय भगवान्-श्रीरामका स्थान-स्थान नाम एवं गुण-कीर्तन किया-कराया है। देवताओं, ऋषि-मुनियों तथा ब्राह्मणों-को क्षत्रिय-अवतार श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें गिरवाया है, 'द्विज श्रुति-बेचका' (उत्तर. ९७) 'विप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ वृपली-स्वामी' (उत्तर) इत्यादि स्थलोंपर ब्राह्मणोंकी निन्दा की है। अब भदन्त-जी ही उक्त मुख्य कथा—वस्तुकी देखभाल करके बतावें कि—'मानस' में 'ब्राह्मणशाही' रही, या 'क्षत्रियशाही'? क्या अब भदन्तजीको अपने ब्राह्मणद्वेषशाही वा सनातनधर्मद्वेषशाहीके पनपते हुए पौधेसे प्रसन्नता हुई या नहीं?

यह भी याद रखना चाहिये कि—'बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्हते कछु घाटि। जानहि ब्रह्म सो विप्रवर आँखि देखावहिं डाँटि' इन शूद्रोंके भदन्तजीसे सम्मत वचनसे ब्राह्मणत्वका किला कभी नहीं ढह सकता। 'जानई ब्रह्म सो विप्रवर' इसका 'जो ब्रह्मको जाने, वही ब्राह्मण है'—यह भदन्तजीका किया हुआ अर्थ ठीक नहीं। यहां तो यह अर्थ है कि—'जो ब्रह्मको जाने, वह विप्रवर, ब्राह्मण-श्रेष्ठ है'। यहां 'सो' का अर्थ

'वह' है, 'वही' नहीं। तो इस अर्थके अनुसार ब्रह्मको न जाननेवाला ब्राह्मण-श्रेष्ठ तो नहीं, पर ब्राह्मण तो रह ही जावेगा। क्षत्रियोंसे उपनिषदोंमें ब्रह्मविद्या सीखनेवाले ब्राह्मण, सीखनेसे पहले ब्राह्मण ही तो थे, तथा कहे गये। तब इसमें 'गोस्वामीजीका गारा-चूना लगाना कहना' भदन्तजीका ब्राह्मणोंके बड़प्पनसे सन्तप्त अपने हृदयका उच्छ्वासमात्र प्रतीत होता है, अन्य इसका कुछ भी मूल्य नहीं। इस बातकेलिए गोस्वामीजीका सारा प्रयास भी नहीं, क्योंकि आक्षेपार्थ भदन्तजी द्वारा चुने हुए एतद्विषयक वाक्य बहुत ही थोड़े हैं। कई सौ मन अन्नके ढेरमें २०-२५ दानेमात्र हैं, जिनका ढूंढ़ना भी ब्राह्मणद्वेषियोंसे अतिरिक्त किसीसे सम्भव नहीं। ये वाक्य भी प्रसंगवश ही कहे गये हैं, जानबूझकर बलपूर्वक नहीं डाले गये।

'ब्राह्मण' शब्दको भदन्तजी द्वारा गुणवाचक कहना भाषाके व्यवहारशास्त्रव्याकरणके प्रतिकूल है। 'ब्राह्मोऽजातौ' (पा० ६।४।१७१) से जातिमें ही 'ब्राह्मण' बनता है, गुण-कर्मसे 'ब्राह्म' तो कहा जा सकता है, 'ब्राह्मण' कभी नहीं। लोकव्यवहार-व्यवस्थापक धर्मशास्त्रकी भी यही सम्मति है। 'ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः' ऐसा वचन किसी प्रामाणिक मूलग्रन्थका भी नहीं। यह तो ब्रह्मज्ञानका प्रशंसार्थवाद होनेसे औपचारिक शब्द है, वास्तविक नहीं। शब्दका अर्थ शब्दशास्त्र ही देता है, वा व्यवहार-प्रवर्तक होनेसे धर्म-शास्त्र। सो वे दोनों शास्त्र 'ब्राह्मण'को जातिवाचक ही बता रहे हैं। गुणयुक्त होनेपर उसकी प्रशंसा ही है। देखिये—अत्रिस्मृतिमें कहा गया है—'जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय एव च' (१३८) यहां ब्राह्मण जन्मसे बताया गया है।

हां, जो उत्पन्नमात्र ब्राह्मणकी प्रशंसा शास्त्रों वा 'मानस' में आई है, वह अन्याय्य भी नहीं है। गत-जन्ममें शुभ गुण-कर्म करनेसे इस जन्ममें ब्राह्मण-जातिमें जन्म माना गया है। सो ब्राह्मणमात्रकी प्रशंसा उसके

गत-जन्मके गुणकर्मोंका सम्मान है। इस जन्ममें वही ब्राह्मण यदि अच्छे गुणकर्म करेगा, तो उसका अग्रिम जन्म भी श्रेष्ठ रहेगा। नहीं तो वह गिरेगा—इसीसे उसीकी अपनी वैयक्तिक हानि है। हिन्दु-धर्म पुनर्जन्म एवं पूर्वजन्मके सिद्धान्तको मानता है। इसी कारण वह ब्राह्मण—जातिका सम्मान करता है। हां, जो नास्तिक है, केवल अपनी ही बुद्धिको प्रमाणित करता है, अपनी बुद्धिसे अगम्य विषयको 'गप्प' बताता है, पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्मके सिद्धान्तको नहीं मानता, उसे ब्राह्मण-जातिका सम्मान समझमें नहीं आता है, उसे वह अखरता है। इस जन्मके शुभ गुण-कर्म ब्राह्मणकेलिए 'सोना और सुगन्ध' को चरितार्थ कर देते हैं, अतः यही न्याय्य बात है। श्रीभदन्तजीको हिन्दु-शास्त्रोंको बौद्ध-दृष्टिकोणके आवरणको हटाकर निष्पक्ष-दृष्टिसे समझनेका प्रयास करना चाहिए। तब उन्हें इस प्रकारके द्वेषपूर्ण या निस्सार लेख लिखनेकी आवश्यकता न पड़ेगी। नहीं तो उनमें उन्हें जटिलता ही प्रतीत पड़ेगी। जो ऐसे प्रमाण 'मानस' के बताये जाते हैं, इनमें विप्रोंके साथ धेनु तथा सन्त भी स्थान-स्थानपर आये हैं, अब इसमें 'ब्राह्मणशाही' ही कहाँ रही, 'धेनुशाही' भी इसे मानें, 'सन्तशाही' भी मानें। नहीं माननेपर तो 'ब्राह्मणशाही' कहना भदन्तजीका ब्राह्मण-द्वेष व्यक्त करता रहेगा।

जो कि यह फब्ती कसी जाती है कि—'ब्राह्मणका शाप भगवान्के मोक्षदायक-बाणसे भी अधिक बलवान् सिद्ध हुआ कि—रावणादिकी एक जन्ममें मुक्ति न होकर तीन जन्मोंमें मुक्ति हुई' इसपर यह जानना चाहिये कि वेदानुसार ब्राह्मण भगवान्का मुख है, वा मुखसे उत्पन्न हुआ। मुख सबमें प्रधान होता है। तो मुखकी मुख्यता यही तो होगी कि—उसकी बात पूरी की जाय, तब इसपर आक्षेप कैसा? उसमें तीन जन्मोंकेलिए शाप था। 'ब्राह्मण होने मात्रसे सेवाका अधिकारी हो जाता है' इसे हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं। नायककी सेवा सर्वत्र होती ही है। 'ब्राह्मणोंके रहनेकेलिए राजा-द्वारा अलग घर बनवाने उनके सम्मा-

नार्य हैं, भदन्तजीके शब्दोंमें 'अछूत' होनेसे नहीं। यहाँ राज्यमें 'मन्त्रियों-की शानदार कोठियां' शासन-द्वारा बनती हैं, तो क्या यह मन्त्री भदन्तजीके शब्दोंमें 'अछूत' हैं? 'गोबलीवर्द-न्याय' से जैसे 'बलीवर्द' का बैलसे भिन्न कथन उसके वैशिष्ट्यार्थ होता है, वैसे ब्राह्मणोंका भी। ब्राह्मण धर्मशास्त्रज्ञ होनेसे प्रजामें अनुशासन करवानेमें राजाके सचिव, सहायक होते थे। जैसा कि मनुजीने भी संकेत दिया है—'सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता। मन्त्रयेत् परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम्' (७।५८) 'सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च। सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति' (१२।१००) 'जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद् ब्राह्मण-ब्रुवः। धर्मप्रवक्ता नृपतेर्नतु शूद्रः कथचन' (८।२०) यहाँ क्षत्रिय मनुजीने ब्राह्मणको राजाका धर्मप्रवक्ता होना आदिष्ट किया है। तब उनकी कोठियां भी क्यों न बनतीं? बल्कि दुर्गमें भी ब्राह्मणोंकी कोठियाँ बनाना राजनीतिमें रखा गया है। जैसा कि मनुजीने ही कहा है—'तत् स्यादायुधसम्पन्नं···ब्राह्मणैः, शिल्पिभिर्यन्त्रैः' (मनु० ७।७५) पूर्व कहे हुए अत्रिस्मृतिके प्रमाण—'विद्यया याति विप्रत्वं' से जन्म-ब्राह्मणको विद्यायुक्त होनेपर 'विप्र' कहा गया है, तब क्या विद्वान्-ब्राह्मणका सम्मान भी ठीक नहीं?

'ऐटमबमसे बचा जा सकता है, किंतु ब्राह्मणके शापसे नहीं' इसपर उत्तर भदन्तजी द्वारा अपने ही उद्धृत 'मानस' के वचनमें देखा जा सकता है—'तप-बल विप्र सदा बरियारा। तिन्हके कोप न कोऊ रखवारा ॥' सो तपस्याके बलके विषयमें मनुजीका यह वचन जान रखना चाहिए कि-'यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम्। सर्वं तत् तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्' (११।२३८)। (जो दुस्तर है, जो दुर्लभ है, जो बहुत कठिन है, जो असम्भव है, वह सब, तपस्यासे सिद्ध हो जाता है, तपस्या व्यर्थ नहीं जा सकती।) यह है तपस्याकी महिमा। यहां ब्राह्मणोंका गुणकर्म तपस्याका बल कहा है, तब इसमें आक्षेपका क्या

अवकाश? क्या आक्षेप्ताके मतमें तपस्यारूप ब्राह्मणके गुणकर्मका अब महत्त्व नहीं रहा? क्या 'मानस' के अतिशयित प्रमाण-भूत वेदमें कहे हुए ब्राह्मणोंके यह शस्त्र प्रसिद्ध नहीं कि—

'तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां न सा मृषा। अनुहाय तपसा मन्युना च उत दूरादवभिन्दन्ति एनम्' (अथर्व० ५।१८।९) (तीक्ष्ण बाणोंवाले, अस्त्रोंवाले ब्राह्मण जिस बाणोंकी बौछारको फेंकते हैं, वह व्यर्थ नहीं होती। तपके साथ और मन्युके साथ पीछा करके वे दूरसे भी शत्रुको भेदते हैं) उन ब्राह्मणोंके अस्त्र भी देखने योग्य हैं। अथर्ववेदके ५।१८।८ मन्त्रमें 'ब्राह्मणकी जिह्वा डोरी होती है, वाणी बाणकी ग्रीवा, तपसे ब्राह्मण उन निन्दकोंको धनुषोंसे बींधता है।' अब यह समझा जा सकता है, कि गोस्वामीजीने इन्हीं वेदमन्त्रोंके उदाहरणमें ही ब्राह्मणोंके शाप तथा कोपके फलका इतिहास बताया है, "ढहते हुए ब्राह्मणशाहीके किलेको खड़ा करनेकेलिए कोई नया गारा-चूना" नहीं लगाया। वह किला पहलेसे ही मजबूत-मसालेका था। यह 'निगमागमसम्मत मत' गोसाईंजीने उपस्थित किया है; तब उनपर भन्तेजीका दोषारोप कैसे? तब इस ब्राह्मणशापके सम्बन्धमें किये गये आक्षेप 'निगमागम' से ही खण्डित हो गये।

भन्तेजी-द्वारा ब्राह्मणके वचनको 'सुप्रीम कोर्ट' का निर्णय उपहाससे भले ही कहा जाय, पर हिन्दु-शासनमें सुप्रीम-कोर्ट 'वेद' ही है. उसने ब्राह्मणका महत्त्व बताकर उक्त व्यंग्यको छेद ही डाला है। यदि अथर्ववेदमें ब्राह्मणसूक्तों—(५।१७-१८-१९, १२।४-५) का स्वाध्याय भन्तेजी करें; तो पता लग सकेगा कि 'मानस' निगमागमका भाष्य है। वहाँ का एक मन्त्र हम उपस्थित कर भी देते हैं—'वृश्च, प्रवृश्च, संवृश्च, दह, प्रदह, सन्दह। ब्रह्मज्यं देवि अघ्न्ये! आ मूलाद् अनुसन्दह। यथा याद् यमसादनात् पापलोकान् परावतः' (१२।५।६२) इसका अर्थ हम आर्यसमाजी विद्वान् श्रीराजारामजी शास्त्रीका देते हैं—'काट, काट डाल,

टुकड़े-टुकड़े कर दे। जला, जला डाल, जलाकर राख कर दे ब्राह्मणके सतानेवालेको; हे देवि! न हनन करने योग्य! जड़से लेकर सारा जलाकर राख कर दे, जैसे कि—वह यमके घर [लोक] से दूरवर्ती पापलोकोंको जावे'।

'ब्रह्म' यह ब्राह्मणका नाम है। जैसे कि महाभाष्यमें-'समानार्थौं एतौ ब्रह्मन्-शब्दो ब्राह्मण-शब्दश्च' (५।१।७)। शतपथ-ब्राह्मणमें भी कहा है – 'ब्रह्म हि ब्राह्मणः' (५।१।१।११) आर्यसमाजके स्वामी दयानन्दजीने भी यह माना है—'ब्रह्म हि ब्राह्मणानां नामास्ति' (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ८७ पृष्ठ) अतः उक्त वेदमन्त्रमें भी वही अर्थ है। यह है ब्राह्मणके शाप-का महत्त्व। इसीके उदाहरणमें आक्षिप्त सत्यकेतुके कुलमें कोई भी नहीं बचा। 'ब्राह्मणका शाप कैसे सत्य होता है' इस बातको 'आमूलादनु-सन्दह'—[जड़से जल जाता है] इस वेद-वाक्यसे जाना जा सकता है। यह बात गोस्वामीजीने निगमागमसम्मत लिखी; या भन्तेजीके शब्दोंमें 'ब्राह्मणशाहीके ढहते हुए किलेको गिरनेसे बचानेकेलिए गोस्वामीजीने गारा-चूना लगानेका प्रयास किया' यह भन्तेजी अब स्वयं निर्णय करके बतावेंगे—यह हम उनसे आशा रखते हैं।

जो कि—"विप्र, धेनु, सुर, सन्त हित लीन्हे मनुज-अवतार' पर भन्ते-जीने यह आक्षेप किया है कि—ब्राह्मण सबसे पहले रखे गये, और सन्त सबसे पीछे' इसपर जानना चाहिये कि— उत्तर-पक्ष पूर्व-पक्षके बाद आता है। सो सन्तको उत्तर-पक्षमें पीछे भी रखा जा सकता है। 'ऋचां त्वः पोष-मास्ते' मन्त्रके अन्तमें 'यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः' यह यजुर्वेदको रखा गया है। इसी अन्तमें रखनेसे विद्वानोंके अनुसार यजुर्वेदकी अन्य वेदोंसे मुख्यता सिद्ध की जाती है, तो 'मानस' में भी यही समझा जा सकता है। 'मानस' में सन्तोंकी महिमा तो भरी पड़ी है। जैसे कि—'मुद मंगल-मय सन्त समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू'। 'सन्त हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि विकार' (बाल० ६) इत्यादि। भगवद्गीतामें भी अव-

तारके कारणोंमें 'परित्राणाय साधूनां' (४।८) सन्तोंका संरक्षण विशेष आया है। सन्त (संन्यासी) बननेका अधिकार भी मुख्यतया ब्राह्मणके-लिए आया है। इसपर देखिये मनुस्मृति (६ठा अध्याय), और स्वा. द. का 'सत्यार्थ-प्रकाश' (६ समु.)।

यदि पहले रखनेसे मुख्यता होती है, तो 'गो-द्विज हितकारी जय असुरारी' इस भन्तेजीसे उद्धृत 'मानस' के वचनमें गायका नाम पहले है, ब्राह्मणका पीछे। तब यहां गायसे ब्राह्मण अमुख्य रहा। 'देव विप्र गुरु मान न होई' इस भन्तेजीसे उद्धृत चौपाईमें भी विप्रोंको 'देवों' के पीछे रखा गया है। 'गुरु, सुर, सन्त, पितर, महिदेवा' इस भन्तेजीसे उद्धृत चौपाईमें भी ब्राह्मण (महीदेव) सबसे पीछे आये। तो 'मानस' में 'ब्राह्मणशाही' कहां रही? यहां तो 'सन्त' उनसे बड़े बने। 'सन्तशाही' का पक्ष तो भन्तेजीको मान्य है न?

जो कि भन्तेजीने—ब्राह्मणको दान देनेपर गोस्वामीजीपर फबती कसी है, इसपर यह याद रखना चाहिये कि जैसे सभी सुधारक कहते हैं कि—'हिन्दुराज्य' में ब्राह्मण सबसे बड़े थे। उन्होंने सब शास्त्र लिखे। इसीलिए उन्होंने सभी कुछ ब्राह्मणोंकेलिए लिख डाला' यहां भन्तेजीको भी यही इष्ट है। यदि ऐसी बात है, तब तो वे (ब्राह्मण) अपने लिए राज्य भी लिख सकते थे। पर उन्होंने राज्यको लात मारकर उसे क्षत्रियको दिया। स्वयं उन्होंने कुटियां पसन्द कीं। धनके अध्यक्ष वे हो सकते थे, पर उन्होंने उसपर लात मारकर वैश्यको दिया; स्वयं सन्तोष-रूप धन लिया। शिल्प स्वयं लेकर वे धनके कोठे भर सकते थे, पर उन्होंने उसे शूद्रादिको दिया, और उससे उसे धन दिलाया, तो क्या राजा-आदिका कर्तव्य नहीं कि तपस्वी तथा अपनी सन्तान वा प्रजाके शिक्षक उनके आचार-विचारके शिक्षक स्वार्थ-त्यागी—'जिनकी अन्य कोई वृत्ति नहीं—जिन्होंने अपने गृहस्थ वा बाल-बच्चोंको पालना है, वेद वा धर्म-शास्त्रों एवं अन्य प्रजाहिताधायक साहित्यको द्रव्य देकर लेखकोंसे

लिखवाकर प्रचलित करना है—उन्हें यदि 'दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानाम-कल्पयत्' (मनु० १।८८) इस प्रसिद्ध तथा प्रामाणिक धर्मशास्त्रके वचनानुसार प्रजा दान देती है, उनसे खजाना लेकर उन्हें कौड़ी देती है, तो इसमें भन्तेजीकी असहिष्णुताकी बात ही क्या है। दान लेना तपस्वी तथा विद्वान् ब्राह्मणकी वृत्ति है। वह भी प्रजासे जबर्दस्ती नहीं लेता, प्रजा ही उसे कृतज्ञताके नातेसे दान देती है? तब क्या भन्तेजीके अनुसार दान राज्यके मालिकों क्षत्रियों, वा कोषके स्वामियों वैश्योंको देकर 'वृथा वृष्टिः समुद्रेषु' चरितार्थ किया जाता? वा जिन्हें धनका छोड़ना लिखा है, उन सन्तोंको दिया जाता? वास्तवमें भन्तेजीके आक्षेप एक जातिविशेषके द्वेषके अतिरिक्त अधिक महत्त्व नहीं रखते।

'ये ब्राह्मण होमयज्ञ करेंगे, उससे सारे देवता वशमें हो जायेंगे' यह भन्तेजीका आक्षेप भी व्यर्थ ही है। यज्ञ होता है—देवपूजन; क्योंकि 'यज देवपूजा-संगतिकरणदानेषु' इस धातुसे नङ्-प्रत्यय करनेपर 'यज्ञ' शब्द बनता है। तब यज्ञसे देवता वश हो जायं, यह बात अब कठिन न रही। जैसेकि विष्णु-धर्मोत्तर पुराण १६२ अध्यायमें कहा है—'यज्ञेन देवा जीवन्ति यज्ञेन पितरस्तथा। देवाधीनाः प्रजाः सर्वा यज्ञाधीनाश्च देवताः' (१) यज्ञके अधिष्ठाता यज्ञविधिके जाननेवाले ब्राह्मण ही होंगे, यह-सर्वधर्मशास्त्रसम्मत है—'यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्'—(१।८८) यह प्रसिद्ध राज्य-शासक मनुजीका वचन है। 'आर्त्विजीनं (ऋत्विक्कर्मयोग्यं) ब्राह्मणकुलम्' यह महाभाष्यका तथा मीमांसादर्शनका वचन पहले उद्धृत किया ही जा चुका है। सो वे ब्राह्मण यज्ञ-विधानके ज्ञाता होनेसे देवताओंको वश कर सकें, इसमें कोई आक्षेप-योग्य बात नहीं रह जाती।

जो कि भगवान्-राम द्वारा ब्राह्मणोंको दान देनेपर भन्तेजीने कृपा की है—कि 'ब्राह्मण भगवान्से भी कर वसूल कर लेते रहे हैं' यह-कितने सुन्दर मुहावरेदार शब्द हैं! भगवान् भन्तेजीके बौद्ध तो थे नहीं; वे

तो थे मर्यादा-पुरुषोत्तम, क्षत्रिय वर्णमें। क्षत्रियका दान देना एक कर्म है। उन्होंने स्वयं दिया। वादि-प्रतिवादिमान्य मनुस्मृतिमें राजाको ब्राह्मणोंकेलिए दान देना लिखा है। 'यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्त-दक्षिणैः। धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद् भोगान् धनानि च' (७।८०) ब्राह्मण स्वयं टैक्स वसूल करने नहीं आये, वा नहीं आते। वे राजदण्ड देकर धमकाते भी नहीं। तब इससे भन्तेजीको असहिष्णुता क्यों? दान अपनी इच्छानुसार बड़ी प्रसन्नतासे क्षत्रियको दिलाया जाय, वा वैश्योंको; वा स्वयं बौद्धजी द्वारा लिया जाय। पर इसमें कोई भी निगमागम सहमत नहीं। हिन्दु-जाति तो 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ' (गीता १६।२४) इस प्रमाणसे शास्त्रवादका अनुसरण करती है, अनर्गल तर्कवादका नहीं।

ब्राह्मणोंकी वेदध्वनि पर आलोचना करना भी भन्तेजीकी एक विचित्र प्रवृत्ति है। तो क्या वेद-ध्वनि शिल्पकर्मकर्ता शूद्रादि करने आते-अपना कर्म छोड़कर? वा वेद न माननेवाले बौद्धगण? 'कहहु न कहां चरन कहँ माथा' यहां ब्राह्मणोंने ब्रह्माका पुत्र अपने आपको घोषित नहीं किया, किन्तु क्षत्रिय श्रीरामने, वा 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' (यजुः० ३१।११) इस भगवान्के वचन वेदने वैसी घोषणा की है। तब निगमागमसम्मत कहलवानेवाले गोस्वामीजीपर छींटा कैसा? सीधा वेदपर प्रहार किया जावे! या वेदपर प्रहार करनेकेलिए ही 'मानस' की आड़ ली गई हो; तो इस विषयमें हम नितान्त अनभिज्ञ हैं।

'ब्राह्मणोंका नमस्कार-वर्णन वर्ग-विशेषका वर्णन नहीं। यहां वर्गवाद नहीं। यहां ब्राह्मण-वर्णके पूर्व-जन्मके सत्कर्मोंको नमस्कार किया गया है, जिन कर्मोंसे उन्होंने यह जन्म पाया। तब क्या भन्तेजी गतजन्मके सत्कर्मोंकी भी अवज्ञा करनेको आज्ञा देते हैं; वा बुद्धिगम्य न होनेसे गतजन्म वा कर्म-विज्ञान को ही नहीं मानते? गोस्वामीजीने यह ब्राह्मणोंको नमस्कार भी स्वयं नहीं घुमेड़ी, किन्तु 'निगमागमसम्मत' होनेसे लिखी। भन्तेजी कृष्णयजुर्वेदको

देखें—'यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति । तस्माद् ब्राह्मणेभ्यो वेदविद्भ्यो दिवेदिवे नमस्कुर्यात्' (तैत्तिरीयारण्यक २।१५) इसमें ब्राह्मणोंको नमस्कार करनेसे 'एता एव देवताः प्रीणाति' देवताओंका प्रसन्न होना लिखा है । अथर्ववेद-संहितामें भी लिखा है—'ब्राह्मणेभ्य इदं नमः' (६।१३।२) ।

यह तो हुए गोस्वामीजीसे माने हुए निगमागमके वचन । अब उनके सम्मत पुराणका वचन भी भन्तेजी देख लें । क्षत्रिय-राजा रहूगण ब्राह्मण-मात्रको नमस्कार करते हुए कहते हैं—'नमो महद्भ्योऽस्तु नमोर्भकेभ्यो नमो युवभ्यो नम आवटुभ्यः । ये ब्राह्मणा गामवधूतलिंगाश्चरन्ति तेभ्यः शिवमस्तु राज्ञाम्' (श्रीमद्भागवत (५।१३।२३) इसका उदाहरण कठोपनिषद्में देखा जा सकता है । क्षत्रिय-राजा यमने ब्राह्मण-कुमार नचिकेताको नमस्कार किया; और अपने लिए उससे स्वस्ति मांगी—'ब्रह्मन् ! अतिथिर्नमस्यः; नमः तेस्तु ब्रह्मन् ! स्वस्ति मेस्तु' (१।१।९) तब अपने शब्दोंमें 'स्वान्तः-सुखाय, नानापुराणनिगमागमसम्मत—रामायणमें लिखनेवाले गोस्वामीजी पर पदे-पदे छिपे विषैले बाणोंको छोड़नेमें भदन्तजीका उद्देश्य क्या हो सकता है—यह हम समझ नहीं पा रहे हैं ।

'हर कदम पर भन्तेजीको ब्राह्मण-समाजको नमस्कार दीख पड़ना' भी सचमुच ही गलत है । कई हजारकी चौपाइयोंमें यदि पांच-सात स्थानोंपर ब्राह्मणको नमस्कार आ गया है; तो यह 'हर कदम' नहीं हो जाता । हजारों गेहूँके दानोंमें उनसे दिखलाये हुए दो-चार दानोंको ढूंढ़नेका भारी प्रयास करके उन्हें ढूंढ़ निकालनेमें भन्तेजीका कोई विशेष—रहस्यमय उद्देश्य प्रतीत होता है । भले ही इसका कारण तिरंगे-झण्डेके अशोक-चक्रकी प्रभुता हो, वा केवल साम्यवादका प्रचार ही उद्दिष्ट हो । ब्राह्मण कोई वर्ग-विशेष नहीं, किन्तु वर्ण वा जाति है, जिसका गत-जन्मके कर्मोंसे सम्बन्ध है । वर्ण-व्यवस्था जन्मना हुआ करती है, गुण-कर्मणा तो प्रशंसा हुआ करती है—यह शास्त्रोंका सिद्धान्त है । इससे स्पष्ट है कि —-

'ब्राह्मणशाहीका किला एक शूद्रके साधारण-वाक्यसे ढह नहीं रहा था; किन्तु वह वेद-शास्त्रोंके मज़बूत मसालेसे पहलेसे ही पक्का था । गोस्वामीजीका उसपर खास गारा-चूना लगानेका यह प्रयास नहीं जैसा कि-श्रीभदन्तजीने समझा है ।

यह हम पूर्व सूचना दे चुके हैं कि—ग्रन्थका उद्देश्य उसकी मुख्य कथा-वस्तुसे होता है । सो वह मुख्य-विषय है राजप्रतिनिधि क्षत्रिय-श्रीराम-द्वारा एक कुकर्मी ब्राह्मणको सीता चुरानेके बहाने उसके आततायित्वका दण्ड देना । इसीलिए इसका नाम भी 'रामायण' वा 'रावण-वध' है; 'ब्राह्मणमहत्त्वादर्शकाव्य' नहीं । इससे ब्राह्मणशाही मुख्य उद्देश्य नहीं, क्योंकि—ब्राह्मणको यहाँ 'नायक' न रखकर 'प्रतिनायक' रखा गया है; और उसे 'राक्षस' कहा गया है । नायक यहां ब्राह्मणसे भिन्न रखा गया है ।

जहां प्रसंगवश कहीं ब्राह्मण-प्रशंसाका गौण वर्णन आया भी है, तो वह विषय अंग होनेसे उससे ब्राह्मणशाहीका मुख्य उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता । श्रीभदन्तजी अपने इस उद्देश्यको सिद्ध करनेमें सफल नहीं हो सके—अतः उनसे हमें भी सहानुभूति है ।

हमने गोस्वामीजीपर किये हुए भदन्तजीके आक्षेपोंपर विचार कर लिया । हमें 'नया पथ' का उक्त विषयक द्वितीय अंक प्रयत्न करनेपर भी नहीं मिल सका । आशा है कि—उसमें इसकी अपेक्षा कुछ नवीनता भी नहीं रही होगी । अतः हम अपना विचार यहीं समाप्त करते हैं। आशा है—भन्तेजी दोषैकदृष्टि न बनकर गोस्वामीजीके गुणोंपर दृष्टि डालेंगे । क्योंकि—दोषदृष्टि रखनेपर गुण भी दोष प्रतीत होने लगते हैं। भन्तेजी यदि ठंडे होकर विचार करें; तो उसमें उन्हें गोस्वामीजीकी बहुश्रुतताका परिचय प्राप्त हो सकता है । यदि भन्तेजी इन सभी बातोंका साङ्गोपाङ्ग-विवेचन पाना चाहते हैं, तो इस ग्रन्थमालाके भिन्न पुष्पोंकी विविध पंखुड़ियां देखें । अबतक ग्रन्थमालाके दश पुष्प प्रकाशित हो चुके हैं । इति ।

इतिहासपुराण-चर्चा

(१६) रक्तबीजके रक्तसे असुरोंकी उत्पत्ति ।

अविश्वस्त लोगोंके संसारमें 'शङ्काभिः सर्वमाक्रान्तम्' सनातनधर्म-साहित्यके अक्षर-अक्षरमें साधारण-जनोंको शङ्काएं हुआ करती हैं। उनमें एक विषय ऊपरके शीर्षकका भी है। हम इसपर भी लिखते हैं, 'आलोक'-पाठक ध्यान दें।

प्रतिपक्षियोंका यह आशय है कि—उत्पत्ति पुरुषकी शुक्रसे हुआ करती है, लहूसे नहीं। लहू तो तीसरी धातु है, और वीर्य होता है—सातवीं धातु। तब मार्कण्डेयपुराण ८१ से ९३ अध्याय तककी सप्तशती में रक्तबीजसे असुरों की उत्पत्ति कैसे बताई गई है; तब यहां अप्राकृतता स्पष्ट है। तभी यहाँ श्रोता राजाको भी 'विचित्रमिदमाख्यातं भगवन् ! भवता मम । देव्याश्चरित-माहात्म्यं रक्तबीजवधाश्रितम्' (मार्कण्डेयपु. ८९।१) यहां उसे 'विचित्र' शब्दसे कहा है। अतः उसकी प्रमाननीयता भी स्पष्ट है'।

यहाँ पर यह जानना चाहिए कि—इसमें सन्देह नहीं कि—बालक वीर्यसे ही हुआ करता है। पर यह सामान्यशास्त्र है, वह भी ऐहिक-जीवोंके लिए होता है; परन्तु लोकोत्तरशक्तिशाली देव-दैत्योंके लिए तो ऐसा नियम अनिवार्य नहीं। जैसे पशु-पक्षियोंकी मैथुनादिकी समतामें भी मोर-मोरनीके मैथुनमें विलक्षणता सुनी जाती है, वैसे ही देव-दैत्य-आदियोंमें भी हम लोगोंकी अपेक्षा सभी व्यवहारोंमें विलक्षणता ही हुआ करती है, मोरनीके गर्भवती होनेका प्रकार सुना जाता है कि मोरके आंसू पीनेसे मोरनी को गर्भ होता है। वेदान्तदर्शनके २।१।२५ सूत्र शाङ्करभाष्यमें बलाकाका भी बिना मैथुन, मेघकी गर्जनामात्रसे गर्भवती होना माना है।

जैसे इनमें सर्वसाधारण-प्रकारसे भिन्न अथवाद-स्थल है, वैसे मनुष्ययोनिमें भी अपवादस्थल होता है। मनुष्ययोनिमें यह सामान्यनियम है कि स्त्री-पुरुषके मैथुनमें स्त्री गर्भवती होती है; परन्तु कभी दो स्त्रियों-के पारस्परिक मैथुनमें भी उत्पत्तियां हो जाया करती हैं; देखो सुश्रुतसं. (शारीर २।४७) में। जैसे दो स्त्रियोंमें परस्पर-मेलमें बच्चा हो जाना अपवादस्थल है, वैसे एक ही स्त्रीके स्वयं अपनेसे मैथुनसे भी उत्पत्ति हो जाती है, यह भी दृष्टशास्त्र आयुर्वेदने ही कहा है। इस अपवादस्थलको भी मानना पड़ेगा। देखो सुश्रुतसं. (शारीर २।४८-४९-५०)।

जैसे यह मनुष्योनिमें अपवादस्थल है, वैसे मनुष्योनिसे भिन्न देवता-दैत्ययोनिमें भी उत्पत्तिका लोकोत्तर प्रकार हो सकता है; तब इसमें आश्चर्य वा शङ्का क्या ? यह प्रसिद्ध है कि—एक बारके गिरे वीर्यमें कई लाख अणु होते हैं; जिनमें एक गर्भाशयमें प्रविष्ट होकर बढ़ता है। दशवें मासमें यही सन्तानोत्पत्ति कही जाती है। क्या इस प्रकारमें आश्चर्य नहीं है ? परन्तु यह हमसे अत्यन्त अभ्यस्त होनेसे हमारी दृष्टिमें साधारण प्रतीत होता है। यदि मनुष्ययोनिमें ऐसा प्रकार न होता; वा कोई अन्य प्रकार होता; तब इस उत्पत्ति-वैचित्र्यको सुनकर यहाँ भी असम्भव होनेकी शङ्का होती।

अस्तु। वीर्य रक्तसे क्रमशः पैदा होता है। जैसेकि निरुक्त-परिशिष्टमें—'श्लेष्मा रेतसः सम्भवति। श्लेष्मणो रसः। रसात् शोणितम्; शोणितान्मांसम्, मांसान्मेदः, मेदसः स्नावा, स्नाव्नोऽस्थीनि, अस्थिभ्यो मज्जा, मज्जातो (मज्ज्ञो) रेतः' (१४।६) उसके आगे लिखा है—'तदिदं योनौ रेतः सिक्तं पुरुषः सम्भवति। शुक्रातिरेके पुमान् भवति, शोणितातिरेके स्त्री भवति। द्वाभ्यां समेन नपुंसको भवति। शुक्रेण भिन्नेन यमो भवति। शुक्रशोणितसंयोगान्मातापितृसंयोगाच्च तत् कथमिदं शरीरं परं संयम्यते ? सौम्यो भवति, एकरात्रोषितं कललं भवति। पञ्चरात्राद् बुद्बुदाः, सप्तरात्रात् पेशी; द्विसप्तरात्राद् अर्बुदः, पञ्च-विंशतिरात्रः स्वस्थितो घनो भवति। मासमात्रात् कठिनो भवति। द्विमा-

साभ्यन्तरे शिरः सम्पद्यते । मासत्रयेण ग्रीवाव्यादेशः । मासचतुष्केण त्वग्-व्यादेशः, पञ्चमे मासे नखरोम-व्यादेशः, षष्ठे मुख-नासिकाक्षिश्रोत्रं च सम्भवति । सप्तमे चलनसमर्थो भवति । अष्टमे बुद्धया अध्यवस्यति । नवमे सर्वाङ्गसम्पूर्णो भवति...ततश्च दशमे मासे प्रजायते' (१४।६) 'अस्थिस्नायुमज्जानः पितृतः, त्वङ्मांस-शोणितानि मातृतः' (१४।५) यहांपर क्रमसे पूरी उत्पत्तिका निरुपण किया गया है ।

इस प्रकार सुश्रुतसंहिताके शारीर-स्थानमें भी कहा है—'प्रथमे मासि कललं-द्वितीये घनः । यदि पिण्डः पुमान्, स्त्री चेत् पेशी, नपुंसकं चेद् अर्बुदम् । तृतीये हस्तपादशिरसां पञ्च पिण्डका निर्वर्तन्ते । अङ्ग-प्रत्यङ्गविभागश्च सूक्ष्मो भवति । चतुर्थे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्त-तरो भवति । चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति । द्विहृदयां च नारीं* दौहृदिनीम् आचक्षते' (३।१४) पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति । षष्ठे बुद्धिः । सप्तमे सर्वाङ्ग-प्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्ततरः । अष्टमे स्थिरी-भवति ओजः ।...नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यतमस्मिन् जायते' (३। २९) गर्भस्य केशश्मश्रुलोमास्थिनखदन्तसिरा-स्नायुधमनीरेतःप्रभृतीनि स्थिराणि पितृजातानि । मांसशोणितमेदो - मज्जहृन्नाभियकृत्प्लीहान्त्रगुद-प्रभृतीनि मातृजानि' (३।२९)

इस प्रकार जिस परमात्माकी अचिन्त्य महिमासे निरुक्तके तथा सुश्रुतके कहे प्रकारसे एक वीर्यकी बिन्दुसे बालककी उत्पत्ति सामान्यशास्त्र

*गर्भवती स्त्री जिसके बच्चेके साथ दो हृदय हो जाते हैं—को दौहृदिनी कहा है । 'या दुर्हार्दा युवतयः' (अथर्व. १४।२।२९) आयुर्वेदके मूल अथर्ववेद सं. में भी 'दुर्हार्दाः' का अर्थ यही गर्भवती स्त्रियाँ हैं; उन्हींका नव-वधको आशीर्वाद बताया है । पर स्वा. द. जीने सं. वि. गृहाश्रम प्र. (१७८ पृ.) में 'जो दुष्ट हृदय वाली अर्थात् दुष्टात्मा ज्वान स्त्रियां' यह अर्थ किया है; वह ठीक नहीं है । स्थालीपुलाकन्यायसे स्वा.द.जीके किये अन्य अर्थोंमें इस प्रकारके अर्थके अनर्थ किये गये हैं ।

है, उसी विलक्षणशक्तिवाले भगवान्‌की अद्भुत-शक्तिसे वीर्योत्पादक रक्तमें भी वैसे कृमि कहीं वा कभी (सदा वा सर्वत्र नहीं) हो सकते हैं, जिनके पृथ्वीपर गिरनेसे अनुकूल पञ्चभूतात्मकताको प्राप्त होकर उस प्रमाण-वाले पुरुषकी उत्पत्ति भी हो सकती है—यह विशेषशास्त्र भी उपपन्न हो सकता है । तभी ब्राह्मणभागात्मक-वेदमें भी कहा है—

'विश्वरूपं वै त्वाष्ट्रम् इन्द्रोऽहन् (त्वष्टाके लड़के विश्वरूपको इन्द्रने मार दिया) । तं त्वष्टा हतपुत्रोऽभ्यचरत् (पुत्रके मरनेपर त्वष्टाने इन्द्र-केलिए अभिचार—क्रिया की, (उसके मारनेकेलिए टोना किया) । सोऽभि-चरणीयम् अपेन्द्रँ सोममाहरत् (उसने सोमको अभिमन्त्रित करके रखा)। तस्य इन्द्रो यज्ञवेशसं कृत्वा प्रासहा सोममपिवत् (इन्द्र उस अभिमन्त्रित सोमको याज्ञिकका वेष बनाकर पी गया) स विष्वङ् व्याच्छंत् (वह उसके सारे शरीरमें फैल गया) तस्य इन्द्रियं वीर्यम् अङ्गाद्—अङ्गाद् अस्रवत् (उससे उसके सभी अङ्गोंसे वीर्य निकलने लगा) । यहाँसे शुरू करके वहाँ अङ्गोंकेलिए लिखा है—

'तस्याक्षिभ्यामेव तेजोऽस्रवत् (२) नासिकाभ्याम् एवास्य वीर्यम-स्रवत् (३) मुखादेव अस्य वलमस्रवत्' (४) इत्यादि स्थलमें उन-उन अङ्गोंसे निकले हुए शुक्रद्वारा उन-उन पशुओंकी उत्पत्ति बताकर आगे वहां कहा है—'लोहितादेव अस्य सहो ! (वीर्यम्) ऽस्रवत् । स सिंहोऽ-भवद् आरण्यानां पशूनामीशः' (शत. १२।७।१।८) (उसके लहूसे शुक्र निकला; उससे शेर वन गया) । 'मांसेभ्य एव अस्य ऊर्ग् अस्रवत्, स उदुम्बरोऽभवत् । मज्जभ्य एव अस्य सोमपीथोऽस्रवत्; ते व्रीहयोऽभवन्। एवमस्य इन्द्रियाणि वीर्याणि व्युदक्रामन्' (९)

इस वेदके प्रमाणसे मालूम होता है कि—जैसे अभिचार—क्रियावाले सोमके पीनेसे इन्द्रके सारे अङ्गोंने शुक्रको प्रकट किया; उस शुक्रके गिरनेसे पशु आदियोंकी उत्पत्ति हुई; इसी प्रकार कारण—विशेषसे रक्तवीजके रक्तसे निकले हुए शुक्रसे भी असुरोंकी उत्पत्ति सङ्गत हो जाती है । उक्त

ब्राह्मणकण्डिकामें रक्तसे निकले हुए वीर्यसे सिंहकी उत्पत्ति दिखलाई है। इसलिए ऋषियोंसे रावणद्वारा टैक्समें लिये हुए उनके लहूके घड़ेसे सीताकी उत्पत्ति भी उपपन्न हो जाती है, जिसका संकेत 'ले घट जनक-नगर ते गये। गाडत क्षेत्रमध्य तहँ भये' इस 'रामचरितमानस' (तुलसी-रामायण) बालकाण्डकी प्रक्षिप्त चौपाईमें मिलता है। अमरकोषके प्रक्षिप्त पद्योंकी भांति तुल. रामा. में भी प्रक्षिप्त वचन पुराणादि अन्य ग्रन्थोंके आश्रयणसे दिये गये हैं। तभी दुर्गासप्तशती (८।४१) में रक्त-बीजके रक्तस्थित वीर्यसे उसके प्रमाणवाले असुरकी उत्पत्ति भी सङ्गत हो जाती है। सबल शुक्रके कृमिसे सबल, और निर्बल शुक्राणुसे निर्बल बच्चा पैदा होता ही है। इसलिए 'पिता पुत्रं प्रविवेशा शचीभिः' (अथर्व. ११।४।२०) इस वेदमन्त्रकी साक्षीसे पुत्रको पिताका अंशावतार माना जाता है। रक्तबीजके रक्तमें बीज (शुक्र) रहनेके कारण उसका नाम रक्तबीज हो गया था। तब रक्तबीजके सबल होनेसे उसके बीजसे तत्काल उसके प्रमाणवाला महाअसुर पैदा हो; यह विशेषशास्त्रके द्वारा अपवाद-न्यायसे मानना ही पड़ता है। देवता-दैत्य सभी आयुओंमें युवा ही रहते हैं, जैसेकि वेदमें कहा है—'नहि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकः। विश्वे सन्तो महान्त इत्' (ऋ. ८।३०।१)' तब युवासे भी, बालक उत्पन्न न होकर युवा ही पैदा हुआ करता था।

जोकि—एक सम्प्रदायके प्रवर्तक स्वा. द. जीने कहा है—'जैसे कोई कहे कि—बिना माता-पिताके योग (मैथुन) से लड़का उत्पन्न हुआ; ऐसा कथन सृष्टि-क्रमसे विरुद्ध होनेसे सर्वथा असत्य है' (स.प्र. ३ पृ. ३१) वहां उनसे पूछना चाहिये कि—आपने स. प्र. के ८ म समुल्लासमें कहा है—'परन्तु आदिसृष्टि मैथुनी नहीं होती। (पृ. १३८); तब वे आदिमें माता-पिताके संयोगके बिना उत्पन्न हुए पुरुष सृष्टिमें थे, वा नहीं? यदि नहीं थे; तब आपने उन्हें 'सृष्टि' शब्दसे क्यों कहा? यदि वे सृष्टिमें थे, तब बिना माता-पिताके संयोगके भी रक्तबीजसे असुरोंकी उत्पत्ति

सृष्टिक्रमसे विरुद्ध सिद्ध न हुई। दैत्यों एवं देवताओंके मनुष्यसे भिन्न दैवी सृष्टिके होनेसे उनमें तो ऐसी उत्पत्तिके विषयमें कोई सन्देह नहीं रहता। हां, ऐसी उत्पत्ति कादाचित्क तथा क्वाचित्क होती है, सार्वदिक एवं सार्वत्रिक नहीं।

'रक्तबीज' यह नाम ही सिद्ध कर रहा है कि—उसके रक्तमें बीज (वीर्य) रहा करता था। वैसे तो वीर्य सारे ही शरीरमें रहता है; परन्तु उसके रक्तमें भी वीर्य विशेषरूपसे रहता था, तब अपवादशास्त्र मानकर उससे असुरोंकी उत्पत्ति मानी ही जा सकती है। साङ्ख्यदर्शन विज्ञान-भिक्षु-भाष्यमें शरीरभेदके निरूपणके अवसरपर 'सांसिद्धिका मन्त्रतप-आदि-सिद्धिजाः, यथा—रक्तबीजशरीरोत्पन्न—शरीरादयः' (५।१११) यहां रक्तबीजके रक्तसे भी असुरोंकी उत्पत्ति मानी गई है। इस प्रकार दर्शनशास्त्रसे स्वीकृत होनेसे वैसी उत्पत्ति भी समूल सिद्ध हुई।

जैसे रक्तमें उत्पादक कृमियोंसे असुरोंकी उत्पत्ति कही गई है; वैसे श्वासों (सांसों) में भी उत्पादक कृमियोंकी विद्यमानतामें उनके द्वारा भी उत्पत्ति उपपन्न हो जाती है। इसीलिए 'निःश्वासान् मुमुचे यांश्च युध्य-माना रणेऽम्बिका। त एव सद्यः सम्भूता गणाः शतसहस्रशः' (सप्तशती २।५३) यहां देवीके सांसोंसे भी गणोंकी उत्पत्ति उपपन्न हो जाती है। सांसोंमें भी असंख्य कीटाणु रहते हैं—यह भी प्रसिद्ध ही है। इसी कारण अस्पृश्योंसे सम्भाषण करनेमें भी अस्पृश्यताका विज्ञान देवल आदि मुनियोंने माना है। हमारे शुक्रका कृमि ही बढ़कर बालक हो जाया करता है—यह बात वादि-प्रतिवादिसम्मत है। शुक्रके सारे शरीरमें व्यापक होनेसे उसके कृमि भी शरीरमें जहां-तहां व्यापक रहते हैं; तब विशेष-शास्त्रवश शुक्रके कीटाणुओंका श्वास-द्वारा भी बाहर निकलना सम्भव होनेसे उनके द्वारा भी आदि-शक्तिके गण हो सकते हैं—इसमें कुछ भी असम्भव नहीं। इसीलिए लङ्कादाहके अवसरपर हनुमान्के शरीरसे गिरे हुए पसीनेके

भी मत्स्यद्वारा पीजानेसे उससे भी उस शक्तिवाला मकरध्वज पैदा हो गया था—यह भी सिद्ध हो ही गया—क्योंकि पसीनेमें भी विशेषशास्त्रवश शुक्रकीटाणु रह सकते हैं, क्योंकि-शुक्र सारे शरीरमें व्यापक हुआ करता है। दयानन्दी-सम्प्रदायके संचालक स्वा. द. जी भी यह मान गये हैं— 'तदनन्तर जो धातु बढ़ता है, वह शरीरमें नहीं रहता; किन्तु स्वप्न, प्रस्वेदादि द्वारा बाहर निकल जाता है' (स. प्र. ३ पृ. २६)।

यदि आदि-शक्तिकी शक्ति जाननी हो; तब ऋसं. के वागाम्भृणीय सूक्त (ऋसं. १०।१२५) तथा वादियोंसे मान्य देवीभागवत-पुराणमें देखनी चाहिये। 'इन्द्रं या देवी सुभगा जजान' (अथर्व. ६।३८।१) इसके अनुसार जो देवी इन्द्रको भी पैदा करती है; उसकी विशिष्टशक्तिमें कौन सन्देह कर सकता है?

विशेषशास्त्र क्वाचित्क तथा कादाचित्क होता है—यह नहीं भूलना चाहिये। इसीलिए शतपथमें—'मांसेभ्य एव अस्य पलाशः समभवद्' (१३।४।४।१०) यहांपर प्रजापतिके मांससे पलाशकी उत्पत्ति बताई गई है। बिच्छूकी उत्पत्ति भी वादियोंने सुनी होगी कि—गधेके पेशाव, भैंसके गोवर तथा दहीके योगसे कई दिनके बाद बिच्छू पैदा हो जाते हैं। क्या यहां हमारी शक्ति है? नहीं-नहीं। किन्तु यहाँ वही भगवान्की अचिन्त्य महिमा है। जो वह उस नियतयोनिमें विचित्र उत्पत्ति कर सकता है, वह अन्य योनिमें भी वैसा कर सकता है। इसलिए वेदमें- 'इन्द्रे विश्वानि वीर्याणि कृतानि कर्त्वानि च' (ऋ. ८।६३ (५२)।६) कहा है कि-परमेश्वरमें सब प्रकारकी शक्तियां हैं। नहीं तो उसकी उस योनिमें भी वैसे उत्पादनकी शक्ति कहांसे आई? जैसे सामान्यशास्त्रके अपवाद भी हुआ करते हैं; वैसे उसके सारे नियम सामान्यशास्त्र होते हुए अपवाद भी साथ ही रखते हैं। जब मनुष्ययोनिमें ही उत्पत्तिविषयमें कई विचित्रताएं दीख पड़ती हैं; तब देव-दैत्ययोनिमें जो मनुष्ययोनिसे बहुत उन्नत हैं—विचित्र उत्पत्तियाँ होजाएं; तो इसमें क्या आश्चर्य?।

उसके सामान्य नियम हम-साधारणोंकेलिए हैं। वह तो उन नियमोंसे अतीत है। वह सर्वथा स्वतन्त्र है, हमारी इच्छाके अधीन वा हमारे दृष्टिकोणके अधीन नहीं। क्या हम निराकार होकर काम कर सकते हैं? पर वह निराकार होकर भी कर्म करनेमें समर्थ है। क्या हमारी वा परमात्माकी समान शक्ति होती है कि—हमारेलिए वा उसके अपने लिए समान नियम हों? हममें भी जो विशिष्ट योगी, ऋषि, मुनि होते हैं; उनमें भी उसीके नियम वा कलाएं वा विभूतियाँ हुआ करती हैं, तभी वे भी लोकोत्तर कर्म करनेमें समर्थ हो जाते हैं; तब उसका अपना तो कहना क्या?' सुनिये उस भगवान्की वेदप्रोक्त विचित्रताएँ—

'त्वं स्त्री, त्वं पुमान् असि, त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि (गच्छसि), त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः' (हे भगवन्! तू ही स्त्री बन जाता है; और तू ही पुरुष। तू ही कुमारी वा कुमार बन जाता है। तू ही बूढेका नाटक करके डंडेके सहारे चलने लगता है; तू ही जब प्रकट होता है (जनी प्रादुर्भावे); तब तेरे मुख सभी ओर हो जाते हैं—अथर्व. १०।८।२७)। 'उत एषां पिता, उत वा पुत्र एषाम् उत वा ज्येष्ठ-उत वा कनिष्ठः। एको ह देवो मनसि प्रविष्टः, प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः' (अथर्व १०।८।२८) (वही पिता वा पुत्र, ज्येष्ठ वा कनिष्ठ है, वही अन्तःकरणमें प्रविष्ट है, और वही गर्भके अन्दर रहकर फिर प्रकट होता है) यह परमात्माके लोकोत्तर कर्मोंका परिचय है। यही अवतार-रहस्य है। अवतार तो हम भी उसीके हैं; पर थोड़ी कलावाले और सामान्यकोटिके होनेसे उस गणनामें नहीं आते। फिर हमसे ऊपर उठे हुए ऋषि, मुनि, योगी आदि भी अवतारकोटिसे नीचेके उसकी विभूतियाँ मानी जाती हैं। फिर उससे ऊपरका दर्जा अवतारोंका है, उनमें अंशावतार-पूर्णावतार आदिका भेद हुआ करता है। देव-दैत्य योनि तो मनुष्ययोनिकी अपेक्षा भिन्न तथा अद्भुत शक्तिवाली होती हैं; तब उनमें ऐसी विलक्षणता उपपन्न हो सकती है। केवल विचारदृष्टि अपेक्षित होती है।

हम तो कहते हैं कि-जो तर्कप्राण, हैतुकी (दलीलबाज) प्राचीन-इतिहासोंमें ऐसी विचित्र उत्पत्तियाँ सुनकर उनको सम्भव माननेमें सिर हिलाता है, वह नास्तिक है, परमात्माके 'सर्वशक्तिमान्' इस नामका उपहास कराता है। उसने 'न ते विष्णो ! जायमानो न जातो देव ! महिम्नः परम् अन्तम् आप' (ऋसं. ७।९९।२) (हे भगवन् ! पैदा होने-वाला वा पैदा हो चुका हुआ प्राणी तेरी महिमाका अन्त नहीं पा सकता) इन वेदमन्त्रोंका कभी स्वाध्याय ही नहीं किया। वह आत्मचिन्तन करे कि-मेरी उत्पत्तिमें क्या असम्भव नहीं है ? तब संसारके अन्य सब विचित्र पदार्थोंकी उत्पत्तिमें अपना मस्तिष्क लगावे। लम्बे विचार करनेपर उसकी परमात्म-महिमामें श्रद्धा अवश्य होगी; क्योंकि—'सत्यः सो अस्य महिमा' (ऋ. ८।३।४, साम. उत्तरा. १६।४।२।२) जब उसकी महिमा सत्य है, तब उसमें श्रद्धा अवश्य होगी। वेदमें कहा है—'दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्—सत्यानृते प्रजापतिः। अश्रद्धाम् अनृते अदधात्, श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः' (यजुः माध्यं. १९।७७) (भगवान्ने असत्यमें अश्रद्धा, तथा सत्यमें श्रद्धा रखी है; दोनोंका स्वरूप देखकर भगवान्ने उनका निर्णय किया है)। हाँ, अज्ञानके आवरणसे कभी सत्य भी असत्य दीखने लग जाता है; पर जब अज्ञानका आवरण नष्ट हो जाता है; तब श्रद्धा भी पैदा होती है। जब श्रद्धा पैदा हो जाती है; तो 'श्रद्धया सत्यमाप्यते' (यजुः माध्यं. १९।३०) तब उसे सत्य मिल जाता है। रहस्यका ज्ञान हो जाता है।

एक पाश्चात्य महाकवि टेनिसनने कहा है—'**By faith and faith alone enabrace, Beleving where, we can not prone**' (हमें श्रद्धाका, केवल श्रद्धाका आश्रयण करना चाहिये, क्योंकि—यह विषय हम तर्क-बलसे सिद्ध नहीं कर सकते। उसमें विश्वासके बिना कोई गति नहीं। इसलिए कहा गया है—'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तान् तर्केण साधयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्' (महाभारत भीष्मपर्व ५।१२, पञ्चदशी) (जो अचिन्त्य भाव हों; उसपर तर्कको न चलावे। प्रकृतिसे जो ऊपर है, उसे अचिन्त्य कहा जाता है। श्रद्धाके छोड़नेपर 'अज्ञश्चाऽश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोस्ति न परो, न सुखं संशयात्मनः' (४।४०) (अज्ञानी एवं अश्रद्धालु हो; प्रत्येक बातपर संशय ही किया करे; वह नष्ट हो जाता है। संशयालुकेलिए न इहलोक है और न परलोक है, न उसे कहींसे सुख मिलता है) पुरुषकी यह दुर्दशा हो जाती है। इसलिए वेदमें भी पुरुषके लिए श्रद्धाकी प्रार्थना कही है—'स मे श्रद्धां च, मेधां च जातवेदाः प्रयच्छतु' (अथर्व. शौ. १९।६४।१) 'श्रद्धे ! श्रद्धापयेह नः' (ऐ श्रद्धा ! हमें श्रद्धालु बना) 'श्रद्धा च मे' (यजुः माध्यं. १८।५) 'व्रतं च श्रद्धां च उपैमि' (यजुः माध्यं. २०।२४) 'ऋतं च यत्र श्रद्धा च' (अथर्व. १०।७।११)

वास्तवमें परमात्माके सीमाबद्ध, वा सङ्कुचित कोई ९-१० नियम नहीं हैं। यदि उसके नियम परिमित हों; तो वह सर्वशक्तिमान् कैसे हो ? उसके उत्सर्ग-अपवाद आदि अनेक नियम हैं। इस कारण उससे प्रचालित सनातनधर्ममें भी अधिकारियोंकी विचित्रतासे विविध नियम होते हैं। पुरुषोंसे चलाये हुए सम्प्रदायोंमें तो परिमित नियम हुआ करते हैं। परमात्माके नियम परिमित नहीं होते, किन्तु अपरिमित ही; यही उसकी सर्वशक्तिमत्ताका प्रमाण है। उसकी शक्तिको अपनी शक्तिसे नहीं तोलना चाहिये।

इन्द्ररूप परमात्माकी महिमा सुनिये—'यद् द्याव इन्द्र ! ते शतं शत भूमीरुत स्युः। न त्वा वज्रिन् ! सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी' (सामवेद कौ.सं. ऐन्द्रपर्व ३।५।६) (चाहे सौ द्युलोक वा भूमिलोक हों, चाहे हजार सूर्य हों; हे इन्द्र ! तुम्हें नहीं पा सकते।) 'यस्य उरुषु त्रिषु विक्रमणेषु-अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा' (ऋ. १।१५४।२) (जिसके तीन पैरोंमें सारे भुवन समा गये हैं)। 'य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थम् एको

विममे त्रिभिरित् पदेभिः' (ऋ. १।१५४।३) (इस संसारको जिसने अकेले तीन पगोंसे नाप लिया)। 'ये मा क्रोधयन्ति लपिता हस्तिनं मशका इव' (अथर्व. ४।३६।९) वह हाथीकी तरह है, और उसे क्रोध दिलानेवाले प्रतिपक्षी मच्छरकी भांति कहे गये हैं। तब उस परमेशानकी महिमासे रक्तबीजके रक्तसे महान् असुरोंकी उत्पत्तिमें कुछ भी आश्चर्य नहीं।

शेष है देवी-द्वारा दैत्यका रक्त पीना कि—'यह तो राक्षसत्व है'—इसपर जानना चाहिये कि-शत्रु-दुःशासनका रक्त भीमसेनने भी पिया था। आजकल भी रोगी लोग इनजैक्शन द्वारा रक्त अपने अन्दर डलवाते हैं; यह भी एक रुधिरपान-सा है। वे राक्षस नहीं हो जाते। सूर्य देवता लहू वा मल आदिको खींचता है, इससे वह अशुद्ध नहीं हो जाता। इस प्रकार यहाँ भी जान लेना चाहिये। भगवती दुर्गाको 'अनलात्मिका' (अग्निरूपिणी) कहा है, सो अग्नि भी मल आदिसे स्वतः अशुद्ध नहीं हो जाता।

तब प्रतिपक्षियोंको समाधान-बुद्धिका आश्रय लेकर ऐसी जिज्ञासाएं वृद्ध-अनुभवी विद्वानोंसे समाहित कर लेनी चाहियें। जो उसकी तंग खोपड़ी में वा तंग बुद्धि में न समा सके; वह असम्भव है, यह कभी नहीं मानना चाहिये, नही तो वैसे लोग 'बौद्ध' इस उपाधिको अनायास प्राप्त कर लेंगे। जो कि 'रक्तबीजके शरीरसे एक बिन्दु भूमिमें पड़नेसे उसके सदृश रक्तबीजके उत्पन्न होनेसे सब जगत्‌में रक्तबीज भर जाना, रुधिर की नदी बहना आदि गपोड़े बहुतसे लिख रखे हैं। जब रक्तबीजसे सब जगत् भर गया; तो देवी और देवीका सिंह और उसकी सेना कहां रही थी। जो कहो कि देवीसे दूर-दूर रक्तबीज थे, तो सब जगत् रक्तबीज से नहीं भरा था। जो भर जाता तो पशु-पक्षी आदि कहां रहते। वहां यही निश्चित जानना कि दुर्गापाठ बनाने वाले पोपके घरमें भागकर चले गए होंगे; देखिए, क्या ही असम्भव कथाका गपोड़ा

भंगकी लहरीमें उठाया, जिनका ठौर न ठिकाना (स. प्र. ११ समु. पृ. २१२) यह स्वा.द. जीने लिखा है; वह तो, उनकी साहित्यकी अनभिज्ञता बताता है।

इससे मालूम होता है कि—स्वामी जी वैदिक-साहित्य तथा लौकिक-साहित्यकी शैलीसे अनभिज्ञ थे। वैदिक-साहित्यमें 'अर्थवाद' आता है, और लौकिक-साहित्यमें 'अतिशयोक्ति अलंकार' आता है, लाक्षणिक प्रयोग भी आया करते हैं। वे दोष नहीं माने जाते; किन्तु उसमें तात्पर्य लेना पड़ता है। इसमें मीमांसादर्शन (६।७।२२ सूत्र) का शाबरभाष्य द्रष्टव्य है 'अपरिमितं देयम्' इति प्रश्नोपरि 'यच्च-अपरिमितशब्दे प्रसिद्धिर्बाध्यते इति समुदायप्रसिद्धिरवयव प्रसिद्धेर्बाधिकैव समधिगता। ननु नात्र प्रसिद्धिः, लक्षणा इयम्। यद् बहु, तद् न शक्यं परिमातुम्। तस्माद् अपरिमितत्वेन लक्ष्यते बहुत्वम् —इति। तच्च न अनेकस्मिन्नशक्यपरिमाणे सति बहुषु रूढम्। अपरिमितमस्य धनम्, बहु इति गम्यते'। (जहां 'अपरिमित' शब्द आजावे, वहां 'बहुत' यह अर्थ लक्षणासे हुआ करता है।) इसी प्रकार रक्तबीजके अपरिमितत्वमें भी जान लेना चाहिए, रक्तबिन्दुओंके बहुत होनेसे दैत्य भी बहुत संख्यामें हो गए थे। उन्हें ही इस अतिशयोक्तिसे कहा गया है।

'सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्याः' 'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामान् अवाप्नोति' में सभी संसार भरके ब्राह्मण वा सभी तरहकी कामनायें नहीं ली जातीं; किन्तु उस देश-कालके नियत घरमें आये हुए ब्राह्मण तथा पूर्णाहुतिके प्रस्ताव में आये हुए मनोरथ ही लिए जाते हैं। कहा जाता है कि 'भारतमें पहले समयमें तो घी-दूध की नदियां बहती थीं, अब तो विदेशोंमें ही दूधकी नदियां बह रही हैं'। क्या स्वा.द.जी यहाँ तात्पर्य न लेकर सचमुचकी नदियाँ ले लेंगे। यह भी कहा जाता है कि—'सारा आकाश तारोंसे भरा हुआ है'। तब इसका क्या यह अर्थ माना जावेगा कि—वहाँ तिल रखने भर की भी जगह नहीं। यदि ऐसा है, तब अन्य

ग्रह-नक्षत्र वहां गतागत कैसे कर सकेंगे ? तब तो आकाशमें पृथ्वी आदि लोक भी कैसे रह सकेंगे ? सो ऐसे अवसर पर अतिशयोक्तिका केवल तात्पर्य लेना पड़ेगा; कि---जिधर देखो, उधर रक्तबीज ही दीख रहे थे। स्वा.द.जीने ऊपरके अपने वाक्यमें 'भंग की लहरी' लिख दी है; क्या उन्होंने स्वयं यहां अतिशयोक्ति-अलंकारका प्रयोग नहीं किया, क्या भांग की भी कोई नदी वह रही थी कि—उसकी लहर दुर्गापाठ वालों को बहा ले गई; अब यह स्वामीजीका अपना गपोड़ा हुआ या नहीं ? यदि इसका तात्पर्य ग्राह्य है, तो दुर्गा-सप्तशतीमें भी तात्पर्य ग्राह्य है कि—देवी-सिंह आदिसे भिन्न स्थल पर जहां-तहां रक्तबीज दीख रहे थे।

वस्तुतः स्वा. दयानन्दजीको 'तैश्चासुरसृक्-सम्भूतैः असुरैः सकलं जगत्। व्याप्तमासीत् ततो देवा भयमाजग्मुरुत्तमम्' (८।५२) इस दुर्गा-सप्तशतीके 'सकलं जगत्' से भ्रम पड़ गया, जिससे उन्होंने शङ्का उठाई। वस्तुतः यहां 'जगत्' का अर्थ वहाँकी 'पृथ्वी' है, सारा संसार नहीं। दुर्गासप्तशतीकार वहाँ की पृथ्वीके लिए 'जगती' शब्दका प्रयोग करते हैं। देखिए—'तमायान्तं समालोक्य सर्वदैत्य-जनेश्वरम्। जगत्यां पातयामास भित्त्वा शूलेन वक्षसि (१०।२६) यहां शुम्भको मारकर जगत्में गिराना लिखा है। इसी प्रकार रामायणमें 'पेतुश्च जगतीतले (६।७४।५७) में भी 'जगती'का अर्थ वहांकी 'पृथिवी' ही है, 'स दीर्घमभिनिःश्वस्य जगती-मवलोकयन्' (११६।६) यहाँ भी 'जगती' का अर्थ पृथिवी ही है। इसी प्रकार 'जगत्यां जात-संभ्रमान्' (११६।२४) में भी यही अर्थ है। इस प्रकार 'नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः (१।७) किरातार्जुनीयमें भी यही अर्थ है। सो 'जगत्' का अर्थ वहां पर 'पृथ्वी' ही है कि---वहांकी पृथ्वीमें गिराया। तब जगत् का अर्थ वहां की पृथ्वी होनेसे देवीकी सेना आदिके स्थानसे अवशिष्ट खाली स्थानमें जहां-तहां रक्तबीजों-को देखकर वहां आलङ्कारिक-शैलीसे रक्तबीजोंका भर जाना लिखा है; तब उस पर हंसी उड़ाना स्वामीका अज्ञान है। अस्तु

वीर्य सब शरीरमें व्यापक होता है, वह सर्वसाधारणकी इन्द्रियसे निकलता है, अन्य स्थानसे नहीं, पर अपवाद-न्यायसे रक्तबीजके रक्त-में ही यह शक्ति थी कि रक्त निकलनेके समय उसमें व्यापक शुक्राणु भी बाहर निकल आते थे। वरसे प्राप्त अमोघतावश वे भूमिमें प्राप्त होकर अनुकूल पांच भूतोंको आकृष्ट करके उसी क्षण असुर बन जाते थे। जैसे कि गूलरके फल तोड़ने पर बाहरी वायु लगनेसे उसके अन्दर छोटे-छोटे मच्छर तत्क्षण पैदा हो जाते हैं। देव-दैत्योंके शरीरोंमें हमारे शरीरोंकी अपेक्षा विलक्षणता और अधिक-शक्तिमत्ता स्वाभाविक ही है। यह उत्पत्ति केवल पौराणिक न रह कर पूर्व कहे प्रकार से वैदिक, दार्शनिक तथा वैज्ञानिक भी सिद्ध हो गई। दुर्गासप्तशतीमें देवीके माहात्म्यकी विचित्रता बताई गई थी कि—उसने रक्तबीज-जैसे कभी न मरनेवालेको भी मार डाला। उसी रक्तबीजके रक्तसे असुरोत्पत्ति विचित्र इष्ट नहीं। विचित्र इष्ट हो भी, तो उसे असम्भव इष्ट नहीं।

(१७) गोवर्धन-पर्वतका उठाना।

श्रीमद्भागवत-पुराणमें भगवान्-श्रीकृष्णका गोवर्धन-पहाड़ उठाने-का वर्णन है, उसमें स्थूलदृष्टि वाले असम्भव मानकर अन्य प्रकारसे सङ्गति लगाने की चेष्टाएं करते रहते हैं; उसमें यह जानना चाहिए कि—जैसे वादी पुराणपर अविश्वास करते हैं; वैसे रामायण-महाभारत पर नहीं; और महाभारत श्रीकृष्ण भगवान्का गोवर्धन-पर्वतका उठाना अनुमोदित करता है। बल्कि वहाँ तो इसे खेल-सा बताया है। देखिए---श्रीकृष्णका निन्दक शिशुपाल गोवर्धन-पर्वतके उठानेसे श्रीकृष्णके महत्त्वको न मानता हुआ कहता है कि---गोवर्धन तो छोटी सी बाँबी है, उसको यदि श्रीकृष्णने सात दिनोंतक उठाये रखा; तो इसमें हैरानीकी क्या बात ?—'वल्मीकमात्रः सप्ताहं यद्यनेन धृतोऽचलः। तदा गोवर्धनो भीष्म ! न तच्चित्रं मतं मम, (सभापर्व ४१।६) परन्तु वादी तो इसे

असम्भव-सा मानकर उसको स्वीकृत ही नहीं करते। ऐसा करके वे श्रीकृष्णकी महत्ता स्वयं स्वीकार करते हैं। रामायणमें हनुमान्‌का द्रोण-पर्वतको उखाड़ कर लाना युद्धकाण्डमें प्रसिद्ध ही है। महाभारतमें भी उसका समर्थन मिलता है; तब अणिमा आदि सिद्धियोंवाले-जिनके प्राप्त होनेपर कुछ भी असम्भव नहीं रह जाता; 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, धर्मस्य, यशसः, श्रियः। ज्ञान-वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा' (विष्णु पु. ६।४।७४) वादियोंसे समर्थित इस श्लोकके अनुसार 'भगवान्' श्रीकृष्ण-के पर्वत उठानेमें क्या आश्चर्य रहे ?

उसमें यह सोचना चाहिए कि—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' जब पुराण श्रीकृष्णको 'परमात्मा' कहते हैं, श्रीमद्भागवतके १० मस्कन्ध २७वें अध्याय में उसी प्रकरणमें जब इसकी स्पष्टता है; तब इसमें आश्चर्यका क्या अवकाश ? परमात्माकी साकारता तथा अवतारधारणके विषयमें हम 'आलोक' (४) में प्रकाश डाल चुके हैं।

परमात्माकी शक्ति अग्निको ही ले लीजिए, उसमें कितनी बड़ी शक्ति है। यही अग्नि कितनी भारी रेलगाड़ीको जिसका एक पहिया भी कितने मन भारी होता है, हजारों आदमोसे लदी हुई उसे कितने वेगसे दौड़ाकर ले जाती है, जिसके मुकाबलेमें घोड़े वा हिरण भी समर्थ नहीं। ज्वालामुखी पर्वतोंमें निराकाररूपसे स्थित वह अग्नि जब साकार होती है, और फटती है, तब ज्वालामुखी पहाड़ भी फट जाते हैं। सारी पृथ्वी भी तब कांप जाती है। इसीकी परिभाषा 'भूकम्प' है। सोचना चाहिए कि—पृथ्वी कितनी भारी है। तब उसी पृथिवीको यदि अग्नि गेंद की भांति हिला देती देती है; तब अग्नि-आदिका भी नियन्ता (देखिये केनोपनिषद्), सर्वशक्तिमान्, 'यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सह आहुः। यस्य इमाः प्रदिशो यस्य बाहू, कस्मै देवाय हविषा विधेम' (ऋसं. १०।१५४।४) 'य उ त्रिधातु पृथ्वीं उत द्याम् एको दाधार भुवनानि विश्वानि' (१०।१५४।४) 'स दाधार पृथिवीं द्यामुत इमाम्' (ऋ. १०।१२१।१, यजुः माध्यं: २३।१) इस प्रकार पृथिवी आदिका भी धारण करने वाला, पृथिवीकी अपेक्षा भी बड़े-बड़े ग्रह-नक्षत्रोंका आधारस्तम्भभूत परमात्मा पृथिवीके भी थोड़े स्थानमें स्थित पर्वतको उठानेमें भला असमर्थ कैसे हो सकता है ?

जिस सर्वशक्तिमान् की शक्तिसे ही बड़े भारी ग्रह-पृथ्वी आदि आकाशमें कई घूम रहे हुए, और कई स्थिर हुए-हुए ठहरे हैं; अथवा यही कहना चहिए कि—जिनका आधार परमात्मा ही है। 'यस्य उरुषु त्रिषु विक्रमणेषु अधि क्षियन्ति भुवनानि विश्वानि' (ऋसं. १।१५४।२) 'य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थम् एको विममे त्रिभिरित् पदेभिः (३) (यहाँ पर विष्णु देवता है) 'शिरस्ते गगनं देव ! नेत्रे शशिदिवाकरौ। निःश्वासः पवनश्चापि तेजो ऽग्निश्च तवाच्युत ! (महा. वनपर्व २०१।१५-१६) 'मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च। क्रीडन्निवैतत् कुरुते परमेष्ठी पुनः-पुनः' (मनु. १।८०) इस प्रकारकी बड़ी शक्तिवाले उसी परमात्माने यदि श्रीकृष्ण-रूपमें सम्पूर्ण जगत्के परमाणुरूप अंशसे भी बहुत छोटे गोवर्धन पर्वतको ७ दिनकेलिए हाथकी अंगुलिसे उठा लिया, तब इसमें क्या आश्चर्य या असम्भव है ?

इस प्रकार वेदमें 'कस्मिन्नङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य' (अथर्व १०।७।३) 'स्कम्भेन इमे विष्टभिते द्यौश्च-भूमिश्च तिष्ठतः' (अ. १२।१।१७) (स्कम्भ परमात्मा)। 'व्यस्तभ्ना रोदसी' (ऋ. ७।९९।३) यहांपर विष्णु देवता है। यहाँ पर परमात्माको ही पृथिवी तथा द्युलोकका आधार कहा है। तब परमात्मावतार श्रीकृष्णके पर्वत उठानेमें क्या आश्चर्य है ? जो पुराणादिमें कहे हुए श्रीकृष्णके परमात्मावतारत्वको न मानें; वह गोवर्धनपर्वतके उठानेमें भी शङ्का न करे। 'गोवर्धनपर्वतके उठाने वाले श्रीकृष्ण हैं—यह भी पुराण कहते हैं, वे ही परमात्माके अवतार भी हैं, साधारण पुरुष नहीं, यह भी पुराण ही कहते हैं, परन्तु प्राकृत लोग पुराणवर्णित गोवर्धनपर्वतका उठाना तो ठीक मान कर उस पर शङ्का

करते है, परन्तु वहीं पर कहे हुए भगवान्-कृष्णके परमात्मावतार होनेको जान-बूझकर ही छिपा देते हैं—यह अन्याय्य है।

यदि पुराण साधारण-पुरुषका वैसा कार्य दिखलाते; तब तो शङ्का-कर्ताओंका शङ्का करनेमें प्रथम-अधिकार था; परन्तु पुराण तो श्रीकृष्णको परमात्मावतार मानकर उनके लोकोत्तर कर्म बताते हैं; तब परमात्माकी वैसी शक्तिमें सन्देह कैसा ? इस प्रकार तो वादी भगवान्कृष्णकी सत्ता ही न मानें; क्योंकि-श्रीकृष्णकी सत्ता पुराण-इतिहास द्वारा ही तो वादियोंने जानी है; तब उसमें वर्णित श्रीकृष्णका परमात्माका अवतार होना भी मान लेना चाहिये। उनमें वर्णित उनकी शक्ति भी मान लेनी चाहिये। अन्यथा भगवान्कृष्णकी सत्तामें पुराण-इतिहासके अतिरिक्त अन्य उनके पास क्या प्रमाण है ? इस प्रकारकी शङ्काओंको दूर करनेके-लिए यह वेदमन्त्र सदा स्मरण रख लेना चाहिये कि–'एक एव अग्नि-र्बहुधा समिद्धः, एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः। एकैव उषाः सर्वमिदं विभाति; एकं वा इदं विबभूव सर्वम्' (ऋसं. ८।५८।२) (एक ही अग्नि बहुत प्रकारोंसे जल रही है, एक ही सूर्य सारे जगत्में पहुंचा हुआ है। एक ही उषा इस सारे मण्डलको चमका रही है। एक ही परमात्मा इस सारे संसारमें प्रभु है।) इसलिए भगवान्-कृष्णकेलिए महाभारतमें कहा है—'पृथिवीं चान्तरिक्षं च दिवं च पुरुषोत्तमः। विचेष्टयति भूतात्मा क्रीडन्निव जनार्दनः' (उद्योग. ६८।१०) इस प्रकारके भगवान्-श्रीकृष्णके आगे पहाड़ भला कितनी मात्रा है, जिसके उठानेमें वह शक्ति किसी दूसरेसे उधार ले आते।

'प्र वक्षाणो अति विश्वानि सहांसि अपारेण महता वृष्ण्येन' (ऋ. १०।४४।१) अर्थात् वह अपने अपार-बलसे दूसरोंके तेजोंको कम कर दिया करता है। 'न तत् ते अन्यो अनुवीर्यं शकन् न पुराणो मघवन्! नोत नूतनः' (ऋसं. १०।४३।५) अर्थात्—परमात्माके बलको न तो कोई पुराना और न नया सम्पन्न कर सकता है; और न ही उस बलको माप

सकता है। परमात्माकी महिमा सुनिये—'यद् द्याव इन्द्र! ते शतं, शतं भूमीरुत। न त्वा वज्रिन्! सहस्रं सूर्या अनु न जातम् अष्ट रोदसी' (ऋ. ८।७०।५, साम. ऐन्द्रपर्व ३।५।६, अथर्व. २०।८१।१, २०।९२।२०) यहांपर कहा गया है कि–हे इन्द्र! चाहे सौ द्युलोक हों; वा सौ पृथिवियाँ; चाहे हजारों सूर्य हों; तुम्हारे बलको प्राप्त नहीं कर सकते। यद्यपि यहां देवता इन्द्र है; तथापि श्रीकृष्णभगवान्ने 'देवानामस्मि वासवः' (गीता १०।२२) इन्द्रको अपनी विभूति कहा है। इसी प्रकार 'विष्णु' (१०।२१) 'सूर्य' (२१) शंकर–रुद्र (२३) अग्नि (२३) बृहस्पति (२४) इनको भी अपनी विभूति माना है; तब इन देवतावाले मन्त्रमें श्रीकृष्णका ग्रहण किया जा सकता है। 'इन्द्रे ह विश्वानि भुवनानि' (अथर्व. २०।११।८।४) इन्द्रने सारे भुवनोंको उठा रखा है। यह कैसे सङ्गत हो सकता है ? यदि संगत हो सकता है; तो इन्द्र जिनकी विभूति है, ऐसे श्रीकृष्णमें वह क्यों उपपन्न नहीं हो सकता ? पुराणोंने तो श्रीकृष्णको परमात्मावतार बताकर उन द्वारा गोवर्धन-पर्वतको उठाना बताया है; उसे साधारण-पुरुष कहकर नहीं; तब उससे वादियोंको क्यों लघुशङ्काएं होती हैं ?

वादियोंने रेलवे-इञ्जन देखा होगा; वह कितना भारी होता है, उसका मुख जब बदलना होता है, तब उसे चक्रयन्त्रमें रखा जाता है; तब इतने भारवाले भी उसको एक ही पुरुष घुमाता है। यह कैसे ? यदि कहा जाय कि–चक्रमें ही यह विशेषता है, जिससे एक पुरुष भी उसे घुमा लेता है। तब प्रष्टव्य है कि–वह चक्र किसने बनाया ? वहां यही उत्तर है कि–जिसने वह इञ्जन आविष्कृत किया; उसीके मस्तिष्कने उसके मुख बदलनेका भी 'लघूपाय' बना लिया। इस प्रकार जिस-भगवान्ने पर्वत बनाया; क्या वह उसके उठानेका प्रकार नहीं जान सकता ? जिन्होंने रेलगाड़ी बनाई है; यदि वह गिर पड़ती है; तब उसके उठानेका 'क्रेन' भी आविष्कृत कर दिया है। जब राक्षसराज रावणने

ही पहाड़को उठाया; तब उसे मारनेवाले श्रीरामके दूसरे अवतार श्री-कृष्णका पर्वत उठानेमें क्या आश्चर्य ?

आजकल तो ऐसे यन्त्र वैज्ञानिकोंने आविष्कृत कर दिये हैं; जिनसे पहाड़ोंको तौला जाता है। पहाड़ तो क्या; स्टनफोर्ड युनिवर्सिटीके प्रोफेसर डा० विलियम हैन्सनने पृथिवीके भार मापनेवाला एक यन्त्र भी आविष्कृत किया है, उससे उसने जाना है कि—पृथिवीका सारा भार-६,००,००,००,००,००,००,००,००,००० टन है (इसमें वीस अङ्क हैं—इनमें उन्नीस शून्य हैं) टन २७॥ मनका होता है (दीपक १।३)।

इस प्रकार यन्त्रोंसे ही घरोंको नींवसे उखाड़कर चक्रोंके ऊपर रखा जाता है; और उन्हें दूसरे स्थान भेजा जाता है। इस प्रकार बड़े-बड़े इञ्जनोंको मालगाड़ियोंमें, वा पानीके जहाजोंमें भेजा जाता है; यदि ऐसा है; तब वैज्ञानिक-शिरोमणि, योगिराज, परमात्मावतार भगवान् श्रीकृष्ण ऐसे यन्त्रोंके जानकार हो सकते हैं, इसमें क्या आश्चर्य है ? उनके पास तो यन्त्रराज सुदर्शनचक्र था, जिसके कारण वे सब प्रकारके कार्य कर सकते थे—यह शङ्काकर्ताओंको जान रखना चाहिये। वास्तवमें तो यन्त्रोंसे भी बढ़कर उनकी अपनी लोकोत्तर-शक्ति थी; जिनसे वे बड़े-बड़े काम कर लेते थे; तब श्रीकृष्णके पर्वत उठानेमें क्या सन्देह ?

विचार-दृष्टिसे यदि शङ्काकर्ता लोग देखें; तो उन्हें शङ्का ही न हो सके। एक छोटी चींटीको ही देख लीजिये—वह कितना भार उठा सकती है ? वह पुरुषकी अपेक्षा वहुत छोटी है। वह अपने परिमाणके अनुपातमें पुरुषके प्रमाणकी अपेक्षा बड़ा भार उठाती है। यदि ऐसा चींटी कर लेती है; तब वह महान् परमात्मा—जिसकेलिए कहा है—'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां' (यजुः माध्यं. १३।४) अपने अनुपातके अनुसार क्या चींटीसे भी छोटे पहाड़को उठानेमें समथ नहीं हो सकता ? जो परमात्मा एक क्षणमें ही 'क्वेटा' जैसे महानगरको भूकम्प द्वारा उठाकर फैंक देता है, और उसे नष्ट कर देता है, काङ्गड़ा पहाड़को ही हिला देता है, पृथ्वीको

एक क्षणमें विदीर्ण कर देता है; उसकेलिए पर्वत उठाना क्या कठिन है ?। वास्तवमें गोवर्धन-पर्वतका एक सप्ताह भर कनिष्ठिका अंगुलीपर उठाना उसका विनोदमात्र है ? यह शंकाकर्ताओंको सोचना चाहिये।

इन्हीं शङ्काकर्ताओंके दादागुरु स्वा. दयानन्दजीने भी यह माना है। उन्होंने लिखा है—'क्या ईश्वरके पृथिवी, सूर्य, चन्द्रादिजगत्के बनाने, धारण और प्रलय करने रूप कर्मोंसे, कंस-रावणादिका वध और गोवर्धनादि पर्वतोंका उठाना बड़े कर्म हैं ? जो कोई इस सृष्टिमें परमेश्वरके कर्मोंका विचार करे; तो 'न भूतो न भविष्यति' ईश्वरके सदृश कोई न है, न होगा' (स.प्र. ७ म समु. ११७) एक अन्य-आर्यसमाजीने भी 'भगवान्-कृष्ण' ट्रैक्टमें लिखा है—'यदि श्रीकृष्ण ईश्वर या ईश्वरके अवतार थे; और उन्होंने गोवर्धन-पर्वतको अपनी अंगुलिपर उठा लिया, तो इसमें उनका कोई महत्त्व नहीं; क्योंकि-ईश्वरने तो अनन्त ब्रह्माण्डोंको उठाया हुआ है' (पृ. ७)। हम भी परमात्माके अवतार श्रीकृष्णका गोवर्धन-पहाड़ उठाना विनोदमात्र ही मानते हैं, उसमें श्रीकृष्णभगवान्को कोई मेहनत करनी पड़ी हो; ऐसा नहीं मानते; यह तो स्वा.द. जीके अनुयायियोंकी संकुचित दृष्टिमें असम्भव है; हमारी दृष्टिमें नहीं।

भगवान्-श्रीकृष्णको परमात्मावतार न मानते हुए भी वादी उन्हें योगिराज तो मानते ही हैं; तब भी उनके पर्वत उठानेमें शङ्का नहीं रहती। क्योंकि-योगियोंमें अणिमा आदि सिद्धियाँ होती ही हैं, यह बात वादियोंके नेता स्वा.द. जी भी अपने यजुर्वेद सं. के भाष्यमें मान चुके हैं-'मनुष्य अपने आत्माके साथ परमात्माके योगको प्राप्त होता है; तब अणिमा आदि सिद्धि उत्पन्न होती है। उसके पीछे कहींसे न रुकनेवाली गतिसे अभीष्ट स्थानोंको जा सकता है' (१७।६७ भावार्थ)। अणिमा आदि सिद्धियाँ यह होती हैं—'अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा। प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्ट सिद्धयः'। यह आठ सिद्धियां जिसके पास हों; उसकेलिए कोई भी लोकोत्तर कार्य असम्भव नहीं। यदि

ऐसा है; तो अणिमा आदि आठ प्रकारकी सिद्धियोंको रखनेवाले योगिराज भगवान् श्रीकृष्णकेलिए गोवर्धन-पर्वतको उठाना ही कैसे कठिन हो ?।

तब जो 'भगवान् कृष्ण' ट्रैक्ट (पृ. ८) में एक दयानन्दीने लिखा है कि—'ऐश्वर्यवान् होनेसे राजाको भी इन्द्र कहते हैं। सभी व्रजवासी राजा कंसकी पूजा कर उसे प्रसन्न किया करते थे। श्रीकृष्णने ऐसे अन्यायी राजाकी पूजासे लोगोंको रोका। यह देख कंसने अपने सैनिकोंको व्रजपर अत्याचार और दमनकी मूसलाधार वर्षा करनेका आदेश दिया। कृष्णजीने गोवर्धन पर्वतकी गुफाओंमें लोगोंके रहनेकी व्यवस्था कर कंसके सैनिकोंसे लोहा लिया।' बस यही था श्रीकृष्णका गोवर्धन-धारण'। इन बातोंका मूल्य हास्यसे अधिक नहीं। पृ. ७में उसने लिखा है—'पूजनसे इन्द्र प्रसन्न होकर वर्षा किया करता था, तब क्या राजा कंस प्रसन्न होकर 'दमनकी वर्षा' किया करता था ? वह इन्द्र जो श्रीकृष्णके पैरों आ गिरा था; तो क्या कंस श्रीकृष्णके पैरोंमें आ गिरा था ? फिर शरणागत आये हुए कंसको श्रीकृष्णने मारा क्यों ? इत्यादि असङ्गतियोंको न विचार कर यह लोग कृत्रिम-कल्पनायें करते रहते हैं। उनकी बुद्धि तंग है; उसमें वह विषय कैसे समा सके ? वादीने स्वयं भी लिखा है—'यदि श्रीकृष्ण ईश्वर या ईश्वरके अवतार थे, और उन्होंने गोवर्धनपर्वतको अपनी अंगुलिपर उठा लिया; तो इसमें उनका कोई महत्त्व नहीं; क्योंकि—ईश्वरने तो अनन्त-ब्रह्माण्डों को उठाया हुआ है। अतः लोग उनके इस कार्यसे कोई प्रेरणा और शिक्षा नहीं ले सकते' (पृ. ७)। हम भी उसमें भगवान्का महत्त्व नहीं मानते; उसकेलिए तो यह साधारण बात है। वादी लोग यदि उन्हें ईश्वर मान लें; तब उनका गोवर्धन-धारण वे कभी प्रक्षिप्त न कह सकें; वा अब जो वादीने गोवर्धन-धारणकी असंगत संगतिरूप छीछालेदर की है—इसके करनेकी आवश्यकता न पड़े। शिशुपाल-दैत्यने तो पहाड़को बिल्वमात्र माना था; वहां वादी संगति कैसे

लगावेगा ?

वादी स्वयं श्रीकृष्णको 'भगवान्' मानता है। पृ. ३४ में वह 'भगवान्' पर विष्णुपुराणका 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्योश्चैव षण्णां भग इतीरणा' (६।५।७४) यह श्लोक यदि वह मानता है; तो अणिमा आदि आठ ऐश्वर्य योगियोंमें तपोबलसे रहता है, और परमात्मामें स्वतः रहता है। विष्णुपुराण श्रीकृष्णको वादीसे समर्थित 'भगवान् परमेश्वरः' (५।१।५) इस पद्य तथा अन्य बहुतसे पद्योंमें 'परमात्मा' मानता है; तब गोवर्धन-पहाड़के उठानेमें कुछ भी कठिनता न रही। यदि वादी भी श्रीकृष्णको परमात्मावतार मान ले; तो उसका बेड़ा भी पार हो जाय।

योगदर्शनमें लिखा है—'स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः' (विभूतिपाद ३।४४) इस सूत्रमें कहे हुए संयमसे योगी पृथिवी आदि भूतोंको जीतनेमें समर्थ हो जाता है। तब वह विशाल रूप करके, या बहुत छोटारूप, पर उसमें बहुत शक्ति डालकर पृथिवीको भी उठानेमें समर्थ हो जाता है; फिर पृथिवीके थोड़ेसे अंश पहाड़को उठाना तो उसकेलिए तो क्या बड़ी बात है ! इसलिए योगिराज भगवान्-श्रीकृष्ण-के विषयमें योगदर्शनको प्रमाण माननेवाले वादियोंके मतसे उक्त आशङ्का निर्मूल सिद्ध हुई। वादिप्रतिवादिमान्य व्यासभाष्यमें कहा है—

'तत्र पञ्चभूतस्वरूपाणि जित्वा भूतजयी भवति, तज्जयाद् वत्सानुसारिण्य इव गावः, अस्य संकल्पानुविधायिन्यो भूत-प्रकृतयो भवन्ति' (पांच भूतोंके स्वरूप पर विजय प्राप्त करके योगी भूतविजेता हो जाता है, उनके जीतनेसे भूत योगीके संकल्पानुसार चलते हैं।) इस प्रकार जब पृथियी आदि ५ भूतोंकी प्रकृति योगियोंके संकल्पको पूरा कर देने वाली होती है; तब पृथिवीभूतके अन्तर्गत पर्वतने भी योगिराज-श्रीकृष्णके अपने उठानेके सङ्कल्पको पूर्ण कर दिया हो; तो इसमें निर्मूलता न हुई।

योगदर्शन तथा उसके व्यासभाष्यको अविश्वासियोंके नेता स्वा.द.जी भी प्रमाणकोटिमें मान गये हैं—उसके विभूतिपादको तो अक्षरशः सत्य मान गये हैं। देखिये—

स्वा.द.जीने स.प्र.के ११ वें समुल्लास पृ. २०६ में लिखा है—'शारीरि (र ?) क सूत्र, योगशास्त्रके भाष्य आदि व्यासोक्त ग्रन्थोंके देखनेसे विदित होता है कि—व्यासजी बड़े विद्वान्, सत्यवादी, धार्मिक, योगी थे'। स्वा.द.जीके जीवन-चरितमें भी लिखा है—'एक सज्जनने स्वामीजीसे निवेदन किया—भगवन्! पातञ्जलशास्त्रका विभूतिपाद क्या सच्चा है? उन्हों (स्वामीजी) ने कृपा की—'आप यों ही सन्देह करते हैं। योगशास्त्र तो अक्षरशः सत्य है। वह कोई पुराणोंकी सी कल्पना नहीं, किन्तु क्रियात्मक और अनुभवसिद्ध शास्त्र है' (श्रीमद्-दयानन्दप्रकाश राजस्थान काण्ड, द्वितीय सर्ग ४६५ पृष्ठ)। इसलिए स्वा.द.जीने पाठ्य-पुस्तकोंके निर्धारणके समयमें स.प्र.के ४२ पृष्ठमें, संस्कारविधिके ११२ पृष्ठमें, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाके २६३ पृष्ठमें योगदर्शन तथा उसके व्यासभाष्यको प्रमाणित किया है।

इसके अतिरिक्त योगदर्शनके विभूतिपादके २४ वें सूत्र और उसके भाष्यमें योगीके हस्ति-बल, वैनतेय (गरुड़) बल तथा वायुबलकी प्राप्ति भी मान ली है। तब यहां असम्भवका प्रश्न न रहा। इस प्रकार भगवान्-योगिराज श्रीकृष्णका गोवर्धनपर्वत उठानेका विषय समूल सिद्ध हुआ। रामायणमें हनुमान्का भी पर्वत उठाना लक्ष्मणकी मूर्च्छाके समय ओषधि लानेके समय प्रसिद्ध है। महाभारतमें भी इसका अनुवाद आया है—'उद्यम्य (उत्थाप्य) कुञ्जरं पार्थः (भीमः) तस्थौ पर-पुरञ्जयः। महौषधिसमायुक्तं हनूमानिव पर्वतम्' (द्रोणपर्व १३९।८५) इस प्रकार जब हनूमान् एवं भीमसेन पर्वत उठा सके; तब श्रीकृष्णके विषयमें सन्देह कैसा?

प्रकरण आ जानेसे यह विचार भी किया जाता है कि—कई लोग

रावणसे न उठाये जा सकनेवाले धनुषको श्रीरामचन्द्र-द्वारा उठाने पर सन्देह प्रकट करते हैं; उन्हें लौकिक-दृष्टिकोणसे यह जानना चाहिये कि—हमारी जन्मभूमि शुजाबादमें ११ वर्षका लड़का भोलानाथ जलसे भरी बालटीको आंखसे उठा लिया करता था। वह रेशमी धागेसे बंधे हुए पीतलके आवरणको नेत्रके गोलेके अन्दर रख देता था। उसके बलसे वह उस पानीकी बाल्टीको उठा लेता था। परन्तु उस रीतिसे अनभिज्ञ जवान भी उसे उठा नहीं सकते थे। इस प्रकार भगवान् धनुर्वेदवेत्ता श्रीरामके विषयमें भी जान लेना चाहिये।

इस प्रकार मालगाड़ी वा ट्रेनके एक दो कमरोंको स्टेशनके तीन-चार भी नौकर दूर तक खैंच ले जाते हैं; पर अन्य १०-१२ आदमी भी उन्हें ठीक-ठीक नहीं ले जा सकते। इस प्रकार धनुषके विषयमें भी समझ लेना चाहिये। श्रीराम विश्वामित्रकी कृपासे वा पहलेसे धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त होनेसे उस विषयके परिचित थे, जिससे धनुष शीघ्र उठाया जा सके। कई लोग दूसरेकी पकड़ी हुई कलाई शीघ्र छुड़ा लेते हैं; पर दूसरे बलवान् भी उस विद्यामें कुशल दुबले-व्यक्तिसे भी पकड़ी हुई कलाईको नहीं छुड़वा सकते। पहलवान लोग कुश्ती लड़ते हैं। उस दाँव-पेचको जानने वाले कमज़ोर व्यक्ति भी उस कलाको न जानने वाले बलवान् भी व्यक्तियोंको जल्दी चित्त कर देते हैं। इस प्रकार मनन करनेपर रावणसे न उठाये जा सकते हुए भी दिव्य धनुषको श्रीरामद्वारा उठानेमें कोई सन्देह बचा नहीं रहता।

यद्यपि रावणने महादेवके कैलास-पहाड़को कुछ उठा लिया था, इसलिए उसे महादेवके धनुषको भी उठा लेना चाहिये था; क्योंकि वह धनुष पर्वतकी अपेक्षा तो बड़ा नहीं था; तथापि जब महादेवने उस पर्वत में अंगुष्ठ द्वारा अपनी शक्ति डाली; तब तो रावण पिसने लगा; इस प्रकार इस महादेवके धनुषमें भी महादेवकी शक्ति सूक्ष्मरूपसे थी; तभी तो उसे महादेवका विशेष-धनुष कहा जाता था; नहीं तो यदि वह

साधारण धनुष होता; तब उस धनुष पर डोरी-चढ़ानेकी प्रतिज्ञा बलवान्-राजसमाजमें उपहासके योग्य होती। तब उसकेलिए दिव्यबलवाले पुरुष-विशेषकी आवश्यकता थी; दिव्यबलसे रहित साधारणजनकी आवश्यकता नहीं थी। वैसे उस समय विष्णुके अवतार श्रीराम ही थे; इनकेलिए वह कार्य विनोदमात्र था; चाहे वह उस समय छोटी आयुवाले (१२ वा १५ वर्षके) थे। यह बात 'आलोक' के ७म पुष्पमें देखनी चाहिये।

इसके अतिरिक्त श्रीराममें योगदर्शन विभूतिपादके २४ सूत्रके अनुसार हस्तिबल आदिकी सत्ताका भी अनुमान कर लेना चाहिये; जो योगियोंकेलिए योगादि-प्रयत्नसे साध्य होती है; परन्तु परमात्मामें वा उसके अवतारोंमें, वा उसके अङ्गरूप देवोंमें स्वाभाविक होती है। अवतारधारियोंमें दिव्यादिव्यतावश लोकोत्तर-शक्ति भी छिपी रहती है। इसीलिए काव्यप्रकाश (सप्तमउल्लास, प्रकृतिविपर्ययदोषके निरूपणके अवसर) में कहा गया है—'प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च' यह लिखकर वहां लिखा हैं—'स्वर्गपातालगमन-समुद्रोल्लङ्घनादि-उत्साहश्च* दिव्येषु एव'। (स्वर्ग वा पाताललोकमें जाना वा समुद्रको लांघ जाना वा उसका उत्साह करना दिव्योंमें ही हुआ करता है) अदिव्येषु यावद् अवदानं लोकप्रसिद्धमुचितं वा, तावद् एव उपनिबन्धव्यम् (मनुष्योंमें तो लोकोचित-कर्तव्यका निरूपण होता है)' यह कहकर वहां प्रकृत बात यह लिखी है—'दिव्यादिव्येषु उभयथापि' (दिव्यादिव्य अर्थात् अवतारोंमें, दिव्यता-अदिव्यता दोनों रहती हैं, अतः उनमें लौकिक-शक्ति तथा कभी लोकोत्तर-शक्ति दोनों दिखलानी पड़ती हैं)। केवल लौकिक शक्ति ही उनमें रहे; तब उनकी देवावतारमूलक दिव्यता किसको कैसे पता लगे? लोकोत्तर-शक्ति अवतारमें यदि बिलकुल न हो; तब तो उसे केवल अदिव्य ही माना जाय।

*यह लोकोत्तरकर्मोंका उपलक्षण है।

इसी प्रकार पूर्वके योगदर्शनके सूत्र (३।४४) के अनुसार योगिराज होनेसे भगवान् कृष्णने जलभूतको भी वश किया हुआ था। उसकी सामर्थ्यसे भगवान्ने यमुनाजलके भीतर बहुत समय तक ठहर कर कालिय-नागका अभिमान चूर्ण कर दिया था। उक्त सूत्रके अनुसार ही भगवान्ने तेज-भूतको भी अपने वश कर रखा था; उसीके फलस्वरूप उनने तेजके विषय भौम-वह्निको जो दावाग्निके रूपमें प्रकट हुई थी, उसका पान करके नन्द आदिको बचाया था। इस प्रकार दिव्य, उदर्य, आकरज वह्नियां भी भगवान्ने वश कर रखी थीं। उदर्य अग्नि वशमें होनेसे भगवान्ने गोवर्धनमें अन्नकूटका भक्षण कर लिया था।

उक्त सूत्रके अनुसार ही भगवान्ने वायुभूतको भी वश कर रखा था; वह भी उनका सङ्कल्पानुविधायी था। उसीके प्रभावसे द्रौपदीकी नग्नता उपस्थित होनेपर, बिना ही गरुड़की अपेक्षा किये स्वयं ही वायु-भूत द्वारा वहां प्राप्त होकर द्रौपदीकी रक्षा की। जो कि—'भगवान् कृष्ण' में वादी कहता है कि—'महाभारतमें इस स्थलपर कृष्णद्वारा द्रौपदीके चीर बढ़ानेका वर्णन प्रक्षिप्त है, श्रीकृष्णको तो इस घटनाका पता ही नहीं था; वे तो शाल्वसे युद्ध करने गये हुए थे। वनमें युधिष्ठिरको उन्होंने कहा था कि—यदि मैं द्वारकामें होता; तो बिना बुलाये जुएके समय पहुंच जाता; और उसे रुकवाता' (वन. १३।१-२)।

यह वादीकी बात ठीक नहीं। वे जहां भी हों; आह्वान करनेसे वे आ जाते थे। द्रौपदीने आपत्ति-समयमें उनका आह्वान किया था। महाभाष्यमें कहा है—एको इन्द्रोऽनेकस्मिन् क्रतुशते आहूतो युगपत् सर्वत्र भवति' (१।२।६४) एक इन्द्रको अनेकों यज्ञोंमें बुलानेपर वे सर्वत्र पहुंच जाते हैं। श्रीकृष्णने भी 'देवानामस्मि वासवः' (गीता १०।२२) अपनेको इन्द्र कहा हैं; सो वे भी ध्यानमग्नताके समय जब चाहें, पहुंच सकते थे; चाहे वे शाल्वको मारने भी गये हों; सो वस्त्रवृद्धिरूपमें वे वहांपर पहुंच गये। इस प्रकार अजगरके पेटमें घुस कर अपने अन्दर बहुत

वायुको भरकर अपने-आपको उनने इतना मोटा बना दिया कि—अजगरका पेट फट गया। इस प्रकार आकाशभूत भी उन्होंने वश कर लिया था—उसके आश्रय तथा उदर्य वन्हिके आश्रयसे गोवर्धनपूजाके समय बहुत अन्न अन्दर डाल लिया, और उसको पचा दिया। इस प्रकार उनने बहुतसे लोकोत्तर कार्य किये।

इसी प्रकार 'दृष्टानुमितानां नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः' (३।१।५०) यह न्यायदर्शनका सूत्र लोकोत्तर-शक्तिसे रहित प्रकृतिनियमके परतन्त्र साधारण व्यक्तियोंकेलिए है; लोकोत्तरशक्तिवाले अथवा प्रकृतिनियन्ताओं केलिए नहीं है। इस सूत्रका यह भाव हैं कि—देखे हुए तथा अनुमान किये हुए पदार्थोंके धर्मोंका 'ऐसे हो जाओ' ऐसा शासन करना और 'ऐसे मत होओ' ऐसा निषेध करना नहीं हो सकता। अग्नि आदिको 'तुम ठंडी हो जाओ' इस आज्ञासे ठंडा करना और 'तुम गर्म न होओ' इस निषेधसे उष्णत्वादिकी निवृत्ति नहीं हो सकती। पदार्थका धर्म कभी बदला नहीं जा सकता; पर लोकोत्तर-शक्तिवालोंकेलिए स्वयं न्यायभाष्य-कारने ही विशेषता बताई है—'योगी खलु ऋद्धौ प्रादुर्भूतायां विकरणधर्मा निर्माय सेन्द्रियाणि शरीराणि' (३।२।१९) अर्थात् योगी अणिमादि सिद्धि प्रकट हो जानेपर अस्मदादिसे विलक्षण इन्द्रिय-सामर्थ्य वाले कई प्रकारके शरीर बनाकर कई प्रकारके ज्ञानादि कार्य कर सकता है।

इस प्रकार वेदान्तदर्शन (१।३।३३) का शाङ्करभाष्य भी यहां द्रष्टव्य है कि—'योगोपि अणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिफलकः स्मर्यमाणो न शक्यते साहसमात्रेण प्रत्याख्यातुम्।...ऋषीणामपि मन्त्रब्राह्मणदर्शिनां सामर्थ्यं न अस्मदीयेन सामर्थ्येन उपमातुं युक्तम्। तस्मात् समूलम् इतिहास-पुराणम्' (अणिमा आदि ऐश्वर्य देनेवाला योग कभी कथनमात्रसे खण्डित नहीं हो सकता। प्राचीन मुनि-योगी आदिकी सामर्थ्यको कभी अपनी सामर्थ्यसे उपमित नहीं कर लेना चाहिये। इसलिए वैसी अलौकिकता बतानेवाले इतिहासपुराण निर्मूल नहीं हैं? यजुर्वेद (१७।७) मन्त्रके

भाष्यमें स्वा.द.जीने भी योगियोंके अनेक शरीरोंमें प्रवेश कर सकनेकी शक्ति बताई है। तब रासलीला-समयमें श्रीकृष्णका बहुशरीरधारण भी उपपन्न हो जाता है। न्यायदर्शनके सूत्रका प्रमाण अभी दिया ही जा चुका है। इस प्रकार योगिराजकी दृष्टिसे भी श्रीकृष्णके अलौकिक कार्य सम्भव सिद्ध हुए। परमात्मावतार माननेपर तो कुछ असम्भव रहता भी नहीं।

इसके अतिरिक्त 'सेण्टोरियम' नामकी एक विद्या होती हैं। उससे जिस वस्तुके केन्द्रका परिचय हो जाय; भारी भी वस्तुके मध्यभागका पता लग जाय; उसे छोटी आयु वाला लड़का भी उठा सकता है, योगी का तो भला क्या कहना? क्योंकि मध्यभागके ज्ञान हो जानेसे उसके भारका बैलेंस ठीक हो जाता है। उस भारी वस्तुके मध्यभागका ठीक ज्ञान न होनेसे वह पदार्थ ठीक उठ नहीं सकता। भगवान् कृष्ण तो उस विद्याके जानकार हों; इसमें असम्भव कुछ भी नहीं; तब गोवर्धन-पर्वत उनके द्वारा उठानेमें कुछ भी आश्चर्य नहीं। इस प्रकार प्रस्तुतकी पुष्टि हो जानेपर अन्य विस्तारकी आवश्यकता नहीं। इसलिए निबन्ध यहीं रोका जाता है।

——

(१८) कुम्भकर्णकी निद्रा एवं अनिद्रा

शङ्काओंके धनी वादी लोग कुम्भकर्णकी छः मासकी नीन्दमें तथा उसके एक रातके जागनेमें तथा फिर नीन्द आजानेमें सन्देह करते हैं। इस प्रकारकी रामायण-वर्णित स्थितिको भी वे प्रकृति-नियमसे विरुद्ध एवं असम्भव मानते हैं। इस पर भी हम विचार करते हैं, इस पर वादियों-को जानना चाहिए कि आज कल भी बहुत वर्षों तक सोने वाली लड़कियां विभिन्न देशों में मिल चुकी हैं, जिसके अन्दर यन्त्रद्वारा ही खाना-पीना दिया जाता था। वे मलत्याग भी करती थीं—समाचार-पत्रोंमें ऐसी घटनाएं कई बार छप चुकी हैं।

यहां असम्भव तो नहीं है। यह भी एक रोगविशेष है। जैसे कइयों को अनिद्रा रोग हुआ करता है, वैसे ही कइयों को दीर्घनिद्रा-रोग भी हुआ करता है। निद्राका कारण यह होता है कि—भीतरी आक्सीजन-गैसके दूषित हो जानेसे उसके प्रभावसे निद्रादायक मस्तिष्ककी तन्तुओंका मुख खुल जाता है। जिससे भीतरी वायु दूषित हो जाती है, जिससे नीन्द शुरू हो जाती है। उन नसोंका मुंह बन्द होनेसे सूर्योदयकी निकटतावश आक्सीजन गैसके प्राप्त होने पर फिर नीन्द क्रम-क्रमसे हट जाती है। इस प्रकार कुम्भकर्णके भी अन्दर उसकी विशेषतावश लगातार नीन्द बनी रहती थी। प्रकृतिकी महिमासे छः महीनेके बाद शुद्ध-वायुके प्रभावसे उसकी नीन्द टूट जाती थी।

हमारी भीतरी नसें भी वैसा कार्य करती हैं; जैसे कि—घड़ीमें बालकुमानी आदि यन्त्र कार्य करते हैं। वे चावी द्वारा काम करते हैं। इस प्रकार भांति-भांतिके खिलौने भी प्रसिद्ध हैं; उनमें चावी देनेसे वे अचेतन भी अद्‌भुत काम करते हैं। सिगरेटोंके बेचने वाले उनके प्रचारार्थ एक पुतली सी अपनी दुकानों पर दीपावली आदिके अवसर पर रखते हैं; जो चावी देनेकी शक्तिसे हाथ ऊँचा करके (जिसमें सिगरेट थमी हुई होती है) सिगरेट मुंहके पास ले जाकर पीती है, तब सिगरेट वाले दाहने हाथको नीचे कर लेती है, और मुंहसे धुंवा निकालती है; और फिर सिगरेटके कशका आनन्द प्रदर्शन करनेके लिए वह पुतली अपनी दोनों आंखें मटकाती है, और गर्दन को हिलाती हुई अपना आनन्द-प्रकाश करती है। फिर वही काम शुरू कर देती है। इस प्रकार वनस्पति-घृत आदिके प्रचारार्थ विजलीके अक्षर तथा घृतके डिब्बेके चित्र क्रमसे एक-दो करके चमक उठते हैं। फिर वे बुझ जाते हैं, और अन्य अक्षर जल उठते हैं। इस प्रकार एक रवड़ का पुरुष बना हुआ होता है। वह व्यायाम कूदना-फांदना अपने विशिष्ट कामके अनुसार करता है। इस प्रकार बड़े नगरोंमें लघुशंकाके स्थान बने हुए होते हैं; उनमें जलयन्त्र बना होता है। उसमें

पांच-पांच मिनटके बाद पानी आता है, वह पेशाबगाहकी नालीको धो देता है। फिर बन्द हो जाता है। फिर शुरू होता है। यह सारा 'चावी' का प्रभाव होता है।

इस प्रकार क्लाक-घड़ीमें जब छोटी सुई नियत अङ्क पर आती है, उसमें स्वयं ही उतने घण्टे बजते हैं। छः पर आने पर एक घण्टा बजता है। इस प्रकार १५-१५ मिनट पर भी किन्हीं घड़ियोंके घंटे बजते रहते हैं। इस प्रकार उन घड़ियोंमें तारीखकी सुई भी लगी होती है; वह २४ घण्टे में एक बार बदलती है। 'टाइमपीस' घड़ीमें हम जिस समय उठना चाहें; उस समय बज कर वह हमें जगा देती है। उसमें भी क्रमसे एक-एक मिनट ठहर-ठहर कर फिर बजती है; वा लगातार पन्द्रह मिनट तक भी बजती रहती है। इस प्रकार हमारी नाड़ी की गति भी समान अन्तर से चलती रहती है। वैसे ही परमात्माकी लीलाके विचित्र-खिलौने कुम्भकर्णकी नसोंमें भी 'चावी' के समान प्रभाव अनुमित कर लेना चाहिए; जो उसे 'अयं हि सुप्तः षण्मासान् कुम्भकर्णो महाबलः। सर्वशस्त्रभृतां मुख्यः स इदानीं समुत्थितः (वाल्मी. युद्ध १२।११) छः मास तक सुलाती थी; और एक दिनके लिए उसकी नींद तोड़ कर फिर उसे वैसे ही सुला देती थी। इसे भी प्रकृति-नियमका अपवाद ही समझना चाहिए। अपवाद क्वाचित्क वा कादाचित्क होता है। यह नहीं भूलना चाहिए।

पुरुषोंको बारेसे भी बुखार आता है—यह भी सभी जानते हैं। किन्हींको एक दिन बुखार आता है, दूसरे दिन हट जाता है। तीसरे दिन फिर आ जाता है, चौथे दिन फिर हट जाता है। इसी प्रकार किन्हीं को दो दिनके व्यवधानसे, किन्हींको तीन वा चार दिनके अन्तरसे बुखार आता है, यह सर्व-प्रसिद्ध है। मीमांसादर्शनके शावरभाष्यमें भी इसका संकेत आया है—'नियतकाला अपि रोगा भवन्ति। यथा—तृतीयकाः चातुर्थकाश्च' (६।१।५) अथर्ववेद शौ. संहितामें भी इसका संकेत मिलता है—'यो अन्येद्युरुभयेद्युरभ्येति तृतीयकाय नमो अस्तु तक्मने

(ज्वराय)' (१।२५।४)। इसी प्रकार कई मियादी बुखार (टाइफाईड) १२ वें दिन, कई २१ वें वा ४० वें दिन उतरते हैं।

कई गर्भवती स्त्रियोंकी सन्तान क्रमसे पहले लड़की फिर लड़का फिर लड़की फिर लड़का रूपसे होती है। कइयोंकी सन्तान रंगके क्रमसे भी देखी गई है—पहला लड़का काला, दूसरा गोरा, तीसरा काला, चौथा फिर गोरा, इस प्रकार भी होते हुए देखे गये हैं। जैसे यहां क्रम है; वैसे कुम्भकर्णकी निद्रामें भी क्रमिक-प्रकार ही समझना चाहिए। भीतरी कारणसे ही जिस प्रकार बुखारमें क्रम होता है। ज्वर स्वयं चेतन नहीं होता, किन्तु भीतरी कारणसे स्वयं आता है; अथवा जैसे स्त्री प्रतिमास समय पर रजस्वला हो जाती है; वैसे ही कुम्भकर्णमें भी भीतर वर-दानके ही कारण इस प्रकारका क्रम हो गया था कि—छः मास तक उसे नीन्द आ जाती थी; फिर एक दिनकेलिए खुल जाती थी।

बच्चेमें नींद बहुत अधिक होती है, जवानमें काफी अधिक होती है; प्रौढमें अधिक होती है, और वृद्धमें नींद कम हो जाती है। उसमें कुम्भ-कर्णकी अधिक नींदमें कारण भीतर अधिक निद्रा करा देनेवाले पदार्थकी सत्ताका अनुमान कर लेना चाहिये। रामायण-द्वारा यह भी मालूम होता है कि—उसे यह नींद वर-द्वारा मिली थी। जैसेकि-'स्वप्तुं वर्षाण्यनेकानि देवदेव ! ममेप्सितम्। एवमस्त्विति तं चोक्त्वा प्रायाद् ब्रह्मा सुरैः समम्' (उत्तरकाण्ड १०।४५) 'स्वयम्भूरिदमब्रवीत्—शयिता ह्येष षण्मासम् एकाहं जागरिष्यति' (वाल्मी. युद्ध. ६१।२७) यह छः महीने सोएगा, और एक दिन जागेगा।

यद्यपि वह बहुत वर्ष जागना चाहता था, नींद थोड़ी ही चाहता था; तथापि देवताओंने उसकी बुद्धिमें लोकहानि समझकर परिवर्तन कर दिया। देवता लोग दूसरोंकी बुद्धिको परिवर्तित भी कर दिया करते हैं। वे वैसा न करें, इसलिए वेदमें वैसी प्रार्थना आई है—'मा नो मेधां, मा नो दीक्षां, मा नो हिंसिष्टं यत् तपः' (अथर्व. १९।४०।३)। महाभारतमें

भी कहा गया है—'यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम्। बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति' (उद्योगपर्व ३४।८१) (देवता जिसे गिराना चाहते हैं, उसकी बुद्धिको वे हर लिया करते हैं)। वर वा शाप वही दे सकता है, जिसमें सब प्रकारकी सामर्थ्य हो; और पूर्ण-सङ्कल्प हो; और जो प्रकृतिके नियमोंको बदल सकनेमें भी शक्ति रखता हो। उसीकी सामर्थ्यवश उससे दिया हुआ वर वा शाप दूसरेमें लगता है; उसको वैसे ढंगका बना दिया करता है। पूर्णसंकल्पताका बल हम अन्यत्र दिखला चुके हैं।

तब वरद्वारा भी कुम्भकर्णमें वैसी निद्रा हो सकती है। वर-शाप देनेवाले प्रायः देवता वा तपस्वी होते हैं। तपस्याकी महिमा मनुस्मृतिमें देखिये—'यद् दुस्तरं यद् दुरापं, यद् दुर्गं, यच्च दुष्करम्। सर्वं तत् तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्' (११।२३८) इस पद्यमें कहा हुआ 'दुरतिक्रम' पद तब घट सकता है; जब दुष्कर, दुस्तर, दुराप (दुर्लभ), तथा दुर्गम काम वर-दाताके द्वारा सिद्ध हो जाए। दुस्तर, दुर्लभ, दुर्गम कार्य प्रायः पुरुषकी प्रकृतिसे विरुद्ध होते हैं। उस प्रकृतिको बदल देनेसे तपस्याकी लोकोत्तरता सिद्ध हो जाती है। लोकसिद्ध-कार्य तो तपस्याके बिना भी, बुद्धिद्वारा ही सिद्ध किये जा सकते हैं। तपस्याकी महिमा वेदमें भी कही गई है—'तपसा ये अनाधृष्याः' (अथर्व. १८।२।१६, ऋ. १०।१५४।२) तपस्यासे जो दुर्धर्ष हो जाते हैं, उन्हें कोई किसी कठिन-कार्यकी सिद्धिसे रोक नहीं सकता।

'स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्, आयुः, प्राणं, प्रजां, पशुं, कीर्तिं, द्रविणं, ब्रह्मवर्चसम्, मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्म-लोकम्' (१९।७१।१) अथर्ववेदके इस मन्त्रमें दीर्घायु, बल, सन्तान, धन, ब्रह्मतेज आदि वेदमाता-गायत्रीके 'वरदा' विशेषणसे ही प्रार्थित किये जा रहे हैं। इससे वरदानकी महिमा सिद्ध हो रही है। यदि वरदानसे यह सिद्ध हो जाते हैं; तब वैसी निद्रा भी वरद्वारा प्राप्त की जा सकती है।

वरकी महिमा रामायणमें देखिये—'अनेन भक्षिता ब्रह्मन् ! ऋषयो मानुषास्तथा । अलब्धवरपूर्णेन यत् कृतं राक्षसेन तु । यद्येष वरलब्धा स्याद् भक्षयेद् भुवनत्रयम्' (उत्तर. १०।३९) (इस कुम्भकर्णने विना ही वरके बहुतसे ऋषियों वा मनुष्योंको खा डाला है । यदि इसे वैसा वर मिल जावे; तो यह कुम्भकर्ण सारे जगत्को ही खा जावे) ।

इस प्रकार कुम्भकर्णकी छः मासकी नीन्द तथा एक रात जागनेमें असम्भव नहीं समझना चाहिये । तपस्याकी महिमासे वैसा सम्भव हो सकता है । युद्धके समयमें जो कि उसे जगाया गया; वह उसका अपना समय नहीं था; किन्तु बलपूर्वक ही उनकी नींद उखाड़ी गई थी; जिसका दृश्य दशहरेमें दिखलाया जाता है । रामायणमें भी लिखा है—'शङ्खांश्च पूरयामासुः शशाङ्कसदृश-प्रभान्' (जोरके शंख बजाये गये) तुमुलं युगपच्चापि विनेदुश्चाप्यमर्षणाः)' (युद्ध. ६०।३६) नेदुरास्फोटयामासुश्चिक्षिपुस्ते निशाचराः । कुम्भकर्णविबोधार्थं चक्रुस्ते विपुलं स्वरम्' (३७-४०,४८-५५) (कुम्भकर्णको दबाया गया, उठाया गया, फेंका गया, सब मिलकर खूब चिल्लाये-इत्यादि) इसमें बड़ा यत्न किया गया ।

जैसे यहां लम्बी नीन्द तपस्याका उदाहरण है, वैसा अनिद्राकी कथा भी जान लेनी चाहिये । योगी आदि प्राणायामके बलसे मस्तिष्कके सूक्ष्मतम तन्तुओंको वश करके भीतरी वायुको सदा अदूषित ही रखते थे; इसलिए वे चिरकालकेलिए नींदके अधीन नहीं हो जाते थे, अर्जुनमें भी यह शक्ति थी, जब चाहे सो जाय, जब चाहे जाग जाय, इसलिए उसका नाम 'गुडाकेश' प्रसिद्ध था गुडाका (नीन्द) का ईश । शङ्काकर्ताओंके नेता स्वा. द. जीके जीवनचरित्रकी पुस्तक 'दयानन्द-प्रकाश' में भी स्वामीका निद्राको अपने अधिकारमें रखनेका अर्थवाद दिया गया है ।

देवता लोग तो स्वभावसे ही निद्रारहित माने जाते हैं; न उनकी पलकें झुकती हैं, न उन्हें नीन्द ही आती है; इसलिए उनको कोषोंमें 'अस्वप्नाः' (अमर० प्रथम काण्ड स्वर्ग वर्ग १।१।७) कहा जाता है । वेद भी इसका सङ्केत देता है—'इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं, न स्वप्नाय स्पृहयन्ति' (ऋ. ८।२।१८) 'न वै देवाः स्वपन्ति' (शतपथ. ३।२।२।२२) । सूर्य-चन्द्र आदि देवताओंको किसने सोते हुए देखा है ? आजकल एक ऐसे यन्त्रका आविष्कार भी हो गया है, जिसको सिरमें पहरनेसे अन्दर सदा 'आक्सीजन' गैस ही भरी रहती है, जिससे शरीरके भीतरकी वायु दूषित नहीं हो पाती । न ही उससे जम्भाइयां ही आती हैं; और न ही अङ्गड़ाई वा आलस्य ही आता है । इस प्रकारके कुम्भकर्ण वा मुचुकुन्द आदिकी लम्बी नीन्द और देवताओंको कभी नीन्द न आना आदि सिद्ध होगया । इसमें भी असम्भव न रहा ।

---

(१९) शिवडमरूसे १४ सूत्र ।

महामुनि श्रीपाणिनिने शिवजीके डमरूसे 'अ इ उण्' आदि १४ सूत्र प्राप्त किये, यह भी संस्कृत-संसारमें प्रसिद्ध है; अविश्वासी व्यक्ति इसे भी शङ्कित दृष्टिसे देखते हैं । पहले तो वे लोग इन १४ सूत्रोंको ही पाणिनिसे बनाया मानते हैं, शिवप्रदत्त नहीं । किसी प्रकार इन सूत्रोंका शिवसे सम्बन्ध मानने पर भी उनका शिवके डमरूसे सम्बन्ध तो वे मानते ही नहीं; क्योंकि उनके मतमें शिव निरे निराकार ही हैं । निराकारका भला डमरू कैसे हो सकता है ? किसी प्रकार उन सूत्रोंका शिवढक्कासे सम्बन्ध माननेपर भी उससे 'अ इ उण्' आदि १४ सूत्रोंकी उत्पत्ति तो उनके मतमें असम्भव कल्पना है । हम भी इसपर विचार करते हैं ।—

'अ इ उण्' आदि सूत्र पाणिनिसे बनाये हुए नहीं हैं, किन्तु शिवप्रोक्त हैं । यदि ये पाणिनिरचित होते; तो यहींसे अष्टाध्यायीका प्रारम्भ माना जाना चाहिये था; पर वे अष्टाध्यायीसे पूर्व रखे गये हैं । किसीने भी इनकी अष्टाध्यायीमें गणना नहीं मानी;—यह एक कारण है । किसी प्रकार माना भी जावे कि—अनुवृत्ति आदि नियम न होनेसे ये वैसे सूत्र नहीं, अतः इनकी अष्टाध्यायीके सूत्रोंमें गणना नहीं की गई; तथापि मङ्गला-

चरणपक्षपाती श्रीपाणिनिको 'अ इ उण्' से पूर्व ही मंगलाचरण करना चाहिये था; क्योंकि—'मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते' (शास्त्रके आदि में मङ्गलाचरण हुआ करता है) यह पस्पशाह्निकमें महाभाष्यकारका कथन है। प्रत्युत महाभाष्यकारने तो 'वृद्धिरादैच्' सूत्रसे ही अष्टाध्यायीका आरम्भ माना है, तभी तो उनने वहाँ 'वृद्धि' शब्दको श्रीपाणिनिका आदिम मङ्गल माना है।

इससे स्पष्ट है कि-'अ इ उण्' आदि १४ सूत्र श्रीपाणिनि-प्रणीत अष्टाध्यायीसे बाहरके हैं; उसके भीतरके नहीं। अतः वे पाणिनिप्रणीत भी नहीं। जो कि 'एषा हि आचार्यस्य शैली लक्ष्यते, यत्-तुल्यजातीयान् तुल्यजातीयेषु उपदिशति--अचोऽक्षु, हलो हल्षु' इत्यादि भाष्यके सन्दर्भसे स्वा.द. आदि इन १४ सूत्रोंकी पाणिनि-प्रणीतताका अनुमान करते हैं; ऐसा नहीं है। यहांपर 'आचार्य' शब्दसे 'स पूर्वेषामपि गुरुः' (योगदर्शन समाधि. १।२६) इस सूत्रके अनुसार 'आचार्य' महादेव ही हैं। यहाँ श्रीनागेश-भट्टने लिखा है—'आचार्यशब्देन अनादिः शब्द-पुरुषः'। इसके अतिरिक्त 'उपदेशः' का अर्थ महाभाष्यमें 'उच्चारण' है। तब वहां पाणिनि-द्वारा इन सूत्रोंका वचन (उपदेश) ही है, निर्माण नहीं। निर्माण बल्कि उपदेश भी महेश्वरद्वारा ही मानना चाहिये।

इनमें अनुबन्धों (इत्संज्ञक ण्, क्, ङ्, च् आदि) का श्रीपाणिनिने योजन किया हो--यह प्रत्याहार-आह्निकमें स्थित 'अप्रधानत्वाद्' इस वार्तिकके भाष्यसे सम्भावना हो सकती है; परन्तु 'अ इ उ' इत्यादि वर्ण तो अनादि ही हैं। वस्तुतः अनुबन्धयोजक भी महेश्वर ही हैं; जैसे कि पहले कह चुके हैं। इसलिए इन चौदह सूत्रोंको महाभाष्यकारने 'अक्षर-समाम्नाय' शब्दसे स्मरण किया है। 'समाम्नाय' का अर्थ 'वेद' हुआ करता है--यह 'इति माहेश्वराणि' इस दीक्षित-वचनकी व्याख्या करते हुए श्रीनागेशभट्टने कहा है। पाणिनीय होनेपर इन्हें 'समाम्नाय' न कहा जाता। इसीलिए इसी समाम्नायकेलिए श्रीमहाभाष्यकारने कहा है—

'सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः, पुष्पितः, फलितः, चन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः। मातापितरौ चास्य स्वर्गे लोके मही-येते' इतना फल महाभाष्यकार किसी पौरुषेय-वस्तुकेलिए नहीं कह सकते।

सो इन १४ सूत्रोंका श्रीपाणिनिके द्वारा उपदेश है, प्रणयन नहीं; वह भी शिवद्वारा। इसलिए यह सूत्र 'शिवसूत्र' नामसे प्रसिद्ध हैं। व्याकरणमर्मज्ञ श्रीहरिने भी कहा है—'अस्य अक्षर-समाम्नायस्य''''न कश्चित् कर्ताऽस्ति, एवमेव वेदपारम्पर्येण स्मर्यमाणम्' यह उद्योतमें श्रीनागेशभट्टने लिखा है। इसीलिए भट्टोजिदीक्षितने भी स्वीकार किया है-- 'इति माहेश्वराणि सूत्राणि' अर्थात् यह १४ सूत्र महेश्वरसे आये हुए हैं। पाणिनीयशिक्षामें भी कहा है—'येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वराद्। कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः' (५७)। इसी प्रकार याजुषशाखीया शिक्षामें भी कहा है (श्लो. ३४)। अन्यत्र भी कहा है। महेश्वरके पास डमरूका होना पुराणादिमें प्रसिद्ध ही है। उसीके द्वारा १४ सूत्रोंका उपदेश हुआ। श्रीनागेशभट्टने शब्देन्दुशेखरमें इसकी स्पष्टता की है। नन्दिकेश्वरकृत 'काशिका' में भी कहा है—'नृत्तावसाने नटराज-राजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्। उद्धर्तुकामः सनकादि-सिद्धान् एतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्' (नृत्यके अन्तमें नटराजराज (महेश्वर) ने डमरूको १४ वार बजाया। इससे सनक आदि सिद्ध एवं पाणिनिका उद्धार हुआ)। इसमें विशेष-विस्तार उपमन्युके व्याख्यानमें है। ननाद-इति अन्तर्भावितण्यर्थः, नादयामास इत्यर्थः। नटराजराजः—शिवः। नवपञ्चवारम्-चतुर्दशकृत्वः। कथासरित्सागरमें भी कहा है—'तत्र तीव्रेण तपसा तोषिताद् इन्दुशेखराद्। सर्वविद्यामुखं तेन प्राप्तं व्याकरणं नवम्' (१।४।२२)

शेष प्रश्न है कि—शिवके निराकार होनेका, इस विषयमें जानना चाहिये कि—वेदमें शिवका साकाररूपमें भी वर्णन मिलता है। देखिये यजुर्वेदमाध्यं.सं. में रुद्राध्याय (१६ वां अध्याय)। जब वादियोंके

मतानुसार निराकार परमात्माकी निराकार-ढक्काके द्वारा अग्नि आदि ऋषियों (?) को चार वेद मिल गये; तब साकारशिवकी साकार ढक्का (डमरू) द्वारा पाणिनि आदिको १४ सूत्रोंके शब्द प्राप्त हो गये; तब इसमें क्या आश्चर्य ? निराकार-अग्निद्वारा रोटीकी पाकक्रियामें सन्देह हो सकता है; परन्तु साकार-अग्निद्वारा पाकक्रियामें क्या सन्देह हो सकता है ?

शेष प्रश्न है कि—डमरूद्वारा नियत-अक्षरोंकी प्राप्ति कैसे ? पर यदि शङ्काके दृष्टिकोण वाले लोग इस विज्ञानमय समयमें चौकोन दृष्टि डालें; तो उन्हें शङ्का होवे ही नहीं। अब उन्हें सावधानतासे सुनना चाहिये। आजकल नवयुगका प्रसिद्ध साधन 'टेलीग्राफ' यन्त्र सर्वत्र प्रचलित है। इसे आजकल 'तार' नामसे कहा जाता है। शङ्काकर्ताओंके नेता स्वा.द.जीने 'तरुतारं रथानां' (ऋ. १।११६।१०) इस वेदमन्त्रमें भी 'तार' की स्थिति मानी है, यद्यपि यह उनकी कृत्रिमता ही है—[क्योंकि—'तारम्' यह स्वतन्त्र पद नहीं, किन्तु 'तृच्' प्रत्ययके द्वितीयाके एक वचन 'अम्' में गुण और उपधादीर्घ करनेपर रूप बना हुआ है। 'तरु' यह अंश तो 'तृ' धातुके 'इट्' के स्थान वैदिक उट् आगम (पा. ७।२।३४) करने पर बनता है। 'तरितारं' के स्थान 'तरुतारम्' यह अभिन्न वैदिक पद है। तब इस 'तारं' प्रत्ययमात्रसे 'तार' यन्त्र कैसे माना जावे ? उनका वेद-भाष्य 'स्थालीपुलाक' न्यायसे इसी प्रकारके अर्थोंसे भरा हुआ समझ लेना चाहिये। अस्तु]

उसी 'तार' यन्त्रकी 'गट्ट गरगट्ट' यह सांकेतिक ध्वनियां प्रसिद्ध ही हैं। उन्हींके द्वारा ए.बी.सी. एतदादिक अँग्रेजी अक्षर निकलते हैं। इसी प्रकार 'अ, इ, उ' इत्यादि वर्ण भी उससे स्वयं सुलभ ही हैं। केवल उन संकेतोंका ज्ञान अपेक्षित होता है। आजकल तो 'टेलीप्रिंटर' यन्त्र अक्षरोंको स्वयं भी छाप रहे होते है। महादेवजीने तपस्या करते हुए पाणिनि वा सनक आदिको यह सांकेतिक डमरूके शब्द सुनाये; तब श्रीपाणिनि आदिने

तपस्याके माहात्म्यसे उन संकेतोंको जान लिया। उससे 'अ, इ, उ, ऋ, ऌ' आदि वर्ण प्रकट हुए।

जबकि वन्दर भी अपने खिलाड़ी द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकारसे बजाये हुए डमरूके संकेतोंको जानकर तदनुसार भांति-भांतिकी क्रीडाएं करते हैं, तब तपस्याके माहात्म्यसे पाणिनि आदियोंने यदि उन संकेतोंको जानकर उनसे 'अक्षर-समाम्नाय' जान लिया; तो इसमें असम्भव भला कैसे ? आजकल तो युद्धोंमें लैम्पों वा झण्डियों आदिसे भी संक्षिप्त (अल्पाक्षर और बह्वर्थक) बातचीत कर ली जाती है। उन सूत्रोंमें अनुबन्धयोग (ण्, क्, ङ् आदि) भी महादेवकृत ही है। श्रीपाणिनि तो केवल श्रीभट्टोजिदीक्षितकी सिद्धान्तकौमुदीके कर्तृत्वकी तरह कई आपात-ज्ञान-धारी पुरुषोंके मतानुसार १४ सूत्रोंके कर्ता कहे गये। वास्तवमें शिवजी ही कर्ता हैं, श्रीपाणिनि तो औपचारिक कर्ता हैं।

देखिये—वेद अकृतक एवं ऋषिप्रोक्त माने जाते हैं, ऋषिप्रणीत नहीं; पर उन्हें भी महाभाष्यकार ग्रन्थ मानकर प्रोक्त-प्रत्यय होनेपर भी उन्हें 'कृत' मानकर 'तेन प्रोक्तम्' के अधिकारको उसमें हटाकर 'कृते ग्रन्थे' से प्रत्यय करते हैं (महा. ४।३।१०१) अर्थात् ऋषिप्रोक्तको भी ऋषि-'कृत' मान लेते हैं; तब यदि महाभाष्यकारने पाणिनिप्रोक्त १४ सूत्रोंको पाणिनिकृत कहीं सूचित कर दिया हो; तब उसमें वही औपचारिकता ही माननी चाहिये। वस्तुतः नहीं; अन्यथा वेद भी ग्रन्थ होनेसे कृत हो जावेगा। पर यह अनिष्ट है।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि—जैसे टेलिग्रामकी सांकेतिक ध्वनियोंको विदेशसे प्राप्त कर उनके जानकार उस विभागके अध्यक्ष अक्षर लिख लिया करते हैं, जिनसे सम्बन्धियोंका सुख, दुःख आदि तथा व्यापारादि-सम्बन्धी वृत्त अथवा अन्य विशिष्ट वृत्तान्त जाना जाता है; परन्तु वह तारवर्कीके क्लर्कका बना हुआ नहीं माना जाता; वैसे ही यदि उनके

जानकार श्रीपाणिनि तथा सनक आदियोंने डमरूके द्वारा 'अ इ उण्' आदि १४ सूत्रोंके अक्षर प्राप्त किये हों; तब इससे श्रीपाणिनि उसके कर्ता नहीं बन जाते; तथा इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं होना चाहिये। ज्यों-ज्यों विज्ञानकी वृद्धि होती जावेगी; त्यों-त्यों इस प्रकारकी शङ्काएं स्वयं समाहित होती जाएंगी। तथाकथित 'असम्भव' आगे 'सम्भव' बन जाएंगे।

अब एक प्रश्न फिर भी रह जाता है कि—उन्हीं अक्षरोंसे पाणिनिने तो व्याकरणशास्त्र जान लिया; पर उस समय वहां मुमुक्षु सनक आदि भी तपस्या कर रहे थे। उन्हें व्याकरणकी अपेक्षा नहीं थी; वे तो ब्रह्म-ज्ञान चाहते थे; उन्हें उसी डमरूके शब्दसे 'अकारो ब्रह्मरूप: स्यान्निर्गुण: सर्ववस्तुषु। चित्कलाम् इं समाश्रित्य जगद्रूप उणीश्वर:' आदिरूपसे ब्रह्म-ज्ञान कैसे मिला? जब दोनोंने समान डमरूका शब्द सुना; तब अर्थभेद वा फलभेद कैसे हुआ?'

इस पर यह जानना चाहिये कि—तीतर एक पक्षी होता है। उसे प्राय: मुसलमान पालते हैं; और पिंजरोंमें रखते हैं। वह थोड़ी-थोड़ी देरके बाद ऊँचे स्वरसे बोलता है। वहां पर सभी अपने-अपने आशयके अनुसार भिन्न-भिन्न शब्द वा अर्थ लेते हैं। मुसलमान मानते हैं कि यह बोलता है, 'सूभान तेरी कुदरत', पर हिन्दू मानते हैं कि-यह कह रहा है—'राम लक्ष्मण दशरथ'; पर कसरती लोग कहा करते हैं कि यह कहता है—'खा घी कर कसरत'। पंसारी बनिया कहता है कि--यह कहता है कि—'मिर्चा धनिया अदरक'। पान वाले मानते हैं कि--यह कहता है—'पान पत्ता अदरख'। चर्खा कातनेवाली स्त्रियां कहती हैं कि यह बोल रहा है—'चर्खा पूनी चमरख'। हिंसक उसका शब्द मानते हैं कि—'कर जबह ढक रख'। वैसे ही एक ही शब्दसे सनक आदि तथा पाणिनिके ज्ञानभेदमें भी तारतम्य जानना चाहिये।

सनक आदि मुमुक्षु थे; अतएव उन्होंने उन अक्षरोंका अभिप्राय वैसा समझा। उस अभिप्रायको नन्दिकेश्वरने अपनी काशिकामें पद्यबद्ध

किया है। उपमन्युने उसकी व्याख्या की है। निर्णयसागरमें छपे महाभाष्य-के प्रत्याहाराह्निकके अन्तमें म०म० पं० शिवदत्तजीने उसे उद्धृत किया है। श्रीपाणिनि व्याकरणजिज्ञासु थे; उन्होंने उसके द्वारा व्याकरण-ज्ञान प्राप्त किया।

इस प्रकारके विषयमें वेदके ब्राह्मणभागमें एक गाथा भी प्रसिद्ध है कि—प्रजापतिने अपने उद्धारके उपायकी जिज्ञासार्थ आये हुए अपने देव, असुर, मनुष्य आदि प्रजाजनोंको 'द द द' इस अक्षरका उपदेश किया। उनमें इन्द्रियविषयाभिलाषी (जैसा कि पुराणोंमें देवताओंकी इस वेदोक्त विषयाभिलाषुकताकी व्याख्या की गई है) देवताओंने 'द' शब्दसे 'दम' (इन्द्रियोंका दमन) समझा। क्रूर असुरोंने 'द' शब्दसे 'दया' का अवलम्बन तथा लोभी एवं स्वार्थी मनुष्योंने 'द' शब्दसे 'दान' को अपना उद्धारका मार्ग समझा। पूछनेपर उन्होंने ब्रह्माजीको अपना अभिप्राय बतलाया; और ब्रह्माने स्वीकृत किया। अक्षरके एक होनेपर भी सबने उसका अभिप्राय अपने उद्धारानुकूल भिन्न-भिन्न ही जाना।

इस विषयमें यजुर्वेदमाध्यन्दिनसं.के ब्राह्मण 'शतपथ'में यह शब्द आये हैं—'त्रय: प्राजापत्या: प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषु: देवा: मनुष्या: असुरा:। उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचु:-ब्रवीतु नो भवान् [उपदेशम्] इति। तेभ्यो ह एतदक्षरमुवाच—'द' इति। (प्र.) व्यज्ञासिष्ट [यूयम्]? इति। (उ.) व्यज्ञासिष्म इति ह ऊचु: [देवा:]—दाम्यत इति न: आत्थ-इति। ओम्-इति होवाच-व्यज्ञासिष्ट इति' (१४।८।२।१-२) इससे देवताकोंका इन्द्रियविषयाभिलाषी होना वेदानुकूल सिद्ध हो रहा है, इसलिए पुराणोंमें भी यदि देवताओंकी इन्द्रियविषयाभिलाषिता दीखती है, वह वेदानुकूल सिद्ध हुई, प्रक्षिप्त एवम् अवैदिक नहीं।

अथ ह एनं मनुष्या ऊचु:—ब्रवीतु नो भवानिति। तेभ्यो ह एतदेव अक्षरमुवाच 'द' इति। (प्र.) व्यज्ञासिष्ट? इति। (उ.) व्यज्ञासिष्म इति ह ऊचु:—दत्त इति न: आत्थ। ओमिति होवाच व्यज्ञासिष्ट इति

(३)। अथ ह एनमसुरा ऊचुः—ब्रवीतु नो भवान् इति। तेभ्यो ह एतदेवाक्षरमुवाच—'द' इति। (प्र.) व्यज्ञासिष्ट ? (उ.) व्यज्ञासिष्म इति होचुः। दयध्वमिति नः आत्थ इति। ओम् इति ह उवाच—व्यज्ञासिष्ट इति। तदेतदेव—एषा दैवी वाग् अनुवदति स्तनयित्नुः [मेघः] द द द इति, दाम्यत, दत्त, दयध्वम्-इति। तदेतत् त्रयं शिक्षत-दमं, दानं, दयाम् इति' (१४।८।२।४)।

इस प्रकार अक्षरके एक होनेपर भी सबने उसका अभिप्राय अपने उद्धारानुकूल भिन्न-भिन्न जाना। इसी भांति १४ सूत्रोंसे सनक-आदियोंने मुक्तिका प्रकार समझा, और श्रीपाणिनिने उनसे व्याकरणके प्रणयनका मार्ग जाना। अब यह विषय शङ्कनीय नहीं रहा। अतः इसे यहीं समाप्त किया जाता है।

---

२० अन्तर्धानसिद्धिमें प्रमाण एवं उपपत्तियां।

पुराणमें देवता-अप्सरा आदियों, तथा योगी एवं मुनियोंका समय-समयपर अन्तर्धान होजानेका वर्णन मिलता है; पर आजके दयानन्दी आदि साम्प्रदायिकोंका उसपर विश्वास नहीं। उन्हींके नेता स्वा. द. जी स. प्र. में कहते हैं—'जो कहो कि—यमदूतादि सूक्ष्म-देहादि धारण कर लेते हैं; तो प्रथम पर्वतवत् शरीरके बड़े-बड़े हाड पोपजी, बिना अपने घरके कहाँ धरेंगे, (११ समु. पृ. २१७)

खेद; ये ही वैदिकम्मन्य वा आर्यम्मन्य समाजके दूरदर्शी एवं विद्वान् नेता कहे जाते हैं। जब नेताकी यह दशा है; ऐसी संकुचित बुद्धि है, तब उनके अनुयायियोंकी भी वसी तंग बुद्धि क्यों न होगी ? उक्त स्वामी यह लिखकर अपने लेखके विरोधको भी नहीं देखते। इससे उनकी अल्प-श्रुतताकी प्रसिद्धि होगी—यह भी उन्होंने नहीं सोचा। अपने मान्य ग्रन्थोंको भी उनने कभी नहीं देखा मालूम होता; अथवा वे ग्रन्थोंको ऊपर-ऊपरसे देखनेके आदती हैं—ऐसा प्रतीत होता है।

उन आक्षेप्ता-महाशयसे प्रष्टव्य है कि-आपने 'पर्वतके समान देहवाले यमदूतों' का सूक्ष्म देह धरना तो मान लिया है, पर सन्देह केवल उनकी हड्डियोंको सूक्ष्म करनेमें माना है। यह क्या ? जो अपने विशाल देहको सूक्ष्म कर सकेगा; तब क्या अपनी—हड्डियोंको सूक्ष्म न कर सकेगा ?'

परमात्मा बीजरूप है, जब वह बीज विकसित होता है; तब ब्रह्माण्डरूप वृक्ष बन जाता है। जब वह फिर सूक्ष्मता करना चाहता है; तब सारा ब्रह्माण्ड—चाहे उसमें मकानोंके ईंट-पत्थर हों; वा वृक्षके बड़े-बड़े मूल हों; संक्षिप्त होकर वही बीजरूप हो जाता है। इस प्रकार जिस यमदूतमें स्थूलताकी इच्छा होती है; तब वह पर्वतके आकारका हो जाता है। जब उसकी सूक्ष्मताकी इच्छा होती है, तब स्वयं अपनेमें निविष्ट होकर बीजरूप वा अणुरूप बन जाता है। बीज वृक्षको बनाता है; और वृक्ष बीजको।

एक उदाहरण देखिये, है अश्लील। अश्व आदियोंके अङ्गको देखिये। जब वे चाहें; तब वह बड़ा हो जाता है; जब चाहें, इतना सूक्ष्म हो जाता है कि—पहलेके तथा वर्तमानके आकारमें आकाश-पातालका अन्तर मालूम होता है। अथवा कछवेका उदाहरण देखिये, वह अपने अङ्गोंको विकसित भी कर देता है, संकुचित भी कर देता है। इस प्रकार साही अपने कांटोंको प्रकट कर देता है; और फिर उन्हें अपने अन्दर डाल देता है। कहनेका यह तात्पर्य है कि—जिनमें दीर्घताकी शक्ति होती है, उसमें सूक्ष्मताकी शक्ति भी होती है। वह यदि अपने शरीरको पहाड़के समान कर सकता है; तब हड्डियोंको भी छोटा कर सकता है। यदि शरीर सूक्ष्म हो सकता है, तो हड्डियां भी सूक्ष्म हो सकती हैं। शुक्रमें अस्थियां भी होती हैं; पर सूक्ष्मरूप।

यह अपने आपको सूक्ष्म कर लेना ही अन्तर्धान-विद्याका मूल है। जो अपने आपको सूक्ष्म कर सकेगा; वह दूसरोंकी दृष्टिमें अवश्य अन्त-र्हित हो जायगा। जैसे कि-वेदान्तदर्शनके शाङ्करभाष्यमें भी संकेतित

किया है—'परैश्च न दृश्यते अन्तर्धानादिक्रियायोगात्' (१।३।२७) यह शरीर परमाणुपुञ्जके संयुक्त होनेसे प्रत्यक्ष दीखता है; परन्तु जब कोई अद्भुत शक्तिशाली उसे अत्यन्त सूक्ष्म कर दे; तब वह लोकदृष्टिमें अन्तर्भूत हो जायगा। कीटाणु होते हुए भी, अणुवीक्षणयन्त्रसे स्फुट दीखते हुए भी, आंखोंसे नहीं दीख सकते; इसलिए वे अन्तर्हित ही होते हैं।

स्वा. द. जीने 'पृथिव्या अहम् अन्तरिक्षम् आरुहं' (यजुः १७।६७) इस मन्त्रके भावार्थमें लिखा है—'मनुष्य अपने आत्माके साथ जब परमात्माके योगको प्राप्त होता है; तब अणिमा आदि सिद्धि उत्पन्न होती है। उसके पीछे कहींसे न रुकनेवाली गतिसे अभीष्ट स्थानोंको जा सकता है; अन्यथा नहीं' यहां स्वामी अणिमा आदि सिद्धियोंको स्वीकार करते हैं, और योगीमें अणिमा आदि सिद्धिकी प्राप्ति मानते हैं। अणिमाका अर्थ है—बहुत सूक्ष्मता। सूक्ष्मता सब अङ्गोंकी शक्तिविशेषसे ही माननी पड़ेगी। जिस शक्तिसे देवता वा योगी अङ्गोंको सूक्ष्म करेगा; उनमें हड्डियोंकी सूक्ष्मता स्वतः ही माननी पड़ेगी। सांख्यतत्त्वकौमुदीमें २३ कारिकामें श्रीवाचस्पतिमिश्रने लिखा है—'अणिमा—अणुभावः; यतः शिलामपि प्रविशति'। सो जो सूक्ष्म होकर शिलामें भी प्रवेश कर सकेगा; उसे अपनी हड्डियां स्वतः ही सूक्ष्म करनी पड़ेंगी; नहीं तो अणिमा-सिद्धि ही व्यर्थ होगी। यदि वह हड्डियां सूक्ष्म नहीं कर सकेगा; तो अन्य अङ्गोंको भी सूक्ष्म न कर सकेगा। तब योगशास्त्र-समर्थित 'अणिमा' सिद्धिका फिर कुछ भी अर्थ नहीं होता।

'अग्ने! सहस्राक्ष!' (यजुः १७।७१) इस मन्त्रमें स्वा. द. जीने यह भाष्य किया है—'जो योगी पुरुष तपः स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान आदि योगके साधनोंसे योगके बलको प्राप्त हो, और अनेक प्राणियोंके शरीरमें प्रवेश करके अनेक शिर नेत्र आदि अंगोंसे देखने आदि कार्योंको कर सकता है। अनेक पदार्थों वा धनोंका स्वामी हो

सकता है'। यहां स्वामीसे प्रष्टव्य है कि-जो योगी दूसरोंके शरीरमें प्रवेश करेगा; वहां यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि—वह अवश्य सूक्ष्म होगा; तब उन्हें बताना चाहिये कि—वह योगी अपनी हड्डियोंको कहां रखेगा; क्या स्वामीजीके कथनानुसार उन्हें पोपजीके घर रखेगा; वा स. प्र. के पत्रोंमें? जो इसमें उत्तर होगा, वही उत्तर स्वा. द. जीके आक्षेपका हो जावेगा। यमदूतोंमें दिव्यशक्तिवश योगशक्ति स्वतः ही होती है।

'संस्तूयमानो हनुमान् व्यवर्धत महाबलः' (वाल्मी. किष्कि ६७।४) 'दशयोजनविस्तारो हनुमान् अभवत्तदा' (सुन्दर १।१५४) यहाँ हनुमान्-की आकार-वृद्धि दिखलाई है। देवावतारवश हनुमान्में यह स्वाभाविक है। आजकलके प्राणायामी वा योगाभ्यासी भी कुछ अपनेको बढ़ाते देखे गये हैं। लाहौरके डी. एं. वी. कालेजमें १९२०-२१ सन्के लगभग एक योगाभ्यासी आया था। वह कहता था कि—जो अङ्ग आप कहें-मैं उसे मोटा कर दूंगा। कोई कहता था कि—अपनी बाहुको मोटा करो; तब वह अपनी शारीरिक-वायुको बाहुमें ही केन्द्रित कर देता था; जिससे वायुकी व्याप्तिसे उसकी बाहु बहुत मोटी हो जाती थी। इस प्रकार वह अन्य अङ्गोंको भी मोटा कर दिया करता था। पाठकोंने ऐसे व्यक्ति भी देखे होंगे कि-वे दस-बारह वर्षकी आयु तक तो बहुत दुबले वा साधारण शरीरके थे; पीछे उनका शरीर बहुत मोटा हो गया। पहले उसके शरीरने जितने आकाशको घेर रखा था; अब उसीके शरीरने पहलेसे दुगुना-तिगुना आकाश व्याप्त कर डाला। कहनेका यह निष्कर्ष है कि—जो मोटे होते हैं; उनके शरीरमें वायु ही व्याप्त हो जाती है, हड्डियां भी उनकी कुछ बढ़ जाती हैं। वायु पूर्ण होनेके कारण किन्हींके अण्डकोष स्वाभाविकतासे बहुत स्थूल एवं भारी हो जाते हैं।

इस प्रकार योगियोंमें भी यह शक्ति है कि—जब चाहें; तभी बाहरी वायुको अपनेमें भरकर उससे अपने शरीरको जितना बढ़ाना चाहें-बढ़ा सकते हैं। यह शक्ति योगियोंमें अभ्याससे आती है; देवताओंमें स्वभावसे

अर्थात् जन्मसे ही होती है। हनूमान् तो वायुसे उत्पन्न हुआ था, इस कारण वायुदेवतावतार था। अपनेमें वायुको भरकर यदि उसने अपना शरीर बढ़ा लिया; तब इसमें कोई आश्चर्य नहीं रहा।

उसी हनुमान्का 'सूर्ये चास्तं गते रात्रौ देहं संक्षिप्य मारुतिः। वृषदंशकमात्रोथ बभूवाऽद्भुतदर्शनः' (सुन्दर. २।४७) यहांपर शरीरका संक्षेप करके बिलावके परिमाणवाला हो जाना लिखा है। वह शरीरका संक्षेप उतनी परिमाणवाली वायुको शरीरसे बाहर कर देनेपर समझना चाहिये। जैसे--फुटबाल वा बाली-बालका रबड़का ब्लैडर पम्पद्वारा हवाके भरनेसे मोटा और वायुके निकलनेसे फिर सूक्ष्म हो जाता है; वैसे ही देवताओंमें, देवतावतारोंमें, योगियोंमें भी यह शक्ति होती है कि—वे जब चाहें, अपने शरीरको मोटा कर लें। और जितना चाहें, उतनी वायुको अन्दर रख करके शेष वायुको बाहर कर दें; परन्तु साधारण लोगोंमें यह शक्ति नहीं होती; वे तो अपने शरीरकी प्रकृतिके अधीन होते हैं। जब उसके कारण वायुसे भर जाते हैं; तब मोटे हो जाते हैं। जब ज्वर आदिके कारण वह वायु उनके शरीरसे क्रम-क्रमसे बाहर हो जाती हैं, तब वे दुबले-शरीरवाले हो जाते हैं; परन्तु स्वतः उनमें वायुको न्यूनाधिक करके स्थूल वा सूक्ष्म हो जानेकी शक्ति नहीं होती; इसलिए वे पुराणवर्णित ऋषि-मुनियोंमें वैसा देखकर आश्चर्य-चकित होते हुए उसमें असम्भवकी शङ्का करते हैं; परन्तु उन्हें यहां वेदान्तदर्शनके १।३।३३ सूत्रका शाङ्करभाष्य याद रख लेना चाहिये—

'ऋषीणामपि मन्त्र-ब्राह्मणदर्शिनां सामर्थ्यं नास्मदीयेन सामर्थ्येन उपमातुं युक्तम्। तस्मात् समूलम् इतिहासपुराणम्।···योगोपि अणि-मादि-ऐश्वर्यप्राप्तिफलः स्मर्यमाणो न शक्यते प्रत्याख्यातुम्' (प्राचीन मुनियोंकी सामर्थ्यको हमें अपनी सामर्थ्यके समान नहीं समझना चाहिये। इस कारण उसके बतानेवाले पुराण-इतिहास समूल हैं। अणिमा आदि सिद्धि देनेवाले योगका खण्डन नहीं हो सकता।) 'यद्यपि प्राकृताः प्राणिनो

न तद्व्यवहारमनुसन्दधाना दृश्यन्ते; तथापि न प्राकृतवद् ईश्वराणां भवितव्यम्। तथाहि—प्राणित्वाऽविशेषेपि मनुष्यादिस्तम्बपर्यन्तेषु ज्ञानै-श्वर्यादि-प्रतिबन्धः परेण-परेण भूयान् भवन् दृश्यते। तथा मनुष्यादिषु हिरण्यगर्भपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्याभिव्यक्तिरपि परेण-परेण भूयसी भवति--इत्येतत् श्रुतिस्मृतिवादेषु असकृद् अनुश्रूयमाणं न शक्यं 'नास्ती'ति वदि-तुम्' (वेदान्त. शाङ्कर. १।३।३०) (चाहे प्राणी बराबर हैं; पर ज्ञान वा ऐश्वर्यकी अभिव्यक्ति सबमें बराबर नहीं होती, बल्कि—एक-दूसरेकी अपेक्षा अधिक होती है, तब श्रुति, स्मृति आदिमें यदि ऐसा वर्णन आता है; उसे असम्भव नहीं कहा जा सकता)।

इस प्रकार जहां हनुमान्का बिलाव-इतना शरीर कहा है; वहीं उसका अंगूठे-इतना बन जाना भी कहा है—'स संक्षिप्यात्मनः कायं जीमूत इव मारुतिः। तस्मिन् मुहूर्ते हनुमान् बभूवाऽङ्गुष्ठमात्रकः' (सुन्दर. १।१५६)। देवता वा उनके अवतार तथा हमसे विलक्षण-सृष्टि ऋषि-मुनियोंकी हड्डियोंमें भी हम लोगोंकी भांति पृथ्वीभाग अधिक नहीं होता, जिससे शरीरके संक्षिप्त करनेके समय उनको हड्डियोंके संक्षेप करनेमें कठिनता पड़े। वैशेषिकदर्शनके वादि-प्रतिवादिमान्य प्रशस्त-पादभाष्यमें—'तत्र अयोनिजम् अनपेक्ष्य शुक्रशोणितं देव-ऋषीणां शरीरं धर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते' (द्रव्यग्रन्थ, पृथिवीनिरूपण) देवताओं तथा ऋषिमुनियोंकी उत्पत्ति हम लोगोंसे विलक्षण-अयोनिज कही गई है; तब उनकी अस्थियां भी हमारी भांति कठोर नहीं हुआ करतीं। तब उसमें शङ्का नहीं करनी चाहिये। इन ग्रन्थोंके स्पष्ट उल्लेख विद्यमान होनेपर भी यमकिङ्करोंके हड्डियोंके संक्षेप करनेमें सन्देह करनेवाले व्यक्ति अल्पश्रुत एवं अल्पज्ञानवाले सिद्ध हुए; क्योंकि-अन्य लोकोंमें तेजोमय शरीर, जलमय शरीर, और वायुमय शरीर भी न्यायदर्शन 'तत्र मानुषं शरीरं पार्थिवम्,...आप्य-तैजस—वायव्यानि लोकान्तरे शरीराणि' (३। १।२८)--में प्रसिद्ध हैं। उनके शरीरोंमें यद्यपि पृथिवी होती तो है;

परन्तु थोड़ी मात्रामें ही। सूर्यदेवको ही देख लीजिये। वह हमारी पृथिवीकी अपेक्षा तेरह लाखगुना बड़ा है; फिर भी उसका भार पृथिवीकी अपेक्षा बहुत थोड़ा है--यह वैज्ञानिक लोग कहा करते हैं। इसमें कारण यही है कि--उसमें तेजभाग बहुत है; और पृथिवीभाग बहुत थोड़ा, इस प्रकार हमसे विलक्षणशरीरवाले देवऋषि-मुनियोंके शरीरोंमें भी पार्थिव अंशके थोड़े होनेसे, तेज, वायु आदि अंशोंकी अधिकता होनेसे बड़ी हड्डियोंवाले भी वे अपनी अस्थियोंको संक्षिप्त कर सकते हैं।

बाइसाईकल होते हैं, उनका हैंडिल विशेषरूपका बना हुआ होता है, उसे केवल बाएं-दायें घुमा सकते हैं, परन्तु सर्कसवालोंके साइकलोंके हैण्डिल चारों ओर घूम सकते हैं। अन्य साइकलोंमें ऐसा नहीं हुआ करता। वैसे हमसे विशेष देवों-योगी, मुनि आदियोंमें कुछ विशेषता हुआ करती है। वे अणिमा आदि सिद्धियोंकी महिमासे अपने आपको अणु-परिमाणवाला वा बड़े परिमाणवाला बना सकते हैं।

शङ्काकर्ताओंके दादागुरु स्वा. द. जी योगदर्शन तथा उसके व्यास-भाष्यको तथा योगसिद्धियोंको मानते थे, यह हम अन्यत्र 'आलोक' (६) ('अगस्त्य ऋषिका समुद्रपान) में लिख चुके हैं। उसी 'योगदर्शनके' 'ततोऽणिमादि-प्रादुर्भावः, कायसम्पत् तद्धर्मानभिघातश्च' (३।४५) इस सूत्रसे योगीको अणिमा सिद्धि सिद्ध होती है। उसके वादिप्रतिवादिमान्य व्यासभाष्यमें लिखा है--'तत्र अणिमा भवति अणुः....तद्धर्मानभिघातश्च, शिलामपि अनुप्रविशतीति'। अणिमाको तथा योगदर्शनके व्यासभाष्यको स्वा. द. जी भी अपने वेदभाष्यमें मान गये हैं--यह हम पीछे लिख चुके हैं। अणिमासे जब योगी शिलामें घुस जाता है; तब उसकी स्थूल हड्डियां कहाँ जाती हैं--वह सोचकर ही स्वा. द. जीको यमदूतोंपर आक्षेप करना चाहिये था कि--'प्रथम पर्वतवत् शरीरके बड़े-बड़े हाड पोपजी, विना अपने घरके कहाँ धरेंगे' (स. प्र. २१७ पृ.)

फलतः यह अणिमा ही अन्तर्धान-विद्याका मूल है। अणिमा सिद्धिकी

प्राप्ति होनेपर योगी स्वयं ही जनसाधारणकी दृष्टिमें अन्तर्हित हो जाता है। यह शक्ति देवोंमें जन्मसे ही होती है, ऋषि-मुनि, योगियोंमें योग-सिद्धिकी प्राप्ति वा योगाभ्याससे प्राप्त होती है। यही अन्तर्धानसिद्धि 'तिरस्करिणी विद्या' इस नामसे कही जाती है। मेनका, उर्वशी आदि अप्सराओंमें बहुत प्रसिद्ध है।

अन्तर्धान कई प्रकारसे होता है। पहला अन्तर्धान तो अणिमासे होता है--यह पूर्व बताया जा चुका है। यह वास्तविक अन्तर्धान है। दर्शकके देखते ही देखते वह छिप जाता है। जैसेकि--सत्यनारायणव्रत-कथामें वृद्धब्राह्मण-रूपधारी भगवान्-नारायण शतानन्दब्राह्मणके देखते ही अन्तर्धान हो गये। दूसरा अन्तर्धान होता है दूसरेकी दृष्टिका प्रतिबन्ध करके। अर्थात्--वहाँ अपनी सूक्ष्म करनेकी आवश्यकता नहीं होती; केवल दूसरेकी दृष्टिको बान्धनेसे अपने साक्षात्रूपसे विद्यमान होनेपर भी दूसरे की दृष्टिमें नहीं दीखता।

यह दृष्टि-प्रतिबन्ध भी बहुत तरहका होता है। स्थूलरूपसे दो प्रकार का होता है। उनमें पहला प्रकार मैस्मरेजम-विद्याविशारदोंका होता है। उनके पास एक ऐसा काला डण्डा वा अन्य वस्तु होती है, जो वे दर्शकोंको इधर-उधर हिलाकर दिखलाते हैं। उसके बलसे उस वायुमण्डलमें स्थित वा प्राप्त हुए दर्शकोंकी दृष्टि प्रतिबद्ध हो जाती है, अर्थात् द्रष्टाओंकी आंख यह दिखलाती है कि--यह पुरुष कागजोंको खा रहा है, तब कागजोंकी ही रस्सी मुखसे निकाल रहा होता है। परन्तु वास्तवमें उसका कागजोंके खानेसे सम्बन्ध नहीं होता; परन्तु वैसा मालूम होता है। यहांपर दर्शकोंकी आंखें धोखा खा जाती हैं। इसलिए इस प्रकारके अन्तर्धानका उपयुक्त नाम 'तिरस्करिणी विद्या' ठीक जंचता है; क्योंकि इसमें दर्शकके नेत्र ठगे जाते हैं। वे आंखें अव्यभिचारी नहीं, किन्तु व्यभिचारी प्रत्यक्ष देख रही होती हैं।

इस प्रकार अन्यक्रीडाओंकेलिए भी जानना चाहिये। मैस्मरेजमके

अत्यन्त अभ्यास होनेपर उसका जानकार व्यक्ति अपने नेत्रसे दूसरेके नेत्र मिलाता हुआ उसे बेहोश कर देता है। अथवा उससे भी अत्यन्त अभ्यास होजानेपर वह सामने ठहरा हुआ भी दूसरेकी दृष्टिको प्रतिबद्ध करके दूसरेसे नहीं देखा जा सकता। लोग उसे संदूकमें बन्द कर देते हैं। परन्तु वह उससे कैसे निकल गया; यह दर्शक नहीं जान पाते। उसे रस्सीसे बांध देते हैं; पर वह बिना ही गांठ खोले उससे छूट जाता है। इस प्रकार दूसरी मैस्मरेजम कम्पनीने रातमें खेल शुरू करनेमें बहुत देरी कर दी। दर्शक लोग घबराकर शोर मचाने लगे। उसका प्रधानकार्यकर्ता रङ्गमञ्चपर आकर लोगोंसे शोर मचानेका कारण पूछने लगा। उन्होंने कहा कि-ग्यारह बज गये हैं, अभी तक खेल शुरू नहीं किया जा रहा, क्या बात है ? उसने कहा-नहीं, अभी तो आठ बजे हैं, ग्यारह नहीं। यदि विश्वास न हो तो अपनी घड़ियां देखिये। दर्शकोंने अपनी घड़ियां देखीं; उनमें आठ ही बजे थे। दृष्टिबन्दीसे ही पहले टाइम और मालूम हुआ, और अब और। कार्यकर्ताने कहा कि-अब आप लोग घर जाइये। यही खेल था, जो हम दिखला चुके।

दूसरा प्रकार अन्तर्धानका यह होता है कि-किसी गैस वा धुंवा वा कुहरेका इधर-उधर फैला देना। जर्मनीने ऐसे यान युद्धमें आविष्कृत किये थे; जिन्हें आकाशमें होनेपर भी कोई देख न सकता था। उनमें यह शक्ति थी कि--वायुयानके चारों ओर एक गैस-सी फैल जाती थी; जिससे उस गैससे घिरा हुआ वायुयान नहीं दीख सकता था। वैज्ञानिकोंमें यह शक्ति यन्त्रके कारणसे है, परन्तु हमारे प्राचीन-मुनियोंमें यह तपोबलसे थी। इसी शक्तिसे पराशर-ऋषिने सत्यवतीके सम्मेलनके समयमें कुहरा-सा पैदा कर दिया, जिसका वर्णन महाभारतके आदिपर्व ६३ अध्यायमें आया है, जिससे उन दोनोंको कोई देख नहीं सकता था—'एवं तयोक्तो भगवान् नीहारमसृजत् प्रभुः। येन देशः स सर्वस्तु तमोभूत इवाऽभवत्। दृष्ट्वा सृष्टं तु नीहारं ततस्तं परमर्षिणा। विस्मिता साऽ-

भवत् कन्या व्रीडिता च तपस्विनी' (७३-७४)।

जैसे शीतकालमें पाठकोंने तेज कुहरा देखा होगा, जिसके फैल जानेसे लोग आगे ठहरे भी व्यक्तिको नहीं देख सकते। इसी कारण रेलगाड़ियां सिगनल न दीखनेसे लेट हो जाती हैं। इस प्रकार योगी दिनमें कुहरा वा काली आंधी पैदा करके दूसरेकी दृष्टिमें अन्तर्हित हो जाते हैं।

अथवा योगी भी अपने शरीरमें ऐसी वस्तु आरोपित कर देते हैं जिससे जनसाधारणकी नेत्रोंकी रश्मियां उसपर अपना प्रभाव नहीं डाल सकतीं; अर्थात् उन्हें देख नहीं सकतीं। वायु होता हुआ भी हमसे नहीं दीखता; इस प्रकार परमात्मा वा जीवात्मा भी। उसमें कारण है हमारी आंखकी उनमें प्रसरणशक्ति न होना। होते हुए भी परमाणु हमसे नहीं दीखते। अथवा वे हमारी आंखोंके इतने निकट आ जाते हैं कि-हमें नहीं दीखते। आंखोंका अञ्जन भी आंखोंके अति-समीप होनेसे नहीं दीखता। इस प्रकार सूक्ष्मरूपवाले योगियोंके अदर्शनका भी कोई कारण समझ लेना चाहिये।

अथवा--वे योगी सुफेदमें सुफेद होकर, वा कालेमें काले बनकर नहीं दीखते। सफेद जलमें अन्य सुफेद जल मिल जावे; तो हम, दोनोंका विश्लेषण करनेमें समर्थ नहीं होते। अभिसारिका कृष्णपक्षमें कृष्ण कपड़े पहनकर और शुक्लपक्षमें शुक्लवस्त्र पहनकर इसीलिए जाती है कि--मैं दीखूं नहीं। इसीका वर्णन एक कविने बड़े सुन्दर आलङ्कारिक प्रकारसे किया है—'सुसितवसनालङ्कारायां कदाचन कौमुदी--महसि सुदृशि स्वैरं यान्त्यां गतोऽस्तमभूद् विधुः। तदनु भवतः (राज्ञः) कीर्तिः केनाप्यगीयत, येन सा, प्रियगृहमगान्मुक्ताशङ्का, क्व नासि फलप्रदः'। (काव्यप्रकाश १० म में) (हे राजा ! चान्दनीरातमें एक अभिसारिका सुफेद कपड़े पहनकर जा रही थी कि--मैं न दीखूं। पर रास्तेमें चन्द्रमा अस्त हो गया। तब तो वह डरी कि-मैं दीख जाऊंगी। उस समय हे राजा ! किसीने आपकी कीर्तिका गान कर दिया। कीर्तिका वर्णन कवियोंके

सम्प्रदायमें सुफेद होता है। सो उस कीर्तिकी सुफेदीके फैल जानेसे वह निश्शङ्क होकर अपने प्रियके घरमें चली गई, ऐ राजा, तू कहां शुभ नहीं देता, अर्थात् सर्वत्र तू शुभप्रद है।) यहां निराकार यशकी सुफेदीका वर्णन कविकी प्रौढोक्तिमात्र है, स्वतः-सम्भवी नहीं। परन्तु उसका निष्कर्ष यह निकलता है कि--सुफेदमें सुफेद वस्तु नहीं दीखती।

इसी प्रकारका एक अन्य कविने भी भ्रान्तिमान् अलङ्कारमें सुन्दर वर्णन दिया है—'महाराज ! श्रीमन् ! जगति यशसा ते धवलिते, पयः-पारावारं परमपुरुषोऽयं मृगयते। कपर्दी कैलासं, करिवरमथायं कुलिशभृत्, कलानाथं राहुः, कमलभवनो हंसमधुना' (ऐ राजन् ! तेरे यशसे सारा जगत् सुफेद हो गया; इससे लोगोंको बड़ी कठिनाई उपस्थित हो रही है। विष्णुभगवान्को अपना क्षीरसमुद्र नहीं मिल रहा, श्रीशङ्करको कैलास-पर्वत नहीं मिल रहा, और इन्द्रको ऐरावत हाथी नहीं मिल रहा। राहु चन्द्रमाको ग्रहणकेलिए ढूंढ रहा है और ब्रह्माजी अपने हंसको ढूंढ रहे हैं) यहांपर यशको सुफेद बताकर उसके फैलनेसे सुफेद क्षीर-समुद्र, कैलास, ऐरावत आदि उन-उनको नहीं मिल रहे थे, जिस प्रकार सुफैद बालोंमें सुफेद जूं नहीं मिलती। यहां भी यद्यपि कविकी प्रौढोक्ति है; तथापि उससे सुफेदमें सुफेद वस्तु अन्तर्हित हो जाती है—इस बातको सूचित किया गया है। इस प्रकार योगियोंके अन्तर्धानके विषयमें भी जानना चाहिये।

इस प्रकार हमारी नेत्रकी किरण कांचसे नहीं रुकती; क्योंकि-वह स्वच्छ है; लेकिन वह दीवारसे रुक जाती है; क्योंकि वह मलयुक्त है। इस प्रकार योगी भी अपने प्रभावसे दर्शकोंकी दृष्टिमें ऐसी दीवार जोड़ देते हैं कि—दर्शकोंकी नेत्ररश्मि उसे न भेद सकनेसे उन्हें नहीं देख सकती। इस प्रकार अन्तर्धान-सिद्धिमें कोई बाधा नहीं रह पाती।

ऐसी उपपत्तियां होनेपर भी हम शङ्काकर्ताओंके नेता स्वा. द. जीके भी मान्य योगदर्शनका भी प्रमाण देते हैं। वहां लिखा है—'कायरूप-

संयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशाऽसम्प्रयोगे अन्तर्धानम्' (३।२१) यहां अन्तर्धान हो जाना भी योगकी विभूतियोंमें माना गया है। योगी अपने शरीरकी रूपसम्पत्तिका इस प्रकारका संयम करता है कि—उस रूपकी ग्राह्यशक्तिमें प्रतिबन्ध होजानेसे दूसरेकी उसके ग्रहण करनेवाली शक्ति रुक जाती है; क्योंकि--जब वस्तु ग्राह्य ही नहीं; तब उसका ग्रहण कैसे हो सकता है ? उसमें दूसरेकी आंखका प्रकाश नहीं पहुंच सकता; यही योगीका अन्तर्धान कहा जाता है। तब इसमें असम्भव न रहा। इसमें व्यासभाष्यमें इन शब्दोंमें विवरण दिया है—'कायरूपे संयमाद् रूपस्य या ग्राह्या शक्तिः, तां प्रतिबध्नाति। ग्राह्यशक्तिस्तम्भे सति चक्षुःप्रकाशाऽसम्प्रयोगे **अन्तर्धानमुत्पद्यते योगिनः**। एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तं वेदितव्यम्'।

यहांपर भास्वती टीकाने भी इस प्रकार प्रकाश डाला है—'ग्राह्या-ग्रहणयोग्या शक्तिः, तां प्रतिबध्नाति--स्तभ्नाति [योगी]। चक्षुःप्रकाशाऽसम्प्रयोगे-चक्षुर्गतप्रकाशनशक्त्या सह असम्प्रयोगे अन्तर्धानम्—अदृश्यता'। तत्त्ववैशारदी टीकाने भी इसपर लिखा है—'पञ्चात्मकः कायः, सच रूपवत्तया चाक्षुषो भवति। रूपेण हि कायश्च तद्रूपं च चक्षुर्ग्रहणकर्मशक्तिमनुभवति। तत्र यदा रूपे संयमविशेषो योगिना क्रियते, तदा रूपस्य ग्राह्यशक्तिः—रूपवत्कायप्रत्यक्षताहेतुः स्तभ्यते। तस्माद् ग्राह्यशक्तिस्तम्भे सति अन्तर्धानं योगिनः। ततः परकीयचक्षुर्जनितेन प्रकाशेन--ज्ञानेन असंप्रयोगः—चक्षुर्ज्ञानाऽविषयत्वं योगिनः कायस्येति यावत्। तस्मिन् कर्तव्ये शब्द-स्पर्श-रस--गन्ध--संयमात् तद्ग्राह्यशक्ति-स्तम्भे श्रोत्र-त्वग्-रसना-घ्राण—प्रकाशाऽसम्प्रयोगे तदन्तर्धानम्' इति सूत्रमूहनीयम्'। यहांपर जो शब्दका भी अन्तर्धान व्यासभाष्यानुसार कहा गया है; उसपर गत हिटलरीमहायुद्धमें अंग्रेजोंने एक ऐसा यन्त्र आविष्कृत किया था कि--जिसके कानपर पहरनेसे तोप वा बम आदिके गोलोंके शब्द कानके पर्देको तंग नहीं करते थे; और रातको सैनिकोंको नीन्द आ जाती थी।

उक्त योगदर्शनके सूत्रकी 'पातञ्जल-रहस्य' टीकाने इस प्रकार व्याख्या की है—'अन्तर्धानस्य उपायमाह--कायेति । सूत्रं रूप्यते, गृह्यते धर्मी, येन धर्मेण तद्रूपं न तस्य संयमकृतप्रतिबन्धे सति अन्तर्धानं योगिनः सिध्यति । सुतरां रूपाऽग्रहे रूपवतोऽग्रहणं नक्तञ्चराणां यथा आदित्यादेरग्रहः--इत्यर्थः । (जैसे रातमें देख सकनेवाले उल्लू आदि दिनमें सूर्यको नहीं देख सकते) ।

उक्त सूत्रमें 'वार्तिक' टीका इस प्रकार है—'कायस्य--स्वशरीरस्य रूपे संयमाद्--अशेषविशेषतः कारणादिभिः साक्षात्कृते सति संकल्पमात्रेण स्वकीयरूपस्य दृश्यताशक्ति परचक्षुः--संयोगयोग्यतां प्रतिबध्नाति । ततश्च परचक्षुः-प्रकाशैस्तत्किरणैः असंयोगे अन्तर्धानमुत्पद्यते योगिनः । दिवान्धेनेव केनापि असौ न दृश्यते (उस योगीको अन्य पुरुष दिनके अन्धे उल्लू आदिकी भांति नहीं देख सकता) । एतेन रूपान्तर्धानेन शास्त्रान्तरसिद्धं शब्दाद्यन्तर्धानमपि उपलक्षितं वेदितव्यमित्यर्थः । यदा कायस्य शब्द-स्पर्शरसगन्धसंयमात् तेषां ग्राह्यशक्तिस्तम्भो भवति, तदा श्रोत्रादिसन्नि-कर्ष-प्रतिबन्धाद् योगिनः शब्दादिकं बधिरेणेव केनापि न श्रूयते--इति भावः' (जब योगी संयमविशेषसे अपने शब्दादिकी ग्राह्यशक्तिको भी प्रतिबद्ध कर लेता है; तब बोल रहे हुए उसके शब्दको दूसरा पुरुष बहिरेकी भान्ति नहीं सुन सकता । इस प्रकार उसका स्पर्श आदि भी नहीं हो सकता ।)

इस प्रकार चार टीकाओंसे न केवल रूपका अन्तर्धान, बल्कि-योगियों-के रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदिके अन्तर्धानके विषयमें भी प्रकाश पड़ गया । योगदर्शन तथा उसके व्यासभाष्यको स्वा. द. जी जो आजकलके शङ्काकर्ताओंके नेता तथा विश्वासपात्र थे--अपने स. प्र. तथा सं. वि. तथा ऋभाभू. में प्रामाणिक मान गये हैं । योगदर्शनके व्यासभाष्य विषयमें स्वा. द. जीकी कैसी सम्मति थी—यह भी देखिये—'शारीरकसूत्र, योग-शास्त्रके भाष्य आदि व्यासोक्त ग्रन्थोंके देखनेसे विदित होता है कि—

व्यासजी बड़े विद्वान्, सत्यवादी, धार्मिक, योगी थे' (स. प्र. ११ पृ. २०९) यदि ऐसा है; तब अन्तर्धानसिद्धिमें कुछ भी असत्यता वा गप्पता न रही ।

योगदर्शनके तृतीयपाद विभूतिपादमें कैसी सम्मति थी, यह भी देखिये । स्वा. द. जीके जीवनचरित्र श्रीमद्दयानन्द-प्रकाशमें लिखा है—'एक सज्जनने स्वामीजीसे निवेदन किया—भगवन् ! पातञ्जल-शास्त्र [योगदर्शन] का विभूतिपाद क्या सच्चा है ? उन्हों [स्वा. द.] ने कृपा की—आप यों ही सन्देह करते हैं । योगशास्त्र तो अक्षरशः सत्य है । यह कोई पुराणोंकी-सी कल्पना नहीं है, किन्तु क्रियात्मक और अनुभव-सिद्ध शास्त्र है' (राजस्थानकाण्ड, द्वितीय सर्ग. ४६५ पृष्ठ) ।

यदि ऐसा है; तो योगशास्त्रप्रोक्त होनेसे अन्तर्धानसिद्धि अनुभवसिद्ध और क्रियात्मक सिद्ध हुई । तब जोकि स्वा. द. जीने स. प्र. में यह लिखा है कि—'पर्वतके समान यमगणोंके शरीर हों, तो दीखते क्यों नहीं' (११ समु. पृ. २१७) यह कथन उनके अल्पश्रुतत्वका अथवा आक्षेप-मात्रशूरत्वका परिचायक हुआ । जो शक्ति योगियोंमें तपोबल आदिसे प्रयत्न-प्राप्य होती है, वही शक्ति देवताओं, दैत्यों एवं राक्षसोंमें स्वतः होती है । वे बहुत बड़े भी नहीं दीखते । परमात्माको स्वामी ब्रह्माण्डसे भी बड़ा मानते हैं; फिर भी वह अन्तर्धानशक्तिसे जैसे नहीं दीखता; वैसे यहांपर भी जान लेना चाहिये । तब जो स्वा. द. जीने लिखा है कि--'मरनेवाले जीवको लेनेमें छोटे द्वारमें उन [यमगणों] की एक अंगुली भी नहीं जा सकती, और सड़क-गलीमें क्यों नहीं रुक जाते' (स. प्र. ११ पृ. २१७) यह कहते हुए उनका खण्डन हो गया । अणिमा-सिद्धिसे वे सभी प्रकारके रूप बना सकते हैं । उनके शरीरमें पृथ्वीबहुलता नहीं होती, किन्तु उनके शरीर तैजस एवं वायव्य होते हैं; अतः उनमें हड्डियां भी पार्थिव न होकर तैजस एवं वायव्य ही होती हैं; पृथिवीका भाग

बहुत न्यून होता है। तब अनेक प्रकारके रूप बनानेमें उनकी शक्ति भला कुण्ठित कैसे हो ? क्या इतना बड़ा वायु वा तेज हमारे तंग मकानोंमें नहीं घुस जाता ?। तब यमदूतोंको जिनका वर्णन वेदमें स्पष्ट है--वायव्य-शरीर होनेसे कुछ भी कठिनता नहीं रहती। तभी तो स्वा. शंकराचार्यने ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें लिखा है---'आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ ! कुर्याद् योगी बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत्। प्राप्नुयाद् विषयान् (लक्ष्यान्) कैश्चित्, कैश्चिद् उग्रं तपश्चरेत्। संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव' इत्येवंजातीयका स्मृतिरपि प्राप्ताऽणिमाद्यैश्वर्याणां योगिनामपि युगपदनेकशरीरयोगं दर्शयति, किमु वक्तव्यम् आजान (आजन्म)-सिद्धानां देवानाम्। अनेकरूपप्रतिपत्तिसम्भवाच्च एकैका देवता बहुभी रूपैरात्मानं प्रविभज्य बहुषु युगपद् अङ्गभावं गच्छति। परैश्च न दृश्यते अन्तर्धानादिक्रियायोगाद्--इति उपपद्यते' (१।३।१७) (योगी बहुत प्रकारके शरीर बनाकर उनसे सारी पृथिवीमें घूम-फिर सकता है और उनसे बहुतसे काम ले सकता है। फिर उन शरीरोंको संक्षिप्त कर (समेट) लेता है। जब इस प्रकार अणिमा आदि सिद्धिधारी योगियोंके भी एकदम अनेक-शरीरोंका ग्रहण स्मृति बताती है; तो जन्मसे ही योगी देवताओंका तो क्या कहना ? वे अपने बहुत रूप बनाकर बहुत स्थानोंमें एकदम पहुंच जाते हैं, और अन्तर्धान-क्रियाके कारण दूसरोंसे दीखते नहीं।) इससे स्वा. द. जीकी आक्षेपमात्रशूरता सिद्ध हुई।

जैसे अन्तर्धानसिद्धिमें उक्त प्रकारसे प्रमाणसिद्धता है, वैसे ही सोपपत्तिकता भी है। हम अन्धकारमें अपने नेत्रों द्वारा उन वस्तुओंको क्यों ग्रहण नहीं कर सकते ? क्या उस समय हमारी आंख नहीं होती ? होती तो है, परन्तु उसकी ग्रहणशक्तिको अन्धकार प्रतिबद्ध कर देता है। इस प्रकार योगी भी अन्तर्धानसिद्धिमें अन्धकाररूप आवरण पैदा कर देनेसे दूसरोंकी आंखका ग्राहकशक्तिको प्रतिबद्ध कर देते हैं। हम अन्धकारमें नहीं देख सकते, इसलिए अन्धकारमें देखा ही नहीं जा सकता--यह कहना

भी ठीक नहीं। बिल्ली अन्धेरेमें भी ठीक देख सकती है, और उल्लू भी। हमारे एक 'प्रकृतिनियमोंकी सामान्यशास्त्रता' निबन्धमें कहे हुए यन्त्रविशेषसे भी अन्धेरेमें देखा जा सकता है, हिटलरने अपने वायुयानोंमें ऐसा यन्त्र जोड़ रखा था, जिससे बादलों वा कुहरे (धुंध) के आवरणमें भी देखा जा सकता था।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि--अन्धेरा हमारे नेत्रोंमें विद्यमान भी दर्शन-शक्तिको रोक देता है, वैसे ही अन्तर्धानसिद्धि भी हमारी चाक्षुषशक्तिको हमारी आंखमें अन्धकार पैदा करके प्रतिबद्ध कर सकती है। जैसे कई बूढ़े वा युवा भी आंख विद्यमान होनेपर भी आंखमें दृष्टिकी न्यूनतासे, बिना चश्मेके पढ़नेके पुस्तकोंके अक्षरोंको देख नहीं सकते; अथवा आंख होनेपर भी कई आन्तरिकशक्तिके क्षय होनेसे सामने ठहरी हुई वस्तुको नहीं देख सकते। वैसे ही अन्तर्धानसिद्धिसे भी योगी दूसरोंकी आंखमें उतने समयकेलिए दृष्टिकी भीतरसे न्यूनता कर देता है, जिससे वे बिना चश्मारूप योगशक्तिके, उस अन्तर्हित योगीको नहीं देख सकते।

'दिनमें हम अवश्य ही देख सकते हैं; अतः अन्धकाररूप अन्तर्धान-शक्ति कोई भी वस्तु नहीं--' यह भी नहीं कहा जा सकता। उल्लू आंख होते हुए भी दिनमें नहीं देख सकता; इसलिए उसे 'दिवान्ध' कहा जाता है; इस प्रकार चमगादड़ भी। वैसे ही अन्तर्धानविद्यासे दिनमें भी साधारणजनोंकेलिए दिवान्धता-सी हो जाती है। दिनमें आकाशमें तारे होते हुए भी हम उन्हें नहीं देख सकते। सूर्यके तेजसे दबे हुए तारोंको जिस प्रकार हम नहीं देख सकते; वैसे ही अन्तर्धानशक्तिसे छिपे हुए भी योगी-मुनिलोग हमसे नहीं देखे जा सकते। इस प्रकार जिनकी दृष्टि निर्बल होती है, दिनमें भी कुछ अन्तरसे वे बिना चश्मेके साफ़ नहीं देख सकते। इस प्रकार किन्हीं वृद्धोंकी दृष्टि दूरसे तो ठीक होती है; पर समीपमें निर्बल होती है, उन्हें बिना चश्मा पहरे पासकी पुस्तकके अक्षर नहीं दिखाई पड़ते। इस प्रकार अन्तर्धानसिद्धिमें भी योगी हमारी दृष्टिको

इस प्रकार उतने समयकेलिए न्यून कर दिया करते हैं, जिससे उनकी तिरस्करिणीशक्तिके कारण वह दूर वा पाससे न्यून हो जाती है, जिससे हम उस योगीको ठहरे हुए वा जारहे हुए नहीं देख सकते। उसे अन्तर्हित ही जानते हैं। इसलिए स्वा. द. जीके भी मान्य योगदर्शनके ३।४५ सूत्रके व्यासभाष्यमें कहा है—'अनावरणात्मकेपि आकाशे भवति आवृतकायः, सिद्धानामपि अदृश्यो भवति'। इस प्रकार यहां समूलता सिद्ध हुई।

दिनमें उल्लू नहीं देख सकता, रातमें कौआ नहीं देख सकता। बिल्ली दोनोंमें देख सकती है। हम रातको नहीं देख सकते, रात्रिञ्चर दिनमें नहीं देख सकते; पर योगी शक्तिविशेषसे रात-दिन दोनोंमें देख सकते हैं। कई रोगी दिनमें नहीं देख सकते; पर रातमें देख सकते हैं। जैसे कि--सुश्रुतसंहिताके उत्तरतन्त्रमें कहा है—'प्राप्ते तृतीयं पटलं तु दोषे, दिवा न पश्येद्, निशि वीक्षते च'। रात्रौ स शीतानुगृहीतदृष्टिः पित्ताल्पभावादपि तानि पश्येत्' (७।३६)। परन्तु हमसे तिरोहितको योगी लोग देख सकते हैं; परन्तु योगीद्वारा छिपे हुए को हम-आप नहीं देख सकते।

इस प्रकार पिसे हुए मेण्डकसे बनाये हुए अञ्जन भी होते हैं, जिनको आंखोंमें लगानेसे सर्वत्र सांप ही सांप दीखने लग जाते हैं। ऐन्द्र-जालिक उसके उपयोगमें प्रवीण होते हैं। इस प्रकार ऐसे भी लोपाञ्जन हुआ करते हैं, जिसके लगानेसे उसे हम सामने ठहरे हुए को भी नहीं देख सकते। इस प्रकार ऐसी तिरस्करिणी-विद्या भी होती है, जिसे देवताओंने नलको दिया था, जब वह राजा भीमके अन्तःपुरमें गया था; उसे पहरेदार भी नहीं देख सके। जब उसने चाहा, तब उसे दमयन्ती देख सकी।

एक उससे विरुद्ध दृष्टि भी होती है, जिसे दिव्यदृष्टि-कहा जाता है। उससे दूरस्थित वस्तु भी समीपकी तरह मालूम होती है, जैसे कि-आजकल दूरवीक्षण वा अणुवीक्षण नलिकासे दूरके पदार्थ दीखते हैं। इस

प्रकार दिव्य-श्रोत्रसे दूरस्थित भी, अथवा समीपमें अव्यक्त भी शब्द समीपकी भांति वा व्यक्त सुनाई पड़ते हैं--जैसे कि-आजकल 'लाउड-स्पीकर' द्वारा किया जाता है। इस प्रकार दिव्य-नासिका भी होती थी, जिससे अव्यक्त गन्ध भी गृहीत होता था। आजकल सिनेमाओंमें वैज्ञा-निक लोग जब फूल चित्रपटपर आवें; तो उसकी सुगन्ध भी दर्शकोंको आवे; इसकेलिए यत्न भी कर रहे हैं।

प्राचीन लोग जो-जो कार्य तप, योग, तथा यागादिकी शक्तिसे करते थे; आजकलके वैज्ञानिक उसे यन्त्रशक्तिसे किया करते हैं। इसीको लक्ष्य करके 'रेडियो' का आविष्कार हुआ। इसमें तार वा टेलीफोनकी तरह कोई तार भी नहीं होती, फिर भी दूर-दूर देशों तथा विदेशोंके शब्द बड़े स्पष्टरूपसे और तत्क्षण सुनाई दे रहे होते हैं। अब तो रेडियोमें उस वक्ताका वा दृश्यका चित्र भी आजाया करेगा। देहलीमें टेलीविजनमें यह तरीका आ चुका है। आजकलके लोग युद्धका दृश्य तथा वृत्तान्त भी 'टेलीविज़न' द्वारा देखेंगे वा सुनेंगे; लेकिन पहलेके सञ्जय आदि तो श्रीवेदव्याससे दी हुई दिव्यदृष्टिके द्वारा ही वैसा कर सके और धृतराष्ट्रको सुना सके। यद्यपि श्रीवेदव्यास वैसी दृष्टि धृतराष्ट्रको भी दे सकते थे; पर वह स्वयं अपने द्वारा कुलक्षयको नहीं देखना चाहता था। अतः उसने वैसा करना न माना।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि--आजके वैज्ञानिक अपने विमानोंको उससे गैस निकालकर उसको अन्तर्हित कर दिया करते हैं; परन्तु प्राचीन लोग आत्मिक एवं मानसिकशक्तिके बलसे अथवा तिरस्करिणी-विद्यासे अपने आपको अन्तर्धान कर लेते थे। आजके वैज्ञानिक 'दूरबीन' द्वारा दूरकी वस्तुको स्थूलरूपसे दिखला देते हैं, 'खुर्दबीन' द्वारा सूक्ष्म वस्तुको मोटा कर दिखलाते हैं। 'चश्मा' द्वारा कमजोर दृष्टिवालेको भी दृश्य यथावत् दिखला दिया करते हैं। यन्त्रविशेषद्वारा बहिरेको शब्द सुनवा सकते हैं। 'लाउडस्पीकर' द्वारा दूरके शब्दको निकट ला देते हैं; वा निकटके शब्द-

को तीव्र करके दूरतक पहुंचा दिया करते हैं। गुंगोंको यन्त्रद्वारा बुलवानेमें अभी समर्थ नहीं हो सके हैं। आगे कदाचित् उसमें भी सफल होजावें। लंगड़ोंकी बनावटी जांघ बनाकर उसे चलवा देते हैं, वेदमें भी अश्वियों द्वारा विश्पला--जिसकी टांग युद्धमें कट गई थी--उसकी लोहेकी जांघ बना देना आता है; परन्तु हमारे प्राचीन लोग अपनी आध्यात्मिक एवं आधिदैविकशक्तिके द्वारा, तथा अपनी चित्तशक्तिके बलसे, और अपनी तपोयोगमूलक शक्तिके बलसे 'मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्' इस रूपसे गुंगोंको बोलनेवाला; लङ्गड़ेको पहाड़ लांघनेवाला, अन्धों वा मन्ददृष्टिवालोंको देखनेमें समर्थ, और बहरोंको सुननेमें समर्थ कर देनेमें सफलता प्राप्त कर चुके थे।

इस प्रकार जब उनमें विविध विभूतियां थीं, तब वे अपनी विशेष शक्तिवश दूसरेका दृष्टि-बन्ध करके, अथवा अणिमा नामक सिद्धिसे अपने सारे शारीरिक अवयवोंको अणु बनाकर अन्तर्धानशक्तिमें भी सफल हो सके हों, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। लोकोत्तरशक्तिवालोंकेलिए असम्भव कुछ भी नहीं रहता। उसमें कुछ शास्त्रविरुद्धता भी नहीं; और न ही कुछ अनुपपत्ति रहती है। इसमें केवल प्रतिपक्षियोंकी संकुचित-बुद्धिका ही अपराध है, वही दूषित है। उनके बुद्धिनेत्र मन्द वा अदूरदर्शी हैं, जिस कारण उनको आंखोंके आगे अन्तर्धानदृष्टिका भी अन्तर्धान हो जाता है। इस प्रकार उनके अनुसार भी अन्तर्धान-सिद्धि भी सिद्ध हो गई। विस्तारवश हम यहीं रुकते हैं।

---

(२१) बूढेको यौवन देना।

ययाति-राजाका इतिहास महाभारतादिमें प्रसिद्ध है। अपनी पुत्री देवयानीकी शिकायतसे श्रीशुक्राचार्यने उसे बूढे होनेका शाप दे दिया; और वह वृद्ध होगया। पर विषयविलासकी कामनासे उसने फिरसे यौवन की इच्छा की। अपने लड़कों यदु आदि से उसने यौवन मांगा; पर उन्होंने

नकार कर दिया। अन्तमें शर्मिष्ठाके छोटे पुत्र पुरुने पिताको यौवन देना स्वीकार किया, और वह पुरु स्वयं वृद्ध होगया। यहाँ भी प्रतिपक्षियोंको शङ्का होती है कि—यह कैसे ?

इसपर उन्हें जानना चाहिये कि—ययातिको बुढ़ापा स्वतः तो प्राप्त हुआ नहीं था, किन्तु शापवश मिला था, तभी तो शापवश बाहर तो उसका वृद्धत्व दीख रहा था; पर भीतरी यौवनके कारण उसकी विषय-विलास-कामना नहीं हटी। इससे उसे यौवनकी प्राप्ति असम्भव नहीं।

जोकि—जवानी और बुढापेकी एक-दूसरेमें अदला-बदली कैसे-यह जो सन्देह किया जाता है; उसमें हम संक्षेपसे वैज्ञानिक समाधान करते हैं। पाश्चात्य-वैज्ञानिकोंने मनुष्यके प्रतिरूप वन्दरोंमें इसकी वैज्ञानिक-परीक्षा की। उन्होंने वन्दरोंमें वृद्ध बन्दरोंकी ग्रन्थियां भी निकालीं; और युवा वन्दरोंकी भी। और फिर उनको एक-दूसरेमें बदल दिया गया। वृद्धकी ग्रन्थियां युवा बन्दरमें, और युवाकी ग्रन्थियां वृद्धमें फिट कर दीं। इसका परिणाम यह निकला कि—वृद्ध बन्दर युवा होगया; और युवा वृद्ध। इस प्रकारकी घटना ययाति-राजाके इतिहासमें भी जान लेनी चाहिये। यही ययातिका अपने पुत्रको वार्धक्य देना और पुत्रका उसे यौवन देना उपपन्न हो जाता है।

वेदमें भी 'पुनश्च्यवानं चक्रथुर्युवानम्' (ऋसं. १।११८।६) 'पतिं नु मे (मुझ शर्याति राजाकी लड़कीके वृद्ध पतिको) पुनर्युवानं कुरुतम्' (फिर युवा कर दो) (यजुर्वेदशतपथ ब्रा० ४।१।५।११) 'तौ ह (अश्विनौ) ऊचतुः—एतं ह्रदमभ्यवहर, स येन वयसा कमिष्यते, तेन उदैष्यतीति' (शत. ४।१।५।१२) (वृद्ध च्यवन इस तालाबमें घुसें, वे जो अवस्था चाहेंगे, उन्हें वह मिल जायगी—यह देवताओंके डाक्टर अश्वियोंने च्यवनकी स्त्री सुकन्याको कहा। यहां वृद्ध भी च्यवनका ब्राह्मणभागात्मक-वेदमें युवा करना कहा है। आयुर्वेदमें तो वृद्ध च्यवनको एक 'प्राश' बना दिया जाना बताया है, जिससे वह युवा होगये; अतः 'च्यवनप्राश' आयुर्वेदमें

प्रसिद्ध है। आजकल उसमें पूरी दवाइयां नहीं डाली जातीं, आंवले अधिक भर दिये जाते हैं, जिससे यथेष्ट फल नहीं हो पाता। जब ऐसा है; तब ययातिराजाको शापप्राप्त वार्द्धक्यको दूर करके फिर यौवन देनेमें वैदिकम्मन्योंको विस्मय क्यों रहना चाहिये ?

अन्य यह भी बात याद रखनी चाहिये कि-हमारे पूर्वज अपनी मानसिक-शक्तिकी प्रबलतासे—जिसका योगदर्शन ४।१० सूत्रके व्यास-भाष्यमें सङ्केत दिया गया है, जिसका हमने वर्णन 'आलोक' (६) में 'अगस्त्य ऋषिका समुद्रपान' में किया है, दूसरेकी शक्तिको अपनेमें, और अपनी शक्ति वा अवस्थाको दूसरेमें वर-शाप आदि-द्वारा, अथवा योगबलसे संक्रान्त करनेमें सफल होगये थे; क्योंकि तपस्वी लोग अपने तप-योग आदिकी शक्तिसे सृष्टिके नियमोंमें परिवर्तन भी कर सकते थे। इसलिए ययातिने जो यदुको राज्यभ्रष्टताका शाप दिया; वह यदुवंशमें सफल होगया। जैसे योगी लोग अपनी आत्माको दूसरेके शरीरमें आविष्ट करनेमें सफलता प्राप्त कर सके थे (इसपर स्मरण कीजिये श्रीस्वामी शङ्कराचार्यका मृतक-अमरुक-राजाके शरीरमें प्रवेश) वैसे ही अपने यौवनको दूसरेमें डालने और दूसरेके वार्धक्यको अपनेमें डालनेमें भी समर्थ हो सके थे।

वर्तमान पाश्चात्य-वैज्ञानिक तो सभी कुछ यन्त्रशक्ति-द्वारा करते हैं। जिसके शरीरमें रक्त क्षीण होगया हो, वे दूसरेके रक्तको यन्त्रसे खींचकर रक्तसे रहित पुरुषके शरीरमें यन्त्रद्वारा उसे प्रवाहित कर देते हैं, जिससे रक्तहीन पुरुष फिर रक्तयुक्त होजाता है; परन्तु हमारे पूर्वज तो सूक्ष्म-तपःशक्तिसे वचनमात्रसे ही सब कार्योंको कर लिया करते थे। तपस्याकी महिमा मनुजीके शब्दोंमें देखिये—'यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम्। सर्वं तत् तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्' (११। २३८) 'तपसा ये अनाधृष्याः' (ऋ. १०।१५४।२) 'न तपसा न साध्यं नाम किञ्चन' (महाभारत अनुशासनपर्व. ४१।२६) इत्यादि-वचनोंमें तपस्याशक्तिको अप्रतिहत (न रुकनेवाली) बताया है।

इस प्रकार यहां विचारसे यह असम्भवका प्रश्न समाहित हो जाता है। इस विषयमें एक इतिहास भी जान रखना चाहिये कि—बाबरने अपने बीमार पुत्र हुमायुंका रोग अपनेलिए मांग लिया। उसके इस कथन-मात्रसे हुमायुंका रोग हटकर बाबरमें संक्रान्त होगया। और वह उस रोगसे मर भी गया; और बाबरका स्वास्थ्य हुमायुंमें संक्रान्त होगया; और वह बच गया। इस प्रकारसे उक्त विषयपर भी प्रकाश पड़ जाता है।

---

(२२) एकसे अधिक मुख सम्भव।

पुराण-इतिहासमें असम्भव घटनाओंको वर्णित करते हुए अविश्वस्त प्रतिपक्षी उसमें वर्णित एकसे अधिक मुख आजकल न देखकर उन्हें असम्भव-कोटिमें डालते हैं। उनका यह अभिप्राय है कि-'एकसे अधिक मुख प्रत्यक्ष नहीं दीखते; नहीं तो सबके अधिक मुख होते। वेदमें भी उनका संकेत नहीं, प्रकृतिसे भी विरुद्ध हैं, केवल पुराणोंमें ही उनका वर्णन होनेसे, और पुराणोंके गप्प होनेसे अधिक-मुखोंका वर्णन भी पौराणिक-गप्प ही समझनी चाहिये। रावणके दस मुख नहीं थे, किन्तु उसके दस मुखिये थे। अथवा चार वेद और छः दर्शनका विद्वान् होनेसे उसे दश-मुख कहा जाता होगा। बीस बाहुएँ नहीं थीं, किन्तु बीस उसके सहायक थे। दस मुखोंका शारीरिक-विज्ञानसे भी कुछ सम्बन्ध नहीं, वाल्मीकि-रामायणका भी उसमें पक्षपात नहीं। इस कारण उसका दस सिरवाला कहना वास्तवमें असंगत है; नहीं तो वह सो कैसे सकता होगा, इसलिए पुराणोंका केवल दिल बहलानेवाले उपन्यासोंसे अधिक मूल्य नहीं। इसलिए वे प्रमाण भी नहीं"। इस विषयमें शङ्का पृ. ५३०-३१ में देखनी चाहिये।

इस प्रकारके तर्क आजकल बहुत चालू हैं, हम भी इनकी परीक्षामें लगते हैं। इस प्रकारके शङ्काकर्ताओंको भी बहुश्रुत माना जाता है—इसपर हमें आश्चर्य होता है; क्योंकि-अधिक-मुखोंका वर्णन केवल पुराणों-

का ही विषय नहीं, किन्तु उसमें विज्ञानका तथा प्रत्यक्षका भी अनुग्रह है। वेद तथा आयुर्वेदकी भी इसमें साक्षी है। इतिहास भी इसमें साक्षी है। वाल्मीकिरामायण भी रावणके जन्मसे दस सिर और बीस भुजाएं बताती है, जबकि रावणने वेद वा शास्त्र सूंघे भी नहीं थे, और उसके कुछ सहायक भी उस समय नहीं थे। इसमें प्रकृतिका व्याकोप भी नहीं है, हम यहां अपने क्रमसे 'आलोक'-पाठकोंके समक्ष विचार उपस्थित करते हैं; आशा है—वे ध्यान देंगे।

इस बीते हुए हिटलरवाले महायुद्धमें अमेरिकाके द्वारा 'परमाणुवम'-का आविष्कार किया गया था, जिसके कारण जापानके दो नगर हीरोशिमा और नागासाकी पूरेके पूरे विध्वस्त होगये थे, जिससे जापानको शस्त्र डालनेकेलिए विवश होना पड़ा। यूरेनियम धातुसे निकले हुए परमाणुओंका जिनसे इस वमका आविष्कार हुआ था—इसके विध्वंसात्मक कार्यको हटाकर वैज्ञानिक इससे रचनात्मक कार्य करनेके विषयमें कहते हैं कि--परमाणुशक्ति सब कार्योंकेलिए आवश्यक ताप देनेमें समर्थ हो सकती है--जिससे बहुत थोड़े खर्चसे बहुत अधिक विद्युत्शक्ति पैदा की जा सकती है। एक ही विद्युद्--भवनसे पूरे ब्रिटेनको विद्युत्की पावर देना सहज हो जायगा। इसकी थोड़ी मात्रासे हवाई जहाज सारे संसारका भ्रमण कर सकता है। ईन्धनकेलिए कोयलोंका महत्त्व समाप्त हो जायगा। 'प्लेटिस' नामक धातु द्वारा सोना तैयार हो जायगा। इसके द्वारा ऋतुओंमें स्वेच्छानुसार परिवर्तन भी किया जा सकता है। इसके द्वारा मनुष्यकी आकृतिमें भी आश्चर्यजनक परिवर्तन हो सकेंगे। एक आंखवाले, तीन नेत्रवाले वा आंखसे रहित, हाथसे रहित, बारह हाथोंवाले बनाये जा सकेंगे, इसी प्रकार बहुत सिरवाले भी। इस प्रकारके भी पुरुष इससे हो जाएंगे--जिनके दो हृदय होंगे (सिद्धान्त—काशी ६।१८ (२१।८।४५) इससे स्पष्ट है कि--वैज्ञानिक परमाणुशक्तिके बलसे दो-शिर वा तीन सिर वा अधिक सिरवाले भी लोगोंको बना सकेंगे। तब

इसके असम्भव होनेका प्रश्न तो स्वयं ही हल हो जायगा।

यदि एकसे अधिक सिर होने असम्भव होते; तो वैसे बच्चोंकी आजकल उत्पत्ति ही न होती; पर दीखती है। दो मुंहवाली लड़की १९२४-२५ सन्में मुलतानमें कुप-कोतवालीमें लाई गई थी, नागरिकोंने से देखा। इस प्रकार अमृतसरमें भी एक कुम्हारके घरमें दो सिरवाली लड़की २७।१२।३८ में उत्पन्न हुई थी (हिन्दी मिलाप लाहौर २९.१२.३८)। इस प्रकार हरिद्वारके 'ब्रह्मचारी' पत्र (१।५) में दो सिरवाली लड़कीकी उत्पत्ति उसके सम्पादकने जयपुर-हस्पतालमें स्वयं देखकर लिखी। अन्य स्थानपर दो मुँह और चार भुजाओंवाला लड़का पैदा हुआ था। 'मुज़फ़रपुर ८ नवम्बर। इस ज़िलेके वेनीपुर गांवमें, जहां 'योगी' के सम्पादक पं० रामवृक्षका घर है—एक भूमिहार ब्राह्मणके घर १७.१०.३५ तिथिमें एक बालक उत्पन्न हुआ, जो अभी तक भी जीता है। उसके दो सिर चार हाथ, चार पैर, दो गुप्त इन्द्रिय, एक सिर ठीक स्थानपर, दूसरा पांवके पास, और पांव पेटके पास हैं' (हिन्दी मिलाप-लाहौर १२। ११।३५)। 'मांटगुमरी' के रेडक्रास-अस्पतालमें ९।६।४१ तिथिमें दो सिरकी लड़की पैदा हुई' (हिन्दी मिलाप १२।६।४१)। 'हिन्दी मिलाप' आर्यसमाजी श्रीखुशहालचन्द्रजीका पत्र था। 'इटावामें एक चमारिनके गर्भसे एक-लड़की पैदा हुई, इसके दो मुख, चार बाहें और पैर थे। यह दोनों ही मुखोंसे रोती है'। (साप्ताहिक संस्कृतम्-अयोध्या १०।१९, तिथि ५।३।४०)। 'फरीदपुर तहसीलमें एक किसानकी स्त्रीके दो मुंहका बच्चा पैदा हुआ। वह दोनों मुंहसे दूध पीता था। ६ दिन जीवित रहनेके बाद वह मर गया' (हिन्दी-मिलाप २८.७.४३)।

'बरेली अस्पतालमें दो सिर और चार भुजा और चार पैर वाला बालक पैदा हुआ' (विश्ववन्धु-लाहौर १६।१२।४३)। 'मौजा मरवे गांव तहसील सिवनीमें श्यामलालके घरमें एक दो सिरके, तीन पांववाले और दो हाथवाले एक लड़केका जन्म हुआ' (नवभारत दिल्ली १०।११।४६)।

'विचित्र बच्चा—अम्वाला छावनीकी एक मालिनके घर लड़का हुआ। उसके पेटपर एक सिर दिखलाई दिया। बालक प्रात: ५ बजे पैदा हुआ था। जैसे-जैसे दिन बढ़ता गया, वैसे सिर भी बढ़ता गया। उस सिरपर एक और सिर दिखाई पड़ा। वह प्रौढ-पुरुषके सिरकी भाँति बढ़ गया, जिसमें दान्त, मूछें, नाक आदि सभी दिखाई दे रहे थे। पेटके उसी स्थानमें एक हाथ निकला, जिसमें दस अङ्गुलियाँ थीं। तब तीसरा सिर निकला। वह बन्दरके समान मालूम होता था। बच्चा जब रोता था, उसके तीनों मुखोंसे शब्द निकलता था'। (हिन्दी सन्देश-आर्यसमाजी पत्र-लाहौर २।३ सं. १९९० पृ. १५८)।

अब तकका समाचार-पत्रोंमें प्रकाशित एतद्विषयक सम्पूर्ण संग्रह यदि हम प्रकाशित करें; तब 'आलोक'का इतना ही एक अन्य पुष्प प्रकाशित हो जावे। पर यदि कोई मानेगा; तो यह थोड़े भी उद्धरण मान लेगा; हठीके आगे तो हज़ारों उद्धरण भी व्यर्थ हो जाएंगे। कभी पीठमें परस्पर जुड़े हुए दो बालक भी पैदा हो जाते हैं; तब वहां दो मुख चार भुजा वा पांव स्वयं हो जाते हैं। जैसे कि—इस विषयमें दैनिक विश्वबन्धु (लाहौर १६.६.४३ अङ्क) में छपा था—'अद्भुत बालक २ मुंह ४ हाथ, ४ पैर, १ पेट फूलपुर तहसीलके अन्दर पाकड़पुर गांवमें ३१.५.४३ तिथिमें एक गडरियाके यहां पैदा हुआ'। (कटरा सुनारान फीरोज़ाबादमें एक बच्चा २ मुंह ४ हाथ, ४ पैरका पैदा हुआ। थोड़ी देरके बाद मर गया। बालकको मसालेमें रखकर लखनऊ अजायब-घरमें भेजा जा रहा है' (विश्वबन्धु २८.६.४७) इस प्रकार अशक्तिमय समयमें भी जब यह अवस्था है, तब प्राचीन युगमें देव-दैत्य योनिमें जहां स्त्री-पुरुषका आकार भी आजकलकी अपेक्षा बड़ा था; और पर्याप्त शक्ति थी; सत्ययुग, त्रेता-युग आदिका सबल वायुमण्डल था; तब इसमें आश्चर्यका क्या अवकाश?

यदि आजकल वैसे बालकोंके चिरजीवनका वायुमण्डल न देखकर उसमें अप्राकृतिकता मानी जावे, यह भी ठीक नहीं। आजकल प्राय: १०० वर्ष

पूरे जीनेका वायुमण्डल भी नहीं दीखता; तब क्या १०० वर्षकी आयु भी अप्राकृतिक मान ली जाएगी? यदि ऐसा हो तो प्रतिपक्षी धन्य हैं!!! आजकल दो मुखवालोंके उदाहरण बहुत मिले हैं। सम्भवत: आगे मुख-संख्यामें वृद्धि होजाय। जैसे यमज बच्चोंकी उत्पत्ति आम होती है। कहीं तीन, चार कहीं ५ बच्चे भी इकट्ठे पैदा होते हुए सुने जाते हैं; आगे इससे भी तरक्की हो सकती है। 'अलमोड़ा जिलाकी एक युवतिने एक तीन सिरवाले लड़केको पैदा किया (संस्कृतम् १४।३९; ८।८।४४) इससे प्रकृतिका विरोध न रहा।

प्राचीन वायुमण्डलमें हज़ार-वर्षकी अवस्था भी होती थी, उसीके प्रमाणस्वरूप आज भी कई १५० वर्षके वा २५० वर्षके लोग सुनाई देते हैं। एक ७०० वर्षके साधुका चित्र 'हिन्दी मिलाप' लाहौर (आर्य-समाजी पत्र) में भी छपा था। पर आजकल उतनी अवस्थाका वायु-मण्डल सर्वसाधारणतासे नहीं दीखता। वैसे ही आजकल एकसे अधिक सिरवालोंका भी चिरजीवी होनेका वायुमण्डल नहीं दीखता; परन्तु प्राचीन युगमें जब हज़ारसे भी अधिक वर्षकी अवस्थाका वायुमण्डल था; तब बहुत सिरवालोंके जीवनका वायुमण्डल भी था-यह स्पष्ट है। यदि यहां सर्वथा ही प्रकृतिका विरोध होता; तब आजकल एकसे अधिक सिर वालोंकी उत्पत्ति ही न होती; पर जब हो रही है; तब कभी उनका चिरजीवन भी प्रारम्भ हो जायगा, आगे दो सिरसे अधिक-सिरवालोंका वायुमण्डल भी प्रारम्भ-हो जायगा—'कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी' (मालतीमाधव १ माङ्क) (यह काल अवधिसे हीन है; अत: ऐसी बातें आगे होंगी। पृथ्वी बहुत विपुल है; अत: उसमें वैसी बातें सम्भव भी हैं, हमें उनका पता ही न लगता हो)। इस कारण यहां अप्राकृतिकता कट गई, और प्रत्यक्षता भी सिद्ध होगई।

यदि एकसे अधिक मुख असम्भव होते; तब वेदाङ्ग-व्याकरणमें 'द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः' (५।४।११५) यहां श्रीपाणिनि 'द्विमूर्धा, त्रिमूर्धा'

की सिद्धि कैसे करते। इससे भी दो-तीन सिरवालेकी सिद्धि होगई। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि—तीनसे अधिक सिर फिर न हो सकेंगे, उक्त सूत्रसे तो द्विमूर्ध, त्रिमूर्धशब्दमें ही 'ष' प्रत्यय कहा है; अन्यत्र ष प्रत्यय नहीं होगा, पर 'दशमूर्धा' आदि नकारान्त शब्द सिद्ध हो जाएंगे। तब वेदाङ्ग-द्वारा भी एकसे अधिक मुखवालोंकी सिद्धि होगई।

अब इसमें वेदानुकूलता भी पाठकगण देखें। वेदके दो भाग-हैं; एक मन्त्रभाग दूसरा ब्राह्मणभाग। दोनों मिलकर भागी वेद बनता है। अलग-अलग भी दोनों वेद हैं। इस विषयमें 'आलोक' (४, ६, ८, १० पुष्पों)में देखिये। ब्राह्मणभागमें कहा है—'त्वष्टुर्ह वै पुत्रः त्रिशीर्षा षडक्ष आस। तस्य त्रीणि एव मुखानि आसुः। तद् यदेवं रूप आस, तस्माद् विश्वरूपो नाम' (शत० १।६।३।१,५।५।४।२) यहाँ त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपके तीन मुख और छः आंखें बताई गई हैं। तब वेदकी साक्षीसे यहां पर अवैदिकता निरस्त होगई। ब्राह्मणभागकी वेदता हम 'संस्कृत-रत्नाकर—जयपुरके 'वेदाङ्क' में, मुम्बई लक्ष्मी-वेङ्कटेश्वर प्रेसमें छपे सायण-भाष्यवाले शतपथ-ब्राह्मणके प्रास्ताविकमें भी दिखला चुके हैं।

जो आग्रही ब्राह्मणभागको वेद न मानें; उनकेलिए हम मन्त्रभागका भी प्रमाण देते हैं—'त्वाष्ट्रस्य चिद् विश्वरूपस्य गोनामाचक्राणः त्रीणि शीर्षाणि परावर्क्' (ऋशा.सं. १०।८।९) यहांपर इन्द्र देवता है। यहांपर इन्द्रके द्वारा त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपके तीन सिरोंका काटना कहा है। 'परावर्क्' में 'ओव्रश्चू छेदने' (तु. वे. प.) धातु है। छान्दस निष्पत्ति है (अष्टाध्यायी २।४।८०) शतपथमें भी यही वर्णन है (शत. १।६।३।२, ५।५।४।३)। इससे पुराणमें लिखा हुआ अधिक सिरोंका वर्णन वेदको भी सम्मत होनेसे समूल सिद्ध होगया। इस मन्त्रका ऋषि भी 'त्रिशिराः त्वाष्ट्रः' वैदिक-यन्त्रालय अजमेरकी ऋग्वेदसंहितामें लिखा है। 'ईदृशं भावि वस्तु विश्वरूपः स्वप्नान्तेऽनेन तृचेन दृष्टवान्' यह यहां श्रीसायणने लिखा है।

अन्य मन्त्र देखिये—'अष्टापदी, चतुरक्षी, चतुः-श्रोत्रा, चतुर्हनुः। द्व्यास्या द्विजिह्वा भूत्वा सा राष्ट्रमवधूनुते ब्रह्मज्यस्य' (अथर्व सं. ५।१९।७) इस मन्त्रमें दो मुख, चार आंखें, और आठ पांव बताये गये हैं—(ब्राह्मणको हानि पहुंचानेवाले राजाके राष्ट्रको ऐसी एक विशेष गाय हिला देती है।) 'द्व्यास्याद् चतुरक्षात् पञ्चपादाद् अनङ्गुरेः। वृन्ताद् अभिप्रसर्पतः परिपाहि वरीवृतात्' (अ० ८।६।२२) यहाँपर एक भूत-विशेषको दो मुख, चार आंख और पांच पावोंवाला तथा अङ्गुलिरहित बताया गया है। तब पौराणिक अधिक मुख समूल सिद्ध हुए। 'तां द्विमूर्धा आर्त्व्योऽधोक्' (अ० ८।१३।३-४) यहांपर दो माथेवालेका वर्णन है। 'महेश्वरस्य अभिध्यानमात्रात् तैजसेभ्यः अणुभ्यः पार्थिवपरमाणुसहितेभ्यो महद् अण्डमारभ्यते। तस्मिन् चतुर्वदनकमलं सर्वलोकपितामहं ब्रह्माणं सकलभुवनसहितम् उत्पाद्य प्रजासर्गे विनियुङ्क्ते' स्वा. द. सम्मत-प्रशस्तपादभाष्यके इस स्थल (आकाश-द्रव्यनिरूपण) में ब्रह्माजीके चार मुख बताये गये हैं। 'शतशीर्षा रुद्रोऽसृज्यत' (यजुर्वेद शतपथ० ९।२।३।३२) यहांपर रुद्रके सौ सिर बताये गये हैं। 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' (यजुः माध्यं. ३१।१) यहां हजार सिर बताये गये हैं।

गर्भमें जहां दो-तीन-चार बालकोंका जन्म होता है, परस्पर जुड़े हुए दो पुत्र होजाते हैं, दो-तीन-चार मुखोंका संश्लेष भी हो सकता है। जब दो मुखवाले लड़के देखे गये हैं; तब परमात्माकी अतर्कित लीलासे दस मुखोंमें भी असम्भव नहीं। इसलिए वेदमें भी इसका सङ्केत मिलता है—'ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः' (अथर्ववेद ४।६।१) यहाँ दस मुखवाले ब्राह्मण रावणका संकेत है। यदि योनिप्रदेशसे दशमुखवालेके बाहर आनेमें असम्भव दिखलाई पड़े; तब ऑपरेशन द्वारा कौशलसे पेट फाड़कर उसका बाहर आनेका अनुमान कर लेना चाहिये।

पहले युगमें स्त्री-पुरुषोंके आकारकी दीर्घतासे गर्भाशयके आकारमें भी आजकलकी अपेक्षा दीर्घता हुआ करती थी। प्रसवके समयमें वह

खड़की भान्ति बहुत विस्तीर्ण हो जाता है—यह भी नहीं भूलना चाहिये। और यह भी नहीं भूलना चाहिये कि—गर्भाशयके सङ्कोचके कारण जिस बच्चेका वा बच्चेके अङ्गोंका अन्दर विकास नहीं होता, गर्भाशयके बाहर आजानेपर उसका यथासमय पूर्णमात्रामें विकास हो जाता है।

जब स्त्रीका डिम्बाणु नियत प्रमाणसे अधिक दीर्घ होता है, और उसके साथ दो शुक्राणुओंका संयोग होता है; तब जो बालक पैदा होता है, उसका शरीर एक-दूसरेसे सटा हुआ होता है। कभी दोनोंकी पीठ परस्पर जुड़ जाती है, जिससे आगे-पीछेसे मुंह दो होजाते हैं—इस प्रकार शारीरिक-विज्ञानसे भी विरोध नहीं है। संयोगके समय गिरे हुए स्त्रीके रजमें ७०,००० डिम्बाणु होते हैं; और उस समय गिरे हुए पुरुषमें शुक्रमें ४ लाख कीटाणु होते हैं। एक सन्तानकेलिए एक शुक्राणु तथा एक डिम्बाणुकी आवश्यकता होती है। शुक्राणु एवं डिम्बाणुओंके संयोग होनेपर वे एक-दूसरेको खाना शुरू कर देते हैं; इसलिए वे व्यर्थ होजाते हैं। अथवा बहुतसे निर्बल होनेसे स्वयं मर जाते हैं। जितने सबल शुक्राणु और डिम्बाणु बचते हैं; उतने ही बच्चे हुआ करते हैं। इसी कारण धृत-राष्ट्रके १०० तथा सगरके ६०,००० सन्तान हुए—यह विषय 'आलोक' (६) में 'बहुत सन्तान' विषयमें देखें।

कभी वे डिम्बाणु और शुक्राणु परस्पर जुड़ जाते हैं; तब सन्तान भी जुड़ी हुई पैदा होती है। कभी प्रकृतिकी महिमासे उनका इस प्रकार योग हुआ करता है कि—कइयोंका सिरमात्र बच जाता है; शेष भाग बहुतोंका नष्ट हो जाता है, किन्हींका वह शेष भाग बच भी जाता है, तब सिरोंकी संख्या बढ़ जाती है। कभी वे अणु सिर-बाहुमात्रमें बच जाते हैं; उनका जांघका कोई भाग नष्ट होजाता है; तब सिर एवं बाहुकी संख्या बढ़ जाती है; जांघोंकी कम। जैसे कि पाठकोंने कई ऐसे पुरुष देखे होंगे कि-जिनके हाथ-पांवोंमें छः—छः अंगुलियां होती हैं। किन्हींके एक ही हाथमें दो अंगूठे होते हैं, या कई अङ्गुलियां दो-दो होती हैं।

उसमें क्या कारण है ?

उसमें यही कारण होता है कि—शुक्राणु-डिम्बाणुओंमें उतने-उतने अन्य अणुओंके कुछ भागका संश्लेष हो जाता है; उस कारणसे रचना भी विषम हो जाती है। किसीके जांघ ही एक होती है। किसी रावण आदिके गर्भकारणवश मुख भी दस बन जाते हैं, बाहें भी बीस हो जाती हैं, पर जांघें दो हो जाती हैं। परन्तु सहस्रार्जुन-जैसेके बाहुएं तो हजार होगईं--पर मुख एक ही रहा। विष्णुका मुख एक और बाहुएं चार हुईं-- इत्यादि शारीरिकविज्ञानका स्वयं मनन कर लेना चाहिये। अतः यह आवश्यक नहीं कि--जिसकी बाहें बीस हों, तो जांघें भी बीस अवश्य ही हो जावें।

हिन्दी-मिलाप लाहौर (२०।७।४५ तिथि) में एक बालिकाकी उत्पत्ति दिखलाई गई थी, जिसके हाथ-पांवकी १४-१४ अंगुलियां, और दो नाक थे। मुलतान (११।५।४३ तिथि) में हमारे एक सम्बन्धीके घर ७ वें मासमें एक लड़का पैदा हुआ; उसका एक बड़ा सिर, दो बाहें, पर जांघ एक थी। मल-मूत्रके द्वार नहीं थे। 'विश्वबन्धु' (लाहौर दैनिक) पत्र (१।२६६ अंक १८।६।४३ तिथि) में छपा था—'कुदरतका कौतुक। दरभङ्गा १५ सितम्बर। गत मंगलवारको लेडी विलङ्गडन हस्पतालमें ४ हाथ दो सिर और तीन टाँगोंवाला एक बच्चा उत्पन्न हुआ। साराका सारा नगर उक्त हस्पतालमें उमड़ पड़ा। कहा जाता है कि—स्त्रीको ३ दिन तक प्रसवपीड़ा होती रही, उसका ऑपरेशन करना पड़ा। बच्चे-का मृतक-शरीर अस्पतालमें कौतुकागारमें सुरक्षित पड़ा है'।

इन घटनाओंसे रावणके दशमुख तथा बीस बाहुओंपर प्रकाश पड़ता है। गर्भमें प्रकृतिकी विलक्षणतावश ऐसी उत्पत्तियोंमें असम्भव नहीं रहता। आजकलके अशक्तिके युगमें वैसे बच्चोंकी मृत्यु हो जाया करती है, पर त्रेता-जैसे शक्तिके युगमें दैत्य-राक्षसों आदि को दिव्ययोनिताके

कारण वहां मृत्यु नहीं भी हुआ करती थी। इसलिए रावण उत्पन्न हुआ।

कई कहते हैं कि--'रावण अपने दसों-मुखों द्वारा बोलता था, वा प्रधान एक मुखसे; पर इसका निश्चित वर्णन प्राप्त नहीं होता।' पर वह मनःशक्तिप्रधानतावश जैसा चाहता था, वैसा कर सकता था--इसमें असम्भव कुछ नहीं। गो० तुलसीदासका दोहा प्रसिद्ध है--'बांधे हु जलनिधि, नीरनिधि, जलधि, सिन्धु, वारीस। सत्य तोयनिधि, पंकनिधि, उदधि, पयोधि, नदीस'। इस प्रकारका एक संस्कृत पद्य भी सुभाषितोंकी पुस्तकोंमें प्रसिद्ध है कि--रावणने पूछा कि--'बद्धः सत्यमपां निधिर्जलनिधिः, कीलालधिः, तोयधिः, पाथोधिर्जलधिः, पयोधिरुदधिर्वारां निधिर्वारिधिः' यह दसों मुखोंसे रावणने इकट्ठा पूछा। इससे अनुमान होता है कि--वह दसों ही मुखोंसे भी सौ-कमलोंके पत्तेमें जैसे कि सुई शीघ्रतास घुस जाती है, इसी प्रकार शीघ्र बोल सकता था; अपनी इच्छानुसार मुख्य मुखसे भी बोलता था।

इसमें यह भी विचारणीय है कि--रावणके सिर वा भुजाएँ बहुत थीं; परन्तु उनका सञ्चालक मन एक था, वा अनेक? इस विषयमें भी कोई उल्लेख नहीं मिला। वाल्मीकिरामायणमें युद्धके समय 'दशास्यो विंशतिभुजः प्रगृहीतशरासनः। अदृश्यत दशग्रीवो मैनाक इव पर्वतः' (६।१०३।३६) निरस्यमानो रामस्तु दशग्रीवेण रक्षसा। नाशक्तोदभिसन्धातुं सायकान् रणमूर्धनि' (३८) इस उल्लेखसे सिद्ध होता है कि-रावण अनेक हाथोंसे एकदम अनेक अस्त्रोंको चला लेता था। तब यहाँ शङ्का होती है कि-क्या एक मन होनेपर भी शरीरके अवयवोंसे एक साथ अनेक कार्य हो सकते हैं? इसपर उत्तर है कि—हो सकते हैं। यद्यपि वहांपर क्रम होता है; परन्तु वह लाघववश नहीं दीखता। जैसंकि-मनुष्य चाहता हुआ अपने हाथकी दस अङ्गुलियोंको एक दम फैला सकता है, इसी प्रकार एक ही मनसे एकदम अनेक हाथोंसे भी अस्त्र-शस्त्रोंको चला

सकता है; इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं। पर योगियोंके अनेक शरीर बनानेके समय भी यही प्रश्न उपस्थित होता है, उसमें जो उत्तर होता है; वही यहां भी समझ लेना चाहिये, इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ. ६३८ से ६४४ पृष्ठ तक देख लेना चाहिये। राक्षसयोनि देवयोन्यन्तर्गत हुआ करती है; उसमें दिव्यता होनेसे यह सब उपपन्न हो जाता है।

जो महाशय कहते हैं कि-वाल्मीकिरामायण रामायणको दस मुखोंवाला नहीं कहती, वे युद्धकाण्डका पूर्व कहा श्लोक देख लें। अन्य वचन भी देखें—'एवमुक्तो दशग्रीवः' (अरण्यकाण्ड ३१।३) यहां रावण की दस ग्रीवाएं बताई गई हैं; तब उसके दस मुख वास्तविक हुए, उपचारमात्र नहीं। 'विंशद्भुजं दशग्रीवम्' (३।३२।८) यहां भी २० भुजाके वर्णनसे उसकी दशग्रीवता भी वास्तविक सिद्ध हुई। 'श्वेतच्छत्रो दशाननः' (३।३५।८) यहां रावणके दस आनन (मुख) स्पष्ट बताये गये हैं। 'दशग्रीवो विंशतिभुजो' (३५।६)। 'दशशीर्ष इवाद्रिराट्' (३५।६) 'रावणो नाम भद्रं ते दशग्रीवः प्रतापवान्' (४८।२) दशास्यो विंशतिभुजो बभूव क्षणदाचरः' (३।४६।८) इससे यह भी सिद्ध होता है कि—जब वह चाहे १० मुख वा बीस भुजा रखे, जब चाहे एक मुख वा दो भुजाएँ कर ले। देवयोनिमें यह दिव्यता स्वाभाविक होती है। 'दशास्यो विंशतिभुजः प्रगृहीतशरासनः' (युद्धकाण्ड १०३।३४) पहले १० ग्रीवा, फिर दश आनन, अब १० आस्य आये हैं। यह मुखके पर्यायवाचक हैं। 'दशग्रीवं महादंष्ट्रं नीलाञ्जनचयोपमम्। ताम्रोष्ठं विंशतिभुजं महास्यं दीप्तमूर्धजम्' (उत्तर ०६।२६) 'दशग्रीवः प्रसूतोऽयं दशग्रीवो भविष्यति' (उत्तर-६।३३) इस प्रकार वाल्मीकिरामायणमें रावणके दस मुख और बीस भुजाएँ, बीस नेत्र स्थान-स्थानपर कहे गये हैं।

जो महाशय रावणके छः शास्त्र और ४ वेदोंके ज्ञानसे उसके १० मुख बताते हैं, असम्भवसे डरे हुए उनकी यह कपोल-कल्पना ही है। क्योंकि यहांपर उसे जन्मसे ही दशमुख तथा बीस भुजावाला कहा है।

प्रतिपक्षियोंके मतमें जन्मसे ही चार वेद और षट्शास्त्रोंका ज्ञान नहीं हो जाता। ऐसा होनेपर 'स्वाध्यायनियत:' (७।६।३६) वेदशास्त्र-विचक्षण विभीषणको ही दशमुख वा चतुर्मुख वा षण्मुख क्यों नहीं कहा गया? चार वेद एवं षट्शास्त्र जाननेवाले श्रीवेदव्यासादिको भी क्यों नहीं दशमुख वा चतुर्मुख नहीं कहा गया? बल्कि उन्हें 'अचतुर्वदनो ब्रह्मा' कहा गया है। इस कारण यह कुतर्क निस्सार है। छः शास्त्र तथा ४ वेदोंसे ही दशमुखवाले होनेपर रावण क्या अपने मुखसे हीन था? कि—उसे सर्वत्र दशमुख कहा गया? उनके अनुसार तो उसे ग्यारह मुखवाला कहना चाहिये था? 'दशग्रीव' यह जन्मकालमें उसका रूढि नाम था, जैसे कि—'एको अश्वो वहति सप्तनामा' (ऋ. १।१६४। २) यहांपर सूर्यके एक घोड़ेका नाम 'सप्त' था;' यह भी किन्हींका व्याजमात्र है; नहीं तो 'दशग्रीव, दशानन, दशकण्ठ, दशकन्धर' यह प्रयोग उसकेलिए कभी न होता, रूढि--नामका पर्यायवाचक भला कैसे हो सकता है? दशमुखोंकी वास्तविकता होनेसे तो एतदादिक पर्याय-वाचक सङ्केत ही हैं। 'सप्तनामा' का 'सात नामोंवाला' अर्थ तो हो सकता है; पर 'सप्त' यह नाम नहीं, किन्तु संख्यावाचक है। इस कारण 'अथ नामाऽकरोत् तस्य पितामहसमः पिता। दशग्रीवः प्रसूतोऽयं दशग्रीवो भविष्यति' (७।९।३२) इस विश्रवाके कथनमें 'दशग्रीव' यह अन्वर्थ नाम कहा है, रूढ नहीं। इसका यह अर्थ है कि—चूंकि यह दश ग्रीवाओं (सिरों) वाला उत्पन्न हुआ है; इसलिए इसका 'दशग्रीव' यह नाम प्रसिद्ध होगा। इससे हमारा पक्ष पुष्ट हुआ।

कई लोग शेरका 'पञ्चास्य' पर्यायवाचक देखकर रावणका भी 'दशास्य' यह पर्यायवाचक मानते हैं, अर्थात्—शेरके पांच मुख नहीं होते; फिर भी बड़े मुख होनेसे 'पञ्च आस्यानीव आस्यं यस्य' इस विग्रहका अवलम्बन करके उसे 'पञ्चास्य' कहते हैं; कि—उसका पांच मुखोंकी भान्ति एक मुख होता है; अतः वह 'पञ्चास्य' कहा जाता है, वैसे ही

रावणका भी एक बड़ा मुख दस मुखों-इतना था; यही कारण उसके 'दशमुख' नामका है, जैसे कि-मुलतान जिलेके शुजाबाद ग्राम (हमारी जन्मभूमि) में एक मुसलमान-इलाहीको बड़े सिरवाला होनेसे 'दो-सिरा' कहते थे (सन् १९१५-१६ में); ऐसा कहनेवाले भी भ्रान्त हैं। शेरके पर्यायवाचक 'पञ्चास्य' शब्दका पूर्वपक्षियोंसे सम्मत विग्रह ठीक नहीं; किन्तु 'पञ्चं—विस्तीर्णम् आस्यं-मुखं यस्य सः' यह विग्रह है कि—उसका मुख विशाल है। इसमें 'पञ्च' शब्द संख्यावाचक नहीं है; किन्तु 'पचि विस्तारवचने' (चु. से. उ.) इस धातुसे अच्प्रत्यय करनेपर सिद्ध हुआ 'पञ्च' शब्द विस्तीर्णवाचक है, पर 'दशमुख' में 'दश' शब्द वैसा नहीं है, किन्तु संख्यावाचक है—इसमें श्रीवाल्मीकिकी स्पष्ट साक्षी है।

'दशग्रीवं महादंष्ट्रं नीलाञ्जनचयोपमम्। ताम्रोष्ठं विंशतिभुजम्' (उत्तर. ९।२९) इस तथा पूर्वोद्धृत पद्योंमें दशग्रीव, दशानन, दशशीर्ष, दशास्य, विंशतिभुज आदि शब्द उसके दश मुखोंको डंकेकी चोटसे कह रहे हैं। दशमुखताकी सिद्धि पहले दिये हुए अथर्व. (४।६।१) मन्त्रसे भी मेल खाती है। दश ही उसके मुख थे—इसकी स्पष्टतामें रामायणमें आगे कहा गया है—'दशवर्षसहस्रं तु निराहारो दशाननः। पूर्णे वर्ष-सहस्रे तु शिरश्चाग्नौ जुहाव सः' (७।१०।१०) यहां उसके एक सिरका हवन दिखलाया गया है। 'एवं वर्षसहस्राणि नव तस्यातिचक्रमुः। शिरांसि नव चाप्यस्य प्रविष्टानि हुताशनम्' (१०।११) यहां उसके नौ सिरोंका हवन दिखलाया गया है। 'अथ वर्षसहस्रे तु दशमे दशमं शिरः। छेत्तुकामे दशग्रीवे प्राप्तस्तत्र पितामहः' (१०।१२) (जब दसवें सिरका भी उसने हवन करना चाहा, तब ब्रह्मा आगये, और उन्होंने वर दिया—

'शृणु चापि वरो भूयः प्रीतस्येह शुभो मम। हुतानि यानि शीर्षाणि पूर्वमग्नौ त्वयाऽनघ!' (१०।२३) पुनस्तानि भविष्यन्ति तथैव तव

राक्षस ! *वितरामीह ते सौम्य ! वरं चान्यं दुरासदम्' (१०।२४) छन्दतस्तव रूपं च मनसा यद् यथेप्सितम् । एवं पितामहोक्तं च दशग्रीवस्य रक्षसः' (१०।२५) अग्नौ हुतानि शीर्षाणि पुनस्तान्युत्थितानि वै, (वाल्मी. उत्तर० १०।२६) (ऐ राक्षस ! जो तूने अपने सिरोंका हवन किया है; वे फिर होजाएंगे; और तू जैसा रूप बनाना चाहे; चाहे एक सिरका वा दस सिरका, वा किसी अन्यका, वह तुम बना सकोगे ।)

इससे सिद्ध हुआ कि-रावण वस्तुतः ही दस मुखोंवाला था । न केवल उत्तरकाण्डमें, बल्कि-युद्धकाण्ड (१०७।५४-५५-५६-५७) के श्लोकोंमें भी रावणके दस सिर कटनेपर भी वरके कारण वे सिर फिर उत्पन्न हो जाते थे । यह लिखा गया है । 'छिन्नमात्रं तु तच्छीर्षं पुनरन्यत् स्म दृश्यते । एवमेकशतं छिन्नं शिरसां तुल्यवर्चसाम्' (युद्ध. १०८ (१०९) । ५८) इससे उसके दस सिर वास्तविक थे—यह सिद्ध होगया । वर तपस्याके बलसे दिया जा सकता है । तपस्याकी शक्ति मनुस्मृतिमें देखिये—'यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुस्तरम् । सर्वं तत् तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्' (११।२३८) ।

न केवल रावणके दस सिर रामायणमें ही वर्णित हैं; बल्कि-वादिप्रतिवादिमान्य महाभारतमें भी वर्णित किये गये हैं । देखिये—'पूर्णे वर्षसहस्रे तु शिरश्छित्त्वा दशाननः । जुहोत्यग्नौ दुराधर्षः तेनाऽतुष्यद् जगत्प्रभुः' (वनपर्व. २७५।२०) यद्-यद् अग्नौ हुतं सर्वं शिरस्ते महदी-

---

* यहां रावणका 'राक्षस' यह सम्बोधन है, इससे वह माता राक्षसीके संयोगसे जन्मसे राक्षसयोनि सिद्ध होता है । यदि वह गुणकर्मसे राक्षस होता; तो यह उसकेलिए गाली हो जाती; उसे वैसा सम्बोधन न दिया जाता । अच्छे गुणकर्मवाले विभीषणको भी वैसी योनि होनेके कारण ही 'राक्षस' कहा जाता है । नहीं तो भला उसे राक्षस क्यों कहा जाता ? यह आगे स्पष्ट किया जावेगा, ऊपर देखिये ।

प्सया । तथैव तानि ते देहे भविष्यन्ति यथेप्सया' (२३) इन श्लोकोंका भी वही भाव है ।

यहां यह भी जानना चाहिये कि-रावण यद्यपि विश्रवामुनिके सन्तान होनेसे ब्राह्मण था; तथापि उसकी माता कैकसी सुमाली राक्षसकी पुत्री होनेसे राक्षसी थी । और राक्षसी वेला (सायंकाल) में मुनिके साथ सङ्गमकेलिए प्राप्त हुई थी । अतः उसके प्रभावसे सन्तान भी राक्षसयोनिकी होनी थी । तब राक्षसीकी सन्तान भी 'माँ पर पूत पिता पर घोड़ा । बहुत नहीं तो थोड़ा-थोड़ा' इस न्यायसे राक्षस होनेसे बहुत मुखवाली हुई हो—इसमें आश्चर्य कुछ नहीं, क्योंकि—यह राक्षसयोनि भी देवयोनिकी मानी जाती है । इससे 'रावण दुष्कर्मोंसे राक्षस कहा जाता था' यह प्रतिपक्षियोंकी बात भी कट गई । उसकी माताके राक्षसीत्वमें उत्तरकाण्डका नवमसर्ग देखना चाहिये । **नहीं तो पुण्यकर्मा विभीषणको राक्षस न कहा जाता ।**

जो लोग रावणके दस मुखोंको इसकारण भी असम्भव कहते हैं कि—'ऐसा होनेपर उसके भाई कुम्भकर्ण एवं विभीषणके भी उतने या कुछ कम मुख होने चाहियें थे' यह तर्क तो व्यर्थ है । भाई सदा समान रूप वा आकारवाले हों—यह आवश्यक नहीं । इसमें व्याप्ति नहीं । नहीं तो एक भाई यदि सुफेद देखा जाता है; तो दूसरा भी सफेद ही हो--यह आवश्यक नहीं । दूसरा भाई-काला भी होता है । हमारे शुजाबादमें हरिकृष्ण आदि छः भाई थे । वे क्रमसे एक काला दूसरा सफेद, तीसरा काला, चौथा सफेद इस प्रकारके थे--जो अब मुरादाबाद आदिमें रहते हैं । एक भाईके यदि छः अङ्गुलियां देखी गई हैं, तो दूसरेकी भी छः ही हों--यह आवश्यक नहीं होता । यदि प्रथम प्रसवमें दो भाई यमल (जुडवाँ) हुए हों; तो दूसरे प्रसवमें भी ऐसा हो--यह आवश्यक नहीं । इस कारण यह तर्क तुच्छ है ।

इससे 'रावणका एक ही मुख था, शेष नौ मुख उसने बनावटी बना

रखे थे, केवल शत्रुओंको डरानेकेलिए, वह उन बनावटी मुखोंको 'चेहरे' की भान्ति धारण कर लिया करता था' इसी प्रकार उसकी वाहुएं भी वस्तुतः दो थीं, शेष १८ भुजाएँ उसकी वनावटी थीं' एतदादिक कल्पनाएँ निर्मूल ही सिद्ध हुईं; नहीं तो रामायणके वचनोंका व्याकोप होता है। इस प्रकार 'रावणके एक ही सिरमें दस सिरोंके विचारकी शक्ति थी, दो भुजाओंमें ही २० भुजाओंकी शक्ति थी, १० सिरों, २० भुजाओंका वर्णन केवल कवि-कल्पना है--'इत्यादि कइयोंकी कल्पनाएँ कट गईं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि--उसके दस मुख वास्तवमें ही थे, और वह 'छन्दतस्तव रूपं च' (उत्त. १०।२५) इस पूर्व कहे हुए ब्रह्माजीके वरसे अपना मनचाहा एक सिरका रूप भी धारण कर सकता था। तभी उसने एक—मुखका सन्यासी-वेष धारण करके सीताको ठगा था; और उसे वह उठा ले गया था। उसके वाद फिर अपने असली रूपमें होगया था— 'सद्यः सौम्यं परित्यज्य तीक्ष्णरूपं स रावणः। स्वं रूपं कालरूपाभं भेजे वैश्रवणानुजः' (अरण्य. ४९।६) दशास्यो विंशतिभुजो वभूव क्षणदाचरः। स परिव्राजकच्छद्म महाकायो विहाय तत्' (४९।७) प्रतिपेदे स्वकं रूपं रावणो राक्षसाधिपः' (८)।

इससे सिद्ध होता है कि--उसका एकमुखवाला रूप वास्तविक नहीं था; उसके द्वारा तो उसने सीताको ठगा। दशमुखवाला तो उसका 'स्वकं रूपं' अपना रूप था। उसीके द्वारा उसने सीताका हरण किया। दस मुखोंमें बीचका एक बड़ा मुख मुख्य हो--इसमें तो हमारा भी विरोध नहीं; पर उससे प्रतिपक्षियोंकी इष्ट--सिद्धि नहीं। आजकल दशहरेके उत्सवोंमें रावणके नौ मुख तो मनुष्योंके समान होते हैं; और दसवां मुख ऊपर गधेका होता है; ऐसा होनेपर नौ सिरोंमें पाँचवां बीचका बड़ा मुख दीखता है। परन्तु गधेके मुखका मूल हमें नहीं मिला। कदाचित् किसी पुराणमें हो। किन्हींका विचार है, वह एक पुराणमें लिखा है। महादेवने ही रावणको गधेका सिर दिया था। उसमें कारण यह है कि--शिवजीकी

एक मूर्ति 'ॐ' की है; जो कि आजकलके शिवलिङ्गोंमें भी दीखती है। इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. ११६-११७-११८, २२७ में देखना चाहिये। तब शिव अपनी मूर्तिके मूल 'ॐ' शब्दके सुननेसे बड़े प्रसन्न होते हैं। गधा अपने सप्तम--स्वरमें जैसे ओङ्कारका सुन्दर और प्लुत वाला लम्बा नाद कर सकता है, वैसा मनुष्य नहीं। इसीलिए उसे गधेका सिर दिया गया था। कई लोग उसकी हठीली प्रकृतिके कारण वैसा उसका सिर मानते हैं। अस्तु।

जब रावण देवके वरसे दस मुखसे एक-मुख भी कर सकता था, तब 'वह दसमुख रावण सोता कैसे था' यह कइयोंकी शङ्का भी निरस्त हो गई। इसलिए उक्त श्लोकोंमें टीकाकार लिखते हैं—'कामरूपत्वाच्च अन्तःपुरादौ [आदिग्रहणादन्यत्रापि क्वचिद्] एकवक्त्रत्वद्विभुजत्वं चास्य इति बोध्यम्' (रामाभिराम. ७।९।३३)। 'कामरूपत्वाद् अस्य शय्यादौ एकमुखत्व द्विभुजत्वं च बोद्धव्यम्'। 'द्विभुजत्वैक-मुखत्वोक्तिः स्त्रीणां कामनीयत्वाय' (गोविन्दराजीय भूषण-व्याख्या)। 'भुजाभ्यामिति द्विभुजत्वं, महामुखाद्-इति एकमुखत्वं च रावणस्य कामरूपत्वात् सङ्गच्छते' (तत्त्वदीपिकाकार विश्वेश्वरतीर्थ)। 'अत्र द्विभुजत्वकथनाद् युद्धादिकाल एव विंशतिभुजत्वं दशशीर्षत्वं च बोध्यम्' (रामाभिराम ५।१०।२१)।

इसके अतिरिक्त शयन, बैठना, खाना-पीना आदिमें पुरुष जैसा होता है, उसकी प्रकृति भी वैसी होजाया करती है। जो मोटे होते हैं, वे स्थिरासन होकर बैठते हैं, उसमें थकते नहीं हैं—उनके शयनके पलंग भी बड़े होते हैं। सोनेके समय प्रायः उत्तान होकर सोते हैं; बार-बार करवटें नहीं बदलते; परन्तु दुबले व्यक्ति तो आसन स्थिर नहीं रख सकते, सोनेके समयमें पुनः-पुनः करवटें बदलते हैं। वे यदि स्थिर-आसन हो करके बैठें, तो शीघ्र थक जाते हैं। फलतः जो जैसा होता है, उसे कुछ भी कष्ट नहीं होता। और फिर रावणके मुख भी तो पीछेसे नहीं थे कि--वह सो नहीं सके; अतः शयन-समयमें दश मुख होनेपर भी उसे कुछ तकलीफ नहीं

होती थी। इससे यह शङ्का भी समाहित होगई।

कहीं युद्धादि-प्रसङ्गमें तथा 'यदा ह्यकामां कामार्तो धर्षयिष्यति योषितम्। मूर्धा तु सप्तधा तस्य शकलीभविता तदा' (७।२६।५६) इत्यादिमें उसका एक माथा बताया गया हो; वहांपर 'जातौ एकवचनम्' यह सोचकर जातिमें एकवचन दिया गया है, वस्तुतः नहीं। यदि कहीं क्रुद्धावस्थामें भी रावणके २० के स्थानपर 'नेत्रे' यह द्विवचन दिखलाया गया हो; वहां 'स्तनादीनां द्वित्वविशिष्टा जातिः प्रायेण' (काव्यालङ्कार-सूत्र ५।१।१७) इस कहे प्रकारसे द्वित्वजातिके कारण कही जाती है।

कई लोग रावणके दश मुखोंको अस्वाभाविक कहते हैं; पर यह ठीक नहीं। अस्वाभाविकता तो क्वाचित्क तथा कादाचित्क होती है; पर 'विशद्भुजं दशग्रीवं दर्शनीय-परिच्छदम्। विशालवक्षसं वीरं राजलक्षण-शोभितम्' (३।३२।८) इस स्वाभाविकतामें उसके १० सिर तथा २० भुजा न दिखाई पड़तीं। यह उस समयका वर्णन है, जब कि शूर्पणखा अपनी विरूपताका हाल रावणको बताने लङ्का गई थी। 'शिरोभिर्दशभि-र्वीरो भ्राजमानं महौजसम्। रावणं' (५।४७।६) यह उस समयका वर्णन है, जबकि हनुमान् रावणके अन्तः-पुरमें घुसा था। इस प्रकार जब स्वाभाविक-अवस्थामें भी दस सिर और बीस भुजाएं दिखलाई गई हैं; तब दस सिर आदिको अस्वाभाविक कहना किन्हींका कट गया।

किन्हींका विचार है कि—स्वाभाविक अवस्था या तो नीन्दमें होती है, या मरनेमें; पर उस समयमें उसका एक सिर और दो भुजाएँ ही दीखती हैं। जैसकि शयन-समयमें 'काञ्चनाङ्गदसन्नद्धौ ददर्श स महात्मनः। विक्षिप्तौ राक्षसेन्द्रस्य भुजौ इन्द्रध्वजोपमौ' (५।१०।१५) विक्षिप्तौ शयने शुभ्रे पञ्चशीर्षौ इवोरगौ' (१८) ददर्श स कपिस्तस्य बाहू शयनसंस्थितौ' (५।१०।२१)। 'तस्य राक्षसराजस्य निश्चक्राम महामुखात्। शयानस्य विनिःश्वासः पूरयन्निव तद्गृहम्' (५।१०।२४) यहां सोनेकी अवस्थामें उसके दो भुजा और एक सिर दिखलाया है। युद्धसमयमें जैसे—'ततः क्रोधान्महाबाहू रघूणां कीर्तिवर्धनः। सन्धाय धनुषा रामः शरमाशीविषोपमम्' (६।१०६।५४) रावणस्य शिरो-च्छिन्दत् श्रीमज्ज्वलितकुण्डलम्। तच्छिरः पतितं भूमौ दृष्टं लोकै-स्त्रिभिः तदा' (५५) तस्यैव सदृशं चाऽन्यद् रावणस्योत्थितं शिरः। तत् क्षिप्रं क्षिप्रहस्तेन रामेण क्षिप्रकारिणा। यदा द्वितीयं रावणशिरः छिन्नं संयति सायकैः। छिन्नमात्रं च तत् शीर्षं पुनरेव प्रदृश्यत (५७) तदप्य-शनिसंकाशैः छिन्नं रामस्य सायकैः। एवमेव शतं छिन्नं शिरसां तुल्य-वर्चसाम्' (५८) न चैव रावणस्यान्तो दृश्यते जीवितक्षये' (५९)। यहां युद्धमें भी रावणका एक सिर बताया है। उसीको राम काटते रहे; वह फिर हो जाता था। अब मृत्यु-समयमें देखिये—'दशग्रीव-वधं दृष्ट्वा विजयं राघवस्य च' (११०।२४) 'निक्षिप्य दीर्घौ निश्चेष्टौ भुजौ अङ्गद-भूषितौ। मुकुटेनापवृत्तेन भास्कराकारवर्चसा' (६।१११।३) चरणौ काचिदालम्ब्य काचित् कण्ठेऽवलम्ब्य च। उत्क्षिप्य च भुजौ काचिद् भूमौ सुपरिवर्तते। हतस्य वदनं दृष्ट्वा काचिन्मोहमुपागमत्। काचिदङ्के शिरः कृत्वा रुरोद मुखमीक्षती' (६।११२।८-९-१०) यहां भी एक सिर वा दो भुजा दिखलाये हैं; तब यही उसकी स्वाभाविक अवस्था सिद्ध हुई। दस मुख वा २० भुजा तो उसके अस्वाभाविक सिद्ध हुए" पर यह किन्हींका विचार ठीक नहीं है।—

उसमें नीन्दकी अवस्थामें तो वह अपना मुख एक तथा भुजाएँ दो कर दिया करता था—यह हम पहले सूचित कर चुके हैं। मरनेके समयमें भी उसके दस सिरोंका कटना हम दिखला चुके हैं। सो युद्ध-समयमें तो हमारे पक्षकी पुष्टि ही है। श्रीरामने बाणसे उसका पहला सिर काटा, फिर वह पैदा होगया; । तब श्रीरामने फिर उसका दूसरा सिर काटनेका प्रयत्न किया, उसकी भी पहलेवाली दशा होगई। वह भी फिर पैदा होगया। फिर तीसरा, चौथा, पांचवां इस प्रकार दस सिर काटनेसे १०० सिर कट गये। जैसे कि—'छिन्नमात्रं तु तत् शीर्षं पुनरन्यत् स्म दृश्यते। एवमेकशतं छिन्नं शिरसां तुल्यवर्चसाम्' (युद्ध. १०८(१०९)।५८) इस

प्रकार युद्धमें भी उसकी दशमुखताकी सिद्धि होगई।

जोकि मरनेके बाद उसकी दो भुजाएं दिखलाई हैं; और एक सिर दिखलाया है, वहाँपर मुखमें एकवचन 'जातावेकवचनम्' से जातिपक्षको मानकर कहा गया है। और बाहुओंमें द्विवचन 'स्तनादीनां द्वित्वविशिष्टा जातिः' इस पूर्वोक्त सूत्रसे दिखलाया गया है। और इच्छाके प्रधान होनेसे वह कामरूप होनेके कारण युद्धमें भी एक सिरवाला हो जाता था; अथवा वहां जातिके अभिप्रायसे एकवचन दिखलाया समझना चाहिये।

इस प्रकार अधिक मुखवाला होनेमें असम्भव न रहा। जैसे एक-साथ कभी दो बालक, कभी तीन बालक; कभी पांच, रिकार्ड सातका है, हो जाया करते हैं, यह हर एकके नहीं होते; कभी किसीके हो जाते हैं, यह अपवाद है; वैसे एकसे अधिक मुख भी सदा और सबके नहीं होते; किन्तु कहीं और कभी ही होते हैं। क्योंकि—अपवाद क्वाचित्क तथा कादाचित्क ही हुआ करता है। पर इससे उसका असम्भव कहना तो प्रतिपक्षियोंका अल्पश्रुतत्व, अदूरदर्शित्व, तथा अल्पज्ञानमात्रताको ही प्रख्यापित करता है। वे ही दस लड़के भी अन्दर उत्पन्न होजाएँ; उनका निचला हिस्सा कट जावे; तो वहां भी दस सिर वा बीस भुजा हो सकते हैं। इससे बहुत शिरोंका होना न केवल पुराणेतिहासमात्र-सिद्ध है; बल्कि-इसमें प्रकृतिका अनुग्रह; वेद तथा शारीर-विज्ञानका भी अनुग्रह है, जैसे कि हम पूर्व दिखला चुके हैं।

पुराण-इतिहासको प्रमाण माननेमें सिर हिलानेवाले अविश्वासी प्रतिपक्षी तो फिर रावणकी सत्ता भी कभी भी, किसी प्रकारसे भी, और कहींसे भी सिद्ध न कर सकेंगे। तब उन्हें बौद्ध-पदवी अनायास प्राप्त हो जायगी। पर शब्द-प्रमाणको माननेवालोंकेलिए ऐसा उचित नहीं।

इस प्रकार सहस्रबाहु (कार्तवीर्य) के विषयमें भी जान लेना चाहिये। जो कार्तवीर्यके हजार सहायक होनेसे उसे हजार बाहुवाला मानें; तब क्या वे २० भुजावाले रावणके, २० ही सहायक मान लेंगे?

पर यह माननेकी बात ही नहीं है कि—रावणके केवल २० ही सहायक होंगे। उसकी सेना तो बड़ी भारी थी। वह तो जन्मसे ही विंशतिबाहु कहा गया है। क्या वह जन्मता ही युद्ध करने लगा कि—उसके २० सहायक होगये? इस प्रकार सहस्रार्जुन तथा बाणासुर भी जन्मसे ही हजार बाहुओं वाले थे? उसकी सेना तो अपार थी। गर्भके कारण ही इन लोगोंकी यह विशेषताएं थीं।

'दश-भाषाभाषी होनेसे ही रावण दशमुख था; और २० मन्त्री होनेसे वह विंशतिबाहु था, उसके बीस जासूस थे, इस कारण विंशतिनेत्र था; यह सब कल्पनाएँ निर्मूल हैं, रामायण-महाभारतसे विरुद्ध हैं। आजकल अशक्तिमय-कलियुगमें दस सिर न देखकर उनकी असम्भव होनेकी घोषणा कर देना—यह अन्याय ही है। त्रेतायुग आदिमें यह बात अनुपपन्न नहीं हो सकती। भिन्न-भिन्न युगमें सृष्टिमें कुछ विचित्रताएँ तथा शक्तिकी न्यूनाधिकताएँ हुआ ही करती हैं। यह सब जानकर तभी किसी बातका खण्डन करना चाहिये; अन्यथा नहीं।

सामाजिक-चर्चा

(२३) स्त्रियोंकी पर्दा-प्रथामें वेदादिशास्त्रोंका मत।

गत सप्तम-अष्टम पुष्पोंमें हमने नवमत्पुष्पकेलिए रूपरेखा लिखी थी; उनमें पुराण-इतिहासचर्चा तो आरम्भमें दिखला दी गई थी; पर बहुत विस्तार होजानेसे उसके कुछ ही विषय उपस्थित किये जा सके। सम्पूर्ण उपस्थित नहीं किये जा सकते थे। फिर सिद्धान्तचर्चा शुरू की गई। उसमें भी कुछ अन्य आवश्यक विषयोंका समावेश होजानेसे विस्तार पर्याप्त होगया। अतः उसके भी सारे विषय नहीं दिये जा सकते थे, उसमें 'स्त्रियोंकी पर्दाप्रथा' पर विचार करनेकेलिए भी कहा गया था। तदनुसार यह निबन्ध 'सामाजिक-चर्चा' में दिया जाता है।

'स्वातन्त्र्यं, पितृमन्दिरे निवसतिर्यात्रोत्सवे संगतिः
गोष्ठी पूरुषसन्निधौ, अनियमो वाह्ये विदेशे तथा ।
संसर्गः सह पुंश्चलीभिरसकृद् वृत्तेर्निजायाः क्षतिः
पत्युर्वार्धकमीर्ष्यितं प्रहसनं नाशस्य हेतुः स्त्रियाः' (मित्रलाभ १२५ पद्य)

हितोपदेशका यह एक पद्य है। इसमें स्त्रीके विनाश-विगड़नेके कारण यह बताये गये हैं, १ स्वतन्त्रता, २ पिताके घरमें लगातार निवास, ३ जलूसों वा मेलोंमें वा नाटक-सिनेमाओंमें प्रायः जाना, पर-पुरुषोंसे बातचीतकी आदत रखना, अनियमित व्यवहार करना, प्रायः घरसे बाहर रहना, विदेशमें रहना, व्यभिचारिणी स्त्रियोंसे संगति, अपनी वृत्तिका विनाश, पतिका वार्धक्य (शीघ्रपतनादिदोष) हो जाना, वा ईर्ष्या, बहुत हंसी-उपहास करना-इत्यादि । आजकल यह सब बातें दीख रही हैं--इनसे रोका नहीं जाता; अतः व्यभिचार भी बढ़ रहे हैं ।

अन्यपुरुषोंसे सम्बन्ध न हो, और स्वतन्त्रता न हो; इसलिए हमारे प्राचीन-मुनियोंने स्त्रीकेलिए अवरोधप्रथा (पर्दा) बनाई थी, और ऋतु-कालसे पूर्व बालाका विवाह बताया था; पर आजका समय इन प्राचीन-नियमोंको नहीं मानता; बल्कि इसका विरोध भी करता है; तब परिणाम भी वैसा ही रह रहा है ।

प्राचीन--समयमें स्त्रीका वाह्य--ससारसे सम्बन्ध नहीं होता था; वह घरमें ही रहा करती थी । बाहर नहीं निकलती थी--यही पर्दा था । यदि ससुर आदि आजाता था; तो वह या तो वहांसे हट जाती थी; या आड़में हो जाती थी । फिर कभी यदि उसे घरसे निकलना होता था; तो वह पर्दा (वस्त्रविशेष) पहर लेती थी; जिसमें पांवका अंगूठा तक भी छिप जाता था । फिर इसमें कुछ ढील हुई । फिर मुंहके आगे जाली बनगई । फिर उसमें कमी हुई । चुन्नी बन गई । उससे घूंघट निकाल लिया जाता । फिर उसमें भी पारदर्शक कपड़ा पहना जाता, जिसमें रास्ता देखनेमें रुकावट न पड़े । पुनः इसमें भी कमी हुई । घूंघट ऊंचा होगया । केवल सिर ढका रहता; फिर सिर भी नंगा होगया; स्त्रियोंके गलेमें पुरुषोंकी भान्ति दुपट्टा आ पड़ा, बाहु आधी नंगी होगई । जंघा आधी नंगी होगई । धीरे-धीरे उन्नति होती जा रही है, देखें आगे-'ऊंट किम करवट बैठे' ?

स्त्रीको थोडी सुविधा दीजाए; तो फिर वह बहुत बढ़ जाती है। हमारे पूर्वज बडे दूरदर्शी थे । स्त्री-पुरुषोंकी प्रकृतिका उन्होंने गम्भीरतासे अध्ययन कर रखा था; अतः स्त्रीके सुरक्षणार्थ उन्होने स्त्रीकी अवरोध-प्रथा वा आवरणप्रथा नियमित की । पर आजकल पर्दा--प्रथाका विरोध किया जा रहा है; उसे मुसलमानी-देन बताया जा रहा है । इसे अशा-स्त्रीय बताया जाता है; यह सब उन लोगोंकी अल्पश्रुतता वा अननु-सन्धानका फल है ।

बिहारमें भीषण भूकम्प हुआ था; उसमें कई घरमें रहनेवाली स्त्रियां गिरे हुए मकानोंमें दब गई थीं, इससे कई सहृदय-लोगोंके हृदयमें चोट पहुंची । इसमें कई कहानियां भी गढी गईं; उसमें एक कहानी यह थी कि--जब वहां भूकम्प शुरू हुआ; और भूमि कांपने लगी; तो लोग डरके मारे घरसे निकले । एक घरमें एक युवति बहू और सास थीं । सास घरसे बाहर निकली; उसे देखकर बहू-भी घरसे निकलने लगी; पर सासने रोका कि-बाहर पुरुष ठहरे हुए होंगे, तुम्हारा बाहर जाना उचित नहीं । वह बेचारी घरमें ही रही, सास बाहर निकल गई । और उस मकानकी छत गिर पड़ी । पति बाहर अन्यत्र कहीं था । भूकम्पसे उसने मकानोंको गिरते देखा; तो भागा-भागा अपने घर आया । देखा कि--किसी मकानकी दीवार गिरी पड़ी है, और उसके नीचे आकर मेरी माता (वह सास जिसने बहूको बाहर आनेसे रोका था) मरी पड़ी है; अब अपने घर आया; और उसकी छत भी गिरी देखी; तो उसने सोचा कि-मेरी स्त्री इस छतके नीचे आकर मर गई होगी । फिर भी उसने वहांका मलबा धीरे-धीरे हटवाया; जब अन्दर जानेकी जगह होगई; तो वह बेसब्रीसे

अन्दर घुसा; तो देखा कि-मेरी स्त्री सुरक्षित है। छत सीधी उसपर नहीं गिरी, किन्तु आड़ी होकर दूसरी दीवार पर जा पड़ी; और वह स्त्री उसमें कैद होगई; बाहर न निकल सकी। तब वह दोनों पति-पत्नी बड़ी प्रसन्नतासे एक-दूसरेसे मिले; उस दिनसे दोनों पति-पत्नी मिलकर पर्देके विरुद्ध प्रचार करने लगे। यह कहानी 'संस्कृत-रत्नाकर' में उसके सम्पादक भट्ट मथुरानाथ जी शास्त्रीने लिखी थी।

पर पाठकोंने अनुभव किया होगा कि—यहां जिस बहू ने पर्दा किया; मकानके अन्दर बनी रही; वह तो छतके गिरनेपर भी बच गई; पर जिस सासने पर्दा तोड़ा; बाहर निकल गई; वह अन्य मकानकी दीवारके नीचे आकर मर गई। यदि बहू भी उसके साथ होती; तो वह भी मर जाती। अब इसमें तो उल्टा पर्दा-प्रथाने उसे बचाया; इस समय पति-पत्नीको उस पर्दा-प्रथाका कृतज्ञ होना चाहिये था; और पर्दाप्रथाका कमसे कम विरोध तो न करना चाहिये था। अब यहां मृत्यु तो कर्मानुसार माननी पड़ेगी; इसमें पर्देका तो कुछ भी कारण नहीं कहा जा सकता। यदि पर्देके कारण कई स्त्रियाँ बिहारमें मर गईं; इसलिए पर्दा-प्रथा हटा देनी चाहिये; तो 'क्वेटा'-भूकम्पमें घरके अन्दर सोये हुए पुरुष भी प्रचुरमात्रामें मर गये; तो पुरुषोंके घर सोनेकी प्रथाका विरोधकर उसे भी हटा देना चाहिये—क्या यह सुधारक लोग माननेको तैयार हैं? यदि नहीं; तब वे सहृदय लोग कर्ममीमांसाको न मानकर इसमें पर्दा--प्रथाको कैसे दूषित कर रहे हैं?

हमारे पूर्वज महानुभावोंने-स्त्रियोंकेलिए पर्दाप्रथा, तथा परपुरुषके स्पर्श न करनेके एवं अन्य भी कठिन नियम रखे थे; उनका उद्देश्य पातिव्रत्यकी रक्षा, सङ्कर सन्तानका मूल उखाड़ देना-आदि था; जैसेकि-मनुजीने बताया था—'तस्मात् प्रजाविशुद्धचर्थं स्त्रियं रक्षेत् प्रयत्नतः' (९।९)। भविष्यपुराण ब्राह्मपर्वमें भी कहा है—'अरक्षणाद् हि दाराणां वर्णसङ्करजादयः। दृष्टा हि बहवो दोषाः तस्माद् रक्ष्याः सदा स्त्रियः'

(८।१६) सो उसकी सङ्कर--सन्तति न हो--इसलिए हमारे पूर्वजोंने स्त्रीकेलिए पर्दा-प्रथा नियमित की थी।

वह स्त्री जिसका मुख सदा परपुरुषोंके नेत्रका अतिथि बना रहे; उसका पातिव्रत्य क्या कभी अक्षुण्ण दशामें रह सकता है? उस स्त्रीके विचार आजकलके उच्छृंखलकालमें क्या कभी शुद्ध रह सकते हैं?। आवरण न होनेसे जिस स्त्रीको अनेक पुरुष कामभावसे या कुदृष्टिसे देखते हैं; उसके पातिव्रत्यमें भी अवश्य हानि पड़ती है। मानसिक एवं शारीरिक बिजुलियोंकी शक्ति आंख, वा स्पर्श अथवा चित्तके द्वारा दूसरे-व्यक्तिमें प्रभाव डालकर उसे दबा देती है। आजकल मैस्मरेजम, हिप्नोटिज्म आदि विद्याओंसे यह प्रत्यक्ष है। नेत्र वा मन शक्तिके आधार हैं। स्त्रियोंके आवृत न होनेपर तो उनके शरीरपर कामी पुरुष कामभावसे दृष्टि डालते हुए उसके पातिव्रत्यको धीरे-धीरे ह्रासयुक्त कर सकते हैं; क्योंकि-'चक्षुर्मुसलं, काम उलूखलम्' (अथर्व. ११।३।३३) जैसे ऊखल-मूसलका सम्बन्ध है, वैसे आंख और कामका सम्बन्ध भी है। चार-आंखें होजानेसे कामसञ्चार स्वाभाविक हो उठता है। पर्दा-प्रथासे तो फिर भी उनकी रक्षा हो सकती है। पर्दा हटानेसे तो जैसी भीषण परिस्थितियाँ हो सकती हैं, समाचारपत्र पढ़नेवालोंसे वे छिपी हुई नहीं हैं। आज सन्तानें पिताके समान क्यों नहीं होतीं? उसमें एकमात्र कारण धार्मिकता एवं पर्दा-प्रथाका त्याग कहा जा सकता है।

चरकसंहितामें कहा गया है—'गर्भोपपत्तौ तु मनः स्त्रिया यं जन्तु व्रजेत्, तत्सदृशं प्रसूते' (शारीरस्थान २।२५) गर्भ होनेके समय मन जिस पुरुषकी ओर जायगा; स्त्री उसी तरहकी सन्तान उत्पन्न करती है। अवरोधप्रथा एवं पर्दा न होनेसे इधर-उधर जानेसे अपने पतिसे भिन्न पुरुषोंपर दृष्टि पड़ना स्वाभाविक हो जाता है। तब मनने भी उधर जाना होता ही है। गर्भाशय फोटो खींचनेवाले कैमराकी भान्ति होता

है। जैसे फोटोवाले शीशेमें अपने सामनेका प्रतिबिम्ब खिंच जाता है, वैसे ही स्त्रीका गर्भाशय भी आंख द्वारा संक्रान्त जिस-किसी भी आकृतिको खींच लेता है। यदि उस दिन स्त्रीका ऋतुकालके स्नानका दिन हो, और वह आकार उसके गर्भाशयमें प्रतिबिम्बित होगया हो; दैवात् उसी दिन उसको पतिद्वारा ऋतुदान प्राप्त होनेपर गर्भकी स्थिति होजावे; तो वह उत्पन्न होनेवाला बच्चा भी उसी आकृतिका बन जावेगा। इसलिए प्राचीन-समयमें स्त्रीका अन्तःपुर (घर) में रहनेका नियम होता था; और ऋतुस्नानके बाद पतिके दर्शनका नियम होता था। यदि पति बाहर होता था; तो स्त्री अपने अंगूठेमें आरसी (छोटा शीशा) पहने होती थी; तो ऋतुस्नानके बाद आरसीमें अपनी ही शकल देख लेती थी; तब उसी-जैसा लड़का बनता था।

घोड़ीके पास संयोगार्थ जब घोड़ेको भेजा जाता है; तब घोड़ीकी आंखें बन्द कर दी जाती हैं। जब गर्भाधान होजाता है; तब उस घोड़ेको तो हटा दिया जाता है, और उसकी अपेक्षा बलवान् घोड़ेको घोड़ीके सामने ठहरा दिया जाता है; तब घोड़ीकी आंखोंसे पट्टी दूर कर दी जाती है; और वह बलवान् सुन्दर घोड़ेको देखती है, उसकी आकृतिका संक्रमण उसके गर्भमें हो जाता है। फिर वैसा ही हृष्टपुष्ट वा वैसी आकृतिका उसका बच्चा होता है। यह बात सुप्रसिद्ध ही है कि-किसी अमेरिकन-महिलाका काला लड़का पैदा हुआ; उसके पतिको सन्देह हुआ कि-मेरी स्त्री दुराचारिणी है; नहीं तो मेरा तो गोरा बच्चा होना चाहिये था। तब उसने डाक्टरको अनुसन्धानार्थ बुलाया। डाक्टरने अनुसन्धान करते हुए उनके शयनागारमें देखा कि-जिस खाटपर वह महिला सोया करती थी; उसके पैतानेकी दीवारनें एक काले हब्शीका चित्र लटका हुआ है। अनुसन्धानसे पता लगा कि-ऋतुस्नान वा गर्भाधानके तुरन्त बाद उस स्त्रीकी आंख उसी हब्शीके चित्रपर जा अटकती थी। तब उसने घोषणा की, कि-वह महिला व्यभिचारिणी नहीं है; यह उसके

हब्शीके चित्रको लगातार देखनेका परिणाम है; तब उस चित्रको वहांसे हटा दिया गया; और वहांपर उसके पतिका चित्र लगा दिया गया। फिर उसे कभी काला लड़का पैदा नहीं हुआ।

आगराके आर्यसमाजी पत्र 'आर्यमित्र' (१।१०।१९०८) में प्रकाशित हुआ था कि--'यहांके जेलखानेमें एक स्त्री कैदी होकर आई, वह ताजा गर्भ लेकर आई थी। समयपर जेलखानेमें ही उसका प्रसव हुआ। उस पुत्रके पांवमें लोहेकी बेड़ी बनी हुई थी; और कमरमें चमड़ा लगा हुआ था'। यह सब दृश्य दृष्टिद्वारा देखते-रहने और उसपर मनद्वारा चिन्तन करते रहनेसे बच्चा भी वैसा पैदा हुआ। इस प्रकार पर्देसे रहित स्त्रियां जिन पर-पुरुषोंको देखती हैं; और उनके विषयमें चिन्तन किया करती हैं, उनके गर्भाशयमे वही आकृति वा आकृतियोंका सङ्कर संक्रान्त हो जाता है, और वैसा लड़का पैदा होता है।

कई अन्य कारण भी होजाते हैं। शिवमहापुराणमें कहा है—'दृष्ट्वैव पुरुषं सद्यो योनिः सक्लिद्यते स्त्रियाः। सुस्नातं पुरुषं दृष्ट्वा सुगन्धं मल-वर्जितम्। योनिः प्रक्लिद्यते स्त्रीणां दृतेः पादादिवोदकम्' (उमासंहिता २४।३०-३१)। इसी प्रकार महाभारत-अनुशासनपर्वमें भी कहा हुआ है—'इदमन्यच्च देवर्षे ! रहस्यं सर्वयोषिताम्। दृष्ट्वैव पुरुषं हृद्यं योनिः प्रक्लिद्यते स्त्रियाः' (३९।२६)। इसलिए सन्तानके पितृसादृश्य चाहते हुओंको अपनी स्त्रीका निवास घरमें ही रखना चाहिये; और उसमें पर-पुरुषका प्रवेश न हो। वादी-लोग भविष्यपुराणके उत्तरपर्व (१११ अध्याय) से एक घटना दिया करते हैं कि--१६ सहस्र श्रीकृष्णकी स्त्रियोंके 'जो भौमासुरके जेलखानेसे छूटकर श्रीकृष्णके शरण आई थीं, और श्री-कृष्णने उन्हें अपने यहां आश्रय दिया था) अपने सौतेले लड़के साम्बको देखकर जघन स्रुत होगये। यह यहां स्वभावतः अल्पसत्त्व स्त्रियोंके इस काण्डका अर्थवाद दिखलाया गया है कि--'मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्' (मनु. २।२१५) इससे स्त्रियोंपर पर-पुरुषकी (चा

वह सौतेला युवा लड़का भी क्यों न हो) सुन्दरताका प्रभाव स्त्रियोंके अल्पसत्त्व हृदयोंपर पड़ जाता है; अतः उन्हें अवरोध-प्रथासे दीक्षित करना चाहिये, और उसमें भी परपुरुषका प्रवेश न हो--यह अर्थवाद सूचित होता है। इससे पर्दा-प्रथाकी ओर भी अधिक आवश्यकता कैमुत्य-न्यायसे सूचित होती है कि--'यदा विमातृ-सुन्दरबालकमपि दृष्ट्वा महा-पुरुषस्यापि कतिचित् स्त्रियः प्रभाव्यन्ते; ततः लावण्यवन्तं परपुरुषं पश्यन्तीनां साधारण-स्त्रीणां कृते तु किमु वक्तव्यम् ?'। वादी उक्त कथाको आक्षेपार्थ उपस्थित करते हैं; पर इस अर्थवादको जिस तात्पर्यसे उपस्थित किया गया है; उस तात्पर्यको वहां छिपा जाते हैं, जनदृष्टिमें नहीं आने देते, उल्टा अवरोधप्रथा वा पर्दासिस्टमका अनर्गल विरोध करते रहते हैं। अस्तु। इसके परिणामस्वरूपमें जो कलकत्ताकी ओर रवीन्द्रसरोवरमें काण्ड हुआ है, यह अवरोधप्रथाके त्यागका परिणाम है। आज भी गुण्डों-की कमी नहीं है।

जो लोग स्त्रियोंकी पर्दा-प्रथा, अवरोधप्रथा वा घूंघटप्रथाको अर्वा-चीन एवं मुसल्मानी ज़मानेसे, उनके अनुकरणसे आई हुई मानते हैं, वेद-पुराणादि शास्त्रोंमें इसका कहीं सङ्केत आना भी नहीं मानते, यह गलत है, इसमें हम शास्त्रीय-प्रमाण भी उपस्थित करते हैं।—

(१) अथर्ववेद सं. में एक मन्त्र आता है कि—'ये सूर्यात् परि-सर्पन्ति स्नुषेव श्वशुराद् अधि' (८।६।२४) इसका अर्थ यह है कि--जैसे स्नुषा (बहू) ससुरके सामने नहीं होती; ससुरके सामने आनेपर उससे परे हट जाती है, वा उससे अपनेको पर्देमें छिपा लेती है; वैसे ही भूत-प्रेत वा राक्षस आदि सूर्यके सामने आजानेपर वहांसे हटकर अन्धकारमें चले जाते हैं; वा अपने आपको अन्धकाररूप पर्देमें छिपा लेते हैं।—

(ख) कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीय-ब्राह्मणमें आया है—'स्नुषा श्वशुरस्य' (२।४।६) (१२) यहांपर भाष्यकार सायणका आशय है कि—बहुएं ससुरसे पर्दा कर लेती हैं। यहां बहूका ससुरसे छिपनेसे स्त्रियोंकी 'वैदिककालमें भी पर्दा-प्रथा थी' यह स्पष्ट सूचित होरहा है। ससुरसे अपसर्पणका अभि-प्राय उससे परोक्षमें चले जानेका हैं; अथवा उसकी दृष्टिसे अपनेको पर्देसे छिपा लेना है।

यदि निकट—सम्बन्धमें भी स्त्रीका इस प्रकार पर्दा आया है, तब परपुरुषोंसे पर्दा तो अनिवार्य सिद्ध होगया। ससुरसे बहूका परे हट जाना—यह पर्देका ही एक प्रकार है। (ग) जैसे कि—पद्मपुराणमें सीताने किया था। जब श्रीराम, मृत्युको प्राप्त हुए पिता दशरथका श्राद्ध कर रहे थे; और उस समय उन्होंने ब्राह्मण-मुनियोंको श्राद्धभोजनार्थ निमन्त्रित किया था; तब सीता वहांसे हट गई। वहां कुञ्जोंमें छिपकर ठहर गई। 'रामान्तिकं परित्यज्य व्रीडिताऽन्यत्र संस्थिता।' (१।३३।९०) जब श्रीराम श्राद्ध समाप्त कर चुके, तब सीतासे उसके छिपनेका कारण पूछा; तो सीताने उत्तर दिया कि--'पिता तव मया दृष्टो ब्राह्मणाङ्गेषु राघव ! दृष्ट्वा त्रपान्विता चाऽहमपक्रान्ता तवान्तिकात्' (सृष्टिखण्ड ३३।९९-१००) (मैंने ब्राह्मणोंके अङ्गोंमें अपने ससुर वा अन्यपितरोंको देखा; तब मैं लज्जावश आडमें चली गई।

पर्दा दो प्रकारका होता है—पहले तो उस ससुर आदि पुरुषके सामने न आना--यह पहला पर्दा है। दूसरा आडमें चले जाना, वा वस्त्र आदिसे अपने मुख आदि अङ्गोंको छिपा लेना। यह दूसरा पर्दा है। अथर्ववेदसं. में उक्त उपमा सूर्यसे भूतादियोंके आवरणके विषयमें दी गई है। वे भूत-प्रेत सूर्यके सामने नहीं ठहरते; अथवा किसी गुफामें अपनेको छिपा लेते हैं। इस प्रकार वैदिककालमें स्त्रीकी पर्दा-प्रथा सिद्ध होगई।

(घ) इसी अभिप्रायसे ऋग्वेद--ऐतरेयब्राह्मणमें भी इसका सङ्केत है—'यथा अदः स्नुषा श्वशुराल्लज्जमाना निलीयमाना एति; एवमेव सा सेना भज्यमाना निलीयमाना एति' (३।२।११ (२२)। (ङ) वेदाङ्ग-व्याकरणके 'ल्यब्लोपे कर्मणि अधिकरणे च' (वा. १।४।३१) इस वार्तिकके उदाहरणमें भी बहूकी ससुरसे लज्जा करनी प्रसिद्ध है। इससे

स्त्रियोंकी आवरणप्रथा वेदमूलक है; मुसलमानोंकी यह देन नहीं—यह सिद्ध होगया।

(२) इस विषयमें अन्य वेदमन्त्र देखिये--'यो वां यज्ञेभिरावृतः--अधिवस्त्रा वधूरिव' (ऋसं. ८।२६।१३) 'अधिवस्त्रा' वस्त्रोंसे आवृत हुई-हुई वधूकी भांति। यहां भी उपमासे स्त्रियोंका परदा व्यक्त हो रहा है। वधू बहूको भी कहते हैं, सर्वसाधारण स्त्रीको भी यहांपर अधिवस्त्रा-वधूकी उपमा दिखलाई गई है। यहां श्रीसायणकी व्याख्या यह है—'उपरिनिहितवस्त्रा वधूरन्येन वस्त्रेण यथा छादिता भवति' इससे अन्य भी स्पष्टता होगई। वस्त्रोंसे ढका हुआ तो पुरुष भी होता है, परन्तु स्त्रियों-का वैसा विशेषण साभिप्राय है। इससे उनकी घूंघट-प्रथा सिद्ध हो रही है। तभी 'आवृत' पद जो उपमामें साधारणधर्म है--की सार्थकता है। इससे स्त्रीका सर्वाङ्ग--अवगुण्ठन सिद्ध हो रहा है। आजकल जो कि स्त्रियोंके मुख, बाहें, जांघें अनावृत रहती हैं, यह बात वेदसे विरुद्ध सिद्ध होगई।

(३) अन्य मन्त्र देखिये—'जनीरिव अभिसंवृतः' (८।१७।७) यह भी ऋसं. का मन्त्र है, अथर्ववेदसं. (२०।५।१) में भी है। जैसे-स्त्रियाँ वस्त्रोंसे ढकी रहती हैं। पुरुषको 'जन' कहते हैं; स्त्रीको 'जनी' कहते हैं, हमारे मुलतानमें स्त्रीको 'जणी' कहते थे। आच्छन्नता शिर-मुख आदिसे लेकर पांवके अंगूठे तक इष्ट है; अन्यथा तो पुरुष भी गलेसे लेकर गट्टे तक वस्त्रोंसे ढका रहता है, तब स्त्रीको 'अभिसंवृत' शब्दसे कहना क्या माने रखता है; वह यही कि--'अभितः संवृता अभिसंवृता' सब ओरसे ढकी हुई। कोई भी अङ्ग उसका खुला नहीं। श्रीसायणने लिखा है—'जनयः--जाया यथा शुक्लैर्वस्त्रैः संवृता भवन्ति'। इस प्रकार वैदिक-कालमें भी स्त्रियोंका सर्वाङ्ग--अवगुण्ठन था--यह व्यक्त होरहा है।

(ख) यदि अवगुण्ठनप्रथा मुसलमानी जमानेसे आई होती, तो 'आप्रपदीनः पटः' यह प्रयोग वेदाङ्ग-व्याकरणमें न होता, और श्रीपाणिनिमुनि उसे 'आप्रपदं प्राप्नोति' (५।२।८) सूत्रसे सिद्ध न करते।

इससे सिद्ध है कि प्रपद--पादाग्र तक पहुँचे हुए आवरणवस्त्रको 'आप्रपदीन' कहते हैं; जैसे कि-आजकल भी मुसलमानियां पहरती हैं। हमारे गोस्वामियोंकी स्त्रियोंमें भी यह प्रथा कल तक थी। श्रीपाणिनिके समयमें मुसलमान नहीं थे; तब उनसे सिद्ध किया यह अवगुण्ठन सिद्ध करता है कि--मुसलमानोंने भी पर्दा हमसे ही लिया; उनका यह अपना नहीं।

(ग) इसी प्रकार 'परिवृतो रथः' (पा. ४।२।१०) 'वस्त्रैः परिवृतो वास्त्रो रथः, समन्तात् वेष्टितः परिवृत इत्युच्यते' (सिद्धान्तकौमुदी) इससे भी पर्दा प्राचीन सिद्ध होरहा है। रथोंमें स्त्रियोंके बैठनेके कारण उनको कपड़ेसे लपेट दिया जाता था--यह आजकल भी तांगोंमें पीछे स्त्रियां बैठी हों, किया जाता है। मुसलमान पाणिनिसे बहुत पीछे हुए। अतः यह पर्देकी प्राचीनकालसे परम्परा-द्वारा चली आई प्रथा थी—यह प्रकट हो रहा है।

(४) 'ककुत्सलमिव जामयः' (अथर्व. १८।४।६६) 'जिस प्रकार कुल-स्त्रियाँ अपने सिरको ढांप लेती हैं' यह अर्थ आर्यसमाजी—स्नातक मङ्गलदेव तथा श्रीसातवलेकर जी द्वारा प्रणीत एवं प्रकाशित 'यम और पितर' के ४३ पृष्ठमें दिया गया है। इससे भी स्त्रियोंकी आवरणप्रथा-की पुष्टि होरही है।

(५) अब अन्य मन्त्र देखिये—'अधः पश्यस्व मोपरि सन्तरां पादकौ हर। मा ते कशप्लकौ दृशन् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ' (ऋ. ८।३३।१९) इसका 'ऋग्वेदके सुबोध भाष्य' (मेधातिथि ऋषिके दर्शन) में श्रीसातवलेकर जीने अर्थ लिखा है—'हे स्त्री, नीचेकी ओर देखती हुई खड़ी रह। ऊपर न देख। पांव पास-पास रखकर चलो। तेरे शरीरके गात्र किसीको न दीखें। विशेषतः ओठ और पिण्डरियां ढकी रहें, अर्थात् सब शरीर कपड़ेसे अवगुण्ठित रहे, (पृ. ७२) 'तुम्हारे शरीरके दोनों भाग मुख और पिण्डरियां कोई न देख सकें; ऐसा कपड़ा पहनो, क्योंकि--तू ब्रह्माका कार्य करनेवाला पुरुष था; उसकी स्त्री बनी है'। (पृ. ७१) यह मन्त्र पर्दाके-

लिए बहुत स्पष्ट है।

इसपर श्रीसायणने भी स्पष्टता की है--'अन्तरिक्षाद् आगच्छन् रथस्थ इन्द्रः स्त्रियं सन्तं स्वस्मात् पुंस्त्वमिच्छन्तं प्लायोगिं यद् उवाच, तद्-आह [अस्मिन् मन्त्रे--] हे प्लायोगे ! त्वं स्त्री सती अधः पश्यस्व, एष स्त्रीणां धर्मः। उपरि मा पश्य, उपरिदर्शनं स्त्रीणां धर्मो न भवति हि। पादकौ--पादौ अपि सन्तरां-संश्लिष्टौ यथा भवतः, तथा हर। यथा पुरुषो विश्लिष्ट-पादनिधानो भवति, तथा त्वया स्त्रिया न कर्तव्यमित्यर्थः। अथच ते कशप्लकौ। कशतिराहननकर्मा। कशप्लकौ--उभे अङ्गे, मा दृशन्--पुरुषा न पश्यन्तु। तयोः अदर्शनं वाससः सुष्ठु परिधानेन भवति। अतः सुष्ठु वाससः परिधानं कुरु। स्त्रियो हि आगुल्फाद् अभिसंवीता भवन्ति-इत्यर्थः। (जहांपर गट्टे का भी ढकना है, वहां मुखका ढकना तो स्वतः-सिद्ध होगया।) हि-यस्मात् कारणाद् ब्रह्मा सन् स्त्री बभूविथ'।

इस मन्त्रका अर्थ आर्यसमाजी विद्वान् श्रीपाददामोदर सातवलेकरसे सम्पादित और आर्यप्रतिनिधिसभा पञ्जाबसे प्रकाशित 'वेदामृत' (प्र.सं.) से भी दिया जाता है—

हे स्त्रि, नीचे देख, ऊपर न देख। गम्भीरतासे पांव रखकर चल। तेरे अवयव किसीको दिखाई न दें, क्योंकि—आत्मा ही स्त्रीरूपसे तेरे अन्दर प्रकट हुआ है। (आगे सातवलेकरजी इसको स्पष्ट करते हैं—) स्त्रीके धर्म यह हैं कि--(१) वह पुरुषकी तरह ऊपर न देखे, प्रत्युत नीचे की ओर देखे। (२) चलनेके समय गम्भीर-गतिसे चले, पांवोंका जोरसे आवाज न करती हुई चले। (३) वस्त्रसे अपने अवयव अच्छी प्रकारसे आच्छादित रखे; ताकि-कोई अवयव दूसरेको दिखाई न दे। (४) यह समझे कि-अपने अन्दर आत्मा ही स्त्रीका रूप धारण करके अवतीर्ण हुआ है।

अब भी कोई यह कहनेका दुस्साहस कर सकता है कि—स्त्रियोंका पर्दा अवैदिक है ?। या वह वेदोंको भी मुसलमानी जमानेके बने हुए

माने; तब उसकी बात कदाचित् ठीक हो सके।

इन्हीं वैदिकसूत्रोंके भाष्यभूत अन्य-ग्रन्थोंके वचनोंको भी हम उद्धृत करते हैं।—

(६) महाभाष्यमें 'कन्यायाः' (४।१।११६) सूत्रके इस पदका अर्थ करते हुए 'सुदर्शनायाः' अर्थ किया है। वहां कैयटने 'प्रकटदर्शनाया अगुप्तत्वात्' यह व्याख्या की है कि--क्वारी लड़की छिपी नहीं रहती, इसलिए वह दीख सकती है; इससे सिद्ध हुआ कि--विवाह होजानेपर वह गुप्त हो जाती है अर्थात् घरमें रहने लगती है, और अवगुण्ठन करने लगती है; तब वह 'प्रकटदर्शना' कैसे हो ? इसलिए ४।१।१५ सूत्रके महाभाष्यमें कहा है—'कथं वा स्त्री नाम सभायां साध्वी स्यात्' (स्त्री सभामें नहीं आती) यहां भी स्त्रीका पर्दा ध्वनित होरहा है। अब हम इस विषयमें कि--स्त्रीका विवाह होजानेपर पर्दा शुरू हो जाता है--रामायण-महाभारत आदिके वचन उद्धृत करते हैं।—

(७) 'अदृष्टपूर्वा या नार्यः पुरा देवगणैरपि। पृथग्जनेन दृश्यन्ते तास्तदा निहतेश्वराः' (महाभारत स्त्रीपर्व १०।८) (जिन स्त्रियोंको सूर्य-चन्द्र आदि देवता भी नहीं देख सकते थे; आज उन्हें निम्नकोटिके जन भी पति मरनेपर देख रहे हैं) यह स्त्रियोंका कुरुक्षेत्रमें जानेके समयका वर्णन है, जब महाभारतमें उनके पति मारे गये; अतः आपत्कालीन है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि--स्त्रियां पहले कभी बाजार वा गली आदि आम मार्गमें नहीं निकलती थीं। सदा घरमें ही रहती थीं। घरमें रहना पर्देको बता रहा है।

(८) इस प्रकार देवीभागवतमें हरिश्चन्द्रोपाख्यानमें भी कहा गया है—'यां न वायुर्नचादित्यो न चन्द्रो न पृथग्जनाः। दृष्टवन्तः पुरा पत्नी सेयं दासीत्वमागता' (७।२२।३७) राजा हरिश्चन्द्र अपनी पत्नीको बेचनेके समय कह रहा है कि--जिस स्त्रीको कभी सूर्य-चन्द्रमा आदि तथा साधारणजन भी घरसे बाहर निकली हुई नहीं देख सके थे; वह

अब दूसरेकी दासी बन गई। इससे स्त्रीका पर्दा स्पष्ट होरहा है।

(९) इसी प्रकार 'अदृष्टपूर्वा या नार्यो भास्करेणापि वेश्मसु। ददृशुः ता महाराज! जना याताः पुरं प्रति' (महाभा. शल्य. २९।७४) शल्यके मरनेपर और दुर्योधनके भाग जानेपर कुरु-स्त्रियोंका यह वर्णन है कि जिन स्त्रियोंको घरमें सूर्य भी नहीं देख सकता था; आज उनको रास्ता चलते पुरुष भी देख रहे हैं। यह स्त्रियोंका अपने घरमें रहना उनका अवरोधप्रथा (पर्दा) बता रहा है।

(१०) 'यां न वायुर्नचादित्यः पुरा पश्यति मे प्रियाम्' सेयमद्य सभामध्ये शेते भूमौ अनाथवत्' (महा. वनपर्व. ६२।२१) यह नल दमयन्तीकेलिए कह रहा है कि--जिस मेरी प्रियाको पहले सूर्य-वायुआदि भी नहीं देख सके थे; आज वह बाहर भूमिमें सो रही है। इससे पर्दा-प्रथाकी पुष्टि होरही है कि--स्त्री विवाह होते ही घरमें घुस जाती थी; उसके बाद घरसे फिर नहीं निकलती थी।

(११) दमयन्तीका विवाहकालसे ही पर्दा स्पष्ट शब्दोंमें भी महाभारतमें लिखा है—'नैषधं वरयामास भैमी धर्मेण पाण्डव! विलज्जमाना वस्त्रान्ते जग्राहायतलोचना' (वनपर्व ५७।२९) 'वस्त्रान्त जग्राह' का अर्थ है कि—नलके वरणके समय दमयन्तीने वस्त्रसे घूंघट कर लिया। इससे स्पष्ट हो रहा है कि--क्वारी लड़की पर्दा नहीं करती थी, विवाह होते ही उनका उसी दिनसे पर्दा शुरू होजाता था; क्योंकि-उस समय वह परकीया--एककी हो जाती थी; फिर अपना मुख पतिके अतिरिक्त अन्यको कैसे दिखलावे'?' इसलिए महाभारतमें कहा है—'द्रष्टुं कन्याश्च कल्याण्यः ताश्च यास्यन्त्यनावृताः' (उद्योगपर्व ८६।१६) इसका अर्थ श्रीसातवलेकरने लिखा है--'नगरसे भी कन्याएं कृष्णको देखनेके निमित्त बिना आवरणके ही गमन करेंगी'। इससे स्पष्ट होता है कि--कुमारियां तो आवरण (पर्दा) नहीं करती थीं, परन्तु विवाहिता स्त्रियां पर्दा करना शुरू कर देती थीं।

(१२) 'न चन्द्रसूर्यौ न तरुं पुंनाम्ना या निरीक्षते। भर्तृवर्जं वरारोहा सा भवेद् धर्मचारिणी' (अनुशा. १४६।४३) यहांपर भी 'सूर्य-चन्द्रका न देखने' का भाव पर्दा-प्रथाको बता रहा है।

(१३) 'असूर्यम्पश्या राजदाराः' यह प्रसिद्ध व्याकरणस्थित उदाहरण भी पर्दा बता रहा है, अर्थात् सूर्यको न देखनेवाली राजस्त्री। यहां 'राजदाराः' अन्य स्त्रियोंका उपलक्षण है, क्योंकि--'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति' बड़ेका नाम ही कहा जाया करता है। राजाकी स्त्रियोंमें यह पर्दा-प्रथा सुव्यवस्थित होती हैं। स्वा. द. जीने भी 'आख्यातिक' (पृ. २१६ पृ.) इसके अर्थमें लिखा है कि--अनिवार्य सूर्यका भी दर्शन नहीं करनेवाली राजदारा है'। ३।२।३८ सूत्रकी व्याख्या कृदन्त-प्रकरणमें इस उदाहरणपर प्रामाणिक 'सिद्धान्तकौमुदी'की टीका तत्त्वबोधिनीमें भी कहा है—'असूर्यम्पश्या-इति। गुप्तिपरं चेदम्। (यह उदाहरण स्त्रियोंका पर्दा बता रहा है) एवं नाम राजदारा गुप्ताः, यद् अपरिहार्यदर्शनं सूर्यमपि न पश्यन्ति, किं पुनः परपुरुषमिति (राजस्त्रियां इस प्रकार पर्देमें छिपी हुई हैं कि--जिसका दर्शन कभी छूट नहीं सकता, उस सूर्यसे भी छिपी रहती हैं।) तेन सत्यपि सूर्यदर्शने प्रयोगो न विरुध्यते (तब यदि उन्हें सूर्यदर्शन भी हो जाए; तब भी प्रयोगमें कोई विरोध नहीं पड़ता। यहां पर्देका तात्पर्य लेना चाहिये)। यदा तु सूर्याभाव-दर्शनमात्रं विवक्षितम्, तदा खश् न भवति, अनभिधानाद्--इतिन्यासकारादयः (जब पर्दा विवक्षित न होकर सूर्यका दर्शन न करना विवक्षित हो; उसमें खश्प्रत्यय न होगा-यह न्यासकारादि सभी विद्वानोंने कहा है)।'

यहांपर स्त्रियोंमें पर्दा-प्रथाकी स्पष्टता है। इससे 'ललाटन्तपसूर्यं तु ताः सौन्दर्य-विघातकमुखमेचकिमोत्पादकत्वेन न पश्यन्ति' (माथेको तपानेवाले अर्थात् दुपहरके सूर्यको राजदाराएं मुंहके काले होनेके डरसे नहीं देखतीं, यही 'असूर्यम्पश्या राजदाराः' का अर्थ है, पर्दा नहीं) यह कहते हुए कौमुदीके टिप्पणीकार म. म. पं. शिवदत्तजीका खण्डन होगया,

क्योंकि-वैसा होनेपर तो प्राचीन—वैयाकरणोंने खश्प्रत्ययका अभाव दिखलाया है--ऐसा न्यासकारादियोंने स्पष्ट कर दिया है। परदा-अर्थमें ही यहां खश् किया जाता है, यह 'गुप्तिपरं चेदम्' कहनेसे उनका तात्पर्य निकलता है। अतः म. म. पं. शि. द. जीका कथन ठीक नहीं; और उनके अनुसार 'असूर्यम्पश्याः' में 'ललाटन्तप सूर्यं' शब्द कहा भी नहीं गया है।

वस्तुतः उनकी यह कल्पना अर्वाचीन है। यह कल्पना उन्होंने अंग्रेज-रमणियोंको सर्दीमें भी सूर्यकी धूपमें छाता किया हुआ देखकर की है—ऐसा मालूम होता है। जो कि उन्होंने यह कहा है कि--'सूर्यदर्शनस्य पातिव्रत्यविघातकत्वे तु 'अथैनां सूर्यमुदीक्षयति इति गृह्यसूत्रोक्तकर्मणोऽकरणे अङ्गवैगुण्यमेव स्यादिति' (यदि सूर्यका दर्शन पातिव्रत्य-विघातक हो, तो गृह्यसूत्रमें पतिका अपनी पत्नीको विवाह-समयमें सूर्यका दर्शन कराना भी अनुपपन्न हो जावेगा। नहीं कराया जावेगा; तो विधिभ्रंश हो जावेगा) यह भी उनका कथन ठीक नहीं। जब विवाह होरहा होता है; उस समय वह घरके अन्दर होती है, सूर्यका उस समय उदय भी नहीं हुआ-हुआ होता। उस समय विधिमात्र पूरी करा दी जाती है। जैसे कि उसे ध्रुवका दर्शन कराया जाता है; तब यदि वह ध्रुवको न भी देखे; तो कह देना पड़ता है कि-'ध्रुवं पश्यामि' यह गृह्यसूत्रोंमें स्पष्ट है, वैसे यहां भी सूर्यदर्शनकी विधिमात्र कर देनी पड़ती है, और फिर पति ही विधिपूरणार्थ स्त्रीको सूर्यदर्शन कराता है; अतः उसमें पातिव्रत्यविघातका कुछ भी अवसर नहीं। पति-द्वारा कराई जाती विधि--पातिव्रत्यविघातक नहीं होती।

वास्तवमें 'असूर्यम्पश्या राजदाराः' और 'यां न वायुर्नचादित्यः' इन पूर्वोक्त महाभारतादिके पद्योंमें सूर्य-चन्द्र आदिके निषेधमें तात्पर्य नहीं है, किन्तु 'पर्देमें' तात्पर्य है, जैसे कि-तत्त्वबोधिनीकारका स्पष्ट वचन हम पहले लिख चुके हैं। यहां तो बाहरी जगत्को न देखनेमें अर्थात्—पूरे परदेमें तात्पर्य है। जैसे 'सतृणमत्ति' इस व्याकरणके अव्ययीभावके 'साकल्य' अर्थके उदाहरणमें तृणभक्षणमें तात्पर्य नहीं, किन्तु सभी-कुछ खा जानेमें तात्पर्य है, वैसे ही 'असूर्यम्पश्या राजदाराः' में भी स्त्रियोंके सूर्य-चन्द्रादिके निषेधमें तात्पर्य नहीं है, किन्तु पूर्ण-परदा करनेमें तात्पर्य है—यह तत्त्वबोधिनीकारने पूर्ण स्पष्ट कर दिया है, और वादियोंकी शङ्काका समाधान कर दिया है। बल्कि ऐसा कहनेमें कि—'सूर्यका दर्शन मुंहके काला होनेके डरसे स्त्री नहीं करती' म. म. जीके मतमें दोष आता है; क्योंकि—यदि स्त्री मुंहके काले होनेके डरसे सूर्य-दर्शन नहीं करेगी; तब गृह्यकर्मकी हीनता होजावेगी। हमारे मतमें तो वहां सूर्य-दर्शन अपवाद भी हो सकता है।

और 'असूर्यम्पश्याः' के साथ 'राजदाराः' विशेष्य लगानेमें भी रहस्य है। क्या 'राजदाराओंका ही सूर्यदर्शनसे मुंह काला हो जाता है? राज-दारिकाओं (राजकुमारियों) का फिर सूर्यदर्शनमें क्या मुख काले होनेकी आशङ्का नहीं रहती? तब 'असूर्यम्पश्यो राजपरिवारः' न कहकर जोकि-'राजदाराः' कहा है; इससे 'दाराः' शब्दसे 'विवाहित स्त्री' इष्ट है; विवाहिता स्त्रियोंका ही पर्दा होता है, क्वारियोंका नहीं। इसलिए तो जहां-तहां 'असूर्यम्पश्या राजदाराः' यह प्रयोग मिलता है, 'असूर्यम्पश्या राज-दारिकाः' नहीं। इसलिए यहां विवाहिता स्त्रियोंके ही पर्देकी पुष्टि होती है। कुमारियोंका पर्दा नहीं होता। 'दाराः' यह सामान्यशब्द न कहकर 'राजदाराः' यह विशेष-शब्द राजस्त्रियोंमें यह 'अवरोधप्रथा' विशेषतया बता रहा है, अन्तःपुर भी राज-परिवारमें ही प्रसिद्ध है।—इससे अन्य स्त्रियोंके पर्देका निषेध नहीं है। इसलिए ब्रह्मवैवर्त--पुराणमें भी कहा है —'असूर्यम्पश्या या दाराः शुद्धास्ताश्च पतिव्रताः' (४।१८।११७) यहां 'दाराः' यह सामान्य-शब्द भी आगया है।

'असूर्यम्पश्या राजदाराः' इस उदाहरणमें परदेका अर्थ है' इस बातमें केवल तत्त्वबोधिनीकारकी ही सम्मति नहीं है; बल्कि न्यासकारकी भी

सम्मति है। केवल न्यासकारकी नहीं, किन्तु तत्त्वबोधिनीकारके शब्दोंमें 'न्यासकारादयः' इस 'आदि'-शब्दसे अन्योंकी भी सम्मति बताई गई हैं। इससे स्त्रियोंका पर्दा सिद्ध होगया।

तब जो म. म. पं. शि. द. जीने वहीं यह लिखा है—'दमयन्त्यादि-पतिव्रताभिः कृतस्य च चन्द्रवर्णनस्य अन्यथानुपपत्त्या राजदाराणां चन्द्रा-दिदर्शनं भवत्येव (यदि चन्द्रदर्शन भी स्त्रियोंका पातिव्रत्य-विघातक होता, तो नैषधचरित-आदिमें पतिव्रता-दमयन्ती आदि द्वारा किया हुआ चन्द्र-वर्णन अनुपपन्न हो जाता; अतः राजदाराओंका भी चन्द्रदर्शन होता है।) इसका भी खण्डन होगया। नैषधचरित आदिमें दमयन्ती आदि-द्वारा चन्द्रवर्णन तो केवल महाकाव्यत्व पूर्ण करनेकेलिए कविकल्पनामात्र है, आश्चर्य है कि—म. म. जीने उसे भी वास्तविक मान लिया। वहां तो दमयन्तीने चन्द्रमाका विरोध किया है, चन्द्रदर्शन हटवानेवाली अमा-वास्याकी प्रशंसा की है। वस्तुतः वहां वैसा वर्णन करनेवाली दमयन्ती भी उस समय कुमारी थी, विवाहिता नहीं। पर्दा विवाहिता स्त्रियोंका ही होता है, कुमारियोंका नहीं। तब म.म. जीका यह तर्क भी गलत सिद्ध हुआ।

बल्कि स्त्रियोंके चन्द्रदर्शनसे म. म. का यह पक्ष भी गिर गया कि—वे राजदाराएं मुखके कालेपनके डरसे सूर्यको नहीं देखतीं। यदि सूर्यको मुंहके काले होजानेके डरसे राजदाराऐं नहीं देखतीं; तो 'यां न वायुर्न-चादित्यो न चन्द्रो' (देवीभाग. ७।२२।३७) 'या नापश्यन् चन्द्रमसं न सूर्यं, रामाः कदाचिदपि तस्मिन् नरेन्द्रे। महावनं गच्छति कौरवेन्द्रे शोके-नार्ता राजमार्गं प्रपेदुः' (महा. आश्वमेधिकपर्व १५।१३) यह चन्द्रदर्शन का निषेध कैसे सङ्गत हो सकता है? क्या चन्द्रमा मुखको काला कर देता है?। तब स्पष्ट है कि—इस सूर्य-चन्द्रको स्त्रियोंके न देखनेकी अतिश-योक्तिका तात्पर्य पूर्ण परदा करने और घरसे बाहर सड़कपर कभी न निकलनेमें है। सूर्य-चन्द्रादिके दर्शन-निषेधमें तात्पर्य नहीं। तब स्त्रियोंका

पर्दा प्राचीनकालसे ही सिद्ध होगया।

यदि 'मुंहके काले होनेसे स्त्रियां सूर्यको नहीं देखती थीं' यह म. म. पं. शिवदत्त जीका मत माना जावे; तब स्त्रियोंका घूंघट तो आवश्यक सिद्ध होगया। क्योंकि—जब वे घूंघट निकालेंगी; तो न केवल सूर्यके कारण उनका मुख काला न होगा, बल्कि-मुखपर पर्दा होनेसे सर्दी-गर्मीसे मुखपर होनेवाला अनिवार्य कालापन भी नहीं होगा। सर्दी-गर्मी-वायु आदिसे भी रक्षा होगी—इससे उल्टा पर्देकी अन्य आवश्यकता भी सिद्ध होगई। स्वा. द. जीने 'असूर्यम्पश्याः' का अपने अष्टाध्यायीभाष्यमें यह अर्थ किया है कि—'गृह ऐसे बने हैं, जिनमें-रहनेवाली रानियोंको सूर्य ही नहीं दीखता'।

(१४) द्रौपदीका बलात् सभामें लानेमें उसका वाक्य भी पाठक देखें, जिससे स्त्रियोंकी परदा-प्रथाकी पुष्टि होती है। 'स्वयंवरे याऽस्मि-नृपैर्दृष्टा रङ्गे समागतैः। न दृष्टपूर्वा चान्यत्र साऽहमद्य सभां गता' (सभापर्व. ६९।५) (स्वयंवरके अतिरिक्त मुझे कहीं किसी पुरुषने नहीं देखा) 'यां न वायुर्नचादित्यो दृष्टवन्तौ पुरा गृहे। साहमद्य सभामध्ये दृश्याऽस्मि जनसंसदि' (६) (जिसे घेरमें सूर्य-वायु आदि भी कभी देख न सके थे) 'किन्वतः कृपणं भूयो यदहं स्त्री सती शुभा। सभामध्यं विगा-हेऽद्य क्व नु धर्मो महीक्षिताम्' (९) (इससे बढ़कर बुरी बात क्या है कि-एक पतिव्रता—स्त्रीको दुःशासन सभामें खींच लाया है) 'धर्म्यां स्त्रियं सभां पूर्वे न नयन्तीति नः श्रुतम्। स नष्टः कौरवेयेषु पूर्वो धर्मः सनातनः' (२।६९।१०) (धर्मात्मा स्त्रीको पहलेके लोग सभामें नहीं ले जाते थे-यह मैंने सुन रखा है, यह सनातनधर्म कौरवोंमें नष्ट हो चुका, जो कि दुःशासन मुझ सतीको सभामें ले आया) श्रीसातवलेकरने भी इसका यही अर्थ किया है—'मैंने पहले सुना था कि—स्त्री धर्मसभामें नहीं बुलाई जाती, सो सनातनधर्म कुरुवंशसे नष्ट होगया'।

यह महाभारतके पद्य बहुत स्पष्ट हैं, वे स्त्रीका परदा सिद्ध कर रहे

हैं—इसमें टीका-टिप्पणीकी आवश्यकता नहीं। 'स नष्टः कौरवेयेषु पूर्वो धर्मः [स्त्रियाः सभायाँ नाऽऽनायनरूपः] सनातनः' यह शब्द हृदयस्पर्शी हैं; और स्त्रियोंका आवरण हटवानेवाले आजकलके सुधारकोंको याद करवा रहे हैं। इस द्रौपदीके दुःखमय वाक्यसे यह स्पष्ट होरहा है कि—स्त्रियोंका घररूप-पर्देमें रहना ही सनातनधर्म है।

(१५) निरुक्तमें स्त्रीका निर्वचन करते हुए लिखा है—'स्त्रियः स्त्यायतेरपत्रपण-कर्मणः' (३।२१।२) (स्त्रियाँ लज्जायुक्त होनेसे इस नामको रखती हैं) इससे भी स्त्रियोंका आवरण ध्वनित होता है। लज्जित पुरुष अपने मुंहको ढक लेता है, जो नहीं ढकता, किन्तु ऊपर ही मुंह कर लेता है, उसे निर्लज्ज कहा करते हैं। स्त्रियोंमें स्वाभाविक-लज्जावश स्वयं ही उनका अवगुण्ठन सिद्ध होता है। इसलिए ब्रह्मवैवर्त-पुराणमें भी लिखा है—'व्रीडया वाससा वक्त्रमाच्छन्नं कुर्वतीं मुदा' (४।२३।४५) यहां लज्जासे स्त्रीका मुंह ढक लेना कहा है।

(ख) स्त्रियोंका 'गृहिणी' नाम भी उनके घररूप पर्देको बता रहा है कि—वह घरमें ही रहती है। 'न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते' यहां स्त्रीको ही घर कहा है। पुरुषको जो 'गृही' कहा जाता है, वह अपनी स्त्री होनेसे ही कहा जाता है। स्त्री न होनेपर उसे भी बनमें रहना पड़ता है। ब्रह्मचर्यमें आचार्यकुलमें, और गृहस्थके बाद वानप्रस्थ एवं संन्यासमें भी उसे वनमें ही रहना पड़ता है।

(१६) जब श्रीवेदव्यास अपने पुत्र शुकदेवके ढूंढनेकेलिए गये; तब मन्दाकिनीके किनारेपर ठहरी हुई स्त्रियोंने उनको देखकर पर्दा कर लिया। जैसे कि—महाभारत (शान्तिपर्व मोक्षधर्मपर्व) में—'महिमानं तु तं दृष्ट्वा पुत्रस्यामिततेजसः। निषसाद गिरिप्रस्थे पुत्रमेवानुचिन्तयन्' (३३३।३७) ततो मन्दाकिनीतीरे क्रीडन्तोऽप्सरसां गणाः। आसाद्य तमृषिं सर्वाः सम्भ्रान्ता गतचेतसः' (२८) जले निलिल्यिरे काश्चित्, काश्चिद् गुल्मान् प्रपेदिरे। वसनान्याददुः काश्चित् तं दृष्ट्वा मुनि-

सत्तमम्' (२९) (कई स्त्रियां मुनिको देखकर पानीमें छिप गईं, कई झाड़ियोंमें छिप गईं, कइयोंने कपड़े पहिर लिये।) इससे प्राचीनकालमें भी स्त्रियोंमें परदा-प्रथा सिद्ध होती है।

(१७) महाभारत आश्वमेधिकपर्वमें—'सापि (उत्तरा) बाष्पकलां वाचं निगृह्याश्रूणि चैव ह। सुसंवीताऽभवद् देवी देववत् कृष्णमीयुषी' (६८।११) इसका श्रीसातवलेकरने अर्थ यों लिखा है—'उत्तरा देवी··· कृष्णको देखके अवगुण्ठनवती हुई'।

(१८) 'अथाब्रवीद् द्रौपदी राजपुत्री··· संगृह्णती कौशिकमुत्तरीयम्' (महा. वनपर्व २६५।१) यहां द्रौपदीने कोटिकास्य नामके पुरुषको देखकर दुपट्टेसे घूंघट कर लिया। इससे पर्दा-प्रथाकी पुष्टि होरही है।

(१९) 'कृताञ्जलिः सुसंवीता स्थिताथ द्रुपदात्मजा' (महा. आदि-पर्व. २१०।१५) यहां श्रीसातवलेकरकृत अर्थ इस प्रकार है- 'कृष्णा देवर्षि [नारद] के पावोंमें प्रणाम कर हाथ जोड़ अवगुण्ठित भावसे खड़ी हुई'। इन प्रमाणोंको देखकर कौन कह सकता है कि—हमारी स्त्रियोंमें पर्दा-प्रथा मुसलमानोंको देखकर शुरू हुआ। नहीं, हमारी परम्परासे यह प्रथा चली आ रही है। महाभारतके जमानेमें मुसलमान भी नहीं थे कि—उनके डरसे पर्दा-प्रथा उस समय जारी हुई हो; किन्तु यह उस समयकी मर्यादा थी। (ख) 'प्रेक्षासमाजं गच्छेद् वा सा दण्ड्या' (मनु. ९।८४) मनुजी यहां थियेटर-सिनेमे आदिमें जाती हुई स्त्रीको दण्ड देकर अवरोध-प्रथाको पुष्ट कर रहे हैं, परन्तु सुधारक लोग तो स्त्रियोंको बाहरी जगत्में लाकर धोखेसे उन्हें तथा पुरुषोंको उत्तेजित करके क्या संसारको विना-शाभिमुख नहीं ले जा रहे? अवश्य ले जा रहे हैं।

महाभारतके प्रमाण 'आलोक'—पाठक देख चुके; अब वे उससे भी प्राचीन वाल्मीकिरामायणके प्रमाण देखें—

(२०) 'हर्म्यवातायनस्थाभिः भूषिताभिः समन्ततः। कीर्यमाणः

सुपुष्पौघैः ययौ स्त्रीभिररिन्दमः' (अयोध्या. १६।३७) यहां स्त्रियोंका महलोंके झरोंखोंसे देखना उनकी अवरोधप्रथा सिद्ध कर रहा है।

(२१) 'या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि। तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः' (वाल्मी. २।३३।८) यहांपर सीताके घरसे बाहर आनेपर खेद बताकर स्त्रियोंकी अवरोधप्रथा (घरमें रहना) बताई गई है। यहां आपत्कालमें सीताका घरसे बाहर आना बताया गया है। उससे पूर्व न तो वह कभी घरसे बाहर आती थी; और न सड़कपर निकलती थी-यह 'पर्दा' सूचित होता है।

(२२) रावणके मरनेके समय मन्दोदरी कह रही है—'दृष्ट्वा न खल्वभिक्रुद्धो माम् इहाऽनवगुण्ठिताम्।' (युद्धकाण्ड १११ (११३)। ६१) (मुझे घरसे बाहर विना घूंघट-पर्देके आई हुई को देखकर अब क्रोध क्यों नहीं करते हो) 'पश्येष्टदार! दारान् ते भ्रष्टलज्जाऽवगुण्ठनान्' (६२) बहिर्निष्पतितान् सर्वान् कथं दृष्ट्वा न कुप्यसि' (६३) (तुम्हारी स्त्रियाँ अब लज्जा और घूंघट वा पर्दा हटाकर घरसे बाहर आई हुई हैं, ऐ पतिदेव रावण; अब तुम्हें इसपर क्यों गुस्सा नहीं आता)। इससे प्रतीत होता है कि-उस समय घरसे बाहर स्त्रियोंका निकलना, पर्दा वा घूंघट विना किये बाहर आना-यह प्रथा नहीं थी, वैसा करनेपर पति क्रोध करता था। इससे यह भी सिद्ध होता है कि—स्त्रियोंमें अवगुण्ठनप्रथा सब जातियोंमें होती थी। रामायणकाल बहुत प्राचीन है, न तो उस समय मुसलमान जाति थी; न ही उनका अस्तित्व ही था। तब यह पर्दा 'मुसलमानोंके अनुकरणसे वा मुसलमानोंके डरसे हिन्दुओंमें आया' यह सुधारकोंकी बात कट जाती है।

(२३) 'तृणमन्तरतः कृत्वा' (रामा. अरण्य. ५६।१) सुन्दर. २१। ३, महाभा. वनपर्व. २८१।१७) सीताके सामने लङ्कामें जब एकदम रावण आया, उस समयका यह पर्दा है, जो उसने तिनकोंकी ओटसे किया था। अन्य देखिये—

(२४) 'एवं वदति तस्मिन् (रावणे) सा वस्त्रान्तेन वराङ्गना (सीता)। पिधायेन्दुनिभं सीता [मुखं]' (३।५५।३२-३३) (इस प्रकार कह रहे हुए रावणके सामने सीताने कपड़ेसे मुंहपर घूंघट कर लिया) यहांपर तो सीताका घूंघट स्पष्ट है। (ख) 'रावणं पृष्ठतः कृत्वा' (सुन्दर. २१।६) यहाँपर रावणके आनेपर सीताने अपना मुंह पीछे कर लिया, और रावणके सामने अपनी पीठ कर ली। इससे भी सीताका पर्दा स्पष्ट हो रहा है।

(२५) 'सा वस्त्रसंरुद्धमुखी लज्जया जनसंसदि' (जब सीता पुरुषोंके सामने आई; तो उसने लज्जावश कपड़ेसे अपना मुख ढक लिया) यह पाठ युद्धकाण्ड ११६ सर्ग ३३ वें वाल्मी. रा. के श्लोकमें किसी प्रतिमें मिलता है—यह रामाभिरामटीकावाली रामायणमें प्रत्यक्ष हैं। इसलिए भट्टिकाव्यमें भी जिसमें रामायणी कथा है—इस अवसरपर सीताकेलिए लिखा है—'अनुष्ठाय यथादिष्टं नियोगं जनकात्मजा। समारूढवती यानं पट्टांशुकवृतानना' (उसने अपने मुखको कपड़ेके घूंघटसे ढक रखा था)' (२०।११६) यहां भी सीताका घूंघट स्पष्ट है। यह उस समयका वर्णन है, जब रावणवधके बाद सैनिकोंकी विद्यमानतामें श्रीसीताको श्रीरामके सामने लाया गया; तब उसने यह अवगुण्ठन (मुखपर घूंघट) किया हुआ था।

(२६) 'व्यसनेषु न कृच्छ्रेषु न युद्धेषु स्वयंवरे। न क्रतौ नो विवाहे वा दर्शनं दुष्यति स्त्रियाः' (६।११६।२८) यहां बताया गया है कि—आपत्तिकालमें, वा कोई कष्ट पड़नेपर, युद्धोंमें, स्वयंवरमें, यज्ञमें, विवाह हो रहे होनेपर स्त्री यदि पुरुषोंको दीखती है; तब इसमें दोष नहीं माना जाता। इस श्रीरामके अपवाद-वचनसे सिद्ध होता है कि—इन विशेष अवसरोंको छोड़कर स्त्री सर्वसाधारणरूपसे पुरुषोंको न दीखे; अर्थात् वह घरके पर्देमें रहे। इससे भी स्त्रीकी अवरोधप्रथा सिद्ध होरही है। श्रीराम सीताकेलिए कहते हैं—'सैषा विपद्गता चैव कृच्छ्रेण च समन्विता। दर्शने

नास्ति दोषोऽस्या मत्समीपे विशेषतः' (११४।२७) (यह इस समयमें आपत्तिकालमें तथा कठिन अवस्थामें पड़ी हुई है, और फिर विशेषकरके यह मेरे पास लाई जा रही है—यदि यह पुरुषोंकी दीख रही है; तो दोष नहीं। यह उस समयकी बात है कि—जब सीताको पालकीमें लाया गया था; और लक्ष्मण वा विभीषण सभीको वहांसे हटा रहे थे—इससे शोर मचकर अव्यवस्था होगई थी, उस समय श्रीराम गुस्सेसे यह वचन कह रहे थे। इस उनके अपवाद--वचनसे भी सिद्ध हो रहा है--इस आपत्तिकालके अतिरिक्त सर्वसाधारणतासे स्त्रीको बेपर्दगीसे नहीं लाया जाता। इसी विशेष--शास्त्रवश आपत्तिकालमें सीता, दमयन्ती आदिका घरका पर्दा छोड़कर बाहर आना भी सङ्गत हो जाता है। पर इससे स्त्रियोंकी आवरणप्रथा सिद्ध होरही है।

(२७) 'न गृहाणि न वस्त्राणि न प्राकारस्तिरस्क्रिया। नेदृशा राजसम्माना वृत्तमावरणं स्त्रियाः' (६।११६।२७) यहां वस्त्र-आदिका आवरण-निषेध तो 'वृत्त' (सदाचार) की स्तुतिका अर्थवाद है, वस्त्र-आदिके आवरणका निषेधक नहीं। जैसे 'अपशवो वा अन्ये गो-अश्वेभ्यः' इस वाक्यमें गाय-घोड़ेके अच्छे पशु होनेका प्रशंसार्थवाद है, इनसे भिन्न भैंस आदिके पशुत्वका निषेधक नहीं, किन्तु यहांका 'नञ्' गाय-घोड़ेकी अपेक्षा अप्रशस्त अर्थमें पर्यवसित होता है। जैसे 'योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिः, न मृद्वारिशुचिः शुचिः' (मनु० ५।१०६) इसमें धनमें पवित्र रहनेवाले की--दूसरेके धनमें जो अपने-अधिकारमें हो--उसमें गबन न करनेकी प्रकृति वालेका प्रशंसार्थवाद है, मट्टी-जलसे पवित्र पुरुषकी पवित्रताका निषेध नहीं; केवल अर्थशुचिकी अपेक्षा मृत्तिकाजल-शुद्धिका घटियापन बताया गया है; नहीं तो 'मृत्तोयैः शुध्यते शोध्यं' (५।१०८) यह स्वयं मनुजीका पद्य ही व्याकुपित हो जावे, 'शौचं मृद्जलादिजनितं' (२।३२) यह योगदर्शनका वचन भी गलत होजावे; पर यह अनिष्ट है, वैसे ही 'न गृहाणि न वस्त्राणि' यह पद्य भी वृत्त (सच्चारित्र) का प्रशंसार्थवाद है, वस्त्रादिके आवरणका निषेधक नहीं। नहीं तो सच्चारित्रवाली स्त्रियां

वस्त्र उतारकर नंगी ही घूमा करें, पर यह कोई भी नहीं मानेगा। तब यह पद्य स्त्रियोंकेलिए वृत्त (सच्चारित्र) के साथ-साथ घरको भी स्त्रीका आवरण बता रहा है, वस्त्रोंको भी, प्राकार (चार दीवारी, अथवा लम्बा चोगा) को भी, तथा तिरस्क्रिया (मुंहकी जाली, घूंघट) को भी, पालकीपर चढ़कर आना रूप राजसम्मानको भी स्त्रियोंका पर्दा बता रहा है।

'न गोप्रदानं न सुवर्णदानं न भूप्रदानं हि तथा प्रदानम्। यथा-वदन्तीह महाप्रदानं सर्वेषु दानेष्वभयप्रदानम्' इस पद्यमें जैसे अभयदानका प्रशंसार्थवाद है, गोदान आदिके दानत्वका निषेध यहां विवक्षित नहीं; वैसे पूर्वोक्त श्रीरामके वचनमें स्त्रीकेलिए मुख्य-आवरण वृत्तका बताया गया है, साथ ही वस्त्रादिका आवरण भी। यह नहीं कि-स्त्री घरोंमें भी बनी रहे, और घूंघट आदि भी बड़े-बड़े निकाले, पर बदचलन हो। या अच्छे आचरणवाली तो हो; पर नंगी होकर वा बेपर्द होकर घूमे। यह दोनों ही बातें अलग-अलग इष्ट नहीं।

इसी अभिप्रायसे मनुजीका यह पद्य मिलता है कि—'अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः। आत्मानमात्मना याः तु रक्षेयुः ताः सुरक्षिताः' (९।१२) (जो अपने-आपसे अपनी रक्षा करें, तथा आप्त--पुरुषोंके बन्धनमें घरमें रहें; वे ही स्त्रियां सुरक्षित हैं। इसका यह भाव नहीं कि--उनका पर्दा हटा दिया जावे; उन्हें घरका क्षेत्र न देकर बाहर घूमने-फिरने दिया जाय! नहीं, ऐसा नहीं। उनको बन्धनमें (देख-रेखमें, परतन्त्रतामें) रखना ही चाहिये। तभी तो वेदमें भी कहा है—'एषा ते कुलपा राजन्! तामु ते परिदद्मसि' (अ. १।१४।३) 'एषा ते राजन्! कन्या वधूर्निधूयतां यम! सा मातुर्बध्यतां गृहेऽथो भ्रातुः अथो पितुः' (अथर्व. १।१४।२) यहां स्त्रीको पतिके कुलकी रक्षिका बताया है; क्योंकि-स्त्री ही पतिके वंशको बढ़ानेवाली है। यदि वह बिगड़ गई; तो कुल विशुद्धि हटजानेसे समाप्त हुआ। उसे पहले पिता वा भाई एवं

मांके बन्धनमें रहना कहा है। बन्धनको इसीलिए रोध, वा अवरोध कहा जाता है। यह 'रनवास' का नाम है।

वस्तुत: 'न गृहाणि न वस्त्राणि' यह पद्य पर्देके इतिहासको बता रहा है कि-पहले स्त्रीका पर्दा घर वा चहारदीवारी होती थी। फिर जब बाहर आनेकी उसकी आवश्यकता देखी गई; तो या तो स्त्रीको कपड़ेसे घूंघट निकालना पड़ता था; या मुखपर जाली (तिरस्क्रिया) करनी पड़ती थी; या फिर राजसी--ठाठसे उसे पालकीपर आना पड़ता, या डोलीपर आना पड़ता। यह सब स्त्रीके पर्देके भेद हैं। अस्तु-। यह जो अर्थवादवचन श्रीरामने कहा था, और फिर सीताको पालकी छोड़कर पैदल चलनेकेलिए कहा था—'विसृज्य शिबिकां तस्मात् पद्भ्यामेवाप-सर्पतु' (६।११६।३०) यह बात लक्ष्मण आदिको अच्छी नहीं लगी; वे इससे व्यथित होगये—'ततो लक्ष्मण-सुग्रीवौ हनूमांश्च प्लवङ्गमः। निशम्य वाक्यं रामस्य बभूवुर्व्यथिता भृशम्' (६।११६।३२) उन्होंने समझ लिया कि—श्रीराम इस समय गुस्सेमें है; नहीं तो ऐसे वचन न कहते। अस्तु।

स्त्रीकी परदा-प्रथाका विचार करके ही 'द्वारोपवेशनं नित्यं गवाक्षेण निरीक्षणम्। असत्प्रलापो हास्यं च दूषणं कुलयोषिताम्' (व्यास) यहां स्त्रीका दरवाजेपर बैठना, हर समय खिड़कीसे झांकनेकी आदत बनाना आदि भी निषिद्ध कर दिये गये हैं। स्त्रियोंका जहां-तहां घूमना भी मनुजीने निषिद्ध कर दिया है—'पानं दुर्जनसंसर्गः, पत्या च विरहोऽटनम्। स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारी-सन्दूषणानि षट्' (९।१३) यह स्त्रीके दूषित करनेवाले बताये गये हैं। घूमनेसे यदि स्वास्थ्यका होना आवश्यक हो; तो घूमने-फिरनेवाले पुरुष ही दुर्बल वा—अस्वस्थ क्यों होते हैं? पर्देसे रहित भी स्त्रियाँ दुबली तथा अस्वस्थ देखी गई हैं; तब स्पष्ट है कि—पर्दा अस्वास्थ्यका हेतु नहीं।

(२८) यदि कहा जावे कि—'हम स्वतन्त्र होकर घूमते हैं; तब क्या स्त्रियोंका वैसा अधिकार नहीं? क्या उन्हें घरके बन्धनमें रखकर उन्हें जेलखानेमें रहनेवाली बनाया जाय'? इसपर यह प्रष्टव्य है कि--उनकी वैसी इच्छा देखकर आप उन स्त्रियोंको स्वतन्त्र करना चाहते हैं—ऐसा प्रतीत होता है। तब यदि वे कहें कि--आप पुरुष लोग गर्मीकी ऋतुमें कपड़े उतार दिया करते हैं; तो हम भी सबके सामने कपड़े उतारकर क्यों न बैठें? तब क्या आप सुधारक लोग उन्हें अङ्गोंको नग्न करनेकी आज्ञा दे देंगे? यदि ऐसा हो तो 'सूचीप्रवेशे मुसलप्रवेशः' इस न्यायसे वे बढ़ती चली जावेंगी; जैसे कि--आजकल क्रमसे होता जा रहा है। उनकी बाहें नंगी होगई हैं, जाँघें भी। सिर और मुख तो नङ्गे हुए ही हैं। अब छाती भी धीरे-धीरे नग्न होने जारही है। इन्हींके परिणाम-स्वरूप आजकल अपहरणकी घटनाएँ बढ़ती चली जा रही हैं। सुधारकोंका मोटर आगे बढ़ता चला जाता है, पीछेको नहीं देखता कि--मैं जनतापर कितनी मट्टी फैंकता चला जा रहा हूँ।

घरमें उन्हें इसलिए रखा जाता है, क्योंकि--वेदानुसार उन्हें घरका क्षेत्र दे दिया गया है, और पुरुषको बाहरका। 'अर्धं भार्या मनुष्यस्य' (महा. आदि. ७४।४१) इसलिए स्त्रीको वेदमें 'गृहपत्नी' कहा जाता है। —'गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथाऽसः' (अ० १४।१।२०) तू घरमें जा; और घरकी रक्षिका बन। स्त्रीको इसलिए 'घरका ताला' कहा जाता है। 'गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथाऽसः' (अ. १४।२।७५)। इसी प्रकार ऋ. सं. (१०।८५।२६) 'अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि' (ऋ १०।८५।२७) इत्यादिमें। इसलिए उसे घरकी रानी कहा जाता है—'एवा त्वं सम्राज्ञी एधि (भव) पत्युः अस्तं (गृहं) परेत्य (प्राप्य)' (अथर्व. १४।१।४३)। जब ऐसा है; तो उस स्त्रीका घरकी चहारदीवारीमें रहना सिद्ध होगया। पर सुधारक लोग स्त्रियोंको घरसे निकालकर उन्हें दूसरेकी नौकर बनाना चाहते हैं। यह स्पष्ट भी है। जब वे अध्यापिका बनकर बाहर जाएंगी, तब दूसरोंसे वृत्ति प्राप्त करती हुई वे नौकरकी तरह ही तो

हो जावेंगी। आप भी उस स्त्रीवित्तसे उपजीवन प्राप्त करके अपने आपको धन्य मानते हैं, पर 'स्त्रीवित्तेनाधमाधमाः' वाली बात नहीं सोचते। पालना चाहिये था आपको अपनी स्त्रीको; तभी तो वह 'भार्या' कही जाती-है और वेदानुसार पोष्या भी। ममेयमस्तु पोष्या' (अथर्व. (१४।१।५२); पर आप उसीसे पाले जाते हैं। पहले आपका उसमें अधिकार था, अब तो धनकी उपार्जक होनेसे उसीका ही आपपर अधिकार होगया। तब वह बाहर जाकर जैसा भी करे; आपको चुप ही रहना पड़ेगा? अथवा उस धनका स्वतन्त्रतासे उपयोग करती हुई कुमार्गमें भी पैर रख सकती है। आपसे रोकी जाती हुई तो वह कहेगी कि--आपका इस मेरे धनमें अधिकार नहीं है। यह तो मेरा इकट्ठा हुआ है, आपका नहीं। मैं जैसे चाहूं, चलूं। इस अवस्थामें भान्ति-भान्तिके कलह होंगे। और वे पढ़ाने आदिकेलिए घरसे बाहर गई हुईं स्तन पीनेवाले बच्चोंको भी ठीक पाल नहीं सकतीं, इसलिए धाय-द्वारा उन्हें पलवाती हैं। क्या धाई उसे ठीक-ठीक पाल सकेगी?

पढ़ानेकेलिए गई हुई का भोजन फिर क्या पतिको बनाना पड़ेगा?। अथवा यदि भृत्य बनावेगा; तो व्यर्थ ही दूसरा खर्च बढ़ा। 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' (कीचड़को हाथ लगाकर फिर उसे धोनेसे अच्छा तो यह था कि—कीचड़को हाथ ही न लगाया जाता। और नौकर स्त्रीवाली सेवा थोड़े ही कर सकेगा? वह घरकी चोरी भी कर सकता है?। वस्तुत: घरसे बाहर निकली हुई स्त्रियोंकी अन्य चिन्ताएं बढ़ जाया करती हैं, जिनसे उनका स्वास्थ्य समाप्त होजाता है। तब उसका प्रभाव गर्भ तथा गर्भस्थ बालकपर भी पड़ता है, प्रसवमें भी। इस प्रकार बहुत अन्य भी हानियाँ जानी जा सकती हैं।

(२६) कइयोंका यह आक्षेप भी होता है कि—प्राचीनताके इच्छुक लोग स्त्रियोंको घरके पर्देमें रखकर स्त्रोको जेलखानेका बन्दी बनाना चाहते हैं। इससे घरकी दूषित वायु पाकर स्त्रियोंका स्वास्थ्य बिगड़

जाता है'। इसपर हमारा वक्तव्य यह है कि—हिन्दुओंके घरमें इस प्रकारकी पवित्रता वा स्वच्छता रहती वा रह सकती है कि-वहांका जल वा वायु कभी विकृत वा दूषित नहीं हो सकते। हिन्दुओंके घरमें प्रतिदिन देवपूजाका शास्त्रीय नियम हुआ करता है। देवपूजनकी सामग्रीमें धूप, दीप, तुलसीदल, पुष्प, चन्दन, केसर, कपूर इत्यादि वस्तुए वायुको शुद्ध करनेवाली होती हैं। इसके अतिरिक्त देवप्रीत्यर्थ शुद्ध घृत तथा सुगन्धित सामग्रीसे यज्ञ-हवनादि भी करना पड़ता है, हवनादिसे वायुशुद्धि सुधारकादि भी मानते ही हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दुओंके घरमें तुलसी भी रहा करती है, जो घरको सुवासित करके कीटाणुओंको भगाती है। इससे वायु शुद्ध रहती है। और हिन्दु लोग गाय भी रखा करते हैं। गायके दुग्ध, घृत, छाछ दही माखनसे शारीरिकबल तथा तन्मूलक स्वास्थ्य बना रहता है। गोबर तथा गोमूत्रसे हजारों कीटाणु नष्ट होजाते हैं। गोबरसे घर लीपा जाता है, जिससे कीटाणु दूर होकर घरमें शुद्ध वायुमण्डल बना रहता है। और फिर देवपूजार्थ पुष्पोंकेलिए लोग अपने घरमें फूलोंकी बगीची भी बना लेते हैं। यदि तुलसी-गोबर-आदिका वायुमण्डलपर प्रभाव देखना हो; तो आलोक' (५) में देखा जा सकता है। इस प्रकार देवपूजनमें शंख भी बजाया जाता है, इससे भी कीटाणु दूर होते हैं--यह भी वहीं देखिये। हिन्दुधर्ममें देवपूजनादिके समय गङ्गाजलका उपयोग भी किया जाता है। गङ्गाजलकी कीटाणुनाशनशक्ति भी प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त-इन्हींसे मिला हुआ देवपूजाका चरणामृत 'अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्' बन जाता है, इस विषयमें भी 'आलोक' का पञ्चम पुष्प देखा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त हिन्दुशास्त्रानुसार वास्तुशास्त्रके अनुकूल घर ऐसा बनाना पड़ता है, उसमें प्रत्येक ऋतुके अनुसार वायु, धूप आदि आते रहें—'ता वां वास्तूनि उश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः' (ऋ. १।१५४।६) (ऐ दम्पतियो, तुम्हारे लिए उन मकानोंको चाहते हैं,

जिनमें सूर्यकी किरणें खुली आती हैं) और पहले यह भी कह चुके हैं कि--स्त्रीका सूर्यचन्द्रदर्शनादि-निषेध बाह्यजगत्के सम्बन्ध न रखने एवं पर्दाप्रथाके तात्पर्यको रखता है। इसके अतिरिक्त घरमें स्त्रीके अधिकारमें चक्की चलाना, धान्यसे ऊखल-मूसल द्वारा चावल निकालना, घरको लीपना-बुहारना, कपड़े धोना, चरखा चलाना, भोजन बनाना, पानी खैंचना, यह घरके काम भी करने पड़ते हैं--'गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया' (मनु. २।६७); तब अवरोध (घर) में रहनेवाली स्त्रियोंका कभी दूषित-वायुसे संसर्ग नहीं होता, और पूर्वोक्त क्रियाओं-द्वारा शारीरिक-व्यायाम होते रहनेसे कृशता नहीं रहती। तब यह आक्षेप कि-स्त्रीकी अवरोधप्रथा वा अवगुण्ठनप्रथा वा पर्दाप्रथासे स्त्रियोंका स्वास्थ्य बिगड़ता है--गलत है, बे-बुनियाद है। अस्तु। अब स्त्रियोंके पर्देके विषयमें कुछ अन्य प्रमाण भी देख लेने चाहियें।

(३०) अध्यात्मरामायणमें धनुषभङ्गके समयमें 'दुकूलपरिसंवीता' (१।६।३०) यह सीताका दुपट्टेसे पर्दा लिखा है। 'परितः--सर्वतः संवीता-आच्छादिता'। (ख) मालविकाग्निमित्र, मृच्छकटिक, नागानन्द आदि नाटकोंमें भी स्त्रियोंका पर्दा दिखाई देता है; क्या कालिदासादिके समय मुसलमान थे?। (ग) 'अभिज्ञानशाकुन्तलमें तो 'कास्विद् अवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या' (५।१३) यहां शकुन्तलाका अवगुण्ठन प्रसिद्ध ही है। यहां प्राचीन--टीकाकार राघवभट्टने व्याख्या की है--'सशिरो-मुखप्रावरणम् अवगुण्ठनं तद्वती' (घूंघट निकाले हुए)।

(घ) अब इसमें स्पष्ट गौतमीका वचन भी देखिये--'गौतमी। (शकुन्तलां प्रति) जाते! मुहूर्तं मा लज्जस्व, अपनेष्यामि तावत् ते अवगुण्ठनम्' (शकुन्तला; तू थोड़ी देरी तक शर्म न कर, मैं तेरा घूंघट हटाऊंगी, जिससे राजा दुष्यन्त तुम्हें पहिचान ले')। इससे प्राचीनकालमें स्त्रियोंका घूंघट सिद्ध होता है। कालिदास आदिके ग्रन्थोंमें 'शुद्धान्त, अवरोध' यह शब्द पर्दा-प्रथाके पोषक हैं।

(३१) मृच्छकटिक (शूद्रकराजासे बने नाटक) में जब वसन्तसेनाका चारुदत्तसे सम्बन्ध हुआ, तब वह पर्देसे आवृत रथपर बैठकर उसके पास गई थी।

(३२) महाकवि भासके 'स्वप्नवासवदत्त' में 'भवतु, पश्यामः तावद् रूपसादृश्यम्, संक्षिप्यतां जवनिका (अवगुण्ठनम्)' (राजाने कहा कि--मुंहकी जाली उतार दो--छठे अङ्कमें १६ श्लोकके बाद)। भास आदि मुसलमानी कालसे पूर्वके थे।

(३३) बौद्धराजा श्रीहर्षवर्धनके राज्यके समयमें भी कुलीन-स्त्रियोंमें पर्दा-प्रथा थी, यह बात श्रीबाणभट्टप्रणीत श्रीहर्षचरितके तृतीय उच्छ्वासके--'निःश्वासाकृष्टमधुकरजालकानि एव मुखावरणम्, कुलस्त्रीजनाचारो जालिका' (स्त्रियोंके सांससे खिंचे हुए भौंरोंका समूह ही उनका मुखके पर्देका काम देता है, फिर वे स्त्रियाँ जो मुंहपर जाली लगाती थीं, वह केवल कुलस्त्रियोंका पहनावा था) इस वाक्यसे भी स्त्रियोंकी पर्दा-प्रथा सिद्ध होरही है। (ख) कौटल्य-अर्थशास्त्रमें भी स्त्रियोंकी आवरणप्रथाका राज्याश्रित होना प्रसिद्ध है।

(३४) 'शिशुपालवध' (माघकविके) काव्यमें रैवतकपर्वतके वर्णनके समय 'त्रस्तः समस्त-जनहासकरः करेणोः, तावत् खरः प्रखरमुल्ललयाञ्चकार। यावच्चलासनविलोलनितम्बबिम्बविस्रस्तमवरोधवधूः पपात' (५।७) यहाँपर अवरोधवधू (पर्दानशीन स्त्री) का वर्णन है।

(ख) 'यानाद् जनः परिजनैरवतार्यमाणा राज्ञीर्नरापनयनाऽऽकुल सौविदल्लाः। स्रस्तावगुण्ठनपटाः क्षणलक्ष्यमाण--वक्त्रश्रियः सभयकौतुकमीक्षते स्म' (५।१७) यहांपर नौकरोंसे रानियोंके उतारनेके समय रानियोंके घूंघट गिर पड़ते थे; थोड़ी देरकेलिए लोग उन रानियोंका मुंह डर एवं कौतुकके मारे देख लेते थे। डर इसलिए कि-वे गुस्से हो जाएंगी-इन्होंने मुंह देखा क्यों? कौतुक उनकी सुन्दरतावश। यहांपर स्पष्ट ही रानियोंके घूंघटका वर्णन है। कादम्बरी (बाणभट्ट) के कथा-

मुखमें भी 'उपरि रक्तांशुकविरचितावगुण्ठनाम्' में--अवगुण्ठन (घूंघट) स्पष्ट है।

(३५) 'प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयन्' (गोभिलगृ. २।१।१६) यहांपर 'यज्ञोपवीतिनीम्' यह लुप्तोपमा है, 'यज्ञोपवीतिनीमिव'। यहांपर व्याख्याता श्रीचन्द्रकान्ततर्कालङ्कारने लिखा है—'प्रावृतां — प्रकर्षेण आवृताम्-आच्छादिताम्, 'न नाभिं दर्शयेत् कुलवधूः, आगुल्फाभ्यां वासः परिदध्यात्, न स्तनौ विवृतौ कुर्यात्' इति स्मृत्युक्तरीत्या परिहितोत्तरीयवसनाम्'। यहांपर सूत्रग्रन्थोंमें भी पर्दा स्पष्ट है। इसलिए कौशिकगृह्यसूत्रमें लिखा है--'यज्ञोपवीतवद् वाधूयं वस्त्र बध्नाति' (२।६८)

(३६) कई लोग कहते हैं कि--'पर्देमें ही पाप होते हैं; इसलिए स्त्रियोंको पर्दा त्याग देना चाहिये'। इसमें प्रष्टव्य है कि--स्त्रियां पर्दा छोड़ भी दें; फिर भी आप कैसे जान सकेंगे कि--यह व्यभिचारिणी नहीं है। मैथुन तो सदा गुप्तरूपसे ही होगा; चाहे वैध मैथुन हो, चाहे व्यभिचाररूप मैथुन हो। सबके सामने तो होगा नहीं। तब आक्षेप्ता स्त्रीसङ्ग भी क्या सबके सामने ही करेंगे? फिर पर्देमें वे स्त्रीसङ्ग क्यों करते हैं? उसे क्यों आवरणमें नहीं छोड़ते? सबके सामने शुरू क्यों नहीं करते, जिससे व्यभिचारशङ्का होवे ही नहीं। यदि आवरणमें मैथुनमें पापशङ्का नहीं; वैसे आवरणप्रथामें भी नहीं।

(ख) कई कहते हैं, जहां पर्दा नहीं है, जैसे अंग्रेज-रमणियोंमें; उनके आचार भी शुद्ध होते हैं। जिन मुसलमानियोंमें पर्दा देखा जाता है, उनमें व्यभिचार भी खूब होता है। अतः हिन्दुजातिमें भी पर्दा बढ़ाना व्यभिचारको निमन्त्रण देना है'। ऐसा कहनेवाले लोग दूसरी स्त्रियोंके रूप-माधुरीका पान करना चाहते हैं--ऐसा प्रतीत होता है। इसलिए इस प्रकारकी युक्तियोंका डरावा दिखलाकर पर्दा-प्रथाको मिटाना चाहते हैं। अंग्रेज-रमणियोंमें जितने व्यभिचार, और तन्मूलक विवाहोच्छेद (तलाक) एवं गुप्तधात्रीभवनोंकी व्यवस्थाएं हैं--यह कौन नहीं जानता। यहां मिस्टर-

रिनाल्ड्का 'लण्डनरहस्य' (मिस्ट्रीज आफ कोर्ट लण्डन) पढ़ना चाहिये। क्या उनका शुद्ध आचार आप शकलसे जानते हैं? आजकल तो मुख हृदयका दर्पण नहीं रहा। व्यभिचार तो एकान्तमें होता है; तब यह कहनेवालेको कैसे ज्ञान हो सकता है? बल्कि अंग्रेजी सभ्यतामें अंग्रेज-रमणी अपने कमरेमें अपने मित्रसे बातचीत कर रही हो; यदि उसमें उसका पति केवल झांक ही ले; तो यह असभ्यता ही समझी जाती है। वे अपने पतिको छोड़कर अन्यपुरुषके साथ नाचती हैं, दूसरे पुरुषोंके साथ सिनेमा-नाटक आदि देखने जाती हैं--परपुरुष उनको हाथ पकड़कर यान-आदिसे उतारता है, इसका परिणाम क्या स्पष्ट नहीं?

मुसलमानियोंमें जो अधिक व्यभिचार कहा जाता है, उसमें कारण पर्दा नहीं है, किन्तु उनमें धर्मराहित्य, विधवाविवाह, तलाक, यौवनमें विवाह, उनके पतियोंका दूसरी स्त्रियोंको व्यभिचारार्थ ले आना, अन्य स्त्रियोंसे बलात्कार आदि दुष्प्रथाओंका कारण है; इससे उन्हें व्यभिचारार्थ उत्तेजना प्राप्त होती है। और पति एक तथा स्त्रियां बहुत होनेसे उनका पति एककालमें एक स्त्रीको प्रसन्न करेगा। दूसरी स्त्रियां-उत्तेजित होकर उस समय उस पतिके नाकारा होनेसे दूसरी ओर झांकती हैं। और पर्दा यह भी नहीं होता कि--उसे पहरकर स्त्री जहां-तहां घूमा करे। पर्दा-प्रथामें तो घरमें ही नियमसे स्थिति करनी पड़ती है, स्वतन्त्रतासे इधर-उधर अटन नहीं करना पड़ता। पर्दामात्र करके इधर-उधर घूमना तो पर्दा-प्रथाका नाटकमात्र है, वास्तविकता नहीं।

(ग) और जो यह कहा जाता है कि--अंग्रेज-स्त्रियोंको आंख ऊपर उठाकर हमारे आदमी नहीं देख सकते-इसमें पर्दा न होनेका ही कारण है, यह ठीक नहीं, इसमें कारण उनमें राज्यशक्ति थी, अब भी कुछ उसीकी छाया है। अथवा इसमें आवरणत्याग भी कथंचित् कारण हो; जब कोई स्त्री बेशर्म बनकर पुरुषोंके सामने ठहरे, वा आवे, तब सभ्य पुरुष स्वयं उसके सामने निर्लज्ज न होकर स्वयं ही अपनी आंखें नीची

कर लिया करते हैं। जैसे कि--'तन्माता कोटरा नाम नग्ना मुक्तशिरोरुहा। पुरोवतस्थे कृष्णस्य पुत्रप्राणरिरक्षया' (श्रीमद्भा. १०।६३।२०) युद्ध करके थक चुके हुए अपने पुत्र बाणासुर-दैत्यकी रक्षार्थ उसकी माता कोटरा नंगी होकर श्रीकृष्णके सामने आ खड़ी हुई; तब श्रीकृष्णने उस ओर पीठ कर ली—'ततस्तिर्यङ्मुखो नग्नामनिरीक्षन् गदाग्रजः' (२१) तब क्या इससे नग्न होकर चलना वा निर्लज्जा भी ग्राह्य हो जायगी ?। या इससे उस स्त्रीकी बहादुरी हो जावेगी ? पहले मेमें भी मुंहपर जाली (**Veil**) रखती थीं, पर अब यह आचार उनसे हट गया है।

(घ) कई कहते हैं कि—पर्दा-प्रथा असभ्यताका चिन्ह है, पर ऐसा नहीं है। असभ्यतामें तो नंगे रहनेकी प्रथा मिलती है, सभ्यता बढ़नेपर ही पर्दा शुरू होता है। यदि स्त्रीजातिके पर्दा छुड़वानेसे ही सुधारकोंको उनकी उन्नति दीखती है, तब तो सारा आवरण हटा देने से और उन्हें नंगा चलनेकी प्रथा बनवा देनेसे शायद उनकी उन्नति हो जाएगी।

(ङ) कई लोग महाभारतसे कही हुई उस कथाको उद्धृत करते हैं कि—जब स्त्रियां गौओंकी भांति नंगी रहा करती थीं (१।१२२।४); और उससे पर्दा-प्रथाका खण्डन करना चाहते हैं; पर यह ठीक नहीं। यह वर्णन सृष्टिकी आदिम अज्ञानावस्थाका है। वहां तो यह भी लिखा है कि—स्त्री-पुरुष नंगे रहा करते थे, तब क्या शङ्काकर्ता स्त्री-पुरुषोंका नंगा रहना स्वीकृत कर लेंगे ? उस समय तो विवाहप्रथा भी नहीं थी (१।१२२।५) क्या अब भी वह व्यवस्था ठीक रहेगी ? ऐसा नहीं; तब अज्ञानको स्वीकृत करनेसे क्या लाभ ? न ही आजकल वैसा देश-काल है।

(च) यदि कहा जावे कि—स्त्रियोंका मुंह पर घूंघट करवाना उनपर अत्याचार है, केवल स्त्रियोंको प्रेरणा की जानी चाहिये कि—वे अपनी आंखें कभी ऊंची न किया करें, नीची ही रखा करें।' यहांपर वक्तव्य यह है कि—यदि घूंघट करवाना उनपर अत्याचार है; तब क्या

उनकी आंखें उनसे नीचे रखवाना उन पर अत्याचार नहीं। आप तो नीचे आंखें की हुई उनकी आंखें फाड़कर देखें; पर वे तो आपको देखना चाहती हुई भी आंखें नीचे रखें ! या आपकी चोरी छिपानेकेलिए ही अपनी आंखें ऊँची न रखें ? वास्तवमें उनका मुखका घूंघट उनपर अत्याचार नहीं; परन्तु परिणाममें हितावायक होनेसे उनकेलिए पथ्य है। यह घूंघट सर्दी-गर्मीमें उनपर छातेका काम देता है। उनकी आंखोंमें मट्टीसे बचाव रहता है, सुन्दरतामें त्रुटि नहीं आ पाती। उनकी देखने की चाह रहती है। यह पर्दा उनका वड़ोंकी इज्जत सूचित करता है।

(३५) कई लोग 'सुमङ्गलीरियं वधूः इमां समेत पश्यत। सौभाग्यमस्यै दत्वा यथाऽस्तं विपरेतन' (अ. १४।२।२८) इस मन्त्रसे पुरुषों द्वारा वधूदर्शनका समर्थन करके स्त्रियोंका पर्दा अवैदिक बताते हैं—यह ठीक नहीं। इस मन्त्रका ऋग्वेदसं. (१०।८५।३३) में देवता सूर्या है, सर्वसाधारण स्त्री नहीं। वह देवता थी। देवता और मनुष्योंके व्यवहार समान नहीं हुआ करते। वे भोगयोनि हैं, कर्मयोनि नहीं। उनके जो व्यवहार पुराणोंमें आते हैं; वादी फिर उनसे उनकी निन्दा क्यों करते हैं ? अथवा विवाहमें विनियोग होनेसे इस मन्त्रको मानुषी-स्त्रियोंकेलिए भी मान लिया जाए; तब इसपर यह जानना चाहिये कि—इस मन्त्रकी 'पश्यत' इस बहुवचनान्त क्रियाके कर्ता वा सम्बोध्य देवता हैं, मनुष्य नहीं। क्योंकि—'सौभाग्यमस्यै दत्वा' इससे देवताओं-द्वारा वधूको सौभाग्यप्रदान बताया गया है, परपुरुष भला वधूको सौभाग्य कैसे दे सकते हैं। पति-व्यतिरिक्त पुरुषोंसे सौभाग्य लेती हुई वधू तो व्यभिचारिणी मानी जा सकेगी। यहां 'सौभाग्यका आशीर्वाद' भी नहीं कहा, किन्तु सौभाग्यका दान ही कहा है। देवता यदि सौभाग्यके कर्ता माने जावें, तो उसमें कोई असङ्गति नहीं पड़ती। देवताओंसे तो स्त्रीका सौभाग्य मांगा ही जाता है। जैसा कि—'इमां त्वमिन्द्र ! मीढ्वः ! पुत्रां सुभगां कृणु' (ऋ. १०।८५।४५) यहां इन्द्र-देवतासे स्त्रीका

सौभाग्य मांगा जाता है।

आक्षिप्त मन्त्रके साथवाले 'पुनस्तान् यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगता:' (ऋ. १०।८५।३१) इस पूर्वके मन्त्रमें यज्ञिय-देवताओंसे ही रोग हटाने के लिए प्रेरणा की जा रही हैं, उनकी अनुवृत्ति आ रही है। पति भी स्त्रीको सौभाग्य-दानका अधिकारी होता है, और देवता भी। पर-पुरुष नहीं। 'देवं मर्तास ऊतये' (ऋ. ८।११।६) यहांपर मनुष्यों-द्वारा रक्षाके लिए देवताओंको बुलाना कहा है। इस कारण 'सुमङ्गलीरियं वधू:' यह मन्त्र परपुरुषोंकेलिए नहीं है।

अथवा उक्त मन्त्रमें न देवता इष्ट हैं, और न पुरुष-मनुष्य इष्ट है; किन्तु स्त्रियां ही इष्ट हैं। तब कोई दोष नहीं आता। कौशिकसूत्र (७७।१०) में पतिगृहमें जाती हुई वधूको मार्गमें देखने आती हुई स्त्रियोंको इस मन्त्रसे सम्बोधित किया गया है। विवाहादि-संस्कारोंके मन्त्रोंका विनियोग गृह्यसूत्रोंके ही अनुसार हुआ करता है। तब यहां परपुरुष-द्वारा वधूके दर्शनमें उक्त मन्त्रको उपस्थित करने वाले भूलमें हैं। इसलिए अथर्ववेदसं. के उक्त (१४।२।२८) मन्त्रके भाष्यमें आर्यसमाजी-विद्वान् पं० राजाराम शास्त्रीने भी लिखा है—'पतिगृहको जाती वधूको मार्गमें देखने आई स्त्रियां इसमें सम्बोधित हैं (कौ. ७७।१०)। इसलिए द्राह्यायणगृह्यसूत्रकी रुद्रस्कन्दकी वृत्तिमें भी उक्त मन्त्रकेलिए ऐसा ही कहा है—'वधूं द्रष्टुमागता: सुमङ्गली: स्त्रियो वीक्षन् 'सुमङ्गली:' इति जपेत्' (१।३।२७)। इसी प्रकार खादिरगृह्यसूत्रके 'ईक्षकावेक्षया' (१।३।२७) इस सूत्रकी वृत्तिमें भी लिखा है—'वधूं द्रष्टुमागता: सुमङ्गलीस्त्रियो वीक्षमाण: 'सुमङ्गली' रिति जपेत्'।

अथवा पुरुष भी उस वधूके दर्शनकर्ता हों; फिर भी वहां पर्दे वाली स्त्रीका ही दर्शन इष्ट है, वधूका पर्दा हम पूर्व वेदमन्त्रों द्वारा दिखला चुके हैं; पर्देसे रहित वधूका दर्शन नहीं। 'अधिवस्त्रा वधूरिव' (ऋ. ८।२६।१३) इत्यादि मन्त्र-संवाद द्वारा वधू वस्त्राच्छन्न हुआ करती है।

आवरण न होनेपर मानस-व्यभिचार बढ़ते हैं,- क्योंकि—स्त्रीके गिरानेमें पुरुष-द्वारा मिली हुई स्त्रीकी आंख ही कारण होती है, जिसे 'चार-आंखें' कहा जाता है। इसलिए अथर्ववेदसं. में भी कहा है - 'चक्षुर्मुसलं, -काम उलूखलम्' (११।३।३) (आंख मूसल होती है, और काम ऊखल होता है। आंख-द्वारा ही धूर्त-पुरुष उन स्त्रियोंके साथ परिचय करनेमें शीघ्र सफल हो जाते हैं। भविष्यपुराणमें भी कहा है—'श्रूयते चाप्ययं श्लोक: पुराणप्रथित: क्षितौ। ब्रह्मचर्येपि वर्तन्त्य: साध्व्या ह्यपि च श्रूयते। हृद्यं हि पुरुषं दृष्ट्वा योनि: संक्लिद्यते स्त्रिया:' (ब्राह्मपर्व. ७३। २७-२८)। इसलिए आजकलके समान आवरण-शैथिल्यके समयमें गुण्डों-द्वारा स्त्रियोंके अपहरणकी घटनाएँ घटा करती हैं; क्योंकि—धूर्त लोग स्त्रियोंका अभिप्राय उनकी आंखोंसे भांप लेते हैं। पर्दा तथा अवरोध-प्रथा होनेपर तो वे चार-आंखें न हो सकनेसे ऐसे काण्ड नहीं हो सकते।

(ख) कई कहा करते है—'मुसलमानी-भयके ही कारण मुसलमानों-के राज्यमें उन्हींके अनुकरणमें हिन्दुओंमें पर्दा-प्रथा शुरू हुई'। यह ठीक नहीं। हम पहले वेद तथा पुराण-इतिहास महाभारतादिके वचन दे चुके हैं; वे भला मुसलमानी जमानेके कैसे हो सकते हैं? और प्रष्टव्य यह भी है कि—फिर मुसलमानोंमें ही यह प्रथा क्यों हुई? उनको किसका भय था कि—अपने राज्योंमें भी वे अपनी स्त्रियोंका पर्दा रखते थे। वास्तवमें उन्होंने हिन्दुओंसे ही यह प्रथा सीखी है, जैसे कि हम पहले वेद तथा रामायण-महाभारतादिके प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध कर चुके हैं; वेदादि मुसलमानोंसे पीछेके नहीं। और फिर मुसलमानादि कोई आकाशसे थोड़े ही टपक पड़े; यह भी हिन्दुओंसे ही तो निकले हैं। यह पर्दा-प्रथा भी उन्होंने उन्हींसे सीखी।

वस्तुत: पर्दा-प्रथा स्त्रियोंकी रक्षक ही है। इसी आवरणके ही कारण शास्त्रकारोंने स्त्रियोंकी स्वतन्त्रता भी निषिद्ध कर दी है। जैसे कि—

'नास्ति स्त्रीणां स्वतन्त्रता' (बृहत्पराशर ४।५७) 'स्वातन्त्र्येण विनश्यन्ति कुलजा अपि योषितः। अस्वातन्त्र्यमतस्तासां प्रजापतिरकल्पयत्' बृहत्परा. ४।५८) 'न ह्यासां प्रमदं दद्याद्, न स्वातन्त्र्यं न विश्वसेत्।···न्याय्यं भर्त्सनमाचरेत्' (भविष्यपु. ब्राह्मपर्व ८।१७) 'स्वातन्त्र्यं न क्षणमपि, ह्यवासोऽन्यगृहे तथा' (शुक्रनीति ३।१६) 'स्त्रीणां नैव तु देयः स्याद् गृहकृत्यैर्विना क्षणः' (३।२०)। न स्त्री-स्वातन्त्र्यं विद्यते' (बोधायनधर्म. २।२।५०) 'अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्' (मनु. ९।२) 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' (मनु. ९।३) 'न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम्' (मनु. ५।१४८)। प्रथम स.प्र.में स्वा.द.जीने लिखा था—'बाल्यावस्था न्यूनसे न्यून षोडशवर्षपर्यन्त होती है, तब तक पिताके वशमें कन्या रहे; और षोडशवर्षसे लेके २४ वर्षपर्यन्त जिस वर्षमें विवाह होय; तब अपने पतिके वशमें रहे। जब पति न रहे; तब पुत्रोंके वशमें स्त्री रहे। स्त्री स्वतन्त्र न होवे; क्योंकि—स्त्रीका स्वभाव चंचल होता है। इससे कुमार्गमें चलेगी, और धनादिकोंका नाश भी करेगी। इससे स्त्रीको स्वतन्त्र न रखना चाहिये' (४र्थ समु. पृ. १०५)। यही बात मनुजीने अन्यत्र भी कही है—'बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता। न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित् कार्यं गृहेष्वपि' (मनु, ५।१४७)।

'तस्मात् प्रजाविशुद्धयर्थं स्त्रियं रक्षेत् प्रयत्नतः' (मनु. ९।९) (प्रजाकी विशुद्धयर्थ स्त्रीकी प्रयत्नसे रक्षा करे) प्रजाकी विशुद्धिका यह भाव है कि—पर्दा-प्रथा न होनेसे परपुरुषकी दृष्टि पड़नेसे मानसिक व्यभिचार हो जानेसे उसका प्रभाव प्रजापर भी पड़ता हैं। 'एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽऽसां प्रजापतिनिसर्गजम्। परमं यत्नमातिष्ठेत् पुरुषो रक्षणं प्रति' (मनु. ९।१६) 'स्वां प्रसूतिं (सन्तानं) चरित्रं च कुलमात्मानमेव च। स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति' (मनु. ९।७) स्त्रीकी रक्षा होगी; तो सन्तान, चरित्र, कुल, स्वयं आप तथा अपने धर्मकी रक्षा होगी। स्त्रीकेलिए इतना तीव्र प्रयत्न इस कारण है कि—सारा कुल स्त्रीपर अवलम्बित है।

खरबूजा चाकूपर गिरे, वा चाकू खरबूजेपर गिरे, इससे हानि खरबूजेकी ही है। पत्थर घड़ेपर पड़े वा घड़ा पत्थरपर गिरे, तब भी हानि घड़ेकी ही है। इस प्रकार स्त्री पर-पुरुष पर लट्टू हो जाय; वा परपुरुष ही स्त्रीपर लट्टू हो जावे; इससे हानि स्त्रीकी ही है; और स्त्रीकी हानिसे कुल वा कुलधर्म तथा कुलोत्पन्न बच्चों वा उसके पतिकी हानि है।

इसी कारण मनुजीको कहना पड़ा—'सूक्ष्मेभ्योपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः। द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः' (मनु. ९।५) यह अस्वातन्त्र्यकी आज्ञा, 'जायां रक्षन्, स्त्रियो रक्ष्याः' आदि शब्द स्त्रियोंकी आवरणप्रथा पुष्ट कर रहे हैं। 'न स्वातन्त्र्यं स्त्रियाः क्वचित्' (याज्ञवल्क्य. आचाराध्याय, विवाहप्र. ८५) 'भार्यायां रक्ष्यमाणायां प्रजा भवति रक्षिता' (महाभा. विराटपर्व २१।४०) इन श्लोकोंका भी पहलेवाला ही आशय है। 'नास्ति स्वतन्त्रता स्त्रीणाम् अस्वतन्त्रा हि योषितः। प्रजापति-(मनु.) मतं ह्येतद् न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' (अनुशासनपर्व २०।१४) 'नास्ति त्रिलोके काचित् स्त्री या वै स्वातन्त्र्यमर्हति' (२०।२०) स्त्रियोंकी अस्वतन्त्रताके ही कारण उनकी अवरोधप्रथा भी स्वतः—सिद्ध है। इस प्रकारके वचन स्मृतियोंके निजकल्पित नहीं है, बल्कि वेदमूलक ही हैं। वेद स्पष्ट कहता है—

'स्त्रिया अशास्यं मनः, उतो अह क्रतुं रघुम्' (ऋसं. ८।३३।१७) यहां सायणाचार्य लिखते हैं—'स्त्रिया मनः—चित्तम् अशास्यं-पुरुषेण अशिष्यम्—शासितुमशक्यम्, प्रबलत्वादिति। उतो-अपि स्त्रियाः क्रतुं-प्रज्ञां [निरुक्त २।२८।१, निघण्टु ३।९] रघुं—लघुम् अह-आह। यहां स्त्रियोंके चित्तकी अस्थिरता और बुद्धिकी क्षुद्रता कही गई है। 'मा एतद् [स्त्रैणम्] आद्दथाः, न वै स्त्रैणं सख्यमस्ति' (यजुर्वेद-शतपथब्रा. ११।५।१।९) यहां स्त्रियोंके सख्यपर निश्चिन्त होजानेकी मनाही की गई है। इसीका मन्त्रभागमें मूल इस प्रकार कहा है—'न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता' (ऋसं. १०।९५।१५)। इन्हीं

वचनोंका अनुवाद श्रीमद्भागवतमें आया है—'क्वापि सख्यं न वै स्त्रीणां वृकाणां हृदयं यथा' (६।१४।३६) यही श्रीमद्भागवत (६।१४।३८), मनुस्मृति (६।१४-१५) मनु. (२।२१४) महाभारत (१।७४।७४) वाल्मीकि. (३।१३।६) में भी है। इसलिए ऋसं. (१।१७९।४) में स्त्रीका विशेषण 'अधीरा' आया है। यद्यपि वह लोपामुद्राका विशेषण है, पर वादी वेदमें इतिहास नहीं मानते, अतः उनके अनुसार यह स्त्री-सामान्यका विशेषण होगा। तब वेदमूलक होनेसे इन पद्योंको 'भारतीय-समाजशास्त्र' (पृ. १६६-१६७) में वाणीमात्रसे वेदविरुद्ध बताता हुआ उसका लेखक खण्डित होगया। इसलिए मनुजीने 'तथाच श्रुतयो बह्व्यो निगीता निगमेष्वपि' (६।१९) यहाँपर अपने पद्योंको निगम (वेद) मत बताया है। 'शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमाः' (अ. ११।१।१७,२७) इत्यादि उस लेखकसे दिये हुए मन्त्र तो स्त्रीविषयक नहीं हैं, किन्तु जलविषयक हैं—वह हम स्त्रीविवाहवयमें लिखेंगे।

कहाँ स्त्रियोंकी पूर्वोक्त परतन्त्रता वेद तथा मनु-व्यास आदि कहते हैं, और कहां सुधारक लोग आजकल उनको स्वतन्त्र करना चाहते हैं। स्वतन्त्रता देनेसे ही तो श्यामकुमारी नेहरूने १५,१२,३७ को जमीलखां नामक मुसलमानसे निकाह करा लिया; और घोषणा कर दी कि-'हमारा अपने धर्ममें विश्वास नहीं है'। इसी परतन्त्रताको दूर करनेकेलिए आज-कलकी सुधारक नवशिक्षित-लड़कियाँ भी आवरण छोड़ रही हैं, क्योंकि—आवरण उनकी स्वतन्त्रता हरता था। स्वतन्त्रता होनेसे ही हररोज अपहरण आदिकी घटनाएं घट रही हैं। अबला होनेसे स्त्री अपने-आपको बचा नहीं सकती; दूसरेकी बातोंमें शीघ्र ही बहक जाती है, इसलिए भी ऐसी घटनाएँ घट जाती हैं। इसके अतिरिक्त जब लोग आवरण-प्रथा हटाकर अपनी स्त्रियोंका सौन्दर्य स्वयं ही दूसरोंको दिखलाते हैं; तब उन्हीं के सामने वा परोक्षमें गुण्डे लोग उनके सौन्दर्य दिखलानेको सफल बनाने केलिए उन्हें हर लेते हैं; तब आवरण हटवाने वाले हो-हल्ला क्यों मचाते

हैं ? स्वयं ही तो वे अपनी जातिके पांवमें तेज-धारवाला कुल्हाड़ा मार रहे होते हैं।

जो वस्तु जिसे अत्यन्त प्यारी होती है; वह उसे छिपाकर सुरक्षासे रखता है, स्थान-स्थानपर दिखलाता नहीं फिरता कि—कदाचित् दूसरों-का चित्त उसमें चलायमान न होजावे। परन्तु अपनी प्रिय-स्त्रियोंकेलिए उल्टा किया जाता है; उनको तरह-तरहकी वेषभूषासे सजाकर उनका रूप इधर-उधर दिखलाया जाता है। क्या फिर दूसरोंकी उसमें दुर्भावना उदित न होगी ?

लोकमें भी स्त्रीलिङ्गवाली वस्तुओंका आवरण उनकी सुरक्षाकेलिए रखा जाता है, उसका लाभ भी प्रत्यक्ष दीखता है। टाईम देनेवाली घड़ीको ही देख लीजिये; उसमें पीछेसे भी आवरणस्वरूप ढक्कन लगा होता है। आगे भी कांचका आवरण होता है। कई घड़ियोंमें तो ऊपर भी बन्द ढक्कनका आवरण होता है। वह यदि नहीं होता; तो घड़ीपर केसका आवरण लगा दिया जाता है; फिर भी उस घड़ीको जेबके आवरणमें रखा जाता है। आवरणवाली घड़ियां बहुत स्वच्छ रहती हैं; उनमें मैल नहीं घुसती, बहुत समय तक चलती हैं। इस प्रकार टाइम्पीस घड़ीका भी टीन वा काठ आदिका आवरण होता है।

'मकई' स्त्रीलिङ्ग होती है; उसमें भी प्रकृतिसे दिया हुआ बालोंका फिर उसपर पत्तेका आवरण होता है। यदि उस पर्देको हटा दिया जाता है; तो लोग उसपर लट्टू होकर उसे भून डालते हैं; और उसको अपने पेटमें डाल लेते हैं। 'आंख' लोकमें स्त्रीलिङ्ग मानी जाती है, उसपर भी प्रकृतिका परदा होता है। फिर पलकोंका। वैज्ञानिकोंके अनुसार फिर और चश्मेका पर्दा रखा जाता है, जिससे दृष्टि स्थिर रहती है। गर्मीमें उसपर काले चश्मेका आवरण रखा जाता है। इससे आँख मट्टी, धूप आदिसे सुरक्षित रहती है। इस प्रकार 'पोथी, किताब' भी लोकानुसार स्त्रीलिङ्ग हैं, उनपर भी पर्दा तथा जिल्द आदिका आवरण लगाया जाता है।

इसी अवरोधप्रथाके तोड़नेके फलस्वरूप विधवाएं भी जहां-तहां जा सकती हैं; अतः उनमें भी व्यभिचार बढ़ रहा है। यदि उन्हें अवरोधमें रखा जाता; तो पिता, भ्राता आदिके अतिरिक्त अन्य किसी पुरुषका दर्शन न होनेसे व्यभिचार होता ही कैसे ?; और फिर 'देवृकामा' आदिके शुद्ध अर्थ छोड़कर आर्यसमाजी-आदियों द्वारा गन्दे अर्थ किये जाते हैं; विधवाविवाह वा नियोगकेलिए उन्हें उत्तेजित किया जाता है; तब व्यभिचार और भी बढ़ता है।

अपनी समझमें पर्देकी प्राचीन जंजीर हटवानेसे जब सुधारकोंने विधवाओंमें व्यभिचारकी वृद्धि देखी; तब उन्होंने विधवाविवाहको वैध बनाकर प्राचीनतारूप शृङ्खलाको फिर ढीला किया। उसके परिणाममें नये-नयेका आस्वाद लेनेकेलिए जब उन्होंने पतिहत्या देखी; तब उसके बचावकेलिए 'विवाहविच्छेद' जारी करके प्राचीनतारूप जंजीरपर अन्य प्रहार किया, और उसे ढीला किया। उससे दाम्पत्य नष्ट हुआ। फिर यही सुधारक लोग विवाह-व्यवस्थाको भी दूर करा देंगे; जिससे बचा-खुचा प्रेमभाव भी नष्ट होजावेगा। स्वार्थपरता बढ़ जावेगी, कामवासना-की वृद्धि होजावेगी। फिर वे ही पारस्परिक हत्याकाण्ड और वे ही अव्यवस्थाएं पैदा होंगी। परन्तु सुधारकोंको ऐसा सोचनेमें अवकाश कहां ?। हमारे भोले सनातनधर्मी भी प्रसिद्धि-प्राप्तिकी लालसासे इनके चक्करमें फंसकर इस प्रकारकी नवीन घोषणाएँ कर दिया करते हैं; इससे उन्हें यह हानि उठानी पड़ेंगी कि—फिर सभी प्राचीन-शृङ्खलाओंको ही तोड़ना पड़ जावेगा। क्योंकि-स. ध. के सिद्धान्त एक-दूसरेपर आधृत हैं। उनमें एक सिद्धान्तके शिथिल करनेपर अन्य भी सिद्धान्त ढीले करने पड़ जाएंगे। ऐसे ही कई कारण थे, जिसकेलिए कहना पड़ता था कि—'क्या बात है--हस्ती मिटती नहीं हमारी'।

जोकि कहा जाता है कि-पर्दा-प्रथा राजपरिवारमें ही होती है, अन्यत्र नहीं-यह भी कथन व्यर्थ है। यह विधि कहीं नहीं मिलती कि—पर्दा राजपरिवारमें ही हो, अन्यत्र नहीं हो। इस कारण यह कथन भी ठीक नहीं।

इस प्रकार विस्तीर्ण-विचारसे सिद्ध हुआ कि—स्त्रियोंकी पर्दा-प्रथा वैदिककालसे ही है, मुसलमानीकालसे नहीं। यदि वादितोषन्यायसे यह पर्दा मुसलमानी-भयसे उनके राज्यमें शुरू हुआ—यह माना भी जाय; फिर भी उसे नहीं हटाना चाहिये, क्योंकि—आजकल उससे भी भयानक-काल है। आज भी मुसलमानोंकी वैसी ही चेष्टाएं चालू दीखती हैं। दिनोंदिन स्त्रियोंकी अपहरणकी घटनाएँ हो रही हैं। और कोढ़में खाज यह है कि—आजकल स्त्रियोंके रक्षक ही उनके भक्षक बन रहे हैं। उनसे अपना आवरण न करनेपर वैसे व्यक्तियोंसे धीरे-धीरे बातचीत शुरू होनेपर, क्रमशः एक—दूसरेसे संकोच दूर होनेपर, पहले मुस्कराहट, फिर हंसीके ठहाके शुरू होनेपर, तब हस्तस्पर्श तथा कुचस्पर्शादि शुरू हो जानेपर अन्तमें बुरे परिणाम घटित होते हैं; क्योंकि—'नन्वग्निः प्रमदा नाम घृतकुम्भसमः पुमान्। सुतामपि रहो जह्याद् अन्यथा यावदर्थकृत्' (श्रीमद्भा. ७।१२।९) यह कथन गलत नहीं है। आवरण रहनेपर दूरी होजानेसे ऐसी हानियाँ हट सकती हैं।

आजकल बड़े शहरोंमें जैसी विषम परिस्थिति दीख रही हैं; उसमें दो कारण हैं। एक कारण है-आवरणप्रथाका त्याग, और दूसरा कारण है—सनातनधर्मविरुद्ध स्त्रीशिक्षा, तथा कुमारियोंका विद्यालयोंमें पढ़ना। जबतक इनका निवारण तथा सनातनधर्मका अनुसरण न होगा; तबतक इस प्रकारकी विषम-समस्याएँ हल न होंगी।

जोकि आवरणप्रथाके खण्डनार्थ दाक्षिणात्योंमें पर्दा न होना कहा जाता है, यह भी ठीक नहीं। वहांपर यदि वेद-स्मृति आदिसे विरुद्धता हुई है; तो वह माननीय नहीं हो सकती। उधर अंग्रेजोंका प्रभाव अधिक पड़ा था, इसलिए अंग्रेजी-भाषाका प्रचार भी वहां अधिक होगया था। इसलिए उनकी बेपर्दगी उनमें भी आगई। इसी कारण उसी प्रदेशमें ईसाई भी अधिक होगये। वहींपर मामेकी लड़कीसे विवाह भी वैध माना

जाता है, मांस भी वहां जोरसे जारी है। वे लोग वेदोंको भी अर्वाचीन मानते हैं, द्रविडजातिको वे अत्यन्त प्राचीन मानते हैं, बाल्यविवाह भी वहां जोरोंसे प्रचलित है; तब क्या वादी उनकी यह बातें मानते हैं ? यदि नहीं; तब उनका उदाहरण देना व्यर्थ है। अकबर--कविने ठीक ही कहा है—'आई नजर बेपर्द कल जो चन्द बीवियां। अकबर तो वहीं गैरते कौमीसे गड़ गया ॥ पूछा जो उनसे क्या हुआ वह पर्दा आपका। बोलीं उलटके अक्लपर मर्दोंकी पड़ गया।'

तब जो पर्दा-प्रथाकी अवैदिकता वा अर्वाचीनता बताया करते हैं, वे अपने भ्रमको हटा लें। कहीं इस प्रथाके अपवाद भी मिलें; और आवरणप्रथासे रहित भी कई स्त्रियां पवित्र रहें—यह सम्भव हो सकता है; परन्तु उतने-मात्रसे औत्सर्गिक-धर्मकी अशास्त्रीयता बता देना ठीक नहीं है। जो लोग प्राचीन सभी प्रथाओंके हटानेकेलिए वेदानभिज्ञ जनताके सामने अवैदिकताका बहाना रखा करते हैं; वे अब कोई और बहाना ढूंढें। वास्तवमें हमारे पूर्वजोंने स्त्रियोंको अवरोधप्रथा देकर यह सिद्ध कर दिया है कि--स्त्री घरकी रानी है, और पुरुष बाहरका राजा। पुरुष बाहरसे धन अर्जित करनेमें नियुक्त किया गया है। वह जो अर्जित कर लाता है, वह घरमें स्त्रीके अधिकारमें ला रखता है। घरमें स्त्रीका राज्य होनेसे उसीने उसका उपयोग करना है; और पतिको प्रसन्न रखना है। यदि पत्नी भी घरके राज्यको छोड़कर बाहरी राज्यको प्राप्त करना चाहे; अथवा बाहरी नौकरीको प्राप्त करना चाहे; तब उसके फलस्वरूपमें नौकर ही घरके स्वामी होजाएंगे, जैसे कि आजकल पर्दा-प्रथाके त्यागमें दीख रहा है; तब 'स्त्री भ्रमन्ती विनश्यति' (चाणक्य ६।४) जो हानि उपस्थित होती है; वह अनुभवियोंसे छिपी हुई नहीं। तब सन्तानोंका पालन-पोषण तथा शिक्षणक्रम भी नौकरोंके हाथमें पड़कर सन्तानोंकी जो भावी हानि करेगा–क्योंकि-जैसी अपनी सन्तानके साथ माताकी सहानुभूति होती है, वैसी नौकरोंमें कभी नहीं हो सकती; न वह कभी माता

वाला हृदय ला सकता है।

जिस प्रकार सुधारक लोग इस प्रथाका अपमान करते हैं; वह समय भविष्यमें आनेवाला है, जब वह इन सुधारकोंके गालपर थप्पड़ लगावेगा। नये जोशमें आकर यह लोग कुछ भी होश नहीं रखते; समय आनेपर फिर यही अपना तथा दूसरोंका नुकसान करके तब स्त्रियोंकी पर्दाप्रथाको लाभदायक समझेंगे, और उसको अनुसरण करने-करवानेमें बाध्य होंगे।

जोकि आवरणप्रथाके कारण वे लोग स्त्रियोंकी अस्वास्थ्यप्राप्ति मानते हैं; यह भी ठीक नहीं। राजपूताना आदि प्रदेशोंमें जहां आवरणप्रथा है; वहां स्त्रियोंका अस्वास्थ्य कहीं नहीं दीखता। स्त्रियोंके अस्वास्थ्यका कारण या तो निकम्मी होकर रहना है; अथवा अधिक-विलासकी कामना करना है, पर्दा-प्रथा उसमें कारण नहीं। पहले पर्दा करनेवाली भी स्त्रियां चक्की-चर्खा चलाती हुई स्वस्थ ही रहा करती थीं; अब मशीनीयुगने उन्हें निकम्मा बनाकर अस्वस्थ कर दिया है।

भविष्यपुराण-ब्राह्मपर्वमें कहा है—'देवरैः पतिमित्रैश्च परिहासक्रियोचितैः। विविक्तदेशावस्थानं वर्जयेद् अतिनर्म च' (१०।१४) (स्त्री देवर तथा पतिके मित्रों और हंसी करनेवालोंके साथ अकेलेमें न रहे; न हंसी आदिमें योगदान दे)। 'प्रायशो हि कुल--स्त्रीणां शीलविध्वंसहेतवः। दुष्टयोगो रहो नित्यं स्वातन्त्र्यम् अतिनर्मता'। (१५) (एकान्तमें बदचलन पुरुषोंसे योग, स्वतन्त्रता, बहुत हास-उपहास करना यह स्त्रीके शीलको बिगाड़नेवाले होते हैं)। 'दुष्टसंगे त्वरा स्त्रीणां युवभिर्नर्म नोचितम्। निर्मदता स्वतन्त्राणां साफल्यं रहसि व्रजेत्' (१६) (दुष्टोंकी सङ्गति स्त्री न करे, युवा पुरुषोंसे हंसी-मखौल न करे; स्वतन्त्र न बने) इत्यादि दोष हटानेकेलिए उनकी अस्वतन्त्रता तथा पर्दा-प्रथा नियमित की गई है--यह नहीं भूलना चाहिये।

संद्धान्तिक-चर्चा

(२४) द्विज एवं शूद्रका भेद वैदिक है*
(शुद्ध धार्मिक-दृष्टिकोण)

'भारती' तथा 'भारतोदय' पत्रोंमें श्रीशाण्डिल्यजीका 'किं द्विज-शूद्र-भेदो वैदिकः' एक संस्कृत लेख छपा था; उसमें उनका यह आशय था कि—"द्विज और शूद्रोंका भेद समस्त-स्मृतियोंमें, सभी सूत्रग्रन्थोंमें, कहीं ब्राह्मणग्रन्थोंमें भी दीखता है, परन्तु मूल वेदोंका परिशीलन करनेपर द्विज एवं शूद्रका भेद किसी भी मन्त्रमें नहीं दीखता" इसपर हम कहते हैं कि —वेदमें तो द्विज और शूद्रका भेद पूर्वोक्त-साहित्यसे भी स्पष्ट दीखता है। हम श्रीशाण्डिल्यजीका उल्लेख 'लेखक-महोदय' नामसे करेंगे।

(१) पहले तो उनने वेदकी सीमाको ही संकुचित कर दिया है। ११३१ शाखारूप मन्त्रभाग तथा उतना ही ब्राह्मणभाग—जिसमें आरण्यक तथा उपनिषदें भी अन्तर्भूत होजाते हैं—यह वेदका स्वरूप है। यह सारा साहित्य मिलकर 'वेद' कहा जाता है, इस विषयमें 'आलोक'के ४, ६, ७, ८, ९ तथा १० म पुष्प देखने चाहियें।

मूल-वेद तो कहीं भी नहीं दीखते। वृक्षके मूलको कोई भी, कभी भी नहीं देख सकता। यदि कोई देख ले; तो वृक्ष ही सूख जावे। वृक्षकी शाखाएँ ही दीख रही होती हैं। जिन ४ संहिताओंको लेखक-महाभाग 'मूलवेद' बताते हैं, वे भी चार वेदोंकी क्रमसे शाकल्य, माध्यन्दिन, कौथुम एवं शौनक शाखाएं ही हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, तथा-अथर्ववेद कहीं भी नहीं मिलते। जहां मिलती हैं; ऋग्वेदसंहिता, यजुर्वेदसंहिता, साम-वेदसंहिता एवं अथर्ववेदसंहिताएँ ही मिलती हैं। ऋग्वेदादि कहीं भी छपे नहीं मिलते।

जबकि लेखकमहोदय ब्राह्मणग्रन्थोंमें द्विजों एवं शूद्रोंका भेद मानते हैं; तब उसमें स्वतः ही वैदिकता सिद्ध होगई। क्योंकि—'मन्त्रब्राह्मण-योर्वेदनामधेयम्' इस वचनसे 'ब्राह्मण' भी वेद ही होते हैं। इस विषयमें 'आलोक' (९, १० पुष्प) देखो। सूत्रग्रन्थ भी 'कल्प' नामक वेदाङ्ग है, व्याकरण भी। स्मृतियाँ वेदोंका उपाङ्ग और न्यायभाष्यके अनुसार लोक-व्यवहार-व्यवस्थापक हैं।

(२) स्मृतियोंमें मनुस्मृति सृष्टिके आदिकालकी है; यह लेखक-महोदयके श्रद्धेय, आर्यसमाजके सञ्चालक स्वा. द. जी भी स. प्र. के ११ वें समुल्लासके आरम्भमें लिख गये हैं। वादिप्रतिवादिमान्य निरुक्त-कार श्रीयास्काचार्य भी 'विसर्गादौ (सृष्टिकी आदिमें) मनुः स्वायम्भु-वोऽब्रवीत्' (नि. ३।४।२) वड़े स्पष्टरूपसे कह गये हैं। तब मनुस्मृतिमें प्रोक्त द्विज-शूद्रभेद सृष्टिके आदिकालका सिद्ध हुआ।

'यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः' (२।७) (मनुने जो किसीका कोई धर्म कहा है; वह सब वेदमें कहा है; क्योंकि-मनुजी वेदका पूरा ज्ञान रखनेवाले हैं।) यह मनुस्मृतिके प्रवक्ता श्रीभृगुका भी श्रीमनुकेलिए घंटाघोष है। तब मनुस्मृतिमें कहा हुआ द्विज-शूद्रोंका भेद 'वेदका अर्थ' सिद्ध हुआ। 'मनोः अपत्यं मनुष्यः' (निरु. ३।७।२) मनुके सन्तानका नाम ही मनुष्य वा मानव है। तब मानवोंके पिता मनु अपनी सन्तानोंसे यथार्थ ही व्यवहार करेंगे, पक्षपात नहीं करेंगे।

(३) द्विजत्व उपनयनसंस्कारसे होता है—इस विषयमें किसी भी विद्वान्के दो मत नहीं हो सकते। संस्कार पारस्करादिके गृह्यसूत्रानुसार हुआ करते हैं —यह लेखकमहोदय भी अपने समयमें व्यवहृत करते थे।

---

*यह श्रीशाण्डिल्यजीके अन्तिम लेखपर लिखा गया है। हम मतभेद होनेके कारण उनका खण्डन करते थे; तथापि वे हमसे निष्कपट स्नेह करते थे। उनका १०.४.६९ दिनाङ्कमें हमसे आत्यन्तिक-विरह हो गया। वे बहुत उदार और परोपकारवृत्तिके थे।

वह गृह्यसूत्रादि वेदका कल्प-नामक हस्तस्थानीय अङ्ग कहा जाता है; तब क्या अङ्ग हाथ भी अङ्गीसे विरोध कर सकता है ? उसका विरोध करके लेखकमहोदय वेदका हाथ काटना चाहते हैं; तब सूत्रग्रन्थोंमें कहा गया द्विज एवं शूद्रोंका भेद वैदिक प्रतिफलित हुआ।

मन्त्रभागका व्याख्याता ब्राह्मणभाग है। वेदके विनियोजक सूत्रग्रन्थ हैं। वेदधर्मके प्रतिपादक मनु आदि धर्मशास्त्री हैं; तब क्या यह सब वेदानभिज्ञ थे, वा हैं ? केवल एक लेखकमहोदय ही वेदज्ञ हैं--यह बात मनमें नहीं बैठती।

(४) 'स्तुता मया वरदा वेदमाता···पावमानी द्विजानाम्' (अथर्व. १९।७१।१) यहां वेद भी अपनेमें द्विजका अधिकार बता रहा है; तब लेखकमहोदय अपने मान्य वेदसे भी विरुद्ध क्यों बनते हैं ? यदि वेद सच ही वादीके अनुसार मानवमात्रके हितैषी हैं; तब वेदने 'वेदमाता··· जनानाम्' न कहकर--जिसमें कोई छन्दोभङ्ग भी नहीं; 'वेदमाता.. द्विजानाम्' क्यों कहा ? इससे स्पष्ट है कि--लेखक निजकल्पित-सिद्धान्तको ही वैदिक मानते हैं; वेदादिशास्त्रोंसे प्रोक्त—सिद्धान्तको वैदिक नहीं मानते।

लेखकमहोदय शिक्षितमात्र व्यक्तिको द्विज मानते हैं; और वेदोंको द्विजोंका पवित्रकर्ता मानते हैं; तब वेद भी लेखकके सिद्धान्तसे विरुद्ध द्विजोंके हितकारक सिद्ध हुए; लेखकानुसार मानवमात्रके हितकारी सिद्ध न हुए। जो शिक्षित नहीं है, वह मानव होता हुआ भी द्विज नहीं है, वह लेखकके आशयसे शूद्र है। तब लेखकके मतमें वेद शूद्रहिताधायक न होनेसे उससे द्विज और शूद्रका भेद स्वतः वैदिक सिद्ध होगया।

(५) जोकि लेखक उक्त मन्त्रमें 'द्विज' का 'व्यापक--अर्थ' लेते हैं कि-'जिसके दो जन्म हों, एक मातासे दूसरा विद्यासे' इनपर प्रष्टव्य है कि-यह अर्थ लेखकने कहाँसे लिया ? वेदमें भी यह अर्थ कहां कहा गया है ? 'जो गुरुसे विद्या प्राप्त कर चुका है, वह द्विज है' इस अपने कथनमें

जोकि लेखक गुरुद्वारा शिक्षितको 'द्विज' कहते हैं; तो वह गुरुद्वारा शिक्षित कब होगा ? क्या २५ वर्षके बाद ? यदि ऐसा है; तो वह लेखकके मतमें २५ वर्षसे पूर्व 'द्विज' नहीं होगा। तब द्विज न होनेसे लेखकके मतानुसार वेद भी नहीं पढ़ सकेगा, और अपने जीवनको भी न बना सकेगा; तब तदनुसार वेदमाता उसे पवित्र कैसे कर सकेगी ?।

(६) वेदादि-शास्त्रोंके वचनानुसार उपनयन-संस्कारके दिन ब्राह्मणादि तीन वर्णोंका द्विजत्व होता है। उपनयन ही शिष्यका दूसरा जन्म होता है; तब वह बालक उपनयनके दिनसे ही द्विज तथा वेदका अधिकारी होजाता है। मनुजीने भी कहा है—'मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने' (२।१६९) उपनयन आदिम तीन वर्णोंका ही अनुशिष्ट किया गया है; इसलिए वे ही द्विज तथा वेदाधिकारी होते हैं। पर शूद्रवर्ण तथा अवर्ण-चाण्डालादि द्विजत्वकेलिए अनुशिष्ट न होनेसे उपनयन न होनेके कारण न तो द्विज हैं; और न ही वेदके अधिकारी हैं--इसलिए द्विज और शूद्रोंका वही प्राचीन एवं स्वाभाविक भेद सिद्ध होगया। 'घट्टकुट्यां प्रभातायितम्' यह न्याय चरितार्थ होगया। फलतः उपनयन ही आचार्यकुलमें प्रवेशका तथा द्विजत्वका द्वारसूत्र है; और वह आदिम तीन-वर्णोंका होता है, दूसरोंका नहीं होता।

इसीलिए आजकलके महा-सुधारक और आजकलके लोगोंसे पूर्ण वेदज्ञ माने जाते हुए, तथा लेखकसे भी श्रद्धेय स्वा. द. जीने भी स. प्र. में लिखा है—'९ वें वर्षके आरम्भमें द्विज अपने सन्तानोंका उपनयन करके आचार्यकुल···में भेज दें; और शूद्रादि-वर्ण उपनयन किये बिना विद्याभ्यासकेलिए गुरुकुलमें भेज दें। (२ समु. पृ. १५) तब उपनयनके एवं द्विजत्वके अधिकारी ब्राह्मणादि-त्रैवर्णिक ही सिद्ध हुए, शूद्रादि नहीं। इससे शूद्र द्विजत्वसे रहित, एकज और आचार्यकुलमें प्रवेशके अनधिकारी सिद्ध होनेसे द्विज और शूद्रमें भेद सिद्ध होगया।

(७) जोकि लेखकमहोदयने 'शिक्षित' होनेसे 'द्विज होना' कहा है;

वह श्रुति तथा स्मृति दोनोंसे विरुद्ध है। द्विजत्व तो आचार्यद्वारा उपनयनके दिनसे ही होजाना वेदानुकूल है। अथर्ववेदमें कहा है—'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः' (११।५।३) इस मन्त्रसे सूचित होता है कि--आचार्यकुलमें उपनयन तीन दिन तक जारी रहता है। उसकी समाप्तिमें माणवकका दूसरा जन्म होता है, जिसे देखनेकेलिए देवगण भी आते हैं। आचार्य-अपने माता-पितासे उत्पन्न उन एकज ब्राह्मण-क्षत्रिय--वैश्योंको तीन दिन अपने गर्भ (कुल) में रखकर तीसरे दिन उनको यज्ञोपवीत देकर उनका द्वितीय-जन्म कर देता है। सो 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' इस न्यायसे वे द्विज सुदृढ होजाते हैं। स्वा. द. जीने भी अपनी सं. वि. में उपनयनमें ३ दिनका व्रत कहा है। तब यहां शिक्षासे नहीं, क्योंकि--शिक्षा तो अभी उनकी शुरू हो रही होती है, किन्तु उनका उपनयन-ग्रहणके दिनसे ही द्विजत्व वेदको इष्ट हुआ। स्मृतियोंमें तो यह स्पष्ट है ही।

वह उपनयन वेदाध्ययनकी प्राप्तिकेलिए होता है। लेखक-महोदय यदि सभी धर्मशास्त्रोंकी उपेक्षा करके केवल वेदोक्त ही आचरण करनेको कहते हैं; तब वेदने तो 'ब्रह्मणे (वेदकेलिए) ब्राह्मणं···तपसे (कृच्छ्र-कर्मकेलिए) शूद्रम्‌ (यजुः ३०।५) वेदाध्ययनका अधिकार ब्राह्मणको दिया है। शूद्रको तो 'सेवाधर्मः परमगहनः' यह सेवारूप कृच्छ्रकर्मका अधिकार दिया है। वेदाध्ययनका अधिकार शूद्रको नहीं दिया। इस प्रकार श्रीलेखकका सिद्धान्त वेदविरुद्ध सिद्ध हुआ। सेवाधर्मके समान कड़े कार्यमें लगे हुए शूद्रपर वेदज्ञानका भार धारण करना उसपर अत्याचार करना है। वह शूद्र क्या वेदके अङ्ग व्याकरणादि पढ़ सकेगा ?।

(८) 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्‌···पद्भ्यां शूद्रो अजायत' (यजुः ३१।११) यहांपर वादीके अनुसार वेदने ब्राह्मणको मुख कहा है; और शूद्रको पांव कहा है। यदि लेखकमहोदय सब शास्त्रोंको छोड़कर केवल

वेदपर ही आस्था रखते हैं; तब उनके अनुसार मुख-ब्राह्मण तो वेद पढ़ सकेगा, पांव-शूद्र तो नहीं। तब वेदानुसार द्विज एवं शूद्रका भेद स्वतः सिद्ध हुआ। वेदमें शूद्र आदियोंका अनधिकार भी सिद्ध हुआ।

(९) 'उत शूद्रे उत आर्ये' (अथर्व. १९।६२।१) 'यो नो दास (शूद्रः) आर्यो वा' ऋ. (१०।३८।३) इत्यादि बहुतसे मन्त्रोंमें शूद्रको आर्यसे भिन्न स्वीकृत किया गया है। इससे त्रैवर्णिक आर्य, और शूद्र अनार्य सिद्ध हुआ। पूर्व मन्त्रमें 'अर्ये' यह पदच्छेद तो पदपाठ आदिसे, पदानुक्रमणीसे, और सब विद्वानोंसे तथा वेदसे विरुद्ध है, इस विषयमें 'आलोक' (९) पृ. ४४३-४५८) देखिये।

वेदमें आर्यसे भिन्न शूद्र आदि दास वा दस्यु माने गये हैं। 'यो दासं वर्णमधरं गुहाऽकः' (ऋ. २।१२।४) यहां दास-वर्ण (शूद्र) को अधर (निकृष्ट) तथा गुहागत (निम्न) सूचित किया गया है। 'प्रजापतिर्हि वर्णानां दासं शूद्रमकल्पयत्‌' (महा. शान्तिपर्व ६०।२८) यहां शूद्रको सब वर्णोंका दास बताया गया है। 'हत्वी दस्यून्‌ प्र आर्यं वर्णमावत्‌' (ऋ. ३।३४।९) यहांपर दस्यु (आर्योंसे भिन्न) को निम्न करके आर्यवर्ण-ब्राह्मणादिको रक्षणीय कहा गया है।

'तिस्रः प्रजा आर्याः' (ऋ. ७।३३।७) यहां ब्राह्मणादि तीन प्रजाओंको 'आर्य' सङ्केतित किया गया है। जैसे कि छान्दोग्योपनिषद्‌में 'रमणीयां योनिमापद्येरन्‌, ब्राह्मणयोनिं वा, क्षत्रिययोनिं वा, वैश्ययोनिं वा (५।१०।७) यहां ब्राह्मण आदि तीन योनियोंको रमणीय (आर्य) स्वीकृत किया है; और शूद्र-चाण्डाल आदिको कपूया (अनार्य) योनि स्वीकृत किया है। इस प्रकार वेदमें द्विज आर्य और शूद्र अनार्य स्वीकृत किये गये हैं। तब शूद्र एवं द्विजों (त्रैवर्णिकों) का भेद स्पष्ट वैदिक सिद्ध हुआ।

'न यो ररे आर्यं नाम दस्यवे' (ऋ. १०।४९।३) यहांपर दस्यु (दास) को वेद-द्वारा 'आर्य' नाम न देना ही सूचित किया है। इस प्रकार ऐसी स्पष्टतासे वेदमें द्विज और शूद्रका भेद बताया गया है। तब

लेखक-महाशयका द्विज-शूद्रोंके भेदको वेद-विरुद्ध कहना उनकी आहो-पुरुषिकतामात्र है। समय देखकर वेदको अपने पीछे चलाना उचित नहीं; वेदके पीछे स्वयं चलना उचित है। जब वादी भी वेदके आचारको त्रिकालाबाधित मानते हैं; तब समयानुसार उसका अर्थ बदलना क्या ठीक है ?

शिल्पमें भी यद्यपि बुद्धि अपेक्षित है; तथापि जो शूद्रको 'मूर्ख' कहा जाता है; इसमें वेदज्ञानकी अपेक्षासे ही उसकी मन्दबुद्धिता कही जाती है; और जो उसे निकृष्ट कहा जाता है, वह अन्य वर्णोंकी अपेक्षासे ही। इसलिए 'मूर्ख' शब्द शूद्रके लिए इस अर्थमें 'पारिभाषिक' है। जैसे 'बालानां सुखबोधाय' में 'बाल' शब्द 'बच्चे' के अर्थवाला होता हुआ भी वैसे अर्थको न बताकर 'उस विषयका अज्ञाता' ही--चाहे वह बड़ी आयुका भी हो 'बाल' कहा जाता है; वैसे शूद्र 'बुद्धिमान्' होता हुआ भी वेदादिके ज्ञानमें अनधिकृत होनेसे 'मूर्ख' ही कहा जाता है।

सब अपनी-अपनी स्थितिमें उत्तम हुआ करते हैं। मूत्रेन्द्रिय हमारी कितनी उपकारक है। हमारे वंशको बढ़ाती है, पुत्र उत्पन्न करके हमें पुत्नामक नरकसे बचाती हैं। पति-पत्नीको आनन्द देती है। इस संसारमें यही पाप-पुण्यका द्वार है। वह हमसे खाये हुएके साररूप शुक्रको अपने अण्डकोषमें धारण करती है; उसकी हानिसे हमारी हानि होती है। मूत्र-विसर्जन करके वही इन्द्रिय हमारा कितना उपकार करती है। ऐसा होनेपर भी वह मूत्रेन्द्रिय मुख-आदिसे निकृष्ट कही जाती है, और अस्पृश्य भी मानी जाती है। इससे हमारा उससे 'घृणा वा द्वेष' सिद्ध नहीं हो जाता।

पांव हमारे सेवक हैं, कार्यकर्ता भी हैं; फिर भी परमात्माने उन्हें निम्न पद दिया है, सिर वाला उच्च पद नहीं दिया। पांवको छूकर हम हाथ धोते हैं; इस प्रकार उनकी अस्पृश्यता भी है। वे पाँव मुखकी आज्ञानुसार ही और उससे दिखलाये हुए मार्गसे हो चलते हैं। पाँवकी

अपनी आँखें नहीं होतीं। अतः उनमें ज्ञान भी नहीं होता। इस प्रकार मुख तथा पाँवका भेद सिद्ध हो गया। उनका परस्पर-भेद अवैदिक नहीं; जन्मजात है, स्वाभाविक है, उनके कर्म भी समान आदिष्ट नहीं। इस प्रकार शूद्र-अन्त्यज हमारे उपकारी होनेपर भी उनकी द्विजोंसे निकृष्टता तथा अस्पृश्यता शास्त्रोक्त है, निन्दित नहीं।

(१०) 'रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु, रुचं राजसु नस्कृधि। रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्' (यजुः १८।४८) इस वादीसे दिये मन्त्रमें चार वर्णोंकी समान 'रुक्' इष्ट नहीं; किन्तु भिन्न-भिन्न। जैसे कि—

'कोकिलानां स्वरो रूपं नारी-रूपं पतिव्रतम्। विद्या रूपं कुरूपाणां क्षमा रूपं तपस्विनाम्' (चाणक्य. ३।९) यहाँ एक भी 'रूप' भिन्न-भिन्न के लिए भिन्न-भिन्न अर्थका वाचक है। 'बलं विद्या च विप्राणां राज्ञां सैन्यं बलं तथा। बलं वित्तं च वैश्यानां शूद्राणां परिचर्यिका' (चाणक्य. २।६) यहां एक भी 'बल' शब्द भिन्न-भिन्नकेलिए भिन्न-भिन्न अर्थका वाचक है। जैसे 'ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम्। वैश्यस्य तु तपो वार्ता, तपः शूद्रस्य सेवनम्' (मनु. ११।२३५) यहाँ एक भी 'तपस्या' भिन्न-भिन्न वर्णोंकेलिए भिन्न-भिन्न अर्थ रखती है; वैसे ही उक्त मन्त्रमें भी 'रुक्' शब्द चारों वर्णोंकेलिए भिन्न-भिन्न अर्थ रखता है। एतदर्थ 'आलोक' (९) पृ. ४४३-४५९ में देखना चाहिये।

(११) श्रीलेखकसे उपक्षिप्त 'पाकिस्तान' का निर्माण 'द्विज-शूद्र' के भेदसे नहीं हुआ; नहीं तो वहां पर स्थित शूद्र और अन्त्यज पाकिस्तानमें ही रह जाते, परन्तु वे भी हमारे समान उस पाकिस्तानको छोड़कर हिन्दुस्थानमें आ गये। पाकिस्तान' का निर्माण तो ब्रिटिश शासकोंकी राजनीतिके कारण हुआ। एतदर्थ लेखक-महाशय हमें डरा नहीं सकते। दास और दस्यु पर्यायवाचक हैं। वेदमें उनका शूद्र-अन्त्यजादिकेलिए प्रयोग है, मुसलमान-ईसाई आदिके लिए नहीं; क्योंकि—यह अर्वाचीन

जातियां वैदिककालमें नहीं थीं।

(१२) 'यथेमां वाचं' (यजुः २६।२) इस मन्त्रमें चार वर्णों वा अन्त्यजोंकेलिए कही हुई वाक् 'वेदवाक्' इष्ट नहीं; क्योंकि—वहां 'वेद' शब्द सध्रीचीन (साथ) नहीं, परन्तु 'वेदमाता द्विजानाम्' (अथर्व. १९।७१।१) मन्त्रमें 'वेद' शब्द भी है; और वहां चार वर्णोंका नाम न आकर केवल 'द्विजों'का नाम कहा है; तब वेदमें भी वेदके ही अनुसार द्विजोंका ही अधिकार सिद्ध हुआ; शूद्रोंका नहीं—तब शूद्रों और द्विजोंका भेद वैदिक सिद्ध हुआ। इस विषयमें विशेषता 'आलोक' (३) में देखनी चाहिये।

लेखक-महाशयके अनुसार वेदके प्राप्तकर्ता अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा—यह सभी द्विज थे; न तो इनमें कोई स्त्री थी, और न ही शूद्र वा अन्त्यज। तब यहांपर भी द्विज और शूद्रका भेद वैदिक सिद्ध हुआ।

(१३) 'उद्यानं ते पुरुष! नाऽवयानम्' (अ. ८।१।६) इस मन्त्रके विषयमें 'आलोक' (६) पृ. १८८-८९) देखिये। द्विजोंको वेद यज्ञोपवीती होनेसे दिये जाते हैं; पर शूद्र एकज होनेसे उन्हें यज्ञोपवीती न होनेसे वेद नहीं दिये जाते। पुराण तो दोनोंकेलिए होते हैं; उनमें यज्ञोपवीती होनेका बन्धन नहीं है। पुराण भी वेदोंके समकालीन ही हैं; पाँच हजार वर्षके नहीं हैं। इसलिए वेदमें भी 'ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे' (अथर्व. ११।९ (७)।२४) पुराणोंका वर्णन है। मन्त्रमें 'पुराणं' यह जातिमें एकवचन है। इसलिए पुराणमें भी कहा है—'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्। अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः' (शिवपु. वायु. पू. १।३१-३२, मत्स्य. ५३।३, ३।३-४)। सो पुराण भी सृष्टिकी आदिके हैं। प्रत्येक द्वापरमें तो पुराणोंका भिन्न-भिन्न व्यासद्वारा सम्पादन हुआ करता है, निर्माण नहीं। तब उनकी पांच सहस्र वर्षोंसे इधरकी रचना कहना लेखकका निर्मूल ही है। इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. ३७७-३८५ में देखें।

(१४) 'वेदाध्ययनाधिकारः स्त्री-शूद्रविषयकोऽपि अस्ति, मानवमस्तिष्कस्य ज्ञानमात्रेऽधिकारित्वात्, वर्तमानकालिकगृहीतवेदज्ञानप्रभूतस्त्री-शूद्रवत्। तथा च सर्वाः स्त्रियः शूद्राश्च मानवमस्तिष्कयुताः। तस्मात् स्त्री-शूद्रयोरपि वेदाध्ययनाधिकारः सिद्धः' यह एक अनुमान श्रीलेखकने निजकपोलकल्पित दिया है कि—वेदाध्ययनका अधिकार स्त्री-शूद्रको भी है। क्योंकि—मानवका मस्तिष्क ज्ञानमात्रमें अधिकारी है। जैसे कि—आजकलके बहुतसे स्त्री-शूद्र वेदज्ञान प्राप्त कर चुके हैं। इस कारण सब भी शूद्र एवं स्त्रियां मानव-मस्तिष्कसे मिले हुए हैं। तब स्त्री-शूद्र आदिको वेदाध्ययनका अधिकार सिद्ध हुआ"।

यह लेखक-महोदयका तर्क न्याय नहीं; किन्तु न्यायाभास ही है, 'यत पुनरनुमानं प्रत्यक्षागमविरुद्धं न्यायाभासः सः' (१।१।१) इस प्रकार श्रीवात्स्यायनमुनिके कथनानुसार आगम-विरुद्ध है, आगमविरोध हम पहले बता चुके हैं। यहाँपर लेखक-महोदय स्त्री-शूद्रकी लौकिक-सामर्थ्य लेते हैं कि—स्त्री-शूद्र वेदका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं; अतः उनका उसमें अधिकार है; पर यह ठीक नहीं। स्वा. शंकराचार्यने ठीक ही लिखा है—'सामर्थ्यमपि न लौकिकं केवलमधिकारकारणं भवति, शास्त्रीयेऽर्थे शास्त्रीयस्य सामर्थ्यस्य अपेक्षितत्वात्। शास्त्रीयस्य च सामर्थ्यस्य अध्ययननिराकरणेन निराकृतत्वात्' (वेदान्तदर्शन १।३।३४) (केवल लौकिक सामर्थ्य कि—वह यह काम कर सकता है—अधिकारका कारण नहीं बन जाती। शास्त्रीय-अधिकारमें शास्त्रीय-सामर्थ्य ही अपेक्षित होती है। शास्त्रने स्त्री-शूद्रादिका अध्ययन निषिद्ध करके उनकी लौकिक सामर्थ्य निषिद्ध ही कर दी है।

श्रीशङ्कराचार्यस्वामीने अन्यत्र भी लिखा है—'यो हि यं प्रति विधीयते, स तस्य धर्मः, न तु यो येनानुष्ठातुं शक्यते चोदनालक्षणत्वाद् धर्मस्य'। (वेदान्त. ३।४।४०) (जिसका जिसकेलिए विधान किया जाता है, वही उसका धर्म होता है। जो जिसे कर सकता है, वा स्वेच्छानुसार

कर लेता है; वह उसका धर्म नहीं हो जाता)।

फिर तो कोई यह अनुमान भी बोल सकेगा कि—'मानवमात्रस्य मानवीमात्रेण (कामं सा भगिनी वा स्यात्, कामं वा पितृव्यमातुलादेर्वा दुहिता स्यात्) परस्परं विवाहाधिकारोऽप्यस्ति; सर्वेषां सर्वासु गर्भाधाने योग्यतादर्शनात्, वर्तमाने तादृशसम्पर्केऽपि सन्तत्युत्पत्तिदर्शनात्। यत्र-यत्र गर्भाधान-जननोभयविधयोग्यतावत्त्वम्, तत्र-तत्र विवाहाधिकारवत्त्वम्। तथाच भगिनी-भ्रातरोपि मिथो विवाहाधिकारिणः, तस्मात् तथा' (भाई-बहनोंको भी परस्पर-विवाहाधिकार है; क्योंकि—दोनोंके संयोगमें भी गर्भ होनेमें कोई प्रकृतिका प्रतिबन्ध नहीं है) यदि लेखक महाशय इस अनुमानको आगमविरुद्ध होनेसे अनुकरणयोग्य नहीं मानते, तब उनका अपना अनुमान भी आगमविरुद्धतावश अनादरणीय ही है। इस विषयमें स्पष्टता 'आलोक' (६) में देखनी चाहिये।

(१५) 'वेद तो सूर्य-चन्द्रादिकी भांति सभीकेलिए हैं'। यह लेखक-महोदयका कथन भी विषम-उपन्यास है। सूर्य-चन्द्र आदि भी उल्लूकेलिए वा कालकोठरीमें पकड़े हुए बन्दीकेलिए नहीं हुआ करता। जल भी किसी को कहीं मधुर मिलता है, कहीं खारा। कहीं तो मिलता ही नहीं है। इस विषयमें 'आलोक' का छठा पुष्प (पृ. ७६४-७६६) देखिये।

केवल द्विजपुत्र होनेसे मुख्य द्विजत्व नहीं होता, किन्तु उपनयनधारण से ही द्विजत्व होता है; तभी 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' यह न्याय चरितार्थ होता है। द्विजपुत्रसे द्विजत्व तो गौण ही होता है। उपनयनधारणसे पूर्व द्विजपुत्र भी एकज-शूद्रके समान कहा जाता है (मनु. २।१७२) इससे शूद्र नित्य एकज सिद्ध हुआ।

(१६) 'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते' यह लेखक-महोदय-सम्मत वचन तो किसी भी धर्मशास्त्रके मूलमें न मिलनेसे निर्मूल ही सिद्ध हुआ। हां, 'जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद् द्विज उच्यते' यह वचन तो अत्रिस्मृति (१।१८) तथा पद्मपुराण सृष्टिखण्ड (४३।१३४) में तथा

अन्यत्र भी ब्राह्मणकेलिए मिलता है। तब उसे कल्पित कहना लेखक-महाशयकी आहोपुरुषिकतामात्र है।

'जन्मना जायते शूद्रः' इस वादीके दिये वचनमें 'शूद्रः' का अर्थ 'शूद्रवत्' है। 'अन्तरेणापि वतिमतिदेशो गम्यते। एष ब्रह्मदत्तः। अब्रह्म-दत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह—तेन मन्यामहे ब्रह्मदत्तवद् अयं भवति इति' (१।१।२३) यह महाभाष्यमें कहा है (विना भी वत्-प्रत्ययके वत्का अर्थ लग जाता है। अब्रह्मदत्तको ब्रह्मदत्त कहा जावे; तो उसका अर्थ होता है कि—यह ब्रह्मदत्तवत् (उसकी तरह) है। उक्त वचनमें मनुजीकी भी साक्षी है 'शूद्रेण हि समस्तावद् यावद् वेदे (उपनयने) न जायते' (२।१७२) इसी प्रकार महाभारत (अनुशासनपर्व १८०।८५) तथा वसिष्ठस्मृति (२।१२) एवं शङ्खस्मृति (१।८) में भी; तब लेखककी इष्टसिद्धि नहीं, द्विज और शूद्रका भेद सिद्ध हो गया। इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ. ८४२-८४६ देखना चाहिये।

(१७) 'यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तम्' इस मन्त्रमें पूर्वमन्त्रसे 'विप्रः' की अनुवृत्ति आती हैं, 'विप्र' शब्द 'ब्राह्मण-वाचक है, यह मनुस्मृति-आदि में स्पष्ट है। तब उसमें शूद्रादिका वेदविद्यामें अधिकार सिद्ध नहीं होता—इस विषयमें 'आलोक' (३) पृ, १७२-१८६) देखिये।

(१८) द्विजपुरुषोंको ही वेदमें अधिकार औत्सर्गिक है; इसमें 'दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः' (अथर्व. ११।५।६) यह ब्रह्मचर्यदीक्षामें 'दीर्घश्मश्रुः' लिङ्ग है। स्त्री दाढी-मूछों वाली ही नहीं होती, तो 'दीर्घश्मश्रुः' क्या होगी? तब जातिपक्षका बाधन हो जाता है। इस विषयमें 'आलोक' (३) पृ. १०८-१५७) देखो।

(१६) 'ब्रह्मचर्येण कन्या' (अ. ११।५।१८) इस मन्त्रमें 'ब्रह्मचर्य'-का अर्थ 'उपस्थसंयम' ही है; इस मन्त्रके उत्तरार्धमें 'अनड्वान् ब्रह्मचर्येण' इसमें पशुओंका ग्रहण इसमें ज्ञापक है। यहांपर घासके पचानेमें तथा युवा-पति प्राप्त करनेमें क्षमता 'उपस्थ-संयम' से बताई गई है, वेदाध्ययन-

का उसमें कुछ भी उपकार नहीं; उपस्थसंयमसे रहित घोड़े-बैल घास नहीं पचा सकते; इसी तरह वैसी कन्याएं भी युवा पतिके योग्य सिद्ध नहीं होतीं - इस विषयमें 'आलोक' (३) पृ. ५४-६४ देखिये ।

(२०) स्त्रीको कहीं भी 'शूद्रा' नहीं कहा गया है, 'शूद्र-समा' तो कहा गया है, उसका विवाह-संस्कार हो जाने पर वह द्विज-सी हो जाती है । जैसे कि मनुजीने कहा है—'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः' (२।६७); तब उससे उत्पन्न सन्तान वर्णसङ्कर नहीं होती, इस विषयमें 'आलोक' (३) पृ. १८८-१९०) में देखिये ।

(२१) 'यस्मिन् ऋचः' (यजुः ३४-५) इस मन्त्रमें मानवमात्रके मनमें वेदोंकी स्थिति नहीं कही गई, किन्तु उसके वक्ता याज्ञवल्क्य-ऋषिके मनमें वेदकी स्थिति कहीं है; और फिर वेदके अधिकारी उपनीती होनेसे अनुपनीती शूद्र यहां अन्तर्भूत नहीं हो सकता । तब लेखक-महोदयकी मानवमात्रकी रट व्यर्थ हो गई । 'वेदमाता द्विजानाम्' है, 'वेदमाता जनानाम्' नहीं । इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ. १९०-१९१) देखिये ।

(२२) अतिप्राचीनकालमें प्रादुर्भूत हुए वेदको केवल लेखकमहाशयने देखा, न उसे सूक्ष्मेक्षिकासे देखा सृष्टिके आदिमें उत्पन्न मनु आदि धर्म-शास्त्रकारोंने, न ही देखा पारस्करादि सूत्रकारोंने; यह बात भला कैसे श्रद्धेय हो सकती है ? लेखक-महाशयने वेदको सुधारक दृष्टिसे देखा है; वेदभाषाकी दृष्टिसे अथवा सर्वाङ्गीण-दृष्टिकोणसे उसे नहीं देखा, यह हम यत्र-तत्र दिखला ही चुके है । लेखकमहाशय मानव-जातिपर दया करें । यदि उनके मतानुसार शूद्र आदि भी विमान आदिके निर्माणको छोड़कर वेदमें आ पड़े; तो यहांपर चीन-पाकिस्तानका शीघ्र अधिकार हो सकता है, पर वह अनिष्ट है ।

(२३) 'नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमो' (यजुः १६।२७) इत्यादि मन्त्रोंसे जो कि लेखकमहोदयने निषाद आदियोंको भी नमस्कार-योग्य सिद्ध किया है—यह ठीक नहीं । इस सूक्तमें ब्राह्मण आदियोंका नाम

सर्वथा नहीं है, तब क्या वे नमस्कारयोग्य नहीं हैं ? उसीमें तस्कर वा वधिक भी कहे गये हैं, तब क्या लेखक-महाशय ब्राह्मणादिको नमस्कार न मानकर अन्त्यजोंको नमस्कार मान लेंगे ? वस्तुतः उसमें किरातरूपधारी रुद्रके उक्त गणोंको नमस्कार किया गया है; सर्वसाधारण-निषादादिको नमस्कार नहीं किया गया । यही यहां रहस्य है । इस विषयमें 'आलोक' (१-२) पृ. २१७-२२३ देखिये ।

(२४) 'पञ्चजना अग्निहोत्रं जुषध्वम्' यह मन्त्र भी लेखकमहोदय-की इच्छा पूर्ण नहीं कर सकता । पहले तो यहां 'अग्निहोत्रं जुषध्वम्' पाठ नहीं है, 'मम होत्रं जुषध्वम्' पाठ है । 'होत्रं' का अर्थ 'आह्वान' है । 'यज्ञ' अर्थ भी माना जावे; तव यज्ञमें सबकी भिन्न-भिन्न सेवा हुआ करती है । शूद्र-अन्त्यज आदिका तो 'यज्ञ-भूमिका साफ करना, झाड़ना-बुहारना, यही यज्ञकी सेवा है । यज्ञका साक्षात् करना-कराना नहीं । यज्ञमें अधिकार तो द्विजोंका ही होता है । जैसे कि—वेदमें कहा है—'अयं स होता यो द्विजन्मा' (ऋ. १।१४९।५) यहां द्विजका ही 'होता' होना कहा हैं, 'एकज' का नहीं । इस विषयमें पूरा विवेचन 'आलोक' (३) पृ. १४२-१४७ में देखिये ।

जो शूद्र-अन्त्यज वेदानुसार कृच्छ्र-कर्मको छोड़कर वेद पढ़नेमें लगे हैं; वे भारतीय-संसारको हानि पहुंचाने वाले हैं—'ब्रह्मणे ब्राह्मणं... तपसे (कृच्छ्र-कर्मकेलिए) शूद्रम्' (यजु. ३०।५) 'तपः शूद्रस्य सेवनम् मनु. ११।२३५) इस प्रकार श्रुति-स्मृतिके विरोधी हैं । इस प्रकार लेखक-महाशय वेदको भी अपनी इच्छानुसार चलाना चाहते हैं—यह बहुत खेद है ।

लेखकमहोदयके लेखमें परस्पर-विरोध भी दीखता है । कहीं उनने शूद्र आदिको जन्मसे माना है, और कहीं कर्मसे । इससे उनका लेख उनके अनुसार भी अप्रमाण है । यदि गुणकर्मसे वर्ण है, तब शूद्रको मूर्ख कहते हुए स्वा.द.जीपर लेखक-महोदयने क्यों आक्षेप किया है, जबकि लेखक-

महोदय भी अशिक्षितको शूद्र मानते हैं।

वस्तुतः तो वेदको भी जन्मसे वर्ण इष्ट है। इसमें 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' यह मन्त्र ही प्रमाण है। यहांके मुख, बाहु, ऊरु, पाद जन्म-सिद्ध कहे गये हैं, गुणकर्मसे नहीं। इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ. २१५-२१६, तथा चतुर्थ पुष्प पृ. २०३-२१६ तथा अष्टमपुष्प २७६ से २६६ पृ. तक देखना चाहिये। तब मुख-पाद आदिके प्रतिनिधि ब्राह्मण-शूद्र आदि भी वेदको जन्मसे अभिमत सिद्ध हुए। तब द्विज-शूद्र आदियोंका भेद भी वैदिक प्रतिफलित हुआ।

(२५) इस विषयमें कुछ अन्य बातोंका स्पष्टीकरण भी किया जा रहा है। वैदिक-कालमें जब ब्राह्मण-पुरोहित क्षत्रियको राज्यतिलक कर रहा होता था; तब एक वेदमन्त्र वह बोलता था। उसमें प्रजाओंको वह सम्बोधित करता था—

'विश ! एष वोऽमी ! राजा, सोमोस्माकं ब्राह्मणानां राजा' (यजुः माध्यं ९।४०) (हे अमी विशः !) ऐ उपस्थित प्रजाओ ! (एष वो राजा) यह तुम लोगोंका राजा है। हम ब्राह्मणोंका यह राजा नहीं है। 'तब आपका राजा कौन है—' इसपर ब्राह्मणका उत्तर होता था, कि—हम ब्राह्मणोंका राजा सोम (चन्द्रमा) है। इसलिए चन्द्रमाको द्विजराज (ब्राह्मणोंका राजा) कहा जाता है। देखो अमरकोष (१।३।१५)।

इस मन्त्रका तात्पर्य यह है कि-राजा अपने अमात्य (सचिव) शास्त्रज्ञ-ब्राह्मणसे नियमित किये हुए नियमोंपर राजकीय-नियन्त्रण न रखे; किन्तु उन्हें प्रजाद्वारा अनुसरण करानेमें सहायता दे। सोमका यहां 'चन्द्रमा' भी अर्थ है; क्योंकि उसमें 'सोम' सम्भृत होता है, और सोमरस भी। सोमसे यज्ञ इष्ट है। जैसेकि 'सोममर्हति यः' (४।४।१३७) इस पाणिनिके वैदिक-सूत्रके 'सोम्यो ब्राह्मणः' इस उदाहरणका 'यज्ञार्हं इत्यर्थः' यह 'यज्ञ' अर्थ किया गया है। और उसे ब्राह्मणका विशेषण बनाया गया है। इस प्रकार यहां वेद और वेदाङ्गकी एक-वाक्यता सिद्ध हुई। इससे बताया

गया कि—यज्ञ ब्राह्मणोंका राजा है।

यज्ञसे यज्ञविषय वाला मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद इष्ट होता है; इसपर देखो 'आलोक' (६) पृ. १४२-१४६)। इससे यह भी प्रतीत होता है कि—ब्राह्मणगण भी मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदसे तथा वेदानुकूल धर्मशास्त्रोंसे नियम बनाते थे, निजकल्पित नहीं। उनपर राजकीय नियन्त्रण नहीं होता था।

हमने एक बार काशीके 'सूर्योदय' संस्कृत-पत्रके अष्टम वर्षीय अष्टम-अङ्कमें (माघपूर्णिमा सं. १९८९ सन् १९३३ के जनवरी मासमें) 'स्वराज्य'-शब्दपरिभाषा' एक संस्कृत-लेख प्रकाशित किया था। उसीका हिन्दीमें अनुवाद मासिक 'सन्मार्ग' काशीके ७।७ अङ्क वैशाख सं. २००३ में भी प्रकाशित कराया था। उसमें भाव यह रखा गया था कि—सुधारक-राष्ट्र-वादियोंका 'स्वराज्य' अंग्रेजोंसे छूटना था, अंग्रेजियतसे नहीं। सनातन-धर्मसे छूटना ही उनके 'स्वराज्य' की परिभाषा है-यह हमने स्वराज्य' मिलनेसे पूर्व ही, आजसे ३७ वर्ष पूर्व अंग्रेजी-शासनमें सिद्ध कर दिया था। इतने वर्षों बाद वही 'स्वराज्य' मिल गया हुआ दीख रहा है। हम अपने उस भविष्यद्दर्शनपर स्वयं चकित हैं कि—वह सूझ हमें उस समय कैसे आगई; जो अब ३७ वर्ष बाद प्रत्यक्ष दीख रही है। कदाचित् उस समय साक्षात् माता सरस्वती देवी ही हमारी जिह्वापर बैठ गई हो।

फलतः वेद-स्मृति आदि सनातनधर्म-शास्त्रानुसार जो निम्न जाति-वालोंकी अस्पृश्यता नियत की गई है; वह स्वाभाविक एवं समाजकेलिए लाभदायक है। इसके होनेपर भी उस समय जितना हिन्दुजातिका अन्त्यजोंसे प्रेम था; उसे प्राचीन लोग जानते हैं। यह अस्पृश्यता समाजरूपी वृक्षकी जड है। वृक्षकी जड जबतक अस्पृश्यरूपमें है, निम्न है, उसे बाहरकी हवा नहीं लगने दी जाती; तबतक तो उसमें वृक्षका मङ्गल है। पर यदि किसीने मूलको धूलमें देखकर उसकी अस्पृश्यताको उसकी शोचनीयता समझकर उसकी शुद्धिकेलिए उस धूलको जलसे प्रवाहित कर दिया; और मूलको

बाहरकी हवा लगने दी; जैसा कि ग्राजकल किया जा रहा है; तब वह वृक्ष भी सूख जावेगा; और समाजके व्यक्ति भी उसके फल नहीं खा सकेंगे ! तभी मनुस्मृतिमें भी कहा गया था—'वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत् । तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत्' (८। ४१८)—(वैश्य एवं शूद्रसे—[शूद्रसे अनिरवसित तथा निरवसित दोनों प्रकारके शूद्र लिये जाते हैं] प्रयत्न-पूर्वक अपने कर्म करावे । यदि वे अपने कर्मसे च्युत हुए; तो जगत्में हलचल भी मची) । इसका यह भाव था कि-शूद्रादि हमारी जड़ हैं । उनको अपनी स्थितिसे हटाना संसारको हानिका निमन्त्रण देना है । जो शूद्रादि अपने शिल्प ग्रादि कर्मोंसे हटकर दूसरे-दूसरे कर्मोंमें लग गये; तो हमारी युद्ध-ग्रादि सामग्रीमें त्रुटि पड़ जानेसे वे हमारे पराजयके कारण बन जावेंगे । अतः उन्हें प्रयत्नसे अपने जिस भी ऊपरसे निकृष्ट वा उत्कृष्ट दीख रहे हुए कर्मसे न हटने दे । वृक्षकी जड़में दुर्गन्ध भी ग्रा रही होती है; पर यदि उसे सहृदयता वा सहानुभूतिवश उस स्थितिसे हटाया गया; तो वह समाजरूपी वृक्ष भी ढह जायगा । यह सोची थी दूरदर्शिता हमारे अतीन्द्रियदर्शी ऋषि-मुनियोंने ।

इसी प्रकार निम्न-जातियाँ समाजरूपी वृक्षका जहाँ मूल हैं; इसी प्रकार वे ही समाजरूपी भवनकी नींव भी हैं । यदि कोई दबी हुई उन नींवकी ईंटोंकी उसमें शोचनीयता देखकर उन्हें वहांसे निकाल दे; उन्हें निम्न न रहने दे; और उनको पानीसे धो-धाकर उन्हें बाहरकी हवा लगने दे; तब इसका फल क्या निकलेगा ? यही कि-वह समाजरूप भवन भी फिर धराशायी हो जावेगा । इस प्राकृतिक अस्पृश्यताके नियमन करनेमें हमारे ऋषि-मुनियोंने बहुत लाभ सोचे थे । इसी जातिव्यवस्था एवं अस्पृश्यता-व्यवस्थासे ग्राजतक भारतवर्ष सुरक्षित रहा; इसी कारण ईसाई-मिशनरी एवं मुसलमान लोग भारतकी हस्ती मिटानेकेलिए बड़ा भारी प्रयत्न करके भी सफल न हो सके । इस विषयमें 'ग्रालोक' (६) के पृ. २६६-

२७३ देखने चाहियें । पर ग्राजका 'स्वराज्य' उस अस्पृश्यताको जडमूलसे उखाड़नेमें लगा है । अपने ही वृक्षका अङ्ग लोहेके साथ मिलकर अब उस प्राचीन-वृक्षके काटनेमें तत्पर है । तब फिर अब यह नहीं कहा जा सकेगा कि--'कोई ऐसी बात है कि--हस्ती मिट नहीं रही है हमारी' । वही कुल्हारा अब हमारी जड़ें काटनेको तत्पर है । इसीकी प्रतीक्षामें अब ईसाई एवं मुसलिम भी तैयार बैठे हैं कि-कब हिन्दुस्थान, हिन्दुस्थान न रहकर पाकिस्तान वा ईसाईस्तान बने ।

ग्राजकल इस अस्पृश्यताके हटा देनेसे स्वयं अन्त्यजोंकी भी हानि हो रही है, जनताके घरोंमें काम करने ग्रानेवाली अन्त्यजोंकी लड़कियां और स्त्रियाँ भी अब अरक्षित हो रही हैं । जो चाहता है, उनसे वासनिक स्पर्श कर लेता है । पहले वे अपने बरतन गलीमें रखकर जाते थे, कोई उठाता नहीं था; अब लोग उनकी बालटियां भी उठा लेते हैं; धो-धाकर उन्हें अपने काममें लगा देते हैं; पर श्रीपाणिनिने अपने वेदाङ्ग अष्टाध्यायी-(२।४।१०) में शूद्रोंके निरवसित, अनिरवसित यह दो भेद करके जिन्हें ग्राजके सुधारक स्वा. द. भी मान गये हैं, 'चाण्डालमृतपाः—'उदाहरण देकर इसका विरोध किया है ।

साँप, बिच्छू, ततैये ग्रादि अस्पृश्य—प्राणी हैं; वायुमण्डलमें व्याप्त विषैले मलको खींचकर वे समाजकी शुद्धि करते रहते हैं । स्वयं वे प्रकृतिकी ग्रोरसे अस्पृश्य रहते हैं । उन्हें मारना ठीक नहीं । हां, उन्हें अपनेसे दूर, अपने नगरसे बाहर रखना पड़ता है । यदि उन्हें मार दिया गया; तो समाजका वायुमण्डल अशुद्ध होजानेसे उससे स्वयं समाजके ही मरनेकी ग्राशङ्का रहेगी ।

स्वा.द. जी भी अन्त्यजोंकी अस्पृश्यता बड़े स्पष्टशब्दोंमें शास्त्रसम्मत मान गये हैं । कहीं भी उन्होंने अन्त्यज-जातिकी व्यवस्था कर्मसे नहीं मानी । न कहीं स्नानसे उनका शुद्ध हो जाना संकेतित किया है; जैसेकि-ग्राजकल उनके—अनुयायी उनकी इस विषयमें झूठी एवं निर्मूल वकालत

करते रहते हैं। 'अन्त्यज' शब्द ही 'अन्त्यात् (शूद्रात्) जायते' इस व्युत्पत्तिसे उनकी जन्मसिद्धता बता रहा है। इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. ४४८-५०, पृ. ६०४-६०५, तथा नवम पुष्पके अन्तमें 'साम्यवाद-विषयकसंवाद' देखना चाहिये। वस्तुतः स. ध. ही अस्पृश्योंका वास्तविक उद्धारक है, सुधारक तो उनके संहारक हैं, इस विषयमें भी उसी निबन्ध (पृ. ६४४-६५६) में द्रष्टव्य है।

वेदोंमें यदि अस्पृश्यता स्पष्टरूपसे वर्णित नहीं; तो कोई बात नहीं। वेदमें हिन्दुधर्मके प्रमुख चोटी-जनेऊका भी स्पष्टरूपसे वर्णन नहीं; पर बीजरूपमें तो वेदमें भी उनका वर्णन संकेतित है। इस प्रकार अस्पृश्यता भी वेदोंमें बीजरूपमें विद्यमान है, जिसका विस्तृत-भाष्य धर्मशास्त्रोंने किया है। इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ. २२८-२३२ द्रष्टव्य हैं।

इस सम्बन्धमें यह भी याद रखना चाहिये कि-यह विषय मुख्यतया है भी धर्मशास्त्रोंका ही। वेदका यह मुख्य-विषय है भी नहीं। अतः यदि वेदमें अस्पृश्यता स्पष्ट शब्दोंमें—अङ्कित नहीं; तो कोई बात नहीं। वादिप्रतिवादिमान्य 'न्यायदर्शन' के ४।१।६२ सूत्रके वादिप्रतिवादिसम्मत वात्स्यायनभाष्यमें इस विषयमें कहा गया है—

'चातुराश्रम्यविधानाच्च इतिहासपुराणधर्मशास्त्रेषु ऐकाश्रम्यानुपपत्तिः। (इतिहास-पुराण एवं धर्मशास्त्रोंमें चार आश्रमोंका विधान है; अतः एक ही आश्रम होता है—यह कहना गलत है)। तद् अप्रमाणमिति चेद् ? न। प्रमाणेन प्रामाण्याभ्यनुज्ञानात्। (इतिहास-पुराण एवं धर्मशास्त्र अप्रमाण हैं—यह भी नहीं कहा जा सकता। प्रमाणभूत-शास्त्रसे उनका प्रमाण होना बताया गया है)। प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेन इतिहास-पुराणस्य प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते–'ते वा खलु एते अथर्वाङ्गिरस एतद् इतिहास-पुराणम् अभ्यवदन्-इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्। तस्माद् अयुक्त-मेतदप्रामाण्यम् (प्रमाणभूत-ब्राह्मणने इतिहास-पुराणको '५ वां वेद' कहकर उनको प्रमाणित कर दिया है। इसी प्रकार धर्मशास्त्र भी प्रमाण

है)। अप्रामाण्ये च धर्मशास्त्रस्य, प्राणभृतां व्यवहारलोपाद् लोकोच्छेद-प्रसङ्गः (धर्मशास्त्रको यदि प्रमाण न माना गया; तो प्राणियोंके व्यवहारके लुप्त होजानेसे लोकका उच्छेद हो सकता है)।

'द्रष्टृ-प्रवक्तृसामान्याच्च अप्रामाण्यानुपपत्तिः। य एव मन्त्र-ब्राह्मण-स्य (वेदस्य) द्रष्टारः प्रवक्तारश्च; ते खलु इतिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य च [द्रष्टारः प्रवक्तारश्च] (जो ऋषि-मुनि मन्त्र-ब्राह्मण (वेद) के द्रष्टा-प्रवक्ता हैं; वे ही इतिहास-पुराण तथा धर्मशास्त्रोंके द्रष्टा-प्रवक्ता भी हैं। 'धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः' (मनु. २।१०) धर्मशास्त्र मनुस्मृति-आदि स्मृतियोंका नाम है। अतः प्रवक्ताओंकी समानतासे मन्त्र-ब्राह्मण (वेद) की भांति धर्मशास्त्र भी अप्रमाण नहीं हो सकता।)

विषय-व्यवस्थानाच्च यथाविषयं प्रामाण्यम्। अन्यो मन्त्र-ब्राह्मणस्य (वेदस्य) विषयः; अन्यश्च इतिहासपुराण-धर्मशास्त्राणाम्। यज्ञो मन्त्र-ब्राह्मणस्य [वेदस्य विषयः], लोकवृत्तम् इतिहास-पुराणस्य [विषयः]; लोकव्यवहार-व्यवस्थापनं च धर्मशास्त्रस्य विषयः (सभी मन्त्र-ब्राह्मण (वेद), इतिहास-पुराण और धर्म-शास्त्रकी भिन्न-भिन्न विषय-व्यवस्था होनेसे भी यह मन्त्र-ब्राह्मण (वेद), इतिहास-पुराण और धर्मशास्त्र अपने-अपने विषयमें अधिक प्रमाण हैं। मन्त्र-ब्राह्मण (वेद) का विषय अन्य है, और इतिहास-पुराण एवं धर्मशास्त्रका विषय अन्य है। मन्त्र-ब्राह्मण (वेद) का विषय मुख्यतया यज्ञ है। इतिहास-पुराणका मुख्य विषय—है लोकचरित्रका प्रतिपादन; परन्तु लोक-व्यवहारकी व्यवस्था धर्मशास्त्रोंका ही मुख्य विषय हुआ करता है।)

तत्र एकेन न सर्वं व्यवस्थाप्यते--इति **यथाविषयम्** एतानि [मन्त्र-ब्राह्मण (वेद), इतिहास--पुराण धर्मशास्त्राणि] प्रमाणानि इन्द्रियादिवद् इति (उनमें एक ही शास्त्रसे सभी व्यवस्थाएं सम्भव नहीं हो सकतीं, अतः यह मन्त्र-ब्राह्मण (वेद), इतिहास-पुराण तथा धर्मशास्त्र अपने-अपने विषयमें अधिक प्रमाण हैं। इन्द्रियोंकी तरह। जैसे आंख अपने विषय

(रूपदर्शन) में अधिक प्रमाण है, और कान आदि इन्द्रियां अपने विषय (शब्द सुनने आदि) में अधिक प्रमाण होती हैं।

सो धर्मशास्त्र (स्मृतियां) लोकव्यवहारप्रवर्तक होनेसे इस विषयमें अधिक प्रमाण हैं। स्मृतियोंमें मनुस्मृति अधिक प्रमाण है; क्योंकि वह सृष्टिकी आदिमें वेदज्ञ, मानवोंके पिता एवं हितैषी मनुजी द्वारा बनाई गई है; तथा वादिप्रतिवादिमान्य है। उसमें यह विषय स्पष्ट है। उसमें एक प्रसिद्ध पद्य यह है—

'दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा। शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुध्यति' (मनु. ५।८५)। यहां 'दिवाकीर्ति' का अर्थ है 'चाण्डाल'। देखो अमरकोष (२।१०।१९)। 'चाण्डाल' का अर्थ आजकलके महासुधारक स्वा. द. जी भी 'भंगी-अन्त्यज' आदि करते हैं। इस विषयमें 'आलोक' के ६-७ और ९ म पुष्प देखने चाहियें। और उसका कर्म धर्मशास्त्रानुसार 'मलापकर्षण' है। वह पुरुषोंका मल उठाकर शहरसे बाहर डाल आता है। इसपर देखो 'आलोक' (६) (पृ. २४४-२४५)।

उक्त पद्यमें चाण्डालको छूनेपर अपनी स्नानसे शुद्धि मानी गई है। जैसेकि मनुजीने अन्यत्र भी इसकी स्पष्टता की है—'स्पर्शेनाऽवरवर्णजः (अन्त्यजः)' (३।२४१) केवल चाण्डालको छूनेपर ही नहीं; किन्तु उदक्या (तीन-चार दिन तककी रजस्वला) स्त्रीके जो हमारी पत्नी भी हो सकती है, बहन, माता वा पुत्री भी हो सकती है; उसके छूनेपर भी स्नानसे शुद्धि मानी गई है। क्या इसमें किसीकी शक्ति है कि—इससे माता, बहन वा पुत्री वा धर्मपत्नीसे भी इस प्रकारके व्यवहारसे उनमें हमारी घृणा वा रागद्वेषको सिद्ध कर सके?

फिर यहां सूतिका (अपनी प्रसूता स्त्री, जिसने हमारा बच्चा पैदा करके हमें इस लोक तथा परलोकमें गौरवान्वित किया है) को छूनेपर भी हमारी स्नानसे शुद्धि कही गई है। कोई है माईका लाल, जो ऐसे व्यवहारसे हमारी अपनी उस प्रसूता-स्त्रीसे भी हमारी घृणा वा राग-द्वेष सिद्ध कर सके? शव-मृतकशरीर—चाहे वह हमारे माता-पिताका हो, वा सम्बन्धी वा गुरुजीका हो; उसके छूनेपर वा उसे छूनेवालेके छूनेपर भी हमारी स्नानसे शुद्धि बताई गई है। अब है किसीकी शक्ति कि--इससे हमारी माता-पिता वा गुरु एवं सम्बन्धीसे भी हमारी घृणा वा राग-द्वेष सिद्ध कर सके। यदि स्पर्शका प्रभाव जानना हो; तो बिजलीका स्पर्श तथा उसके स्पर्श करनेवालेका स्पर्श-कीजिये। हां, उसमें स्थूल-विद्युत्का प्रभाव प्रत्यक्ष होता है, पर यहां सूक्ष्म-विद्युत्का अप्रकट प्रभाव होता है; पर होता अवश्य है। 'प्रसङ्गाद् गात्रसंस्पर्शाद् निःश्वासात् सहभोजनात्। सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्।···औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्' (सुश्रुतसं. निदानस्थान ५।३३) यह दृष्टशास्त्र-आयुर्वेद का वचन है।

हमारे अस्पृश्य अङ्ग भी हैं। उन्हें कोई भी काटना नहीं चाहता; क्योंकि—उनके काटनेपर अपनी ही मृत्यु है—यह सभी जानते-मानते हैं, किन्तु उन्हें छूकर जलसे अपनी शुद्धि ही की जाती है। इसमें घृणा कारण नहीं होती। इसी प्रकार अन्त्यजोंको जो हमारे ही अस्पृश्य अङ्ग हैं; उनको कोई भी सनातनधर्मानुरागी काटना नहीं चाहता; जैसे कि आज-कल सुधारकों--द्वारा उन्हें काटा जा रहा है। उन्हें अस्पृश्य न रखकर उन्हें बड़ा वा सचिव तक बनाया जा रहा है। उन्हें उनके कर्मसे घृणा कराई जा रही है। जितना सुन्दर जनताका हिताधायक काम वे उस समय कर सकते; अब वे जनताके हितका क्या काम करेंगे? अब तो वे बैठे-बैठे जनताका ही बहुत-सा व्यर्थका खर्च करा देंगे। इस प्रकार उन्हें उनके अपने कर्मसे घृणा होजानेपर उस जातिके अत्यन्ताभाव होजानेपर हमारी हिन्दुजातिके ही मरनेकी आशङ्का है।

यदि वर्तमान हिन्दुओंको 'भङ्गी-अन्त्यज' आदियोंके स्थानपर रख दिया गया; और उनको उनके स्थानपर; तो बात तो वही होजावेगी;

तब भी तो अस्पृश्यता स्थिर ही रहेगी। केवल परम्पराका परिवर्तन हो जावेगा। यह सब आजकल अपना राजनीतिक-स्वार्थका उल्लू सीधा करनेकेलिए किया जा रहा है।

फलतः स. ध. अन्त्यजोंको काटना नहीं चाहता; किन्तु उनका स्पर्श करके जलसे अपनी ही शुद्धि करनेका आदेश देता है। इसमें घृणा वा राग-द्वेष कारण नहीं होते, किन्तु अपनी वा दूसरे की धर्मरक्षा ही उद्दिष्ट होती है। उनके परम्परागत अशुद्ध-परमाणु उनके शरीरमें यत्र-तत्र ओत-प्रोत रहते हैं; अतः उनकी स्नानसे भी अशुद्धि दूर नहीं हो सकती। इस प्रकार 'आत्मा वै पुत्रनामासि' (शतपथ. १४।९।४।२६) इसमें पुत्र-को अपना 'आत्मा' बताया गया है। स्वा. द. जीने भी स. प्र. में लिखा है—'अङ्ग-अङ्गसे उत्पन्न हुए वीर्यसे और हृदयसे तू उत्पन्न होता है; इसलिए तू मेरा आत्मा है' (पृ. ७३) इससे उस अन्त्यजके पुत्रकी भी वेदानुसार अस्पृश्यता रहती है, तभी पिताकी बीमारियाँ पुत्रको भी होती देखी गई हैं। अतः यह अस्पृश्यता जन्मना ही है।

हिन्दु लोग अन्त्यजोंका स्पर्श करके शास्त्रानुसार स्वयं स्नान करते हैं; चाहे गर्मीकी ऋतु हो, वा शीतकाल हो। अन्त्यजोंको शीतकालमें स्नान करनेकेलिए बाधित नहीं करते। उन्हें खुले जाने देनेकेलिए मार्ग दे देते हैं; उन्हें धक्का देकर, उन्हें तकलीफ देते हुए नहीं जाते। पर जो अन्त्यज रोगी हो; आपत्तिग्रस्त हो; उसका अपना कोई सहायक न हो; उस समय शास्त्रानुसार हिन्दुका कर्तव्य है कि—उसकी सेवा करे। पीछे भले ही स्नान कर ले।

यदि अन्त्यजोंसे दूर हटकर, उन्हें न छूते हुए एक किनारे हो जाना—इसमें कोई घृणाको कारण बतावे, तो उसकी बुद्धिकी बलिहारी है। हम दूसरेकी स्त्रीको अस्पृश्य मानते हैं; उसे नहीं छूते। उसे न छूते हुए हम एक ओर हो जाते हैं; और वह परकीया स्त्री भी हमें अस्पृश्य मानती है; हमसे दूर होकर चलती है। इससे कोई उस स्त्रीसे हमारी और हमसे

उस परकीया (दूसरेकी) स्त्रीकी घृणा वा राग-द्वेष सिद्ध नहीं कर सकता; किन्तु एक-दूसरेके धर्मकी रक्षा ही उसमें उद्दिष्ट होती है।

इस प्रकार स.ध. के शास्त्रोंसे नियमित निम्न जातिवालेकी शास्त्रीय-अस्पृश्यतामें घृणा कारण न होकर उसमें विज्ञानका ज्ञान ही कारण होता है। केवल निम्न-जातीयकी ही अव्यवहार्यता स० ध० में नहीं, जिससे कोई स. ध. का अन्त्यजसे राग-द्वेष सिद्ध कर सके; बल्कि-सनातनधर्म तो उच्च-जाति ब्राह्मणको भी समयपर अस्पृश्य वा अव्यवहार्य मानता है। देखिये—जब वह जननाशौच वा मरणाशौचयुक्त होता है; तब उससे हमारा स्पर्श नहीं होता; वह देवमन्दिरमें भी पूजाकेलिए नहीं जा सकता। वह प्रतिदिन स्नान करता हुआ भी नियत-दिनोंतक अशुद्ध एवं अस्पृश्य रहता है। अपने गुरुजीके चरणोंको भी वह नहीं छूता। अब बोलिये—इसमें पक्षपात कहां रहा?

अब और देखिये—महाब्राह्मणको भी जो हमारे मृतकपिता-माताकी अन्त्येष्टि कराकर उसके प्रेतत्वकी विमुक्त्यर्थ हमसे कर्म कराता है, स. ध. उसे भी अशुद्ध वा अव्यवहार्य मानता है। पशुओंमें सूकर, कुत्ता तथा अहिंसक तथा तृणभक्षी गधे आदि को भी अस्पृश्य मानता है। ग्रहोंमें राहु-केतुकी ग्रहणादि-समयमें पूजा आदिष्ट करता हुआ भी उनसे स्पृष्ट प्रत्यक्ष-देवता सूर्य-चन्द्रकी किरणोंसे स्पृष्ट होकर स. ध. हमारी स्नानसे शुद्धि बताता है। इस प्रकार स. ध. शनैश्चरी-ब्राह्मणोंको भी अव्यवहार्य मानता है। पूजाके समय वह अपने हृदयके लाल अस्नात पुत्र-पौत्र आदिको भी अस्पृश्य मानकर उसे पास नहीं आने देता। तब केवल अन्त्यजोंसे ही स. ध. का राग-द्वेष कोई कैसे बता सकता है? सो यह विज्ञान-सम्मत ही व्यवहार है; इसमें कोई रागद्वेष वा घृणा कारण नहीं। स.ध. के शास्त्रोंमें अस्पृश्यताके अपवाद भी माने गये हैं—'स्पृष्टाऽस्पृष्टिर्न दुष्यति' आदि इस विषयके बहुतसे वचन हैं।

यदि नेतागण अस्पृश्यताको हटवाना चाहते हैं; तो उन्हें अंग्रेजों वाली नीति अपनानी पड़ेगी। अंग्रेजोंने रेलगाड़ियां वा मोटर-बसें आदि खुलवाईं; सार्वजनिक नल खुलवाये, हस्पताल खोले; इससे अस्पृश्यतामें अपने-आप उत्तरोत्तर ह्रास होगया। उन्हें अस्पृश्यतानिवारणार्थ कानून-न बनाने पड़े। अंग्रेजोंकी ही नीतिसे हिन्दुधर्मके प्रमुख चोटी-जनेऊ भी बिना किसी प्रकारके अत्याचारसे स्वयं ही उड़ गये; देखिये अंग्रेजी पढ़े-लिखोंके चोटी-जनेऊ। पर यदि अस्पृश्यता हटानेमें औरङ्गज़ेबी नीति दण्डविधानकी वा अत्याचारकी बरती गई; तो अस्पृश्यता और स्थायी हो जावेगी। औरङ्गज़ेबी-नीतिने ही चोटी-जनेऊको मजबूत कर दिया था; जिसे फिर अंग्रेजी-नीतिने अपने-आप, बिना अत्याचारके भी हटवा दिया। औरङ्गज़ेबी-नीतिसे अधिक संख्यावाले हिन्दुओंकी राज्यपर घृणा बढ़ेगी। परस्पर-कटुता बढ़ेगी; तब उससे किसका क्या लाभ होगा? जब शासन धर्मनिरपेक्ष है; तब एक धर्मविशेषकी मान्यताओंमें हस्तक्षेप करना क्या संविधानके प्रतिकूल नहीं? असहिष्णु मुसलमान और ईसा-इयोंकी कानून-विरुद्ध भी मान्यताओंमें (जैसे एक-साथ अधिक-विवाह आदिमें) दण्डविधान नहीं किये जाते; तब सहिष्णु-हिन्दुजातिकी मान्य-ताओंकेलिए भी वैसा ही व्यवहार उचित है। नहीं तो यह नेताओंका एक राजनीतिक-स्वार्थ ही माना जावेगा, जिसने भाषीय, प्रान्तीय तथा जातीय विवाद-खड़े कराके एक-दूसरेसे घृणा कराकर सिविल-वारकी भूमिका तैयार कर दी है।

—

नेता लोग निम्नजातिवालोंको राजनीतिक-अधिकार भले ही दें; जिससे उनकी वृत्तिकी विषमता हटे, स०ध० का भी उसमें विरोध सर्वथा नहीं; पर शास्त्रीय-धार्मिकनियमोंको अतिक्रान्त न करते हुए और धर्मा-चार्योंकी मान-मर्यादामें हस्तक्षेप न करते हुए अपने नियमोंको वे पूरा कराते चलें; तभी ठीक होगा। नहीं तो धार्मिक-सन्तुलन बिगड़नेसे प्रकृतिमें-असन्तुलनवश दैवी शक्तियोंका देश वा राज्यपर प्रकोप हो सकता

है--यह हमें नहीं भूलना चाहिये। 'अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानां च विमानना। त्रीणि तत्र प्रवर्तन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम्' (जहांपर अपूज्योंकी तो पूजा हो; और--पूज्योंका अपमान हो; वहां अकाल तथा मृत्युएं तथा युद्ध आदिके भय बढ़ जाते हैं)। यह एक प्राचीन-वचन है; और ठीक होता हुआ दीख रहा है।

जो लोग अन्त्यजादिको कर्मणा मानते हैं; यह पक्ष भी ठीक नहीं। 'अन्त्यात्--शूद्राद् जायते--इति अन्त्यजः' यह व्युत्पत्ति होनेसे वहां भी जन्म-सिद्धता है। अन्त्यज सचिव होते हुए भी, अन्त्यजोंका कर्म न करते हुए भी, अन्त्यजोंके वर्तमान नामसे 'हरिजन-मन्त्री' कहे जाते हैं; इस प्रकार वर्णव्यवस्थाकी भांति जाति-व्यवस्था भी जन्मसे ही सिद्ध हुई। तभी तो 'अङ्गादङ्गात् सम्भवसि' मन्त्रसे स्वा. द. जीने भी पुत्रको पिताका आत्मा माना है। देखो स. प्र.। यह हम पूर्व पृष्ठ ९६० में स्पष्ट कर चुके हैं।

एक आश्चर्य यह आता है कि--अन्त्यजोंको क्यों अपने सिर चढ़ाया जा रहा है? यदि इसलिए कि--वे विधर्मी न बन जावें; यह विचार अवश्य स्तुत्य है;--पर यह राष्ट्रवादी-सुधारक जब जाति-व्यवस्था उखाड़ना चाहते हैं; तब यह जातिव्यवस्थापर-ज़ोर क्यों दे रहे हैं? यदि उनका वोट पानेकेलिए यह झमेला है; तो अन्य बात है? उसपर हमारा कुछ भी वक्तव्य नहीं।

ब्र. प्रभुदत्तजीने 'युगवार्ता' में ठीक ही लिखा था कि--'जिनकी मान्यता है कि--शास्त्रोंमें स्पृश्यास्पृश्यता नहीं है; वे वैसा ही मानें; पर जिनके मतमें शास्त्रोंमें स्पृश्याऽस्पृश्यता है; उन्हें लाठी वा दण्डसे डरा-धमकाकर अपनी बात मनवानेको विवश करना क्या उचित होगा? तब भाषण तथा लेखनीकी स्वतन्त्रता वा धर्मनिरपेक्षता कहां रही? यह तो खासा धर्मविशेषपर बलात्कार हुआ। इस प्रकारसे तो न निम्नजाति-वालोंका कल्याण होगा; और न शासनका। देशमें कटुता बढ़ेगी, विप्लव होनेकी भी आशङ्का हो सकती है। गृहकलह होकर देश कमज़ोर होगा।

हमें सहिष्णुता बरतनी चाहिये। अभियोग आदि चलानेमें लाभकी अपेक्षा हानि ही अधिक हो सकती है। बात सिद्धान्तकी है। कोई अपना मत व्यक्त करता है, आप उसका खण्डन कर वा करवा सकते हैं; किन्तु डण्डेके बलसे किसीको उसके निजी पारम्परिक सिद्धान्तसे हटवाना संविधानसे अभिमत धर्मनिरपेक्षतापर खुला आक्रमण करना है।

अस्पृश्योद्धारका दम भरनेवाले नवीन समाज, अथवा नवीन संघ भी भंगियोंको जो मैलेका भारी टोकड़ा उठानेमें बड़ी असुविधा अनुभव कर रहे होते हैं; क्या वे समाज वा संघ उनका वह टोकड़ा स्वयं उठाकर उनकी सहायता करते हैं? कमसे कम हाथ लगवाकर उन्हें वह टोकड़ा क्या उठवा दिया करते हैं? क्या उनको अपनी लड़कियां देनेको तैयार हैं? क्या उन्हें अपने चमड़े वा बूटके कारखाने वा फ़ैक्टरियां जिन्होंने उनकी वृत्ति छीन रखी है—देनेको तैयार हैं?' क्या रविवारके दिन उन्हें अवकाश देनेको तैयार हैं? उस दिन उनका काम यह अन्त्यजोंकेलिए नकली आंसू बहानेवाले करें। यदि नहीं करते, तब स्पष्ट है कि--उनका अपनेको अछूतोद्धारक कहना निरा दम्भ है, ढोंग है। यदि वे उन्हें उस समय अस्पृश्य मानते हैं, और उन्हें स्नान करके आने एवं कपड़े बदलकर आनेकेलिए प्रेरित करते हैं, तब क्या सनातनधर्मियोंका यही कसूर है कि--सर्दी हो वा गर्मी, अन्त्यजको स्नान करनेकेलिए बाधित न करके वे स्वयं ही स्नानका कष्ट उठाते हैं? अब इनमें उनको कष्ट देनेवाला कौन हुआ?

अद्वैततारूप अन्तिमकोटिमें. तो स. ध. भी 'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' यह समदर्शन (उस समय भी वह समवर्तनकेलिए नहीं कहता) लेता है; पर बीचमें व्यवहारकोटिमें वह भेदभाव मानता है। यह भेदभाव तो स्वयं निम्नजातिवालोंमें भी है। चमार अपनी लड़की भंगीको नहीं देता; और न उसका भोजन खाता है, और न उससे छूता है। भंगी डोमको अपनेसे नीचा समझता है। मुसलमानोंमें भी कुटाणा और कुरेशिया, अहमदिया आदिसे भी अस्पृश्यता बरती जाती

है। ईसाइयोंमें भी रोमनकैथलिक और प्रोटेस्टेंट एक-दूसरेको घृणादृष्टिसे देखते हैं। आर्यसमाजी भी तिलक-मालाधारी एक आचारवान् ब्राह्मणको भी 'पोप' कहते हुए उन्हें घृणादृष्टिसे देखते हैं; उसे अपने मञ्चपर बैठने नहीं देते। अपने यहां सर्विस नहीं देते। सिख मजहबी--सिखसे, जैनी ढुंढिया जैनीसे घृणा करता है। जैनियोंके गुरु भी उन्हें अपनेको छूने नहीं देते। तब हिन्दु भी यदि व्यवहार-वैषम्य रखते हैं; तब उनपर हो हल्ला क्यों? यदि हिन्दुका शुद्ध भी पानी मुसलमानपर जा पड़े; तो वह बिगड़ता है कि—मुझे पलीत (अपवित्र) कर दिया गया। नाभिके नीचेके हमारे अङ्ग अस्पृश्य हैं; उन्हें हाथ लगाकर फिर हाथ धोना पड़ता है।

फलतः इन व्यर्थकी विवादपूर्ण बातोंमें समय नष्ट न करके सभीको रचनात्मक कार्योंमें संलग्न होना अधिक युक्त होगा। विदेशी तथा विधर्मी लोग तथा भारतीयताकी विरोधी पार्टियां हममें गृहकलह करानेकेलिए—जिससे हमारा देश निर्बल हो जावे—लालायित बैठी हैं कि-यह देश फिर विदेशियों वा चीन आदिके पञ्जेमें जा पड़े। अन्त्यजोंके अलग वोट रखना; विधानसभाकेलिए उनकी सीटें सुरक्षित रखवाना, उनका एक अलग अशास्त्रीय नाम 'हरिजन' वा अनुसूचित आदि जातियां रखना, इससे स्वयं अस्पृश्यताको स्थायी रखा जा रहा है।

नेताओंको उचित है कि-सबसे अधिक संख्यावाली हिन्दुजातिके शास्त्रोंपर आक्रमण करना, वा उसके धर्माचार्योंका अभद्र-शब्द कहकर वा उनपर मुकदमें चलाकर उनका अपमान करना किसी भी प्रकारसे उचित नहीं ठहराया जा सकता। बल्कि बहुतोंका तो यह विचार है कि--यह अन्य कुछ नहीं, किन्तु अन्त्यजोंसे केवल वाचिक-सहानुभूति दिखलाते हुए, अपनेको उनका वास्तविक हितैषी दिखलाते हुए चुनावोंमें निम्नजातिवालोंके वोट पानेका ही यह स्टंट है। इसलिए मुकाबला करनेवाली पार्टियां अछूतोंको अपने साथ रखनेकेलिए एक-दूसरेसे बढ़-चढ़कर अपनी अस्पृश्यता-विरोधी नीति दिखलाती हैं; अथवा अपनी पहलेकी पराजयका

पराजय करानेवालेसे बदला लिया जा रहा है।

अस्तु-इन सब बातोंको हटाकर अशान्ति पैदा न करते हुए—

'अन्यैः सह विवादे तु वयं पञ्चोत्तरं शतम्' (तीसरोंसे विवाद होनेकी दशामें हमें १०५ बन जाना चाहिये) इस युधिष्ठिरी-नीतिको अपनाते हुए हम सभीको रचनात्मक कार्योंमें लग जाना चाहिये। स्पृश्यता-अस्पृश्यतापर विचार हमारे घरेलू मामले हैं। इन्हें हमें प्रेममय शास्त्रार्थों-द्वारा अपने घरमें निर्णीत कर लेना चाहिये। राजकीयाधिकरणों (अदालतों) में उन्हें ले जानेका कोई लाभ नहीं। उल्टा देशमें परस्पर-कटुता बढ़ाकर वे हानिप्रद ही प्रमाणित होंगे। सच पूछा जावे कि—इस अस्पृश्यतावाद एवं जातिवादने हमारे भारतवर्षकी अब तक रक्षा की; यह भारतको ईसाई-बनाना चाहते हुए ईसाई-मिशनरी भी मानते हैं। इसपर देखो ईसाई मिशनरी मिस्टर आब्बे जे. ए. डुबोइसका अभिमत उनकी पुस्तक--'हिन्दु-मेनर्स, कस्टम्स एण्ड सेरिमिनीज़' (पृ. २९ पं. ३-१५)—'बहुत सोच-विचारके बाद मुझे जातिप्रथाके अतिरिक्त--कोई ऐसी बात नहीं मिली, जो हिन्दुओंको अब तक गिरनेसे बचाये हुए है…' । इत्यादि। इस जाति-वाद एवं अस्पृश्यतावादके उखाड़ देनेपर फिर भारत-भारत न रहकर अरबराष्ट्र वा इङ्गलेंड वा चीन-रूस रूपमें परिणत हो जावेगा।

यह हमारी धार्मिक-दृष्टिकोणसे सम्मति है। आगे सभी अपनी इच्छामें स्वतन्त्र हैं, जैसा करें। हम किसीको भी इस विषयमें बाधित नहीं करते। हमने स. ध. के शास्त्रोंका अभिमतमात्र बता देना है; तथा उनके न माननेका परिणाम भी संकेतित कर देना है। जब शासन धर्मनिरपेक्ष है; तब वह जैसे अन्य असहिष्णु-धर्मोंका सम्मान करता है; तब वह इस सहिष्णु-धर्मका भी सम्मान करे; वह अन्त्यजोंको राजकीय-अधिकार दे; इसमें स. ध. का कोई ननु-नच, किन्तु-परन्तु नहीं है।

यदि शासन धर्मव्यवस्थाको न माने; तो सनातनधर्मियोंको श्रीमालवीयजीकी नीति ही अनुसृत करनी पड़ेगी। श्रीमदनमोहनमालवीय देश-

संरक्षणका विचार करके अन्त्यजोंको गले लगाते थे, यहांतक कि-पौराणिक-मन्त्रोंकी दीक्षा भी उन्हें देते थे; परन्तु बादमें घरमें जाकर बिना किसीसे कुछ कहे स्नान भी कर लेते थे; अपना जनेऊ भी बदल लेते थे। बल्कि वे ईसाई-मुसलमानसे भी छूत रखते थे। मुलतानकी एक घटना हमारे सामनेकी है। म्युनिसिपलिटीने मुलतानमें नल लगवाये थे; उनके टैक्सका बोझ मुलतानकी जनतापर डाला गया; यह सम्भवतः १९२६-२७ सन्की बात है। जनताने हड़तालें कीं। अधिकारी जनताकी दुकानें तोड़कर उनसे टैक्सके परिमाणका दूकानका माल निकालकर फिर उन्हें ताला लगाकर सीलबन्द कर देते थे। बहुत गड़बड़ी मची। श्रीमालवीय-जी कहीं जा रहे थे; पता लगनेपर जनताके कई सदस्योंने उन्हें मुलतानमें उतार लिया, और कहा कि—नगरपालिकाके प्रेज़ीडेंटसे जो मुसलमान था--मिलकर हमारा समझौता करा दीजिये। मालवीयजीने स्वीकार किया। उन्होंने अपने नौकरको कहा कि-मेरे दूसरे कपड़े तैयार रखना। मुझे मुसलमान-अफ़सरसे हाथ मिलाना पड़ेगा। मैं आकर स्नान करूंगा; और दूसरे कपड़े पहनूंगा।" वैसे यहाँ भी करना पड़ेगा।

अस्पृश्यता-हटानेवाले नेताओंसे एक यह भी प्रष्टव्य है कि--जब अन्त्यजलोग मैला आदि उठाने और भरनेके कार्यमें लगे हुए होते हैं; तब भी क्या आप उन अन्त्यजोंको छूनेका आर्डर देते हैं, या कार्य करके नहा-धोकर आये हुए अन्त्यजको न छूनेको अपराधकोटिमें गिनते हैं? यदि मल-आदिके कार्यमें व्यासक्त भी उस अन्त्यजको छूनेकेलिए कहते हैं; तब क्या वे नेता मलको अस्पृश्य नहीं मानते? तब तो कल वे यह भी कह सकते हैं कि--जहां मल पड़ा हो; वहांसे गुज़रते हुए अपना नाक भी बन्द न करो; उस स्थानसे गुजर जानेके बाद थूक गिराकर अपने मुखकी शुद्धि भी मत करो। उसका सब्जीमें भी प्रयोग किया जावे। यदि वे उससे निपटकर आये हुए अन्त्यजको भी न छूनेपर दण्डविधान आदिष्ट करते हैं; तो वह भी व्यर्थ है। क्योंकि उस समय तो अन्त्यज भी आजकलके बाबुओंकी भांति पैंट-कोट डाटकर चलते हैं; तब किसीको पता ही नहीं

चल पाता कि—यह कौन है; तब भी दण्डविधान व्यर्थ हुआ।

फलतः इन व्यर्थके चक्करोंमें पड़कर हमें शास्त्रके विधानका अपमान नहीं करना चाहिए। तभी लोकव्यवस्था ठीक-ठीक रहेगी; तभी भारत भी भारत रह सकेगा। नहीं तो फिर भारतीयताके नाशके साथ भारतका विनाश भी सन्निहित हो सकता है-यह कभी नहीं भूलना चाहिये। हमारे शास्त्रोंने ही अबतक अपनी व्यवस्थासे भारतको बचाया है। यदि कोई स्वदेशीय-अस्पृश्यके छूजानेसे स्वयं किसीको विना कुछ कहे स्नान कर लेता है; इसमें भला देशकी क्या हानि है? विदेशी अस्पृश्योंसे अस्पृश्यताका परिणाम भी भारतके हितमें ही था। इसी कारण वे वैदेशिक हममें घुसकर हमारा कोई भी भेद नहीं जान सकते थे। नहीं तो उनकी स्पृश्यता कर देनेसे वे भी हममें घुस आते; और यहांके भेद जानकर भारतको हानि पहुंचाते।

अथवा इस अस्पृश्यता हटानेका हमें एक अन्य रहस्य भी मालूम पड़ता है। वह यह कि-अस्पृश्यता हटाने वाले लोग प्रायः सुधारक हैं। वस्तुतः वे अन्त्यजोंकी अस्पृश्यता दूर करना नहीं चाहते; किन्तु अन्त्यज-लोग अस्पृश्यतामें अभी तक भी चोटी रखे हुए हैं, राम-नाम भी लेते रहते हैं, कुछ मूर्तिपूजामें भी रहते हैं; इनके अपने मन्दिर भी हैं; सन्तोषवृत्तिमें भी रह रहे होते हैं; सुधारक-लोग इनकी अस्पृश्यता हटानेके बहानेसे उन्हें अपनी तरह रामनाम, मूर्तिपूजा तथा चोटीसे भी वञ्चित करना चाहते हैं; सुधारकोंके मूलभूत आर्यसमाजने रामनामका प्रचार करने वाले अपने ही संन्यासी स्वा. सत्यानन्दको अपने समाजसे निकाल दिया था; तब यह लोग रामनामग्राहक अन्त्यजोंका ही क्या हित करेंगे? इनसे सन्तोषवृत्ति हटवाकर इनमें सरविसकी भूख पैदा करके इनकी प्राचीन-वृत्ति छीनना चाहते हैं, और हम लोगोंसे लड़वाना चाहते हैं। शायद यही हो वास्तविक रहस्य इनकी अस्पृश्यता दूर करनेका।

---

(२५) मानवीय-साम्यवादके प्रमाणोंपर विचार।

आजकल सुधारकम्मन्य लोग मानवीय-साम्यवादपर कई वेदके वचनोंको दिया करते हैं, हम उनपर इस निबन्धमें विचार करेंगे।

(१) 'श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार बम्बईके दीपावलीके विशेषाङ्कमें 'अखिल भूमण्डलके समस्त मानवोंको वेदकी आज्ञा' शीर्षक देकर फिर 'विश्वबन्धुत्वकी भावना' यह उपशीर्षक देकर—

'अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः' (ऋसं. ५।६०।५)

—यह मन्त्र उपस्थित किया गया था। उसका अर्थ वहां यह किया गया था—'युवा पिता ईश्वर और कामधेनु माता, प्रकृतिकी सब सन्तान समान भाई हैं। इसमें कोई ज्येष्ठ और कोई कनिष्ठ नहीं। वे बड़े सौभाग्यकेलिए बड़े उत्साहसे कदमसे कदम मिलाकर आगे ही आगे बढ़े चले आरहे हैं, वह देखो माता सुदिन ला रही है'

'श्रीवेङ्कटेश्वर--समाचार' श्रीक्षेमराज-श्रीकृष्णदास जो पूर्णसनातन-धर्मी थे—का पत्र है, पर इस अर्थको 'देखकर प्रतीत होरहा है कि—इसमें कोई अपनेको सनातनधर्मी कहनेवाला सुधारक अन्दर छिपा हुआ है। 'भारतीय-धर्मशास्त्र' में उसके प्रणेता श्रीशाण्डिल्यजी तथा अन्य आर्य-समाजी भी उक्त मन्त्र तथा 'ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा विवावृधुः। सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो मर्या आ नो अच्छा जिगातन' (ऋ. ५।५९।६) यह मन्त्र देकर और 'मनुष्यरूपा वा मरुतः' (ऋ. १०।७७।२) यह श्रीसायणीयवाक्य आधृत करके उक्त मरुत्सूक्तके मन्त्रोंको मानवमात्रपरक लगाते हैं। इससे वे मनुष्योंमें उच्चनीचताका अभाव और अन्त्यजोंमें अस्पृश्यताका अभाव भी सिद्ध किया करते हैं। कई अपने आपको सनातनी कहनेवाले भी इसी आशयको कहते हैं। परप्रत्ययनेय-बुद्धिवाली साधारण जनता भी इस अर्थके पक्षकी है। हम

भी यहांपर विचार करते हैं कि--क्या यहां यही अर्थ है ?

(२) वस्तुतः जो व्यक्ति उक्त मन्त्रको प्रमाणित करके मानवोंमें उच्चनीचताका अभाव वैदिक मानते हैं; वे आपाततोदर्शी तथा भ्रान्त हैं। 'ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुः ते स्कम्भमनुसंविदुः' (अथर्व. १०।७।१७) 'भूतानां ब्रह्मा (ब्राह्मणः) प्रथमोत जज्ञे, तेनार्हति ब्रह्मणा (ब्राह्मणेन) स्पर्धितुं कः' (अथ. १९।२२।३०) 'मुखं कृत्वा ब्राह्मणम्' (अ. १२।५।२०) 'ब्राह्मणोऽधिपतिः' (अ. १२।५।४) 'यस्मिन् ब्रह्मा (ब्राह्मणः) राजनि पूर्व एति' (ऋसं. ४।५०।८) 'यावतीर्वै देवताः; ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति। तस्माद् ब्राह्मणेभ्यो वेदविद्भ्यो दिवे-दिवे नमस्कुर्यात्' (कृ.य. तैत्तिरीयारण्यक २।१५ (१) इन सब वेद-वचनोंमें ब्राह्मणको ज्येष्ठ माना गया है। 'यो दासं वर्णमधरं गुहाऽकः' (अथर्व. २०।३४।४) 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' (यजुर्वेदमाध्यं. ३१।११) इत्यादिमन्त्रोंमें शूद्रकी कनिष्ठता (निम्नता) बताई गई है।

यह नहीं हो सकता कि—वेद एक स्थलपर तो वर्णोंका ज्येष्ठ-कनिष्ठभाव लिख दे; और दूसरे स्थान उनकी ज्येष्ठ-कनिष्ठता निषिद्ध करके उनको समान बता दे। फिर तो व्याघात होजानेसे वेदका ही अप्रामाण्य प्रसक्त होजाएगा। तब इन मन्त्रोंके व्याकोपवश 'अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते' इस मन्त्रमें भी मानवीय साम्यवाद इष्ट नहीं है।

'इस प्रकार भी तो वेदमें विरोध होगा' यह वादी कह सकता है कि—'आपके दिये मन्त्रोंमें ब्राह्मणादिकी श्रेष्ठता और शूद्रादिकी अधरता है, और हमसे दिये मन्त्रमें सभी वर्णोंका साम्यवाद है' इसपर हम यह कहते हैं कि-वादीके दिये मन्त्र उसके अभिमतको सिद्ध नहीं करते, क्योंकि-उक्त मन्त्रके 'मानवा देवताः' नहीं हैं, जिससे उक्त मन्त्रोंका मानवीय-साम्यवाद अर्थ हो; किन्तु इस मन्त्रके 'मरुत् देवताः हैं। वेदमन्त्रोंके अर्थ अपनी इच्छानुसार नहीं हुआ करते, किन्तु देवताके अनुसार ही हुआ करते हैं। 'देवता' का 'मन्त्रका प्रतिपाद्य विषय' यह अर्थ वादी भी स्वीकार करते

हैं। 'अज्येष्ठासः' इस मन्त्रके अन्तमें 'मरुद्भ्यः' यह पद प्रत्यक्ष ही है। इसलिए वैदिकयन्त्रालय (अजमेर) से प्रकाशित ऋग्वेदसंहितामें भी उक्त मन्त्रके 'मरुतो देवताः' कहे गये हैं।

(३) मरुत् देवविशेष होते हैं, मनुष्य नहीं। 'मरुतो देवताः' (यजुः माध्यं. १४।२०) इस मन्त्रमें मरुत् देवता कहे गये हैं। 'इन्द्रज्येष्ठा मरुद्गणा देवासः' (ऋ. २।४१।१५) 'देवाः!···मरुतः' (ऋ. १०।७८।८) यहां भी मरुतोंका 'देवासः' वा 'देवाः' यह विशेषण है; और उन्हें देवाधिपति इन्द्रका कनिष्ठ भ्राता कहा गया है; इसलिए उनका देवता होना निर्भ्रान्त है। यहांपर इन्द्रको मरुतोंका ज्येष्ठ कहा गया है, तब वे स्वयं भी इन्द्रसे कनिष्ठ होगये। यदि वादियोंके अनुसार उनमें ज्येष्ठ-कनिष्ठभाव न माना जावे; तब वादियोंके पक्षका इस मन्त्रसे विरोध होजायगा; और स्वयं ही उनका पक्ष कट जावेगा। तब वादिप्रोक्त अर्थ अशुद्ध होगया।

निरुक्तमें भी स्पष्ट कहा गया है—'अथातो मध्यस्थाना देवगणाः, तेषां मरुतः प्रथमगामिनो भवन्ति' (११।१३।१-२) यहांपर श्रीदुर्गाचार्यने भी लिखा है--'सप्त-सप्तका देवगणा मारुतेषु गणेषु···सप्तविधवायुविचारिणो मारीचात् कश्यपाद् अदित्यां ये जज्ञिरे' इस प्रकार मरुतोंका मनुष्यत्व खण्डित होगया, अदितिके लड़के होनेसे मरुत् आदित्य (देवता) सिद्ध होगये। मरुत्-सूक्तोंकी विस्तृत विवेचना अग्रिम पुष्पमें होगी।

उक्त मन्त्रमें मरुतोंका पिता रुद्र कहा गया है। इसकी साक्षी अन्य मन्त्रोंमें भी देखी जा सकती है। जैसे कि—'विद्मा हि रुद्रियाणां शुष्ममुग्रं मरुताम्' (ऋ. ८।२०।३) यहाँ मरुतोंको 'रुद्रिय' (रुद्रपुत्र) कहा है। इस प्रकार 'रुद्रस्य ये मीढुषः सन्ति पुत्राः' (ऋ. ६।६६।३) मरुत् देवतावाले सूक्तमें भी यह स्पष्ट है। 'पितः! मरुतां रुद्र!' (ऋ. २।३३।१) इन मन्त्रोंमें मरुतोंको रुद्रका पुत्र कहा है। ऋसं. १।११४।६ मन्त्रके सायणभाष्यमें इस विषयमें एक आख्यायिका भी देखी जा सकती है। इस प्रकार अन्यभाष्योंमें भी। तब उक्त मन्त्रमें भी रुद्रको मरुतोंका पिता

स्वीकार करनेसे मरुत् देवविशेष इष्ट हुए, मानव नहीं। क्योंकि-मानवोंका वेदमें—रुद्रसे पितृत्वसम्बन्धविशेष नहीं बताया गया है।

'ततश्च आगच्छति मध्यस्थाना देवता रुद्रश्च, मरुतश्च' (७।२३।२) यहांपर रुद्रको भी निरुक्तकारने मध्यस्थामी देवता माना है और मरुतोंको भी। दोनोंका जन्यजनकभाव 'आ ते पितर्मरुतां···रुद्र !' (ऋ. २।३३।१) इस मन्त्रमें स्पष्ट है। मानवके पृथ्वीलोकवासी तथा अदेव होनेसे मध्य-स्थान (अन्तरिक्षलोक) के रुद्र देवताके साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं। अतः मरुतोंका मानवत्व भी असिद्ध होगया।

इसके अतिरिक्त उक्त-सूक्तमें 'वो भिया पृथिवीचिद् रेजते (कम्पते) पर्वतश्चित्' (ऋ. ५।६०।२) इत्यादि मन्त्रोंमें मरुतोंके भयसे पृथिवी और पर्वतोंका भी कांपना कहनेसे वैसे पराक्रमवाले मरुतोंका देवविशेषत्व सिद्ध हो गया। मानवोंका ऐसा वर्णन न होनेसे उनका वर्णन यह सिद्ध न हुआ। तब इससे मानवोंका साम्यवाद भी सिद्ध न हुआ। 'अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेषु असमा बभूवुः' (ऋ. १०।७१।७) 'समौ चिद् हस्तौ न समं विविष्टः, संमातरौ चिद् न समं दुहाते। यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि, ज्ञाती चित् सन्तौ न समं पृणीतः' (१०।११७।९) इत्यादि मन्त्रद्वारा मानवोंमें असमता सिद्ध होती है, साम्यवाद नहीं।

(४) इस मन्त्रके देनेवाले ही सुधारक लोग 'नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च' (यजुः माध्यं. १६।३२) इस मन्त्रको भी छोटे-बड़ोंके नमस्कार करनेकेलिए दिया करते हैं। जबकि-उनके मतमें सभी मनुष्य वेदानुसार अज्येष्ठ और अकनिष्ठ हैं; और वेदमें 'नमो ज्येष्ठाय च कनि-ष्ठाय च' यह ज्येष्ठ-कनिष्ठवाद कहा गया है; उन्हीं मरुतोंको 'अश्वासो न ज्येष्ठासः' (ऋ. १०।७८।५) में 'ज्येष्ठ' भी कहा है; तब तो वेदमें परस्परविरोध (व्याघात) उपस्थित होजानेसे 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघात-पुनरुक्तेभ्यः' (न्याय. २।१।५७) उसकी अप्रमाणताका प्रसङ्ग होजावेगा। यदि वेदमें विरोध नहीं है; तब उक्त-मन्त्रोंका वादियोंसे अभिमत अर्थ

भी असिद्ध ही है। फलतः 'अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते' इस मन्त्रमें मरुतोंका ही वर्णन इष्ट है, मानवोंका नहीं। तब मानवोंमें ज्येष्ठ-कनिष्ठ-भाव तो सिद्ध हो ही गया।

(५) इसके अतिरिक्त वेदमें 'उत शूद्रे उत आर्ये' (अथर्व. १९।६२।१) यहांपर शूद्रको आर्यसे भिन्न होनेसे अनार्य कहा गया है। और ब्राह्मणादि-द्विजोंको 'आर्य' कहा गया है। तब भी ब्राह्मण आर्य होनेसे श्रेष्ठ हुआ, शूद्र आर्य न होनेसे कनिष्ठ बना। इस प्रकार वेदमें मनुष्योंमें ज्येष्ठ-कनिष्ठभाव सिद्ध हुआ। तब 'अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते' में अज्येष्ठता--अकनिष्ठता बतानेवाला यह मन्त्र मानवविषयक सिद्ध न हुआ। तब वादीका पक्ष खण्डित होगया। मानवमें साम्यवाद असिद्ध हो गया। मरुतोंकेलिए कहे हुए 'नरः' का 'नेतारः' अर्थ है, 'मानवाः' नहीं।

(६) 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्···पद्भ्यां शूद्रो अजायत' (यजुः माध्यं. ३१।११) इत्यादि मन्त्रोंमें ब्राह्मणकी मुखोत्पत्तिसे वा वादियोंके अनुसार मुखसदृशता होनेसे मुख्यता, तथा मेध्यता, तथा शूद्रकी पांवसे उत्पत्ति होनेसे वादियोंके अनुसार पादसदृशता होनेसे नीचता वा अमेध्यता जन्मसे कही गई है। मनुस्मृतिमें भी मुख आदि अङ्गोंकेलिए कहा है—'ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः। यान्यधस्ताद् अमेध्यानि' (५।१३२) (नाभिसे ऊपरकी मुख आदि इन्द्रियां तो मेध्य (शुद्ध) होती हैं, और नीचेकी अमेध्य।) ताण्ड्यमहाब्राह्मणमें भी कहा है—'तस्मान्मुखं ब्राह्मणो मनुष्याणाम्।···मुखतो हि सृष्टः' (६।१।६) कृ. य. तैत्तिरीय सं. में भी कहा है—'तस्माद् ते (ब्राह्मणाः) मुख्याः, मुखतो हि असृज्यन्त' (७।१।१।४)। 'पत्तः (पादतः) शूद्रो मनुष्याणाम्, तस्मात् शूद्रो यज्ञेऽ-नवक्लृप्तः' (७।१।१।६) 'पत्त एव शूद्रो मनुष्यः तस्मात् शूद्रोऽयज्ञियः' (ताण्ड्य. ६।१।१०) इन वचनोंमें ब्राह्मणको उत्कृष्ट, शूद्रको निकृष्ट कहकर वेदमें मनुष्योंका साम्यवाद काट दिया गया है।

मनुस्मृतिमें भी कहा है—'तं (ब्राह्मणं) हि स्वयम्भूः स्वाद् आस्यात

(मुखात्) तपः तप्त्वाऽऽदितोऽसृजत्' (१।९४) यहांपर 'ब्राह्मणको सबसे पूर्व बनाया' इस कथनसे ब्राह्मणकी ज्येष्ठता एवं श्रेष्ठता बताई गई है। तभी ब्राह्मणके रूप मुखका जन्म प्रसवसमयमें पहले ही होता है, शूद्र-स्थानीय पैरोंका जन्म पीछे ही होता है। यदि पहले शूद्रस्थानीय पांवका जन्म हो; तो माताके मरनेका डर रहता है; तब मुखके पांवसे अग्रज होनेसे मुख और पांवमें ज्येष्ठकनिष्ठभाव भी जन्मसे ही सिद्ध हुआ।

अब भी जो माता-पितासे सबसे पूर्व जन्म लेता है, उसे ही ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ माना जाता है। वह पीछेसे उत्पन्न हुओंसे पूजनीय होता है। इस प्रकार ब्राह्मण भी ब्रह्माद्वारा सबसे पूर्व उत्पन्न होनेसे ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ है; और शूद्र अन्तमें पांव द्वारा उत्पन्न होनेसे कनिष्ठ एवं निकृष्ट सिद्ध हुआ। इसीलिए मनुस्मृतिमें अन्य पद्यमें भी यही कहा है—'उत्तमाङ्गोद्भवाद् (मुखसे उत्पन्न होनेसे) ज्यैष्ठ्याद् (सर्वादिमें उत्पन्न होनेसे) ब्रह्मणश्चैव धारणाद्। सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः। (१।९३)

मनु (१।३१) पद्यके भाष्यमें ब्राह्मणके मुखज और शूद्रके पादज होनेमें श्रीमेधातिथिने लिखा है—'परमार्थतः स्तुतिरेषा वर्णानामुत्कर्षापकर्ष-प्रदर्शनार्थम्। सर्वेषां भूतानां प्रजापतिः श्रेष्ठः। तस्यापि सर्वेषामङ्गानां मुखम्—[श्रेष्ठम्]। ब्राह्मणोपि सर्वेषां वर्णानां प्रशस्यतमः। शूद्रस्य पादकर्म शुश्रूषा'। शूद्रके अधर (निम्न) होनेसे मनुस्मृतिमें राजा न होनेपर 'प्रवर्तेताऽधरोत्तरम्' (७।२१) में अधर (निकृष्ट) से शूद्र, और उत्तर (श्रेष्ठ) से ब्राह्मण इष्ट हैं। इसलिए यहां मेधातिथिने कहा है—'यद् अधरं—वृषलादि, तद् उत्तरं प्रधानं स्यात्। यद् उत्तरं—ब्राह्मणादि, तद् अधरतां-निकृष्टतामियात्। शूद्रा धर्ममुपदिशेयुः, वैदिको धर्मो नानुष्ठीयेत'। कुल्लूकभट्टने भी यही लिखा है—'ब्राह्मणादिवर्णानां मध्ये यद् अधरं शूद्रादि, तदेव उत्तरं प्रधानं प्रावर्तिष्यत'। इस प्रकार शूद्रकी निकृष्टता और ब्राह्मणकी उत्कृष्टता सिद्ध हुई। इसी तरह मनुके ८।२८१ पद्यमें भी 'उत्कृष्टस्य अपकृष्टजः' यहांपर 'उत्कृष्ट' शब्दसे ब्राह्मण, और 'अपकृष्टज' शब्दसे

शूद्र इष्ट है। वहांपर अपकृष्टजका उत्कृष्टके आसनके ग्रहणमें दण्ड कहा है। तब साम्यवादका निराकरण हो गया।

मनुस्मृतिमें ब्राह्मणकी श्रेष्ठतामें अन्य भी उपपत्ति दी गई है—'ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः। तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयम्भुवा' (१।९२) यहां पुरुषके मुखको मुख्य, मेध्यतम (अत्यन्त पवित्र) एवं श्रेष्ठ माना गया है। भुजाको नाभिसे ऊंची होनेसे मेध्यतर कहा गया है। यह क्षत्रिय है। इस प्रकार ऊरु नाभिसे नीचेका होनेसे मेध्य सूचित किया गया है। यह वैश्यका भाग है। पांव सबसे निम्न होनेसे अमेध्य (अशुद्ध, निम्न) सूचित किया गया है। इस प्रकार मनुस्मृति (५।१३२ पद्य) में परमात्माके मुखोत्पन्न ब्राह्मणकी मुख्यता, तथा भुजोद्भूत क्षत्रियकी उससे निकृष्टता, वैश्यकी जघनोत्पत्ति होनेसे उससे निम्नता, शूद्रके पादज होनेसे सबसे अप (नि) कृष्टता सिद्ध हुई।

यह ठीक भी है; क्योंकि-त्रिगुणात्मक-संसारमें शूद्र तमोगुणसे पूर्वजन्म-कर्मानुसार बनाया गया है; इस कारण तमोगुणके काला कहे जानेसे उसे भी 'कृष्णजातीय' (निरुक्त १२।१३।२) 'कृष्णवर्ण' (वसिष्ठस्मृति १८।१६) कहा जाता है। इसलिए महाभारत (शान्ति. १८८।१३) में भी शूद्रोंको 'कृष्ण' कहा गया है, और ब्राह्मणोंको सत्त्वगुणोत्पत्तिवश शुक्ल कहा गया है, और महाभाष्यमें 'गौर' (२।२।६) कहा गया है। इसलिए आपस्तम्बधर्मसूत्रमें शूद्रको जघन्यवर्ण (२।११।१०-११) कहा गया है। और ब्राह्मणको 'पूर्व (ज्येष्ठ)' वर्ण कहा गया है। छान्दोग्योपनिषद् (५।१०।७) में भी शूद्रको कपूय (कुत्सित) योनि, और ब्राह्मणादिको रमणीय (श्रेष्ठ) योनि कहा गया है। इस कारण मनुष्योंमें ज्येष्ठ-कनिष्ठता होनेसे उनका साम्यवाद (अज्येष्ठता, अकनिष्ठता) कट गया।

यह ज्येष्ठता, कनिष्ठता तो जन्मसे है। गुणसे ज्येष्ठता-कनिष्ठता तो इससे भिन्न है। तब 'अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते' (ऋ. ५।६०।५) यह मन्त्र 'मरुतो देवताः' वाला होनेसे विशेष-देवताओंकेलिए सिद्ध हुआ,

मनुष्योंकेलिए नहीं। मरुत् ४९ संख्यावाले होते हैं, और इकट्ठे ही उत्पन्न होनेसे परस्पर ज्येष्ठ-कनिष्ठ नहीं हैं--यही आक्षिप्त मन्त्रमें कहा है, इससे मानवीय-साम्यवाद नहीं कहा जा रहा।

(७) इसी कारण शतपथब्राह्मणमें कहा गया है—'सप्त-सप्त (७×७=४९) हि मारुतो गणः' (२।५।१।१३) यहांपर मरुतोंकी ४९ संख्या कही गई है। 'मरुतो देवताः' (यजुः माध्यं. १४।२०) यहांपर मरुतोंको देवता कहा गया है। सर्वे देवा अग्रे सदृशा आसुः' (शत. ४।५।४।१) यहांपर भी देवताओंका आपसमें सादृश्य कहा है। विशेषकरके मरुत्-देवता तो इकट्ठे उत्पन्न होनेसे आपसमें सदृश थे-यही 'अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते' (ऋ. ५।६०।५)में सूचित किया गया है।

इस विषयमें स्पष्टता 'बृहद्देवता' के पञ्चमाध्यायमें की गई है। देखिये—

'इत्यरण्ये चिरयतः प्रादुरासीद् मरुद्गणः। ददर्श संस्थितान् पार्श्वे तुल्यरूपान् महात्मनः' (५।६६) समानवयसश्चैव मरुतो रुक्मवक्षसः। तान् तुल्यवयसो दृष्ट्वा देवान् पुरुषविग्रहान्' (५।६७) ततः स मरुतो देवान् रुद्रपुत्रान् अबुध्यत' (६८) यहांपर मरुतोंको तुल्य आयु और तुल्यरूपवाला पुरुषों-जैसी आकृतिवाला देवता बताया गया है। इसी प्रकार 'सर्वानुक्रमणी' की टीका 'वेदार्थदीपिका' में षड्गुरुशिष्यने भी कहा है (५।६१।१९-२०-२१) उसमें प्रकृतोपयुक्त पद्य नीतिमञ्जरीमें उद्धृत किया गया है--'न ज्येष्ठता नापि कनिष्ठतैषां वेषो वयश्चैव समानमेषाम्'।

सो इसी तुल्यरूपता और तुल्योत्पत्ति एवं तुल्यवयस्कता आदिके कारण ही उन मरुतोंको वादियोंसे उपक्षिप्त मन्त्रमें 'अज्येष्ठाः, अकनिष्ठाः' कहा गया है, सर्वसाधारणतासे नहीं। उक्त मन्त्र मरुद्देवतावाचक है, इस मन्त्रका मनुष्योंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए इसके भाष्यमें श्रीसायणाचार्यने कहा है-'अज्येष्ठासः, अकनिष्ठासः—परस्परं ज्येष्ठ-कनिष्ठत्वभावरहिताः, सहैव उत्पन्नाः समानबला एते मरुतो भ्रातरः-

परस्परं भ्रातृभूताः सन्तः सौभगाय-सुभगत्वाय संववृधुः--वर्धन्ते। युवा-नित्यंतरुणः, स्वपाः--शोभनकर्मा, एषां-मरुतां रुद्रः पिता। सुदुघा-सुष्ठु दोग्ध्री, पृश्निः-गोदेवता मातृभूता, मरुद्भ्यः--मरुदर्थं सुदिना-शोभनदिनानि अकुरुताम्'।

इस प्रकार 'अज्येष्ठाः, अकनिष्ठासः' यह मन्त्र ४९ मरुतोंकेलिए सिद्ध हुआ; सर्वसाधारण-मनुष्योंकेलिए नहीं। उत्तरार्धमें 'सुजातासो जनुषा' का अर्थ 'भारतीयधर्मशास्त्र' में श्रीशाण्डिल्यजीद्वारा 'सब मनुष्य जन्मसे पवित्र हैं' जो यह अर्थ किया गया है; यह मरुतोंकेलिए तो ठीक है, मनुष्योंकेलिए नहीं। यदि मरुत् मनुष्य होते, तो उन्हें 'मर्या इव' (ऋ. ५।५९।५) यह उपमा न दी जाती। क्योंकि—मनुष्योंको मनुष्यकी उपमा व्यर्थ है। 'स्वा. द. मनुष्यकी तरह हैं' इस वाक्यका प्रयोग कोई भी नहीं करता। 'वानर मनुष्योंकी भांति हैं' यह तो प्रयोग हो सकता है। क्योंकि—उपमा उपमेयसे भिन्न होनेपर उसके विवक्षित धर्मोंकी सरूपतामें हुआ करती है। इस प्रकार उपमासे उपमान-उपमेयका भेद ही सिद्ध होता है। 'देवदत्त यज्ञदत्तकी तरह है' इस उपमान-वाक्यमें देवदत्त-यज्ञदत्तकी परस्पर भिन्नता ही प्रतिफलित होती है। तब 'मरुत् मनुष्योंकी तरह हैं' ऐसा कहनेसे मरुतोंकी मनुष्योंसे भिन्नता सिद्ध हो जाती है।

(८) इसी तरह 'मनुष्यरूपा वा मरुतः' इस सायणीय-वचनसे 'देवान् पुरुषविग्रहान्' (५।६७) इस 'बृहद्देवता' के वचनसे भी मरुतोंका मनुष्यत्व खण्डित हो जाता है, क्योंकि--मनुष्योंको मनुष्यरूप अथवा पुरुषशरीरवाला कहना असाभिप्राय हो जाता है। तब उनको मनुष्योंसे भिन्न देवता माननेपर मनुष्य-सदृशता चरितार्थ हो जाती है। जहां सायणने 'मरुतोंको मनुष्यरूप' बताया है, वहीं यह भी लिखा है—'पूर्वं' मनुष्याः—सन्तः पश्चात् सुकृतविशेषेण ह्यमरा आसन्' (ऋ. १०।७७।२) इस पाठको वादी छिपा देते हैं। इसका आशय यह है कि—मरुत् पहले जन्ममें

मनुष्य थे; फिर बहुत पुण्य करनेसे दूसरे जन्ममें देवता आ कर बने। तभी तो इस जन्ममें उन्हें सायणने 'दिवः—द्युदेवतायाः पुत्रासः--पुत्राः' (ऋ. १०।७७।२)—वेदानुसार द्युदेवताका पुत्र लिखा है। मनुष्य द्युके पुत्र न होकर पृथिवीके पुत्र होते हैं'। सो वे मनुष्य न होकर देवता हुए। तब देवपरक मन्त्रको मनुष्यमें लगाना वादियोंका छल है। मनुष्यसदृशता, मरुतोंकी मान भी ली जाय; तथापि सादृश्यमें भी सभी धर्म समान नहीं हो जाते। 'चन्द्र इव मुखम्' कहनेपर मुखके विवक्षित-धर्म आह्लादको छोड़कर मुखको चन्द्रमाके समान परिमाणवाला बना देना सङ्गत नहीं हो जाता, क्योंकि—वह असम्भव है। इस प्रकार यहांपर भी मरुतोंकी मनुष्यसदृशता पुरुष-जैसे शरीर कहनेमें विश्रान्त है, पर उसमें सर्वसारूप्य कभी भी नहीं हो सकता। नहीं तो मनुष्योंके मरणधर्मा होनेसे, ४९ संख्यावाले अमर-मरुतोंकी मरणधर्मता होजानेसे वे अनित्य भी हो जावें। तब तो उनकी स्तुतिमें लगा हुआ वेद भी अनित्य-संयोगवश मीमांसानुसार आदिमान् होकर पौरुषेय और अप्रमाण हो जावे।

इसके अतिरिक्त यहां मरुत् मनुष्योंकी भान्ति बताये गये हैं, मनुष्य मरुतोंकी तरह नहीं बताये गये। तब मरुतोंका धर्म मनुष्योंमें कैसे सङ्गत हो सके? मनुष्योंमें चारों वर्णोंकी उत्कृष्टता-अपकृष्टता प्रत्यक्ष है; परन्तु ४९ मरुत् तो इकट्ठे ही उत्पन्न होनेसे, वेदने उनको तुल्यवयस्क एवं तुल्यरूप बताया है। वह मनुष्योंमें नहीं घट सकता। मनुष्य ४९ संख्यावाले कहीं नहीं कहे गये। इकट्ठे भी पैदा हुए मनुष्योंमें तुल्यरूपता नहीं होती। तब मरुत्सूक्तके मन्त्रोंका मनुष्यपरक-अर्थ करना वादियोंका आहोपुरुषिकतामात्र है। आधिभौतिक-अर्थ स्वीकृत करनेपर भी वहां मरुतोंका भौतिक वायुका ही अर्थ करना पड़ेगा, मनुष्योंका नहीं। मरुत् आधिभौतिक अर्थमें मनुष्य हैं—इसमें कोई भी प्रमाण नहीं। तब 'भारतीय धर्मशास्त्र' में ऐसा अर्थ करनेका श्रीशाण्डिल्यजीका प्रयास जलसे माखन निकालनेकी तरह असम्भव है।

यदि उनका 'सुजातासो जनुषा' इस मरुतोंके मन्त्रांशका 'सभी मनुष्य जन्मसे पवित्र होते हैं' यह अर्थ माना जावे; तो 'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते' इस उनके सम्मत सिद्धान्त वा पद्यका भङ्ग भी हो जावेगा; क्योंकि-फिर जन्मसे पवित्र उनका पुनः पवित्रतार्थ जातकर्म-उपनयन संस्कार आदि करना सूर्यके आगे दीपक जलानेकी भान्ति व्यर्थ है। संस्कारोंका जन्मसे असंस्कृत (अशुद्ध) जनोंके संस्करण (शोधन) का ही प्रयोजन सर्वसम्मत है। पूर्वपद्यानुसार जन्मसे ही शूद्रत्व और संस्कारसे ही द्विजत्व होनेपर यहां 'सुजातासो-जनुषा' का श्रीशाण्डिल्यजी का अर्थ संगत नहीं होता, वहां शूद्रों और द्विजोंका उनसे अनिष्ट असाम्यवाद भी सिद्ध हो जाता है।

यदि श्रीशाण्डिल्यजी अपने साम्यवादके सिद्धान्तके भङ्गके डरसे 'जन्मना जायते शूद्रः' इस अपने सम्मत, परन्तु किसी भी स्मृतिके मूलमें न प्राप्त इस वचनको माननेका निषेध कर दें; तब 'शूद्रेण हि समस्तावद्-यावद् वेदे न जायते' (२।१७२) इस सर्वसम्मत मनुवचनके अनुसार उपनयनसे पूर्व त्रैवर्णिक-पुरुषोंके भी शूद्रसदृशतावश अपवित्र होनेसे 'सुजातासो जनुषा' का 'सब मनुष्य जन्मसे ही पवित्र होते हैं' यह श्रीशाण्डिल्यजीका अर्थ फिर भी अशुद्ध सिद्ध हो जावेगा। इस प्रकार शूद्र तथा द्विजोंका उनसे अनिष्ट असाम्यवाद भी सिद्ध हो जावेगा। 'भक्षितेपि लशुने न शान्तो व्याधिः' 'सेयमुभयतः-स्पाशा रज्जुः' इन न्यायोंकी यहांपर चरितार्थता हो जावेगी।

(९) अब 'ते अज्येष्ठा अकनिष्ठासः' (ऋ. ५।५९।६) मन्त्रका श्रीसायणाचार्यका वेदसम्मत अर्थ भी देखना चाहिये—'ते-मरुतः, अज्येष्ठाः, अकनिष्ठासः--अकनिष्ठाः, उद्भिदः--उद्भेदयितारः शत्रूणाम्, अमध्यमासः--अमध्यमाः, सर्वप्रकारैः समाः, महसा-तेजसा विवावृधुः। सुजातासः—सुष्ठु सम्भूताः, जनुषा-जन्मना, पृश्निमातरः—पृश्नेः पुत्राः,

*मर्याः--मनुष्येभ्यो हिताः यूयं दिवः सकाशाद्--नो अस्मान् अच्छ अभिमुखम् आजिगातन-सर्वतः प्रशंसत-'साधु अनुष्ठितम्' इति। उत्तरार्धः प्रत्यक्षकृतः [मध्यम-पुरुषत्वात्]। यद्वा-ये सुजाता जनुषा पृश्निमातरश्च, तान् दिव आगतान् ऋत्विजो मर्याः! यूयमाजिगातन-आगच्छत। ते नोऽच्छ आगच्छत अस्मदभिमुखम्'।

इस प्रकार यहां वादीसे इष्ट अर्थका गन्ध भी नहीं है। यहांपर प्रार्थना करनेवाले मनुष्य मरुत्-देवोंको प्रार्थित कर रहे हैं। द्युलोकमें मरुतोंकी स्थिति मरुतोंको मनुष्यसे भिन्न देवता बता रही है। 'दिवि देवाः' (अथर्व. ११।७।२७) 'द्यौर्वै सर्वेषां देवानामायतनम्' (शत. १४। ३।२।८) 'द्युस्थानो देवगणः' (निरु. १२।४१।१) इस वैदिक सिद्धान्तवश देवता द्युस्थानी हुआ करते हैं, और मनुष्य पृथिवीस्थानी। 'दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' (ऋसं. १०।१६०।३) इस मन्त्रमें द्युलोक और पृथिवीलोकको भिन्न-भिन्न दिखलाया गया है। तब वादियोंका मरुतोंका मनुष्य अर्थ करना वेदादिशास्त्रसे विरुद्ध ही है।

उक्त मन्त्रमें 'दिवः' का 'आजिगातन' क्रियासे सम्बन्ध है। 'दिवो मर्याः' इस प्रकार अन्वयमें भी 'स्वर्गीय-पुरुष' यही अर्थ है, उससे भी मरुत्-देवताओंका ग्रहण है, यहाँके मनुष्योंका नहीं; यहांके मनुष्योंकी पृथिवीलोकीयता ही है, द्युलोकीयता नहीं। वास्तवमें 'दिवो मर्याः' जो कि मरुत् कहे जाते हैं, उसका कारण उनकी द्युलोकसे उत्पत्ति ही है। जैसे कि--'ते जज्ञिरे दिवः' (ऋ. १।६४।२) इस मन्त्रमें मरुत् देवता हैं। अथवा-'मर्याः' शब्द 'पुत्र' वाचक भी है। जैसेकि--ऋ. १।६४।२ मन्त्रके भाष्यमें श्रीसायणने कहा है--'मर्य'-शब्दो 'मनुष्य'वाची। इह मरुतां मर्त्यत्वाऽसम्भवात् 'पुत्राः' इत्यस्मिन्नर्थे पर्यवस्यति'। (अर्थात्-मरुतोंकी

*यहांपर 'मर्य' शब्दको 'हित' अर्थमें 'यत्' (पा. २।१।५) प्रत्यय करनेपर 'हलो यमां यमि लोपः' (पा. ८।४।६४) से पूर्व यकारका लोप हो जावेगा।

मनुष्यता असम्भव है; अतः यहां उसका अर्थ 'पुत्र' है)।

श्रीसायणका यह कथन निराधार भी नहीं है, किन्तु वेदमूलक ही है; क्योंकि--वेदमें मरुतोंको द्युका पुत्र कहा है। जैसेकि--'दिवस्पुत्रासः' (ऋ. १०।७७।२) मरुत्-देवतावाले इस मन्त्रमें मरुतोंको 'द्युलोकका पुत्र' कहा है। 'दिवः' यह षष्ठ्यन्त है,। उसी 'दिवः' का 'पुत्राः' से योग होनेपर विसर्गोंको 'षष्ठ्याः पति-पुत्र--' (पा. ८।३।५३) यह 'स' होनेपर 'आज्जसेरसुक्' (पा. ७।१।५०) जसको असुक्का आगम होनेपर 'दिवस्पुत्रासः' सिद्ध होता है। 'मर्याः' यह निरुक्त (४।२।१) के अनुसार 'मर्यादा' का नाम भी है। तब 'द्युलोककी मर्यादाके पालक पुत्र' यह अर्थ भी हो जाता है। तब 'सभी मनुष्य दिवो मर्याः--स्वर्गीय मनुष्य हैं अर्थात् बाल्यावस्थामें सभी प्राकृतिक रूपसे दिव्य विचारोंवाले होते हैं; तब उनमें कोई पारस्परिक वैषम्य नहीं होता। सभी एक-दूसरेके हाथका खाते हैं, परन्तु ज्यों-ज्यों बड़े होते जाते हैं, त्यों-त्यों एक-दूसरेसे घृणा करने लग जाते हैं; पर जन्मसे अवश्य सभी 'दिवो मर्याः' हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं' यह श्रीशाण्डिल्यजीका अर्थ कल्पनामात्र एवं खण्डित होगया।

(१०) इसके अतिरिक्त इस अर्थसे श्रीशाण्डिल्यजीका अपना पक्ष भी खण्डित होता है; क्योंकि-बाल्यावस्थामें होनेवाला साम्यवाद और एक-दूसरेका जूठा खाना बाल्य-मूलक है; और बाल्य अज्ञानावस्था होता है, यह सर्वसम्मत है। उनका असाम्यवाद ज्ञानकालका है; क्योंकि-ज्ञान हो जानेपर ही तो वे एक-दूसरेका जूठा नहीं खाते। जूठा पानी तक नहीं पीते। तब यह साम्यवाद मानवीय सिद्ध न होकर अज्ञानकालीन अथवा अव्यावहारिक सिद्ध हुआ; और असाम्यवाद ही मानवीय और उनका ज्ञानकालीन सिद्ध हुआ--इस प्रकार श्रीशाण्डिल्यजीकी अपनी ही युक्तिसे उन्हींका खण्डन होगया। क्योंकि--जब बच्चा पैदा होता है, वह पूर्ण नहीं होता; और शुद्ध भी नहीं होता। उसकी शुद्ध्यर्थ तथा पूर्णतार्थ उसके संस्कार करने पड़ते हैं।

जोकि कहा जाता है कि--'बच्चा निर्दोष होता है, सफेद वस्त्रकी तरह निर्मल होता है, संसारमें आकर ही वह दोषोंको सीखता है' यह ठीक नहीं। यह वैदिक-सिद्धान्त नहीं है। ईसाई और मुसलमान बच्चोंको निर्दोष इसलिए कहते हैं कि--वे पूर्वजन्ममें विश्वास नहीं करते। वे मानते हैं कि--'ईश्वर जीवको बनाता है; इसलिए वह शुद्ध होता है'। पर यह सिद्धान्त ठीक नहीं। बालक शारीरिक, वाचिक, मानसिक और आत्मिक दृष्टियोंसे पूर्ण नहीं होता, और न शुद्ध ही होता है। इसी त्रुटिको दूर करनेकेलिए ही तो उसके १६ संस्कार करने पड़ते हैं। पूर्वजन्मके कर्मोंसे जीव जिस-जिस योनिको प्राप्त होता है, उसीके अनुसार शुद्ध वा अशुद्ध होता है। ऐहिकके संशोधनार्थ उसके दोषमार्जक और गुणाधायक संस्कार करने पड़ते हैं। संस्कार है ही दोषनिराकरणका तथा अतिशयाधानका नाम। पूर्वजन्मकर्ममूलक अशुद्धताका संशोधन तो उसका शरीरस्थिति तक कभी नहीं होसकता। तभी उसके पूर्वजन्ममूलक शुद्ध पुरुषके समान सब अधिकार नहीं होते। इसलिए साम्यवाद वैदिक सिद्ध नहीं होता। तब पूर्वजन्मके कर्मोंकी विचित्रतावश ऐहिक जन्ममें हुए-हुए वर्ण, समान-व्यवहारके अधिकारी नहीं हुआ करते। इस कारण साम्यवाद अवैदिक ही है। अस्तु।

वस्तुत: पूर्व कही हुई रीतिसे 'दिवो मर्याः' का 'द्यु लोकके पुत्र' यही अर्थ है। अथवा--'मर्येभ्यो हिताः' मनुष्योंकेलिए हितकारक--इस अर्थमें 'तस्मै हितम्' (पा. ५।१।५) सूत्रसे 'यत्' प्रत्यय होता है। 'हलो यमां यमि लोपः' (पा. ८।४।६४) से 'य' का लोप हो जाता है। 'दिवः-द्यु लोकसे आजिगातन-आओ' यह अन्वय है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। द्युलोकके पुत्र होनेसे ही मरुतोंको उक्त (ऋ. ५।५९।६) मन्त्रमें 'पृश्निमातरः' कहा गया है। यहांपर श्रीशाण्डिल्यजीका 'प्रकृतिके पुत्र' यह अर्थ करना भी ठीक नहीं है। प्रकृतिके पुत्र तो देवता भी होते हैं, पशु भी। तब यदि मरुतोंको मनुष्य माना जावे; तब उसमें 'प्रकृतिपुत्राः' यह उनका विशेषण असाभिप्राय ही हो जाता है; पर हमारे मतमें तो मरुतोंको देवता बतानेकेलिए यह विशेषण साभिप्राय ही है। 'पृश्निमातरः' का भी अर्थ 'दिवस्पुत्रासः' के समान है। 'पृश्निः--द्यौः माता-जननी येषां ते पृश्निमातरः' यह अर्थ है। यहां बहुव्रीहि-समासमें 'नद्यृतश्च' (पा. ५।४।१५३) सूत्रसे समासान्त 'कप्' प्रत्यय प्राप्त होनेपर 'ऋत- श्छन्दसि' (पा. ५।४।१५८) इससे उसका निषेध हो गया।

'पृश्नि' शब्दका निरुक्त (२।१४।२) तथा निघण्टु (१।४) के अनुसार 'द्यु लोक' अर्थ है। क्योंकि--'पृश्नि' आदि छः नाम द्यु लोक और सूर्यके साधारण (समान) नाम हैं; तब यहां द्यु लोक ही अर्थ प्राकरणिक है। तब मरुतोंके द्यु लोकके पुत्र होने से (जैसा कि हम पहले दिखला चुके हैं) पृश्नि-द्यु लोक ही मरुतोंकी माता कही गई है। 'दिव्' शब्द स्त्रीलिङ्गान्त है, उसका पर्यायवाचक 'पृश्नि' भी, यह नहीं भूलना चाहिए। तब स्त्रीलिङ्गान्त 'द्यौः, वा पृश्नि' मरुतोंकी माता सिद्ध हुई, जैसा वेदमन्त्रमें कहा गया है। 'पृश्नि' यह प्रकृतिका नाम है--'यह श्रीशाण्डिल्यजीने किसी भी प्रमाणसे नहीं बताया; अतः वह अर्थ भी ठीक नहीं। इसीलिए 'अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते' इस वादिदत्त मन्त्रके उत्तरार्धमें ३य पादमें 'युवा पिता स्वपा रुद्र एषां' यहां मरुतोंका पिता रुद्र कहा गया है, और चतुर्थपादमें 'सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः' यहां पर पृश्निः को मरुतोंकेलिए 'सुदुघा'-खूब दूध देने वाली (माता) कहा गया है।

इससे आक्षिप्त मन्त्रमें मानवोंका साम्यवाद सिद्ध न हुआ, किन्तु समानरूप और समान वयवाले देवविशेष--मरुतोंकी ही आपसमें समता दिखलाई गई है। उक्त मन्त्रके ही साथ वाले मन्त्र (ऋ.५।६०।६) में 'मरुत उत्तम, मध्यम और अवम (निम्न) द्युलोकमें स्थित कहे गये हैं। तब उनकी आयु-में अज्येष्ठता, अकनिष्ठता होने पर भी स्थान-विशेषमें स्थितिके कारण उत्तमता, मध्यमता और अधमता भी दिखलाई गई है। तब 'मरुत्' शब्द सेमनुष्य अर्थ करनेमें श्रीशाण्डिल्यजीसे दिखलाया हुआ साम्यवाद कैसे

सिद्ध हो सकता है ? यदि मानव भी उक्त मन्त्रसे उत्तम, मध्यम, अधम सिद्ध हो जावें, तब ब्राह्मणों की श्रेष्ठता क्षत्रिय--वैश्यकी मध्यमता, और शूद्र एवं अन्त्यजोंकी अधमता सिद्ध हो जानेसे फिर भी स. ध. के पक्षकी सिद्धि वैसी ही सिद्ध हो गई। तब वादियोंनें 'भक्षितेपि लशुने न शान्तो व्याधिः' यह न्याय चरितार्थ हो गया। तब मरुत्देवताओंको उड़ानेकेलिए, केवल मनुष्य अर्थ करनेसे 'मानवीय साम्यवाद' मरुत् वाले मन्त्रका आधिभौतिक अर्थ है' यह वादियों का बहाना भी अकिञ्चित्कर ही सिद्ध हुआ।

इससे 'भारतीयधर्मशास्त्र' (प्रथमभाग पृ. ६६,१०५,१०६ पृष्ठ)में किया हुआ श्रीशाण्डिल्यजीका इस विषयका प्रयास वेदके आशयसे विरुद्ध सिद्ध हुआ। श्रीशाण्डिल्यजीके उपजीव्य स्वा.द. जी भी अपने यजुर्वेदसं. (३१।११) मन्त्रके भाष्यमें ऋभाभू. के सृष्टिविद्याविषयमें उक्त मन्त्रके व्यख्यानमें वर्णोंमें उच्चता--नीचता मान ही गये हैं। स. प्र. में भी 'ऊटपटांग भाषा बनाकर कबीर जुलाहे आदि नीच लोगोंको समझाने लगा, (११समु. पृ.२२८) 'इसलिए ब्राह्मणादि उत्तम वर्णोंके हाथका खाना, और चाण्डालादि नीच भंगी-चमार आदिका न खाना' (१०समु.पृ.१६६) इसप्रकार मानुषी-वर्णोंमें स्वामीने उच्चता-नीचता मानी है। अपने स्त्रैणताद्धितमें 'कद्रुकमण्डल्वोः छन्दसि' इस १३२ सूत्रके उदाहरणमें स्वामीने 'मास्म कमण्डलूं शूद्राय दद्यात्' इस प्रकार शूद्रको अपना कमण्डलु देनेका निषेध कर देनेसे उसके साथ अस्पृश्यता-व्यवहार वैदिक सिद्ध कर दिया, क्योंकि स्वामीने छन्द (वेद) के उदाहरणमें यह वाक्य दिया है। जोकि श्रीपण्डितजीने अपने 'भारतीय-धर्मशास्त्र' में शूद्रादिको नीच मानने वाले विद्वानों को ही नीच माना हैं; तब वे क्या अपनी भावनाके नायक स्वा.द.जीको जुलाहा-भंगी आदि को नीच कहने पर भी नीच कहेंगे ? शुक्रनीतिमें भी कहा है—'द्विजसेवार्चनरताः... ते नीचाः शूद्रसंज्ञकाः' (१।४३)

फलतः 'अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते' इस मन्त्रसे जो सुधारक 'अखिल भूमण्डलके समस्त मानवों को वेदकी आज्ञा' कह कर इस मन्त्रमें मानवीय साम्यवाद दिखलाते हैं; यह अभिप्राय वेदके अभिप्रायसे विरुद्ध सिद्ध हुआ। वह केवल देवविषय-मरुतोंमें संकुचित सिद्ध हुआ। पाठकोंको हम प्रेरणा करते हैं कि--इस प्रकारके मन्त्रोंका पूर्वापर देखकर स्वयं भी विवेचना कर लिया करें। वादियोंके कहे हुए अर्थमें नेयबुद्धि नहीं हो जाना चाहिए। अब हम इस विषयमें कुछ अन्य भी वैदिक-उद्धरण देते हैं।

(११) 'न गर्दभं पुरो अश्वान् नयन्ति' (ऋ. ३।५३।२३) (घोड़ेके आगे गधेको नहीं ले जाते) जब वेद इस प्रकार पशुओंमें भी उच्चता वा नीचता मानता है; तब मनुष्योंमें उच्चता-नीचता क्यों न मानेगा ? पारस्करगृ० के तृतीयकाण्डमें-'शूद्रोसि शूद्रजन्मा' (३।१५।६) गधे वा खच्चरको शूद्रस्थानीय माना गया है। यजुर्वेद माध्यन्दिनक (श. ब्रा.) में कहा है—'अथ यद् अमुत आयताम् अजः प्रथम एति, तस्माद् ब्राह्मणं प्रथमं यन्तम् इतरे त्रयो वर्णाः पश्चाद् अनुयन्ति। अथ यद् नैव इतो यतां नाऽमुतो रासभः प्रथम एति, तस्माद् न कदाचन ब्राह्मणश्च क्षत्रियश्च वैश्यं च शूद्रं च पश्चाद् अन्वितः'(६।४।४।१३)यहांपर पशुओंकी उपमासे ब्राह्मण-क्षत्रियको उच्च माना गया है, उनकी अपेक्षा वैश्य एवं शूद्रको निम्नकोटिका माना गया है, तब परस्पर उच्चता-नीचता वैदिक प्रतिफलित हुई, और साम्यवाद वेदविरुद्ध सिद्ध हुआ। 'अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेषु असमा बभूवुः' (ऋ. १०।७१।७) इस मन्त्रमें भी असाम्यवाद स्पष्ट है।

'ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुः, ते स्कम्भमनुसंविदुः' (अथर्व. १०।७।१७) (जो ब्राह्मणको उच्च मानते हैं; वे स्कम्भ (परमात्मा) को जानते हैं,) यहां ब्राह्मणकी उच्चता बताई गई है। तभी मनुस्मृति (१।६३,२।१००)-आदिमें ब्राह्मणको 'अग्रजन्मा' बताया गया है। 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' में ब्राह्मणको 'मुख' बताया गया है; सो मुखकी उत्पत्ति भी गर्भाशयसे सबसे पूर्व होती है। पांवको शूद्र बताया गया है, उसकी उत्पत्ति भी

सबसे पीछे बताई गई है। अतएव ब्राह्मणको 'अग्रज' और शूद्रको-'अवरज' कहा जाता है; तभी इनकी ज्येष्ठता-कनिष्ठता भी स्वाभाविक सिद्ध हुई। यदि पहले मुख न निकलकर पांव पहले निकलें; तो पैदा करनेवाली-माताके मरनेका डर रहता है; यह हम पूर्व सूचित कर चुके हैं। इसी प्रकार अन्त्य शूद्रके उत्तम करनेपर ईश्वरवादकी मृत्यु ही होगी, नास्तिकता फैलेगी, जो प्रत्यक्ष है। 'नीचैर्दासा उपसर्पन्तु भूमिम्' (अथर्व. ५।११।६) यहां शूद्रोंको नीचा बताया है। 'हत्वी दस्यून् प्र आर्यं वर्णम् आवत्' (ऋ. ३।३४।६) यहांपर ब्राह्मणादिको उच्च और शूद्रादिको निम्न बताया गया है।

(१२) 'हरिजनस्मृति' में उसके प्रणेता श्रीदर्शनकेसरीजीने 'आर्य-जगत्में हरिजनोंका स्थान' यह शीर्षक लिखकर 'समानी प्रपा सह वो अन्नभागः' यह मन्त्र ऋग्वेदके नामसे, और 'समानी व आकूतिः' यह मन्त्र यजुर्वेदके नामसे, और 'समानो मन्त्रः समितिः समानी' यह मन्त्र सामवेदके नामसे, 'रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु' यह मन्त्र अथर्ववेदके नामसे लिखा है। अपने विचारानुसार उन्होंने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि—चारों वेदोंमें हरिजनों (अन्त्यजों) का स्थान आर्योंकी समान-कोटिमें है।

आजकल चारों वेदोंका नाममात्र कहकर लोग कृतकृत्य हो जाते हैं, कि—अब अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं है; क्या यही उद्दिष्ट करके केसरीजीने क्रमसे चारों वेदोंका नाम ले लिया? यह मालूम नहीं होता कि – स्मृतिकार (?) ने उक्त प्रमाण स्वयं देखकर लिखे हैं, अथवा अपने आर्यसमाजी मित्रोंसे सुनकर लिखे हैं। 'समानी प्रपा' मन्त्र जो ऋग्वेदके नामसे उन्होंने लिखा है, वह सम्पूर्ण ऋग्वेदसंहितामें भी उपलब्ध नहीं। उनसे यजुर्वेदके नामसे लिखा हुआ 'समानी व आकूतिः' यह यजुर्वेदमाध्यं. में उपलब्ध नहीं। सामवेदके नामसे उनसे लिखा हुआ 'समानो मन्त्रः' सामवेदसं.में प्राप्त नहीं। अथर्व. वेदके नामसे लिखा

हुआ 'रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु' मन्त्र भी सम्पूर्ण अथर्ववेदसंहितामें उपलब्ध नहीं।

इनमें 'समानी प्रपा' यह ऋसं.का न होकर अथर्ववेदसं. (३।३०।६) का है। 'समानी व आकूतिः' यह मन्त्र यजुर्वेदका न होकर ऋसं. (१०।१९१।४) का अथवा अथर्व. सं. (६।६४।३) का है। 'रुचं नो' मन्त्र अथर्व सं. का न होकर यजुर्वेदमाध्यं. सं. (१८।४८) का है। इन मन्त्रोंमें सामवेद सं. का कोई भी मन्त्र नहीं। इन चारों मन्त्रोंमें भी 'हरिजनों'का तो नाममात्र भी नहीं। इन्हीं चारों मन्त्रोंकी आधारशिलापर दर्शनकेसरी-जीने 'हरिजनस्मृति' का भवन बनाया है; अब उनमें छापेकी भूल बताना यह व्यर्थकी बात है। अस्तु-अब उनके किये अर्थोंपर भी विचार करना चाहिये कि—उनके किये अर्थ ठीक हैं या नहीं।

(१३) उन्होंने 'समानी प्रपा, सह वोऽन्नभागः, समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि। सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यत अरा नाभिमिव अभितः' का अर्थ लिखा है—'ईश्वर कहता है—हे मनुष्यो···तुम लोग आपसमें इस प्रकार सुसंगठित रहो, जैसे गाड़ीके पहियेकी नाभिमें उसके आरे-कमानी सुसंगठित रहते हैं'।

केसरीजीने यह स्मृति विहार स०ध० प्रतिनिधिसभाकी ओरसे छपाई है, तब यह बतलाना पड़ेगा कि—वेदका अधिकार स० ध० के अनुसार द्विजमात्रको है वा मनुष्यमात्रको? मनुष्यमात्रको कहना स० ध० की मर्यादासे बहिर्भूत है। द्विजपुरुषको वेदाधिकार स० ध० की मर्यादा है। 'वेदमाता··द्विजानाम्' (अथर्व. १९।७१।१); तब यह अर्थ वहां कैसे कहा जा सकता है कि— ईश्वर कहता है—हे मनुष्यो! तुम्हारे जलका विभाग समान हो'?। यहाँ तो कहना चाहिये कि—हे द्विजो! तुम्हारे जल एवं अन्नका बटवारा बराबर हो'। तब इससे 'आर्यजगत्'में अन्त्यजोंका स्थान' यह केसरीजीकी प्रतिज्ञा कट गई।

वस्तुतः 'समानी प्रपा' आदि जितने भी मन्त्र दिये गये हैं; वे न तो

सम्पूर्ण जगत्केलिए हैं; न ही चारों वर्णोंकेलिए। नहीं तो यदि वादीने यहां 'हे मनुष्यो' यह विशेष्य माना है, तो फिर वहां हिन्दुजाति ही क्यों ली जाती है, ईसाई-मुसलमानादि भी क्यों नहीं लिये जाते? क्या वे मनुष्य नहीं हैं? यदि कहा जावे कि--वेद हिन्दुधर्मके ग्रन्थ हैं, अहिन्दुओंके नहीं; तब 'मनुष्यो' कहकर सम्बोधन क्यों दिया गया, 'हे हिन्दुओ' यह सम्बोधन दिया जाता? यदि कहा जावे कि--वेद हिन्दुओंके धर्मग्रन्थ हैं, अहिन्दुओंके नहीं; तभी यहाँ हिन्दुमनुष्योंकेलिए सम्बोधन है; तब तो वहांपर कहा जा सकता है कि--वेद द्विजोंके धर्मग्रन्थ हैं, अद्विजोंके नहीं; तभी तो वेदोंके अधिकार पानेकेलिए जो उपनयन-सूत्र दिया जाता है, वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यको ही दिया जाता है, अत्रैवर्णिक शूद्र-अन्त्य-जादिको नहीं; और वेद स्वयं भी कहता है--'वेदमाता···द्विजानाम्' (अ० १९।७१।१); तब उसमें अद्विज-मनुष्य कैसे सम्बोधित किये जा सकते हैं; यहां द्विजपुरुष ही सम्बोध्य होंगे। द्विज भी सारे नहीं, किन्तु उनके परिवार ही यहां सम्बोध्य होंगे। यही सूचित करनेकेलिए अथर्ववेद सं. (३।३० सूक्त) में 'वत्सं जातमिवाघ्न्या' (३।३०।१) यह उपमा दी गई है। अघ्न्या—गाय उत्पन्न हुए-हुए अपने ही बछड़ेसे प्रेम करती है, उसीको चाटती है, उसीको दूध पिलाती है, दूसरे बछड़ोंको नहीं। दूसरा बछड़ा यदि उसका दूध पीने आजावे; तो उसे सींगोंसे हटाती है। यह उपमा ही सिद्ध कर रही है कि--यह मन्त्र एक वर्णके एक कुटुम्ब वालोंके-लिए इष्ट हैं; न संसारमात्रकेलिए, और न ही भिन्न-भिन्न वर्णोंकेलिए।

इसीको स्पष्ट करनेकेलिए आगेके मन्त्र हैं--'अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्' (अ. ३।३०।२) 'मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया' (३।३०।३) 'तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः' (३।३०।४) इनमें माता, पिता, पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई, बहिन-बहिन इन एक कुटुम्बियोंको आपसमें प्रेमभावकेलिए कहा

गया है। दूसरोंकी पत्नी हमारी पत्नी नहीं हो सकती। दूसरोंके माता-पिता हमारे माता-पिता नहीं हो सकते; दूसरोंके भाई हमारे सपिण्ड वा दायभागी, हमारे पिताके लड़के, भाई नहीं हो सकते। इससे स्पष्ट यह अपने परिवार वालोंकेलिए मन्त्र हैं। तभी कहा है--'अन्यो-अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः सम्मनसः कृणोमि' (ऋ. ३।३०।५) आर्यसमाजी विद्वान् श्रीराजाराम शास्त्रीजीने इस सूक्तके आरम्भमें कौशिकगृह्यसूत्रके आधारसे यह विनियोग लिखा है--'परिवारके जनोंके परस्पर वर्ताव और प्रेमकेलिए'।

जब हमारे ही भिन्न-परिवारोंमें ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता; तब हमारा शूद्रादि वर्ण वा अवर्ण आदिमें समान व्यवहार कैसे हो सकता है? इसी प्रकार 'ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट' (३।३०।५) यहांपर घरके ही छोटे-बड़ोंका आपसमें मधुरालाप, समानमनस्कता, पारस्परिक अनु-कूलता और सङ्गति बताई गई है। इन मन्त्रोंमें संसारमात्रके साथ वा द्विजोंका शूद्र वा अवर्णोंके साथ समान-व्यवहार नहीं बतलाया गया है, क्योंकि--यह असम्भव तथा प्रत्यक्षविरुद्ध है। दर्शनकेसरीजीके दिये हुए आदिममन्त्रमें आई हुई 'अरा नाभिमिव अभितः' (३।३०।६) यह उपमा भी हमारे पक्षको स्पष्ट कर रही है। उसका अर्थ दर्शनकेसरीजीने यह किया है --'जैसे गाड़ीके पहियेकी नाभिमें उसके आरे-कमानी सुसंगठित रहती हैं'। आरे रथकी नाभिमें सम्बद्ध अवश्य होते हैं; परन्तु संसारमें रथ एक नहीं होता। रथ बहुत होते हैं, और बहुत प्रकारके होते हैं। जैसे वे आरे अपने-अपने रथकी नाभिमें सम्बद्ध होते हैं; उनका व्यवहार अपने ही रथमें होता है, अन्य रथोंके साथ नहीं होता। एक रथके आरोंको निकाल कर वे दूसरे रथमें नहीं जोड़े जा सकते; नहीं तो वे टूट जाते हैं; वा छोटे-बड़े हो जाते हैं, वैसे प्रकृतमें भी जान लेना चाहिये।

रथ-आरोंमें परस्पर समता होनेसे यहां एक कुटुम्ब ही उपमित किया जासकता है, न तो चार वर्ण और न अवर्ण। चातुर्वर्ण्य तथा अवर्णोंमें

सनातनधर्मानुसार जन्मसे, और वादियोंके अनुसार गुणकर्मसे वैषम्य है। आर्यसमाजका सप्तम नियम भी प्रसिद्ध है—'सबसे प्रीतिपूर्वक यथायोग्य-धर्मानुसार बर्तना चाहिये'। यहां 'यथायोग्य-धर्मानुसार'-यह शब्द साम्य-वादके खण्डक हैं।

हमारी मानसिक, शारीरिक एवं सामाजिक स्थितिकी आपसमें भिन्नता होनेसे चाण्डालादिसे साम्यवाद असम्भव है। इसी कारण वेदमें 'जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी' (अथर्व. १२।१।१) यहांपर मनुष्योंको नानाधर्मवाले बताया है, एक-धर्मवाले नहीं। तब भिन्न-धर्मवालोंके साथ उनसे भिन्नधर्मवाले हम लोगोंका समान व्यवहार भी कैसे हो सकता है?

'अरा नाभिमिव' इस मन्त्रके विषयमें निष्पक्ष आर्यसमाजी विद्वान् श्रीपाददामोदरसातवलेकरने अपने 'विश्वकर्मा ऋषिका दर्शन' इस ऋग्वेद-भाष्य-पुस्तक (पृ. ८-९) में कहा है—'स नः पिता न्यसीदत् जुह्वत्' हमारा पिता बैठता है, और हवन करता है। साथ-साथ हम भी बैठते हैं, अर्थात् पुत्र-पुत्रियां भी बैठते हैं, और उपासना करती हैं। यह उपदेश अन्यत्र अथर्ववेद-मन्त्रके अनुसार ही है—'सम्यञ्चो अग्निं सपर्यत अरा नाभिमिव अभितः' (अ. ३।३०।६) इकट्ठे मिलकर अग्निकी उपासना करो और उपासनाके समय चक्रके नाभिस्थानमें अग्नि सिद्ध किया हो; और उपासक चारों ओर आरे-जैसे बैठे हों। इस (३।३०) अथर्वसूक्तमें इस मन्त्रके पूर्व-मन्त्रोंमें पिता-माता, भाई-बहन आदिका उल्लेख है। वे पद अनुवृत्त होकर इस मन्त्रमें आते हैं; और वे सब पारिवारिक-जन चारों ओर बैठकर अग्निकी उपासना करें—ऐसा बोध होता है'। इस प्रकार यहां भी हमारा पक्ष सिद्ध हुआ कि-उक्त मन्त्रोंमें एक परिवारके जनोंका वर्णन है, मनुष्यमात्रका नहीं।

(१४) 'आलोक' ग्रन्थमालामें (६ ठे पुष्प) में हम सिद्ध कर चुके हैं; और अन्य पुष्पोंमें भी करने वाले हैं कि-वेदमें द्विजमात्रको अधिकार

है; तब उसमें द्विजपुरुष ही अधिकृत हो सकते हैं; तब वेदके सम्बोधन उन द्विजपुरुषोंकेलिए हैं, शूद्रादिको कहीं भी सम्बोधित नहीं किया गया। तब 'समानो मन्त्रः' 'समानी व आकूतिः' इत्यादि वादिप्रदत्त मन्त्र द्विज यजमान ऋत्विज् आदिकेलिए हैं, सांसारिक-सर्वसाधारणजनोंकेलिए नहीं। इसी प्रकार 'आयुष्मन्तः सहभक्षाः स्याम' (अ. ६।४७।१) यह भी एक मन्त्र है, इस प्रकारके मन्त्र भी अपने पारिवारिक-जनोंके सहभोजमें है। भिन्न लोगों (शूद्रादि) केलिए नहीं हैं। तब क्या दर्शनकेसरी जी इसमें ब्राह्मण-शूद्रादि सबका सहभोज मान लेंगे? क्या वे अन्त्यज आदिका भोजन अपने साथ पसन्द कर लेंगे?

वास्तवमें इस प्रकारके मन्त्र समानपात्र-अपने परिवारवालोंकेलिए हैं, भिन्न-पात्र वालोंकेलिए नहीं। मीमांसादर्शन (शाबरभाष्य) में यह चर्चा प्रश्नोत्तररूपमें आई है। उसे भी देखिये—'इदं सन्दिह्यते किं यः कश्चिद् [सहभक्षणे] अनुज्ञापयितव्यः, उत समानपात्र इति? अवि-शेषाभिधानात् यः कश्चिद्-इति प्राप्ते उच्यते, तत् खलु अनुज्ञापनम् एकपात्राणां स्यात्।...तदेतद् नानापात्रेषु [जनेषु] नैव सम्भवति' (३।५।४३)।

जब द्विज-त्रैवर्णिकोंमें भी एकपात्रता नहीं होती, तब अपपात्र-भूत शूद्र-अन्त्यज आदिमें तो क्या कहना? जिसकेलिए श्रीपाणिनिने सूत्र बनाया है—'शूद्राणामनिरवसितानाम्' (अष्टा. २।४।१०) इससे जब शूद्र भी यहां पात्र-बहिष्कृत और अबहिष्कृत बताये हैं; तब शूद्रोंकी द्विजोंसे एकपात्रता भला कैसे होगी? तब साम्यवादका निराकरण हो गया। सो 'समानो मन्त्रः' इत्यादि मन्त्र भी ऋत्विजोंकेलिए हैं; क्योंकि-वेदका विषय यज्ञ होता है, और यज्ञमें वेदकी आवश्यकता पड़ती है। ऋग्वेदसं.के समाप्त हो जानेपर उसका यज्ञ भी समाप्त हो जाता है; तब यज्ञ करनेवाले ऋत्विक् उक्त मन्त्रसे परमात्मासे प्रार्थना करते हैं। इसलिए इस मन्त्रकी श्रीसायणने भी इस प्रकार व्याख्या की है—'एषाम्

एकस्मिन् कर्मणि प्रवृत्तानाम् ऋत्विजां स्तोतृणां वा मन्त्र एकविधोऽस्तु'। यह ठीक भी है; नहीं तो एक यज्ञमें शामिल ऋत्विजोंके यदि भिन्न-भिन्न मन्त्र हों, तो यज्ञ एक तमाशा बन जावे। इस प्रकार 'समानी व आकूतिः' (ऋ. १०।१९०।४) यहांपर भी श्रीसायणने 'ऋत्विग्-यजमानाः' यह सम्बोधित किया है। प्रकरण भी यही है।

(१५) आर्त्विज्य (ऋत्विक् बनने) में अधिकार भी ब्राह्मणोंका हुआ करता हैं, सर्वसाधारणोंका नहीं। इसीकारण मीमांसादर्शनके १२वें अध्यायमें चतुर्थपादका अन्तिम-अधिकरण भी 'आर्त्विज्ये ब्राह्मणमात्राधिकरणम्' है। वहांपर 'प्रभुत्वाद् आर्त्विज्यं सर्ववर्णानां स्यात्' (१२।४।३७) यह पूर्वपक्षका सूत्र है। यहांपर शाबरभाष्य इस प्रकार हैं—'ऋत्विक्त्वं सर्ववर्णानां ब्राह्मण-राजन्य-वैश्यानां स्यात्। कुतः? प्रभुत्वात्। प्रभवन्ति सर्वे, शक्नुवन्ति कर्तुम्। सर्वे अध्ययनवन्तो विद्वांसश्च। नहि अविद्वान् विहितोऽस्ति। ऋणाऽपाकरणं च सर्वेषां कर्म। प्रदर्शनार्थं ब्राह्मणग्रहणमित्युक्तम्'।

इस पूर्वपक्षके सूत्रमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जो विद्वान् हैं, उनके ऋत्विक् बननेपर प्रश्न उठाया है। शूद्रका तो नाम तक भी नहीं। इस पर उत्तरपक्षका सूत्र इस प्रकार है—'स्मृतेर्वा स्याद् ब्राह्मणानाम्' (१२।४।३८) यहांपर शाबरभाष्य देखिये—'ब्राह्मणानामेव आर्त्विज्यं स्याद्, नेतरयोर्वर्णयोः। कुतः? स्मृतेः। एवं शिष्टाः स्मरन्ति—'याजनाध्यापनप्रतिग्रहा ब्राह्मणस्यैव वृत्त्युपाया इति। स्मृतिश्च प्रमाणम् इत्युक्तम्—'अपि वा कारणाऽग्रहण-प्रयुक्तानि प्रतीयेरन्-इति। तस्माद् ब्राह्मणा एव याजयेयुः'। तब आगे हेतुका सूत्र है—'फलचमसविधानाच्च इतरेषाम्' (१२।४।३९) यहांपर शाबरभाष्य—'···नचाऽसोमपाभ्यां शक्यते आर्त्विज्यं कर्तुम्। नियमात् सोमभक्षस्य। तस्मान्न राजन्य-वैश्ययोः आर्त्विज्यम्'।

'चतुर्धा करणे च निर्देशात्' (१२।४।४१) शाबरभाष्य—'दर्शपौर्णमासयोः पुरोडाशस्य चतुर्धाकरणे ब्राह्मणा एव निर्दिश्यन्ते—'ब्राह्मणानामिदं हविः, सोम्यानां सोमपीथिनाम्' निर्भक्तोऽब्राह्मणः, नेह अब्राह्मणस्य अस्ति' इति शेषभक्षणं चतुर्धाकरणम् इत्युक्तम्। शेषभक्षाश्च ऋत्विजः। यदि राजन्यवैश्ययोरपि आर्त्विज्यम् अस्ति, न ब्राह्मणानामेव इदं हविः स्यात्। राजन्यवैश्ययोरपि पक्षे स्यात्। तत्र इदमवधारणम् असमर्थं भवेत्'। विस्तारवश हम हिन्दीमें अनुवाद नहीं दे रहे। शब्द स्पष्ट हैं—।

अब मीमांसादर्शनका अन्तिम सूत्र भी दिया जाता है—'अन्वाहार्ये च दर्शनात्' (१२।४।४२) शाबरभाष्य-'दार्शपूर्णमासिक्यां च अन्वाहार्यदक्षिणायां ब्राह्मणा एव दृश्यन्ते—'त एते वै देवा अहुतादो यद् ब्राह्मणा यद् अन्वाहार्यमाहरति, तानेव तेन प्रीणाति' इति'। दक्षिणा च ऋत्विग्भ्यो दीयते। तस्माद् ब्राह्मणानामार्त्विज्यम्' (अन्वाहार्यदक्षिणामें ब्राह्मणोंका ही ग्रहण है, और दक्षिणा ऋत्यिजोंको ही दी जाती है, सो ऋत्विक्कर्मका अधिकार ब्राह्मणोंको ही है) यस्माद् इत्यंलक्षणा स्मृतिः, ताश्च एतानि दर्शनानि उपोद्बलयन्ति। तस्माद् आर्त्विज्यं ब्राह्मणानामेव स्याद्, नेतरयोर्वर्णयोरिति' (क्षत्रिय-वैश्यको भी ऋत्विक्कर्मका अधिकार नहीं।)

इस प्रकार 'ब्राह्मणानां वा इतरयोरार्त्विज्याभावात्' (६।६।१८) इस मीमांसादर्शनके सूत्रमें भी यही बात कही गई है कि—ऋत्विक्कर्मका अधिकार ब्राह्मणको ही है। शाबरभाष्य—'वा शब्दः [सर्ववर्णाधिकार-] पक्षं व्यावर्तयति। नचैतदस्ति त्रयाणामपि वर्णानामिति। किं तर्हि? ब्राह्मणानामेव स्यात्। कुतः? इतरयोरार्त्विज्याऽभावात्। इतरयोर्हि वर्णयो राजन्यवैश्ययोः आर्त्विज्यं प्रतिषिद्धम्। स्वयमेव आर्त्विज्येन विना विगुणत्वम्, तस्माद् ब्राह्मणानामेव स्यात्'। इस प्रकार मीमांसादर्शनके प्रमाणसे ऋत्विक्कर्मके योग्य ब्राह्मण माना गया है। क्षत्रिय-वैश्य भी जब उसमें अधिकृत नहीं माने गये; तब शूद्र-अन्त्यजादिका तो क्या कहना? ऋत्विक्कर्मके योग्य ब्राह्मणके ही होनेसे

५।१।७१ पाणिनिसूत्रके महाभाष्यमें भी 'यज्ञ-ऋत्विग्भ्यां तत्कर्म अर्हतीति उपसंख्यानम्' इस वार्तिकके अनुसार 'ऋत्विक्कर्म अर्हति' इस विग्रहमें 'आर्त्विजीनं ब्राह्मणकुलम्' कहकर श्रीपतञ्जलिमुनिने भी ब्राह्मणका ही ऋत्विक्कर्ममें अधिकार बताया है।

यदि इस प्रकार ऋत्विक्कर्ममें क्षत्रिय-वैश्यका भी अधिकार नहीं; तब उसमें शूद्रका अधिकार कैसे हो सकता है ? वेदके अधिकारी ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य ही होते हैं—यह हम पहले संकेत दे चुके हैं, तब ब्राह्मण-आदि तीन वर्णोंका आपसमे 'समान मन्त्र' हो, और समिति समान हो, यही यहाँ वेदका आशय है; क्योंकि-द्विजोंमें जो-जो वर्ण जब यज्ञ समाप्त होजावे; तब अपने पारिवारिक-जनोंकेलिए यह प्रार्थना करता हो-यह सम्भव है; तब इसमें शूद्रादिका प्रवेश सर्वथा सिद्ध न हुआ।

दर्शनकेसरी जी 'समानी व आकूतिः' मन्त्रका अर्थ लिखते हैं कि—'तुम्हारे सङ्कल्प समान हों, जिससे तुम लोग इच्छापूर्वक अपने समाजमें उठ-बैठ सको' यह अर्थ ठीक किया गया है। इस प्रकार अन्त्यज आदि भी अपने समाजमें ठहरें, उनके भी विचार, और हृदय अपने समाजके समान हों; इसमें हमारा क्या नकार है ?।

(१६) 'रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु' इस मन्त्रका अर्थ केसरीजी लिखते हैं—'हमारे ब्राह्मणोंमें प्रकाश प्रदान करो। हमारे क्षत्रियोंमें दीप्ति हो, वैश्यों और शूद्रोंमें कान्ति, सौन्दर्यका विस्तार हो, मेरे लिए भी इन बातोंका प्रदान हो' यहां केसरीजीने एक ही 'रुच्' शब्दके भिन्न-भिन्न वर्णकेलिए प्रकाश, दीप्ति, कान्ति और सौन्दर्य—यह भिन्न-भिन्न अर्थ किया है। ब्राह्मण तथा क्षत्रियोंको अपने निकटका बताया है, तभी हमारे ब्राह्मणों, हमारे क्षत्रियोंमें' यह लिखा है, वैश्य-शूद्रोंको अपनेसे कुछ दूरमें रखा है; तभी उनके साथ 'हमारे' शब्दका प्रयोग नहीं किया है। इस विषयमें 'आलोक' (९) (पृ. ४४३-४५९) में देखो। फिर इस मन्त्रमें वेदने 'हरिजनों' की तो बात भी नहीं पूछी। यदि वे शूद्रोंमें गिने

जाते हैं। तब उनका 'हरिजन, अनुसूचित-जातियाँ इत्यादि इस पृथक् नामकी क्या आवश्यकता थी ? स्पष्ट है कि—यह अवर्ण हैं; उनका नाम अन्त्यज है। श्रीगान्धिजीने उनका स्वैराचारसे 'हरिजन' नाम रखा है। इससे यह हानि हुई है कि-पहले सभी त्रैवर्णिक अपने-आपको 'हरिजन' कहते थे; अब अपने-आपको हरिजन कोई भी त्रैवर्णिक नहीं कहता।

जो कि-केसरीजीने लिखा है—'इससे ज्ञात होता है कि-हिन्दुमात्र अभिन्न-हृदय और एकदेवोपासक हैं'। केसरीजी हिन्दुमात्रको ही क्यों लेते हैं ? सारे संसारको क्यों नहीं लेते ? यदि 'हरिजन' शूद्रवर्णमें गिने जा सकते हैं; तो ईसाई-मुसलमान क्या शूद्र नहीं माने जा सकते ? केसरीजी सार्वभौम-सनातनधर्मको भारतमें क्यों संकुचित करना चाहते हैं ? अरब और यूरोपको भी 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्' अपना मानें ?। यदि ऐसा नहीं होसकता; तब अवर्ण—अन्त्यज भी शूद्र-वर्णमें गिने नहीं जा सकते।

भिन्न-भिन्न देवकी उपासना भी एक महान् देवकी ही उपासना हुआ करती है; क्योंकि--वे देव एक ही महान् देवके अङ्ग होते हैं ? अङ्गोंकी पूजा अङ्गीकी ही पूजा होती है। अङ्गपूजाके विना अङ्गीकी पूजा कभी होसकती ही नहीं। वेदमें ही स्वयं भिन्न-भिन्न देवोंकी उपासना भरी हुई है। पुराण उसी भिन्न-भिन्न देवोपासनाके बढ़ानेवाले हैं। आरोग्यकेलिए भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न वैद्यकी उपासना करते हैं; परन्तु निष्ठा एक ही इष्ट वैद्यमें करनी पड़ती है। कभी एकमें, कभी दूसरेमें, फिर अन्यमें—इस प्रकार भिन्न-भिन्न वैद्यकी उपासना करनेपर स्वयं ही अस्वास्थ्यकी आशङ्का रहती है—इस प्रकार देवोपासनाविषयमें भी जानना चाहिये।

दर्शनकेसरीजीके आधारशिलाभूत वेदमन्त्रोंपर विचार हो चुका; तब उनका इष्टपक्ष भी सिद्ध न हुआ। तब उनका हरिजनोंके विषयका पक्ष वेदविरुद्ध सिद्ध होगया।

(१७) इस प्रकार अन्य लोग भी साम्यवाद सिद्ध करनेकी चेष्टा करते रहते हैं। पर यह वेदविरुद्ध है, और व्यवहारविरुद्ध भी। जबकि वेद 'जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्' (१२।१।४५) इसमें पुरुषोंको नानाधर्मवाले कह रहा है; तब धर्मभेद बना ही रहेगा; तत्प्रयुक्त भेद भी। भेद ही जीवन है, अभेद तो प्रलय है। गुणों की विषमतासे ही तो संसार बना है। समतामें तो प्रलय होजाता है। एक बिल्ली और चूहेमें परस्पर-मैत्री थी। दोनोंका प्रेम बढ़ा हुआ इतनी मात्रामें होगया कि—दोनोंका खान-पान भी इकट्ठा ही होने लगा। उन दोनोंकी घनिष्ठता होगई। बिल्लीने सोचा कि-फिर भी हममें भेद है, हमारा पूरा साम्यवाद होना चाहिये; थोड़ा भेद भी न रहना चाहिये; यह सोचकर उसने चुहेको खा लिया; वह चूहा अब उसके शरीरका अङ्ग होगया। इस प्रकारके अभेदसे क्या लाभ? इस प्रकार तो प्रलय हो जावेगा। अभेद तो यह होना चाहिये कि—चूहा, चूहा बना रहे, और बिल्ली बिल्ली। सभी अपने-अपने धर्मका पालन करते हुए प्रेमभावसे कार्य करें, जैसे कि—शरीरमें मुख, बाहु, ऊरु, पाद, एवं गुद आदि अङ्ग कर रहे हैं। गुद आदिका समय पर स्पर्श करनेपर भी हमें अपनी शुद्धि करनी पड़ती है। इस प्रकार केवल अन्त्यजोंसे ही नहीं, वल्कि-भिन्न-धर्मवालोंके साथ भी अपना-अपना धर्म पालते हुए रहना चाहिये। कुछ धर्मभेद तो रखना ही पड़ेगा।

पारस्करगृह्यसूत्र (१।३, २।२, २।३, २।५ आदि स्थलों) में, आपस्त-म्बगृ. (४।१०, ५।११, ५।१३) में, गोभिलगृ. (२।१०) में इस प्रकार आश्वलायन आदि गृह्यसूत्रोंमें, मनुस्मृति (द्वितीयाध्याय ३६-३७-३८-४१-४२-४४-४५-४६-४९-६२,६५,१२७ पद्यों) में 'यावान् उद्बाहुः पुरुषः तावत् क्षत्रियस्य कुर्याद्, मुखदघ्नं ब्राह्मणस्य, उपस्थदघ्नं स्त्रियाः ऊरु-दघ्नं वैश्यस्य, अष्ठीवद्‌घ्नं शूद्रस्य, एवंवीर्या हि एते' (शत० १३।८।३।११) 'दक्षिणं पादं पूर्वं ब्राह्मणस्य प्रसारयति, सव्यं शूद्राय' (बोधाय-

नगृ. १।२।२२) इत्यादि वचनोंमें और अन्यत्र भी द्विजोंके आरम्भसे ही भेद बताये गये हैं; तब द्विजोंसे शूद्र आदियोंका वैषम्य तो दुर्निवार है। 'ब्राह्मणो वैव, राजन्यो वा, वैश्यो वा, ते हि यज्ञियाः' (शतपथ. ३।१।१।९) यहांपर ब्राह्मणादिको तो वैदिक-यज्ञमें अधिकृत किया गया है, शूद्रोंको नहीं। बल्कि १० वीं कण्डिकामें तो यह कहा है कि-यदि यज्ञ-दीक्षितको शूद्रसे बात करनी पड़े; तो सीधी उससे बात न करके ब्राह्म-णादिद्वारा ही उससे बातचीत करे 'न वै देवाः सर्वेणेव संवदन्ते, ब्राह्मणेन वैव, राजन्येन वा, वैश्येन वा, ते हि यज्ञियाः' (३।१।१।१०) यह वेद-कण्डिकाएं बुद्धिमान् भी शूद्रको अधिकृत नहीं करतीं; तब भला अन्त्य-जादिसे साम्यवाद क्या होगा? तब अन्त्यजोंका देव-संवाद न हो सकनेसे उनका देवमन्दिर-प्रवेश भी निषिद्ध सिद्ध होगया। तब जो 'श्री' (५।२) में गुरुकुलपोठोहारके आचार्यने यह लिखा था कि—'जो आंखोंवालोंके सूर्य-दर्शनमें विघ्न डालते हैं, जीभवालोंको रसोपभोगसे छुटवाते हैं, बुद्धिमानोंको शिक्षासे वञ्चित करते हैं, श्रद्धा-भक्तिसे मिले हुएकेलिए देवमन्दिरके द्वार बन्द करते हैं, वे पापी, निर्दय, आततायी, और प्रभुकी आज्ञाके तोड़नेवाले हैं' यह बात गलत सिद्ध होगई।

जब वेद शूद्रको वह अधिकार नहीं देता; तब उसको बलात् अधिकार दिलवानेवाले ही प्रभुकी आज्ञाको भङ्ग करनेवाले हैं। इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ. २०९-२५६ देखने चाहियें। जीभवाला यदि बीमार है; उसे यदि कोई मिठाई खिलानेमें प्रतिबन्ध डालता है; यदि आंखोंवाला भी काल-कोठरी में निवासयोग्य अपराधी है, वा अभी-अभी आँखें जिसने बनवाई हों, उसके सूर्यदर्शनमें प्रतिबन्ध लगवानेवाला उसका हितैषी है, आततायी नहीं। शूद्र जन्मसे ही एकज हैं, तब उन्हें द्विजोंवाला अधिकार कैसे दिया जा सकता है? द्विज न होनेसे उसका उपनयन तथा उपनयनमूलक-वेदादिशिक्षाका उसकेलिए प्रतिबन्ध है; तब प्रतिपक्षी शास्त्रोंसे विरुद्ध अधिकार कैसे दिलवाता है?। 'समानो मन्त्रः समितिः समानी' आदि वेदके वचन

अपने अधिकारी द्विजोंकेलिए हैं, 'अयं स होता यो द्विजन्मा' (ऋ. १। १४९।५) एकजोंकेलिए नहीं। सो द्विज लोग अपने-अपने वर्णवालोंकेलिए प्रार्थना करते हैं। इसमें एकज शूद्रका कुछ भी प्रवेश नहीं। 'तपसे शूद्रम्' (यजु: ३०।५) शूद्र कृच्छ्रकर्म सेवा आदिकेलिए है, वेदका अधिकार उसकेलिए नहीं।

(१८) जो कि कहा जाता है कि--'यदि साम्य न हो; न तो कोई उन्नति चाहेगा, न करेगा'। यह बात गलत है। शास्त्र तो कहता है— 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धि लभते नर:' (गीता १८।४५) 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुण: परधर्मात् स्वनुष्ठितात्' (३।३५) सहजं कर्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत्' (१८।४८) 'आत्मीये संस्थितो धर्मे शूद्रोपि स्वर्गमश्नुते। परधर्मो भवेत् त्याज्य: सुरूपपर-दारवत्' (अत्रि १८) (शूद्र अपने वर्णके कर्ममें स्थित होकर भी स्वर्ग प्राप्त करता है। दूसरेका धर्म छोड़ देना चाहिये कि—जैसे सुन्दरी भी परकीय-स्त्रीको छोड़ देना पड़ता है)

जोकि कहा जाता है कि—'यदि मन्दिर वास्तवमें ही भगवान्के घर हैं; तब वहाँ उसके भक्तोंका प्रवेश उचित है, तब सब उपासकों शूद्र—अन्त्यज आदिकेलिए भी मन्दिरकेद्वार खुले ही रहने चाहियें' यह भी ठीक नहीं। यथाधिकार ही कार्य हुआ करते हैं। इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ. २०९–२५६ में हम स्पष्ट कर चुके हैं। जो मूर्ति वेदमन्त्र-प्रतिष्ठापित हो; उसमें वेदाधिकारविरहित अन्त्यज-आदियोंका अधिकार नहीं हुआ करता। हां, वे अपने मन्दिरमें अपनी मूर्ति जिसमें वेदमन्त्रोंसे प्रतिष्ठा नहीं होती, रख सकते हैं। यदि उन्हें सनातनधर्मी अधिकार नहीं देते; तब सुधारकों वा दयानन्दियोंको चाहिये—स्वयं देवमन्दिर खोलकर उसमें उनको अधिकार दें।

(१९) जोकि कई कहते हैं —'शूद्र-चाण्डालादि सभी 'अमृतस्य पुत्रा:' एक परमपिताके पुत्रकी भान्ति हैं; तब क्या सभी पुत्र पिताके दर्शन करने वा उसकी सेवा करनेमें समर्थ नहीं हैं' ? यहांपर वक्तव्य यह है कि—

पिताकी उपमासे उनकी इष्टसिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि—उपमामें सर्व-सारूप्य नहीं हुआ करता; नहीं तो 'चन्द्र इव मुखम्' में मुखका परिमाण भी चन्द्रकी कक्षाके परिमाणका माना जावे, पर ऐसा नहीं होता। क्या एक ही पिता अपने सारे बालकोंके साथ समान-व्यवहार करता है ? कभी नहीं। वह असत्यभाषणसे छोटे लड़केको चपेट लगाता है, वैसे ज्येष्ठपुत्रको थप्पड़ नहीं मारता, और फिर पिताके दर्शन वा सेवनकेलिए पिताकी पहले वेदमन्त्रोंसे प्राणप्रतिष्ठा नहीं की जाती; परन्तु मन्दिरकी देवमूर्तिमें प्राणप्रतिष्ठा करनी पड़ती है। बहुतसे पत्थर इधर-उधर पड़े हुए होते हैं। क्या उनमें परमात्मा व्यापक नहीं होता ? यदि होता है, तो अन्त्यज लोग उन्हें ही उठाकर उनकी पूजा क्यों नहीं करते ? मन्दिरमें तो मूर्तिकी वेदमन्त्रोंसे प्राणप्रतिष्ठा की जाती है, और प्रतिष्ठाकर्ता द्विज होता है। अतएव उसमें भी वेदमन्त्राधिकारियोंका ही अधिकार होता है, सभीका नहीं। द्विजोंसे भिन्न जातिवाले वेदमन्त्रकी प्रतिष्ठासे रहित मूर्तिमें ही अधिकारी हैं, वेदमन्त्र-प्रतिष्ठित मूर्तिमें नहीं। इस सिद्धान्तके कारण ही सनातनधर्मी निषेध करते हैं; नहीं तो भला वे विरोध क्यों करें ? उनका तो इससे मूर्तिपूजाका सिद्धान्त बढ़ता है; और आय भी बढ़ सकती है। पर वे इस लोभमें आकर अपनी शास्त्रीय-मर्यादाका उल्लंघन नहीं करना चाहते। यदि उनसे बलात् कराया जावेगा; तो यह धर्मनिरपेक्ष-राज्यका एक विशेष-धर्मपर अत्याचार होगा। धर्मनिरपेक्ष-शासनकी सभी धर्मोंपर समानदृष्टि होनी चाहिये। यह नहीं कि—उपद्रव मचानेवालोंके धर्मपर तो उन्हें उनके नियमानुकूल चलने दिया जावे; पर शान्त रहनेवालोंके धर्मके नियमोंको पैरों तले रौन्दा जावे। ऐसा हो तो यह शासनकेलिए लज्जाजनक वा खेदावह बात होगी। यह शासनका कलङ्क होगा।

---

(२६) शिवलिङ्ग-पूजाका रहस्य।

आजकल कई अधकचरे लोग पुराणोंके शत्रु होनेसे शिवलिङ्ग पर कई उपहास की बातें कहा करते हैं। असलमें बात यह है कि यह लोग शास्त्रोंसे तो कोरे होते हैं, इनको संस्कृत-भाषाका विशेष ज्ञान होता नहीं, तब यह लोग पुराणोंकी बातें पूर्वापरप्रकरण छिपाकर भोली-भाली जनताके आगे रख देते हैं, और वह भोली जनता यह देखकर भौंचक्की हो जाती है।

यदि आप शिवलिङ्ग-पूजाके विषयमें विशेष-ज्ञान करना चाहते हों, तो 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाके छठा (पृ. ६५३-६५५), ७ वां (पृ. १०७-१२१, पृ. १३२-१३६, १७२-१७५, २१५-२२०, २२५-२३५, २५८-२६४, २६६-३०२, ४०८-४०६, ४५३-४५६, ५१०-५४१, और ६ वां (पृ. ८६३-८८८) यह तीन पुष्प मँगाकर पूरा पढ़ डालिए। आप की शिवलिंगपूजा-विषयक सभी शङ्काएँ मिट जावेंगी।

अब हम यहां थोड़ी सी बातें जनताके सामने उपस्थित करते हैं, जिससे उपहासकर्ता लोगोंका अज्ञान मिट जावे।

१. यह बात याद रखने की है कि शिवजीकी दो प्रकारकी मूर्तियां होती हैं। एक लिङ्ग-रूप, दूसरी अङ्ग-रूप। लिङ्गका भाव वहां है— निर्गुण, निराकार, अङ्ग-रहित मूर्ति। अङ्ग-मूर्तिका भाव होता है— सगुण, साकार रूप, अङ्गोंवाली मूर्ति।

शिवपुराणकी विद्येश्वर-संहितामें यह विषय स्पष्ट किया गया है। देखो उसके ५वें अध्यायमें १०-११-१२-१३-१४-१५, २०-२१-२२-२३-२४-२५ श्लोक।

इन सबका तात्पर्य यह है कि—शिवकी दो प्रकारकी मूर्तियां हुआ करती हैं—एक लिंग-मूर्ति, दूसरी वेरमूर्ति। उसका कारण यह है कि शिव जब ब्रह्मरूप माने जाते हैं, तब उनको निराकार तथा निर्गुण एवं

निष्कल भी माना जाता है, सगुण, साकार स-कल भी। उसमें उनकी निर्गुण निराकार मूर्तिमें अंगोंकी कल्पना नहीं होती, बस वही शिवकी मूर्ति शिवलिंग है। शिवलिङ्गमें कुछ भी अंग नहीं दीखता, वह साफ मूर्ति होती है। यह निर्गुण—निराकार रूपकी प्रतीक होती है। वेदादि-शास्त्रोंमें ब्रह्मके दो रूप माने गये हैं—मूर्त और अमूर्त, साकार और निराकार। सो यह अण्डाकार जो ब्रह्माण्ड-रूप मूर्ति है, वही शिवलिंग है।

दूसरा रूप होता है सगुण—साकार। उसमें अंग होते हैं, उसे 'वेर' कहा जाता है। वह मूर्ति स-कल कही जाती है। यही बात अब शिव-पुराणके श्लोकोंमें देख लीजिए—

'शिवैको ब्रह्मरूपित्वाद् निष्कलः परिकीर्तितः। रूपित्वात् स-कलः तद्वत् तस्मात् सकलनिष्कलः' ॥ (५।१०)

(शिव ब्रह्म है, वे निष्कल भी हैं, सकल भी। निराकार-रूपमें तो निष्कल कहे जाते हैं, और साकार रूपमें स-कल कहे जाते हैं।) इससे आगे पुराण स्पष्टता करता है—

निष्कलत्वाद् निराकारं लिङ्गं तस्य समागतम्। स-कलत्वात् तथा वेरं साकारं तस्य संगतम्। सकलाऽकलरूपित्वाद् ब्रह्मशब्दाभिधः परः॥ (५।१०।११-१२)

अर्थात्—निष्कल निर्गुण, निराकार होनेपर तो शिवकी मूर्ति 'लिंग' कहलाती है। स-कल, सगुण, साकार होनेपर उनकी मूर्ति 'वेर' कहलाती है। दो रूप रखनेसे वे ब्रह्म हैं; तभी तो यजुर्वेद शतपथ-ब्राह्मणमें कहा है—'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैव अमूर्तं च। (१४।५।३।१ बृ० उ० २।३।१)

(ब्रह्मके दो रूप हैं, एक मूर्त—मूर्तिमान्, साकार अंगोंवाला, दूसरा अमूर्त—मूर्ति-रहित, निराकार, अंगोंसे रहित) सो दोनों रूपवाले होनेसे शिव ब्रह्म हैं।

शिवपुराणके आगेके श्लोकोंमें कहा गया है—'अपि लिङ्गे च वेरे च नित्यमभ्यर्च्यते जनैः। अब्रह्मत्वात् तदन्येषाँ निष्कलत्वं नहि क्वचित्। तस्मात् ते निष्कले लिङ्गे नाराध्यन्ते सुरेश्वराः। अब्रह्मत्वाच्च जीवत्वात् तथाऽन्ये देवतागणाः ॥ (५।१३-१४)

(शिव तो ब्रह्म हैं, अतः उनके दोनों रूप हैं, निराकार तथा साकार। निराकार रूपका प्रतीक है लिङ्ग, और साकारका प्रतीक—वेर जिसमें सारे अंग होते हैं, पर अन्य देवता ब्रह्म न होनेसे उनकी वेर मूर्ति (अंगों वाली मूर्ति) में ही पूजा होती है, लिंग (अंगोंसे रहित मूर्ति) में उनकी पूजा नहीं होती।)

तूष्णीं स-कलमात्रत्वाद् अर्च्यन्ते वेरमात्रके। जीवत्वं शङ्करान्येषां ब्रह्मत्वं शंकरस्य च ॥ (५।१५) (अन्य देवताओंकी पूर्णता न होनेसे वे कलावाले होते हैं, वे निष्कल—कलाहीन नहीं होते, अतः उनकी लिंगमें पूजा न होकर वेर मूर्ति (अंगोंवाली मूर्ति) में पूजा होती है। पर शङ्कर ब्रह्म हैं, दो रूप—निराकार-साकार रखते हैं अतः उनकी लिंग तथा वेर दोनोंमें पूजा होती है।)

शिवजीके पुराण होनेसे यहां शिवके महत्त्वके कारण शिवको ब्रह्म तथा दोनों रूपोंका अधिष्ठाता कहा गया है, तथा उनकी दोनों प्रकारकी मूर्तियोंमें पूजा बताई गई है। विष्णुके पुराणोंमें विष्णुको ब्रह्म तथा दोनों रूपोंका अधिष्ठाता होनेसे विष्णुकी भी दोनों प्रकारकी मूर्तियोंमें पूजा बताई गई है। सो विष्णु-भगवान्‌की निष्कल, अङ्गोंसे रहित मूर्तिका नाम 'शालग्राम' कहा जाता है, दूसरी अङ्गों वाली भी मूर्तियां हुआ करती हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि—शिव और विष्णु दोनों ही ब्रह्म हैं, दोनोंमें केवल भक्तोंके कारण भेद है, वास्तविक-भेद नहीं—यह पुराणोंमें स्पष्ट है। लिङ्ग सर्पफथाना मूर्ति हुआ करती है, जो अव्यक्त रूपको बताती है। इस प्रकार अव्यक्तका दूसरा रूप 'शून्य' होता है, उसकी स्थानापन्न शालग्रामकी मूर्ति हुआ करती है। शून्यकी भी आकृति व्यवहारार्थ बनाई ही जाती है; इस प्रकार अंगहीन भी मूर्तियाँ उपासना-रूप व्यवहारार्थ बनाई जाती हैं। कहनेका तात्पर्य यही है कि—'शिवलिंग' में लिंगका यही अर्थ है कि उसकी निर्गुण या निराकार, अंगोंसे रहित अव्यक्त मूर्ति है, और जलहरी शिवलिंगकी आधार-वेदी है। जैसे कि शिवपुराणमें ही कहा है—

'स्नापयित्वा समभ्यर्च्य लिङ्गं वेदिकया सह' (शिवपु. रुद्रसं. सृष्टि. ३६।१२) उसीको 'पीठिका' वा 'पिंडी' भी कहा जाता है। जैसाकि 'प्रापय्य शनकैस्तोयं पीठिकोपरि शाययेत्। प्राक्शिरस्कमधःसूत्रं पिण्डिकां चास्य पश्चिमे' (१३) यह एक अर्थ तो पाठकोंने ठीक-ठीक समझ लिया। अब दूसरा अर्थ भी देखिये:—

२. महादेव जीकी लिंगमूर्ति प्रणव (ॐकार) स्वरूप भी होती है। जैसे कि शिव-पुराणमें कहा है—

'अथाविरभवत् तत्र सनादं शब्दलक्षणम्। ॐइत्येकाक्षरं ब्रह्म ब्रह्मणः प्रतिपादकम् ॥ (वायवीय-संहिता उत्तरखण्ड ३५।१-४)

'विभक्तेऽपि तदा तस्मिन् प्रणवे प्रणवात्मके। (५) 'लिङ्गेऽपि मुद्रितं सर्वं यथा वेदैरुदाहृतम्' (५४) यहां लिंगमें ॐको मुद्रित बताया गया है।

'ॐकारं चैव यल्लिङ्गं (कोटि-रुद्रसंहिता) १८।२२) 'तदेव लिङ्गं प्रथमं प्रणवं (ॐकाररूपं) सार्वकामिकम्। 'सूक्ष्मं प्रणवरूपं हि' (विद्येश्वर-संहिता ८।२७)

इस प्रकार लिंग एवं जलहरी मूर्तिको यदि ध्यानपूर्वक देखा जावे, तो वह स्पष्ट ॐ की मूर्ति दीखती है। इस 'ॐ' में आरम्भिक भाग जलहरी तथा अग्रिम भाग 'लिंग' तथा ऊपर बालचन्द्र वा भालचन्द्र दीखता है। उसे ध्यानसे देखिये। सो स्पष्ट है कि यह शिवलिंग जलहरी आदिकी मूर्ति निष्कल एवं निराकार-रूपका प्रतीक अथवा ॐकारका

प्रतीक है। दयानन्दी सम्प्रदायके व्यक्ति इसे मानुषी भग-लिंगकी आकृति बताते हैं, यह बात गलत है। यह मूर्ति अण्डाकार होती है, मूत्रेन्द्रियके आकारकी नहीं होती। इस विषयमें आर्यसमाजके प्रसिद्ध शास्त्रार्थ-महारथी श्रीबुद्धदेव विद्यालङ्कार, (स्वा० समर्पणानन्द) का मत भी देखिये। आर्यसमाजकी टङ्कारा पत्रिकाके छठे वर्षके ८ वें अंक (ज्येष्ठ २०२२) पृ० ९ में छपे 'अभिभाषण' में उन्होंने कहा है।—

'हमारा कहना है कि आर्योंने उपस्थ (इन्द्रिय) पूजा कभी की ही नहीं।...यह उपस्थ-पूजाका इशारा कदाचित् शिवलिंग पूजाकी ओर है...कोई पूछे कि—शिवलिंगकी आकृति उपस्थेन्द्रियसे मिलाकर दिखाइये। शिवलिङ्गकी मूर्ति एक दीपककी मूर्ति है।—यदि वह योनिमें प्रविष्ट लिङ्गकी मूर्ति होती; तो उसका पतला और नोकीला भाग नीचेकी ओर होना चाहिए था। (१।२ स्तम्भ)

विद्यालंकारजीका यही 'अभिभाषण' 'परोपकारी' पत्रके ६।८ अंक में निकला था। अतः इसे प्रक्षिप्त भी नहीं कहा जा सकता। आर्य-समाजके ब्रह्मचारी उषर्बुधने भी अपने 'रुद्र-देवता' में लिखा है—"यह लिंगपूजा शिवपूजा न होकर दीपशिखा आकृतिके 'ज्योतिर्लिंगकी पूजा' ही थी। शिव-पुराणादिमें भी ज्योतिर्लिंगका ही वर्णन आता है।"

अब स्वा० दयानन्दजीके शब्द भी 'सत्यार्थ-प्रकाश' में देखिये—उसमें लिखा है—'तब उन दोनों (ब्रह्मा और विष्णु) के बीचमें से एक तेजोमय लिंग उत्पन्न हुआ (११ समु० पृ. २१०) इस प्रकार स्वा० द० ने भी इसे तेजोमय लिंग लिखा है, इन्द्रिय नहीं। अन्यत्र भी उनका वचन देखिये। उनने लिखा है—'परमात्माकी रचना-विशेष 'लिंग' देखकर परमात्माका प्रत्यक्ष होता है. (१२ समुल्लास पृ० २६८) सो शिवलिंग शिव-परमात्माकी रचना ब्रह्माण्डकी प्रतीक है। उसकी पूजा महादेवकी पूजा होती है।

३. वैश्यनाथावतारमें जब शकर महानन्दाकी परीक्षा लेने गये, तो

उन्होंने उसे लिंग सम्हाल करके रख देनेको कहा था। इससे स्पष्ट है कि वह उन्हीं की एक छोटी प्रतिमा थी, इसमें इन्द्रियका सम्बन्ध कुछ भी सम्भव नहीं।

४. जब ब्रह्मा-विष्णु 'मैं बड़ा', मैं बड़ा' यह कह रहे थे-तो उस समय ज्वालामालाओंसे युक्त, आदि-मध्य-अन्त रहित एक लिंग प्रकट हुआ (शिवपुराण वायवीयसंहिता उत्तरखण्ड ३४।३३-३४)। इसीका संकेत 'मनुस्मृति (१।९) में 'सहस्रांशुसमप्रभ अण्डरूपमें बताया है, इससे स्पष्ट है कि—शिवलिंग शंकरकी एक मूर्ति-विशेष हैं। इसमें प्रश्नकर्ताओंकी बात संगत नहीं होती। यदि यह इन्द्रिय-विशेष होती; तो ब्रह्मा, विष्णु परस्पर विवादके समय यह उपहास न सह सकते, और उसका, आदि-अन्त भी मिल जाता। उसीको शिवपुराण संहिता (९।१९) में भी आदि-अन्त-वर्जित स्तम्भ कहा गया है।

वादियोंसे प्रश्न है कि—महादेव मनुष्य थे, वा देवता ? यदि कहो—मनुष्य, तो उसका कोई प्रमाण नहीं। पुराणादि-शास्त्रोंमें महादेवको स्वयम्भू देव माना गया है मनुष्य नहीं। यदि कहो कि महादेव देवता हैं तो वहाँ मानुषी-लिंगका संघटन कैसे हो सकता है ? वह जो लिंग महा-देवका गिरा था, यदि वह मनुष्य होते, तो वह अंग व्यर्थ हो जाता, तो उसमें ज्वालामाला-सहस्रता भला कैसे हो सकती ? उस गिरे अंगकी भला पूजा कैसे होती ?

५. शिवजी को जो 'महालिंग' तथा 'कामुकवरः' कहा जाता है, यह लिंग शिवजीके ब्रह्माण्डका प्रतीक है।

'लिङ्गमर्थं हि पुरुषं शिवं गमयतीत्यदः। लीनार्थगमकं चिन्हं लिङ्ग-मित्यभिधीयते' (१६।१०६-१०७)

भं वृद्धिं गच्छतीत्यर्थाद् भगः प्रकृतिरुच्यते' (शिवपुराण विद्येश्वर-संहिता १६।१०१)

इन प्रमाणोंसे भग और लिंग प्रकृति-पुरुषके भी नाम हैं। सो यहाँ शिवलिंग महान् देव उस परमात्माकी निर्गुण और निराकार मूर्तिका प्रतीक होनेसे इसपर आक्षेप करनेवाले अज्ञानी सिद्ध होते हैं।

६. शिव-तत्त्वको जाननेवाले उपमन्युने कहा था—शिवलिंग जगत्का अव्यक्त रूप उपादान कारण है, वही मूलप्रकृति है, माया है, उसका आदि-अन्त नहीं है। (शिव-पुराण वायवीय-संहिता उत्तर खण्ड ३४। ७-८) लिंगकी वेदी महादेवी पार्वती है। लिंग साक्षात् महादेव है (१०। ११।१२) लिंग शिव-शिवाका देह है। इसलिये इसमें शिव-शिवाकी पूजा हुआ करती है।

जैसे अक्षरोंको न पढ़ा-लिखा व्यक्ति उन्हें चींटे समझता है, वैसे अज्ञानी भी इसे मूत्रेन्द्रिय समझते हैं, पर मूत्रेन्द्रियकी तथा इसकी आकृति में थोड़ा भी सादृश्य नहीं। मूत्रेन्द्रियके साथ अण्डकोष भी होता है; वह यहां कहां है? शिव-पार्वती कोई लौकिक स्त्री-पुरुष नहीं है, वे अलौकिक प्रकृति-पुरुष हैं। अस्तु, उसमें ऐसी मानुष-अङ्ग कल्पना बन ही नहीं सकती। जब शिवलिंगको निर्गुण, निराकार, अङ्गहीन मूर्तिका प्रतीक शिव-साहित्यमें कहा गया है, तब इनमें अङ्ग-कल्पना और फिर उसमें भी उपस्थ-अंगकी कल्पना कैसे हो सकती है? जहां अंग-कल्पना होती है, उसे 'वेर' कहते हैं, उसे लिंग नहीं कहते।

७. जो आक्षेपकर्ता इस विषयमें दारुवनकी कथा कहा करते हैं, वहां तो शङ्कर ऋषि वा ऋषि-पत्नियोंकी परीक्षार्थ गये थे। उनका अज्ञान उन्हें समझाना था। वहां उनके हाथमें लिंग एक मूर्ति थी, उसकी ओर स्त्रियां आकृष्ट होगई थीं। मुनियोंने समझा कि इस लिंगमें कोई जादू है, जो हमारी स्त्रियां आकृष्ट हो रही हैं। तब उन्होंने तपस्वीरूप-धारी महादेवके साथ अभद्र-व्यवहार किया, और लिंग-मूर्तिको महादेवके हाथसे गिरनेका शाप दिया। वहां इन्द्रिय होती, तो उसका कटना कहा जाता, वहाँ तो लिंगका गिरना कहा है, कटना नहीं। यदि इन्द्रिय होती,

तो उसके कटनेसे श्रीशङ्करको भी तकलीफ होती, पर उनकी तो उस समय निर्विकारता बताई गई है, अतः इन्द्रिय-पक्ष ठीक नहीं। उससे आग लग गई। जब मुनियोंको असलियतका पता लगा, तब उन्हीं मुनियोंने महा-देवकी तथा उनकी लिंग-मूर्तिकी पूजा की। यदि महादेवजीकी ओरसे अश्लीलताका व्यवहार होता, तब मुनि लोग उन्हें कभी क्षमा न करते।

८. अनसूयाकी जो कथा आक्षेप-कर्ताओं द्वारा दी जाती है, उसमें भी कोई बुरी बात नहीं। वहां तीनों देवता अनसूयाके पातिव्रत्यकी परीक्षा लेने गये थे। परीक्षामें कई अवाञ्छनीय बातें भी करनी पड़ती हैं। जब तीनों देवताओंका समान-व्यवहार था, तब यह अनसूयाने क्यों कहा कि—शङ्करके लिंगकी, ब्रह्माके सिरकी तथा विष्णुके चरणोंकी पूजा होगी, और तुम तीनों मेरे पुत्र बनोगे? बल्कि एक पतिव्रता लज्जाशील-स्त्री दूसरे पुरुषकी अश्लील-इन्द्रियका नाम निर्लज्जतासे कैसे कह सकती थी? यहां पूजा कहनेसे शाप कहां हुआ? यह तो वरदान हुआ। बल्कि यदि यह इन्द्रिय होती, तब वह तीनों देवताओंकी इन्द्रियको भस्म होनेका शाप देती, क्योंकि मैथुनका उद्योग तीनोंका समान था, पर ऐसा नहीं हुआ। तब आक्षेप-कर्ताओंकी बात गलत निकली, सो यहां पूजा कहनेसे लिंगका अर्थ 'शरीर' था। अर्थात्—विष्णु तथा ब्रह्माके एक-एक अंगकी पूजा होगी, पर शङ्करके लिंग (सूक्ष्म-शरीर) की पूजा होगी। क्योंकि—'लिङ्गं च शिवयोर्देहः' (शिव-पुराण वायवीय संहिता उत्तर भाग ३४। १२)। इससे महादेवको उन दो देवोंसे बड़ा बताया गया।

फलतः शिवलिंग-पूजामें अश्लीलताकी कोई बात नहीं। अज्ञानियोंको अपना अज्ञान दूर कर लेना चाहिए। इस विषयमें अधिक-स्पष्टताकेलिए 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाका ६ठा, ७वां, ९वाँ पुष्प मंगाकर अपनी सभी शङ्काओंको पाठकगण दूर करें।

——

(२७) पुराणोंमें आई घटनाओं की सत्यता (५)

पुराणोंमें कई ऐसी घटनाएं आती हैं, जिन पर अविश्वस्त लोग अपना सन्देह प्रकट करते हैं; अब वैसी घटनाएं 'आजकलके स्वतःप्रमाण-वेद' समाचार-पत्रोंमें पढ़िये। इनका संग्रह भक्त रामशरणदासजी पिलखुआने किया है। (सम्पादक)

हिन्दुजातिके प्राण पुराणोंमें वर्णित कई घटनाओंको आजके दयानन्दी तथा सुधारक वा कम्युनिस्ट जब पढ़ते हैं; तो उन्हें 'गप्प' बताने लगते हैं; पर प्रकृति उन अद्भुत चमत्कारोंको समय-समय पर दिखाकर उन्हें नतमस्तक करके स.ध. का लोहा माननेको बाध्य कर देती है। हम वे प्रत्यक्ष घटनाएं समाचार-पत्रोंसे संगृहीत करके उन्हें उपस्थित करने जा रहे हैं, 'आलोक'-पाठक उन्हें ध्यानसे देखें।—

भूत-प्रेतादि की बातें।

अध्यापक प्रेतबाधासे पीड़ित—(मयराष्ट्र-मेरठ) (७।१०।६२)। मऊरानी। ज्ञात हुआ है कि—एक इण्टरमीडियट-कालेजके विज्ञानाध्यापक दो वर्षोंसे प्रेतबाधासे पीडित हैं। आपको रात्रिमें प्रेतने सताया। फल-स्वरूप रातके दो बजे मकानसे भागे; और घबड़ाये हुए एक सहयोगी-अध्यापकके यहां पहुंचे। और कहा कि—उनके ग्रामकी एक स्त्री प्रायः रातमें दिखाई देती है, और कुएंमें लटकनेकेलिए कहती है। प्रेत जब उन्हें गालमें तमाचा मारता है; तो उनके गालपर सूजन भी हो जाती है। वे अर्सेसे परेशान हैं। शिक्षित-समाजमें प्रेतयोनि न माननेवालोंकेलिए इसे एक चुनौतीकी संज्ञा दी जा रही है।

(२) श्रीसातवलेकरजी की जुबानी

आर्यसमाजके महान् विद्वान् वेदमूर्ति श्रीपाद दामोदर सातवलेकर अप्रेल १९६१ में गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुरसे विद्यामार्तण्डकी उपाधिसे विभूषित होकर दिल्ली पधारे; आप फतेहपुरीकी बावावाली गलीमें श्रीश्यामसुन्दरजीके मकानपर ठहरे थे। हमने धार्मिक-प्रश्नोत्तरोंमें उनसे भूत-प्रेतोंके विषयमें पूछा कि—

आजकल आपके पत्र 'वैदिकधर्म' (अक्टू. से दिसं. १९६० तथा ६१ के अङ्कोंमें पुनर्जन्म और भूत-प्रेतादिके सम्बन्धी अद्भुत घटनाएं छप रही हैं; और वे भी आर्यसमाजी श्रीविश्वमित्रवर्माके द्वारा; यह कहां तक ठीक हैं; और आपका इसमें क्या अभिमत है? उनने उत्तर दिया कि—भूत-प्रेतादि नहीं होते, यह भी कैसे कह दिया जावे? जबकि इसी घरमें आर्यसमाजी-स्नातक श्रीरामेश्वरजी स्वयं सुना रहे थे। वह कह रहे थे कि—वह प्रेत बूढ़ा है, बाबाके रूपमें दिखाई देता है। वह भविष्यकी बातें पहले बता देता है, और वे वैसी घट रही होती हैं। सातवलेकरजीने घरकी महिलाओंसे भी इन बातोंकी पुष्टि करवाई। अब भी दयानन्दी क्या अपने एक दयानन्दीकी बातको भी गप्प बतावेंगे?

(३) परमगोभक्त पहलेके आर्यसमाजी श्रीरामचन्द्रवीरकी जुबानी

श्रीस्वामी रामचन्द्रवीर पिलखुआ हमारे स्थान पधारे थे, उन्होंने अपना पहले आर्यसमाजी होना, और फिर अपना भूत-प्रेत मानना दिखलाना और श्राद्ध-तर्पण मानना सुनाते हुए कहा कि—पहले मेरे आर्यसमाज-मन्दिरोंमें खूब व्याख्यान हुआ करते थे। मैं भूत-प्रेत और श्राद्ध-तर्पण मानना पागलोंका अनर्गल प्रलाप माना करता था। सं० २००३ के लगभग मैं भाला-फरसाधारी पांच व्यक्तियोंके साथ जयपुर मण्डलके मनोहरपुर नगरसे लटेकेवास नामक गांवको रातके ९ बजे जा रहा था। रास्तेमें निवारा ग्रामके निकट सूखे नालेको पार करते हुए एक चमत्कार देखा कि—एक आकृति हमारे निकट बाईं ओरसे मार्गको लांघते हुए आई, और दाहिनी ओर चली गई। हमने इस धुंधले आकारको १५ सेकंड ही देखा होगा कि—वह लुप्त हो गया। उसके हाथमें एक जलती हुई बीड़ी चमक रही थी।

जब हम खोरा ग्राममें पहुंचे, तो वहां मेरे नामको सुनकर अनेक सज्जन एकत्रित हो गये थे। हमने उन्हें उस चमत्कारकी बात सुनाई। उन्होंने बताया कि—यहां नट जातिका प्रेत रहता है। वह जब १२ वर्ष का लड़का था; तो वह शीतलाके प्रकोपसे मर गया, वह बीड़ी पीनेका

व्यसनी था। शीतलामें भी उसने सिगरेटकी माँग की थी, लेकिन शीतलाके प्रकोपके कारण उसके माता-पिताने उसे नहीं दी। मरनेके समय उसकी इच्छा धूम्रपानमें ही रह गई; वही मरकर पिशाच बना; और लोगोंसे रात्रिमें बीड़ी-सिगरेट वा कुटा हुआ तम्बाकू मांगता है; और पीता रहता है। आप भगवान्के भक्त थे; और साधुवेषमें थे; उसकी आत्मा इतनी प्रबल भी नहीं है; अतः उसने आप लोगोंसे सिगरेट नहीं मांगी।

वीरजीने कहा कि—यह देखकर मैं उस दिनसे सनातनधर्मी-शास्त्रों पर विश्वास करने लगा; और श्राद्ध-तर्पण द्वारा पितरों वा भूत-प्रेतोंको शान्ति पहुँचती है, वा उनकी सद्गति होती है—यह मानने लगा।

सुन लिया महाशयो, अपने वीरजीका कथन।

यमराज वा यमदूतोंकी बातें।

वेद एवं पुराणोंमें यमराज, एवं यमदूतोंकी बातें आती हैं, पर दयानन्दी इन्हें गप्प मानकर उनके अर्थ बदलनेकी चेष्टा करते हैं। हम आपके सामने एक कांग्रेसी-नेताका यमदूतोंका अपनी आंखों देखा हाल रखने जा रहे हैं।

(१) मैंने अपनी आंखोंसे दो महान् भयंकर यमदूत देखे

सन् १९६७ में हम हापुड़के कांग्रेसी नेता भूतपूर्व विधान-परिषद्के के सदस्य बा० लक्ष्मीनारायणजी बी.ए. से मिलने गये थे। पुराणोंके सम्बन्धकी बातें चलनेपर आपने कहा—मैं कांग्रेसमें रहा हूं। मैंने अपने जीवनमें कुछ ऐसी आश्चर्यजनक घटनाएं देखी हैं; जिन्हें देखकर मुझे पुराणोंकी बातोंपर कुछ श्रद्धा हुई है।

उन्होंने कहा—मैं कभी अपने जीवनमें भूत-प्रेतों या यमदूतोंको नहीं मानता था। पर अब मैं मानता हूं; क्योंकि—मैंने स्वयं उन्हें अपनी आंखोंसे देखा है, मुझे आज भी उनके स्मरणसे भय होने लगता है। मैंने जो महान् भयंकर और विशालकाय काले-काले दो व्यक्ति देखे थे, वे भूत थे; या यमराजके भेजे यमदूत थे, यह मैं नहीं जानता। सन् १९२७-

२८ के लगभगकी यह बात है। मेरा उस समय बड़े-बड़े कांग्रेसी-नेताओंसे सम्पर्क था।

सुप्रसिद्ध कांग्रेसी-नेता श्रीमहावीर-त्यागी भूतपूर्व केन्द्रीय-मन्त्री (डिफेन्स मिनिस्टर) के बड़े भाई प्रो० धर्मवीर त्यागी उस समय मेरठ कालेजमें गणितके प्रोफेसर थे। अकस्मात् वे बीमार हो गये। उन्हें हिचकियोंपर हिचकियां आती थीं। मेरठके डा० करौलीका इलाज कराया गया। जब हालत बहुत बिगड़ गई; तब उनकी देखभाल करनेकी बड़ी आवश्यकता पड़ी। आदमियोंकी कमीसे हम लोग हापुड़से मेरठ गये। उस समय त्यागीजीकी धर्मपत्नी भी हमारे साथ थी। दो-तीन दिन बाद दशा चिन्ताजनक हो गई। डा० करौली देखने आये, और उनने कहा कि—आजकी रात प्रोफेसरकेलिए बड़े खतरेकी है। अतः देखभाल सावधानतासे करनी।

रातको बारी-बारीसे तीन-तीन घंटेकी ड्यूटी लगा दी गई। हमारी ड्यूटी रातके १ बजेसे थी। कुछ देर बाद मैं त्यागीजीकी पत्नीको कहकर लालटेन लेकर लघुशङ्काकेलिए गया। नालीपर बैठनेपर मैंने देखा कि—बड़े भयंकर, विशालकाय, काले रंगके दो व्यक्ति खड़े हैं; जो ६ फुटसे भी अधिक लम्बे और बलवान् हैं। आँखें उनकी लाल थीं। मैं कांपता हुआ वहांसे जल्दी भागकर कमरेमें आ गया; बादमें फिर आकर देखा; तो वे अदृश्य हो गये थे।

आश्चर्यजनक बात यह हुई कि—ठीक उसी समयसे प्रो० त्यागीको आराम आना शुरू हो गया। डाक्टर भी हैरान थे कि—त्यागीजीकी बचनेकी आशा तो नहीं थी, पर यह जल्दी कैसे अच्छे हो गये? जब मैंने उन्हें रातकी घटना सुनाई; कि—वे कोई भूत-प्रेत वा यमके दूत रहे हों; और लेने आये हों; पर त्यागीजीकी मृत्युका समय न आनेके कारण वापिस चले गये हों। यह मैं नहीं जानता, पर यह सब चीजें हैं अवश्य; इन्हें एकदमसे झूठ नहीं माना जा सकता।

(२) बालिका पुनर्जीवित।

(वीर अर्जुन दिल्ली ता० २६-६-६८) बहेड़ी (बरेली) गन्ना विकास संघके एक चपरासीकी अल्पवयस्क पुत्रीकी मृत्यु हो गई; उसे दफनानेकेलिए ले जाया गया। जब गाड़नेकेलिए लड़कीको रखा जाने लगा, तो शवमें कम्पन दिखाई दिया। थोड़ी ही देरमें बालिका उठ बैठी; जब उस लड़कीने घरमें कदम रखा; तो पड़ौसकी एक उतनी आयुकी लड़की चल बसी'।

यमदूतों द्वारा भूलसे ले जाई गई लड़की जीवित हो गई, और दूसरी मर गई।

आत्मिक-शक्तिकी बातें

पुराणोंमें जब आत्मिकशक्तिकी बात मिलती हैं; तो कम्युनिस्ट इन बातोंको गप्प बताने लगते हैं। अब नास्तिकोंके गढ़, रूसमें भी ऐसी बातें मिली हैं।

मेरठ 'प्रभात' (१६-४-६८)। मास्को। एक ४० वर्षकी रूसी महिला नैली मिखाई लोवा अपनी मानसिक-शक्तिसे स्थूल वस्तुओंमें गति पैदा कर सकती है। इस बातको उसने झूठ साबित कर दिया है कि बिना हाथ चलाये मुँहमें रोटी नहीं जा सकती। 'तास' द्वारा दिये गये विवरणके अनुसार लोवाने मेजपर रखी हुई रोटीकी तरफ निगाहें जमा-कर ज्योंही अपनी मानसिक-शक्तिका प्रयोग किया कि—रोटी उछल कर उसके मुंहमें आ गई। इस महिलाने घड़ीके चलते हुए पेण्डुलमको रोक-कर और प्लास्टिकके डिब्बोंको चलाकर अपनी शक्तिका प्रदर्शन किया।

लोवाको अपनी मानसिक-शक्तिको संचित करनेमें कभी-कभी अपने दिमागको आधे घण्टे तक कसरत करानी पड़ती है। प्रत्येक प्रयोगके बाद उसका वज़न कई पौंड कम हो जाता है। कभी-कभी उसकी हृदय-की गति धीमी पड़ जाती है। लोवा के अनुसार उसे यह शक्ति अपनी मातासे मिली है; और स्वयं की शक्ति उसने अपने पुत्रको दी है'।

इस प्रकार यदि भारतीय सन्त अपनी आत्मिक शक्तिके बल हज़ारों

मील दूरकी वस्तुएं क्षणमात्रमें अपने पास मंगा लें; तो इसमें क्या सन्देह ?

अधिक सिरकी बातें एवं सृष्टिकी विचित्रता।

जब पुराणोंमें अधिक-मुखोंका वर्णन आता है; तो आजके सुधारक उसे गप्प बताने लगते हैं; पर इन कूपमण्डूकोंको पता ही नहीं है कि— प्रभु चाहें; तो पशु-पक्षियोंके सिर भी बढ़ा सकता है।

(१) दो सिरवाला मुर्गा

(मयराष्ट्र ता० ३-८-६३) जम्मू। यहांसे १०० मील दूर राजौरीमें एक ऐसा मुर्गा है, जिसके दो सिर हैं। उसे देखनेकेलिए लोगोंका तांता बंधा हुआ है। उक्त मुर्गा अपने मालिककेलिए आय का अच्छा साधन बना हुआ है। मालिकने उसे सरकारी पालनफर्मको अधिक मूल्य पर बेचनेसे भी इनकार कर दिया।

(२) शेरके सिरवाली लड़की

(वीर अर्जुन २८-४-६७) लुधियाना २७ अप्रैल। एक स्थानीय मैटर्निटी हस्पतालमें भीड़पर नियन्त्रणकेलिए पुलिसको बुलाना पड़ा। यह भीड़ ज़िलेके माछीवाड़ा क्षेत्रकी एक ३५ वर्षीय औरतके उस बच्चेको देखनेकेलिए जमा हुई, जिसका सिर शेरका था। डाक्टरने बताया— औरतका ऑपरेशन करके मुर्दा बच्चा निकाला गया।'

क्या इससे गोकर्णकी जन्म लेनेकी बात भी सिद्ध नहीं हो रही ?

(३) तीन सिर वाली लड़की

(हिन्दुस्तान दिल्ली २१-७-६८) काठमांडू २० जुलाई। यहांके समीपवर्ती स्थान कृपान्डलमें नेपाली महिलाने तीन सिर वाली बच्चीको जन्म दिया है। नेशनल न्यूज़ एजेन्सीके अनुसार बच्चीके दो अतिरिक्त सिरोंमें एक सिर कुछ बड़ा है, जिसपर आंख-नाकके चिन्हमात्र हैं। श्रीमती तुलसी-माया नामक उक्त महिलाने बताया कि बच्ची न तो चिल्लाई; और न इसने स्तनपान किया। बच्ची और मां दोनों ठीक हैं'।

यदि ऐसा है, तो दत्तात्रेय वा विश्वरूपके तीन सिर होनेकी बात

कैसे गप्प है ?

(४) १४ वर्षके बालककी ४ इंच लम्बी पूछ

जगदलपुर। यहांपर प्राप्त सूचनाओंके अनुसार १४ वर्षीय बालकके पृष्ठभागमें एक पूंछ-नुमा वस्तुका विकास हो रहा है जिसने डाक्टरी-क्षेत्रमें काफी दिलचस्पी पैदा कर दी है। बताया जाता है कि--इस बालकके जन्मसे ही यह अङ्ग वर्तमान था। यह लड़का बस्तरके दक्षिणमें गोपालपत्तनम् तहसीलका है, उसका नाम हनुमैया है। जन्मके समय उसकी पूछ एक इंच लम्बी थी, जो धीरे-धीरे बढ़ती हुई अब ४-५ इंच लम्बी हो गई है। बस्तरके सिविल-सर्जन डा० ए. सी. गौडने महारानी हस्पतालमें इस बालककी परीक्षा की है; और बताया है कि--बालकका सामान्यरूपसे विकास हो रहा है। डाक्टरके अनुसार पूंछनुमा अङ्ग रीढकी हड्डीके अन्तमें १ इंच ऊपर है। (आर्यमित्र अंक ५ ता० २ फर्वरी ६६ अन्तिम कालम)।

आर्यसमाजी-पत्रने इस घटनाको प्रकाशित करके हनुमान्की पूंछकी भूमिका बांध दी है।

(५) उभयलिङ्गी शिशु

(हिन्दुस्तान २१-१-६६) दक्षिण सालमारा (असम) २ जनवरी) स्थानीय स्वास्थ्यसेवा-केन्द्रके चिकित्साधिकारीके अनुसार यहांसे ८ मील दूर स्थित हमीदा-ग्राममें २४ दिसम्बरको एक ऐसे बच्चेका जन्म हुआ है, जिसमें स्त्री वा पुरुष दोनोंके लक्षण हैं। दोनों जननेन्द्रियां हैं, लेकिन वे अपूर्ण प्रतीत होती हैं। सम्भव है जब बच्चा वयस्क हो जावे; तो कोई भी एक जननेन्द्रिय पूर्ण विकसित हो जावे। ३० वर्ष पूर्व इसी परिवारमें ऐसा ही बच्चा उत्पन्न हुआ था, जो आगे चलकर लड़की बन गया। इस लड़कीका एक पुरुषसे विवाह हुआ; लेकिन पतिकी शीघ्र ही मृत्यु हो गई। १४ या १५ वर्षकी आयुमें उसकी जननेन्द्रियमें परिवर्तन होने लगा, तथा २० वर्षकी आयुमें यह स्त्री पूर्णरूपसे पुरुष बन गई। दो वर्ष पूर्व इस परिवर्तित पुरुषने एक स्थानीय लड़कीसे विवाह किया, और

पिता भी बना। डाक्टरके अनुसार इस प्रकारके जन्मका कारण वंशानुवर्ती तथ्य हो सकता है'।

कहिये महाशयो, क्या अब भी शिखण्डी जो पहले लड़की था, फिर लड़का बन गया; और भीष्मपितामहसे युद्ध किया; को 'गप्प' बताओगे ?

(६) पशु-कन्याका जन्म

(वीर अर्जुन १२।१।६६) मद्रास ११ जनवरी। पशु जैसी बड़ी त्वचा, लम्बी नाक-कान और दीर्घाकार मुख वाली एक कन्याने गत बृहस्पतिवारको स्थानीय 'बालकल्याण' केन्द्रमें जन्म लिया। बच्चीको देखनेकेलिए एकत्रित भारी भीड़को हटानेकेलिए पुलिस बुलानी पड़ी।

(७) विचित्र कन्या

(वीर अर्जुन दिल्ली १७-१-६६) बदायूं। स्थानीय गांधी ग्राउण्डमें उस समय दर्शकोंकी भीड़ लग गई; जब एक विचित्र मृत-बालिकाको दर्शनार्थ एक ऊँची मेज़ पर बिना किसी सहारे बैठा दिया गया। यह एक दिनकी कन्या मृत-अवस्थामें सन्तोंकी तरह पालथी मारे दोनों हाथ बगलमें दिये, सरपर १ इंचके बाल, बिना किसी सहारे बैठी थी। बताया गया है--इसका जन्म सनेती ग्रामके रमनगला डाकखाना सिरासोल, थाना बिल्खीमें ६ जनवरीको सावन्तीरामके घर हुआ। जन्म होनेके बाद ही उक्त लड़की उठकर इस प्रकार बैठ गई थी। कुछ ही घण्टों बाद उसकी मृत्यु हो गई। किन्तु चार दिनके बाद भी उसकी स्थितिमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ; और न ही शरीरमें दुर्गन्ध आई, जबकि उसपर किसी प्रकार का तेल वा दवाका प्रयोग नहीं किया गया।

इति पूज्य श्री पं० शीतललालशर्म-श्रीगौरीदेवीतनुजनुषा दिल्ली-दरीबाकलांस्थ-रामदलसंस्कृतमहाविद्यालय-प्रधानाचायण विद्यावागीश श्री-दीनानाथशर्मशास्त्रिसारस्वत-विद्यावाचस्पतिना प्रणीतस्य 'श्रीसनातनधर्मा-लोक' महाग्रन्थस्य दशमसुमनो-विकासः सम्पूर्णः।

❀ पहलेके ६ पुष्प (३, ४, ५ को छोड़कर) मंगा लें। आगेके ११ वें पुष्पकेलिए सहायताद्रव्य भेजकर ग्रन्थमालाको शीघ्र पूरा करवामें सहयोग दीजिये।

श्रीदीनानाथशास्त्री सारस्वतकी सेवाएं

(ले० श्रीनारायणशर्मा शास्त्री, प्रभाकर, एम्.ए.)

श्रीसारस्वतका जन्म आषाढ कृष्ण-द्वादशी सं. १९६० तदनुसार २१ जून १९०३ सन्में हुआ था। सं. १९६८ में अक्षरारम्भ किया। सन् १९१९ में उनने पंजाब यूनिवर्सिटी की 'शास्त्री' परीक्षा उत्तीर्ण की। इनकी जन्मभूमि शुजाबाद (मुलतान) थी; जो अब पश्चिमी पाकिस्तान-में है। वहां ही यह सबसे पूर्वके शास्त्री तथा अन्तिम शास्त्री सिद्ध हुए, क्योंकि–इनके बाद फिर वहाँ कोई शास्त्री नहीं हुआ। अन्य लोग वहांसे बाहर ही जाकर शास्त्री हुए। इसके बाद इन्होंने ज्योतिष-शास्त्रका कुछ अध्ययन किया, और फिर ओरियण्टल कालेज लाहौरमें कुछ अंग्रेजीका ज्ञान सम्पन्न कर लिया। कुछ उर्दू तथा गुरुमुखी भाषाका भी अभ्यास इनने कर लिया था।

सन् १९२१ से १९२४ तक इन्होंने अलीपुर (जिला मुजफ़रगढ़, अब पश्चिमी पाकिस्तान) में एक संस्कृत-विद्यालयमें प्रधानाचार्यपद संभाला; बहुतसे छात्रोंको वहां संस्कृतमें व्युत्पन्न करके उस विद्यालयको उन्नत किया। उस स्थानके अपनी जन्मभूमिसे दूर होनेसे वे उसे छोड़कर मुलतानके सनातनधर्म संस्कृत कालेजमें कार्य करनेकेलिए गये। सन् १९२४ से १९४७ तक वहां कार्य करके संस्कृतमें बहुत उन्नति की। पहले अपनी अध्यापकता और फिर प्रधानाचार्यतामें इनने बहुतसे शास्त्री बनाये, जिनकी संख्या कई सैकड़ों तक बनती है। अब वे छात्र अपनी वृत्तिमें लगे हुए यत्र-तत्र फैले हुए हैं।

वहीं रहते हुए इन्होंने वेद, वेदाङ्ग, पुराण तथा दर्शनोंका भी अवगाहन करके बहुत ज्ञान संचित कर लिया। अपना वही ज्ञान यह जनताको भी देना चाहते थे।

तदनुसार इन्होंने सन् १९२४ से अपनी संस्कृत-लेखमाला संस्कृत-पत्रोंमें प्रारम्भ की। उस समयका कोई संस्कृत-पत्र वा पत्रिका नहीं बची थी, जिनमें इनके ललितकान्तपदावली-गुम्फित एवं ज्ञानवर्धक लेख न प्रकाशित होते हों; और विद्वानों-द्वारा प्रशंसित न होते हों। सुप्रभातम्, सूर्योदयः, उद्योतः, अमरभारती अमृतसर, अमरभारती वाराणसी, वल्लरी,

कालिन्दी, साप्ताहिक-संस्कृतम्, मधुरवाणी, वैजयन्ती, संस्कृतसाकेतः, संस्कृत-रत्नाकरः जयपुर, भारती—इत्यादि पत्र-पत्रिकाओंमें इनके ललित लेख निकलते थे; जिससे संस्कृत-ज्ञानार्थी जनोंके पास अनुप्रासविलास-विन्यासयुक्त नव-नवीन पदोंका संग्रह हो जाता था; और ज्ञान-संवर्धन भी हुआ करता था। इससे जनताके धर्मविषयक अज्ञान भी दूर होते थे। पत्रोंके ग्राहक उत्कण्ठासे पत्रकी प्रतीक्षा किया करते थे; और खोलकर देखा करते थे कि–प्रस्तुत अङ्कमें सारस्वतजीका कौनसा लेख है। पहले इनके पद्यमय लेख निकलते थे। इनके पद्योंकी संख्या भी एक सहस्र थी। इनके लेखोंकी मुद्रित पृष्ठसंख्या उन दिनों नौ सहस्र पृष्ठोंकी हो गई थी। इससे यह सुप्रसिद्ध हो गये। भारतवर्षके इस छोरसे उस छोर तक इन्हें सभी जान गये। इनका 'सारस्वत' यह शब्द इनके परिचयकेलिए पर्याप्त हो गया था। उन-उन पत्रोंके सुयोग्य सम्पादकोंने भी इनके लेखोंपर अनुकूल टिप्पणी चढ़ाकर इनकी योग्यतामें चार-चान्द लगा दिये थे।

मुलतानमें ही रहते हुए इन्होंने संस्कृतमें ही 'श्रीसनातनधर्मालोक' यह दश-सहस्र पृष्ठोंका महान् ग्रन्थ लिख डाला था; जिसे यह मुलतानके पाकिस्तान बन जानेके कारण बड़ी सुरक्षासे दरीमें बांधकर ले आये थे।

इसी ग्रन्थसे यह अपने लेख संस्कृतपत्रोंमें दिया करते थे; जिससे विद्वानों की भी ज्ञानवृद्धि हुआ करती थी। फिर मुलतानके पाकिस्तानमें आ जाने पर यह उसे छोड़कर सन् १९४७ नवम्बरमें अम्बाला (पूर्वी पंजाब) में आ गये। और जनवरी १९४८ में वहांसे दिल्ली आ गये। ८ जुलाई १९४८ से यह उन्हीं दिनों प्रारम्भ हुए रामदल संस्कृत-महाविद्यालयमें प्रधानाध्यापक-पद पर कार्य करने लगे; और यहाँ संस्कृत-भाषाका खूब प्रचार किया। उस समय दिल्लीमें संस्कृत-विद्यालय एक-दो थे; और फिर वे भी साधारण-अवस्थामें थे। इनकी प्रधानाचार्यतामें यह विद्यालय भी भारतवर्षमें-यत्र-तत्र बहुत प्रसिद्ध हो गया। उसके बाद अन्यान्य विद्यालय भी खुले। इस विद्यालयमें बहुत समय तक अकेले ही पढ़ाते हुए भी इन्होंने बहुतसे शास्त्री बनाये; जिनकी संख्या सौ से काफी ऊपर है; और वे प्रायः सभी भिन्न-भिन्न विद्यालयों एवं स्कूलोंमें सम्मान-के साथ कार्य कर रहे हैं? सारस्वतजी अभी भी उसी विद्यालयमें कार्य

कर रहे हैं।

इन्होंने संस्कृतभाषाका बहुत प्रचार किया था; फिर राष्ट्रभाषा-हिन्दीकी सेवा करनेकेलिए इनने हिन्दी-पत्रोंमें भी अपनी लेखमाला प्रारम्भ की। हिन्दु, सनातनधर्मपताका, ब्राह्मण-सर्वस्व, कल्याण, ब्राह्मण, सिद्धान्त, सन्मार्ग, श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार, भक्त-भारत, लोकालोक आदि बहुतसे पत्रोंमें तथा उनके विशेषांकोंमे इनके लेख प्रकाशित हो चुके हैं; अब समयाभाव-दशामें भी प्रकाशित होते रहते हैं। कई वार यह दिल्ली-यूनिवर्सिटी तथा उसके हिन्दु कालेज आदिमें, हिन्दु कालेज सोनीपत आदि तथा दिल्लीके अ० भा० विद्यापीठ एवं धर्मसंघ-महाविद्यालय तथा विश्वनाथ संस्कृत-महाविद्यालय आदिमें भी संस्कृत भाषणोंकेलिए बुलाये गये। यदा-तदा गीताप्रचार-समिति नील-कटरा दिल्ली तथा सनातनधर्म सभा हापुड़ आदिमें भी भाषणोंकेलिए बुलाये जाते हैं।

दिल्लीमें ही रहते हुए इन्होंने हिन्दी-भाषाकी अभिज्ञ जनताको धार्मिक ज्ञान प्राप्त हो जावे; इस सदिच्छासे प्रेरित होकर हिन्दीमें 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाका भी प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया; जिसके अब तक दस पुष्प प्रकाशित हो चुके हैं; और आगे भी प्रकाशित होते रहेंगे। प्रकाशित पुस्तकोंकी पृष्ठसंख्या नौ हजार तक हो चुकी है। २० पुष्पों तक अनुमान है कि यह ग्रन्थमाला पूर्ण होगी। पञ्चम पुष्पसे प्रत्येक पुष्पकी प्रायः १००० के लगभग पृष्ठसंख्या, रहा करती है। सारस्वतजीकी इस ग्रन्थमालासे सभी चोटीके विद्वानोंने अपनी ज्ञानवृद्धि मुक्तकण्ठसे स्वीकृत की है; और सनातनधर्मके चोटीके नेताओंने इसी ग्रन्थमालाके जो निबन्धरूपसे लेख पत्रोंमें प्रकाशित हुए थे—अपने ग्रन्थोंमें उनका खुला उपयोग किया, और अपने उन ग्रन्थोंकी सारस्वतजीके ही लेखोंसे कलेवर वृद्धि की। बहुतसे सुप्रसिद्ध-व्याख्याताओंने भी अपने भाषणोंमें सारस्वतजीके इस ग्रन्थके लेखोंका उपयोग किया। इससे सारस्वतजीके लेखोंकी महत्ता प्रकट है।

सारस्वतजीकी ग्रन्थमाला इस देशमें तो प्रचलित हो ही रही है, विदेशोंमें भी यह जाती है। मुम्बासा-मारिशस, डच-गायना एवं ब्रिटिश-गायनामें भी उक्त ग्रन्थमालाकी खपत होती है। विदेशोंसे इसी ग्रन्थमाला-

केलिए चेक भी आया करते हैं।

प्रायः तीन वर्ष हुए—सारस्वतजीको राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् द्वारा शिक्षक-पुरस्कार एवं प्रमाण-पत्र प्राप्त हो चुका है। इन्हें रेडियोसे भी भाषणार्थ कई बार बुलावा आ चुका है, और टेलीवियनमें भी बुलाये जा चुके हैं। वहां इनके प्रमाण-पत्र आदि दिखलाये गये थे। इनसे जो प्रश्नोत्तर हुए थे, उनका इनके ही एक एम.ए. एवं शास्त्री छात्रने टेपरिकार्ड कर लिया था। यह कई विश्वविद्यालयोंके परीक्षक भी हैं। विविध महा-विद्यालयोंकी प्रतियोगिताओंमें इन्हें बहुत बार निर्णायक भी चुना जाता है। यह तीन-चार पत्रोंके सम्पादक भी रह चुके है। जगद्गुरु-शंकराचार्यो तथा विद्वानों-उपदेशकोंसे भी सम्मानित होते रहे है। इन्हें वाराणसी, अयोध्या, वेलगाम, दिल्ली आदिसे विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि एवं विद्यावाचस्पति आदि उपाधियां भी मिल चुकी हैं। कई इन्हें अभिनन्दन-पत्र भी प्राप्त हैं।

६६ वर्षके होते हुए भी अब भी यह मशीनकी भान्ति कार्य करते हैं। संस्कृत पढ़ाना, ग्रन्थमाला प्रकाशित करना, पत्रोंके लेख, विविध निबन्ध लिखना आदि इतना कार्य करते हैं कि—विद्वान् लोग दंग रह जाते हैं कि—आप रातको सोते भी हैं या नहीं? यह ट्रेनसे विद्यालयमें पाठनार्थ जाते हैं, ट्रेनमें भी इनकी लेखनी चलती रहती है।

यद्यपि इनकी प्रधान-अभिरुचि तो धार्मिक-साहित्य अभिप्रणयनमें हैं; तथापि साहित्यिक-लेख भी इनके संस्कृतमें पर्याप्त निकल चुके हैं। 'निबन्ध-रत्नालोक' नामक इनके बने हुए संस्कृत ग्रन्थके ही निबन्ध संस्कृत पत्रोंके साधारण अङ्कों तथा विशेषाङ्कोंमें निकला करते थे; और हैं; जिनसे विद्वानोंने अपनी प्रसन्नता अभिव्यक्त की है। इससे विद्वानों तथा जनताको बहुत लाभ प्राप्त होता रहा है। 'कल्याण' आदि पत्रोंके विशेषाङ्कोंमें प्रकाशित इनकी विचार-धारा सर्वत्र सम्मानित दृष्टिसे देखी जाती है। इनने वेदके स्वरूपपर भी गम्भीर अनुसन्धान कर रखा है। व्याकरण इनका प्रधान प्रिय विषय है।

सारस्वतजीका यह कार्यक्रम जनताके हितकेलिए परमात्माकी कृपासे चालू रहे—यह हमारी प्रार्थना है।

'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाका परिचय

विद्यावागीश-श्रीदीनानाथशास्त्री-सारस्वत (प्रिंसिपल रामदल संस्कृत महाविद्यालय, दरीवाकलाँ, दिल्ली) द्वारा प्रणीत 'श्रीसनातन-धर्मालोक' महाग्रन्थ संस्कृतमें १० हजार पृष्ठोंमें लिखित है। यह हिन्दुधर्मके प्राचीन-अर्वाचीन साहित्यार्णवको मथकर लिखा गया है, अत: वह हिन्दुधर्मका विश्वकोष एवं स.ध.का महाभारत वा कल्पवृक्ष सिद्ध हो सकता है। इसकी ग्रन्थमाला हिन्दीमें छप रही है। इसे १०००) देकर इसके संरक्षक बनें, आपका चित्र छपेगा, आपका नाम प्रत्येक प्रकाशनमें छपेगा। अथवा ५००) देकर इसके 'सन्मान्य-सहायक' वा २५०) देकर 'मान्य-सहायक' बनिये, आपके पास ग्रन्थमाला पहुँचती रहेगी। अथवा न्यूनसे न्यून १००) देकर इसके साधारण-सहायक बनिये। इस प्रकार आपके सहयोगसे 'आलोक'-ग्रन्थमाला शीघ्र प्रकाशित होकर भ्रान्त-जनोंकी धार्मिक-शंकाओंको दूर करनेवाली सिद्ध हो सकेगी।

अब तक इसके १० पुष्प छप चुके हैं। विद्वानों एवं गुणज्ञोंने इस ग्रन्थमालाकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। आप भी स्वयं इस ग्रन्थमालाको खरीदें, तथा दूसरोंको भी इसके मँगानेके लिए प्रेरित करें। सभी शंकाएं मिटेंगी। आप शीघ्रतासे इसकी सहायतार्थ उद्यत हों। इससे हिन्दु-जातिको धार्मिक-नवजीवन प्राप्त होगा। आज ही ग्रन्थकारके नामसे आप सहायता-द्रव्य शीघ्र ही भेजना शुरू कर दें।

जो महोदय स्थायि-ग्राहकताका शुल्क १०) दस रुपये पूर्व जमा करायेंगे, उन्हें सब पुष्प पौने मूल्यमें दिये जाएंगे।

१-२ पुष्प—(परिवर्धित-द्वितीयावृत्ति) आजकल 'नमस्ते' शब्दका प्रचार संस्कृतानभिज्ञ-जनतामें बहुत हो गया है; और इसके प्रचारक इसका वैदिक होनेका दावा करते हैं। हमने इसमें 'नमस्ते' विषय पर विस्तीर्ण विचार दिया है। 'नमस्ते' विषयक ट्रैक्ट हमें जितने मिल सके, उन पर आलोचना भी कर दी है। आरम्भमें उक्त महाग्रन्थकी सम्पूर्ण-

विषयसूची तथा उसपर विद्वानोंके भाव भी दिये गये हैं। यह ३५० पृष्ठोंकी सजिल्द एवं सुन्दर पुस्तक है। मूल्य ४)

३य पुष्प—इसमें स्त्री-शूद्रोंके वेदाधिकार पर विचार करते हुए 'यथेमां वाचं कल्याणीं' मन्त्रके प्रचलित अर्थकी आलोचना करके उसका वास्तविक अर्थ, हारीतकी ब्रह्मवादिनी, 'गोभिलसूत्र' का 'यज्ञोपवीतिनी' पद 'दुहिता मे पण्डिता जायेत', 'वेदं पत्न्यै प्रदाय वाचयेत्', 'ब्रह्मचर्येण कन्या, पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्' आदि बहुतसे वचनोंके वास्तविक अर्थ बताकर ऐतरेय-महिदास, कवष-ऐलूष, कक्षीवान्, सत्यकाम-जाबाल, सूत, वाल्मीकि, शबरी आदि शूद्र थे, वा अशूद्र-इस पर विचार किया गया है। इसकी प्रथमावृत्ति समाप्त है। द्वितीयावृत्ति समयपर छपेगी।

४र्थ पुष्प—इसमें हिन्दु-शब्दकी वैदिकता, वेद-विषयमें भारी भूल, महाभाष्यकारके मतमें वेदका स्वरूप, वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्मसे है, वा जन्मसे; डा० भगवान्दासजीके मतपर विचार, मृतकश्राद्ध तथा मृतक-पितरोंका टाइम्टेबल, उसमें ब्राह्मण-भोजन वैदिक है वा अवैदिक, मूर्तिपूजा एवं अवतारवादका रहस्य, क्या विद्वान् मनुष्य ही देव हैं, नवग्रहोंके प्रचलित मन्त्रोंका ग्रहोंसे सम्बन्ध कैसे है, ग्रहण और उसका सूतक-इत्यादि अनेकों विषयों पर बड़े सुन्दर विचार दिये गये हैं। ५०० पृष्ठसे अधिक पृष्ठकी सजिल्द सुन्दर पुस्तकका मूल्य ७) (दुष्प्राप्य)

५म पुष्प—इसमें हिन्दुधर्मके मुख्य-विषय चोटी-जनेऊ, गायत्री-मन्त्र, १६ संस्कार, सन्ध्याके सभी अङ्गोंपर विचार, मालाकी मणियोंकी १०८ संख्या क्यों? यज्ञका वैज्ञानिक महत्त्व आदि अनेकों विषयों पर विचार करके प्रातःसे रात्रि-शयन तकके आचारोंकी वैज्ञानिकता बताई है। इसके बाद दीपमाला, होली आदि वर्षके प्रसिद्ध पर्वोंके वैज्ञानिक रहस्य बताकर, श्रीगणेशका वैदिक देवत्व तथा श्रीमहीधरके 'गणानां त्वा' मन्त्रके भाष्यपर—जिसपर प्रतिपक्षियोंकी ओरसे घोर-शोर मचाया जाता है—विचार इत्यादि १२५ विषयोंपर सुन्दर विचार दिये गये हैं। (दुष्प्राप्य) मूल्य १४)

छठा पुष्प—यह सुन्दर पुस्तक ६५० से अधिक पृष्ठोंमें छपी है। इसमें स.ध. तथा वेदका स्वरूप दिखलाते हुए ब्राह्मणभागके अवेदत्व पर किये जानेवाले तर्कोंपर युक्ति-प्रमाण द्वारा विचार करके; वेदाधिकारि-विचार, देवमन्दिरोंमें अन्त्यज-प्रवेश पर 'वैदिक दृष्टि' दिखलाकर 'ढोल गंवार शूद्र पशु नारी' मानसकी इस प्रसिद्ध-चौपाईके विविध अर्थ तथा उनकी आलोचना की गई है। फिर 'क्या प्राचीन-भारतमें गोवध होता था' इस विषय पर दिये जाते हुए वेद-पुराणोंके वचनोंपर १६० पृष्ठोंमे विचार किया गया है। इसके बाद 'क्या पुराणोंमें वेद-विरुद्ध अंश है ?' इस पर विचारते हुए वृन्दाका पतिव्रतभङ्ग, चन्द्रमाका गुरुपत्नीगमन, अगस्त्यऋषिका समुद्रपान, स्त्रीसे पुरुष, पुरुषसे स्त्री आदि बहुतसे विषयों पर विचार कर, श्रीकृष्णके बाल्यचरित्र एवं राधा-कृष्णके परस्पर-सम्बन्ध तथा कुब्जा आदिके विषयमें २०० पृष्ठमें विचार दिया गया है। सैद्धान्तिक-चर्चामें वर्णव्यवस्था पर 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' के अर्थ पर किये जाते हुए तर्कोंपर विचार करते हुए 'ब्राह्मणादि क्या वर्ण नहीं हैं'—इस पर तथा 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' पर भी विचार करके, अन्तमें पौराणिक घटनाएँ समाचारपत्रोंसे दी गई हैं। यह पुस्तक जिज्ञासुओंकेलिए अत्यन्त उपकारक है। सजिल्द मूल्य १२)

७वां पुष्प—इसमें पौराणिक चरित्र-पर्यालोचन तथा 'पुराण-परिचय' का परिचय विस्तीर्ण रूपसे बताकर एक पूर्वपक्षीके पुराणविषयक अनेकों प्रश्नोंके सर्वाङ्गीण उत्तर देकर, फिर अवतार-सम्बन्धी १९ कुतर्कोंको काटकर, विविध आक्षेपोंके प्रत्युत्तर दिये गये हैं। इसके बाद 'क्या गणेश तथा रुद्र अग्नि हैं' इसपर विचार करके सत्यनारायणव्रत-कथा पर किये जाते हुए आक्षेपोंपर प्रत्युत्तर देकर श्रीसीता-रामकी वैवाहिक-आयु तथा द्रौपदीका एक पति था, या पांच, श्रीव्यासजीकी उत्पत्तिपर विस्तीर्ण विचार दिया गया है। वेदचर्चामें वेदस्वरूपनिरूपण बताते हुए 'वेदसंज्ञाविमर्श, चुनौतीका उत्तर, नीरक्षीरविवेक, आदिपर लिखा गया है। इस एक ही पुस्तकसे आपको पुराणोंके सम्बन्धमें पचासों प्रश्नोंका समाधान प्राप्त होगा। अन्तमें पुराणोंको सिद्ध करनेवाली प्रत्यक्ष घटनाएं भी दिखाई गई हैं। यह १००० पृष्ठोंमें छपी पुस्तक सभीकेलिए संग्राह्य है।

मूल्य १२)

८म पुष्प—इसमें 'वेदस्वरूपनिरूपण, स्त्री-शूद्रोंका वेदाधिकारविचार, क्या वेदमें केवल यौगिकता है, वेदार्थके साधन, क्या गीता वेदखण्डक है, वेदमन्त्रहत्याका दिग्दर्शन' आदि विषयोंपर विस्तीर्ण विचार रखकर वर्णव्यवस्थाके सम्बन्धमें दिये जाने वाले सब प्रमाणोंपर आलोचना करके, क्या गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्था चल सकती है--यह दिखलाकर आर्यसमाजका श्राद्ध एवं यमराज, नियोगमें मैथुन होता है या नहीं, क्या सायणाचार्य विधवा-विवाह मानते थे--यह स्पष्ट करके नियोग वा विधवा-विवाहपर दिये जाते हुए सभी प्रसिद्ध मन्त्रोंपर समाधान करके, यमयमी-सूक्त, 'क्लीबे च पतितेपतौ' में 'पतौ है या अपतौ' यह दिखलाकर तलाकपर भी विचार दिखलाया गया है। परिशिष्ट में अष्टग्रहीयोगपर तथा नमस्तेपर विचार करके प्रत्यक्ष घटनाएँ भी दिखलाई गई हैं। ८०० से अधिक पृष्ठकी सजिल्द एवं सुन्दर पुस्तकका मूल्य १०)५० पैसे

९म पुष्प—इसमें इतिहासचर्चामें हनुमानादि वानर थे, वा नर ? श्रीसीतारामकी वैवाहिक-अवस्था, प्रकरणवश कन्या-विवाहावस्था, चतुर्थी-कर्म गर्भाधानका अङ्ग है, या विवाहका ? 'एक वैदिक विवाहका रहस्य आदि, कण्टकशोधनमें अनेक विषय, पुराणेतिहासचर्चामें पुराणोंपर किये जाते ४९ आक्षेपोंका प्रत्युत्तर, वेदचर्चामें वेदोंकी अक्षरसंख्या, आलोचना-स्तम्भमें कई आक्षेपक ट्रैक्टोंपर विचार, सैद्धान्तिक-चर्चामें साम्यवादपर संवाद तथा पर्वतोंके पंख, और परिशिष्टमें पौराणिक घटनाएं वर्णित हैं। एक सहस्र पृष्ठके इस पुष्पमें बहुतसे सन्देह दूर कर दिये गये हैं। आज ही इसका आर्डर भेजिये। बहुत सुन्दर पुस्तक है। मूल्य १३)

१०म पुष्प - यह अभी-अभी प्रकाशित हुआ है। इसमें श्रीमद्भागवत तथा भगवद्-गीता पर जो आक्षेप किये जाते हैं, इस विषयकी चार पुस्तकों पर विचार दिया गया हैं। वेद-विषयमें निरुक्तके आधारसे विचार

करके आगे वेद का वास्तविकस्वरूप बताया गया है। इसमें 'दयानन्द-सिद्धान्त-प्रकाश'के तर्कों पर भी विचार किया गया है। 'भारतीय-नारी' पर सुधारकों द्वारा किये जाते हुए आक्षेपोंपर विचार करके पुराण-इतिहास में जो असम्भव बातें बताई जाती हैं; उनपर भी विचार किया गया है। एक बौद्धने गो० तुलसीदासजीकी ब्राह्मणशाहीको आक्षिप्त किया था, उसका भी मुंह-तोड़ उत्तर दिया गया है। फिर सामाजिक-चर्चामें स्त्रियों की पर्दा-प्रथा पर वेदशास्त्रों का क्या अभिमत है-यह भी बताया गया है। अन्तमें द्विज और शूद्रका भेद वैदिक, साम्यवादके प्रमाणों पर विचार तथा शिवलिङ्गके विषयमें भ्रमोच्छेद करके पुस्तक १०१६ पृष्ठोंमें समाप्त कर दी गई है। इस पुस्तकमें बहुत सामग्री आई है, और लोगोंकी ज्ञानवर्धक-सामग्री तो आई ही है। इसे खरीदकर जनताको अपनी ज्ञानपिपासा शान्त कर लेनी चाहिये। कागज़ बहुत सुन्दर और पृष्ठ संख्या १००० से अधिक रखी गई है। मूल्य १६)

आज ही सहायताद्रव्य ग्रन्थकारके नाम एवं पतेसे शीघ्रतासे भेजना शुरू कर दें। इन पुष्पोंको शीघ्र मंगा कर अपना सेट पूरा कर लें। आप जो भी चाहें, पुष्प वी. पी. द्वारा मंगा सकते हैं। डाक-व्यय पृथक् होगा। सभी पुष्प इकट्ठे लेने पर ७४) लिये जावेंगे। पर जो पुस्तकें दुष्प्राप्य होंगी; उनको भेजना हमारे लिए सम्भव नहीं होगा। उनका मूल्य काट दिया जावेगा।

पुस्तकके मँगाने वा पत्रव्यवहारका पता—
श्रीनारायण शर्मा शास्त्री एम.ए., श्रीकिरणकान्ता शर्मा 'राजीव'
फर्स्ट बी० १६ लाजपतनगर,
(नई दिल्ली-२४)